श्रीपण्डित-प्रवर-वरदराज-प्रणीता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

प्रभाकरी-विवृति-सहिता परमोपयोगि-परिशिष्ट-विशिष्टा च
हिन्दीभावानुवाद-संवलिता अन्ते प्रश्नोत्तरावलि-सहिता च

सम्पादको विवृतिकारश्च—
पण्डित-श्रीरामनारायणशर्म-तनूजन्मा
श्रीविश्वनाथशास्त्री 'प्रभाकरः'
(प्रिंसिपल, श्रीसरस्वती-संस्कृत-कालेज खन्ना पञ्जाब)
उपसम्पादकः परिशिष्टकारश्च—
कविकान्तः श्रीनिगमानन्दशास्त्री हिन्दीप्रभाकरो विद्यालङ्कारः

प्रकाशकः
मोतीलाल बनारसीदास
पो० न० ७५ वाराणसी
(बनारस)

द्वितीयं संस्करणम् २००० } सन् १९५६ ई० { मूल्यम् ५॥)

॥ ॐ ॥

अथ पूर्ववक्तव्यम्

(प्रथम-संस्करणीयम्)

श्रीमन्तो माननीया विद्वांसः ! तथा स्नेहभाजो विद्यार्थिनः !!

"संस्कृतभाषैव सर्वभाषामूर्धन्यतमा सर्वभाषाऽऽधारभूता विश्वजनीना सकल-दोषहीना बहुप्राचीनापि सर्वदा नवीना समस्त-ब्रह्माण्ड-भाषा-साम्राज्य-सिंहासना-सीना च विराजतेतराम् ।" इति नाविदितं विद्यते कस्यापि सचेतसोऽक्षरजुषः । कस्या अपि भाषायाः पूर्णं वास्तविकं च ज्ञानं नान्तरेण व्याकरणं सम्पद्यते-इति समये समये निरमायिषत संस्कृतभाषाया बहूनि व्याकरणानि तैस्तैराचार्यप्रवरैः ।

तेषु च सर्वेषु पाणिनीयं व्याकरणमेवाग्रगणनीयं सर्वाङ्गीणं सर्वत्र प्रामाण्य-मापन्नं निखिलगुणसम्पन्नं चास्ति । सूत्र-वार्त्तिक-भाष्य-व्याख्यानादिविविधया बहुविध-शाखा-प्रशाखादिभेदमापन्नस्यैतस्य तत्त्वं लघुनैव कालेन बाला अपि बुद्ध्येरन्नित्य-भिनव-प्रक्रियाक्रममुद्भाव्यैतद् वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीरूपेण सञ्चस्कार श्रीमान् भगवत्कृपा-कटाक्ष-वीक्षितो भट्टोजि-दीक्षितः । तच्छिष्यश्च श्रीमत्पण्डितप्रवरो वरद-राजस्ततोऽपि सरलेन सुखतरेण च मार्गेण संप्रवृत्तस्तत्र (पाणिनीयव्याकरणे) प्राथमिकाध्येतॄणां बालानां बुद्धिप्रवेशलाभाय प्रवेशिका-स्थानीयां 'लघुसिद्धान्त-कौमुदीं' लब्धकिञ्चित्प्रवेशानां माध्यमिकानां च विद्यार्थिनां पाणिनीय-व्याकरण-बोधसम्पत्तये 'मध्यसिद्धान्तकौमुदीं' प्रणीतवान् ।

सेयं मध्यसिद्धान्तकौमुदी स्वल्पकालपठनीया बहुबोधाधायिनी चेति विदन्त्येव सर्वे विपश्चितः । तत एव च साम्प्रतं कैश्चिद् विश्वविद्यालयैः प्रथम-मध्यम-श्रेणि-पठनीयतामापाद्यैतस्य परमोपयोगिनो ग्रन्थरत्नस्य भूयान् प्रचारः सम्पाद्यमानो दृश्यते ।

अथोपेन्द्रविवृतिसहित-लघुसिद्धान्तकौमुदीमुद्रणानन्तरं "विद्यार्थिजनोपयोगि नैतादृशं किञ्चिद् मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः सरलटीकोपेतं संस्करणं समुपलभ्यते" इती-मम् अभावमनुभवता तं च दूरयितुकामेन लवपुरस्थपञ्जाबसंस्कृतपुस्तकालया-ध्यक्षेण श्रीसुन्दरलालश्रेष्ठिना प्रार्थितोऽहमसमर्थोऽपि भगवत्कृपासंजनितोत्साहः

सप्रमोदं विद्यार्थिजनहिताय सरलातिसरलां परमोपयोगिनीं 'प्रभाकरीं' नाम मध्य-सिद्धान्तकौमुदीविवृतिमेतां सम्पादयितुं प्रावर्त्तिषि, महत्तरमपीदं कार्यमल्पीयसैवा-ऽनेहसा सम्पूरयितुमपारयमित्यत्र भक्तवत्सलस्य भगवतो माधवस्य महोदया दयैव केवलं हेतुः ।

विद्यालङ्कारः शास्त्री निगमानन्दः कविकान्तो ममान्तेवासी सम्पादनेऽस्याः समुचितां सहायतामकार्षीत्, तथा लघुसिद्धान्तकौमुदीवदत्रापि ममादेशनिर्देशा-ननुसरन् परमोपयोगि परिशिष्टं पारकल्प्यान्ते समयोजितवानित्युपसम्पादकपदं भज-मानो धन्यवादभाजनं सः ।

दीपमाला संवत् १९९५,
श्रीकृष्णगीताभवनम्,
सरस्वती-संस्कृत महाविद्यालय,
खन्ना (लुधियाना) पञ्जाब ।

विनीतो—
विश्वनाथशास्त्री 'प्रभाकरः'

भूमिका

(द्वितीय-संस्करणे)

संस्कृत भाषा

संस्कृत भाषा एक अत्यन्त प्राचीन भाषा है, विश्वसाहित्य की सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद इसी भाषा का देदीप्यमान रत्न है। विश्व भर की समस्त भाषाओं में संस्कृत का मुख्य और उच्च स्थान है। प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू इसके विषय में अपने भाव इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"संस्कृत भाषा और उसका साहित्य हमारे पूर्वजों की वह अमूल्य देन है जिसकी परम्परा आजतक अविच्छिन्न रूप में हमें प्राप्त है"। इसका विशाल साहित्य अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों का सागर है। कोई भी विषय छूट नहीं पाया, आत्मज्ञान-स्वास्थ्यपर्यन्त सभी विषयों पर ग्रन्थ इसमें लिखे गये हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब कि आज के नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कारों के भी सूत्ररूप संकेत कहीं न कहीं किसी कोण में पड़े इसमें मिल जाते हैं। इतना समृद्ध साहित्य किसी भी दूसरी प्राचीन भाषा का नहीं है और न ही किसी अन्य भाषा की परम्परा इसके समान अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में इतने दीर्घ काल तक रहने पाई है। संस्कृत का शब्दभण्डार अटूट है। इसका विस्तृत धातुपाठ नित नये शब्दों के गढ़ने में सदा समर्थ रहा है। इसकी सर्जनशक्ति कभी कुण्ठित नहीं हुई।

भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाएँ (दक्षिणी भाषाओं को छोड़कर) इसीसे उत्पन्न हुई हैं। दक्षिणी भाषाओं पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव है। आज भी भारत की सभी भाषाएँ इसी वात्सल्यमयी जननी के स्तन्यामृत से पुष्टि पा रही हैं। पश्चिमी विद्वान् इसके समृद्धतम विपुल साहित्य पर अतिशय मुग्ध हुए हैं। उन लोगों ने वैज्ञानिक ढंग से इसका गम्भीर अध्ययन किया और गम्भीर गवेषणा की, एवं साथ में विश्व की दूसरी प्राचीन भाषाओं का मन्थन करके वे यदि भाषाविज्ञान जैसे अपूर्व शास्त्र का आविष्कार कर सके हैं, तो इसका श्रेय संस्कृत भाषा के ही गम्भीर अध्ययन को है।

"हजारों वर्ष विक्रम पूर्व से लेकर ईसवी बारहवीं शताब्दी तक संस्कृत,

सर्वसाधारण बोल-चाल की भाषा रही है" इस बात को श्रीबलदेव जी उपाध्याय प्रबल प्रमाणों से सिद्ध करते हैं। अस्तु कुछ भी हो संस्कृत प्राचीन काल में अतिशय महत्वपूर्ण भाषा रही है और आज भी वह एक महत्वपूर्ण भाषा है।

संस्कृत व्याकरण

किसी भी भाषा की सुरक्षा एवं उसके मौलिक ज्ञान के निमित्त व्याकरण की परम आवश्यकता है। बिना व्याकरण के भाषा प्रायः विशृंखल और अधूरी रहती है। सर्व प्रथम इस चीज को देवों ने अनुभव किया और अपनी भाषा को व्याकृत करने के लिए देवराज इन्द्र से प्रार्थना की, तब इन्द्र ने वाणी को व्याकृत किया जैसा कि तैत्तिरीय संहिता में लिखा है—

"वाग वै पराच्यव्याकृताऽवदत्, तं देवा इन्द्रमब्रुवन्—इमां नो वाचं व्याकुर्विति।...तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्" (तै. सं. ६।४।७)

बस, यहीं से व्याकरण की परम्परा का आरम्भ होता है। युधिष्ठिर जी मीमांसक का मत है कि पाणिनि से पहले ८० के लगभग व्याकरण-प्रवक्ता हो चुके थे (इनमें कुछ प्रातिशाख्य कर्ता भी सम्मिलित हैं)। स्वयं भगवान् पाणिनि भी अपने व्याकरण में दस पूर्वाचार्यों को स्मरण करते हैं*। तात्पर्य यह है कि संस्कृत भाषा के व्याकरण का निर्माण बहुत प्राचीन काल से आरम्भ हो गया था और अन्ततः पाणिनीय शब्दानुशासन के रूप में एक सर्वोत्तम व्याकरण इस भाषा को प्राप्त हुआ।

१ आपिशलि—वा सुप्यापिशलेः ६ । १ । ९२ ॥
२ काश्यप—तृषि मृषि कृषेः काश्यपस्य १ । २ । २५ ॥
३ गार्ग्य—ओतो गार्ग्यस्य ८ । ३ । २० ॥
४ गालव—तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ७ । १ । ७४ ॥
५ चाक्रवर्मण—ई चाक्रवर्मणस्य ६ । १ । १३० ॥
६ भारद्वाज—ऋतो भारद्वाजस्य ७ । २ । ६३ ॥
७ शाकटायन—लङः शाकटायनस्य ३ । ४ । १११ ॥
८ शाकल्य—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १ । १ । १६ ॥
९ सेनक—गिरेश्च सेनकस्य ५ । ४ । ११२ ॥
१० स्फोटायन—अवङ् स्फोटायनस्य ६ । १ । १२३ ॥

पाणिनीय व्याकरण

यह व्याकरण विश्व के समस्त व्याकरणों में श्रेष्ठ और सर्वाङ्गपूर्ण है एवं परिमार्जित और वैज्ञानिक शैली से लिखा गया व्याकरण है। इस व्याकरण को देखकर पाश्चात्य विद्वानों के आश्चर्य चकित हृदय से जो उद्‌गार निकले हैं, उन्हें पढ़कर इसकी विशेष महत्ता समझ में आती है—

(१) पाणिनीय व्याकरण मानवीय मस्तिष्क की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक है। (लेनिन ग्राड के प्रो० टी० शेरवात्सकी)।

(२) पाणिनीय व्याकरण की शैली अतिशय प्रतिभापूर्ण है और नियम अत्यन्त सतर्कता से बनाये गये हैं (कोल ब्रुक)।

(३) संसार के व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण सर्वशिरोमणि है...यह मानवीय मस्तिष्क का अत्यन्त महत्वपूर्ण आविष्कार है। (सर W. W. हण्टर)

(४) पाणिनीय व्याकरण उस मानव-मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है जिसे किसी दूसरे देश ने आज तक सामने नहीं रखा। (प्रो० मोनियर विलियम्स)।

पाणिनीय व्याकरण की मूलभूत पुस्तक है,—भगवान् पाणिनि की अष्टाध्यायी❋ इसमें आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार पाद, और प्रत्येक पाद में ३८ से २२० तक सूत्र हैं। इस प्रकार अष्टाध्यायी में आठ अध्याय, ३२ पाद, और सब मिलाकर ३९५५ सूत्र हैं। इस अष्टाध्यायी पर महामुनि कात्यायन का विस्तृत वार्तिक ग्रन्थ है और सूत्र तथा वार्तिकों पर भगवान् पतञ्जलि का विशद विवरणात्मक ग्रन्थ महाभाष्य है। संक्षेप में सूत्र वार्तिक एवं महाभाष्य यह सब मिलकर पाणिनीय व्याकरण कहलाता है और सूत्रकार

❋ अष्टाध्यायी के अतिरिक्त धातुपाठ और गणपाठ भी पाणिनि की कृति है। कुछ लोग लिङ्गानुशासन और उणादि सूत्रों को भी उनकी कृति मानते हैं। काव्य साहित्य में 'जाम्बवती विजय' पाणिनि का बनाया माना जाता है। राजशेखर कवि का यह पद्य इस बात की पुष्टि करता है—

"नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनुजाम्बवतीजयम्" ॥

पाणिनि वार्तिककार कात्यायन एवं भाष्यकार पतञ्जलि ये तीनों मिलकर व्याकरण के त्रिमुनि कहलाते हैं।

पाणिनि-परिचय

'त्रिकाण्डशेष' कोष में पाणिनि के छे नाम पाये जाते हैं—पाणिनि, आहिक, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, पाणिन और शालातुरीय। इनमें पाणिन और पाणिनि दोनों गोत्र-व्यपदेशज नाम हैं। म. म. शिवदत्तजी का मत है कि 'आहिक' पाणिनि का मूल नाम है, किन्तु प्रसिद्धि सर्वत्र गोत्रनाम (पाणिनि) से ही हुई। भाष्यकार पतञ्जलि भी पस्पशाह्निक में इसी नाम से स्मरण करते हैं—"कथं पुनरिदं भगवत: पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्"। एक अन्य स्थान पर भाष्यकार पाणिनि को दाक्षीपुत्र नाम से भी पुकारते हैं—"सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः" (१ । १ । २०)। दाक्षीपुत्र नाम मातृनामज है। शालङ्कि नाम से यह अर्थ लेते हैं कि पाणिनि के पिता का नाम शलङ्क या शलङ्कु था। शालातुरीय नाम अभिजनहेतुक है, गणरत्नमहोदधि में यह नाम पाणिनि के लिये प्रयुक्त हुआ है—"शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः"। (ग. र. म. प्रथम पृ.)

इस छोटी सी नामावलि से यह निष्कर्ष निकलता है कि पाणिनि का गोत्र-प्रवर्तक मूलपुरुष कोई पाणिन् अथवा पणिन् था। पिता का गोत्रनाम पाणिन और मूल नाम शलङ्क या शलङ्कु था। माता का नाम दाक्षी था और वह दक्ष कुल में उत्पन्न हुई थी। संग्रहकार व्याडि का नाम एक स्थान पर * दाक्षायण मिलता है इससे यह सिद्ध होता है कि व्याडि पाणिनि का ममेरा भाई था। आहिक पाणिनि का मूल नाम था और पाणिनि का अभिजन (पिता पितामहादि परम्परागत घर) शलातुर था। 'शालातुरीय' नाम की व्युत्पत्ति गणरत्न महोदधि में इस प्रकार की है—'शलातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः (ग. र. म. पृ. १)"। इस अभिजन शब्द से स्पष्ट है कि 'शलातुर' ग्राम पाणिनि के पूर्वजों का निवास-स्थान है और पाणिनि का जन्म स्थान भी वही है, बाद में पाणिनि कहीं अन्य स्थान में रहने लगे हों यह हो सकता है।

---

* २ । ३ । ६६ सूत्र के भाष्य में संग्रहकार को दाक्षायण कहा है—"शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः"।

यह शलातुर ग्राम रावलपिण्डी से आगे पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में (जो अब पाकिस्तान में है) अटक स्टेशन से १५ मील की दूरी पर स्थित ओहिन्द (उत्खण्ड) ग्राम से साढ़े तीन मील पश्चिमोत्तर दिशा में विद्यमान है आजकल लाहुर नाम से प्रसिद्ध है। (शलातुर शब्द ही बदलता हुआ सलातुर = हला-थुर = हलाहुर = लाहुर बन गया है ऐसा गम्भीर गवेषकों का मत है)।

उस जमाने में शलातुर = लाहुर से उठकर एक बालक पढ़ने के लिये पाटलीपुत्र = पटना जाए* यह बात सम्भव नहीं जान पड़ती विशेषतः तब जब कि समीप में ही तक्षशिला जैसा विशाल विश्वविद्यालय रहा हो और यही प्रदेश उस समय विद्याकेन्द्र भी रहा हो। ऐतिहासिकों का विचार है कि अवश्यमेव पाणिनि की शिक्षा तक्षशिला में ही हुई थी। बाद में अपने ज्ञान की अधिक वृद्धि के लिये अथवा अपने विचारों के प्रचार के अभिप्राय से वे अन्यत्र गये हों और पाटलीपुत्र में उनके प्रणीत शास्त्र की परीक्षा हुई हो यह दूसरी बात है।

महाभाष्यकार पतञ्जलिने (१।१।७३) सूत्र के व्याख्यान में एक उदाहरण दिया है—'ओदन-पाणिनीयाः'। युधिष्ठिर जी मीमांसक इससे यह अनुमान करते हैं कि "आचार्य पाणिनि अत्यन्त सम्पन्न कुल के थे, उन्होंने अपने शब्दानुशासन को पढ़ने वालों के लिये भोजनादि प्रबन्ध भी अपनी ओर से कर रखा था।" उनके शब्दानुशासन को पढ़ने वाले की संख्या भी कोई साधारण नहीं होगी। प्रतीत होता है कि भगवान् पाणिनि के कुलपतित्व में एक बहुत बड़ा आचार्यकुल अथवा विद्यापीठ रहा होगा। किन्तु महान् खेद का विषय है कि इतने बड़े विश्वविख्यात उद्भट विद्वान् का जीवन-वृत्तान्त प्रामाणिक रूप में कुछ भी उपलब्ध नहीं है। उनके जीवन की समाप्ति के सम्बन्ध में किम्वदन्ती है कि एक शेर ने उनके प्रिय प्राणों को हर लिया था—

"सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः" (पंचतन्त्र मित्रसम्प्राप्ति श्लो० ३६)।

---

* कुछ लोग बृहत्कथा के आधार पर पाणिनि की शिक्षा पाटलीपुत्र में हुई मानते हैं। और वे कात्यायन को पाणिनि का सहाध्यायी मानते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा असंगत प्रतीत होता है।

पाणिनि का समय

भगवान् पाणिनि के समय का निश्चित ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई स्पष्ट प्रमाण तो उपलब्ध है नहीं, कुछ अनुमानों के आधार पर विचारक लोग निर्णय करते हैं, यह निर्णय भी सबका एक नहीं है। कुछ पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय विद्वान् पाणिनि का जन्म गौतम बुद्ध से बाद मानते हैं, वे प्रमाणरूप में यह सूत्र उद्धृत करते हैं—"कुमारः श्रमणादिभिः" २। १ ७०। उनका कहना है कि श्रमण शब्द बौद्ध भिक्षुओं के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, इससे पूर्व इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नहीं था। इस लिये बौद्ध मत प्रचार के अनन्तर ही पाणिनि को माना जा सकता है जब कि बुद्ध का समय ईसवी पूर्व छठी शताब्दी है तो लगभग दो सौ वर्ष बाद अर्थात् ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी पाणिनि का समय माना जा सकता है।

दूसरा प्रमाण वे लोग यह देते हैं कि "इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड हिम-यवन-मातुला-चार्याणामानुक् ४। १। ४९।" पाणिनि सूत्र में यवन शब्द का ग्रहण है। उनका भाव यह है कि सिकन्दर के आक्रमण के बाद ही भारतीय लोग यवनों से परिचित हुए थे तो पाणिनि सिकन्दर के आक्रमण के बाद ही हो सकते हैं। वे पाणिनि के विषय में ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी से पहले आने को कथमपि तैयार नहीं हैं।*

किन्तु दूसरे गम्भीर विचारक इन युक्तियों को सर्वथा खोखली मानते हैं, उनका कहना है कि श्रमण शब्द संन्यासी अर्थ में गौतम बुद्ध + से बहुत पहले शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त हुआ है—'अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता लोका अलोकाः......देवा अदेवाः श्रमणो अश्रमणः तापसो अतापसः" इत्यादि । १४ । ७ । १ । १२ ॥ और संन्यास की प्रथा भी कोई

* श्री भोलानाथ तिवारी लिखित 'भाषा विज्ञान' प्रथम संस्करण पृष्ठ ३०० में लिखा है—"मैक्समूलर तथा वेबर आदि विद्वान् इन्हें (पाणिनिको) ३५० ईसवी पूर्व के बाद मानते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पाणिनि की रचना में यवन शब्द मिलता है और यह शब्द सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीयों को ज्ञात हुआ होगा"।

+ गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण समय ५४४ ईसवी पूर्व है।

अर्वाचीन नहीं है, बुद्ध से बहुत पूर्व उपनिषदों में याज्ञवल्क्य का जनक प्रसङ्ग अति प्रसिद्ध है ।

दूसरे— भारतीय लोग सिकन्दर के आक्रमण के बाद ही यवनों से परिचित हुए' यह सर्वथा भ्रम है, बहुत प्राचीन काल से भारतीय, यवनों से परिचित हैं—महाभारत में यवन सैनिकों के लड़ने का प्रसङ्ग है । भगवान् श्रीकृष्ण के साथ कालयवन का युद्ध तो अतिशय प्रसिद्ध ही है । युधिष्ठिर जी मीमांसक तो यह कहते हैं कि अति प्राचीन काल में यवन जाति भारत के समीप ही बसती थी बाद में वहीं से वे यूनान में जाकर बसे हैं ।

सिकन्दर के आक्रमण से पहले भी यवनों का भारत पर आक्रमण हुआ है । सिकन्दर का आक्रमण ३२४ ईसवी पूर्व में हुआ है, इससे दो सौ वर्ष पूर्व ईसवी पूर्व ५२२ में हखमी-वंशोत्पन्न यवन डेरियस प्रथम ने भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में आक्रमण किया और कुछ प्रदेश पर उसका अधिकार हो गया था; यह तो इतिहास प्रसिद्ध है ।

म. म. प० शिवदत्तजी पाणिनि को नन्द के समानकालिक मानते हैं और नन्द को राजतरङ्गिणी और वाराहीसंहिता की गणनानुसार २१५३ कलिशताब्द में हुआ मानते हैं । किन्तु कुछ ऐतिहासिक नन्द का प्रामाणिक समय २४५३ कलिगताब्द अर्थात् ईसवी पूर्व सातवीं शताब्दी मानते हैं और इसी को पाणिनि का वास्तविक समय कहते हैं ।*

आचार्य सामाश्रमी निरुक्तालोचन में पाणिनि को निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन मानते हैं वे कहते हैं—' परःसन्निकर्षः संहिता" यह संहिता लक्षण यास्कने अष्टाध्यायी से ही लिया है । यास्क का समय वे कलियुग की १२ वीं शताब्दी कहते हैं और पाणिनि को उससे पूर्व कलियुग की अष्टम शताब्दी में पैदा हुआ मानते हैं । (आज कलिगताब्द ५०५५ है) ।

---

* डा० बेलवेलकर ने सभी प्रमाण और महत्वपूर्ण मतों की परीक्षा करके पाणिनि का समय ७०० ईसवी पूर्व के समीप माना है । आजकल यही समय मान्य समझा जाता है । (भोलानाथ ति. भा. वि. प्र. सं. पृष्ठ ३००)

आज के ऐतिहासिक नन्द को ईसवी पूर्व ४ र्थ शताब्दी में मानते हैं तो तत्समानकालिकतया पाणिनि को ७०० ईसवी पूर्व कहना कठिन अवश्य हो जाता है ।

श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक तो पाणिनि को इससे भी पूर्वतम बताते हैं। उनका मत है कि पाणिनि विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व हुए हैं। उनकी विचार-पद्धति भी अवश्यमेव गम्भीर रूप से विचारणीय है। उनकी अपनी युक्तियां हैं।

इस प्रकार पाणिनि के काल के सम्बन्ध में भिन्न २ विचार हैं, सभी विचारक अपने मत की पुष्टि में प्रमाण देते हैं। किस मत को वास्तविक माना जाय निर्णय नहीं हो पाता। सामाश्मी को छोड़कर सभी विचारकों का यह मत है कि पाणिनि यास्क मे बाद में हुए हैं, यदि यह ठीक है तो एक आश्चर्य अवश्य होता है कि आचार्य पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में यास्क अथवा यास्क के निरुक्त को किसी भी रूप में उद्धृत नहीं किया। हां "यास्कादिभ्यो गोत्रे २।४।६३" सूत्र में यास्क शब्द की सत्ता अवश्य सिद्ध होती है, पर इस मे इतना ही सूचित होता है कि यास्क कोई गोत्रप्रवर्तक पुरुष है जिसके गोत्रापत्य यास्क कहलाते हैं। इधर यास्क 'व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्" कहकर निरुक्त को व्याकरण का परम सहायक मानता है तो क्या व्याकरण में कोई भी ऐसा प्रसङ्ग नहीं था जहां यास्क या निरुक्त का उद्धृत करना उपयुक्त होता, और यह भी आजतक निर्णय नहीं हो पाया कि—"परः सन्निकर्षः संहिता" यह वाक्य यदि पाणिनि का यास्क ने नहीं लिया तो यह वाक्य है कहां का*। अथवा क्या यह यास्क ने स्वयं ही संहिता का लक्षण किया है?

म. म. श्री गिरिधर शर्माजी पाणिनीय व्याकरण के त्रिमुनिकाल के विषय में अपने निजी विचार प्रकट करते हुए तीनों मुनियों के सत्ताकाल के सम्भव अन्तर को मुख्य आधार मानकर पाणिनि को ईसवी पूर्व १२ वीं शताब्दी में हुआ सिद्ध करते हैं। (उनके विचारों को हम पतञ्जलिकाल-निर्णय के अन्त मे दे रहे हैं)।

किन्तु भण्डारकर और गोल्डस्टकर ने पाणिनि का समय ५०० ईसवी पूर्व के कुछ पहले निश्चित किया है (भो. ति. भा. वि. पृष्ठ ३००)। तथा आज के ऐतिहासिकों का भी यही दृढ मत है कि पाणिनि ईसवी पूर्व ५५० में हुए हैं। जब कि भाष्यकार पतंजलि का समय ईसवी पूर्व १५० में होना ऐतिहा-

---

* यद्यपि ऋक्तन्त्र में "सन्निकर्षः संहिता" पाठ मिलता है। किन्तु ऋक्तन्त्रकार शौनक को पाणिनि से परभव माना जाता है।

सिक तथ्य है तो कात्यायन को ३५०, और पाणिनि को ५५० ईसवी पूर्व मानने में ऐतिहासिक लोग अपने को अधिकांश में सत्य के समीप पहुँचा हुआ मानते हैं ।

वार्तिककार कात्यायन

पाणिनीय व्याकरण पर कई वार्तिकपाठ लिखे गये, पर इन सबमें कात्यायन का वार्तिकपाठ ही प्रसिद्ध वार्तिक ग्रन्थ है । यह पाणिनीय व्याकरण का महत्त्व-पूर्ण अंग है, इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा है । कात्यायन का यह वार्तिकपाठ स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध नहीं है । महाभाष्य में ही विशेषतः इन वार्तिकों की उपलब्धि होती है । भाष्यकार पतञ्जलि प्रायः वार्तिक को लेकर ही विचार प्रारम्भ करते हैं । इस वार्तिक की प्रवृत्ति पाणिनि की न्यूनता-पूर्ति के लिये हुई है । वार्तिक का लक्षण भी इसी बात को सूचित करता है—

"उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥"

स्वयं वार्तिककार भी स्थान-स्थान पर 'इतिवाच्यम्' कहकर इसी भाव को सूचित करते हैं ।

किन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि प्रायः सर्वत्र वार्तिकों की गम्भीर समालोचना करके सूत्रों का समर्थन करते हैं और भगवान् पाणिनि का गौरव प्रकट करते हैं—

"प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयतिस्म, तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण" (१ । १ । १)

वास्तव में भाष्यकार ने विशद विवेचन करते हुए वार्तिककार को प्रतीत होनेवाली न्यूनता का परिहार करके जहाँ पाणिनि का समर्थन किया है वहाँ वार्तिककार के लक्ष्य की भी पूर्ति कर दी है ।

परिचय

कात्यायन का दूसरा नाम वररुचि है, हो सकता है कि मूल नाम वररुचि हो, किन्तु गोत्रज नाम कात्यायन से ही वार्तिककार की प्रायः प्रसिद्धि हुई है—वररुचि ने स्वर्गारोहण नामक काव्य भी लिखा है । महाभाष्य में सङ्केत है—

"वाररुचं काव्यम्" (४ । ३ । १०१ सू०) इसके अतिरिक्त महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्ण चरित के मुनिकवि वर्णन में लिखा है—

"यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥"
"न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षी सुतस्येरित-वार्तिकैर्यः ।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥"

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि कात्यायन और वररुचि दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं—एक ही व्यक्ति के नाम हैं। कतनामक गोत्रप्रवर्तक मूलपुरुष के वंश में कात्यायन का जन्म हुआ है यह तो कात्यायन नाम से सिद्ध हो जाता है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में "यथा लौकिक-वैदिकेषु" इस वार्तिक पर "प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये, यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते" इस पतञ्जलि वचन से स्पष्ट है कि आचार्य कात्यायन दाक्षिणात्य थे। इससे अधिक उनका प्रामाणिक परिचय उपलब्ध नहीं है।

समय

ऐतिहासिकों का मत है कि कात्यायन का समय ३५० ईसवी-पूर्व है। किन्तु म० म० गिरिधर शर्माजी का मत है कि वार्तिककार का समय ईसवी पूर्व सातवीं शताब्दी होना चाहिये क्योंकि पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि के समयों में उपलभ्यमान भाषा परिवर्तन के लिये कम से कम ५-५ सौ वर्ष का अन्तर अवश्य माना जाना चाहिये। इधर युधिष्ठिरजी मीमांसक कहते हैं कि कात्यायन का समय विक्रमी पूर्व २७०० वर्ष है। वे अपने ढंग से सोचते हैं।

महाभाष्य और पतञ्जलि

महाभाष्य पाणिनीय व्याकरण की एक अति विस्तृत व्याख्या है। व्याकरण जैसे दुरूह और शुष्क विषय को भी भगवान् पतञ्जलि ने ऐसी सरल सरस और प्राञ्जल भाषा में वर्णन किया है कि कोई भी सहृदय व्यक्ति इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। महाभाष्य न केवल व्याकरण का अपितु समस्त संस्कृत वाङ्मय का अमूल्य ग्रन्थ-रत्न है। व्याकरण का तो यह मार-सर्वस्व और अकाट्य प्रमाण ग्रन्थ है ही।

हिन्दी में खड़ी बोली के समान संस्कृत में "प्रसन्नसंस्कृतम्" का यह

उत्तम निदर्शन है। प्रसंगवश इसमें दूसरे अनेक विषय भी बहुत सुन्दर रूप से लिखे गये हैं। अनेकों ऐतिहासिक संकेत इसमें उपलब्ध होते हैं।

(१) पुष्यमित्रो यजते ३ । १ । २६ ।

(२) इह पुष्यमित्रं याजयामः ३ । २ । १२३ ।

(३) जेयो वृषलः १ । १ । ५० ॥

(४) अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम् ३ । २ । १११ ।

और लीजिए वैज्ञानिकों के सजातीयाकर्षण सिद्धान्त का कैसा सुन्दर संकेत है।

"अचेतनेष्वपि तद्यथा—लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः" १ । १ । ४६ ।

पतञ्जलि परिचय

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने परिचय के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ में कहीं कुछ नहीं लिखा। किन्तु महाभाष्य में पतञ्जलि के दो नाम और पाये जाते हैं—'गोनर्दीय' और 'गोणिकापुत्र'। महाभाष्य में १ । १ । २१, ३ । १ । ९२ और ७ । २ । १०१ सूत्रों की व्याख्या करते हुए "गोनर्दीयस्त्वाह" लिखा गया है। इस पर भर्तृहरि और कैयट कहते हैं कि यह गोनर्दीय शब्द पतञ्जलि का पर्यायवाचक है। अर्थात् यहाँ भाष्यकार ने अपना मत 'गोनर्दीय' नाम से दिखाया है। अन्यत्रापि भाष्यकार की शैली को देखते हुए यही निश्चय होता है। इसी प्रकार १ । ४ । ५१ सूत्र के भाष्य में लिखा है-"उभयथा गोणिकापुत्रः"। इस पर नागेश लिखते हैं कि- 'गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः"। इससे यह ज्ञात होता है—गोणिकापुत्र भी भाष्यकार का एक नाम है। यदि ये दोनों नाम भाष्यकार पतञ्जलि के हैं तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पतञ्जलि गोनर्दप्रदेश के रहने वाले थे और उनकी माता का नाम गोणिका था।

यह गोनर्द प्रदेश कहाँ है इस पर बहुत से विद्वान् गोंडा प्रदेश को गोनर्द मानते हैं। ऐतिहासिकों का मत है कि पुष्यमित्र की प्रधान राजधानी यद्यपि पटना थी, किन्तु अयोध्या भी उसके राज्य का एक प्रधान नगर था (उपराजधानी थी)। इसलिये गोंडा प्रदेशवासी पतञ्जलि का कदाचित् अयोध्या में निवास करते

पुष्यमित्र के साथ सम्बन्ध सम्भव हो सकता है। काशिका में भी गोनर्द की स्थिति पूर्व में ही मानी गई है। कुछ लोग गोनर्द को मध्य प्रदेश में मानते हैं और इस प्रदेश को 'गोनर्द' नाम से प्रसिद्ध रहा कहते हैं। दूसरे लोग गोनर्द को काश्मीर में मानते हैं। किन्तु गोंडा को ही गोनर्द मानना अधिक युक्तियुक्त है क्योंकि प्राच्य देश मानने पर ही "एङ् प्राचां देशे" १।१।७५ सूत्र से वृद्ध संज्ञा होकर छ प्रत्यय होने पर गोनर्दीय सिद्ध हो सकेगा*।

पतञ्जलि को कई जगह शेषावतार फणाभृत् नागनाथ अहिपति आदि नामों से भी स्मरण किया गया है। प्रतीत होता है कि ये नाम उनकी सहस्रमुखी प्रतिभा और सहस्रमुख प्रवचनशैली के कारण पड़े हैं। महाभाष्य को पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो अनेक मुखों से प्रवचन हो रहा हो। "इह पुष्य-मित्रं याजयामः" इस भाष्यस्थ वाक्य से पतञ्जलिका राजा पुष्यमित्र के यज्ञ में ऋत्विक् होना सिद्ध होता है।

कुछ लोग योगसूत्रकर्ता पतञ्जलि, चरक संहिता के प्रति संस्कर्ता पतञ्जलि और व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि तीनों को अभिन्न मानते हैं प्रमाण रूप में वे इन वाक्यों को उद्धृत करते हैं—

"पातञ्जल-महाभाष्य-चरकप्रतिसंस्कृतैः
मनो वाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः"

(चरक टीकारम्भे चक्रपाणिः)

"वाक् चेतो वपुषां मलाः फणभृतां भर्त्रैव येनोद्धृताः"

(यो० सूत्र वृत्यारम्भे भोज देवः)

"योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि"

(भोजराजकृत-शब्दानुशासने व्यासः)

म० म० पं० शिवदत्त इनको एक मानने को तैयार नहीं हैं वे कहते हैं कि एकत्व साधक ये सब प्रमाण भ्रममूलक हैं। किन्तु इन प्रमाणों को सहसा भ्रम-

*उक्त सूत्र में 'प्राचां' ग्रहण देश का विशेषण माना जाता है तब अर्थ होता है—प्राचां सम्बन्धिनि देशे अर्थात् प्राच्य देशे। (किन्तु यदि 'प्राचां' यह आचार्य ग्रहण है तो विकल्पमात्रार्थक रहेगा)।

मूलक कह देना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इस विषय पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है।

पतञ्जलि का समय

यद्यपि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने समय के सम्बध में साक्षात् कुछ भी नहीं कहा तथापि महाभाष्य में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे पतञ्जलि का समय निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है—महाभाष्य में पुष्यमित्र को स्मरण किया गया है, यह स्मरण भी वर्तमान रूप में है—"पुष्यमित्रो यजते" 'इह पुष्यमित्रं याजयामः"। उत्तर वाक्य से तो यह भी प्रतीत होता है कि पतञ्जलि पुष्यमित्र के याजकों में से थे।

इसके अतिरिक्त "अनद्यतने लङ् ३।२।१११" सूत्र के भाष्य में वार्तिक पाठ है—"परोक्षे तु लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये" इसपर भाष्यकार ने उदाहरण दिया है—"अरुणद् यवनः साकेतम्" "अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्" और प्रत्युदाहरण दिया है—"जघान कंसं किल वासुदेवः"। इस पर नागेश लिखते हैं—'कंसवधो हि नेदानीं प्रयोक्तुर्दर्शनविषयोऽपीति"। "अरुणदित्युदाहरणं तु तुल्यकालः प्रयोक्तेति बोध्यम्"। इससे स्पष्ट है कि यवन द्वारा साकेतावरोध और माध्यमिकावरोध पतञ्जलि के समय में हुआ था। अब यह विचार करना है साकेत=अयोध्या पर और माध्यमिका पर (जो चित्तौड़ से ६ मील की दूरी पर स्थित है, आज कल नगरी नाम से प्रसिद्ध है) कौन से यवन ने कब आक्रमण किया था। ऐतिहासिकों का मत है कि यवनराज सिकन्दर ने ३२४ ईसवी पूर्व भारत पर आक्रमण किया था, किन्तु वह तो अयोध्या तक पहुँच ही नहीं पाया था। हाँ इसके बाद चन्द्रगुप्त के राज्य काल में सिल्यूकस ने आक्रमण किया और वह चन्द्रगुप्त से पराजित हुआ अपनी कन्या देकर वापिस लौट गया था, यह भी साकेत या माध्यमिका तक नहीं पहुँचा। अनन्तर सिल्यूकस के उत्तराधिकारी मेनएण्डर ने पुष्यमित्र के राज्यकाल में भारत पर आक्रमण किया और वह मथुरा तक पहुँच गया था, इसके सेनापतियों ने अयोध्या पर आक्रमण किया था, इसी सेना की एक टुकड़ी ने माध्यमिका पर आक्रमण किया। ये हैं वे यवन जिनका ज़िक्र भाष्यकार "अरुणद् यवनः साकेतम् अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्" में करते हैं।

जब कि ऐतिहासिकों का यह दृढ़ मत है कि मेनएण्डर का यह आक्रमण

पुष्यमित्र के राज्यकाल में हुआ है और पुष्यमित्र का समय निश्चित रूपेण ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी (१५०) है तो पुष्यमित्र के समानकालीन महाभाष्यकार पतञ्जलिका भी समय ऐतिहासिक दृढ़ आधार पर ईसवी पूर्व १५० ही है यह निश्चित है।

किन्तु म० म० शिवदत्तजी वायुपुराणोक्त काल गणना के आधार पर नवीन तथा प्राचीन ऐतिहासिकों के हिसाब से पुष्यमित्र का समय ४०१ अथवा १५१ ईसवी पूर्व निश्चित करते हैं। और युधिष्ठिर जी मीमांसक भारतीय पौराणिक गणना के आधार पर पुष्यमित्र और पतञ्जलि को विक्रम से १२०० वर्ष पूर्व ठहराते हैं।

म० म० गिरिधर शर्माजी तीनों मुनियों के काल के विषय में अपना निजी मत प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—पाणिनि संस्कृत को भाषा नाम से पुकारते हैं, इससे सिद्ध होता है—पाणिनिकाल में संस्कृत बोल चाल की भाषा थी दूसरी भाषाएँ यदि थीं भी तो बहुत कम प्रवृत्त थीं। कात्यायन के समय में अपभ्रंश बहुल भाषा की प्रवृत्ति हो गई थी जैसा कि कात्यायन के इस वार्तिक से स्पष्ट प्रतीत होता है—"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः" ("समानायामपि अर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते" इति तत्रत्यं भाष्यम्)।

किन्तु भाष्यकार पतञ्जलि के समय में प्रतीत होता है कि अपभ्रंश भाषाओं की बहुत अधिक प्रवृत्ति हो गई थी, भाष्यकार स्वयं लिखते हैं—"सन्त्येकैकस्य पदस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयः"। और धर्म नियम को भी भाष्यकार यज्ञसम्बन्धी कार्य मात्र में व्यवस्थित कर रहे हैं—'याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रानियम इति"! भाषा सम्बन्धी इतना बड़ा यह परिवर्तन अल्पकाल में होना सम्भव नहीं है।

दूसरे, पाणिनि के समय में पाणिनि की जन्मभूमि कन्धार अथवा तत्सन्निहित पञ्चनद प्रदेश विद्या का केन्द्र था पर कात्यायन और पतञ्जलि के समय में प्राच्य प्रदेश ही विद्या-केन्द्र था यह बात भी अल्पकाल में नहीं हो सकती।

तीसरे, पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन से पहले भी वार्तिक लिखे गये थे। कात्यायन ने बहुत बाद में वार्तिक लिखे। एवं कात्यायन के वार्तिकों पर भी

पतञ्जलि से पहले कई भाष्य ग्रन्थ थे ऐसा माना जाता है *। पतञ्जलि ने तो बहुत बाद में अपना भाष्य लिखा है।

ऐसी स्थिति में आजकल के ऐतिहासकों का यह मत विशेष रूप से विचारणीय हो जाता है—पतञ्जलि ईसवी पूर्व १५० में, कात्यायन ईसवी पूर्व ३५० में और पाणिनि ईसवी पूर्व ५५० में हुए हैं।

इतने बड़े भाषा सम्बन्धी परिवर्तन और अनेक व्याख्या वार्तिक भाष्यादि का भिन्न भिन्न देशों में निर्माण इतने कम समय के अन्तर में सम्भव नहीं प्रतीत होता। अतः मेरे (म० म० गि० श० शर्मा) विचार में पतञ्जलि यदि ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में माने जाते हैं तो कात्यायन को ईसवी पूर्व सातवीं शताब्दी में और पाणिनि को ईसवी पूर्व बारहवीं शताब्दी में हुआ मानना युक्ति संगत हो सकता है †।

पाणिनीय व्याकरण का अध्ययनक्रम

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अनेकों वृत्तिग्रंथ लिखे गये। विद्वानों का मत है कि इसपर सर्वप्रथम वृत्ति पाणिनि ने ‡ स्वयं लिखी थी। किन्तु जयादित्य और वामन की काशिका वृत्ति आज उपलब्ध और सर्वोत्तम वृत्ति ग्रन्थ है। यह वृत्ति ईसा की सातवीं शताब्दी में लिखी गई थी। वृत्ति ग्रन्थों में आजकल यही पढ़ाई जाती है। कात्यायन का वार्तिक ग्रन्थ पृथक् उपलब्ध नहीं है। पतञ्जलि के भाष्य में ही वह समाविष्ट है, भाष्यपर अनेकों टीका प्रटीका लिखी गईं। इनमें कैयट का प्रदीप और प्रदीप पर नागेश का उद्योत अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस प्रकार सूत्र वार्तिक भाष्य अनेकों वृत्तियाँ टीकाएँ और प्रटीकाएँ आदि विस्तार से पाणिनीय व्याकरण ने एक विशाल रूप धारण कर लिया। क्योंकि संस्कृत भाषा आगे जाकर व्यवहारातीत भाषा हो गई थी अतः यह स्वाभाविक था कि इसका अध्ययनाध्यापन व्याकरण के आधार पर

---

* देखिये युधिष्ठिरजी मीमांसक का "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास"।

† देखिये म० म० गिरिधरशर्माजी—लिखित चौखम्बा मुद्रित नवाह्निक भाष्य भूमिका।

‡ इसके लिये देखिए—युधिष्ठिरजी मीमांसक का "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" का 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण।

निर्भर हो जाता। आरम्भ में ही बच्चों को सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करा दी जाती थी, और बाद में वृत्तिग्रन्थ के सहारे प्रयोगसाधन पढ़ाया जाता था। अनन्तर महाभाष्य पढ़ लेने पर विद्यार्थी व्याकरण का पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लेता था। बचपन में ही पूर्णतः अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लेने वालों के लिये यह अष्टाध्यायी क्रम अत्यन्त उपयोगी और स्वल्पकाल फलदायक रहा। यह अध्ययन क्रम अष्टाध्यायी प्रणाली नाम से प्रसिद्ध है।

प्रक्रियाक्रम

किन्तु प्रौढ़ अवस्थावाले विद्यार्थियों को इस प्रणाली में कष्ट और गौरव अनुभव होने लगा था क्योंकि इसमें समस्त अष्टाध्यायी कण्ठाग्र कर लेने के बाद ही असली अध्ययन आरम्भ होता था और किसी एक प्रकरण का पृथक् अध्ययन भी दुष्कर था। कारण यह कि इसमें प्रकरण, प्रक्रिया क्रम से नहीं थे समास द्वितीय अध्याय में है तो समासान्त प्रकरण पञ्चमाध्याय में है। इस प्रकार समस्त प्रकरण बिखरे पड़े हैं जिससे साधन प्रक्रिया में गौरव और कष्ट होना स्वाभाविक था। तब प्रक्रिया क्रम से पठन-पाठन का विचार आरम्भ हुआ और पाणिनीय व्याकरण में प्रक्रियाप्रणाली का सुव्यवस्थित प्रथम ग्रन्थ प्रक्रिया-कौमुदी लिखा गया। इसके लेखक हैं आचार्य 'श्री रामचन्द्र' इनका समय ईसा की १५वीं शताब्दी माना जाता है। इससे यह नया अध्ययनक्रम चला किन्तु इसमें पाणिनि के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था इसलिये यह ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण का पूर्ण प्रातिनिध्य नहीं करता था।

सिद्धान्तकौमुदी

इस कमी की पूर्ति के लिये म० म० श्री भट्टोजिदीक्षित ने वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी की रचना की, यह ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण का प्रक्रियानुसारी सर्वोत्तम प्रयास है, पाणिनि का एक भी सूत्र इसमें छूटने नहीं पाया, और अध्ययन की सुविधा के लिये वैदिक और स्वर प्रकरण पृथक् संग्रह कर दिये गये हैं। आगे आकर यह ग्रन्थ इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि समस्त भारत में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन इसी के द्वारा होने लगा, जो आज तक उसी प्रकार चल रहा है। सिद्धान्तकौमुदी पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गईं जिनमें दीक्षितजी की अपनी प्रौढमनोरमा, ज्ञानेन्द्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, नागेश भट्ट का शब्देन्दुशेखर, वासुदेव वाजपेयी की बालमनोरमा अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

भट्टोजिदीक्षित का परिचय और समय

म० म० श्रीभट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्र ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम लक्ष्मीधरभट्ट था। श्री पं० शेषकृष्ण इनके गुरु थे, श्री भानुदीक्षित इनका पुत्र था और श्री हरिदीक्षित पौत्र। डा० वेलवेलकर भट्टोजिदीक्षित का समय ईसवी सन् १६०० से १६५० के मध्य मानते हैं।

लघुकौमुदी और मध्यकौमुदी

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य श्री वरदराज ने पाणिनीय व्याकरण के प्रथम प्रवेशार्थी सुकुमारमति बालकों के सुखबोध के लिए सिद्धान्तकौमुदी का अत्यन्त सरल एवं लघुकाय संस्करण लघुकौमुदी के रूप में सम्पन्न किया। वस्तुतः यह छोटा-सा पुस्तक पाणिनीय व्याकरण रूपी महाप्रासाद में प्रवेश पाने के लिए प्रथम सोपान रूप है। पुस्तक के आरम्भ में श्री वरदराज स्वयं लिखते हैं— "पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्"। पुनः अन्त में पुस्तक के उद्देश्य को स्पष्ट किया है—

"शास्त्रान्तरे प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका।
कृता वरदराजेन लघुसिद्धान्तकौमुदी॥"

एवं लघुकौमुदी द्वारा साधारण व्याकरण ज्ञान को प्राप्त हुए विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिए वरदराज ने द्वितीय सोपान रूप मध्यकौमुदी का सम्पादन किया। कहते हैं अपने शिष्य की इस अनुपम कृति को देखकर गुरुवर भट्टोजिदीक्षित को सन्देह हो गया था कि मध्यकौमुदी को पढ़ने के बाद मेरी सिद्धान्त कौमुदी को कौन पढ़ेगा। वास्तव में मध्यकौमुदी सिद्धान्तकौमुदी का सार सर्वस्व है। सिद्धान्तकौमुदी की जटिलता और विस्तार छोड़कर सब कुछ इसमें आ गया है। पाणिनीय व्याकरण सागर इस छोटी-सी गागर में समा गया है।

लघु और मध्यकौमुदी का प्रकरण-क्रम

इन दोनों में सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा संक्षेप के अतिरिक्त प्रकरण विन्यास क्रम में भी भिन्नता है। सन्धि, षड्लिंग और अव्यय प्रकरण के बाद स्त्रीप्रत्यय और कारकों को पहले न रखकर तिङन्त प्रकरण पहले रखा गया है। बाद में कृदन्त कारक, समास, तद्धित और सबके अन्त में स्त्रीप्रत्यय रखे गये हैं। यह प्रकरण-क्रम युक्तियुक्त भी है। सर्वप्रथम वाक्य में अर्थज्ञान के लिये पदच्छेद अपेक्षित

होता है इसके लिये सन्धिप्रकरण पहले रहना ठीक है। अनन्तर सुबन्त पदज्ञान के लिए षड्लिङ्ग प्रकरण और अव्ययप्रकरण का आना भी ठीक है। इसके बाद स्त्रीप्रत्ययों की अपेक्षा तिङन्तपद ज्ञान के लिये तिङन्त प्रकरण आना अत्यावश्यक है। क्योंकि स्त्रीप्रत्यय, कृत्तद्धित समास-सापेक्ष हैं इसलिए इन सबके अन्त में ही स्त्रीप्रत्ययों का रहना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। और कारकों का समासों से पूर्व रहना भी ठीक जँचता है क्योंकि विभक्त्यर्थ ज्ञान पर ही समास प्रक्रिया निर्भर है।

तीनों का कलेवर

सिद्धान्त कौमुदी पाणिनीय व्याकरण में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कराने के लिये पूर्ण समर्थ ग्रन्थ है। अष्टाध्यायी के समस्त ३९७३ सूत्रों की विशद व्याख्या इसमें ऊहापोह एवं शास्त्रार्थ पद्धति से की गई है।

संक्षेप की दृष्टि से लघुकौमुदी सबसे संक्षिप्त व्याकरण पुस्तक है, पाणिनि के १२७२ सूत्रों का इसमें सोदाहरण व्याख्या की गई है। व्याकरण के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों का साधारण ज्ञान इस छोटा-सा पुस्तक में करा दिया गया है।

मध्यकौमुदी दोनों का मध्यवर्ती पुस्तक है, इससे व्याकरण विषयक उपयोगी पाण्डित्य प्राप्त हो जाता है। पाणिनि के २३१५ सूत्रों की उदाहरण प्रत्युदाहरण सहित सुन्दर एवं सरल व्याख्या इसमें की गई है।

आचार्य वरदराज और उनका समय

आचार्य वरदराज का परिचय बहुत संक्षिप्त रूप में मिलता है। ये दाक्षिणात्य थे, इनके पिता का नाम दुर्गातनय था, और भट्टोजिदीक्षित इनके गुरु थे। मध्यकौमुदी के आरम्भ श्लोक में स्वयं वरदराज ने गुरुवर भट्टोजिदीक्षित को प्रणाम किया है।

"नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान्।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्॥"

वरदराज, भट्टोजिदीक्षित के शिष्य होने से तत्समानकालिक थे, अतः समय के विषय में पृथक विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। हाँ यह तो मानना ही पड़ेगा कि सिद्धान्तकौमुदी के निर्माण के २५–३० वर्ष बाद ही लघु और मध्य का निर्माण हुआ होगा। सिद्धान्तकौमुदी क्रम से पढ़ने के बाद ही स्वयं पढ़ाते समय प्रारम्भिक छात्रों के लिए प्रक्रिया क्रम से प्रवृत्त हुए

इस पाणिनीय व्याकरण का लघुकाय और मध्यकाय संस्करण लघु और मध्य के रूप में लिखा गया होगा। ऐसी स्थिति में भट्टोजिदीक्षित का समय यदि १६०० से १६५० ईसवी के मध्य माना जाता है तो वरदराज द्वारा लघु और मध्य का निर्माण काल भी इसी के निकट १०--१५ वर्ष के अन्तर में माना जा सकता है।

मध्यकौमुदी की टीकायें

मध्यकौमुदी की एक प्राचीन टीका मध्यमनोरमा है, इसका मुद्रित संस्करण मुझे कोई नहीं मिला। अपने घर में पुरातन हस्तलिखित एक प्रति मिली है, वह भी अधूरी है—आदि से हलन्त पुंलिङ्ग के भवत् शब्द तक और फिर कृदन्त प्रकरण "अधिकरणे शेतेः" सूत्र तक। इसके आरम्भमें मङ्गल श्लोक है—

"महेश्वरं नमस्कृत्य पाणिन्यादीन् मुनीनपि।
करोमि मध्यकौमुद्या व्याख्यां मध्यमनोरमाम्॥"

इससे व्याख्या के नाम का तो पता चल जाता है, पर कर्ता का नाम अज्ञात ही रह जाता है। प्रकरणों के अन्त में केवल इतना ही लिखा मिलता है।— "इति मध्यकौमुदी व्याख्यायाम् अजन्ताः पुंलिङ्गाः" (इत्यादि) एक वृद्ध पण्डित ने परम्परा-श्रुत किंवदन्ती के आधार पर बताया था कि यह टीका वरदराज की अपनी है। किन्तु कृदन्त प्रकरण के आरम्भ में लिखा है— "अथपरमकारुणिको बालव्युत्पादनेच्छुः श्रीवरदराजः कृदतिङिति तिङ् भिन्नप्रत्ययस्य कृत्संज्ञाकरणात् कृतां तिङ्ज्ञानाधीनत्वात् तिङ्निरूपणानन्तरमेव कृतां निरूपणमुचितमिति कृतो निरूपयितुं सकलकृद्-विषयमधिकारसूत्रमादत्ते धातोरिति" अब इसमें स्वयं अपने को 'परम कारुणिक' कहना कुछ असङ्गत हो जाता है। अतः यही प्रतीत होता है किसी उत्तरवर्ती विद्वान् ने यह टीका लिखी है। यह टीका है उत्तम और उपादेय। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई प्राचीन टीका मध्यकौमुदी की नहीं मिलती।

आजकल मध्यकौमुदी के टीका-टिप्पणसहित अनेक संस्करण निकल रहे हैं। किन्तु यह प्रभाकरी नाम विवृति कोमलमति विद्यार्थियों को अत्यन्त सरल रूप में मूल को समझाने के निमित्त लिखी गई है। इसका प्रथम संस्करण लाहौर में सन् १६३१ में निकला था, जिसका विद्यार्थि-जगत् में अत्यधिक

आदर हुआ, । अब इसका यह दूसरा संस्करण पहले की अपेक्षा अत्यधिक उपयोगी संशोधित एवं सम्मार्जित रूप में हिन्दी भावानुवाद सहित प्रकाशित हो रहा है और इस बार यह अत्यन्त उपयोगी हिन्दी भूमिका भी साथ में गई भेंट की जा रही है। पुस्तक के अन्त में विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से परम उपयोगी परिशिष्ट रख दिया गया है जिसमें लेखोपयोगी नियम, अशुद्धि प्रदर्शन, उपसर्गविशेषयोग से धात्वर्थविपरिणाम, पाणिनीयशिक्षा (टिप्पण सहित) गणपाठ, सूत्रसूचि, धातुसूचि आदि सामग्री विशेष रूप से दी गई है।

और १० वर्ष के परीक्षापत्र भी दे दिये गये हैं, साथ में ३ वर्ष के प्रश्नों के उत्तर भी हैं, जिससे परीक्षार्थी उत्तर लिखने का प्रकार पूर्णरूपेण सीख सकता है। आशा है विद्यार्थिगण इससे विशेषरूपेण लाभान्वित हो सकेंगे।

बुद्ध जयन्ती, २४ मई सन् १९५६
आचार्य भवनम्
श्रीसरस्वती संस्कृत महा विद्यालयः,
खन्ना (लुध्याना) पञ्जाब।

विश्वनाथशास्त्री

॥ ॐ ॥

समर्पणम् ।

भगवन् ! त्वदीयमिदं वस्तु

त्वद्भक्तानां तवैवात्मभूतानां पण्डित-मण्डल-मण्डनानां

राजाधिराज-वन्दित-पादपद्मानां विद्यावारिधीनां

पञ्चनदेषु पाणिनीय-व्याकरण-प्रचारश्रेयोभाजां

परमश्रद्धेयानां वृद्धप्रपितामहानां पूज्यपाद-

श्रीमत्पण्डित-केशवरामशर्मणां

प्रभाकराणां सेवायां सादरं

समर्पयते—

विश्वनाथः

श्रीकेशव-परिचयः

अस्ति पञ्चाम्बु-प्रान्तोत्तर-दिग्विभागस्थे 'होश्यारपुर'—मण्डले द्वाबाप्रान्त-शिरोदेशे 'जेजों' नामविश्रुता नगरी। तत्र च विद्यते परमप्रसिद्धं सारस्वत-जातीयं प्रभाकरोपाह्वमेकं पण्डितकुलम्। यत्कुलीना आद्यावधि-विविधगुणमण्डिताः सुयोग्याः पण्डिता एव समभूवन् विद्यन्ते च। एतत्कुलपूर्वपुरुषेषु महामनाः परम-भागवतः श्रीपण्डित केशवरामशर्मा प्रभाकर आदिविद्वान् बभूव। यो हि यवनानां नानाक्रूराऽऽक्रमणकारणाद् विगताचारप्रचार परिलुप्तविद्यासञ्चारं पाणिनिजन्मभुवमपि कालप्रभावेण पाणिनीयव्याकरणविज्ञानरहितं सर्वथा विस्मृत-परमेशं पञ्चाम्बुदेशं पुनः प्रवृत्तसदाचारं नवलब्धविद्याप्रचारं पाणिनीयव्याकरण-विज्ञानसहितं सदा संस्मर्यमाण-परमेशञ्च चकार। यस्य च पण्डितमूर्धन्यस्य सेवायां सादरं समर्पितेयं म० सि० कौ० विवृतिः प्रभाकरी सम्पादकेन। समु-ल्लिख्यते तस्य तत्कुलस्य चाऽयमल्पीयान् परिचयः।

विद्यावारिधिर्महामनाः परमभागवतः पण्डितप्रवरः
श्रीकेशवरामशर्मा प्रभाकरः।

अष्टादशशततमे (१८००) वैक्रमवत्सरे जेजों नगरनिकटवर्तिनि मदूद-ग्रामे बालाकिरामशर्मणः पुण्यभवनं जन्मना मण्डयामास श्रीकेशवोऽयम्। सोऽयं बाल एव आकृत्या प्रकृत्या च परमश्लाघ्यः, वर्णेन गौरः, पीनांसो दीर्घबाहुः कमलदलविशाललोचनो दर्शकजनमनोमोहनः सर्वजनहिताभिलाषी मितभाषी चासीत्। इदंकुलीनायाश्च भगवद्भक्ताया 'माई ओसो' देव्याः प्रसादादुद्बुद्धभगव-दनुरागस्तस्या एव सकाशात् प्राप्ताशीराशिः, 'मदवाणी' ग्रामवास्तव्यस्य वैष्णव-महात्मनः पं० श्रीमथुरादासशर्मणोऽधिगतप्राथमिकाक्षरशिक्षादीक्षः प्रवर्ध-मान-विद्याधिगमाभिनिवेशो लब्धगुरुवरादेशः परित्यज्य सहजस्नेहं निजगेहं, विदलय्य बन्धुजनमहामोहबन्धनम् विगणय्य चाशेषान् मार्गक्लेशान् पदातिरेव विद्याप्रधानकेन्द्रभूतां श्रीवाराणसीं प्रतस्थे। तत्र च षड्विंशतिवर्षाण्युष्य शब्देन्दुशेखरादिषु भैरव्यादिटीकाकर्तुः श्रीभैरवमिश्रस्य तातपादानां श्रद्धेय-चरणानां श्रीमत्पण्डितरुद्रदेवमिश्राणां सकाशात् समस्तशास्त्रजातमधिजग्मि-

वान्, विशेषतश्च पाणिनीयं व्याकरणम्। श्रूयते च किल मिश्रमहाभागानां स्वपुत्रेऽपि श्रीभैरवमिश्रे नासीत्तथा स्नेहो यथाऽऽसीत्तन्महाध्यायिनि श्रीकेशवे।

श्रीगुरुचरणकृपया सम्प्राप्तसकलविद्यः श्रीकेशवरामः प्राक्तनसंस्कारपरम्परावशाद् भगवद्भक्तिप्रवणचेताः परमेशदयाल आरम्भादेव लब्धभगवद्भक्तसङ्गः शिथिलित-लौकिकव्यासङ्गो भगवति श्रीरामे परमभक्तिमान् समजायत। (एतस्य हि महामहिमशालिन आदर्शभगवद्भक्तस्य विदुषो वाराणसेयं विद्यार्थिजीवनं गृहीयं गार्हस्थ्यजीवनञ्चाप्यलौकिकघटनाभिर्घटितं विद्यते। विस्तरभयान्नात्र ता लेखितुम्-उपक्रम्यन्ते)।

अथाऽनिच्छन्नपि षड्विंशतिवर्षानन्तरं श्रीगुर्वाज्ञानुरोधेन वाराणसीतो निजग्रामं समाजगाम। कश्चुतरेऽपि तस्मिन् ग्रामे जिज्ञासया समागतान् विद्यार्थिनोऽध्यापयितुं प्रारभत। शनैः शनैः प्रवर्धमाना सा विद्यार्थिसङ्ख्या नवतिमस्पृशत्। सर्वोऽपि विद्यार्थिनां निवासभोजनादि-प्रबन्धस्तदाराध्यदेवस्य श्रीभगवतो रामस्य कृपयैव समसिद्ध्यत्, अस्मिन् समये पञ्चाम्बुदेशे क्वचिद्वाराणसीतश्च शिक्षितपण्डितः सोऽपि सामान्यकर्मकाण्डग्रन्थान् शीघ्रबोधादीनेवाऽध्यापयतिस्म व्याकरणे च केवलं सारस्वतस्य चन्द्रिकायाश्चैव काचित्कं पठनपाठनमभूत्। पाणिनीयव्याकरणस्य तु क्वचित्कदापि नामैवाऽश्रूयत। श्रीपण्डितकेशवरामशर्मणैवाऽत्र पुनरभिनवप्रक्रियाक्रमेण सञ्जातप्रचुरप्रचारयोग्यताकं पाणिनीयं व्याकरणं प्रचारितम्। ब्राह्मणोचित आचारश्च सञ्चारितः।

श्रीपण्डितकेशवरामशर्मणोऽस्यां गृहीय-पाठशालायां प्राप्तशिक्षा विद्यार्थिनो विश्वविख्याता राजाधिराजवन्दितचरणा महापुरुषा विपश्चिद्वरिष्ठमाः समपद्यन्त। एष वार्तैव प्रसिद्धाऽऽभावात्तत्कालिक आसीत् "यदत्र पठिता विद्याऽवश्यं सफला भवति" इति, अत एव केचित्तु विद्या—साफल्यलाभायैव किञ्चित् कालमात्रावश्यमधीयते स्म। प्राप्तकैवल्यानां महामहिम्नां पूज्यपादानां काशीस्थानां श्री १०८ विशुद्धानन्दसरस्वतीनां श्रद्धेया गुरवः श्री १००८ गौडस्वामिमहाभागाः (येषां पूर्वाश्रमनाम 'भगवान्दास' इति, जन्मभूमिश्च पटियालाराज्यान्तर्गतं सनौर-नगरम्) यौवनारम्भे श्रीकेशवरामशर्मणां सकाशात् मन्नूद्ग्रामेऽध्ययनं कृतवन्तः (एतच्च काश्यां लहरी-प्रैसस्मुद्रिताद् विशुद्धचरितावलीग्रन्थात् सर्वमवगच्छामः) एतेनैव सम्बन्धेनैकदा पञ्चाशता पण्डितैः सह कांगडाप्रान्तवर्त्तिनीं सुकेत (मण्डी) राजधानीं समागताः स्वामिपादाः श्रीविशुद्धानन्द-सरस्वती-महाभागास्ततः पर्या-

वर्तमाना जेजों मरुद्भमार्गेण समाजग्मुः । जेजों-नगरे च श्री पं० केशवरामशर्मणां प्रपौत्रं श्रीधूर्जटिशर्मीयं रामनारायणशर्मीयं, च सन्यासधर्मौचित्या शुभाशीर्वादादिभिः सम्भावयाम्बभूवुः ।

तस्मिन् समये वाराणस्यां विख्याताः परमोदारचरित्रा जम्बूप्रदेशीया विद्वांसः श्री पं० काकारामशर्मीयाः, मूलग्राण देशीया वैयाकरणधुरन्धराः श्री पं० विभवरामशर्मीयाश्चापि प्रथमतः श्री पं० केशवरामशर्मणामन्तेवासित्वमभजन्। एवं पञ्चाम्बुदेशेऽपि पं० केशवरामशर्मणां शिष्या योग्या विद्वांसः समभूवन् । यथा—पटियालाराज्यान्तर्गत-चमारू-ग्रामवास्तव्याः पं० हरयशरायशर्मीयाः पटियालाराज्यपण्डिताः, तथा तद्देशीया एव श्रीमन्तो वरागारामशर्मीयाः पटियालाराजपण्डिताः। जम्बूराजधानीराजपण्डिताः श्री पं० गोकुलचन्द्रशर्मीयाः । होश्यारपुर—नगरनिवासिन श्रीपंडितव्रजलालशर्मीयाः (श्री पं० कन्हैयालालशर्मणां तातपादाः), पं० गोविन्दराम सीताराम-प्रभृतयश्च । तथा वृत्तिप्रभाकरविचारसागरादिभाषावेदान्तग्रन्थलेखकाः श्रीनिश्चलदासमहात्मानोऽपि श्रीपं०केशवरामशर्मणामेव सकाशात्प्रथमं पठितवन्तः (इदमपि विशुद्धचरितावलीतोऽवगम्यते) । किम्बहुना श्री पं० केशवरामशर्मणां शिष्यप्रशिष्यादिसम्प्रदायो यदि गणयेत सम्पूर्णमपि भारतं तद्व्याप्तमेवोपलभ्येत—उक्तं च स्वरचित वृत्तरत्नाकरटीकायां श्रीपंडितरामप्रसन्नशास्त्रिभिः—

> श्रीजेज्जां मधुदापुरीयविबुधः श्रीकेशवोऽभूदिदम् ।
> यच्छिष्यादिपरम्परावृतमहीचक्रं सुविद्यागृहम् ॥

किञ्च तात्कालिका राजानो महाराजाश्चापि श्री पं०केशवरामशर्मणां समुचितं सम्मानमकार्षुः । पञ्चाम्बुकेसरी श्रीमहाराजो रणजीतसिंहो भूयसीं भूमिं निष्करीकृत्याभिषक्तेऽपि पंडितवरायास्मै सबहुमानमयच्छत्, यथाऽद्यापि तद्वंश्यानां स्थायिसम्पत्तिरूपेणावस्थीयते । सिक्खराज्यनेतारः सरदारदेवासिंहमिश्ररूपलालप्रभृतयोऽस्य पंडितप्रवरस्याऽऽदर्शमहात्मनः सत्सङ्गलाभं काले काले प्राप्नुवन् ।

अथ नवतिवर्षपरिमितवयसि नवत्युत्तराष्टादशशततमे (१८९०) वैक्रमवत्सरे मानवलोकलीलां समाप्य साकेतलोकमध्यतिष्ठयन् श्री पं०केशवरामशर्माणः ।

पं०केशवरामशर्मणां पुत्रः श्रीपं०रघुनाथशर्मा योग्यो विद्वान् नवयौवन एव लोकमिमं विहाय परलोकातिथिर्बभूव । पौत्रश्च पं० श्रीमुकन्दलालशर्मा धुरन्धरो विद्वान् विश्रुतो महात्मा परमभागवतो निजजीवनं श्रीभगवद्भक्त्यैव यापित-

वान् , अन्त्ये चायुषि सर्वथा मौनमापन्नो विद्वत्संन्यासेन शेषं समयं व्यतिगमयन् भगवन्तमेव भेजे । अस्यापि विद्वद्वरस्य जीवनं विविधालौकिकघटनापरिपूर्णं श्रूयते । श्रीमत्पंडितमुकन्दलालतः समारभ्य पंडितकुलमिदं मड्डूग्रामं परित्यज्य जेजों नगरं निवासभुवं चकार, श्रीपं० मुकन्दलालपुत्राश्च श्रीरामचन्द्र-धूर्जटि-रामनारायणशर्माणोऽपि योग्या विद्वांसः पूर्वजवत् सुरसरस्वतीसेवातत्पराश्चाभूवन् , परम्परागतां तां गृहीयपाठशालां च ममचालयन् । अनन्तरं चापि पंडितकुलेऽस्मिन् योग्या विद्वांस एव समजायन्त. यथा—

पं० परमानन्दशर्मा धर्मशास्त्री कर्मकाण्डप्रकाण्डः ।

श्रीपं०रामचन्द्रशर्मतनूजन्मायं परमानन्दशर्मा वाराणस्यां पठितविद्यः सुयोग्यो विद्वान् धर्मशास्त्रपारंगतः कर्मकांडनिष्णातश्चाभूत् सर्वमप्यायुर्गृहीयपाठशालायां तस्यां विद्यार्थिपाठन एवायापयत् । परम्परागता पाठशालेयमद्यापि कुलेऽस्मिन् एतद्देशीयान् विद्यार्थिनो निश्शुल्कविद्यादानेन सम्भावयन्ती विराजते ।

पं० श्रीरामप्रपन्नशास्त्री काव्य-व्याकरण-दर्शनतीर्थः ।

श्रीपं० धूर्जटिशर्मणो ज्येष्ठतनयोऽयं विद्वान् जम्बूराजकीयश्रीरघुनाथसंस्कृतमहाविद्यालये महाध्यापकः, पञ्चाम्बुप्रान्तीयविद्वत्सु प्रधानगण्यतां प्रायात् । अयं च निरुक्ते प्रपन्नालोकाख्यं भाष्यं, वासुदेवविजये केशवीं नामातिसरलां टीकां, वृत्तरत्नाकरे रत्नसंग्रहाख्यां व्याख्यां विदग्धमुखमंडने च कुञ्चिकाभिधां विवृतिं विरचय्य प्राकाशयत् , येन च संस्कृतसाहित्यस्य भूयानुपकारः समपद्यत । पिंगलसूत्रभाष्यम् वैयाकरणभूषणविवृतिश्चैतत्सङ्कलिताऽमुद्रितैव विद्यते साम्प्रतम् । हा हन्त ! १९९४ वैक्रमपौषे शुक्लतृतीयायामयं सुयोग्यो विद्वान् वियोगकातरान् बन्धून् विहाय वैकुण्ठलोकमारुक्षत् । अद्यत्वे चैतादृशानामाचारसम्पन्नानां योग्यविदुषां प्रायोऽभाव एव, विद्वत्समाजे सञ्जातां त्रुटिमिमां सद्य एव पूरयतु भक्तवत्सलो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रः ।

वेदान्तसार्वभौमस्तार्किकचक्रचूडामणिरादर्शमहात्मा भगवद्भक्तः—श्री पं० श्रीनीलकण्ठशास्त्री ।

१९३८ वैक्रमवत्सरे शिवराज्यां लब्धजन्मायं श्री पं० रामनारायणशर्मणो ज्येष्ठपुत्रो वाराणस्यां चतुर्दशवर्षीय एवोपेत्य स्वमातामहात् श्रीपण्डितमोहनचन्द्रशर्मणः सकाशाद् व्याकरणं काव्यानि च, प्रथितमहिम्नां नैयायिकप्रवराणां श्रानन्दसिद्धतसीतारामशास्त्रिणां सकाशात् सम्पूर्णं न्यायशास्त्रं, तथा महामहोपाध्यायानां

श्रीमत्पण्डितनकच्छेदराम—(उमापति)शर्मणां षट्शास्त्रिणां सकाशात् वेदान्तान् योगं साङ्ख्यं चाधीतवान् । स्वभावत एवायं लौकिकप्रवृत्तिरहितो भगवद्भक्त्येकनिष्ठो जयपुरराज्यान्तर्गत 'रामगढ' (सीकर) स्थाने स्वजीवनं श्रीभगवद्भजन एवायापयत् । तत्रत्यान् कांश्चिद् योग्यान् विदुषो न्यायशास्त्रमपि स्वातन्त्र्येणापाठयत् । तत्र चास्य सर्वविधमपि लौकिकं योगक्षेमं भगवत्प्रेरितः श्रीमान् श्रेष्ठिप्रवरः श्रीकेशवदेवः समपादयत् । महात्मनोऽस्य विदुषः संगेन चासौ श्रेष्ठी वानप्रस्थरूपेण भगवन्तमेवाराधयितुं श्रीहरिद्वारतीर्थं समाश्रितवानस्ति । आदर्शमहात्मायं पण्डितप्रवरः १९९१ वैक्रमवत्सरे चैत्रशुक्लपञ्चम्यां मर्त्यलोकं विहाय गोलोकं धाम प्राविशत् ।

श्रीपं० उपेन्द्रनाथशास्त्री वैयाकरणभूषणो दर्शनालङ्कारः ।

श्रीनीलकण्ठशास्त्रिणां कनिष्ठसहोदरोऽयमुपेन्द्रशास्त्री स्वल्प एव वयसि सुयोग्यो विद्वानभूत् । परमभिनवयौवन एव वृद्धौ मातापितरौ विरहाकुलौ विहाय स्वर्लोकमशिश्रयत् । विदुषोऽस्य स्मारकरूपा लघुकौमुद्याः शोभना विवृतिरुपेन्द्रविवृतिर्नामैतत्कनिष्ठसहोदरेण विश्वनाथशास्त्रिणा सम्पादिता विद्यार्थिजनोपकाराय विजयतेतराम् ।

एवं श्री पं० अमरनाथ-परशुराम-विश्वमित्रशर्माणोऽपि कुलस्यैतस्य सुयोग्या भूषणभूता विद्वांसोऽभूवन् , परमकाल एव कालकवलितकलेवराः परलोकमध्यवात्सुरिति बन्धूनां चेखिद्यते चेतः ।

साम्प्रतं चापि कुलेऽस्मिन् परम्परागत-पाण्डित्यसंरक्षकाः सुयोग्या विद्वांसो व्याकरणाचार्य श्री पं० युगलकिशोरशास्त्रि-विश्वनाथशास्त्रिप्रभाकर-नीलाम्बरशास्त्रिविद्यालङ्काराः वैद्यपञ्चानन श्री पं० जयगोपालशर्म-श्री पं० मुरलीधरशर्मप्रभृतयश्च विद्यन्ते । एवं शतशो वत्सरेभ्यः कुलेऽस्मिन् संस्कृतवैदुषी लिखितपठितेव वेविद्यते भगवत्कृपातः । परतश्चापि परमेश्वरानुकम्पया सुरसरस्वतीसेवका विद्वांसो भगवद्भक्ता एव भूयासुरित्यस्ति साञ्जलिबन्धं प्रार्थना भगवच्चरणसरोरुहेषु । इति शम् । का० शु० प्रतिपत् सं० १९९५

श्रीकेशव-वंशक्रमः ।

श्रीपण्डितकेशवरामजी महाराजः

श्री पं० रघुनाथशर्मा

श्री पं० मुकुन्दलालशर्मा

रामचन्द्रः — धूर्जटिः — रामनारायणः

रामचन्द्रः → परमानन्दः → नीलाम्बरः, मुरलीधरः; नीलाम्बरः → पीताम्बरः

धूर्जटिः → रामप्रपन्नः, युगलकिशोरः, जयगोपालः, अमरनाथः, परशुरामः

देवरत्नः, सनत्कुमारः

नीलकण्ठः, उपेन्द्रनाथः, विश्वामित्रः, विश्वनाथः

विश्वामित्रः → हरिमित्रः

मदनमोहनः, राममोहनः, हरिमोहनः, शिवमोहनः, जगन्मोहनः, राधामोहनः ।

का॰ शु॰ प्रतिपत् सं० १९९५ वैक्रमः ।

मध्यकौमुदीस्थ-प्रकरणसूचिः

अत्यावश्यक संशोधन

संशोधन का पूर्ण प्रयत्न करने पर भी सर्वत्र संस्करणों में कुछ अशुद्धियाँ रह ही जाती हैं। यह संस्करण भी इसका अपवाद नहीं कहा जा सकता, सम्पादक शोधक एवं अक्षर संयोजकों के प्रमाद से इसमें भी कुछ अशुद्धियाँ अवश्य रह गई हैं। पाठकों से विनीत प्रार्थना है कि—इन साधारण अशुद्धियों को कृपया स्वयं शोधकर पढ़ें और पढ़ाएँ। विशेष स्खलनों की हमें भी सूचना देने की कृपा करें तो हम उनके अतिशय आभारी होंगे। निदर्शन के रूप में कुछ संशोधन नीचे दिया जाता है—

(सम्पादक)

पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०
११	११	निर्दिष्टोऽन्त्यस्यादेशः।	निर्दिष्टान्त्यस्याल आदेशः।
१६	२४	एच्।	ऐच्।
२३	२६	लिङ्ग संख्या अन्वय।	लिङ्ग संख्याद्यन्वय।
२७	१६	पूर्ववतडकारस्यतु।	पूर्ववत्परस्यष्टुत्वं डकारस्य तु।
,,	,,	णत्वं विकल्पः।	णत्वविकल्पः।
५०	२५	नगर वाचक।	स्त्रीत्वविशिष्ट नगरवाचक।
६७	३	अचि च अतः।	अचि र ऋतः।
८७	५	यमू बयौ०।	यूय बयौ०।
१०५	६	–शेषणान्नेह।	–विशेषणान्नेह।
१११	२१	प्रचलितः।	प्रचलति।
१२४	६	अजन्ताङ्गस्य।	इगन्ताङ्गस्य।
१३६	१३	सूत्रः।	सूत्रैः।
,,	१८	मकारो।	जकारो।
१४२	८	शुश्रोथ शुश्रविथ।	शुश्रोथ (इत्येव)।
१४७	१८	कृपोऽशात्मने।	कृपोऽप्यात्मने।
१५६	१६	जहुः।	जहुः।
१५८	५	अवोढः।	अवोढाः।
१६६	२६	षत्व होता है कित् लिट् परे हो तो।	षत्व होता है (इत्येव)
१७०	१	सस्य षः किति लिटि। परत्वात्संप्रसा।	सस्य षः स्यात् किति लिटि परत्वात्संप्र–।
१८४	१८	अनिक्षताम्।	अनिक्षाताम्।
१८५	१५	लुडादौ।	लुडादौ।
१८६	६	दृप् द्रुह ष्णुह।	दृप् द्रुह मुह् ष्णुह।

पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०
१८८	३	क्रुद्ध क्रोधे ।	क्रुध क्रोधे ।
१६७	४	कृञिति ।	कृ॰ इति ।
२०७	११	कुर्वात् ।	कुर्वीत ।
२१५	२१	अत्यक्त आह	इत्यत आह ।
२१७	३	प्रेरणादौ ।	प्रेषणादौ ।
२१८	२१	शुश्रूषतीति ।	सुस्रूषतीति ।
२२०	२८	पक् ।	युक ।
२२२	२५	अत् होता है ।	ऋत् होता है ।
२४३	५	मीर्यति ।	गीर्यति ।
२५७	२०	एधस्य ।	एधसः ।
२७४	१६	यथा स्वकर्तव्यम ।	यथा ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् । तव्यत् प्रत्ययान्तस्य तु भवत्येव समासो यथा स्वकर्तव्यम् ।
२८२	११	यथा, संहितम ।	यथा सहितं, संहितम् ।
२८५	२१	अतु ।	क्रतु ।
२८८	२७	प्रत्यय का ।	प्रत्यय के आदि ।
२८६	२२	कुम्भ + अम ।	कुम्भ + अम् ।
३१६	११	प्रफुल्ल ।	प्रफुलतः ।
३२२	७	इष्टः, विदितः ।	इष्टः, बुद्धः, विदितः ।
,,	८	रक्षितः, आक्रुष्ट ।	रक्षितः क्षान्तः, आक्रुष्टो ।
३२६	१०	परिसृ ।	परिमृज् ।
,,	२३	"चजोः" ।	"चजोः" ।
३३३	१३	उणादि रूपमिद ।	उणादि सूत्रमिद ।
३३४	१८	प्रपेक्षणे ।	प्रक्षेपणे ।
३५०	१२	हनिमसिभ्या ।	हनिमशिभ्या ।
३६०	६	दाशागोघ्नौ ।	दाश-गोघ्नौ ।
३६१	१०	मकार ।	उकार ।
३६५	२०	तुषू ।	जृषू ।
३७४	४	स्वाङ्ग ।	स्वाङ्गे ।
३७५	१५	यथा इत्यादि ।	यथा तट इत्यादि ।
३८२	२२	क्षुधार्त न ।	क्षुधार्तस्य न ।

ॐ

श्रीं नमः श्रीगणेशाय

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

(प्रभाकरी-विवृति सहिता ।)

नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥ १ ॥

अथ प्रभाकरी

सद्यो मूकः सदसि विदुषां जायते वावदूकः
पश्यत्यन्धो जगति निखिलं वस्तुजातं सुदूरात् ।
पङ्गुः शृङ्गं शिवगुरुगिरेर्लङ्घते यत्कृपातो
वन्दे देवं तमहमनिशं कृष्णमानन्दकन्दम् ॥ १ ॥

स्वान्तेन शान्ताः करणेन दान्ताः कान्त्या च कान्ताः करुणानिशान्ताः ।
रामप्रपन्नाः परम-प्रसन्नाः स्वयम्प्रकाशा गुरवो जयन्ति ॥ २ ॥

विवृतिमिमामतिसुभगां विश्वनाथ-प्रभाकरो वात्स्यः ।
निगमानन्दसहायः कुरुते नाम्ना प्रभाकरीम् ॥ ३ ॥

१—ग्रन्थादौ शिष्टाचारानुमतं मङ्गलमाचरन् पण्डितप्रवरो वरदराजो 'गुरुरेव परं ब्रह्म' इति सदुक्तिं मनसिकृत्य श्रीगुरून् प्रणम्य प्रारिप्सितं प्रतिजानीते—नत्वेति । वरदराजः=तन्नामा पण्डितवरः, श्रीगुरून्=श्रिया सहितान् गुरून्, सच्छास्त्रोपदेशकानिति यावत्, भट्टोजिदीक्षितान्=एतन्नामकान् (बहुवचनमादरार्थम्) नत्वा=नमस्कृत्य, पाणिनीयानाम्=पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् (व्याकरणम्), तदधीयते

ॐ

हिन्दीभावानुवाद

नत्वा वरदेति—श्रीवरदराज अपने पूज्य गुरु श्रीभट्टोजिदीक्षित को प्रणाम करके पाणिनीयों (व्याकरण पढ़नेवालों) के लिये मध्यसिद्धान्तकौमुदी को बनाता है ।

(श्रीशिवसूत्राणि । वर्णसमाम्नायः)

अ इ उण् १। ऋ ऌ क् २। ए ओङ् ३। ऐ औच् ४। ह य व-
रट् ५। लण् ६। ञ म ङ ण नम् ७। झ भ ञ् ८। घ ढ धष् ९।
ज ब ग ड दश् १०। ख फ छ ठ थ च ट त व् ११। क पय् १२। श ष-
सर् १३। हल् १४।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। इकारादिष्वकार

विदन्ति वा पाणिनीयास्तेषां सम्बन्धिनीं (तेषां कृते इत्यध्याहारो वा) मध्यसिद्धान्त-
कौमुदीम्=मध्यां लघुकौमुदीवन्नात्यल्पां सिद्धान्तकौमुदीवच्च नातिमहतीम्, सिद्धा-
न्तानाम्=व्याकरणसम्बन्धि-वादिप्रतिवादि-निर्णीतार्थानां कौमुदीमिव कौमुदीम्=
प्रकाशिकां मध्यसिद्धान्तकौमुदीनामिकां पुस्तिकामित्यर्थः। करोति=विरचयति ॥२॥

१—अत्र सन्ध्यभावः संहिताऽविवक्षामूलः सौत्रः, स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थो वा, यद्वा-
'निपात एकाजनाङ्' इति प्रगृह्यत्वात्प्रकृतिभाव एव। २—'एओङ्' 'ऐऔच्'इति
पृथक् सूत्रकरणाद् एदैतोरोदौतोश्च स्थानप्रयत्नसाम्येऽपि न सावर्ण्यम्। ३—अयं
णकारो द्विरनुबध्यते पूर्वश्चैव। तत्र-अणग्रहणेषु-इणग्रहणेषु च सन्देहः स्यात्,
तत्रोच्यते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्।' तच्च व्याख्यानम्-

'परेणैवेणग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाऽणग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥' इति ॥

४—'तत आगतः' इत्यण्, महेश्वरप्रसादलब्धानीत्यर्थः, नतु महेश्वरप्रोक्तानि,
तथा सति-अनित्यत्वावगत्या भाष्योक्ताक्षरसमाम्नायत्वानापत्तेः। महेश्वरादागतत्व-
श्चैषां स्पष्टं नन्दिकेश्वरकारिकायाम्, यथा—

'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥'

किञ्चात्र—'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।'

इति शिक्षावचनमपि प्रमाणम्। अथवा महेश्वरस्यापीश्वराऽभिन्नत्वात्समाम्नायस्य
(वेदस्य) च तन्निःश्वसितत्वेन प्रोक्तार्थत्वेऽपि न वर्णसमाम्नायत्वानापत्तिः। ५—
अणादिसञ्ज्ञार्थानि=अण्, अक्, अच्, अल्, हल् इत्यादि-सञ्ज्ञारूप-प्रत्या-
हारसिद्ध्यर्थानीत्यर्थः। ततश्च लाघवेन शास्त्रस्य प्रवृत्तिः सिद्ध्यति।

इति माहेश्वराणीत्यादि—महेश्वर की कृपा से प्राप्त ये चौदह सूत्र अण् आदि
सञ्ज्ञाओं (प्रत्याहारों) की सिद्धि के लिए हैं।

उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ।

हकारो द्विरुपात्तोऽयमटि शल्यपि वाञ्छता ।
अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ॥

१ हलन्त्यम् १ । ३ । ३ ॥

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ।

१—'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति' इति भाष्यात् । २—'लण्' इति सूत्रेऽकार इत्सञ्ज्ञको नदुच्चारणमात्रार्थः । तेन रप्रत्याहारसिद्धिः । ३—ननु वर्णसमाम्नाये सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टा अयं=हकारः, द्विरुपदिश्यते पूर्वश्चैव परश्चैव । तत्राह—

हकारो द्विरिति । अटि = अट्प्रत्याहारे शलि=शल्प्रत्याहारेऽपि च (हकारसत्ताम्)—वाञ्छता=अभिलषताऽऽचार्येण, अयं हकारो द्विः=द्विवारम् उपात्तः=गृहीतः, उपदिष्ट इति यावत् । तत्राट्प्रत्याहारघटितत्वे प्रयोजनम्—'अर्हेण', अन्यथा (हयवरडित्यत्र हकारानुपादाने) 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वन्न स्यात् । शल्प्रत्याहारघटितत्वे च प्रयोजनम्—'अधुक्षत्', अन्यथा (शषसर् हलित्यत्र हकारानुपादाने) दुहेर्लुङि शलन्तत्वाभावात् 'शल इगुपधादनिटः क्सः' क्सो न स्यात् । तदुक्तं द्वयं सिद्धं भविष्यतीति ।

४—आद्यम्=प्रथममुच्चारणं प्रत्यासत्त्या मुनित्रयस्यैव । तच्च—

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य-लिङ्गानुशासनम् ।
आगम-प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्त्तिताः ॥

इति भाष्योक्तं वेदितव्यम् ।

हकार आदि अक्षरों में अकार उच्चारणमात्र के लिए है, किन्तु लण्-सूत्र में अकार इत्सञ्ज्ञक है ।

हकारो द्विरिति—प्रत्याहार सूत्रों में हकार इसलिये दो बार पढ़ा है कि अट् प्रत्याहार और शल् प्रत्याहार दोनों में आ सके । क्रमशः दोनों में आने का फल है—'अर्हेण' में णत्व और 'अधुक्षत्' में क्स की सिद्धि ।

१—उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत्सञ्ज्ञा होती है । पाणिनि आदि आचार्यों के प्रथम उच्चारण को उपदेश कहते हैं । सूत्रों में न देखा गया पद दूसरे सूत्रों से अनुवर्तन कर लेना चाहिए; सब स्थानों में ।

२ अदर्शनं लोपः १ । १ । ६० ॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ।

३ तस्य लोपः १ । ३ । ९ ॥

तस्येतो लोपः स्यात् । णादयोऽणाद्यर्थाः ।

४ आदिरन्त्येन सहेता १ । १ । ७१ ॥

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् । यथा—अण् इति अ इ उवर्णानां संज्ञा । एवमच् , हल् , अल् , इत्यादयः ।

५ ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १ । २ । २७ ॥

१—प्रसक्तस्य = उच्चार्यत्वेन प्राप्तस्येत्यर्थः । २—तस्य=इत्संज्ञकस्येत्यर्थः । ३—णादयः—वर्णसमाम्नाये पठिता णकार–ककारादयोऽनुबन्धाः । अणाद्यर्थाः=अण्—अक्—अच्—इत्यादिप्रत्याहारसिद्ध्यर्थाः । ४—आदिः, अन्त्येन, सह, इता, इति पदच्छेदः । आद्यन्तशब्दाभ्यामत्र मध्यगा आक्षिप्यन्ते । 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' इत्यतः स्वमित्यनुवर्त्तते, षष्ठ्या च विपरिणम्यते । सञ्ज्ञाप्रस्तावाच्च सञ्ज्ञेति लभ्यते । तथा चार्थो वृत्तौ स्पष्टः । ५—सञ्ज्ञा=बोधक इत्यर्थः । ६—ऊकालः, अच , ह्रस्वदीर्घप्लुतः—इति पदच्छेदः । उ, ऊ, उ ३ इति अयाणामेकमात्र–द्विमात्र–त्रिमात्राणां द्वन्द्वसमासे सति सवर्णदीर्घेण 'ऊ' इति प्रश्लिष्टनिर्देशः । तेषां कालः, ऊकालः, कालशब्दः कालसदृशे लाक्षणिकः । ऊकालः कालो यस्येति विग्रहः । बहुव्रीहौ पूर्वपदे उत्तरखण्डस्य कालशब्दस्य लोपः 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इत्यनेन । ह्रस्वदीर्घप्लुत इति

२—विद्यमान के अदर्शन की लोप सञ्ज्ञा होती है ।

३—जिसकी इत्सञ्ज्ञा होती है, उसका लोप होता है ।

अ इ उ ण् इत्यादि सूत्रों में णकारादि अण् अक्-अच् इत्यादि प्रत्याहार सिद्धि के लिए हैं ।

४—अन्त्य इत् के साथ उच्चार्यमाण आदि का वर्ण मध्यगामी वर्णों का तथा अपना बोधक होता है । जैसे—अण् , यह प्रत्याहार अ इ उ इन वर्णों का बोधक है । ऐसे ही अक्-अच्-अल्-हल् इत्यादि प्रत्याहार जानने चाहिए ।

५—एकमात्रिक द्विमात्रिक त्रिमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान है उच्चारण काल जिस अच् का,वह अच् क्रम से ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत सञ्ज्ञक होता है । ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेदसे तीन प्रकारका हुआ वह अच् उदात्तादि भेदसे फिर तीन प्रकारका होता है ।

उश्च ऊश्च ऊ ३ श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा ।

६ उच्चैरुदात्तः १ । २ । २९ ॥

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् ।

७ नीचैरनुदात्तः १ । २ । ३० ॥

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात् ।

८ समाहारः स्वरितः १ । २ । ३१ ॥

उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात् । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ।

९ मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १ । १ । ८ ॥

समाहारद्वन्द्वः । सौत्रं पुंस्त्वम् । वृत्तौ 'वः' इति उशब्दस्य प्रथमाबहुवचनं, 'वाम्' इति षष्ठीबहुवचनम् । तथा चायमर्थः—उ, ऊ, ऊ ३ इत्युकारत्रयस्योच्चारणकालसदृश उच्चारणकालो यस्याऽचः सोऽच् क्रमाद् ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतसञ्ज्ञावान् भवतीति । कुक्कुटरुते-उकारस्यैकमात्रत्व-द्विमात्रत्व-त्रिमात्रत्वप्रसिद्धेर्नोक्ता अकारादयः ।

१—ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदेन त्रिविधोऽच् । २—त्रयाणां त्रिविधत्वे नव विधाः= भेदाः । ३—मुखसहिता नासिका मुखनासिकेति विग्रहः । शाकपार्थिवादित्वात् सहितपदस्य लोपः । मुखञ्च नासिका चेति द्वन्द्वस्तु न 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति समाहारनियमान्नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वाऽऽपत्तेः 'मुखनासिकवचन' इति स्यादिति

६—तालु आदि सभाग स्थानों के ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न अच् उदात्त सञ्ज्ञक होता है ।

७—तालु आदि सभाग स्थानो के अधोभाग में उच्चार्यमाण अच् अनुदात्त संज्ञक होता है ।

८—उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों वर्णधर्म जिसमें इकट्ठे हो जाएँ वह अच् स्वरित संज्ञक होता है । वह नौ प्रकार का भी अच् अनुनासिक और अननुनासिक भेद से दो प्रकार का होता है ।

९—मुख सहित नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण अनुनासिक संज्ञक होता है । सो इस प्रकार अ इ उ ऋ इन वर्णों में प्रत्येक के अठारह अठारह भेद होते हैं । लृ वर्ण के बारह भेद हैं; क्योंकि वह दीर्घ नहीं होता । एचों के भी बारह बारह ही भेद होते हैं; क्योंकि वे ह्रस्व नहीं होते ।

मुख-सहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः, लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

१० तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।६॥

भाव। उच्यते—उच्चार्यतेऽसौ इति वचन। कर्मणि ल्युट्, उच्चार्यमाण इत्यर्थः। 'मुखनासिकया' इति तृतीयासमासस्तथा चार्थो वृत्तौ स्पष्टः। उच्यतेऽनेनेति वचनम्=स्थानं मुखनासिका वचनमस्येति तत्त्वबोधिनी। करणे ल्युट् बाहुलकात्।

१—तदित्थम्=ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति। त्रिविधानामुदात्तानुदात्तस्वरितभेदैर्नवधा कृतानां पुनरनुनासिकाऽननुनासिकभेदाभ्यां द्विधा करणेन अष्टादश भेदा भवन्ति। २—आस्ये=मुखे भवम् आस्यम्=स्थानम्, प्रकृष्टो यत्न प्रयत्नः, आभ्यन्तरप्रयत्नः, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्येति विग्रह।

चक्रे स्पष्टमिदमधस्तात्:—

अ इ उ ऋ लृ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेदाः	दीर्घभेदाः	प्लुतभेदाः
१ ह्र० उदात्तानुनासिकः	७ दी० उदात्तानुनासिकः	१३ प्लु० उदात्तानुनासिकः
२ ह्र० उदात्ताननुनासिकः	८ दी० उदात्ताननुनासिकः	१४ प्लु० उदात्ताननुनासिकः
३ ह्र० अनुदात्तानुनासिकः	९ दी० अनुदात्तानुनासिकः	१५ प्लु० अनुदात्तानुनासिकः
४ ह्र० अनुदात्ताननुनासिकः	१० दी० अनुदात्ताननुनासिकः	१६ प्लु० अनुदात्ताननुनासिकः
५ ह्र० स्वरितानुनासिकः	११ दी० स्वरितानुनासिकः	१७ प्लु० स्वरितानुनासिकः
६ ह्र० स्वरिताननुनासिकः	१२ दी० स्वरिताननुनासिकः	१८ प्लु० स्वरिताननुनासिकः

१०—तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न जिन वर्णों के तुल्य हों उनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है (ऋ और लृ वर्ण की परस्पर सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिये)। अकार, कवर्ग, हकार और विसर्जनीय इनका कण्ठ स्थान है। इकार, चवर्ग, यकार शकार इनका तालु स्थान है। ऋकार, टवर्ग, रेफ तथा षकार इनका मूर्धा स्थान है। लृकार, तवर्ग, लकार तथा सकार इनका दन्त स्थान है। उकार, पवर्ग, उपध्मानीय इनका ओष्ठ स्थान है। ञकार-मकार-ङकार-णकार-नकार इनका नासिका स्थान भी है। (ञकार से ताल्वादि भी हैं)। ए और ऐ का

ताल्वादि[1]स्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्। (ऋ-ऌ[2]वर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्)। अ-कु[3]-ह-विसर्जनीयानां कण्ठः। इ-चु-य-शानां[4] तालु। ऋ-टु-र-षाणां[5] मूर्धा। ऌ-तु-ल-सानां[6] दन्ताः। उ-पू[7]पध्मानीयानामोष्ठौ। ञ-म-ङ-ण-नानां नासिका च। एदैतोः[8] कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य। इति स्थानानि।

यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा। स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृत-विवृत-संवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे[9] संवृतम्, प्रक्रिया[10]दशायां तु विवृतमेव। बाह्यप्रयत्न[11]स्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो

१—ताल्वादि=तालुरादिः कण्ठः। तालुरादिर्येषां ते ताल्वादयः=तालुमूर्धोष्ठादयः। ताल्वादिश्च तल्वादयश्चेति ताल्वादयः (कण्ठ-तालु-मूर्धादयः)। २—स्थानसाम्याभावादप्राप्ता सवर्णसञ्ज्ञा विधीयते वार्तिककारेण, ऋ च ऌवर्णश्च तौ-ऋऌवर्णौ तयोः। "ऋत्यक" इति प्रकृतिभावः। ऋ च, ऋच ऌश्च तौ च तौ वर्णौ, ऋऌवर्णौ तयोरिति मनोरमा। ३—अकार-कवर्ग-हकार-विसर्गाणां कण्ठः स्थानम्। ४—इकार-चवर्ग-यकार-शकाराणां तालु स्थानम्। ५—ऋकार-टवर्ग-रेफ-षकाराणां मूर्धा स्थानम्। ६—ऌकार-तवर्ग-लकार-सकाराणां दन्ता स्थानम्। ७—उकारपवर्गोपध्मानीयानाम् ओष्ठौ स्थानम्। ८—चकारादेषां यथायथं कण्ठादिकमपि स्थानं बोध्यम्। ९-प्रयोगे=व्यवहारसमये। १०-प्रक्रियादशायाम्=व्याकरणरीत्या शब्दसाधनसमये। संवृतत्वविधायकस्य "अ अ" इति सूत्रस्य सम्पूर्णाम् अष्टाध्यायीं प्रत्यसिद्धत्वात्। (अष्टमाध्यायस्य चतुर्थपादस्यान्तिममिदं सूत्रम्)। ११—बाह्यत्वं=वर्णोत्पत्त्युत्तर-कालजातत्वम्।

कण्ठतालु स्थान है। ओ और औ का कण्ठोष्ठ स्थान है। वकार का दन्तोष्ठ स्थान है। जिह्वामूलीय का जिह्वामूल स्थान है। अनुस्वार का नासिका स्थान है।

यत्न दो प्रकार का है; आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का है; स्पृष्ट-ईषत्स्पृष्ट-ईषद्विवृत-विवृत और संवृत भेद से। उनमें स्पर्शों का स्पृष्ट प्रयत्न है। अन्तस्थों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है। ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है। स्वरों का विवृत प्रयत्न है। ह्रस्व अवर्ण का प्रयोग में संवृत प्रयत्न होता है। किन्तु प्रक्रिया दशा में विवृत ही रहता है।

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है, जैसे—विवार, संवार, श्वास, नाद,

नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च । वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः । वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः । कादयो

१—अत्र चकारेण स्वराणां सङ्ग्रहः । २—क-प्रभृतयो म-पर्यन्ताः पञ्च-

आभ्यन्तरप्रयत्नचित्रम्

स्पृष्टम्	ई. स्पृ.	विवृतम्	ई. वि.	संवृतः
क. च. ट. त. प.	य.	अ. ए.	श.	[illegible]
ख. छ. ठ. थ. फ.	र.	इ. ओ.	ष.	
ग. ज. ड. द. ब.	ल.	उ. ऐ.	स.	
घ. झ. ढ. ध. भ.	व.	ऋ. औ.	ह.	
ङ. ञ. ण. न. म.		लृ.		

अथायं बाह्यप्रयत्नविवेकः

विवारः, श्वासः, अघोषः	संवारः, नादः, घोषः	अल्पप्राणः	महाप्राणः	उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरितः	
क. ख. श.	ग. घ. ङ. य.	क. ग. ङ. य.	ख. घ. श.	अ.	ए.
च. छ. ष.	ज. झ. ञ. व.	च. ज. ञ. व.	छ. झ. ष.	इ.	ओ.
ट. ठ. स.	ड. ढ. ण. र.	ट. ड. ण. र.	ठ. ढ. स.	उ.	ऐ.
त. थ.	द. ध. न. ल.	त. द. न. ल.	थ. ध. ह.	ऋ.	औ.
प. फ.	ब. भ. म.	प. ब. म. अ.	फ. भ.	लृ	
		इ. उ. ऋ. लृ.			
		ए. ओ. ऐ. औ.			

सर्वेषां वर्णानां प्रत्येकं चत्वारो बाह्यप्रयत्नाः ।

घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त अनुदात्त और स्वरित । खर् प्रत्याहार के वर्णों के विवार-श्वास-अघोष प्रयत्न होते हैं।

हश् प्रत्याहार के वर्णों के संवार-नाद-घोष प्रयत्न होते हैं। वर्गों के प्रथम तृतीय-पञ्चम वर्ण तथा यण् इनका अल्पप्राण प्रयत्न होता है। वर्गों के द्वितीय-चतुर्थ वर्ण और शल् प्रत्याहार इनका महाप्राण प्रयत्न होता है।

'क' से 'म' तक स्पर्श कहलाते हैं। यणों को अन्तःस्थ वर्ण कहते हैं, शल्

मावसानाः स्पर्शाः । यणोऽन्तःस्थाः । शषसहा ऊष्माणः । अचः स्वराः । ≍क ≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः । ≍प≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः । 'अं' 'अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ ।

११ अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १ । १ । ६९ ॥

अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण । कु चु टु तु पु एते उदितः । तदेवम्-अ इत्यष्टादशानां संज्ञा । तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः । एवं लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । अनुनासिकाऽननुनासिकभेदेन यवला द्विधा । तेनाऽननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा ।

विंशतिवर्णाः स्पर्शसञ्ज्ञका इत्यर्थः ।

१—अनुस्वारविसर्गौ—अचः परौ भवतः । अं, अः, इत्युदाहरणदिक् । अनुस्वारो लिपिसन्निवेशे परत्वनियमेऽपि—उपरिष्टादेव विधीयते, तथैव प्रचारात् । २—प्रतीयते=विधीयत इति प्रत्ययः=विधीयमानः स न भवतीति—अप्रत्ययोऽविधीयमानः । आदेश-प्रत्ययागमादिभिन्नोऽण् इत्यर्थः । तेन 'इतः' इत्यत्र 'इदम इश्' इति विधानात्र ईकारो न भवति (त. बो.) । ३—अत्रैव=अस्मिन्नेव सूत्रे । अण् परेण णकारेण । अन्यत्र तु सर्वत्रापि—अण् पूर्वेण णकारेणैव । इण्ग्रहणन्तु सर्वत्र परेणैव । अत्रत्यभाष्यव्याख्यानश्लोकः पूर्वमुदाहृत एव । ४—ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यादिष्टादश—ऋकारभेदाः, द्वादश लृकारस्येति मिलित्वा त्रिंशत् । त्रिंशतः=

प्रत्याहार के वर्णों को ऊष्म वर्ण कहते हैं । अचों की स्वर संज्ञा है । ≍क ≍ख से पूर्व अर्ध विसर्ग सदृश जिह्वामूलीय कहलाता है । ≍प ≍फ से पूर्व अर्ध विसर्गसदृश उपध्मानीय कहलाता है ।

अनुस्वार और विसर्ग अच् से परे होते हैं; जैसे—अं अः ।

११—विधान किये जानेवाले को प्रत्यय कहते हैं । अविधीयमान अण् और उदित् सवर्ण का बोधक होता है । केवल इसी सूत्र में 'अण्' पर (लण् के) णकार से लिया जाता है । कु-चु-टु-तु-पु ये उदित् कहलाते हैं । इस प्रकार 'अ' यह अठारह का बोधक होता है । इसी प्रकार इकार-उकार भी अठारह अठारह के बोधक हैं । ऋकार तीस का बोधक है । एवं लृकार भी तीस का बोधक है । एच् बारह २ के बोधक होते हैं । अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य-व-ल दो दो प्रकार के होते हैं । इसी से अननुनासिक य-व-ल दो-दो के बोधक रहते हैं ।

१२ परः सन्निकर्षः संहिता १ । ४ । १०९ ॥
वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ।
१३ हलोऽनन्तराः संयोगः । १ । १ । ७ ॥
अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः ।
१४ सुप्तिङन्तं पदम् १ । ४ । १४ ॥
सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ।

इति संध्युपयोगि संज्ञाप्रकरणम् ॥१॥

अथ अच्सन्धिः ।

१५ इको यणचि ६ । १ । ७७ ॥
इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । सुधी उपास्य इति स्थिते ।
१६ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । १ । १ । ६६ ॥

त्रिशब्देदानां सञ्ज्ञा=बोधक इत्यर्थः । १—अनन्तराः = अव्यवहिता विजातीय-व्यवधानरहिता इति यावत् । यथा—इर्य्यनुभवः । २—'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' तथा चाह वृत्तौ—सुबन्तं तिङन्तञ्चेति, शब्दस्वरूपमिति शेषः । सुबन्तं यथा—रामः । तिङन्तं यथा—भवति । इति सञ्ज्ञाप्रकरणम् ।

अथ अच्सन्धिः ।

३—इक इति स्थानषष्ठी । संहितायामित्यनुवर्त्तते । ४—व्यवहितेऽव्यवहिते चाचि सति, अव्यवहित एव स्यादिति पूर्वस्य परस्य चेति प्राप्ते पूर्वस्यैवेति च नियमार्थेदं परिभाषासूत्रम् । अत्र 'तस्मिन्निति' सप्तम्यन्तानुकरणमिदम् । निरिति

१२—वर्णों के अतिशयित सामीप्य को संहिता कहते हैं ।
१३—अचों के व्यवधान से रहित हल् संयोग संज्ञक होते हैं ।
१४—सुबन्त और तिङन्त की पदसञ्ज्ञा होती है ॥ इति सञ्ज्ञाप्रकरण ॥

अथ अच्सन्धिः ।

१५—इक् के स्थान में यण् होता है अच् परे होने पर संहिता के विषय में ।
१६—सप्तमीनिर्देश (सूत्रों में सप्तम्यन्त पद) से विधीयमान कार्य वर्णान्तर के व्यवधान से रहित पूर्व को होता है ।

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य ज्ञेयम्।

१७ स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। सुध्य् उपास्य इति जाते॥

१८ अनचि च ८।४।४७॥

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धस्य द्वित्वम्॥

१९ झलां जश् झशि ८।४।५३॥

झलां जश् स्यात् झशि परे। इति पूर्व-धस्य दः॥

२० संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३॥

संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात्॥

२१ अलोऽन्त्यस्य १।१।५२॥

षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्यादेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते। (यणः प्रतिषेधो

नैरन्तर्यं, दिशिवच्चारणार्थः, तथा चार्थौ वृत्तौ स्पष्टः। १—स्थाने = उच्चारण-प्रसङ्गे। अन्तरतमः = सदृशतमः। सादृश्यञ्च चतुर्विधं—स्थानकृतं, गुणकृतम्, अर्थकृतं, प्रमाणकृतञ्चेति। स्थानकृतं यथा—दध्यत्र। गुणकृतं यथा—(गुणः=प्रयत्नः) वाग्घरिः। अर्थकृतं यथा—वातण्डयुवतिः। वतण्डी चासौ युवतिश्चेति विग्रहे "पोटा युवती" त्यादिना समासः, "पुंवत्कर्मधारय" इत्यादिना प्राप्ते पुंवद्भावे—अर्थकृतसादृश्याद् वतण्डापत्यवाचिनो वतण्डीशब्दस्य स्थाने तदपत्यवाची वातण्ड्य-शब्दो ननु वतण्डः। वतण्डीत्यत्र "वतण्डाच्चे"ति गोत्रापत्ये यञ्, तस्य "लुक् स्त्रिया"मिति लुक्। शार्ङ्गरवादित्वाद् ङीन्। प्रमाणकृतं यथा—अमुम्, अमू, अमून्, "अदसोऽसे"रिति ह्रस्वस्य ह्रस्वो दीर्घस्य दीर्घ ऊकारः। 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः' तेन—चेता, स्तोता, इत्यत्र प्रमाणत आन्तर्य्यवान् अकारो न। २—संयोगान्तस्य यणः=यरलवानां लोपस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः।

१७—प्रसङ्ग होने पर सदृशतम आदेश होता है।

१८—अच् से परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है; अच् परे रहते नहीं होता।

१९—झलों के स्थान में जश् होते हैं झश् परे रहते।

२०—संयोगान्त पद का लोप होता है।

२१—षष्ठी निर्दिष्ट (सूत्रों में षष्ठ्यन्त पद के द्वारा बताए गए) अन्त्य अल् को आदेश होता है। (वा० संयोगान्त यण् के लोप का प्रतिषेध कहना चाहिये)।

वाच्यः)। सुद्धयुपास्यः। मद्ध्वरिः। धात्रंशः। लाकृतिः॥

२२ एचोऽयवायावः ६।१।७८॥

एचः क्रमात्, अय्, अव्, आय्, आव्, एते स्युरचि॥

२३ यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः॥

२४ वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९॥

यादौ प्रत्यये परे ओदौतोरवावौ स्तः। गव्यम्। नाव्यम्। (अध्वपरिमाणे च)। गव्यूतिः॥

१–मधु=अरिः। धातृ+अंशः। लृ+आकृतिः। एवं गौरी+आगच्छति, गौर्यागच्छति। कुरु+इदम्, कुर्विदम्। मातृ+आज्ञा=मात्राज्ञा। लृ+आकारः=लाकारः। २–उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोः समसङ्ख्यत्वे क्रमात्कार्यं स्याद् इत्यर्थः। ३–हरे+ए=हरये। विष्णो। ए=विष्णवे। नै+अक (:)=नायकः। पौ+अक(:)=पावकः। एवम्–ने+अति=नयति। भो+अति=भवति। वटो+ऋक्षः=वटवृक्षः। ग्लै+अति=ग्लायति। नौ+इक(:)=नाविकः। भौ+उक(:)=भावुकः। ४—'यि' इति 'प्रत्यये' इत्यस्य विशेषणम्। यद्यपि विशेषणं तदन्तस्य सञ्ज्ञेति 'यान्ते प्रत्यये'–इत्यर्थः, तथापि सप्तम्यन्ते वर्णग्रहणे तदादिविधिरित्यर्थिकया 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति परिभाषया तदन्तविधिबाधात् तदादिविधिरेव। तदाह वृत्तौ–यादौ प्रत्यये। ५—"गोपयसोर्यत्" इति यत्प्रत्ययः। गो+य (म्) इति च्छेदः। "नौवयोधर्म" इत्यादिना यत्प्रत्ययः, नौ+य (म्)=नाव्यम्=नावा तार्यं जलम्। ६—'गोर्यूतौ' 'वान्त' इति चानुवर्त्तते। अध्वपरिमाणे (मार्गपरिमाणे) वाच्ये गोशब्दस्य यूतिशब्दे परेऽवादेशः स्यादित्यर्थः। ७—गो+यूतिः=गव्यूतिः=कोशयुगम्।

२२–एचों को क्रम से अय्, अव, आय्, आव् आदेश होते हैं अच् परे रहते।

२३–सम सम्बन्धी विधि (क्रम से) होती है।

२४–यकार है आदि में जिसके, ऐसा प्रत्यय परे हो तो ओ और औ को अव्, आव् आदेश होते हैं। (वा० गो शब्द को वान्त (अव्) आदेश होता है यूति शब्द परे रहते यदि मार्ग का परिमाण बताना हो)।

२५ धातोस्तन्निमित्तस्यैव ६ । १ । ८० ॥

यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । तन्निमित्तस्य किम् ? ओयते । औयत ॥

२६ क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ६ । १ । ८१ ॥

यान्तादेशनिपातनार्थमिदम् । क्षय्यम् । जय्यम् । शक्यार्थे किम् । क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं = पाप, जेयं = मनः ॥

२७ क्रय्यस्तदर्थे ६ । १ । ८२ ॥

१—सूत्रारम्भसामर्थ्यादेव नियमे सिद्धे-एवशब्दो विपरीतनियमवारणार्थः । अन्यथा यादौ प्रत्यये परे तन्निमित्तस्यैचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि धातोरेवेति नियमः सम्भाव्येत, ततश्च 'बाभ्रव्य' इत्यत्र न स्यात् ।

२—लुनातेः "अचो यत्" इति यत्प्रत्यये तन्निमित्तके "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इति गुणे लो + य (म्)=लव्यम् । ३—"ओरावश्यके" इति ण्यत् । "अचो ञ्णिति" इति वृद्धिः । अवश्यलौ + य (म्) = अवश्यलाव्यम् । ४–आङ्पूर्वाद् वेञः कर्मणि लट् यगात्मनेपदं यजादित्वाद् "वचिस्वपी"ति सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम्, "अकृत्सार्वधातुकयोः" इति दीर्घः, आङा सह गुणे 'ओयते' इति रूपम् । अत्र गुणस्य परादिवद्भावेन धातोरेच्त्वेऽपि यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाभावान्न वान्तादेशः । ५–'ओयते' इत्यत्र-आङा सह गुणस्य'ओ'कारस्य पदद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गतया वान्तादेशे कर्तव्येऽसिद्धत्वादोकाराभावान्न वान्तादेशप्रसक्तिरित्यस्वारस्यात्प्रत्युदाहरणान्तरमाह–"औयत" इति । केवलाद् वेञः कर्मणि लङ् । यगादि पूर्ववद् । "आडजादीनाम्" इत्याट् । "आटश्चेति" वृद्धिरौकारः । तस्य परादिभावेन धात्ववयवत्वेऽपि यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाभावान्न वान्तादेशः । (अत्र वृद्धेस्तु न बहिरङ्गत्वं पदद्वयापेक्षत्वाभावात्) ६—क्षिधातोः, जिधातोश्च "अचो यत्" इति यत्प्रत्यये "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इति गुणे क्षे + य (म्) जे + य (म्) इत्यत्र—अयादेशस्याऽप्राप्तौ शक्यार्थे तन्निपातनम् । ७—तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थं

२५—यादि प्रत्यय परे रहते धातु के एच् को यदि वान्तादेश हो तो यादि-प्रत्ययनिमित्तक ऐच् को ही हो, अन्य को नहीं ।

२६—शक्य अर्थ में 'क्षय्य' 'जय्य' निपातन से सिद्ध होते हैं ।

२७—ग्राहक लोग खरीदें इसलिये जो वस्तु बाजार में फैलाकर रखी जाय उस अर्थ में 'क्रय्य'—शब्द निपातन से सिद्ध होता है ।

क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्धया आपणे प्रसारितं क्रय्यम् । क्रेयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः ।

२८ अदेङ्गुणः १ । १ । २ ॥

अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात् ॥

२९ तपरस्तत्कालस्य १ । १ । ७० ॥

तः परो यस्मात्तात्परो वा उच्चार्यमाणो वर्णः समकालस्यैव संज्ञा स्यात् ॥

३० आद् गुणः । ६ । १ । ८७ ।

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात् । उपेन्द्रः । रमेशः । गङ्गोदकम् ॥

३१ उपदेशेऽजनुनासिक इत् । १ । ३ । २ ।

तस्मिन्—'क्रय्यः' इति निपात्यत—इत्यर्थः । वृत्तौ तात्पर्यतः पठति—क्रेतारः क्रीणीयुरिति । १—क्रेयम् = क्रयणार्हं गृहे सङ्गृहीतं धान्यादिकमित्यर्थः । २—अत्—एङ् इत्युभयत्र तपरकरणम् । तथा च 'अ' इति ह्रस्वस्यैव 'ए—ओ' इति द्विमात्रस्यैव च गुणसञ्ज्ञा । ३—तः परो यस्मात्स तत्परः, तात्परश्च तपर इति विग्रहद्वयमेव भाष्यसम्मतं तदेवाह वृत्तौ—तः पर इत्यादिः । ४—समकालस्यैव = उच्चार्यमाणसमानकालिकस्यैवेत्यर्थः । यथा—"अदेङ् गुणः" इत्यत्र ह्रस्व उच्चार्यमाणोऽकारो ह्रस्वाकाराणामेव बोधको न तु दीर्घादीनाम् । एवम् एङपि द्विमात्रस्यैवेङो बोधकः, अत एव रमा ईश इत्यादौ—आन्तरतम्यात् प्राप्तस्त्रिमात्र एकारो न भवति । ५—"एकः पूर्वपरयोः" इत्यधिकारः । अचीत्यनुवर्त्तते । आदिति पञ्चमी 'विभक्तिस्थितस्तपरो न तत्कालग्राही' इति । ६—उप + इन्द्रः । रमा + ईशः । गङ्गा + उदकम् । एवं गज + इन्द्रः = गजेन्द्रः । सूर्य +

२८—अत् और एङ् की गुण संज्ञा होती है ।

२९—तकार है परे जिससे अथवा तकार से परे जो अच् , वह उच्चार्यमाण समान काल का ही बोधक होता है । अर्थात् ह्रस्व के साथ त् हो तो ह्रस्व का ही बोध करायेगा और दीर्घ एवं प्लुत के साथ होगा तो दीर्घ एवं प्लुत का ही ।

३०—अवर्ण से अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान में गुणरूप एक आदेश होता है ।

३१—उपदेश में अनुनासिक अच् की इत्सञ्ज्ञा होती है । पाणिनि आदि आचार्यों के कथित वर्णप्रतिज्ञा से ही अनुनासिक जानने चाहिये । अण् सूत्र में

उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा ॥

३२ उरण् रपरः । १ । १ । ५१ ।

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तं तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । कृष्णर्द्धिः । तवल्कारः ॥

३३ लोपः शाकल्यस्य ८ । ३ । १६ ॥

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे ॥

३४ पूर्वत्रासिद्धम् ८ । २ । १ ॥

उदयः = सूर्योदयः । परीक्षा + उत्सुक = परीक्षोत्सुक । १—पाणिनिप्रभृतिप्रोक्ता वर्णाः प्रतिज्ञामत्रबोध्यानुनासिक्यवन्त इत्यर्थः । 'अयमेवम्' इति कथनं प्रतिज्ञा, सा च तत्तद्व्यवहारतोऽनुमेया, (श० शेखरानुसारमेतत्) पुराऽनुनासिक-चिह्नमासीत्, साम्प्रतं लेखकपाठकप्रमादात्स्खलितम् । २—ननु रट्लाम्, "प्रत्याहारेषु इतां न ग्रहणमि"ति नियमात् । ३—उः—अण् रपरः, इति च्छेदः । 'उः' इति ऋशब्दस्य षष्ठ्येकवचनम् । इयं स्थानषष्ठी । रपरः—रप्रत्याहारपर इत्यर्थः, "रट्ल(ण)" इत्यत्र रेफात् लकारान्तर्गताऽकारपर्यन्तं "र"—प्रत्याहारः, तेन ऋस्थाने "अर्", ऌस्थाने "अल्" ।

४—कृष्ण + ऋद्धिः । तव + ऌकारः । एवं वसन्त + ऋतुः=वसन्तर्तुः । राजा + ऋषिः = राजर्षिः, मम + ऌकारः = ममल्कारः, इत्यादयः । ५–अधिकार-सूत्रमिदम् । ८ । २ । १ इतः परं सर्वत्रैवाधिक्रियतेऽत एव त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति

स्थित अवर्ण के सहित उच्चार्यमाण रेफ 'र' और 'ल' दोनों का बोधक होता है ।

३२—तीस प्रकार के 'ऋ' के स्थान में होने वाला अण् रपर होकर ही प्रवृत्त होता है ।

३३—अवर्णपूर्व पदान्त यकार वकार का विकल्प से लोप होता है अश् परे रहते ।

३४—सपाद सप्ताध्यायीस्थ (सवा सात अध्यायों के) सूत्रों की दृष्टि में त्रिपादीस्थ (आठवें अध्याय के तीन पादों के) सूत्र असिद्ध होते हैं और त्रिपादी में भी पूर्व सूत्र के प्रति पर सूत्र असिद्ध होता है ।

अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम् । हर इहे । विष्णु इह । हरयिह । विष्णविह ॥

३५ वृद्धिरादैच्[2] १ । १ । १ ॥

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात् ॥

३६ वृद्धिरेचि ६ । १ । ८८ ॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

३७ एत्येधत्यूठ्सु ६ । १ । ८९ ॥

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणाप-

---

परं शास्त्रमसिद्धमिति सङ्गच्छते । १—हरे + इह । विष्णो + इह । अत्र "एचोऽयवायावः" इति सूत्रेण "अय्, अव्" आदेशयोः सतोः "लोपः शाकल्यस्य" इति पाक्षिके यकारलोपे हर इह, विष्णु इह—इति स्थितिः । नचात्र "आद्गुणः" इति गुणः स्यादिति वाच्यम्, गुणदृष्टौ लोपस्यैवासिद्धत्वात् । एवं शौरे + आगच्छ= शौर आगच्छ, शौरयागच्छ । प्रभो + इदानीम्—प्रभइदानीम्, प्रभविदानीम् । श्रियै + उत्कण्ठितः = श्रियाउत्कण्ठितः, श्रियावुत्कण्ठितः । भानौ + उत्सुकः = भानाउत्सुकः, भानावुत्सुकः । गुरौ + आयाते = गुरा आयाते, गुरावायाते इत्यादिकम् । २—आ ("आर्"—"आल्") ऐ औ वृद्धिः । ३—निरवकाशो विधिरपवादः । ४—कृष्ण + एकत्वम् । गङ्गा + ओघः । देव + ऐश्वर्यम् । कृष्ण + औत्कण्ठ्यम् । एवं पञ्च + एते=पञ्चैते, तण्डुल + ओदनम्=तण्डुलौदनम् । माधव+एधनम् = माधवैधनम्, राम + औत्सुक्यम् = रामौत्सुक्यम्, इत्याद्युदाहरणीयम् । ५—एति =इण् (गतौ) । एधतिः = एध (वृद्धौ) । "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" इत्यागमानुसारं श्तिपा निर्देशः । ६—"येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवती"ति न्यायेन ("एङि पररूपम्" इति पररूपस्य) "आद्गुणः"

३५—आत् और एच् की वृद्धि संज्ञा होती है ।

३६—अवर्ण से एच् परे रहते (पूर्व पर के स्थान में) वृद्धि रूप एक आदेश होता है । यह सूत्र गुण का अपवाद है ।

३७—अवर्ण से एजादि एति एधति और ऊठ् परे रहते पूर्व पर के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश होता है । यह सूत्र पररूप और गुण दोनों का अपवाद है ।

वादः । उपैति[1] । उपैधते । प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम्–उपेतः[2] । मा भवान्प्रेदिधत्[3] । (स्वादीरेरिणोः) स्वैरम् । स्वैरी । स्वैरिणी[4] । (अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्) अक्षौहिणी[6] सेना । (प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु) । प्रौहः । प्रौढिः । प्रैषः । (ऋते च तृतीयासमासे) । सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम्–परमर्तः । (प्र वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानामृणे) । प्रार्णमित्यादि ॥

३८ उपसर्गाः क्रियायोगे १ । ४ । ५९ ॥

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र । परा । अप । सम् । अनु । अव । निस् । निर् । दुस् । दुर्[11] । वि । आङ् । नि । अधि । अपि । अति । सु । उत् । अभि । प्रति । परि । उप । एते प्रादयः ॥

इति गुणस्य चापवादोऽयम् ।

१—उप+एति । एवम् अप+एति=अपैति । उप+एधते । एवम् अव+एधसे=अवैधसे इत्यादि । प्रष्ठ+ऊहः एवं विश्व+ऊहः+विश्वौहः । २—उप+इतः, अत्र एतिर्न एजादिः, अतो न वृद्धिः, किन्तु गुणः, ३—मा भवान् प्र+इदिधत् । अत्रापि एधतिर्नास्ति—एजादिः,इति न वृद्धिः, किन्तु गुणः । ४—स्वशब्दाद् ईरशब्दे—ईरिन्शब्दे च-पूर्वपरयोर्वृद्धिः स्यादित्यर्थः । ५–'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' । ६–अक्षाणामूहिनीति विग्रहः, सेनाविशेषस्य संज्ञेयम् । "पूर्वपदात्संज्ञाया–"मिति णत्वम् । अक्ष+ऊहिनी, इति छेदः । ७–प्रशब्दाद् ऊहः, ऊढः,ऊढिः, एषः, एष्यः, एतेषु परतो वृद्धिरित्यर्थः । प्र+ऊहः । प्र+ऊढः, ऊढिः । प्र+एषः । प्र+एष्यः । ८—सुख+ऋतः । ९—परम+ऋतः । अत्र कर्मधारयः, परमश्चासौ–ऋतः इति । १०–प्र+ऋणम्=प्रार्णम् । वत्सतर+ऋणम्=वत्सतरार्णम् । कम्बल+ऋणम्=कम्बलार्णम् । वसन+ऋणम्=वसनार्णम् । ऋण+ऋणम्=ऋणार्णम् । सर्वत्र वृद्धिः । ११—निस् निर् दुस् दुर्, अत्र रेफान्तं तु निरयते, निरयते, दुरयते, दुरयते इत्यादौ लत्वमेव । निसदुसोस्तु कत्वम् "उपसर्गस्यायतौ"

(वा० अक्षशब्द से ऊहिनी शब्द परे रहते पूर्व पर के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश होता है) । (वा० प्र-शब्द से ऊह ऊढ ऊढि एष एष्य इन शब्दों के परे होने पर पूर्व पर के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश होता है) । (वा० अवर्ण से ऋत शब्द परे रहते वृद्धि होती है तृतीया समास में) । (वा० प्र-वत्सतर-कम्बल-वसन-ऋण-दश इन शब्दों से ऋणशब्द परे रहते पूर्व पर के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश होता है) ।

३८—क्रिया के योग में प्रादियों की उपसर्ग संज्ञा होती है ।

३९ भूवादयो धातवः १ । ३ । १ ॥

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः ॥

४० उपसर्गादृति धातौ ६ । १ । ९१ ॥

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्रार्च्छति[2] ॥

४१ वा सुप्यापिशलेः । ६ । १ । ९२ ॥

आदुपसर्गादृकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा । आपिशलिग्रहणं पूजार्थम् ॥

४२ अचो रहाभ्यां द्वे ८ । ४ । ४६ ॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । इति प्राप्ते ॥

४३ शरोऽचि ८ । ४ । ४९ ॥

द्वे न । प्रार्षभीयति । प्रर्षभीयति ॥

४४ एङि पररूपम् ६ । १ । ९४ ॥

इति णत्वविधौ—असिद्धमेव ।

१—भूश्च वाश्चेति भूवौ, आदिश्च आदिश्चेति आदी, भूवौ आदी येषामिति विग्रहः । भूप्रभृतयो वासदृशा इत्यर्थः, सादृश्यं चेह क्रियावाचित्वेन, तदेवाह वृत्तौ क्रियावाचिन'' इति । २—प्र + ऋच्छति = प्रार्च्छति, एवं प्र + ऋच्छत् = प्रार्च्छत्, उप + ऋच्छत् = उपार्च्छत् इत्यादि । ३—सुबन्तात् "तत्करोति तदाचष्टे" इत्याद्यर्थे णिजादयस्ततः "सनाद्यन्ता धातवः" इत्यनेन धातुसञ्ज्ञिताः सुब्धातवः = सुबन्तप्रकृतिकधातवो ग्राह्याः, सुबन्तानां धातूनामसम्भवात् । ४—अहो धन्योऽयं पाणिनिर्यस्यार्थम् आपिशलिरपि सम्मनुते इति, अथवा पाणिनेः स्वपूर्वाचार्याणां नामग्रहणं पूजा । ५—वृद्ध्यपवादोऽयम् ।

३९—क्रियावाची भू आदियों की धातु संज्ञा होती है ।

४०—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे रहते पूर्वपर के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश होता है ।

४१—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि नाम धातु परे रहते विकल्प से वृद्धि होती है । (आपिशलिग्रहण आदर के लिये है) ।

४२—अच् से परे जो रेफ या हकार उससे परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है ।

४३—अच् परे रहते शर् को द्वित्व नहीं होता ।

४४—अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु परे रहते पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है ।

आङुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः। प्रेजते। उपोषति॥[1]

४५ अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्। (शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्) (तच्च टेः[3])। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा। सीमन्तः केशवेशे। सीमान्तोऽन्यः। मनीषा। हलीषा। लाङ्गलीषा। पतञ्जलिः। सारङ्गः पशुपक्षिणोः। साराङ्गोऽन्यः। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः। (एवे[6] चानियोगे)। क्वेव भोक्ष्यसे। अनियोगे किम्—तवैव। (ओत्वोष्ठयोः समासे वा)। स्थूलोतुः। स्थूलौतुः। बिम्बोष्ठः। बिम्बौष्ठः। समासे किम्-तवौष्ठः।

४६ ओमाङोश्च ६।१।९५॥

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायोन्नमः। शिव आ इहि इति स्थिते। शिव एहि। शिवेहि[9]।

१—प्र + एजते। उप + ओषति। एवम्—उप + एषयति=उपेषयति। प्र + एषयति=प्रेषयति। अव + ओषति=अवोषति। २–अच इति निर्धारणे षष्ठी। जातावेकवचनम्। अन्ते भवः अन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य तद् अन्त्यादीति विग्रहः। ३—टिसंज्ञकस्य पररूपमित्यर्थः। ४—शक + अन्धुः। कर्क + अन्धुः। मनस् + ईषा। सीमन्तः (सीमन् + अन्तः)। हलीषा (हल + ईषा)। लाङ्गलीषा (लाङ्गल + ईषा)। पतञ्जलिः (पतत् + अञ्जलिः)। सारङ्गः (सार + अङ्गः)। कुल + अटा=कुलटा। ५—मृत + अण्डः, इति च्छेदः, कृते पररूपे मृतण्डादागत इत्यर्थे अण् प्रत्ययः, आदिवृद्धिः। ६—अनियोगः = अनिर्धारणम्। तस्मिन्नर्थे य एव शब्दस्तस्मिन्नकारात्परे पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशः स्यादित्यर्थः। ७—च + आत् = अवर्णादित्यर्थः। ८—शिवाय + ओं नमः। ९—शिव + आ इहि, इति स्थिते। धातूपसर्गकार्यत्वेनान्तरङ्गत्वाद् "आद्गुणः" इति

४५—अचों के मध्य में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिसके उस समुदाय की टि संज्ञा होती है। (वा० शकन्ध्वादि गण पठित शब्दों में टि का पररूप होता है)।

(अकार से अनिश्चयार्थक एव शब्द परे रहते पररूप होता है) (अकार से ओतु और ओष्ठ शब्द परे रहते विकल्प से पररूप होता है समास में।)

४६—अवर्ण से ओम् और आङ् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पररूप एक आदेश होता है।

४७ अकः सवर्णे दीर्घः ६ । १ । १०१ ॥

अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः[1] । श्रीशः । विष्णूदयः । (ऋति सवर्णे ऋ वा) । होतॄकारः[2] ।

४८ एङः पदान्तादति[3] ६ । १ । १०९ ॥

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव[4], विष्णोऽव ।

४९ सर्वत्र विभाषा गोः ६ । १ । १२२ ॥

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः[5] पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम्[6] । एङन्तस्य किम् । चित्रग्वग्रम्[7] । पदान्तस्य किम् । गोः[8] ।

५० अनेकाल् शित्सर्वस्य १ । १ । ५५ ॥

इति प्राप्ते ।

गुणे 'एहि' । बहिरङ्गत्वेन नात्र सवर्णदीर्घः । 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्,' इति परिभाषाद्वयमत्रापेक्षते । शिवेहिवत्-कृष्णेहि, अवेहि—इत्यादयः ।

१—दैत्य + अरिः । विष्णु + उदयः । श्री + ईशः । होतृ + ऋकारः । एवं खर + अरिः = खरारिः, भानु + उदयः = भानूदयः, लक्ष्मी + ईशः लक्ष्मीशः, इत्यादि । २—होतृ + ऋकार इति स्थिते ऋकारर्कारयोः स्थाने विलक्षण एव—ऋकारो नृसिंहवद् द्वयन्तरात्मा रेफद्वयवान् भवति । ३—अयादेशबाधकं सूत्रमिदम् । ४–हरे + अव । विष्णो + अव । एवं स्थले + अत्र = स्थलेऽत्र, कृष्णो + अहम् = कृष्णोऽहम् । ५—प्रकृतिभावः = प्रकृत्या यथावस्थितस्वरूपेण भवनं सः=तादवस्थ्यमित्यर्थः, संहिताकार्याभाव इति यावत् । ६—गो + अग्रम् । "एङः पदान्ता……" इति पूर्वरूपं 'गोऽग्रम्' । ७—चित्रगु + अग्रम् । ८—गो + अस् (ङस्) ।

४७—अक् से सवर्ण अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान में दीर्घरूप एकादेश होता है ।

४८—पदान्त एङ् से अत् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है ।

४९—लोक और वेद में एङन्त गो-शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव होता है पदान्त में ।

५०—अनेकाल् और शित् आदेश सम्पूर्ण के स्थान में होता है ।

५१ ङिच्च १ । १ । ५३ ॥

ङिदनेकाल्प्यन्त्यस्यैव स्यात् ।

५२ अवङ् स्फोटायनस्य ६ । १ । १२३ ॥

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि । गवाग्रम् । पदान्ते किम्-गवि । व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः ।

५३ इन्द्रे च ६ । १ । १२४ ॥

गोरवङिन्द्रे । गवेन्द्रः ।

५४ दूराद्धूते च ८ । २ । ८४ ॥

दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा ।

अथ प्रकृतिभावः ।

५५ प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६ । १ । १२५ ॥

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति ।

५६ ह्रस्वं लघु १ । ४ । १० ॥

१—गो + अग्रम्, गव + अग्रम्, "अकः सवर्णे दीर्घः" गवाग्रम् । २—गो + इ (ङि) । ३—गो + अक्ष =गवाक्षः, परमत्र व्यवस्थितविभाषया—(व्यवस्था = "अत्र विधिरेव, अत्र निषेध एव" इत्येवरूपा, सञ्जाता अस्याः सा व्यवस्थिता सा चासौ विभाषा व्यवस्थितविभाषा, क्वचिन्नित्यमेवेत्यर्थः ।) नित्यमवङ् इति बोध्यम् । तथा चोक्तम्—

देवत्रातो गलो ग्राह, इतियोगे च सद्विधिः ।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः शंसितव्रतः ॥

४—गो + इन्द्रः, गव + इन्द्रः, गुणे गवेन्द्रः । ५—हूतम् = आह्वानम् । ६—आगच्छ कृष्ण ३ + अत्र गौश्चरति, इह प्रकृतिभावान्न सवर्णदीर्घः ।

५१—ङित् अनेकाल् भी अन्त्य को ही होता है ।

५२—पदान्त में एङन्त गोशब्द को अवङ् विकल्प से होता है अच् परे रहते ।

५३—गोशब्द को अवङ् होता है इन्द्र शब्द परे रहते ।

५४—दूर से सम्बोधन में वाक्य की टि को प्लुत होता है विकल्प से ।

५५—प्लुत और प्रगृह्य अच् परे रहते सदा प्रकृतिभाव से होते हैं ।

५६—ह्रस्व की लघु सञ्ज्ञा होती है ।

५७ संयोगे गुरु १ । ४ । ११ ॥

संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात् ।

५८ दीर्घं च १ । ४ । १२ ॥

गुरु स्यात् ।

५९ गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ८ । २ । ८६ ॥

प्लुतो वा । दे ३वदत्त देवद३त्त, देवदत्त३ । गुरोः किम्—वकारादकारस्य मा भूत् । अनृतः किम्—कृष्ण ३ । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम्* ।

६० ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १ । १ । ११ ॥

ईदूदेदन्त द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू । मणी वोष्ट्रस्येति तु इवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः ।

६१ अदसो मात् १ । १ । १२ ॥

अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः । अमी ईशाः । रामकृष्णावमू आसाते ।

१—दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानवाचकं यत्पदं तदवयवस्य ऋकार-भिन्नस्याऽनन्त्यस्य गुरोः प्लुतः स्यात् । अन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्चापि स्यात् । अपि-शब्देन टेः समुच्चयात् । २—एवं धनुषी + एते, द्वौ भानू + उदयेते । द्वे कुले + उत्कृष्टे + एते स्त —इत्युदाहार्यम् । ३—ननु—"मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम" इति भारतश्लोके मणी + इवेति—ईकारस्य प्रगृह्यत्वे सति प्रकृतिभावे सवर्णदीर्घो न स्यात् । तदाह मूले मणीवोष्ट्रस्येति । 'व वा यथा तथैवैवं साम्य' इत्यमरः । वृत्तिकारस्तु—"मणीवादीनाम्प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति पठित्वा मणीव, रोदसीव, जम्पतीवेत्याद्युदाजहार । ४—"ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इत्यतः—ईत् ऊत् च अनुवर्तते, अस्माद् = मान्तादद्स इत्यर्थः । ५—अमू + आसाते, पुंसि—

५७—संयोग परे रहते ह्रस्व की गुरु सञ्ज्ञा होती है ।

५८—दीर्घ की भी गुरु सञ्ज्ञा होती है ।

५९—दूर से सम्बोधनार्थं वाक्य में सम्बोध्यमानवाचक पद के अवयव ऋकार भिन्न अनन्त्य गुरु को पर्याय से प्लुत होता है विकल्प करके । अन्त्य वर्ण गुरु हो या न हो तब भी प्लुत होना है ।

६०—ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचन प्रगृह्यसञ्ज्ञा होती है ।

६१—मान्त अदस् शब्द से परे ईकार, ऊकार की प्रगृह्य सञ्ज्ञा होती है ।

---

* युगपत्सर्वेषां मा भूदिति भावः ।

मात्किम्—अमुकेऽत्र । असेति मादग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तते ।

६२ चादयोऽसत्त्वे १ । ४ । ५७ ॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपातसंज्ञाः स्युः ।

६३ प्रादयः १ । ४ । ५८ ॥

एतेऽपि तथा ।

> वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते ।
> द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥

लिङ्गसंख्यान्वययोग्यं द्रव्यम् ।

अदःशब्दाद् औङि विभक्तौ, तदाद्यत्वे, पररूपे, वृद्धौ, "अदसोसे" रिति मत्वोत्वे—'अमू' इति । अनेन प्रगृह्यत्वे प्रकृतिभावः, अमू आसाते । मत्वोत्वस्याऽसिद्धत्वन्तु न भवति—एतत्सूत्राऽऽरम्भसामर्थ्यात् । स्त्रीलिङ्गे नपुंसके च तदाद्यत्वे (टापि) औङः शीभावे गुणे च, 'अदे' इति स्थिते, ऊत्वे मत्वे च अमू इति सिद्ध्यति । अत्र च मुत्वस्याऽसिद्धत्वेऽपि, एदन्तद्विवचनान्ततया पूर्वसूत्रेणैव प्रकृतिभावः सिद्ध्यति । नच तदुभयत्रापि मुत्वस्याऽसिद्धत्वाभाव इति वाच्यम्, विष्णू इमावित्यादौ तस्य चरितार्थत्वात् । अतः पुंल्लिङ्गप्रयोग एव प्रगृह्यत्वार्थं सूत्रेऽस्मिन्नूकारानुवृत्तिस्तद्द्योतनायैव रामकृष्णाविति पुंल्लिङ्गनिर्देशः ।

१—असति मादग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत, सति तु मादग्रहणेऽसम्भवात् नानुवृत्तिः । तेन अमुकेऽत्र (अमुके + अत्र) इत्यत्र न प्रकृतिभावः, किन्तु पूर्वरूपम् (अमुके, इति जसि रूपम्) २—निपाता इत्यर्थः । ३—असत्त्वम्=न सत्त्वम्=द्रव्यम्, असत्त्वम्=अद्रव्यम् । अद्रव्यार्थाश्चादयः प्रादयश्च निपाताः, तत्र किं द्रव्यमित्युच्यते—वस्तूपलक्षणमिति । वस्तूपलक्षणम्=वस्तुपरामर्शकम्, यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते, यदर्थबोधाय प्रयुज्यते, भेद्यत्वेन=विशेष्यत्वेन, अर्थात्—लिङ्गसङ्ख्यादिविशेषणविशेष्यत्वेन विवक्षितः सोऽर्थो द्रव्यमित्युच्यते । अयम्भावः—हरि-चन्द्र-विप्र-वाय्वादिशब्दबोध्यार्थपरामर्शाय-अयम्, सः, एषः, इत्यादि

६२—अद्रव्यार्थ चादि निपात सञ्ज्ञक होते हैं ।

६३—अद्रव्यार्थक प्रादियों की भी निपात सञ्ज्ञा होती है ।

वस्तूपलक्षणमिति—जहाँ किसी वस्तु के परामर्श के लिये सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है, विशेष्यत्वेन विवक्षित वह वस्तु द्रव्य कहलाती है । (लिङ्ग-संख्या अन्वय योग्य द्रव्य होता है) ।

६४ निपात एकाजनाङ् १ । १ । १४ ॥

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ इन्द्र । उ उमेशः । (वाक्य-स्मरणयोरङित्[1]) । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । अन्यत्र ङित् । ईषदुष्णम् ओष्णम्[2] ।

६५ ओत् १ । १ । १५ ॥

ओदन्तो निपात प्रगृह्य । अहो[3] ईशाः ।

सर्वनामप्रयोगो भवति । लिङ्गसङ्ख्यादिविशेष्यत्वञ्च भवति तत्र । तस्माद् इत्यादयो द्रव्यवाचका । रामो लक्ष्मणश्च प्रयातीत्यादौ तु चादिप्रादिबोध्यसमुच्चयप्रकर्षाद्यार्था न केनापि सर्वनाम्ना परामृश्यन्ते । न च तेषु लिङ्गसंख्यादिनिष्ठविशेषणतानि-रूपितविशेष्यता च सम्भवतीति न द्रव्यार्थास्ते (चकारादय. प्रादयो वा) । अत एव लिङ्गसङ्ख्याऽन्वययोग्यं द्रव्यमिति संक्षिप्तं द्रव्यलक्षणमुच्यते । अत्र मध्य-मनोरमा, "वस्तूपलक्षणमिति—यत्रार्थे वस्तुन स्वरूपस्योपलक्षणं=विशेषणं सर्वनाम=यत्तदादिकं प्रयुज्यते, सोऽर्थो 'द्रव्यम्' इत्युच्यते । सोऽर्थः कीदृशः—भेद्यत्वेन=विशेष्यत्वेन विवक्षित =तेन पदेन वक्तुमिष्टः । यथा घटाद्यर्थाना विशेषणं सर्वनाम प्रयुज्यते—'स घटः' इति । तत्र सर्वनामविशेष्यत्वेन घटो विवक्षित इति स द्रव्यं, तद्वाचका घटादिशब्दा द्रव्यवाचका । चादीनान्तु न द्रव्यवाचकत्वम्, तदर्थस्य सर्वनाम विशेषणाभावात् । यद्यपि तत्रापि स समुच्चय स विकल्प इत्यादौ चादीनामप्यर्थं सर्वनाम्ना विशिष्यते । तथापि चादिपदेन विशेष्यतया विवक्षित चकारस्य समुच्चयरूपोऽर्थः सर्वनाम्ना विशेषयितुं न शक्यते । तथैव व्युत्पत्तेः, समुच्चयादिपदप्रतिपाद्यस्य समुच्चयस्य तु द्रव्यत्वमिष्टमेवे"ति । बहुत्र पुस्तकेषु 'अभेद्यत्वेन विवक्षित' इति पाठः । स चाऽसङ्गतत्वादपपाठ इति प्रतिभाति ॥

१—"ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥"

२—आ + उष्णम्, अत्र गुण । ईषदुष्णमित्यर्थनिर्देशः । ३—एवं मिथो आगच्छतः । अहो अद्य । अथो अपि इत्यादिकम् ।

६४—आङ् को छोड़कर एक अच्रूप निपात प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है । (वा० वाक्य और स्मरण अर्थ में 'आ' ङित् नहीं होता) अन्यत्र ङित् होता है ।

६५—ओदन्त निपात प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है ।

६६ सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १ । १ । १६ ॥

संबुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो[1] इति। विष्णविति। विष्ण इति।

६७ मय उञो वो वा ८ । ३ । ३३ ॥

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किमु उक्तम। किम्वुक्तम्।

६८ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च[2] ६ । १ । १२७ ॥

पदान्ता इको ह्रस्वाः प्रकृत्या च वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसंधिः[3]। चक्रि[4] अत्र, चक्रयत्र। पदान्ताः किम्—गौर्यौ[5]। (न समासे[6])। वाप्यश्वः[7]।

६९ ऋत्यकः ६ । १ । १२८ ॥

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद्वा[8]। ब्रह्म[9] ऋषिः ब्रह्मर्षि। पदान्ताः किम्—आर्च्छत्[10]। इति-अच्सन्धिः। (प्रकृतिभावश्च)।

१—विष्णो + इति। अत्र प्रगृह्यत्वाभावपक्षे "एचोऽयवा..." इति—अवादेशे "लोपः शाकल्यस्य" इति वकारस्य वा लोपः, विष्ण इति। एवं भानो + इति, भान इति, भानविति। २—अत्र ह्रस्वविधिसामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्य इति भाष्यम्। ३—न यणित्यर्थः। ४—चक्री + अत्र। यण्। एवं धनी + आगच्छति = धनि आगच्छति-धन्यागच्छति इत्यादि। ५—गौरी + औ, यण्। ६—समासे ह्रस्वः 'प्रकृतिभावश्च' न भवतीत्यर्थः। ७—वापी + अश्वः, एवं सुधी + उपास्यः = सुध्युपास्यः, नदी + उदयः = नद्युदय इत्यादावपि न ह्रस्वः। ८—ह्रस्वा वा इत्यर्थः। ९—ब्रह्मा + ऋषिः। १०—आ + ऋच्छत्। आटश्चेति वृद्धिः, नात्र आट् पदान्त इति न ह्रस्वः प्रकृतिभावश्चेति। इत्यच्-सन्धिप्रकरणम्।

६६—सम्बुद्धि निमित्तक ओकार विकल्प से प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है अवैदिक 'इति' परे रहते।

६७—मय् से परे उञ् को वकार होता है विकल्प से अच् परे रहते।

६८—पदान्त इक् को ह्रस्व होता है विकल्प से असवर्ण अच् परे रहते। ह्रस्वविधानसामर्थ्य से सन्धि-कार्य (यण्) नहीं होता।

(वा० समास में ह्रस्व और प्रकृतिभाव नहीं होता)

६९—ह्रस्व ऋकार परे रहते पदान्त अक् को ह्रस्व होता है विकल्प से। इत्यच्सन्धिः।

अथ हल्-सन्धिः

७० स्तोः श्चुना श्चुः ८ । ४ । ४० ॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । हरिश्शेते[१] । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।

७१ शात् ८ । ४ । ४४ ॥

शात्परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात् । विश्नः[३] । प्रश्नः ।

७२ ष्टुना ष्टुः ८ । ४ । ४१ ॥

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ।

७३ न पदान्ताट्टोरनाम् ८ । ४ । ४२ ॥

अथ हल्-सन्धिः ।

१—स च तुश्चेति समाहारद्वन्द्वः । पुंस्त्वमार्षम् । इतरेतरयोगद्वन्द्वो वा । तथा सति एकवचनमार्षम् । अत्र स्थान्यादेशानां यथासंख्यं भवति । ततश्च सकारस्य शकारः, तवर्गस्य चवर्गः । तत्रापि त-थ-द-ध-नानां क्रमेण च-छ-ज-झ-ञा भवन्ति । २—हरिस् + शेते । रामस् + चिनोति । सत् + चित् । शार्ङ्गिन् + जय, इति । एवं कृष्णस् + चपलः, कृष्णश्चपलः, नारदस + शशाप = नारदश्शशाप, ग्रामात्+चलितः । इत्यादि बोध्यम् । अत्र निमित्तकार्यिणोर्न यथासंख्यम् "—शात्" इति ज्ञापकात् । ३—विश् + न (:)=विश्नः । प्रश् + न (:)=प्रश्नः । विच्छप्रच्छधातुभ्यां "यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्" इति नङ्-प्रत्यये "च्छ्वोःशूडनुनासिके च" इति शत्वम् । अत्र "ग्रहिज्ये" ति सम्प्रसारणन्तु न "प्रश्ने चासन्नकाले" इति निर्देशात् । ४—रामस् + षष्ठः । रामस् + टीकते । पेष् + ता । तत् + टीका । चक्रिन् + ढौकसे इति च्छेदाः ।

अथ हल्-सन्धिः ।

७०—सकार तवर्ग को शकार चवर्ग के योग में शकार चवर्ग होते हैं ।

७१—शकार से परे तवर्ग को श्चुत्व नहीं होता ।

७२—सकार तवर्ग को षकार टवर्ग के योग में षकार टवर्ग होते हैं ।

७३—पदान्त टवर्ग से परे नाम् भिन्न सकार तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता ।

पदान्ताट्टवर्गात् परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात्किम्। ईट्टे[1]। टोः[2] किम्। सर्पिष्टमम् (अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्[3]) षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

७४ तोः षि ८। ४। ४३॥

न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

७५ झलां जशोऽन्ते ८। २। ३९॥

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः। चिद्रूपम्।

७६ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८। ४। ४५॥

यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा। एतन्मुरारिः। एतद्मु-

---

१—ईट्+ते इति च्छेदः। २-ष्टुपदानुवृत्तौ सत्यामपि पदान्ते षकारस्य जश्त्वेन डकारः एव लप्स्यते इति-पदान्ते षकारस्याऽसम्भवाद् न दोषः, इति प्रश्नाशयः। तत्रोत्तरम्-सर्पिष्टमम्, सर्पिष्+तम (म्), अत्र "ह्रस्वात्तादौ तद्धिते" इति विहितस्य षकारस्याऽसिद्धतया जश्त्वाऽसम्भवेन (पदान्ते) षकार एव श्रूयते, इति तद्व्यावृत्त्यर्थं 'टोः' ग्रहणमवश्यं कर्तव्यम्-अन्यथा षकारस्यापि अनुवृत्तौ अत्र दोषः स्यात्।

३—नाम्—नवति—नगरीभिन्नानां ष्टुत्वनिषेध इति वाच्यमित्यर्थः। ४-षड्+नाम्, परस्य नकारस्य ष्टुत्वेन णत्वम्, पूर्वस्य डकारस्य तु प्रत्यये भाषायामिति अनुनासिको णकारः 'षण्णाम'। षट्+नवतिः, अत्रापि पूर्ववत् सिद्धिः। षट्+नगर्यः, अत्रापि पूर्ववत् डकारस्य तु 'यरोऽनुनासिक' इति णत्वं, विकल्पः। तेन पक्षे षड्णवतिः, षड्णगर्यः, इत्यपि। ५—तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वमित्यर्थः। ६-वाक्+ईशः, चित्+रूपम्। ७-एतद्+मुरारिः, एवं वाक्+मधु=वाङ्मधु, सत्+मनोहरम्=सन्मनोहरम्, उद्+मानम्=उन्मानम्। ऋक्+मन्त्रः= ऋङ्मन्त्रः। दधिमुट्+माद्यति=दधिमुण्माद्यति, इत्यादि ज्ञेयम्।

(वा० पदान्त टवर्ग से नाम्-नवति-नगरी भिन्न सकार तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता, ऐसा कहना चाहिए)।

७४—तवर्ग को षकार परे रहते ष्टुत्व नहीं होता।

७५—पदान्त में झलों को जश् होते हैं।

७६—पदान्त यर् को अनुनासिक परे रहते अनुनासिक विकल्प से होता है।

रादि:। स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्था विधिरयं रेफे न प्रवर्तते। चतुर्मुखः (प्रत्यये भाषायां नित्यम्)। तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

७७ तोर्लि ८। ४। ६०॥

परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नस्यानुनासिको लः।

७८ उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य ८। ४। ६१॥

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात्।

७९ तस्मादित्युत्तरस्य १। १। ६७॥

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

१—ननु (चत्वारि मुखानि यस्य सः) 'चतुर्मुख' इत्यत्र समासे लुप्तां विभक्तिमाश्रित्य पदान्तत्वाद् यवरट् लण्-इत्यादि-रर्-इत्यादि—यर्—प्रत्याहारघटितत्वेन यत्वाच्च णकारः स्यादनेन सूत्रेणेति तत्रोच्यते—स्थानप्रयत्नाभ्यामिति—अस्यायमर्थः—अयं हि णत्वविधिः स्थानेन प्रयत्नेन चान्तरतमे=सदृशतमे स्पर्शे=टकारादौ चरितार्थ इति केवलस्थानसदृशे रेफे न प्रवर्तते। अथवा—"अनुस्वारस्य यथि परसवर्णः" इत्यतः सवर्णपदमपकृष्यते। तथा च सवर्णोऽनुनासिको भवतीति सूत्रार्थः। रेफस्य च कश्चित्सवर्णो नास्तीति नात्र काचिदापत्तिः, प्रकृतसूत्राऽप्राप्तेः। तथा च भाष्यं 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' इति।

२—लोके अनुनासिकादौ प्रत्यये परतो नित्यमनुनासिक इत्यर्थः। ३—तद्+मात्र (म्) चित्+मय (म्)=एवं विपद्+मय (म्)=विपन्मयम्, अप्+मात्र (म्)=अम्मात्रम्, अप्+मय (म्)=अम्मयम् इत्यादि। ४—तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। ५—तद्+लयः। विद्वान्+लिखति। एवं विपद्+लीन=विपल्लीनः। कुशान्+लाति=कुशाँल्लाति। इत्यादिकं बोध्यम्।

स्थानप्रयत्नेति—यह अनुनासिक विधि (णत्वविधि) स्थान और प्रयत्न साहृश्य से अत्यन्त सदृश स्पर्श वर्णों में (ट ठ ड इत्यादि में) चरितार्थ हो चुकी है, अतः रेफ में प्रवृत्त नहीं होगी, तो "चतुर्मुख" में णत्व नहीं हुआ।

(वा० लोक में अनुनासिकादिप्रत्यय परे रहते पदान्त यर् को नित्य अनुनासिक होता है)।

७७ तवर्ग को लकार परे रहते परसवर्ण होता है।

७८—उद् से परे वर्तमान स्था और स्तम्भ को पूर्वसवर्ण होता है।

७९—पञ्चमीनिर्देश से किये जाने वाला कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से

८० आदेः परस्य १ । १ । ५४ ॥

परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम् । अघोषस्य महाप्राणस्य विवारस्य श्वासस्य सस्य तादृश एव थकारः ।

८१ झरो झरि सवर्णे ८ । ४ । ६५ ॥

हलः परस्य झरो लोपो वा सवर्णे झरि ।

८२ खरि च ८ । ४ । ५५ ॥

खरि परे झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य तः । उत्थानम्, उत्तम्भनम् ।

८३ झयो होऽन्यतरस्याम् ८ । ४ । ६२ ॥

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः । संवारस्य घोषस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः । वाग्घरिः । वाग्हरिः ।

८४ शश्छोऽटि ८ । ४ । ६३ ॥

पदान्तात् झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । तच्छिवः । तच्शिवः । पदान्तात्किम् । विश्वम् । (छत्वममीति वाच्यम्) । तच्छ्लोकेन । अमि किम्—वाक् श्च्योतति ।

१—"अलोऽन्त्यस्य" इत्यस्याऽपवादोऽयम् । २—अघोष-महाप्राणप्रयत्नसादृश्यात् । एवंभूताऽऽन्तरतम्य (सादृश्य) परीक्षायामेव बाह्यप्रयत्नानामुपयोगः । ३—उद् + स्थानम् । उद् + स्तम्भनम् । एवम् उद् + स्थापयति=उत्थापयति । ४—घकारः । ५—वाक् + हरिः, ककारस्य जश्त्वेन गकारः । एवं तद् + हानम्=तद्धानम् । सम्पद् + हानिः = सम्पद्धानिः । ककुभ् + हासः=ककुब्भासः, इत्यादि ज्ञेयम् । ६—तद्+शिवः=तच्छिवः । ७—नात्र पदान्तो झय् इति न शस्य छत्वम् । ८—तद् + श्लोकेन=तच्छ्लोकेन । एवम् एतद् + शान्तम्=एतच्छान्तम् ।

रहित पर के स्थान में होता है ।

८०—पर को विधान किया गया कार्य पर के आदि को होता है ।

८१—हल् से परे झर् का विकल्प से लोप होता है सवर्ण झर् परे रहते ।

८२—खर् परे रहते झलों को चर् होते हैं ।

८३—झय् से परे हकार को पूर्वसवर्ण होता है विकल्प से ।

८४—झय् से परे श को छ होता है अट् परे रहते विकल्प से (वा० झय् से परे श को छ हो विकल्प से अम् परे रहते, ऐसा कहना चाहिए) ।

८५ मोऽनुस्वारः ८ । ३ । २३ ॥

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि । हरिं वन्दे । पदस्य किम्—गम्यते

८६ नश्चापदान्तस्य झलि ८ । ३ । २४ ॥

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि किम्-मन्यते ।

८७ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८ । ४ । ५८ ॥

शान्तः । अङ्कितः ।

८८ वा पदान्तस्य ८ । ४ । ५९ ॥

त्वङ्करोषि । त्वं करोषि ।

८९ मो राजि समः क्वौ ८ । ३ । २५ ॥

१–हरिम् + वन्दे । २–अत्र मस्य पदान्तत्वाभावान्नानुस्वारः । अन्यथा 'गंयते' इति अनिष्टं रूपं स्यात् । ३–यशान् + सि । आक्रम् + स्यते, एवं वासान् + सि= वासांसि । प्रणम् + स्यते=प्रणंस्यते, इत्यादि बोध्यम् । ४–मन् + यते अत्र मस्य झल्परकत्वाभावादनेन नानुस्वारः । अपदान्तत्वाच्च न पूर्वेण । ५–(अपदान्तस्य) अनुस्वारस्य ययि परे (नित्यं) परसवर्णः स्यादित्यर्थः । ६–शाम्=त(:)= शान्तः । एवम्, अङ्कितः, अञ्चितः, कुण्ठितः, ग्रन्थः, गुम्फितः । ७—पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यादिति सूत्रार्थः । पदान्ते विकल्पः, अपदान्ते नित्यमिति फलितम् । ८—त्वम्+करोषि, "मोऽनुस्वारः" त्वं + करोषि, पाक्षिक-परसवर्णः—त्वङ्करोषि । एवं त्वं + पचसि, त्वम्पचसि त्वं पचसि वा, मृत्युं + जय मृत्युञ्जय=मृत्युं जय । दानं + यच्छति=दानँय्यच्छति—दानं यच्छति वा । सं + वत्सरः=सँव्वत्सरः = संवत्सरः । सुन्दरं+लिखति = सुन्दरँल्लिखति=सुन्दरं लिखति । अहं+लिखामि=अहँल्लिखामि, = अहं लिखामि । इत्यादि ।

८५—मान्त पद को अनुस्वार होता है हल् परे रहते ।

८६—अपदान्त नकार और मकार को अनुस्वार होता है झल् परे रहते ।

८७—अनुस्वार को यय् परे रहते परसवर्ण होता है ।

८८—पदान्त अनुस्वार को यय् परे रहते विकल्प से परसवर्ण होता है ।

८९—क्विबन्त राज् धातु परे रहते सम् के म् को मकार ही होता है (अर्थात् म् को अनुस्वार नहीं होता) ।

किवन्ते राजतौ परे समो मस्य मे एव स्यात् । सम्राट् ।

९० हे मपरे वा ८ । ३ । २६ ॥

मपरे हकारे मस्य मो वा । किम्ह्मलयति । किं ह्मलयति । (यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम्) किं ह्यः, किय्ँह्यः । किं ह्वलयति । किव्ँ ह्वलयति । किं ह्लादयति । किल्ँह्लादयति ।

९१ नपरे नः ८ । ३ । २७ ॥

नपरे हकारे मस्य नो वा । किन्ह्नुते । किं ह्नुते ॥

९२ ड्ः सि धुट् ८ । ३ । २९ ॥

डात्परस्य सस्य धुड् वा ।

९३ आद्यन्तौ टकितौ १ । १ । ४६ ॥

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः । षट्त्सन्तः । षट्सन्तः ।

९४ ङ्णोः कुक् टुक् शरि ८ । ३ । २८ ॥

ङकार-णकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि । कुक्-टुकोरसिद्धत्वान्न

१–मकारस्य मकारविधानम् अनुस्वार-बाधनार्थम् , एवमग्रिमसूत्रेऽपि । २–सम् + राट् । अज्झीनं परेण संयोज्यम् । ३—किम् + ह्मलयति, पक्षेऽनुस्वारः । ४—मकारस्येति सम्बन्धः, हे, इत्यस्यानुवृत्तिः, तथा चायमर्थः—य व ल परके हकारे परे मकारस्य क्रमशो यवला वा भवन्ति । पक्षेऽनुस्वारः । ५—किम् + ह्यः । किम् + ह्वलयति । किम् + ह्लादयति । सर्वत्र पक्षेऽनुस्वारः । ६—किम् + ह्नुते । ७–षड् + सन्तः, "खरि च" इति चर्त्वम् , षट्त्सन्तः ।

९०—मपरक हकार परे रहते म् को म् विकल्प से होता है । (वा० य-व-ल-परक हकार परे रहते मकार को क्रम से य-व-ल होते हैं विकल्प से) ।

९१—नपरक हकार परे रहते म् को न् होता है विकल्प से ।

९२—ड से परे स को धुट् का आगम होता है विकल्प से ।

९३—टित् कित् जिसको कहे जायँ उसके क्रम से आदि और अन्त के अवयव को होते हैं; अर्थात् टित् आदि, कित् अन्त ।

९४—ङकार णकार को कुक् और टुक् का आगम होता है शर् परे रहते क्रम से । (वा० चयों को द्वितीय वर्ण होते हैं शर् परे रहते पौष्करसादि ऋषि के मत में) ।

जश्त्वम् । (चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् ※) प्राङ् ख् षष्ठः । प्राङ्षष्ठः प्राङ्ख्षष्ठः । सुगण्ट्षष्ठः । सुगण्ठ्षष्ठः ।

९५ नश्च ८ । ३ । ३० ॥

नान्तात्परस्य सस्य धुड्वा । सन्त्सः, सन्सः ।

९६ शि तुक् ८ । ३ । ३१ ॥

नस्य पदान्तस्य शे तुक् वा । सञ्छम्भुः । सञ्च्छम्भुः । सञ्च्शम्भुः । सञ्शम्भुः ।

'अछौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक्–छत्व-चलोपानां विकल्पनात् ॥'

९७ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ८ । ३ । ३२ ॥

ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुट् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः । सन्नच्युतः ।

१–प्राङ् + षष्ठः । कुक्पक्षे कषसंयोगे क्षः । सुगण्+षष्ठः । २—सन्+सः = सन्त्सः, एवं विद्यार्थिन्+सहस्व=विद्यार्थिन्त्सहस्व, छात्रान्+स्वापय—छात्रान्त्स्वापय, इत्यादि । ३–सन्+शम्भुः, इत्यत्र नस्य विकल्पेन तुगागमे सन्त्+शम्भुः, "शश्छोटि" इति शस्य वा छत्वे सन्त्छम्भुः । "स्तोः श्चुना श्चुः" इति श्चुत्वेन 'त,–स्य चः, 'न,–स्य' 'ञः' सञ्च्शम्भुः । "झरो झरि सवर्णे" इति वा चलोपे १ 'सञ्छम्भुः' । लोपाभावे २ सञ्च्छम्भुः । छत्वाभावे तुकि च सति ३ सञ्च्शम्भु । तुगभावे ४ सञ्शम्भुः । एवं—बालाञ्छास्ति बालाञ्च्छास्ति, बालाञ्च्शास्ति बालाञ्शास्ति । इत्यादि । ४–ङमुट्, ङम् (ङणनम्) प्रत्याहारः, तदन्ते 'उट्, प्रत्येकान्वयी, "सञ्ज्ञायां कृतं टित्वं सञ्ज्ञिभिः सह सम्बध्यते" इति तेन ङुट्–णुट् नुट् इति त्रय आगमाः । ५–प्रत्यङ् + आत्मा । सुगण् + ईशः । सन् + अच्युतः । एवं तिङ्+अतिङ्=तिङ्ङतिङः । तस्मिन् + इति = तस्मिन्निति । पठन् + एति = पठन्नेति । इत्यादयो बोध्याः । अस्मिन् सूत्रे नित्यग्रहणं "नित्यग्रहसितः"

९५—नान्त से परे स को धुट् का आगम होता है विकल्प से ।

९६—पदान्त नकार को शकार परे रहते तुक् आगम होता है विकल्प से ।

९७—ह्रस्व से परे जो ङम् तदन्त पद से परे अच् को प्रायः ङमुट् आगम होता है ।

※पौष्करसादिराचार्यस्तस्य मते शरि परे चयः = चय्प्रत्याहारघटितस्य (कचटतपाम्), खयः = ख छ ठ थ फाः स्युरिति वक्तव्यमित्यर्थः ।

९८ समः सुटि ८ । ३ । ५ ॥

समो रुः सुटि ।

९९ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८ । ३ । २ ॥

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा ।

१०० अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८ । ३ । ४ ॥

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः ।

१०१ खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८ । ३ । १५ ॥

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः । (संपुंकानां सो वक्तव्यः) सस्कर्ता, संस्कर्ता ।

१०२ पुमः खय्यम्परे ८ । ३ । ६ ॥

अम्परे खयि पुमो रुः स्यात् । पुँस्कोकिलः । पुंस्कोकिलः ।

१०३ नश्छव्यप्रशान् ८ । ३ । ७ ॥

इत्यादाविव प्रायिकत्वबोधकः, तेन क्वचिन्न, यथा—तिङ्+अन्तम्=तिङन्तम् । सन्+आदिः=सनादिः । तथा च सूत्रनिर्देशः "सुप्तिङन्तं पदम्" "सनाद्यन्ता धातवः" इति ।

१—रोः पूर्वस्मात् वर्णात् परः । अर्थात्—रोः (पञ्चमी) पूर्वस्य स्वरस्योपरि—'अनुस्वारः' । २—सम्–पुम्–कान्–इत्येतेषां विसर्गस्य सकारः स्यादित्यर्थः । 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्यापवादे 'वा शरि' इति पाक्षिके विसर्गे प्राप्ते नित्यसत्वार्थमिदं वचनम् । ३–(सम् + कर्ता "सम्परिभ्याम्..." इति सुट्) सम् + स्कर्ता=संस्कर्ता, सँस्कर्ता, एवं संस्कारः, संस्करोति । ४–पुम् + कोकिलः=पुँस्कोकिलः । एवं पुँस्पुत्रः,

---

९८—सम् को रु होता है सुट् परे रहते ।

९९—इस रुप्रकरण में रु से पूर्व अच् को अनुनासिक होता है विकल्प से ।

१००—अनुनासिक पक्ष को छोड़कर रु से पूर्ववर्ती अच् से परे अर्थात् ऊपर अनुस्वार आगम होता है ।

१०१—खर् परे रहते अथवा अवसान में पदान्त रेफ को विसर्ग होता है । (वा० सम् पुम् कान् इनके विसर्ग को स होता है) ।

१०२—अम्परक खय् परे रहते पुम् के मकार को रु होता है ।

१०३—अम्परक छव् परे रहते नान्त पद को रु होता है प्रशान् शब्द को छोड़कर ।

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः स्यात् ।

१०४ विसर्जनीयस्य सः ८ । ३ । ३४ ॥

खरि । चक्रिँस्त्रायस्व[1] । चक्रिंस्त्रायस्व । अप्रशान् किम्-प्रशान्तनोति[2] । पदस्य किम्-हन्ति[3] । अम्परे किम्-सन्त्सरुः, त्सरुः=खड्गमुष्टिः ।

१०५ नॄन्पे ८ । ३ । १० ॥

नॄनित्यस्य रुर्वा पे[4] ।

१०६ कुप्वोः ≍क ≍पौ च ८ । ३ । ३७ ॥

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ ❀ स्तः । चाद्विसर्गः । नॄँ≍पाहि नॄँः पाहि । नॄं≍पाहि । नॄंः पाहि । नॄन्पाहि[5] ।

१०७ सोऽपदादौ ८ । ३ । ३८ ॥

विसर्गस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः । (पाश–कल्प–क–काम्येष्विति वाच्यम्) पयस्पाशम् । पयस्कल्पम् । यशस्काम्यति । (अनव्ययस्येति वाच्यम्) प्रातःकल्पम् । (काम्ये रोरेवेति वाच्यम् ।) नेह गीःकाम्यति ।

१०८ इणः षः ८ । ३ । ३९ ॥

पुंस्पुत्रः । पुंश्चित्रम्, पुंस्तिलकम् । पुंष्टीका । १—चक्रिन् + त्रायस्व । अनुनासिकानुस्वारौ पाक्षिकौ । चक्रिंस्त्रायस्व—चक्रिँस्त्रायस्व । एवं कस्मिंश्चित्–कस्मिँश्चित् । भक्तांस्तारय–भक्ताँस्तारय । विद्वांश्छात्रः, विद्वाँश्छात्रः । वेदांष्टीकस्व, वेदाँष्टीकस्व । २—अन्यथा 'प्रशाँतनोति' इति स्यात् । ३—अन्यथा 'हंन्ति' इति स्यात् । ४—पकारे । ५–नॄन् + पाहि । एवम्—'नॄन् + पालयस्व इत्यादावपि ।

१०४—खर् परे रहते विसर्जनीय को स होता है ।

१०५—नॄन् के नकार को रु होता है विकल्प से पकार परे रहने ।

१०६—कवर्ग पवर्ग परे रहते विसर्ग को क्रम से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होते हैं; पक्ष में विसर्ग भी होता है ।

१०७—विसर्ग को स होता है अपदादि कवर्ग पवर्ग परे रहते । (पाश–कल्प–क–काम्य शब्द परे विसर्ग को स होता है ऐसा कहना चाहिये ।)

(अव्यय भिन्न विसर्ग को ही स होता है)

(काम्य शब्द परे रहते 'रु' के विसर्ग को ही स होता है ।)

१०८—इण् से परे विसर्ग को ष होता है पूर्व विषय में ।

❀ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ—इत्यर्थः ।

इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात् पूर्वविषये । सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्काम्यति ।

१०६ कस्कादिषु च ८ । ३ । ४ ।

एष्विणः उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यादन्यस्य तु सः । कस्कः । कौतस्कुतः । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालमित्यादि । आकृतिगणोऽयम् ।

११० तस्य परमाम्रेडितम् ८ । १ । २ ॥

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात् ।

१११ कानाम्रेडिते ८ । ३ । १२ ॥

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते परे । काँस्कान् । कांस्कान् ।

११२ छे च ६ । १ । ७३ ॥

ह्रस्वस्य छे तुँक् । स्वच्छाया । शिवच्छाया ।

११३ *आङ्माङोश्च ६ । १ । ७४ ॥

तुक् छे । आच्छादयति । मा च्छिदत् ।

११४ दीर्घात् ६ । १ । ७५ ॥

१–अन्यस्य विसर्गस्य तु इण्परत्वाभावान्न षत्वम् । किन्तु सत्वमित्यर्थः । २–परं रूपमित्यर्थः । ३–कान् + कान् । अनुनासिकानुस्वारौ पाक्षिकौ "सं पुं काना" मिति सः । ४–"ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इत्यतः 'ह्रस्वस्य' 'तुक्' इति चानुवर्तते । ५–शिव + छाया । अत्र तुकि शिवत् = छाया, इति स्थितौ श्चुत्वस्याऽसिद्धत्वाज्जश्त्वेन दः, ततश्चर्त्वस्याऽसिद्धत्वात्पूर्वं श्चुत्वेन जः, तस्य चर्त्वेन चः; "शिवच्छाया" । नचात्र "चोः कुः" इति कुत्वं स्यादिति वाच्यम्–श्चुत्वस्याऽसिद्धत्वात् । एवं वृक्ष + छाया = वृक्षच्छाया । स्व + छात्रः = स्वच्छात्रः ।

१०६—कस्कादि गण पठित शब्दों में इण् से परे विसर्ग को 'ष' होता है, इण् भिन्न से परे विसर्ग को 'स' होता है ।

११०—द्विरुक्त के दूसरे रूप की आम्रेडित सञ्ज्ञा होती है ।

१११—कान् के नकार को रु होता है आम्रेडित परे रहते ।

११२—ह्रस्व को छ परे रहते तुक् आगम होता है ।

११३—आङ् और माङ् को छ परे रहते नित्य तुक् का आगम होता है ।

११४—दीर्घ को तुक् आगम होता है छ परे रहते ।

---

*'पदान्ताद्वा' इति विकल्पापवादोऽयम् ।

तुक् छे । म्लेच्छति ।

११५ पदान्ताद्वा ६ । १ । ७६ ॥

दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग्वा । लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया ।[1]

इति हल्सन्धिः ॥

अथ विसर्गसन्धिः ।

११६ विसर्जनीयस्य सः ८ । ३ । ३४ ॥

खरि । विष्णुस्त्राता ।[2]

११७ शर्परे विसर्जनीयः ८ । ३ । ३५ ॥

शर्परे खरि विसर्गस्य विसर्गो न त्वन्यत् (सकारादि) । कः त्सरुः । घनाघनः क्षोभणः ।

११८ वा शरि ८ । ३ । ३६ ॥

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा । हरिः शेते । हरिश्शेते ।[3] (खर्परे शरि वा विसर्गस्य लोपो वक्तव्यः) । हरिस्फुरति । हरिः स्फुरति ।

इति विसर्गसन्धिः ॥

१—लक्ष्मी+छाया, एवं नदी+छत्रा=नदीच्छत्रा, नदीछत्रा । इति हल्सन्धिः ।

अथ विसर्गसन्धिः ।

२—विष्णुः + त्राता, एवं छात्रः + तिष्ठति = छात्रस्तिष्ठति, गौः+चरति= गौश्चरति, कृष्णः + छिनत्ति=कृष्णश्छिनत्ति, इत्यादि । ३—हरिः + शेते । पक्षे सत्वे, "स्तोश्चुना......" इति शकारे हरिश्शेते, एवं छात्राः + सन्ति= छात्राःसन्ति, छात्रास्सन्ति । रसाः + षट्=रसाःषट्, रसाष्षट्, इत्यादयः । इति विसर्गसन्धिः ॥

११५—पदान्त दीर्घ को तुक् आगम होता है छ परे रहते विकल्प से । इति हल् सन्धिः ॥

अथ विसर्गसन्धिः ।

११६—विसर्ग को स आदेश होता है खर परे रहते ।

११७—शर् पर खर परे रहते विसर्ग को विसर्ग ही होता है अन्य कुछ नहीं ।

११८—शर् परे रहते विसर्ग को विसर्ग विकल्प से होता है । (खर्पर शर् परे रहते विसर्ग का लोप वक्तव्य है) ॥ इति विसर्गसन्धिः ॥

अथ स्वादिसन्धिः ।

११९ स-सजुषो रुः ८ । २ । ६६ ॥

पदान्तस्य सस्य सजुष्शब्दस्य च रुः स्यात् ।

१२० अतो रोरप्लुतादप्लुते ६ । १ । ११३ ।

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्यः । अतः किम्—देवा अत्र । अतीति किम्-श्व आगन्ता । अप्लुतात्किम्-एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुतस्यासिद्धत्वादतः परोऽयम् । अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यम्, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् । अप्लुत इति किम्-तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त ।

१२१ हशि च ६ । १ । ११४ ॥

तथा । शिवो वन्द्यः ।

अथ स्वादिसन्धिः ।

१—शिवस् + अर्च्यः । अत्र रुत्वे कृते उत्वं गुणः पूर्वरूपं च । उत्वं प्रति रुत्वस्याऽसिद्धत्वं तु न भवति । रुत्वमनूद्य उत्वविधानसामर्थ्यात्, शिवोऽर्च्यः, एवं शुद्धोऽहम् । बुद्धोऽस्मि । छात्रोऽयम्, इत्यादि ।

२—अप्लुतात्किम् ? अत इति तपरकरणादेव प्लुतस्यापि निवृत्तिसिद्धेः—'अप्लुतादिति' व्यर्थमिति प्रष्टुराशयः । तत्रोत्तरम्—'एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि' । अत इति तपरकरणस्य दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वेन प्लुतनिवृत्तौ सामर्थ्याभावात् प्लुतेऽपि रुत्वं मा भूदिति—अप्लुतादिति ग्रहणमिति—उत्तरयितुराकूतम् । नचात्र अतः परत्वाभावात्प्रकृतसूत्रप्राप्तिरेव नास्तीति वाच्यम् । प्लुतस्य त्रैपादिकत्वेनाऽसिद्धत्वात् (भवति प्रकृतेऽतः परत्वम्) । अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् । ३—अप्लुतादतः परस्य रोः उः स्यात् हशि । ४—शिवस् + वन्द्यः = शिवो वन्द्यः, एवं रामो वदति, छात्रो गच्छति, कृष्णो जयति,

---

अथ स्वादिसन्धिः ।

११९—पदान्त सकार और सजुष् शब्द के षकार को रु होता है ।

१२०—अप्लुत अत् से परे रु को उ होता है अप्लुत अत् परे रहते ।

१२१—अप्लुत अत् से परे रु को उ होता है हश् परे रहते ।

१२२ भो-भगो अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि ८ । ३ ।१७ ॥

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि । देवा इह । देवायिह । भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाताः, तेषां रुत्वे यत्वे च कृते ।

१२३ व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८ । ३ । १८ ॥

अशि पदान्ते ।

१२४ ओतो गार्ग्यस्य ८ । ३ । २० ॥

ओकारात्परस्य पदान्तस्यालघुप्रयत्नस्य यस्य नित्यं लोपः । भो अच्युत । लघुप्रयत्नपक्षे-भोयच्युत । पदान्तस्य किम्-तोयम् ।

१२५ हलि सर्वेषाम् ८ । ३ । २२ ॥

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य नित्यं लोपः स्याद्धलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो याहि । देवा यान्ति ।

१२६ रोऽसुपि ८ । २ । ६९ ॥

काको डीयते, कर्णो ददाति, व्यासो ब्रूते-इत्यादयः । १—देवास + इह, रोर्यादेशे "लोपः शाकल्यस्य" इति विकल्पेन यलोपः, देवा इह देवायिह, एवं छात्रा आगच्छन्ति, वीरा उत्सहन्ते, देवा एते । धार्मिका वर्धन्ते, भक्ता भजन्ति, हया ह्रेषन्ति । याज्ञिका यान्ति । बाला रमन्ते । विप्रा दयन्ते । हलि सर्वत्र "हलि सर्वेषाम्"ति नित्यं य-लोपः । २–यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः । लघुः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः । अतिशयितो लघुप्रयत्नो लघुप्रयत्नतर इति ।

३—अत्र यकारस्य पदान्तत्वाभावाद् "ओतो गार्ग्यस्य" इति यलोपो न भवति । अत्र पदान्तो मकारो न तु यकारः । ४—भोस् + देवाः । भगोस् +

१२२—भो-भगो-अघो और अकार है पूर्व में जिसके ऐसे रु को य होता है अश् परे रहते ।

१२३—पदान्त यकार वकार को लघूच्चारण यकार वकार होते हैं अश् परे रहते विकल्प से ।

१२४—ओकार से परे पदान्त अलघूच्चारण यकार का नित्य लोप होता है ।

१२५—भो-भगो-अघो-अ-पूर्वक यकार का लोप होता है हल् परे रहते ।

१२६—अहन् शब्द को रेफ आदेश होता है, सुप् परे रहते नहीं होता ।

अह्नो रेफादेशो न तु सुपि । अहरहः । अहर्गणः । असुपि किम्-अहोभ्याम् । अत्र "अहन्" इति रुत्वम् । (रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्) । अहो रूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । एकदेशविकृतन्यायेनाहोरात्रः । अहोरथन्तरम् । (अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः) । विसर्गापवादः अहर्पतिः । गीर्पतिः । धूर्पतिः । पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ ।

१२७ रो रि ८ । ३ । १४ ॥

रेफस्य रेफे परे लोपः ।

१२८ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६ । ३ । १११ ॥

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते ।

१२६ ढो ढे लोपः ८ । ३ । १३ ॥

नमस्ते । अघोम् + याहि । एषु नित्यं यलोपः । १-अहन् + अहः । अहन् + गणः, अत्र क्रमेण--"अतोरोर..." "हशि च" इति सूत्राभ्यामुत्वं न, 'रु' इत्यस्यैव-उत्वविधानात् । अत एव प्रातरत्र, भ्रातर्देहि, अदर्भाति, इत्यादि सिद्ध्यति । २-नहि छिन्नपुच्छः श्वा-अश्वो गर्दभो वा भवति । प्रकृते च रात्रशब्दस्यापि रात्रिरूपत्वाद् रुत्वमिति भावः । अहश्च रात्रिश्चेति विग्रहः । अहश्च रथन्तरश्चेति द्वन्द्वः । रथन्तरम् = सामविशेषः । ३-अह्नां पतिरिति विग्रहः । गिरां पतिः, धुरां पतिः, इति विग्रहः । उभयत्रापि "र्वोरुपधाया" इति दीर्घ । ४-ढरेफौ लोपयतीति तथा, तस्मिन् वर्णेऽर्थाद्-ढकारे रेफात्मके च वर्णे परे पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यादित्यर्थः । अत्र सूत्रेऽण्-ग्रहणं पूर्वेण, तथा चोक्तम्—

"परणैवेण्-ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः ।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्यैत्येतदेकं परेण तु" ॥ इति ।

५—पुनर् + रमते । हरिस् (र्) + रम्यः । शम्भुस् (र्) + राजते । एवं निर् + रसः = नीरसः, लिढ् + ढे = लीढे, अजर्घर् + र् = अजर्घाः । प्रातर्+

(रूप-रात्रि-रथन्तर-शब्द परे रहते अहन् को रु होता है) । (अहरादि गण में पठित शब्दों को रेफ होता है पति आदि शब्द परे रहते विकल्प से)

१२७—रेफ का रेफ परे रहते लोप होता है ।

१२८—लोपनिमित्तक ढकार और रेफ परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है ।

१२९—ढकार परे रहते ढकार का लोप होता है ।

लीढः। अणः किम्-वृढः। वृढः। मनस्+रथ इत्यत्र रुत्वे कृते हशि चेत्युत्वे रोरीति लोपे च प्राप्ते।

१३० विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२॥

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते। पूर्वत्रासिद्धमिति रोरीत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

१३१ एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२॥

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि न तु नञ्समासे। एष विष्णुः। स शंभुः। अकोः किम्-एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम्-असः शिवः। हलि किम्-एषोऽत्र।

१३२ सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४॥

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सेमामविड्ढि

रमते=प्राता रमते। १—लिह्+तम्, इत्यत्र "हो ढः" इति हकारस्य ढकारे "झषस्तथोर्धोऽधः" इति तकारस्य धकारे "ष्टुना ष्टुः" इति ष्टुत्वे—'लिढ्+ढस्' इति स्थितेऽनेन लोपे सति पूर्वाणो दीर्घः। २—वृढ्+ढ (:)। वृढ्+ढ (:) "ढो ढे लोपः" इति पूर्वढकारलोपः। अणोऽभावान्न दीर्घप्रवृत्तिः। ३—"अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशयोरेकत्र समावेशस्तुल्यबलविरोधः" यथा चात्रैव "रोरीति" सूत्रं हरी रम्य इत्यादौ लब्धावकाशं "हशि च" इति च 'शिवो वन्द्यः' इत्यत्र लब्धावकाशं, तयोर्द्वयोश्च "मनोरथः" इत्यत्र समावेशः। अत्र सूत्रे अपरं कार्यमित्यपि च्छेदः। अत एव तत्तद्दिष्टस्थलेषु पूर्वविप्रतिषेधोऽपि भवति। ४—एषस्+विष्णुः। सस्+शम्भुः। एवम्-एष शोभते, एष ददाति, स चलति, स च। ५—एषकस्+रुद्रः। अत्र अकच् प्रत्ययः "हशि च" इति रोरुत्वे सिद्धिः। ६—असस्+शिवः। ७—एषस्+अत्र=एषोऽत्र, एवम् एषोऽहम्, सोऽहम्। ८—'लोपे सत्येव' इत्यवधारणेन—इह न "सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्" लोपे सत्यसत्यपि च छन्दःपूर्तेः। ९—सस्+इमामविड्ढि......"।

१३०—तुल्यबलविरोध में पर कार्य होता है।

१३१—ककार रहित एतत् और तत् सम्बन्धी सु का लोप होता है हल् परे रहते; नञ् समास में नहीं होता।

१३२—तत् शब्द सम्बन्धी सु का लोप होता है अच् परे रहते, यदि लोप होने पर ही पाद-पूर्ति होती हो॥ इति स्वादिसन्धिः॥

प्रभृतिम् । सैषे दाशरथी रामः ।

इति स्वादिसन्धिः ॥ ४ ॥

अथाजन्ताः पुंलिङ्गाः ।

१३३ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १ । २ । ४५ ॥

धातु प्रत्यय प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् ।

१३४ कृत्तद्धितसमासाश्च १ । २ । ४६ ॥

१—सस् + एष दाशरथी रामः । अत्र सकारलोपे वृद्धिः, अत्रायं समग्रः श्लोकः—

सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महादानी, सैष भीमो महाबलः ॥

इति श्रीप्रभाकरी-विवृतौ मध्यसिद्धान्तकौमुदीटीकायां
पञ्चसन्धिप्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

अथाजन्ताः पुंलिङ्गाः ।

२—अर्थवत्त्वं च वृत्तिमत्त्वम् । तेन धनं वनमित्यादौ प्रातिवर्णं सञ्ज्ञा न । सत्यां च तस्यां स्वादयः स्युः, "सुपो धातु......" इति लोपेऽपि पदसंज्ञायां जश्त्व-नलोपादयो दुर्वाराः । अधातुरिति किम्—? 'अहन्' इत्यत्र 'न लोपः प्रातिपदि' इति नलोपो मा भूत् । अप्रत्यय इति किम् ?—'हरिषु' 'करोषि' इत्यत्र सुप्सिपोर्मा भूत् । अप्रत्ययान्त इति किम् —तत्रैव विभक्तिविशिष्टयोर्मा भूत् । एतत्सूत्रं सुभाषितस्यैतस्योत्तरम्—

तत्र प्रश्नः—

(१) विद्वान् कीदृग् वचो ब्रूते, (२) को रोगी (३) कश्च नास्तिकः ॥
(४) कीदृक् चन्द्रं न पश्यन्ति, सूत्रं तत्पाणिनेर्वद ॥ १ ॥

अथ अजन्तपुंलिङ्गप्रकरणम् ।

१३३—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त से भिन्न अर्थवद् शब्दस्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है ।

१३४—कृदन्त, तद्धितान्त और समास को भी प्रातिपादिक संज्ञा होती है ।

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

प्रत्ययः। ३। १। १।

आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

परश्च। ३। १। २।

अयमपि तथा।

१३५ ङ्याप् प्रातिपदिकात्। ४। १। १।।

ङ्यन्तादाबन्तात् प्रातिपदिकाच्चेत्य पञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

१३६ स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिसङेभ्यांभ्यसङसिभ्यांभ्यसङसोसांङ्योस्सुप् ४। १। २॥

ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः।

सु औ जस्-प्रथमा। अम् औट् शस्-द्वितीया। टा भ्यां भिस् तृतीया। ङे भ्यां भ्यस्-चतुर्थी। ङसि भ्यां भ्यस् पञ्चमी। ङस् ओस् आम्-षष्ठी। ङि ओस् सुप् सप्तमी।

१३७ सुपः १। ४। १०३॥

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन द्विवचन-बहुवचनसंज्ञानि स्युः।

१३८ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १। ४। २२॥

अत्रोत्तरम्—क्रमशः-(१) अर्थवत्=सार्थकम्। (२) अधातुः=निर्वायः। (३) अप्रत्ययः=विश्वासहीनः। (४) प्रातिपादकम्=प्रतिपत्तिथौ भवम्-इति।

२—कृतः तद्धिताश्च प्रत्ययास्तेन तदन्ता ग्राह्याः। प्रत्ययान्तत्वेनाऽप्राप्तौ सूत्रमिदम्। समासग्रहणं तु नियमार्थम्, स चायं नियमः—

"यत्रार्थेनानि सङ्घात पूर्वो भागस्तथोत्तरः।
स्यातामन्येन प्रयोगार्हः समासस्यैव तस्य चेत्॥" इति।

१—सूत्रत्रयस्य समुदितोऽयमर्थः।

१३५—पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक इन तीनों का अधिकार जाता है।

१३६—ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं।

१३७—सुप् के तीन २ वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञक होते हैं।

१३८—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन और एकत्व की विवक्षा में एकवचन होता है।

द्विवैकत्वयोरेते स्तः ।

१३६ विरामोऽवसानम् १ । ४ । ११० ॥

वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् । रुत्व-विसर्गौ । रामः । (अयोगवाहानामकारस्योपरि शर्षु * चेति वाच्यम्) । यमानुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीया अयोगवाहाः । तेनेह विसर्गस्य यत्वाऽनच्चि चेति द्वित्वपक्षे रामः ः ।

१४० सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १ । २ । ६४ ॥

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते ।

१४१ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६ । १ । १०२ ॥

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश स्यात् । इति प्राप्ते ।

१४२ नादिचि ६ । १ । १०४ ॥

आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि । रामौ ।

१४३ बहुषु बहुवचनम् १ । ४ । २१ ॥

१४४ चुटू १ । ३ । ७ ॥

१–एकत्वविवक्षायाम् एकवचनम्, द्वित्वविवक्षायां द्विवचनम् । २–"ससजुषो रुः" इति रुत्वम् । "खरवसानयोर्वि..." इति विसर्गः । रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः=परमात्मा (तदवतारो दाशरथिः) । ३—नास्ति योगः=सम्बन्धो (वर्णसमाम्नाये) येषां तेऽयोगाः, वहन्तीति वाहाः, अयोगाश्च ते वाहाश्चेत्ययोगवाहाः । यद्वा–ते–अयुक्ताः=अनुपदिष्टाः, ग्रहणकशास्त्रेण चाऽप्रत्यायिताः प्रयोगं निर्वाहयन्तीत्यन्वर्थिकेयं सञ्ज्ञा । ४—राम+औ, "वृद्धिरेचि" इति वृद्धिः । ५—बहुत्वविवक्षाया बहुवचनं स्यादित्यर्थः ।

१३६—वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है ।

१४०—एक विभक्ति में जिनका समान रूप देखा जाए वहाँ उनमें से एक ही शेष रहता है (अन्य का लोप होता है) ।

१४१—अक् से प्रथमा-द्वितीया सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है ।

१४२—अवर्ण से इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता ।

१४३—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है ।

१४४—प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा होती है ।

---

* 'पाठः' इति शेषः ।

प्रत्ययाद्यौ चुटू[1] इतौ स्तः ।

१४५ विभक्तिश्च १ । ४ । १०४ ॥

सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः ।

१४६ न विभक्तौ तुस्माः १ । ३ । ४ ॥

विभक्तिस्थास्तु स-मा नेतः । इति सस्य नेत्वम् । रामाः ।

१४७ एकवचनं सम्बुद्धिः २ । ३ । ४९ ॥

संबोधने प्रथमाया एकवचनं संबुद्धिसंज्ञं स्यात् ।

१४८ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ । ४ । १३ ॥

यः प्रत्ययो यस्मात्क्रियते तदादिशब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् ।

१४९ एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः ६ । १ । ६९ ॥

एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते संबुद्धेश्चेत् । हे राम ! । हे रामौ ! । हे रामाः ! ।

१५० अमि पूर्वः ६ । १ । १०७ ॥

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम्[5] । रामौ ।

१५१ लशक्वतद्धिते १ । ३ । ८ ॥

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या ल-श-कवर्गा इतः स्युः ।

१-चुः = चवर्गः (च छ ज झ ञाः) टवर्गश्च टुः=(ट ठ ड ढ णाः) इत्यर्थः । २—तवर्ग-सकार-मकारा इत्यर्थः । ३-प्रत्यये इत्यर्थः । ४—सम्बुध्या-क्षिप्तस्याङ्गस्य 'एङ्ह्रस्वा'भ्यां सम्बन्धः । ५—राम + अम् ।

१४५—सुप् और तिङ् की विभक्ति संज्ञा होती है ।

१४६—विभक्ति के तवर्ग, सकार, मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ।

१४७—सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन (सु) की सम्बुद्धि सञ्ज्ञा होती है ।

१४८—जो प्रत्यय जिससे किया जाय तदादि शब्दरूप की उस प्रत्यय के परे रहते अङ्ग सञ्ज्ञा होती है ।

१४९—एङन्त ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है ।

१५०—अक् से अम् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्वरूप होता है ।

१५१—तद्धित को छोड़कर प्रत्यय के आदि लकार, शकार और कवर्ग की इत्संज्ञा होती है ।

१५२ तस्माच्छसो नः पुंसि ६ । १ । १०३ ॥

पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात्पुंसि ।

१५३ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८ । ४ । २ ॥

अट् कवर्गः पवर्गः आङ् नुम्—एतैर्व्यस्तैर्यथासंभवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् समानपदे[2] । इति प्राप्ते ।

१५४ पदान्तस्य ८ । ४ । ३७ ॥

नस्य णो न । रामान्[3] ।

१५५ टा-ङसि-ङसामिनात्स्याः ७ । १ । १२ ॥

अदन्ताट्टादीनामिनादयः स्युः[4] । णत्वम् । रामेण[5] ।

१५६ सुपि च ७ । ३ । १०२ ॥

यञादौ सुप्यतोऽङ्गस्य[6] दीर्घः । रामाभ्याम् ।

१५७ अतो भिस ऐस्[7] ७ । १ । ९ ॥

"अनेकाल् शित्सर्वस्य" रामैः ।

१—अत्र तच्छब्देन सन्निहितस्य=समीपस्थस्य पूर्वसवर्णदीर्घस्यैव परामर्शः । नतु दीर्घमात्रस्य परामर्शः । अन्यथा=दीर्घमात्रपरामर्शे 'एतान् गाः पश्य' इत्यत्रापि नत्वप्रसङ्गापत्तिः "औतोऽम्शसो" रिति कृतात्त्वात् । २—समानपदम्=अखण्डपदम्, तेन "रघुनाथ" इत्यत्र न णत्वम्, एवं रामनाथ-रामनामादयः । ३—राम+(श) अस् । पूर्वसवर्णदीर्घे सस्य न । ४—'टा' इत्यस्य 'इन' । 'ङसि' इत्यस्य 'आत्' 'ङस्' इत्यस्य 'स्य' इति । ५-राम+(टा) इन । गुणो णत्वं च । ६-अदन्तस्याङ्गस्येत्यर्थः । ७—अदन्तादङ्गाद् 'भिस्' इत्यस्य 'ऐस्' स्यादिति सूत्रार्थः, इति सर्वस्य भिसः 'ऐस्' । वृद्धिविसर्गौ-रामैः ।

१५२—पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे शस् के सकार को नकार आदेश होता है ।

१५३—अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् इनका पृथक् २ जितनों का सम्भव हो व्यवधान होने पर भी रेफ षकार से परे नकार को णकार होता है समानपद में ।

१५४—पदान्त के न को ण नहीं होता ।

१५५—अदन्त अङ्ग से परे टा, ङसि, ङस् के स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य आदेश होते हैं ।

१५६—यञादि सुप् परे रहते अदन्त अंग को दीर्घ होता है ।

१५७—अदन्त अंग से परे भिस् के स्थान में ऐस् आदेश होता है ।

१५८ ङेर्यः ७ । १ । १३ ॥

अतोऽङ्गात्परस्य ङेर्यादेशः स्यात् ।

१५९ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १ । १ । ५६ ॥

आदेशः स्थानिवत्स्यान्नतु स्थान्यलाश्रयविधौ । इति स्थानिवत्त्वात्सुपि चेति दीर्घः । रामाय । रामाभ्याम् ।

१६० बहुवचने झल्येत् ७ । ३ । १०३ ॥

झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किम्-पचध्वम् ।

१६१ वावसाने ८ । ४ । ५६ ॥

अवसाने झलां चरो वा । रामात्, रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ।

१६२ ओसि च ७ । ३ । १०४ ॥

अतोऽङ्गस्यैकारः । रामयोः ।

१—'ङेः' इति चतुर्थ्येकवचनस्य ग्रहणम् । नतु—सप्तम्येकवचनस्य 'ङि' इत्यस्य, व्याख्यानात् । २—"अनल्विधौ" इति न-अल्विधिः=अनल्विधिः, तस्मिन् अनल्विधौ । अल्विधिश्च=अलाश्रितो विधिः, एकवर्णाश्रितो विधिरित्यर्थः । अल् चेह स्थान्यवयव एव गृह्यते, तदाह—स्थान्यलाश्रयविधाविति, यथा—"क इष्टः" इत्यत्र यजधातो क्तप्रत्यये सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च 'इष्ट' इति रूपम् । नात्र स्थानिवद्भावाद् यकारं मत्वा "हशि च" इत्युत्वं स्थान्यलाश्रयविधित्वात् । ३—राम + (ङे) य । अत्र दीर्घे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषा तु न प्रवर्तते "कष्टाय क्रमणे" इति निर्देशात् । ४—"सुपि च" इति दीर्घस्यापवादोऽयम् । ५—सुपि किम्? पचध्वम् । अन्यथा 'पचेध्वम्' इति स्यात् । नात्र सुप् किन्तु (ध्वम्) तिङ् । ६—अदन्तस्याङ्गस्य एकारादेशः स्याद् ओसि परे इत्यर्थः सूत्रस्य । ७—राम + ओस्, एत्वे "एचोऽयवायावः" इति 'अय्'—आदेशः ।

१५८—अदन्त अंग से परे ङे के स्थान में य आदेश होता है ।

१५९—आदेश स्थानिवत् होता है, परन्तु स्थानी सम्बन्धी जो अल्, तदाश्रयविधि कर्तव्य हो तो स्थानिवद्भाव नहीं होता ।

१६०—झलादि बहुवचन सुप् परे रहते अदन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है ।

१६२—अवसान में (अन्त में) झलों के स्थान में चर् होता है विकल्प से ।

१६३ ह्रस्वनद्यापो नुट् ७ । १ । ५४ ॥

ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात्परस्यामो नुडागमः ।

१६४ नामि ६ । ४ । ३ ॥

अजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् । रामे[1] । रामयोः । सुपि एत्वे कृते ।

१६५ आदेश-प्रत्यययोः ८ । ३ । ५९ ॥

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्य-आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं कृष्ण-मुकुन्दादयः[2] ।

१६६ सर्वादीनि[3] सर्वनामानि १ । १ । २७ ॥

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः । सर्व । विश्व । उभ । उभय । डतर । डतम । अन्य । अन्यतर । इतर । त्वत् । त्व । नेम । सम । सिम । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् । स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ।

१–राम + (ङि) इ, गुण. । २–अकारान्ताः सर्वेऽपि पुल्लिङ्गाः शब्दाः, इत्यर्थः ।

रामशब्दस्य सप्तविभक्तिषु प्रयोगाः—

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे
रामेणाऽभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः ।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहम्
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे हे राम ! मां पालय ॥ १ ॥

३–सर्वादिगणपठितानि सर्वनामसञ्ज्ञानि भवन्तीत्यर्थः । सर्वस्य नाम 'सर्वनाम' इत्यन्वर्थेयं सञ्ज्ञा, 'सर्वनाम' इति महासञ्ज्ञाकरणसामर्थ्यात्, तेन सर्वो नाम कश्चित् तस्मै 'सर्वाय' (न तु सर्वस्मै) । सर्वमतिक्रान्तोऽतिसर्वस्तस्मै 'अतिसर्वाय' इति । "संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः" इति फलितम् । ४—इमानि त्रीणि

१६३—ह्रस्वान्त नद्यन्त और आबन्त अङ्ग से परे आम् को नुट् आगम होता है ।

१६४—नाम् परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ।

१६५—इण्, कवर्ग से परे अपदान्त आदेशरूप और प्रत्ययावयव सकार को षकार आदेश होता है ।

१६६—सर्वादि शब्दरूप सर्वनाम संज्ञक होते हैं ।

पूर्वापरेति—पूर्वादिशब्दों की व्यवस्था और असञ्ज्ञा में सर्वनाम सञ्ज्ञा होती है ।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः । त्यद् । तद् । यद् । एतद् । इदम् । अदस् । एक । द्वि । युष्मद् । अस्मद् । भवतु । किम् । एते पञ्चत्रिंशच्छब्दाः सर्वादयः ।

१६७ जसः शी ७ । १ । १७ ॥

अदन्तात्सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः[1] । सर्वे ।

१६८ सर्वनाम्नः स्मै ७ । १ । १४ ॥

अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै । सर्वस्मै ।

१६९ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७ । १ । १५ ॥

अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात् ।

१७० आमि सर्वनाम्नः सुट् ७ । १ । ५२ ॥

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यात् । एत्व-षत्वे[2] सर्वेषाम् । सर्वस्मिन्[3] । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ २ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । तस्येह पाठो-गणसूत्राणि ।

१—ननु शित्त्वात्सर्वादेशः सर्वादेशात्प्राक् शकारस्य—इत्संज्ञाया एवाभावात्, सर्वादेशे जाते-एव स्थानिवद्भावेन प्रत्ययत्वात् "लशक्वतद्धिते" इति—इत्संज्ञा । अत एव "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्व" मित्यपि न प्रवर्तते । २—एत्वम् "बहुवचने झल्येत्" इत्यनेन । षत्वम् "आदेशप्रत्यययोः" इत्यनेन ।

३-प्र० सर्वः सर्वौ, सर्वे
द्वि० सर्वम्, सर्वौ, सर्वान्,
तृ० सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः,
च० सर्वस्मै, सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः
पं० सर्वस्मात्, सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः,
ष० सर्वस्य, सर्वयोः, सर्वेषाम्,
स० सर्वस्मिन् ,, सर्वेषु,
सं० हे सर्व ! प्रथमावत् शेषम्

स्वमज्ञातीति—स्व शब्द की जाति और धन से भिन्न अर्थात् आत्मा और आत्मीय अर्थ में सर्वनाम सञ्ज्ञा होती है।

अन्तरमिति—बाह्य और परिधानीय अर्थ में अन्तर शब्द की सर्वनाम सञ्ज्ञा होती है ।

१६७—अदन्त सर्वनाम से परे 'जस्' को 'शी' आदेश होता है ।

१६८—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङे' को स्मै' आदेश होता है ।

१६९—अदन्त सर्वनाम से परे ङसि, ङि को क्रम से स्मात् और स्मिन् होते हैं ।

१७०—अवर्णान्त अंग से परे सर्वनाम से किये गए आम् को सुट् आगम

ऽकजर्थः । उभयशब्दस्य[2] द्विवचनं नास्ति । डतरडतमौ प्रत्ययौ । प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति तदन्ता[3] ग्राह्याः । नेम इत्यर्धे[4] । समः सर्वपर्यायः । तुल्यपर्यायस्तु न । समौनामिति[5] ज्ञापकात् ।

१७१ पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् १ । १ । ३४ ॥

एषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात् । पूर्वे, पूर्वाः । स्वाभिधेयापेक्षा[6]वधिनियमो व्यवस्था । व्यवस्थायां किम्—दक्षिणा गाथकाः, कुशला इत्यर्थः । असंज्ञायां किम्—उत्तराः कुरवः ।

१७२ स्वमज्ञाति-धनाख्यायाम् १ । १ । ३५ ॥

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा । स्वे, स्वाः । आत्मीया आत्मान इति वा । ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः, ज्ञातयोऽर्था वा ।

१—अकच्-प्रत्ययार्थः, तथा च सूत्रम् "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः"-इति, द्विवचनेऽन्यस्य तु कस्यापि सर्वनामसंज्ञाकार्यस्य नास्ति प्रसङ्गः । २—अस्ति इति हरदत्तः । नास्ति इति कैयटः । ३—कतर-कतम-यतर-यतम-ततर-ततम-एकतर-एकतमेत्यादयः । ४—सर्वनामसंज्ञ इति शेषः । ५—('यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' इति सूत्रे इति शेषः ।) अन्यथा समेषामिति स्यात् । ६—स्वस्य (पूर्वादिशब्दस्य) अभिधेयः (दिग्देशकालरूपः) तेन अपेक्ष्यते इति स्वाभिधेयापेक्षः (अवधिः) तस्य अवधेर्नियम इति 'स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमः' = (व्यवस्था) । तथा च यत्र कस्मात् पूर्वं कस्मादपरमित्यवध्याकाङ्क्षया नियमः स्यात् तत्रैव भवति सर्वनामसञ्ज्ञा । "दक्षिणा गाथका" इत्यत्र तु दक्षिणशब्दः चतुर-वाचक इति नावधेराकाङ्क्षा । —एवम्—"अधरे रागः" "उत्तरे प्रत्युत्तरे च शक्तः" इत्यादावपि—अवधिनियमाभावात् (अधर—उत्तरशब्दयोः) न सर्वनामसंज्ञा । ७—स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः (१) आत्मा (२) आत्मीयः (३) धनम् (४) ज्ञातिश्च (जातिः) । तत्रात्मात्मीयवाचिनः सर्वनामसंज्ञा, नतु ज्ञातिधनवाचिनः ।

१७१—पूर्व आदि शब्दों की व्यवस्था में और असंज्ञा में सर्वत्र गणसूत्र से नित्य प्राप्त सर्वनाम संज्ञा जस् में विकल्प से होती है । (पूर्वादि शब्दों के अर्थ से अपेक्षित अवधि के नियम को व्यवस्था कहते हैं)

१७२—ज्ञाति और धन से अन्य = आत्मा-आत्मीय अर्थ में स्व शब्द की गणसूत्र से नित्य प्राप्त सर्वनामसंज्ञा जस् परे रहते विकल्प से होती है ।

१७३ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १ । १ । ३६ ॥

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। अन्तरे अन्तरा वा गृहाः। बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे, अन्तरा वा शाटकाः। परिधानीया इत्यर्थः।

१७४ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७ । १ । १६ ॥

एभ्यो ङसि-ङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्, पूर्वात्। पूर्वस्मिन्, पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्। (संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः)। सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय। (अन्तरमिति गणसूत्रेऽपुरीति वक्तव्यम्)। अन्तरायां पुरि।

१७५ तृतीयासमासे १ । १ । ३० ॥

सर्वनामता न। मासपूर्वाय। तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न। मासेन पूर्वाय।

१७६ द्वन्द्वे च १ । १ । ३१ ॥

१—उपसंव्यानम् = परिधानीयम् = (वस्त्रादिकम्)। २—महासंज्ञाकरणसामर्थ्यात्। ३—इदं संज्ञाया उदाहरणम्। ४—इदमुदाहरणमुपसर्जनीभूतस्य। ५—स्त्रीत्वविशिष्टनगरार्थप्रतिपादकस्य विशेष्यत्वेऽन्तरशब्दस्य विशेषणीभूतस्य सर्वनामसञ्ज्ञा न भवतीत्यर्थः। अयं भावः—यत्र पुरी, पूः, नगरी, इत्येतेषां स्त्रीत्वविशिष्टनगरार्थप्रतिपादकानां विशेष्यत्वं स्यात्तत्र सर्वनामसञ्ज्ञाकार्यं न भविष्यति—यथा—'अन्तराया पुर्याम्' 'अन्तरायां नगर्यां पुरि वा' इति। नगरं, पुरं, पत्तनम्, इत्यादीनां विशेष्यत्वे तु—'अन्तरस्मिन् नगरे, अन्तरस्मिन् पुरे, पत्तने वा' एवं सर्वनामसञ्ज्ञाकार्यं स्यादेव।

१७३—बाह्य और परिधानीय अर्थ में अन्तर शब्द की गणसूत्र से प्राप्त नित्य सर्वनाम संज्ञा जस् परे रहने विकल्प से होती है।

१७४—पूर्वादि नौ शब्दों से परे ङसि और ङि को स्मात् और स्मिन् विकल्प से होते हैं।

(संज्ञोपसर्जनेति—संज्ञा और उपसर्जनीभूत की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती) (नगर वाचक शब्द विशेष्य रहते 'अन्तर' शब्द की गणसूत्र से प्राप्त सर्वनाम संज्ञा नहीं होती)

१७५—तृतीया समास तथा तृतीया समासार्थ वाक्य में सर्वनाम संज्ञा नहीं होती।

१७६—द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा नहीं होती।

उक्ता संज्ञा न। वर्णाश्रमेतराणाम्।

१७७ विभाषा जसि १।१।३२॥

वर्णाश्रमेतरे। वर्णाश्रमेतराः।

१७८ प्रथम-चरम-तयाल्पार्ध-कतिपय-नेमाश्च १।१।३३॥

एते जस्युक्तसंज्ञा वा स्युः। प्रथमे प्रथमाः। तयप्प्रत्ययः[1]। द्वितये, द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे, नेमाः। शेषं सर्ववत्। (तीयस्य[2] ङित्सु वा) द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। निर्जरः[3]।

१७९ जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१॥

जराया जरस् वाऽजादौ विभक्तौ। 'पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च'। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाज्जरशब्दस्य जरस्। निर्जरसौ। निर्जरसः। उपजीव्यविरोधाच्च जरस्—निर्जरैः। पक्षे हलादौ च रामवत्।

१—तेन तदन्ता = (तयप्प्रत्ययान्ताः) = द्वितय द्वय त्रितय-त्रय-चतुष्टय-पञ्चतय-षट्तय-सप्ततय-अष्टतय-नवतय-दशतयादयो ग्राह्याः, प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति नियमात्, केवलप्रत्ययस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनाभावात्। २—तीयस्य=तीयप्रत्ययान्तस्य, ङित्सु=ङिद्वचनेषु (ङे-ङसि-ङस्-ङि इत्येतेषु)। ३—निर्गतो जराया इति निर्जरः = देवः, "अमरा निर्जरा देवा" इत्यमरः। ४—जराशब्दस्य 'जरस्' आदेशः स्याद् वा-अजादौ विभक्तौ, इति सूत्रार्थः। (अत्राङ्गाधिकारः) तेन निर्जरस्यापि इति सिद्धम्। ५—सर्वस्य 'निजर'—शब्दस्यादेशप्राप्तौ वचनम्—निर्दिश्यमानस्येति, सूत्रे यावन्मात्रस्य स्थानित्वेन निर्देशस्तावन्मात्रस्येत्यर्थः। ६—'नहि छिन्नपुच्छोऽश्वो गर्दभो भवति' तेन। ७—उपजीव्यम् = कारणं निमित्तं तद्विरोधादित्यर्थः। यथा हि—अदन्तत्वं मत्वा भिस स्थाने ऐस् भवति। पुनश्च

१७७—जस् में सर्वादि द्वन्द्व समास की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है।

१७८—प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अल्प अर्ध कतिपय और नेम इनकी जस् परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। तीय प्रत्ययान्त की ङिद् वचनों में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

१७९—जरा शब्द को जरस् आदेश होता है विकल्प से अजादि विभक्ति परे रहते। (पदाधिकार और अङ्गाधिकार में जो कार्य जिसको कहे गये हैं वे उसको और तदन्त को भी होते हैं) (सूत्र में जितने का निर्देश है तावन्मात्र को आदेश होते हैं)

१८० पद्दन्नोमास्—हृन्निशसन्—यूषन्—दोषन्—यकञ्छकन्नुद—न्नासञ्छस्प्रभृतिषु ६ । १ । ६३ ॥

पाद दन्त नासिका मास हृदय निशा असृज् यूष दोष् यकृत् शकृत् उदक आस्य एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा । यत्तु आसन-शब्दस्यासन्नादेश इति काशिकायामुक्तं तद्भौमादिकमेव । पादः । पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः, पादान् । पदा, पादेन । इत्यादि । विश्वपाः[3] ।

१८१ दीर्घाज्जसि च ६ । १ । १०५ ॥

दीर्घाज्जसि इचि च न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिः । विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः !, हे विश्वपौ !, हे विश्वपाः ! ।

१८२ सुडनपुंसकस्य १ । १ । ४३ ॥

स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य ।

१८३ स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १ । ४ । १७ ॥

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदं स्यात् ।

स (ऐस्) यदि—अदन्तत्वोपघातनाय जरसादेशप्रति निमित्तं स्यात्तदा तु विस्पष्ट एवोपजीव्यविरोध । तथा च 'यो यमाश्रित्य समुत्पन्नः स तस्य विघातको न भवति' इति सन्निपातपरिभाषाऽत्र प्रवर्तते ।

१—अत्र पदाद्या आदेशाः स्वानुरूपान्=आनुपूर्वीकल्पान् समानार्थानिति यावत्, स्थानिनः समापद्यन्ति । २–भ्रान्तिमूलकमित्यर्थः । 'हव्या जुह्वान आसनि (मुखे)' 'आसन्यं प्राणमूचुः' इत्यादौ मुखार्थकत्वस्यैव दर्शनादिति भावः । ३—विश्वं पाति=रक्षति इति 'विश्वपा' (परमात्मा) अत्र क्विप्-प्रत्ययः तस्य (क्विपः) लोपः । ४—पदसंज्ञं स्यात् ।

१८०—पाद दन्त आदि तेरह शब्दों को क्रम से पद दत् मास् आदि आदेश होते हैं शसादि विभक्ति परे रहते ।

१८१—दीर्घ से जस् और इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता ।

१८२—नपुंसकलिङ्ग को छोड़कर स्वादि पाँच वचनों की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ।

१८३—सु से लेकर कप्प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थान से भिन्न प्रत्यय परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है ।

१८४ यचि भम् १ । ४ । १८ ॥

यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं स्यात् ।

१८५ आकडारादेका संज्ञा १ । ४ । १ ॥

इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारय' इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च । तेन शसादावचि भ-संज्ञैव, न पदसंज्ञा ।

१८६ आतो धातोः ६ । ४ । १४० ॥

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः । अलोऽन्त्यस्य । विश्वपः । विश्वपा । विश्वपाभ्यामित्यादि । एवं शङ्खध्मादयः । धातोः किम्—हाहान् । 'आत्' इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित् । (क्त्वः) । भः । हरिः । हरी ।

१—तेन व्यवस्थातः (सु-औ जस्-अम्-औट् इति) सर्वनामस्थानभिन्नायाम् अजादौ (शसादौ) विभक्तौ 'भ' संज्ञा, हलादौ च 'पद' संज्ञा । २—"क्विबन्ता विडन्ताः विजन्ताः शब्दा धातुत्वं न जहति" इति क्विबन्तस्यापि 'विश्वपा' शब्दस्य धातुत्वम् ।

३—

प्र०	विश्वपाः,	विश्वपौ,	विश्वपाः,	पं०	विश्वपः	,,	,,
द्वि०	विश्वपाम्,	,,	विश्वपः,	ष०	,,	विश्वपोः,	विश्वपाम्
तृ०	विश्वपा,	विश्वपाभ्याम्,	विश्वपाभिः	स०	विश्वपि,	,,	विश्वपासु
च०	विश्वपे	,,	विश्वपाभ्यः	सं०	हे विश्वपाः !		

४—आकारान्ताः पुंलिङ्गाः । ५—'हाहा' शब्दोऽनुकरणम्, नतु धातुरूपः, (हां जहातीति विग्रहे तु धातुरेव हाहाशब्दः, विश्वपावत्) दीर्घत्वान्नुडभावः । हाहाम्, हाहे, हाहोः, हाहासु । शेषं विश्वपावत् । ६—'आतो धातोः' इत्यत्र—आत इति योगो विभज्यते, आकारान्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यादित्यर्थस्तस्य । तेन—क्त्वा—भाशब्दस्य क्त्वः, भः, इति शसि रूपं सिद्ध्यति । ७—हरि + औ, "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" इति सूत्रेण पूर्वसवर्णदीर्घः ।

१८४—सु से लेकर कप्प्रत्यय तक सर्वनामस्थान से भिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की भी संज्ञा होती है ।

१८५—'कडाराः कर्मधारये' इस सूत्र से पहले पहले एक की एक ही संज्ञा होती है, जो पर और अनवकाश हो ।

१८६—आकारान्त जो धातु तदन्त भसंज्ञक अंग का लोप होता है ।

१८७ जसि च ७ । ४ । १०६ ॥

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि । हरयः ।

१८८ ह्रस्वस्य गुणः ७ । ४ । १०८ ॥

सम्बुद्धौ । हे हरे ! । हरिम् । हरीन् ।

१८९ शेषो घ्यसखि १ । ४ । १७ ॥

शेष इति स्पष्टार्थम् । अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घि-संज्ञं स्यात् ।

१९० आङो नाऽस्त्रियाम् ७ । ३ । १२० ॥

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम् । आङिति टा-संज्ञा प्राचाम् । हरिणा । हरिभ्याम् ३ । हरिभिः ।

१९१ घेर्ङिति ७ । ३ । १११ ॥

घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः । हरये । हरिभ्यः २ । गुणे कृते ।

१९२ ङसिङसोश्च ६ । १ । ११० ॥

एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः । हरेः २ । हर्योः २ । हरीणाम् ।

१९३ अच्च घेः ७ । ३ । ११९ ॥

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत् घेरत् । हरौ । हरिषु । एवं कव्यादय ।

१—'टा' इति तृतीयैकवचनस्य 'आङ्' इति संज्ञा—इत्यर्थः । २—हरि + (ङे) ए, गुणे, अय्=हरये । ३—हरि + (ङसि) अस्, अत्र गुणे पूर्वरूपे विसर्गः=हरेः । ४—हरि + ङि, अच्च घेः = ('हरि' इत्यस्य) अत् ('हर' इति) । 'ङि' इत्यस्य 'औत्', वृद्धिः=हरौ । ५—(ह्रस्व)—इकारान्ताः पुंल्लिङ्गाः कविरव्यादयः ।

१८७—ह्रस्वान्त अंग को गुण हो । है जस् पर रहते ।

१८८—ह्रस्वान्त अंग को गुण हो ॥ है सम्बुद्धि परे रहते ।

१८९—ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की घिसंज्ञा होती है सखि शब्द को छोड़कर ।

१९०—घि-संज्ञक से परे आङ् (टा) को ना होता है ।

१९१—घिसंज्ञक को गुण होता है ङित् सुप् परे रहते ।

१९२—एङ् से ङसि ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते दोनों के स्थान में पूर्व-रूप एकादेश होता है ।

१९३—इकार उकार से परे ङि को औत् और इकार को अकार आदेश होता है ।

१९४ अनङ् सौ ७ । १ । ६३ ॥
सख्युरङ्गस्यानङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ ।
१९५ अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १ । १ । ६५ ॥
अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात् ।
१९६ सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६ । ४ । ८ ॥
नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ।
१९७ अपृक्त एकाल्प्रत्ययः १ । २ । ४१ ॥
१९८ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६ । १ । ६८ ॥
हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सुतिसीत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते ।
१९९ प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १ । १ । ६२ ॥
प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात् ।
२०० नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८ । २ । ७ ॥
प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः । सखा ।
२०१ सख्युरसम्बुद्धौ ७ । १ । ९२ ।
सख्युरङ्गात्पर संबुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात् ।

१—सम्बुद्धिभिन्ने । २—एकाल्=एकवर्णरूपः प्रत्ययोऽपृक्त-सञ्ज्ञः स्यात् । ३—'सु'सम्बन्धि, 'ति' (तिप्) सम्बन्धि, तिपा साहचर्यात् 'सि' (सिप्) सम्बन्धि (नतु सिच् सम्बन्धि) । ४—सखि + सु, अनङ्, सखन् + सु (स्) सकारलोपः । नान्तस्योपधादीर्घे नस्य लोपः—'सखा'=मित्रम् ।

१९४—अङ्गसंज्ञक सखि शब्द को अनङ् होता है सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते ।
१९५—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है ।
१९६—नान्त उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते ।
१९७—एक एक वर्ण रूप प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा होती है ।
१९८—हलन्त से परे सु, ति, सि सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप होता है, और दीर्घ ङी, आप् से परे सु सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप होता है ।
१९९—प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य हो जाता है ।
२००—प्रातिपादिक संज्ञक पद के अन्तिम नकार का लोप होता है ।
२०१—अंगसंज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान णिद्वत् होता है ।

२०२ अचोऽञ्णिति ७ । २ । ११५ ॥

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिर्ञिति णिति च । सखायौ । सखायः । हे सखे ! । सखायम् । सखायौ । सखीन् । सख्या । सखिभ्याम् । सखिभिः । सख्ये ।

२०३ ख्यत्यात्परस्य ६ । १ । ११२ ॥

खि-तिशब्दाभ्यां खी-तीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसि-ङसोरत उत् । सख्युः१ ।

२०४ औत् ४ । ३ । ११८ ॥

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत् । सख्यौ । शेषं हरिवत् ।

२०५ पतिः समास एव १ । ४ । ८ ॥

घिसंज्ञः२ । पत्या । पत्युः ३ । पत्यौ । शेषं हरिवत् । समासे४ तु भूपतये । कतिशब्दोः५ नित्यं बहुवचनान्तः ।

२०६ बहु-गण-वतु-डति संख्या१ । १ । २३ ॥

२०७ डति च १ । १ । २५ ॥

डत्यन्ता सख्या षट्संज्ञा स्यात् ।

१—सखि+ङसि (अस्) यणि कृते 'सख्यस्' उत्वे 'सख्युः' । षष्ठीविभक्तौ—सख्युः, सख्योः, सखीनाम् । शेषमुच्चारणं स्पष्टं मूले । २—'पति' शब्दः समास एव 'घि' संज्ञ इत्यर्थः । तेन न घिसंज्ञाकार्याणि । ३—"ख्यत्यात्परस्य" इत्यनेन 'उत्वम्' । ४—समासे घिसंज्ञाकार्याणि भवन्त्येव । सर्वं हरिवत् । ५—"किमः सङ्ख्यापरिमाणे डति च" इति 'डति' प्रत्यये टिलोपः, का सङ्ख्या येषां ते कति, नित्यं बहुवचनान्तोऽयम् । ६—बहुः—गणः—वतुः—डतिः, इत्येषां समाहारः= बहुगणवतुडति—सङ्ख्या = एते 'सङ्ख्या'—संज्ञाः स्युरित्यर्थः । वतु-डती प्रत्ययौ, तत्र तदन्ता ग्राह्याः—वत्वन्ता डत्यन्ता इति ।

२०२—अजन्त अंग को वृद्धि होती है ञित् णित् प्रत्यय परे रहते ।

२०३—यण् हो जाने पर ह्रस्व खि, ति शब्द और दीर्घ खी, ती शब्द से परे ङसि ङस् के अकार को उकार आदेश होता है ।

२०४—इकार उकार से परे ङि को औत् आदेश होता है ।

२०५—पति शब्द की समास में ही घि संज्ञा होती है ।

२०६—बहु शब्द, गण शब्द, वतुप्रत्ययान्त और डतिप्रत्ययान्त शब्द की संख्या संज्ञा होती है ।

२०७—डति प्रत्ययान्त संख्यावाचक शब्द की षट् संज्ञा होती है ।

२०८ षड्भ्यो लुक् ७ । १ । २२ ॥

जश्शसोः[1] ।

२०९ प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः १ । १ । ६१ ॥

लुक्-श्लु-लुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं[2] स्यात् । जसि चेति गुणे प्राप्ते ।

२१० न लुमताऽङ्गस्य १ । १ । ६३ ॥

लुक् श्लु लुप् एते लुमन्तः । लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात् । कति २ । कतिभिः । कतिभ्यः । कतिभ्यः । कतीनाम् । कतिषु । अस्मद्-युष्मत्-षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः[3] । त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । त्रयः[4] । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः २ ।

२११ त्रेस्त्रयः[5] ७ । १ । ५३ ॥

आमि । त्रयाणाम् । त्रिषु । गौणत्वेऽपि । प्रियत्रयाणाम्[6] । द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः ।

२१२ त्यदादीनामः ७ । २ । १०२ ॥

एषामकारो विभक्तौ । द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः[7] । द्वौ २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ ।

१—'षट्' संज्ञकेभ्यो जस्-शसोर्लुक् स्यात् । २—लुक् श्लु-लुप्-संज्ञमित्यर्थः । ३—सरूपाः = समानरूपाः, समानोच्चारणा इत्यर्थः । ४—त्रि + (जस्) अस् "जसि च" इति गुणः, अयादेशः । ५—त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामीत्यर्थः । ६—बहुव्रीहिसमासे (अन्यपदार्थप्रधाने) समागतानि समस्तानि-गौणानि=उपसर्जनानि वा उच्यन्ते, प्रियास्त्रयो यस्य स 'प्रियत्रिः', तेषां 'प्रियत्रयाणाम्' । ७—'त्यद्' इत्यारभ्य 'द्वि'शब्दपर्यन्तमेव 'अ'—कारो भवति इति-इष्यते—इष्टिः ।

२०८—षट्संज्ञक से परे जस् और शस् का लुक् होता है ।

२०९—लुक्, श्लु, लुप् इन शब्दों से किया गया जो प्रत्यय का अदर्शन, उसकी क्रम से लुक्, श्लु, लुप् संज्ञा होती हैं ।

२१०—लुक्, श्लु, लुप् शब्दों से जहाँ लोप हुआ हो वहाँ तन्निमित्तक अङ्ग कार्य नहीं होता ।

२११—त्रि शब्द को त्रय आदेश होता है आम् परे रहते ।

२१२—त्यदादियों को अकार अन्तादेश होता है विभक्ति परे रहते (द्वि शब्द तक) ।

ह्रिपर्यन्तानां किम्—भवान्। भवन्तौ। पाति लोकमिति—पपीः=सूर्यः। पप्यौ। पप्यः। हे पपीः! पपीम्। पपीन्। पप्या। पपीभ्याम् ३। पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः २। पप्यः २। पप्योः २। पप्याम्। ङौतु सवर्णदीर्घः पपी। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी।

२१३ यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३॥

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः। (प्रथमलिङ्गग्रहणं च)=पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

२१४ अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७॥

अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि!।

२१५ आण् नद्याः ७।३।११२॥

नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः।

२१६ आटश्च ६।१।९०॥

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः। बहुश्रेयसीनाम्।

२१७ ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६॥

नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च परस्य ङेरामादेशः स्यात्। इह परत्वादाटा नुट्

१—"पापोः किद् द्वे च" इत्युणादिसूत्रेण 'ई' प्रत्ययः, द्वित्वम्,—आलोपश्च, "आतो लोप इटि च" इत्यनेन। २—आमि रूपमिदम्। ३—श्रेयस्यः=कल्याणाय स्त्रियः। ४—ईश्च ऊश्च 'यू'=ईदूदन्तौ—इत्यर्थः, स्त्र्याख्यौ=नित्यस्त्रीलिङ्गौ इत्यर्थः, स्त्रियम् आचक्षाते इति विग्रहात्, तदेवाह वृत्तौ। ५—यः शब्दः प्रथमं स्त्रीलिङ्गः स्यात्पश्चादुपसर्जनदशायां लिङ्गविपर्ययेऽपि तस्य नदीसंज्ञा भवतीति भाव। ६—ङिताम्=ङिद्वचनानाम् (ङे, ङसि, ङस्, ङि इत्येतेषाम्) ७—नुटः परत्वादाट्। न च कृतेऽपि—आडागमे नुट् कुतो नेति वाच्यम्। 'सकृ-

---

२१३—ईदन्त, ऊदन्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों की नदी संज्ञा होती है।

(वा० जो शब्द पहले नित्य स्त्रीलिङ्ग हो वह उपसर्जन होने से अन्यलिङ्ग में भी नदी संज्ञक होते हैं।

२१४—अम्बार्थक और नदीसंज्ञक को ह्रस्व होता है सम्बुद्धि परे रहते।

२१५—नद्यन्त से परे ङिद्वचनों को आट्—आगम होता है।

२१६—आट् से अच् परे रहते वृद्धि एकादेश होता है।

२१७—नद्यन्त, आबन्त और नीशब्द से परे ङि को आम् आदेश होता है।

बाध्यते । बहुश्रेयस्याम् । शेषं पपीवत् । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः । अतिलक्ष्मीः[1] । शेषं बहुश्रेयसीवत् । प्रधीः[2] ।

२१८ अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६ । ४ । ७७ ॥

श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे । इति प्राप्ते ।

२१९ एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६ । ४ । ८२ ॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यम् । प्रध्यः । प्रध्यि । शेषं पपीवत् । एवं ग्रामणीः[3] । ङौ तु—ग्रामण्याम्[4] । अनेकाचः किम्—नीः, नियौ, नियः । नियम्[5] । असंयोगपूर्वस्य किम्—सुश्रियौ, यवक्रियौ[6] ।

२२० गतिश्च १ । ४ । ६० ॥

प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । (गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण्नेष्यते)[7] शुद्ध-

---

दृगतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' इति न्यायात् ।

१—"लक्षेर्मुट् च" इत्युणादिसूत्रेण 'ई' प्रत्ययः, मुडागमश्च, अत एव ङीबन्तत्वाभावाद् हल्ङ्याब्भ्य इति सुलोपो न । २—प्रध्यायतीति—प्रधीः, इति विग्रहः । प्रकृष्टा धीर्यस्येति विग्रहे तु 'धी' शब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् प्रथमलिङ्गग्रहणं च, इति नदीत्वाद् यथायथं नदीकार्याणि भविष्यन्त्येव (बहुश्रेयसीवत्) । ३—ग्रामं नयति इति ग्रामणीः=ग्राममुख्यः, (भाषायाम् 'नम्बरदार' इति) ४—"ङेराम् नद्याम्नीभ्यः" इत्याम् । ५—नी + अम् , अत्र "इको यणचि" इति प्राप्तं यणं बाधित्वा 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपं प्राप्नोति, तत्र परत्वात् "अचिश्नु"... इति 'इयङ्' । "एरनेकाच्..." इति त्विह न प्रवर्ततेऽनेकाच्त्वाभावात् । ६—शोभनं श्रयतीति विग्रहः । शोभना श्रीर्यस्येति विग्रहे तु नदीत्वं स्यादेव । ७—गतिकारकपूर्वपदस्यैव यण् इति भावः, तेन शुद्धा धीर्यस्य स शुद्धधीः शुद्धधियौ शुद्ध-

---

२१८—श्नुप्रत्ययान्त, को तथा इवर्णान्त, उवर्णान्त धातु को और "भ्रू" अङ्ग को इयङ्, उवङ् आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ।

२१९—धातु के अवयवों का संयोग नहीं है पूर्व में जिसके ऐसा जो इवर्ण उवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अङ्ग उसको यण् होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ।

२२०—प्रादियों की क्रिया के योग में गति संज्ञा होती है । (वा० गतिकारक

धियौ । शुद्धधियः ।

२२१ न भू-सुधियोः ६ । ४ । ८५ ॥

एतयोरचि सुपि यण्न । सुधीः । सुधियौ । सुधियः । इत्यादि । सुखमिच्छतीति—सुखीः । सुतमिच्छतीति—सुतीः । सुख्युः २ । सुत्युः २ । शेषं प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् । एवं भान्वादयः ।

२२२ तृज्वत्क्रोष्टुः ७ । १ । ९५ ॥

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । 'क्रोष्टु' इत्यस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' इति प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ।

२२३ ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः ७ । ३ । ११० ॥

गुणः । इति प्राप्ते—

२२४ ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७ । १ । ९४ ॥

ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ ।

धियः–इत्यादौ शुद्धशब्दस्य गतिकारकत्वाभावान्न यण्, किन्तु इयङ् । उपसर्गाणामेव गतिसंज्ञा ।

१—क्यजन्तात् क्विप्, क्यचि च, इति ईत्वम् । २—सुखी + (ङसि) अस् सुती + (ङसि) अस्, यणि कृते 'ख्यात्यात्परस्य' इति-उत्वम् ।

३—प्र० भानुः, भानू, भानवः । प० भानो, भानुभ्याम्, भानुभ्यः
द्वि० भानुम्, ,, भानून्, ष० भानोः भान्वोः, भानूनाम्,
तृ० भानुना भानुभ्याम्, भानुभिः स० भानौ ,, भानुषु...
च० भानवे, ,, भानुभ्यः, सं० हे भानो ! शेषं प्रथमावत् ।

एवं ह्रस्व—उकारान्ताः सर्वेऽपि पुंल्लिङ्गाः शब्दा ज्ञेयाः ।

४—ऋदन्ताङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने चेत्यर्थः । ५—उशना=शुक्राचार्यः । पुरुदंसा=मार्जारः । अनेहा=समयः ।

से इतर पूर्वपद हो तो यण् नहीं होता) ।

२२१—भू और सुधी को यण् नहीं होता अजादि सुप् परे रहते ।

२२२—क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव होता है सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते ।

२२३—ऋदन्त अंग को गुण होता है ङि और सर्वनामस्थान परे रहते ।

२२४—ऋदन्त और उशनस् आदि को अनङ् आदेश होता है सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते ।

२२५ अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम् ६ । ४ । ११ ॥

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्टून् ।

२२६ विभाषा तृतीयादिष्वचि ७ । १ । ९७ ॥

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् । क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना, क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे ।

२२७ ऋत उत् ६ । १ । १११ ॥

ऋतो ङसिङसोरति परे पूर्वपरयोरुदेकादेशः स्यात् । रपरः ।

२२८ रात्सस्य ८ । २ । २४ ॥

रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य । विसर्गः । क्रोष्टुः २ । क्रोष्टोः २ । क्रोष्ट्रोः २ । (नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन[1]) क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि[2] । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् । हूहूः । हूहौ, इत्यादि । अतिचमूशब्दे तु

१—"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" इत्यत्र—'अपरम्' इति च्छेदादिति भावः । वारीणाम् । तिसृणाम्, क्रोष्टूनाम्, इति यथासङ्ख्यमुदाहरणानि ज्ञेयानि । "अचि र ऋतः" इति राऽऽदेशस्तु मद्दृष्ट्ये यद्यप्यास तत्तन्मया सर्वं बाध्यमिति बाध्य-सामान्यचिन्ताश्रयणात् गुणदीर्घोत्वानामपवाद इति मूल एव स्फुटीभविष्यति-इति ।

२—१ क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, | ५ क्रोष्टुः = क्रोष्टोः ,, ,,
२ क्रोष्टारम्, ,, क्रोष्टून्, | ६ ,, = ,, क्रोष्ट्रोः = क्रोष्ट्वोः, क्रोष्टूनाम्,
३ क्रोष्ट्रा=क्रोष्टुना, क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभिः | ७ क्रोष्टरि=क्रोष्टौ," = " क्रोष्टुषु,
४ क्रोष्ट्रे=क्रोष्टवे, ,, क्रोष्टुभ्यः, | (स०) हे क्रोष्टो ! शेषं प्रथमावत् ।

२२५—अप आदियों की उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते ।

२२६—क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव होता है विकल्प से, अजादि तृतीयादि विभक्ति परे रहते ।

२२७—ऋदन्त अंग से ङसि ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते पूर्व पर के स्थान में उकार आदेश होता है ।

२२८—रेफ से परे संयोगान्तलोप केवल सकार का ही होता है, अन्य का नहीं । (वा०—नुम्, अच् परे रहते रभाव, और तृज्वद्भाव इनकी अपेक्षा पूर्व-विप्रतिषेध से नुट् ही होता है ।[1])

नदीकार्ये विशेषः। हे अतिचमु !। अतिचम्वै। अतिचम्वाः २। अतिचमूनाम्। अतिचम्वाम्। खलपूः।

२२९ ओः सुपि ६।४।८३॥

धात्वयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्याऽनेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि। खलप्वौ। खलप्वः। एवं सुल्वादयः। स्वयम्भूः। स्वयम्भुवौ। स्वयम्भुवः। एवं स्वभूः। वर्षाभूः।

२३० वर्षाभ्वश्च ६।४।८४॥

अस्य यण् स्यादचि सुपि। वर्षाभ्वावित्यादि। दृन्भूः (दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः)। दृन्भ्वौ। दृन्भ्वः। एवं करभूः। पुनर्भूः। दृग्भू-काराभूशब्दौ तु स्वयम्भूवत्। धाता। धातारौ। धातारः। हे धातः!। (ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्)। धातॄणाम्। एवं नप्त्रादयः।

अप्तृन्निति सूत्रे नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न। पिता।

१—प्रथमालिङ्गग्रहणादिति भावः। २—द्वितीयायाम्—खलप्वम्, खलप्वौ, खलप्वः। एवं सर्वत्राजादौ विभक्तौ यण्। ३—"न भूसुधियोः" इति यण्-निषेधः।

४—

१	धाता,	धातारौ,	धातारः,	५	धातुः,	धातृभ्याम्,	धातृभ्यः
२	धातारम्,	,,	धातॄन्,	६	,,	धात्रोः,	धातॄणाम्,
३	धात्रा,	धातृभ्याम्,	धातृभिः,	७	धातरि,	,,	धातृषु,
४	धात्रे,	,,	धातृभ्यः	सं०	हे धातः!	शेषं प्रथमावत्।	

एवं ऋकारान्ताः कर्तृ—भर्तृ—सवित्रादयः।

५—उणादिविषयेऽस्ति पक्षद्वयम् "औणादिकानि अव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि"—इत्येकः। "व्युत्पन्नानि" इत्यपरः। व्युत्पन्नानीति पक्षे सर्वे एते शब्दा उणाद्यन्तर्गताः प्रकृतिप्रत्ययविभागवन्तः। अव्युत्पत्तिपक्षे च नैतेषु प्रकृतिप्रत्यय-

---

२२९—धातु के अवयवों का संयोग पूर्व में नहीं है जिसके ऐसा जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अंग उसको यण् होता है अजादि सुप् परे रहते।

२३०—वर्षाभू शब्द के अवयव उवर्ण के स्थान में यण् होता है अजादि सुप् परे रहते।

(वा० =(१) दृन्करपुनःपूर्वक भू धातु के उवर्ण को यण् होता है अजादि सुप् परे रहते। (२) ऋवर्ण से परे भी न को ण होता है।)

पितरौ । पितरः । पितरम् । पितरौ । शेषं धातृवत् । एवं जामात्रादयः । ना । नरौ । नरः ।

२३१ नृ च ६ । ४ । ६ ॥

अस्य नामि वा दीर्घः । नृणाम्, नृणाम् ।

२३२ गोतो णित् ७ । १ । ९० ॥

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत् । गौः । गावौ । गावः ।

२३३ औतोऽम्शसोः ६ । १ । ९३ ॥

ओकारादम्शसोरचि आकार एकादेशः । गाम् । गावौ । गाः । गवा । गवे । गोः २ ।

विभागः । तत्र व्युत्पत्तिपक्षे=व्युत्पन्नानि—इति मते नप्त्रादीनामपि तृन्—तृजन्तत्वेनैव दीर्घे सिद्धे पुनस्तेषां ग्रहणं नियमार्थम्—"सिद्धे सत्यारम्भमाणो विधिर्नियमाय" इति न्यायात् । स नियमश्चायम् "उणादिनिष्पन्नानां तृन्—तृच्—प्रत्ययान्तानां संज्ञाशब्दानां चेदुपधादीर्घस्तर्हि नप्त्रादीनामेव" इति । तेन पित्रादीनां न, पिता पितरौ पितरः । अव्युत्पत्तिपक्षे तु तेषु सर्वत्र प्रकृतिप्रत्यय-कल्पनाऽभावात् सूत्रे गृहीतानामेव भविष्यति दीर्घ इति पितृ-मात्रादीनां दीर्घप्राप्तिरेव नास्ति ।

१—नृ+सु+अनङ्, सुलोपः दीर्घः,—ना=पुरुषः । २—ओतो णिदिति वाच्यम्, अत एवाऽऽह-वृत्तौ ओकाराद् विहितमित्यादि । तेन-सुद्यौः, सुद्यावौ, सुद्यावः, इत्यादि । विहितविशेषणत्वान्नेह । हे भानो ! । ३—णिद्वद्भावाद् "अचो ञ्णिति" इति वृद्धिः, रुत्वविसर्गौ । ४—'आ ओतः' इतिच्छेदः । शसा साहचर्यात्सुबेव अम् गृह्यते । तेनेह न—अचिनवम्, असुनवम् । ५—गोशब्द उभयलिङ्गः, उच्चारणं समानमेव । सप्तम्याम्—गवि, गवोः, गोषु ।

२३१—नृ शब्द को दीर्घ विकल्प करके होता है नाम् परे रहते ।

२३२—ओकार से विहित सर्वनामस्थान णिद्वत् होता है ।

२३३—ओकार से अम् शस् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान में आकार एकादेश होता है ।

२३४ रायो हलि ७ । २ । ८५ ॥

रैशब्दस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ । [1]राः । रायौ । रायः । राभ्यामित्यादि । [2]ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लौभ्यामित्यादि ।

इत्यजन्ताः पुंलिङ्गाः ।

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गाः ।

[3]रमा ।

२३५ औङ आपः ७ । १ । १८ ॥

आबन्तादौङः शी स्यात् । औङित्यौकारविभक्तेः संज्ञा । [4]रमे । [5]रमाः ।

१—रै-शब्दोऽयं धनवाची—तदुच्चारणम्—

१ राः,	रायौ,	रायः,	५ रायः,	राभ्याम्,	राभ्यः,
२ रायम्,	,,	,,	६ रायः,	रायोः,	रायाम्
३ राया,	राभ्याम्,	राभिः	७ रायि,	,,	रासु,
४ राये,	,,	राभ्यः	सं० हे राः !, शेषं प्रथमावत् ।		

२—ग्लौः = चन्द्रः । 'ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः ।

इति अजन्तपुंलिङ्गाः ॥

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गाः ।

३—रमते—इति रमा 'रम्' धातोः—पचाद्यचि टाप् । रमा + सु, "हल्ङ्याबि" ति सुलोपः । ४—रमा + औ, औङः शीभावे शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च गुणः । ५—रमा + (जस्) अस्, यद्यपि पूर्वसवर्णदीर्घः प्राप्तः, परं "दीर्घाज्जसि चेति" निषेधात् न भवति, ततश्च "अकः सवर्णे......" इति दीर्घो भवति । शसि तु "प्रथमयो"रिति पूर्वसवर्णदीर्घ एव ।

२३४—रै शब्द को आकार अन्तादेश होता है हलादि विभक्ति परे रहते ।

इति अजन्तपुंलिङ्गप्रकरणम् ।

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गाः ।

२३५—आबन्त अंग से परे औ को शी आदेश होता ।

२३६ सम्बुद्धौ च ७ । ३ । १०६ ॥

आप एकारः । हे रमे ! । हे रमे ! । हे रमाः ! । रमाम् । रमाः ।

२३७ आङि चापः ७ । ३ । १०५ ॥

आङि ओसि चाप एकारः । रमया[1] । रमाभ्याम् । रमाभिः ।

२३८ याडापः[2] ७ । ३ । ११३ ॥

आपो ङितो याट् । वृद्धिः[3] । रमायै । रमाभ्यः । रमायाः । रमयोः । रमाणाम्[4] । रमायाम्[5] । रमासु । एवं दुर्गादयः[6] ।

२३९ सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७ । ३ । ११४ ॥

आबन्तात्सर्वनाम्नो ङितः स्याडापश्च ह्रस्वः । सर्वस्यै[7] । सर्वस्याः २ । सर्वासाम् । सर्वस्याम् । शेषं रमावत् । एवं विश्वादयोऽप्याबन्ताः[8] ।

२४० विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ १ । १ । २८ ॥

सर्वनामता वा स्यात् । उत्तरपूर्वस्यै[9] । उत्तरपूर्वायै । इत्यादि । अन्तरस्यै शालायै । अपुरीत्युक्तेनेह-अन्तरायै नगर्यै । तीयस्य ङित्सूपसंख्यानात्[10], द्वितीयस्यै ...

१—रमा + (टा) आ, आप एत्वेऽयादेशः । २—आबन्तात्परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः स्यादित्यर्थः । ३—"वृद्धिरेचि" इत्यनेन । ४—रमा + आम्, आबन्तत्वात् "ह्रस्वनद्यापो नुट्" इति—आमो नुट् (आगमः) । नस्य णत्वं रमाणाम् । ५—रमा + ङि "ङेराम्नद्याम्नीभ्यः" इति ङेराम्, स्थानिवद्भावेन—आमो ङित्वमाश्रित्य "याडापः" इति याट् । ६—आकारान्ताः स्त्रीलिङ्गाः प्रायः सर्वे । ७—सर्वशब्दात् स्त्रीत्वे टाप्, सर्वा + (ङे) ए, याटोऽपवादः 'स्याट्', पूर्वस्य—आप आकारस्य ह्रस्वः "वृद्धिरेचि" इति वृद्धिः, न तु "आटश्चेति", अत्राट एकदेशत्वेनाऽनर्थकत्वात् । ८—सर्वाशब्दतुल्या इत्यर्थः । ९—उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालम्=उत्तरपूर्वा, तस्यै 'उत्तर-पूर्वस्यै ।' १०—"तीयस्य ङित्सु वा" इत्यनेन ।

२३६—आबन्त अंग को एकार होता है सम्बुद्धि में ।

२३७—आङ् और ओस् परे रहते आबन्त अंग को एकार होता है ।

२३८—आबन्त अङ्ग से परे ङिद्वचन को याट् आगम होता है ।

२३९—आबन्त सर्वनाम से परे ङिद्वचन को स्याट् आगम होता है और आप् को ह्रस्व होता है ।

२४०—दिक्समास में बहुव्रीहि की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है ।

यस्यै । द्वितीयायै । एवं तृतीया । 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' । हे अम्ब ! । हे अक ! । हे अल्ल ! । असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न । हे अम्बाडे ! । हे अम्बाले ! । हे अम्बिके ! । जरा । जरसौ, जरे । इत्यादि । पक्षे हलादौ च रमावत् । गोपा विश्वपावत् । मतिः । मत्याँ ।

२४१ ङिति ह्रस्वश्च १ । ४ । ६ ॥

इयँङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति । मत्यै । मतये । मत्याः । मतेः । नदीत्वात् 'औत्' इति प्राप्ते ।

२४२ इदुद्भ्याम् ७ । ३ । ११७ ॥

नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् । मत्याम् । मतौ । शेषं हरिवत् । एवं बुद्ध्यादयः ।

१—गा पातीति गोपाः स्त्री, नायं गाबन्त, किन्तु विजन्तः, तेन सुलोपो याट् च न । सर्वं चास्योच्चारणं पुंल्लिङ्ग विश्वपा शब्दवद् बोध्यम् । गोपशब्दस्य स्त्रीत्वे तु गोपी, इत्येव । २—मति=(शस्) अस्, पूर्वसवर्णदीर्घे सस्य रुत्वं सगौ, स्त्रीत्वान्नत्वं न । ३—अभी नाम सा' भावो न । ४—इयुवङ्प्राप्तियोग्यौ इति भाव । ५—मति=(ङे) ए, नद्यन्तादाट् वृद्धौ यण्, मत्यै । नदीत्वाभावपक्षे घिसंज्ञाकार्यम्=गुणः, अय्, मतये ।

६—मति+ङि, नदीत्वाभावपक्षे 'घि' संज्ञायां "अच्च घेः" इति इकारस्याकारः, ङेरौत्त्वे च "वृद्धिरेचि" इति वृद्धौ सत्याम्=मतौ ।

१ मतिः,	मती,	मतयः,	५ मत्या=मतेः, मतिभ्याम्, मतिभ्यः,	
२ मतिम्,	मती.	मतीः,	६ ,, ,, मत्योः, मतीनाम्,	
३ मत्या,	मतिभ्याम्,	मतिभिः,	७ मत्याम्=मतौ ,, मतिषु,	
४ मत्यै=मतये	,,	मतिभ्यः,	सं० हे मते ! इत्यादि । मति=बुद्धि,	

७—(ह्रस्व) इकारान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

२४१—इयङ् उवङ् के स्थानी स्त्री-शब्द से भिन्न नित्य स्त्रीलिङ्गवाची ईकार ऊकार तथा ह्रस्व इवर्ण उवर्ण की नदी संज्ञा विकल्प से होती है ङिद्वचन परे रहते ।

२४२—नदी संज्ञक इकार उकार से परे ङि को आम् होता है ।

२४३ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ चतसृ ७ । २ । ९९ ॥

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ ।

२४४ अचि र ऋतः ७ । २ । १०० ॥

तिसृ-चतस्रोर्ऋतो रादेशोऽचि । गुण-दीर्घोत्त्वानामपवादः[1] । तिस्रः[2] २ । तिसृभिः । तिसृभ्यः २ । आमि नुट् ।

२४५ न तिसृ-चतसृ ६ । ४ । ४४ ॥

एतयोर्नामि दीर्घो न । तिसृणाम् । तिसृषु । द्वे[3] २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ । गौरी । गौर्यौ[4] । गौर्यः । हे गौरि[5] । हे गौर्यावित्यादि । एवं नद्यादयः । लक्ष्मीः[6] । शेषं गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः[7] । स्त्री । हे स्त्रि ! ।

२४६ स्त्रियाः ६ । ४ । ७९ ॥

अस्येयङजादौ प्रत्यये । स्त्रियौ । स्त्रियः ।

१—तिस्रः, इति जसि 'ऋतोङि...' इति प्राप्तम् "जसि च" इति प्राप्तं वा गुणं बाधते । 'तिस्रः' इति शसि पूर्वसवर्णदीर्घं बाधते । 'प्रियतिस्रः' इति ङसि "ऋत उत्" इति उत्वञ्चापवादत्वादयं (र-भावः) बाधते-इत्यर्थः । २—(त्रि) तिसृ = (जस) अस् , ऋकारस्य रेफादेशः । शब्दोऽयं नित्यं बहुवचनान्तः । एवं (चतुर्) चतसृ—शब्दोऽपि बोध्यः । ३—'द्वि' शब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । स्त्रीत्वे विभक्तौ 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे टाप् , (द्वि) द्वा = औ, इति स्थितौ "औङ आपः" इत्यौकारस्य शीत्वे गुणः=द्वे । ४—गौरी औ,=गौर्यौ, गौरी अस् गौर्यः । उभयत्रापि "दीर्घाज्जसि च" इति निषेधात्पूर्वसवर्णदीर्घो न, किन्तु यण् । ५—हे गौरि ! इत्यत्र "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" इति ह्रस्वः । ६—"लक्षेर्मुट् च" इत्युणादिसूत्रेण 'ई' प्रत्ययो मुडागमश्च, अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः ।

७—अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।

सप्त-स्त्रीलिङ्गशब्दानां न सुलोपः कदाचन ॥

२४३—त्रि और चतर् शब्द को स्त्रीलिङ्ग में तिसृ और चतसृ आदेश होता है ।

२४४—तिसृ चतसृ शब्द के ऋ को र होता है अच् परे रहते ।

२४५—तिसृ चतसृ को आम् में दीर्घ नहीं होता ।

२४६—स्त्री शब्द को इयङ् आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ।

२४७ वाऽम्-शसोः ६ । ४ । ८० ॥

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा । स्त्रियम्, स्त्रीम् । स्त्रियः, स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः २ । स्त्रियोः २ । परत्वान्नुट्[1] । स्त्रीणाम्–स्त्रियाम् । स्त्रीषु । श्रीः । श्रियौ । श्रियः ।

२४८ नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १ । ४ । ४ ॥

इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री । हे श्रीः ! । श्रियै[2] । श्रिये । श्रियाः २ । श्रियः २ ।

२४९ वाऽऽमि १ । ४ । ५ ॥

इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो न तु स्त्री । श्रीणाम्[3] । श्रियाम् २ । श्रियि । धेनुर्मतिवत् ।

२५० स्त्रियां च ७ । १ । ९६ ॥

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते ।

२५१ ऋन्नेभ्यो ङीप् ४ । १ । ५ ॥

१—स्त्री + आम, इत्यत्र 'स्त्रियाः' इति प्राप्तम् इयङादेशं परत्वाद् 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुड् बाधते, स्त्रीणाम् । सप्तम्यां तु स्त्री ङि, ङेराम्मि 'इयङ्' एव, न तु नुट्, अत्र—आमो लाक्षणिकत्वात्—'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति' न्यायात् । २—'ङिति ह्रस्वश्च' इति ङित्सु (ङे ङसि ङस् ङि इत्येतेषु) वा नदीसंज्ञा । श्री + (ङे) ए । 'आण्नद्याः' इत्याट्, 'आटश्च' इति वृद्धिः, इयङ् श्रियै । नच 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति ङित्स्वपि नदीसंज्ञानिषेध इति वाच्यम्, 'हे श्रीः' इति सम्बोधने तस्य चरितार्थत्वात्, ङिति पृथग्विधानाच्च । ३—नदीत्वपक्षे नुट् ।

२४७—स्त्री शब्द को इयङ् विकल्प से होता है अम् और शस् में ।

२४८—इयङ् उवङ् के स्थानी नित्य स्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार की नदी संज्ञा नहीं होती है स्त्री शब्द को छोड़ कर । (अर्थात् स्त्री शब्द की तो नदी संज्ञा होती ही है) ।

२४९—इयङ् उवङ् स्थानी, नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार की नदी संज्ञा होती है विकल्प से आम् परे रहते ; स्त्री को छोड़कर ।

२५०—स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्द के तृजन्त के सदृश रूप होते हैं ।

२५१—ऋदन्त और नान्तों से ङीप् होता है स्त्रीलिङ्ग में ।

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् । क्रोष्ट्री । गौरीवत् । वधूः । शेषं नदीवत् । भ्रूः[1] श्रीवत् । स्वयम्भूः पुंवत् ।

२५२ न षट्स्वस्रादिभ्यः[2] ४ । १ । १० ॥

एभ्यो ङीप्टापौ न स्तः ।

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा[3] दुहिता[4] तथा ।
याता[5] मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥'

स्वसा । स्वसारौ । माता पितृवत् । शसि मातृः । द्यौर्गोवत् । राः पुंवत् । नौर्ग्लौवत् ।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

२५३ अतोऽम् ७ । १ । २४ ॥

अतोऽङ्गात्क्लीबात् स्वमोरम्[6] । ज्ञानम् । एङ्ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः[7] । हे ज्ञान ।

१—हे सुभ्रूः ! । २—षट्-संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्-टापौ न स्त इति सूत्रार्थः । ३—ननान्दा, ननान्दरौ, ननान्दरः, ननान्दरम्, ननान्दरौ, ननान्दॄः । ननान्द्रा । ननान्द्रे । ननान्दुः २ । ननान्द्रोः २ । ननान्दरि । हे ननान्दः ! । ननान्दा = पत्युर्भगिनी, (ननद इति भाषायाम्) । ४—दुहिता, दुहितरौ, दुहितरः । ५—याता, यातरौ, यातरः, (भ्रातृभार्याः परस्परं यातरः) ।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

६—अमोऽम्-विधानम् "स्वमोर्नपुंसकात्" इति प्राप्तस्य लुको बाधनार्थम् । ७—मकारलोपः, सम्बुद्धिलोपस्य नित्यत्वेन सोरेव वा प्राग्लोपः ।

२५२—षट्संज्ञक और स्वस्रादियों से ङीप् और टाप् नहीं होते । (स्वसृ, तिसृ, चतसृ इत्यादि सात शब्द स्वस्रादि कहे गये हैं ।)

इति स्त्रीलिङ्ग प्रकरण ।

अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण ।

२५३—अदन्त नपुंसक अंग से परे सु और अम् को अम् होता है ।

२५४ नपुंसकाच्च ७ । १ । १९ ॥
क्लीबादौङः शी स्यात् । भसंज्ञायाम्[1] ।

२५५ यस्येति च ६ । ४ । १४८ ॥
ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः । इत्यकारलोपे प्राप्ते (औङः श्यां[2] प्रतिषेधः) ज्ञाने ।

२५६ जश्शसोः शिः ७ । १ । २० ॥
क्लीबात्[3] ।

२५७ शि सर्वनामस्थानम् १ । १ । ४२ ॥

२५८ नपुंसकस्य झलचः ७ । १ ७२ ॥
झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने ।

२५९ मिदचोऽन्त्यात्परः १ । १ । ४७ ॥
अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित्स्यात् । उपधादीर्घः । ज्ञानानि[4] । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । एवं धन-वन फलादयः ।

१—"सुडनपुंसकस्य" इति नपुंसकवर्जमेव सुटः सर्वनामस्थानसंज्ञा । तेनात्र "यचि भम्" इति 'भ' संज्ञा । २—औङ्स्थानिके शीभावेऽल्लोपो ("यस्येति च" इति प्राप्तः) न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः । ३—क्लीबादनयोः शिः स्यादिति सूत्रार्थः । ४—ज्ञान + (जस्) शि, शकारस्येत्संज्ञालोपौ, सर्वनामस्थानसंज्ञायां नुम्, ज्ञानन् इ इति स्थितौ, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इत्युपधादीर्घः ।

२५४—नपुंसक अंग से परे औङ् को शी होता है ।

२५५—भसंज्ञक इवर्ण अवर्ण का लोप होता है ईकार और तद्धित परे रहते । (औङ स्थानिक शी परे रहते लोप नहीं होता) ।

२५६—नपुंसक से परे जस् तथा शस् को शि होता है ।

२५७—शि की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ।

२५८—झलन्त और अजन्त नपुंसक अंग को नुमागम होता है सर्वनामस्थान परे रहते ।

२५९—मित् आगम अचों में से अन्त्य अच से परे और उसी का अन्तावयव होता है ।

२६० अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७ । १ । २५ ॥

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड्[1] आदेशः ।

२६१ टेः ६ । ४ । १४३ ॥

डिति भस्य टेर्लोपः । कतरत् । कतरद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् ! शेषं पुंवत् । इतरत् । अन्यत् २ । अन्यतरत् २ । अन्यतमशब्दस्य तु[2] अन्यतममित्येव (एकतरात्[3]प्रतिषेधः) एकतरम् ।

२६२ ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १ । २ । ४७ ॥

अजन्तस्येत्येव । श्रीपं[4] ज्ञानवत् ।

२६३ स्वमोर्नपुंसकात्[5] ७ । १ । २३ ॥

लुक् । वारि ।

२६४ इकोऽचि विभक्तौ ७ । १ । ७३ ॥

इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् अचि विभक्तौ । वारिणी । वारीणि[6] । न लुमतेत्यस्यानित्यत्वात् पक्षे संबुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे ! हे वारि ! । घेर्ङितीति गुणे

१—इत्करणं टिलोपार्थम् । २—नायं तमप्प्रत्ययान्तः, किन्तु अव्युत्पन्न-प्रातिपदिकः, तस्माद् बहुविषये निर्धारणे वर्तते "डतम" प्रत्ययान्तत्वाभावादेव न सर्वनामसंज्ञापि, ततश्च अन्यतमाय । अन्यतमात् । अन्यतमानाम् । अन्यतमे । इत्येतान्येव रूपाणि नतु स्मैस्मात्-सुट्-स्मिन्घटितानि । ३—अद्डादेशस्येति भावः । ४—श्रीपं, श्रीपे, श्रीपाणि, २ । श्रीपेण । णत्वं च "एकाजुत्तरपदे णः" इत्यनेन । ५—लुगित्यनुवर्तते । ६—वारि=(जस्) शि, 'शि' इत्यस्य सर्व-नामस्थानत्वात् "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" इति दीर्घः । ७—अनित्यत्वे च ज्ञापकम् 'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यत्राचिग्रहणमेव, तच्चेत्थम्—सूत्रे 'अचि'-ग्रहणाभावे

२६०—नपुंसकलिंग में डतरादि पाँच से परे सु अम् को अद्ड् आदेश होता है ।

२६१—डित्प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक टि का लोप होता है ।

(वा०—एकतर शब्द से परे सु और अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता) ।

२६२—नपुंसकलिंग में अजन्त प्रातिपदिक ह्रस्व होता है ।

२६३—नपुंसक अंग से परे सु और अम् का लुक् होता है ।

२६४—नपुंसक इगन्त अंग को नुम् होता है अजादि विभक्ति परे रहते ।

(वा०—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव, गुण की अपेक्षा नुम् होता है पूर्वविप्रतिषेध से) ।

प्राप्ते । (वृद्ध्यौत्व-तृज्वद्भाव-गुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन) । वारिणे । वारिणः २ । वारिणोः २ । नुमचिरेति नुट् । 'नामि' इति दीर्घः । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् ॥

२६५ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७ । १ । ७४ ॥

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा टादावचि । अनादये, अनादिने इत्यादि । शेषं वारिवत् ।

'यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते ।
क्लीबवृत्तौ तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥
पीलुर्वृक्षः फलं पीलु, पीलुने नतु पीलवे ।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जन्ये तत्फले पुनः ॥'

पीलुर्वृक्षः, फलं पीलु अस्मै-पीलुने । न तु पुंवत् । प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् ।

२६६ अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७ । १ । ७५ ॥

टादावचि ।

वारिभ्यामित्यादौ तु जातेऽपि नुमि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नकार-लोपात् न किञ्चिद् वैरूप्यम् । 'सु' विभक्तौ च सोर्लुकि, परतो विभक्तेरभावात् प्राप्नोत्येव न नुम्, नच 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' स्यादिति वाच्यम्, 'न लुमताङ्गस्य' इति तन्निषेधात् । तथा च व्यर्थं सद् 'अचि'-ग्रहणं 'न लुमताङ्गस्य' इत्यस्यानित्यत्वं ज्ञापयति ।

१—'नुमचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इत्यनेन । ननु नुम्नुटोः को विशेषः ? इत्यत आह—नामीति दीर्घः । नुमि तु सति तस्याऽङ्गभक्तत्वात् 'नामि' इति दीर्घो न स्यादित्यभिप्रायः ।

२६५—प्रवृत्तिनिमित्त एक होने पर, भाषितपुंस्क इगन्त नपुंसक शब्द को पुंवद्भाव होता है विकल्प से अच पर रहते ।

यन्निमित्तमिति—जिस निमित्त को लेकर शब्द पुंलिंग में प्रवृत्त होता है, नपुंसकलिंग में भी यदि वही निमित्त रहे तो वह शब्द "भाषितपुंस्क" कहलाता है । किन्तु 'पीलु' शब्द पुंलिंग में वृक्ष विशेष निमित्त रखता है, और नपुंसक मे तज्जन्य फल, अतः भाषितपुंस्क नहीं है । इसलिये चतुर्थी में 'पीलुने' यह एकही रूप बनेगा । 'पीलवे' नहीं बनेगा ।

२६६—अस्थ्यादि शब्दों को अनङ् होता है यदि अच परे रहते ।

२६७ अल्लोपोऽनः ६ । ४ । १३४ ॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्यय-परो योऽन् तस्याकारस्य लोपः । दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ ।

२६८ विभाषा ङिश्योः ६ । ४ । १३६ ॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याऽकारस्य लोपो वा ङिश्योः । दध्नि, दधनि । शेषं वारिवत् । एवमस्थिसक्थ्यक्षीणि । सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे !, हे सुधि ! । सुधिये सुधिने । इत्यादि । मधु मधुनि । मधूनि । हे मधो !, हे मधु ! । एवमम्ब्वादयः । सुलु । सुलुनी । सुलूनि । सुलुना इत्यादि । धातृ । धातृणी । धातॄणि । हे धातः !, हे धातृ ! । धात्रा । धातृणा । एवं ज्ञातृ-कर्त्रादयः ।

२६९ एच इग्घ्रस्वादेशे १ । १ । ४८ ॥

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात् । प्रद्यु । प्रद्युनी । प्रद्यूनि । प्रद्युना, इत्यादि । प्ररि । प्ररिणी । प्ररीणि । प्ररिणा । एकदेशविकृतमनन्यवत् । प्रराभ्याम् । प्ररीणाम् । सुनु । सुनुनी । सुनूनि । सुनुनेत्यादि ।

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

१—सु=शोभना धीर्यस्य तत्कुलम्=सुधि । 'ह्रस्वो नपुंसके...' इति ह्रस्वः, 'सुधि' शब्दो भाषितपुंस्कः, पुंल्लिङ्गे नपुंसकलिङ्गे च "शोभना धीर्यस्य" इति-एकमेवार्थमुपादाय प्रवृत्तत्वात् । २—"ह्रस्वो नपुंसके प्रा..." इत्यादिना आदिश्यमानेषु । ३—एचः स्थाने ह्रस्वः-अकार इक् च प्राप्नोति, तत्रायं नियमः (इगेव नतु—अकारः) । ४—प्रद्योशब्दः, नपुंसक-लिङ्गे एकारोदाहरणं च स्मृता इयेन तत्कुलं स्मृति, स्मृते-शब्दः । ५—प्ररैशब्दः । ६—प्ररि + भ्याम्, इत्यत्र एकदेशविकृतमनन्यवदिति 'रै' शब्दाभावेऽपि आत्वम् । प्रराभ्याम् । ७—सुनौ शब्दः । इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

२६७—अङ्ग का अवयव, सर्वनामस्थान से भिन्न यजादि स्वादिपरक जो अन् उसके अकार का लोप होता है ।

२६८—पूर्व सूत्रोक्त अन् के अकार का ङि और शी परे रहते विकल्प से लोप होता है ।

२६९—आदिश्यमान ह्रस्वों के मध्य में एच् के स्थान में इक् ही ह्रस्व होता है ।

इति अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण ।

अथ हलन्तपुंलिङ्गाः ।

२७० हो ढः ८ । २ । ३१ ॥

झलि पदान्ते च । लिट्[2], लिड् । लिहौ २ । लिहः । लिड्भ्याम् । लिट्सु, लिट्त्सु[3] ।

२७१ दादेर्धातोर्घः ८ । २ । ३२ ॥

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः ।

२७२ एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८ । २ । ३७ ॥

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् से ध्वे पदान्ते च । इह व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावः । धुक्, धुग् । दुहौ । दुहः । दुहा । धुग्भ्याम् । धुक्षु ।

अथ हलन्तपुंलिङ्गाः ।

१—हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते चेत्यर्थः । झलि परतः पूर्वस्य हकारस्य, पदान्ते विद्यमानस्य हकारस्य चेति भावः । ढकारस्तु न विहितः 'भ्रुट्' 'लेढि' इत्यादासिद्ध्याऽऽपत्तेः । २–लेढीति लिट् (कर्त्तरि क्विप्) सुलोपे, ढत्व, जश्त्वे, वा चर्त्वं च । ३—'डः सि धुट्' इति धुट्—'खरि च' इति चर्त्वम्, तस्याऽसिद्धत्वात् 'चयो द्वितीयाः...' इति तकारस्य थकारो न । ४—धातोरित्यनुवर्तते 'एकाचः झषन्तस्य' इति च धात्ववयवस्य विशेषणम् । एकाच् झषन्तश्च यो धात्ववयवः (व्यपदेशिवद्भावेन धातुर्वा) तस्य (तदवयवस्य बशः)=(ब-ग ड-दानाम्) भष् (भ, घ, ढ, धाः) स्यात्सकारे ध्वशब्दे च (परे) पदान्ते च, इति सूत्रार्थः । ५—अत्र हि 'धातोरेकाचः' इति वैयधिकरण्याऽऽश्रयणम् । तेन धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तस्य बशो भष—इत्यर्थः । ननु किमन्तस्य दुह्धातो. दादेर्धातोर्घः' इति घत्वेन झषन्तत्वेऽपि भष्भावो न स्यात् । 'दुघ्' इति समुदायस्य यः पूर्वोऽवयवो 'दु' इत्येकाच् न तद् झषन्तम् । यश्चोत्तराऽवयवः 'झप्' न तत्र बश् । इत्यत

अथ हलन्तपुंलिङ्गाः ।

२७०—हकार को ढकार होता है झल् परे रहते और पदान्त में ।

२७१—उपदेश में दकारादि धातु के अवयव 'ह' कार को 'घ' कार होता है झल् परे रहते और पदान्त में ।

२७२—धातु का अवयव जो एकाच् झलन्त, तदवयव बश् को भष् होता है सकार और ध्वशब्द परे रहते और पदान्त में ।

२७३ वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम् ८ । २ । ३३ ॥

एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च । ध्रुक्, ध्रुग् । ध्रुट् ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम् । ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु, ध्रुट्सु, ध्रुट्त्सु । एवं मुह् ।

२७४ धात्वादेः षः सः ६ । १ । ६४ ॥

स्नुक्, स्नुग् । स्नुट्, स्नुड् । एवं स्निह् ।

२७५ इग्यणः संप्रसारणम् १ । १ । ४५ ॥

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स संप्रसारणसंज्ञः स्यात् ।

२७६ वाह ऊठ् ६ । ४ । १३२ ॥

भस्य वाहः संप्रसारणमूठ् ।

२७७ संप्रसारणाच्च ६ । १ । १०८ ॥

संप्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः । विश्वौहः । इत्यादि ।

आह—व्यपदेशिवद्भावेनेति । विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेशः = मुख्यव्यवहारः सोऽस्याऽस्तीति व्यपदेशी तेन=(व्यपदेशिना) तुल्यं व्यपदेशिवत् । अमुख्ये मुख्यव्यवहार इति यावत्—राहोः शिर इतिवत् ।

१—द्रुह्+सुप्, हस्य घत्वे चर्त्वम्, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम्, क् ष् संयोगे क्षः । 'वा द्रुह' इति घत्वाभावपक्षे ढत्वे जश्त्वे च 'डः सि धुट्' इति वैकल्पिको 'धुट्' भष्भावश्च । २—ष्णुह् धातुः, षस्य सत्वे 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इति णस्थाने नत्वम् । ३—'भ' संज्ञकस्य । ४—'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन । ५—विश्ववाड्भ्याम्, विश्ववाड्भिः, इत्यादि । सुपि—विश्ववाट् (सु) त्सु, 'धुट्' वा । एवं भारं वहतीति भारवाट्, भारवाहौ, भारवाहः । भारवाहम्, भारवाहौ, भारौहः । भारौहा, भारवाड्भ्याम् । भारौहे । भारौहः २ । भारौहोः २ । भारौहाम् । भारौहि । भारवाट्सु, भारवाट्त्सु । इत्यादयः ।

२७३—द्रुह, मुह्, ष्णुह्, और ष्णिह् के ह को घ होता है विकल्प से झल् परे रहते और पदान्त में ।

२७४—धातु के आदि ष को स होता है ।

२७५—यण् के स्थान में हुए इक् की संप्रसारण संज्ञा होती है ।

२७६—भसंज्ञक वाह् शब्द को ऊठ् संप्रसारण होता है ।

२७७—संप्रसारण से अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश होता है ।

२७८ चतुरनडुहोरामुदात्तः ७ । १ । ९८ ॥

सर्वनामस्थाने ।

२७९ सावनडुहः ७ । १ । ८२ ॥

नुम् । आच्छीनद्योरिति सूत्रादादित्यधिकाराद् अवर्णात्परोऽयं नुम् । अतो विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते । अमा च नुम् न बाध्यते । सुलोपः, संयोगान्तलोपः, नुम्विधिसामर्थ्याद्वसुस्रंस्विति दत्वं न । संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न । अनड्वान्[1] ।

२८० अम्सम्बुद्धौ ७ । १ । ९९ ॥

चतुरनडुहोः । हे अनड्वन् ! । अनड्वाहौ । अनडुहः ।

२८१ वसु-स्रंसु-ध्वंस्वनडुहां दः ८ । २ । ७२ ॥

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान्[2] । पदान्ते किम् ? स्रस्तम्[3] । ध्वस्तम् ।

२८२ सहेः साडः सः ८ । ३ । ५६ ॥

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः । तुराषाट्[4] । तुराषाड् । तुरासाहौ । तुराषाड्भ्यामित्यादि ।

२८३ दिव औत् ६ । १ । १३१ ॥

दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात् सौ । सुद्यौः । सुदिवौ[5] ।

१—अनडुह् + सु, आम् (अनड्वाह् + सु), नुम्, अनड्वान्ह् + सु, सुलोपः, "संयोगान्तस्य..." इति हकारलोपः, तस्याऽसिद्धत्वान्नलोपो न, अनड्वान् । इह 'वसुस्रंसु...' इति दत्वं तु न, 'सावनडुहः' इति 'नुम्' विधानसामर्थ्यात् । २—(साम्प्रतम्) नायं सान्तः । ३—स्रस्+त (म्), ध्वस्+त (म्) । नात्र पदान्तत्वम् । ४—तुरम् (वज्रम्) साहयति (अन्येषामपीति दीर्घः) इति—तुराषाट् = इन्द्रः । ५—सुदिव् + सु, वकारस्य—औत्वे यणि सस्य रुत्वविसर्गौ ।

२७८—चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् होता है सर्वनामस्थान परे रहते ।

२७९—अनडुह् शब्द को नुमागम होता है सु परे रहते ।

२८०—अनडुह् शब्द को सम्बोधन में अमागम होता है ।

२८१—सान्त वस्वन्त और स्रंसादि के स को द होता है पदान्त में ।

२८२—साड्रूप सह् के स को ष होता है ।

२८३—प्रातिपदिक दिव् शब्द को औत् होता है सु परे रहते ।

२८४ दिव उत् ६ । १ । १३१ ॥

पदान्ते । सुद्युभ्यामित्यादि । चत्वारः । चतुरः चतुर्भिः । चतुर्भ्यः २ ।

२८५ षट्चतुर्भ्यश्च ७ । १ । ५५ ॥

एभ्य आमो नुडागमः स्यात् ।

२८६ रषाभ्यां नो णः समानपदे ८ । ४ । १ ॥[2]

चतुर्ण्णाम्[3] ।

२८७ रोः सुपि ८ । ३ । १६ ॥

रोरेव विसर्जनीयः सुपि । चतुर्षु[4] ।

२८८ मो नो धातोः ८ । २ । ६४ ॥[5]

पदान्ते । प्रशान्[6] । प्रशामौ ।

२८९ किमः कः ७ । २ । १०३ ॥[7]

विभक्तौ । कः । कौ । के[8] । इत्यादि ।

२९० इदमो मः ७ । २ । १०८ ॥[9]

१—चतुर्+(जस्) अस् । 'चतुरनडु...' इत्याम् । २–रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यादेकपदे । ३—'अचो रहाभ्यां' इति णस्य द्वित्वम् । ४—अनेन नात्र विसर्गः, चतुर्षु । रेफस्य 'इण्' प्रत्याहारान्तर्गतत्वादादेशप्रत्यययोरिति षत्वम् । ५—मान्तस्य धातोर्नः स्यात् पदान्ते—इति सूत्रार्थः । ६—'प्रशाम्' मकारान्तोऽयं शब्दः । 'प्रशान्' इत्यत्र "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति नलोपस्तु न 'मोनो धातोः' इति विहितस्य नत्वस्य त्रैपादिकत्वेनाऽसिद्धत्वात् । ७—'विभक्तौ' इत्यनुवर्तते । विभक्तौ परतः 'किम्' शब्दस्य 'क' आदेशः स्यादित्यर्थः । ८—किमः सर्वनामत्वात् 'जसः शी' इति शी, ततो गुणः=के । ९—'सौ' इत्यनुवर्तते । 'इदम्' शब्दस्य मकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे, इत्यर्थः ।

२८४—दिव् शब्द को उकार अन्तादेश होता है पदान्त में ।

२८५—षट्संज्ञक चतुर् शब्द से परे आम् को नुट् का आगम होता है ।

२८६—(समानपद में) रेफ षकार से परे न को ण होता है ।

२८७—सप्तमी के बहुवचन में रु के रेफ को ही विसर्ग होता है, अन्य रेफ को नहीं ।

२८८—धातु के म को न होता है पदान्त में ।

२८९—किम् को क आदेश होता है विभक्ति परे रहते ।

२९०—इदम् शब्द के म को म ही रहता है सु परे रहते ।

सौ । त्यदाद्यत्वापवादः[1] ।

२९१ इदोऽय् पुंसि ७ । २ । १११ ॥

इदम इदोऽय् सौ पुंसि[2] । अयम्[3] । त्यदाद्यत्वे ।

२९२ अतो गुणे ६ । १ । ९७ ॥

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः स्यात् ।

२९३ दश्च ७ । २ । १०९ ॥

इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ[4] । इमे[5] । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः[6] ।

२९४ अनाप्यकः ७ । २ । ११२ ॥

अककारस्य[7] इदम इदोऽनापि विभक्तौ । आबिति प्रत्याहारः[8] । अनेन[9] ।

२९५ हलि लोपः ७ । २ । ११३ ॥

अककारस्य इदम इदो लोप आपि हलादौ । (नानर्थकेऽलोन्त्यविधि-

१—'त्यदादीनामः' इति प्राप्तस्य अत्वस्य बाधनार्थमिदम्, इत्यर्थः । २—'इद्' भागस्य । ३—इदम्+सु, सुलोपः, इदः—अय् । ४—'इदम्+औ' अत्वम्, इद्धो मत्वम्, इमौ । ५—सर्वनामत्वाद् जसः शी । ६—प्रायः प्रयोगादर्शनमेवात्र मूलम् । इदं प्रायिकम्—'हे स !' इति भाष्यप्रयोगात् । ७—ककाररहितस्य 'इदम्' शब्दस्य य 'इद्' भागस्तस्य 'अन' आदेशः स्याद् आपि विभक्तौ परत इत्यर्थः । 'अकः' इत्युक्तेः साकच्कस्य 'अन' आदेशो हलि लोपश्च न, तेन इमकेन, इमकाभ्याम् इत्यादि । ८—(टा) आ इत्यारभ्य सुपः पकारपर्यन्तम् 'आप्'—प्रत्याहारः । ९—इदम्+टा, त्यदाद्यत्वं पररूपं च अनादेशः 'टाङसिङसा०...' इति टास्थाने 'इनः', गुणः अनेन । १०—अभ्यासविकारं वर्जयित्वाऽनर्थकेऽलोन्त्यविधिर्न भवतीत्यर्थः । अत्र 'इद्' इति समुदायैकदेशत्वादनर्थकः,

---

२९१—इदम् के इद् को अय् होता है सु परे रहते पुल्लिङ्ग में ।

२९२—अपदान्त अकार से गुण परे रहते पूर्वरूप एकादेश होता है ।

२९३—इदम् के द को म होता है विभक्ति परे रहते ।

२९४—ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग को अन् होता है आप् विभक्ति परे रहते ।

२९५—ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप होता है हलादि आप विभक्ति परे रहते ।

रनभ्यासविकारे)।

२६६ आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२१॥

एकस्मिन्क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव च स्यात्। सुपि चेति दीर्घः। आभ्याम्॥

२६७ नेदमदसोरकोः।७।१।११॥

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात्। एभिः। अस्मै। एभ्यः २। अस्मात्। अस्य। अनयोः[3] २। एषाम्। अस्मिन्। एषु॥

२६८ द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।३४॥

इदमेतदोरन्वादेशे। किंचित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः, यथा—अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापयेति। अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वमिति। एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः २। राजा॥

२६९ न ङि-सम्बुद्ध्योः ८।२।८॥

नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्!। (ङावुत्तरपदे प्रतिषेधः[6]) ब्रह्म-

---

(समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः, इति न्यायः) तेन सर्वस्यैव (इद् इत्यस्य) लोपः।

१—अनभ्यासविकारे किम्?—'बिभर्त्ति' इत्यादौ। 'भृञामित्' 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इतीत्वं कृत्स्नस्यैवाऽभ्यासस्य मा भूत्। द्वित्वे सति समुदायस्यैवाऽर्थवत्त्वात्। २—'बहुवचने झल्येत्' इति—एत्वम्। ३—'ओसि च' इत्येत्वेऽयादेशः। ४—'इदमोऽन्वादेशे' इति 'एतद्' इति चानुवर्तते। द्वितीयायाम् (अम्, औट्, शस्, इत्येतेषु) 'टा' विभक्तौ, 'ओसि' च 'इदम्' शब्दस्य एतच्छब्दस्य च 'एन' आदेशः स्यादन्वादेशे, इत्यर्थः। ५—राजन्+सु, 'हल्ङ्याप्' इति सुलोपः, नान्तस्य दीर्घे 'नलोपः प्राति...' इति नकारलोपः=राजा। ६—उत्तरपदे परतो यो ङि तस्मिन् परे 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति प्राप्तस्य निषेधस्य प्रति-

---

(वार्त्तिक अनर्थक में 'अलोन्त्यस्य' नहीं लगता अभ्यास विकार को छोड़कर)

२६६—एक में क्रियमाण कार्य आदि और अन्त की तरह होता है।

२६७—ककाररहित इदम् और अदस् शब्द से परे भिस् को ऐस् नहीं होता।

२६८—द्वितीयाविभक्ति टा ओस् परे रहते इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर एन आदेश होता है अन्वादेश में।

२६९—ङि और सम्बुद्धि परे रहते न का लोप नहीं होता। (वा० उत्तरपदपरक ङि परे रहते 'न ङिसम्बुद्ध्योः' प्रवृत्त नहीं होता)।

निष्ठः। राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ। जज्ञोर्ज्ञः। राज्ञः।

३०० नलोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति ८। २। २॥

सुब्विधौ स्वरविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र राजाश्व इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्त्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः। राज्ञि, राजनि॥ यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः॥

३०१ न संयोगाद्वमन्तात् ३। १३॥

व-मान्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः॥

३०२ इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ ६। ४। १२॥

एषां शावेवोपधाया दीर्घः॥

षेधो वक्तव्य इति निष्कृष्टोऽर्थः। ब्रह्मणि निष्ठा—अस्येति विग्रहः, अत्र नलोपो भवत्येव, समासे 'निष्ठा' इत्यस्य उत्तरपदत्वात् 'उत्तरपदं समासस्य चरमावयवे रूढम्'।

१—राजन्+(शस्) अस्, 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपः। श्चुत्वम्। जज्ञोर्ज्ञः, अयं च (ज्ञः) लोकवेदप्रसिद्धध्वनिविशेष–(बोधकलिपि) सङ्केतो न तु वर्णान्तरम्, प्रमाणानुपलम्भात्। केचिदेनं 'ग्य'—वद् 'जय'—वद् वा उच्चारयन्ति, तन्न समीचीनम्, किन्तु 'ज्ञ' इत्यस्य यथोच्चारणं स्यात्तथोच्चारणीयम्। २—ननु 'राजभ्याम्' इत्यादौ नलोपस्य 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेनासिद्धत्वात्किमर्थं 'न लोपः सुप्स्वर...' इति सूत्रारम्भ इति चेन्न, तस्य नियमार्थत्वात् 'सिद्धौ सत्यामारभ्यमाणो विधिर्नियमाय' इति हि न्यायः। नियमस्वरूपं चेदम् 'नलोपश्चेदसिद्धः स्यात्तर्हि सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिष्वेव' इति। तेन 'राजाश्वः' इत्यत्र षष्ठीसमासे नलोपे—राज+अश्व, इत्यत्र सुबादिविधित्वाभावेन नलोपस्य नासिद्धत्वमिति "अकः सवर्णे दीर्घः"। ३–'सुपि च' इति—आत्वं 'राजभ्याम्' इत्यत्र प्राप्तम्, "बहुवचने झल्येत्" इति एत्वं 'राजभ्यः' इत्यत्र प्राप्तम्, "अतो भिस ऐस्" इति ऐस्त्वम् 'राजभिः' इत्यत्र। ४—'विभाषा ङिश्योः' इति विकल्पेन—'अ'कारलोपः।

३००—सुब्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृत्प्रत्ययपरक तुग्विधि में न का लोप असिद्ध होता है, अन्यत्र नहीं।

३०१—वकारान्त मकारान्त संयोग से परे अन् के अकार का लोप नहीं होता।

३०२—इन् हन् पूषन् और अर्यमन् शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है केवल शि परे रहते, अन्यत्र नहीं।

३०३ सौ च ६।४।१३॥

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ। वृत्रहा। हे वृत्रहन्!॥

३०४ एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदं[1] यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिस्थस्य नस्य णत्वं स्यात्। वृत्रहणौ[2]। वृत्रहणः॥

३०५ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४॥

ञिति णिति प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्॥

३०६ हन्तेः ८।४।२२॥

उपसर्गस्थान्निमित्ताद्धन्तेर्नस्य णः। प्रहण्यात्॥

३०७ अत्पूर्वस्य ८।४।२२॥

हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णो नान्यस्य। प्रघ्नन्ति। योगविभागसामर्थ्यादनन्तरस्य[3] विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति न्यायं बाधित्वा कुमति चेति णत्वमपि निवर्तते। वृत्रघ्नः[4], इत्यादि॥ एवं शार्ङ्गिन्। यशस्विन्। अर्यमन्। पूषन्॥

३०८ मघवा बहुलम् ६।४।१२८॥

मघवन्-शब्दस्य वा तृ इत्यन्तादेशः। ऋ इत्॥

१—उत्तरपदशब्दः समासस्य चरमावयवे रूढः। २—अत्र प्रातिपदिकान्त-नकारस्य णकारः। ३—यदि 'अत्पूर्वस्य' इत्यनेन 'हन्तेः' इति णत्वमेव व्यावर्त्येत, तर्हि (हन्तेरत्पूर्वस्य) इत्येकमेव सूत्रं स्यात्, 'उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेरत्पूर्वस्य नस्य णत्वम्' इत्येतावतैव 'प्रघ्नन्ति' इत्यत्र णत्वनिवृत्तिसम्भवात्। तस्माद् योगविभाग-सामर्थ्यात् णत्वमात्रस्यायं नियम इति बोध्यम्। अपिशब्देन "प्रातिपदिकान्तस्य" इति च। ४—वृत्रहन्+(शस्) अस्, अल्लोपः, हस्य कुत्वम् (घः)।

३०३—इन्नादि की उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते।

३०४—एक अच् है उत्तरपद में जिसके ऐसा जो समास उसमें पूर्वपदस्थित निमित्त रेफ षकार से परे प्रातिपदिकान्तनुम् और विभक्तिस्थित न को ण होता है।

३०५—ञित्, णित् प्रत्यय और नकार परे रहते हन् के ह को कुत्व होता है।

३०६—उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन् के न को ण होता है।

३०७—हन् के अत् पूर्व नकार को ही णकार होता है अन्य को नहीं।

३०८—मघवन् शब्द को तृ अन्तादेश होता है विकल्प से।

३०९ उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७ । १ । ७० ॥

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे । मघवान्[1] । इह उपधादीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवति, बहुलग्रहणात्[2] । मघवन्तौ । (शसि) मघवतः । मघवता । तृत्वाभावे मघवा[3] । सुटि[4] राजवत् ॥

३१० श्व-युव-मघोनामतद्धिते ६ । ४ । १३३ ॥

अन्नन्तानां भानामेषामतद्धिते परे संप्रसारणं स्यात् । मघोनः[6] । मघवभ्यामित्यादि । एवं श्वन् । युवन् ॥

३११ न संप्रसारणे संप्रसारणम्[7] ६ । १ । ३७ ॥

इति यकारस्य नेत्वम् । अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम् । यूनः । युवभ्यामित्यादि ॥ अर्वा । हे अर्वन् ! ॥

१—नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वमिति न सर्वादेशः 'तृ' इति । 'तृ' इत्यन्तादेशपक्षे तकारस्य संयोगान्तलोपः तस्याऽसिद्धत्वान्नलोपो न, उपधादीर्घः । २—बहून् अर्थान् लातीति बहुलम्, क्वचिदन्यदेवेत्यर्थकादित्यर्थः । ३—तृत्वाऽभावपक्षे 'मघवन्' शब्दो नान्तः, उपधादीर्घो नलोपश्च । ४—सुटि—'सु-औ-जस्-अम्-औट्' इति पञ्चवचनेषु । ५—अस्मिन् सूत्रे सुभाषितमेतत्—

काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे
ग्रथ्नासि बाले ! किमिदं विचित्रम् ? (प्र०) ।
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे
श्वानं युवानं मघवानमाह ॥ (उ०) ॥ १ ॥

६—मघवन् + (शस्) अस्, वकारस्य—उत्वे=(सम्प्रसारणे) पूर्वरूपे च गुणः, मघोनः । टा-ङे-ङसि-ङस्-ओस्-आम्-ङि विभक्तिषु क्रमेण मघोना । मघोने । मघोनः २ । मघोनोः २ । मघोनाम् । मघोनि । ७—सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यादित्यर्थः । ८—युवन् + (शस्) अस्, वस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपं सवर्णदीर्घः । ९—'अर्वन्' इति नान्तोऽयं शब्दः । 'अर्वन्तौ' इत्यत्र अर्वन् + औ, इति स्थितौ 'तृ' इत्यन्तादेशः, 'उगिदचां...' इति नुम्, अनुस्वारः परसवर्णश्च ।

३०९—धातुभिन्न उगित् और नलोपी अञ्चति को नुम् होता है सर्वनामस्थान परे रहते ।

३१०—अन्नन्त भसंज्ञक श्वन् युवन् और मघवन् शब्द को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है ।

३११—संप्रसारण परे रहते पूर्व यण् को संप्रसारण नहीं होता ।

३१२ अर्वणस्त्रसावनञः ३ । ४ । १२७ ॥

नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्य तु इत्यन्तादेशो न तु सौ । अर्वन्तौ । (शसि) अर्वतः । अर्वद्भ्याम् ॥

३१३ पथि-मथ्यृभुक्षामात् । ७ । १ । ८५ ॥

एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ ॥

३१४ इतोऽत्सर्वनामस्थाने[2] ७ । १ । ८६ ॥

पथ्यादेः ॥

३१५ थो न्थः ७ । १ । ८७ ॥

पथिमथोस्थस्य न्थादेशः सर्वनामस्थाने । पन्थाः । हे पन्थाः ! । पन्थानौ । पन्थानः ॥

३१६ भस्य टेर्लोपः ७ । १ । ८८ ॥

पथ्यादेर्भस्य टेर्लोपः । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । एवं मन्थाः[3] । ऋभुक्षाः ।

३१७ ष्णान्ता षट् १ । १ । २४ ॥

षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात् । पञ्च[4] २ । पञ्चभिः । षट्चतुर्भ्यश्चेति नुट् ॥

३१८ नोपधायाः[5] ६ । ४ । ७ ॥

नान्तस्योपधाया दीर्घो नामि । पञ्चानाम् । पञ्चसु ॥

१—अन्त्यस्य = नकारस्याऽऽकार इत्यर्थः । २—पथ्यादेरिकारस्याऽकारः स्यात्सर्वनामस्थाने परे, इत्यर्थः । ३—मन्थाः, मन्थानौ । शसादौ–मथः, मथा, इत्यादि । ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ । शसादौ–ऋभुक्षः, ऋभुक्षा-इत्यादि । ४–'षड्भ्यो लुक्' इति जस्-शसोर्लुक्, नलोपश्च । ५—नुटि नलोपे तु तस्याऽसिद्धत्वान्नामीति न प्रवर्ततेऽतोऽयमारभ्यते ।

३१२—नञ्रहित अर्वन् अङ्ग को तु अन्तादेश होता है सु परे रहते नहीं होता।

३१३—पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् को आकार अन्तादेश होता है सु परे रहते ।

३१४—पथ्यादिक के इकार को आकार अन्तादेश होता है सर्वनामस्थान परे रहते ।

३१५—पथिन्, मथिन् के थ को न्थ आदेश होता है सर्वनामस्थान परे रहते।

३१६—भसंज्ञक पथ्यादि की टि का लोप होता है ।

३१७—षान्त नान्त संख्या की षट् संज्ञा होती है ।

३१८—नान्त की उपधा को दीर्घ होता है नाम् परे रहते ।

३१९ अष्टन आ विभक्तौ ७ । २ । ८४ ॥

हलादौ वा स्यात् ॥[1]

३२० अष्टाभ्य औश् ७ । १ । २१ ॥

कृताकारादष्टनो[2] जश्शसोरौश् । अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसो-विषये आत्वं ज्ञापयति । अष्टौ[3] २ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः २ । अष्टानाम्[4] । अष्टासु । आत्वाभावे—अष्ट पञ्चवत् ।

३२१ ऋत्विग्-दधृक्-स्रग्-दिगुष्णिगञ्चु-युजि-क्रुञ्चां च[5] ३ । २ । ५९ ॥

एभ्यः क्विन्[6] । अञ्चेः सुप्युपपदे । युजिक्रुञ्चोः केवलयोः । क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते । कनावितौ ॥

३२२ कृदतिङ् ३ । १ । ९३ ॥

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः ॥

३२३ वेरपृक्तस्य ६ । १ । ६७ ॥

अपृक्तस्य वस्य लोपः ॥

३२४ क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८ । २ । ६२ ॥

क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते । अस्याऽसिद्धत्वाच्चोः कुरिति कुत्वम् । ऋत्विक्[7], ऋत्विग् । ऋत्विग्भ्याम् ॥

१—'रायो हलि' इत्यतः—'हलि' इत्यपकृष्यते । 'अष्टनो दीर्घाद्' इति सूत्रे दीर्घग्रहणसामर्थ्यादस्य (आत्वस्य) वैकल्पिकत्वमवगम्यते । २—(सूत्रे) 'अष्टाभ्यः' इत्यस्य स्थाने । ३—'अष्टन् + जस्' नकारस्याऽऽत्वे सवर्णदीर्घे जस औश् वृद्धिः । ४—'षट्चतुर्भ्यः' इत्यनेन नुटि 'नोपधायाः' इति दीर्घे नलोपः । ५—(सूत्रे) चकारादिदं लभ्यते । ६—क्विन् प्रत्यये ककार-नकारौ—इत्संज्ञौ । ७—'ऋतुषु यजति' इति विग्रहः, क्विन्प्रत्यये 'वचिस्वपि...' इति संप्रसारणं पूर्वरूपं यणादेश-

---

३१९—अष्टन् को आत्व होता है विकल्प करके हलादि विभक्ति परे रहते ।

३२०—कृताकार अष्टन् शब्द से परे जस् शस् को औश् आदेश होता है ।

३२१—ऋत्विज् आदि शब्द क्विन्प्रत्ययान्त निपातित है । अञ्चु धातु से सुप् उपपद रहते; युजि क्रुञ्च् केवल से क्विन् होता है । क्रुञ्च् धातु से क्विन् और न-लोपाभाव निपातित है ।

३२२—सन्निहित धात्वधिकार में पठित तिङ्भिन्न प्रत्ययों की कृत्संज्ञा होती है ।

३२३—अपृक्त वकार का लोप होता है ।

३२४—क्विन् प्रत्यय जिससे किया जाए उसको कवर्ग अन्तादेश होता है

३२५ युजेरसमासे ७।१।७१॥

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे। सुलोपः। संयोगान्तस्य लोपः। कुत्वेन नस्य ङः। युङ्। अनुस्वार-परसवर्णौ, युञ्जौ। युञ्जः। युजः। युजा। युग्भ्याम्। असमासे किम्?

३२६ चोः कुः ८।२।३०॥

चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च। सुयुक्[१]। सुयुजौ। सुयुजः। सुयुग्भ्याम्। खन्[२]। खञ्जौ। खञ्जः। खन्भ्याम्।

३२७ व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राज-च्छ-शां षः ८।२।३६॥

झलि पदान्ते च। जश्त्वचर्त्वे। राट्[४], राड्। राजौ। राजः। राड्भ्याम्। एवम्—विभ्राट्। देवेट्[६]। विश्वसृट्। परिमृट्। (परौ व्रजेः षः पदान्ते) परावुपपदे व्रजेः क्विप् दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि। परित्यज्य सर्वं व्रजतीति परिव्राट्। परिव्राजौ।

३२८ विश्वस्य वसुराटोः ६।३।१२८॥

विश्वस्य दीर्घः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे। राडिति पदान्तोपलक्षणार्थम्।

श्चेति। 'ऋत्विज्+सु' 'हल्ङ्याबिति' लोपे, 'चोः कुः' इति कुत्वम्। वा चर्त्वम्।

१—'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यनेन। २—अत्र 'युजेरसमासे' इति समासे 'नुम्' निषेधाद् न नुम्। ३—नायं क्विन्प्रत्ययान्तः, किन्तु क्विबन्तः, तेन न कुत्वम्। 'खञ्ज्' शब्दोऽयम्। ४—एषामन्त्यस्य षः। ५—षस्य जश्त्वेन डः, वा चर्त्वम्। ६—'देवान् यजति' इति विग्रहः, क्विपि सम्प्रसारणम्, पररूपम्, गुणः। 'देवेज् शब्दः'। ७—'निपात्यते' इति शेषः। परित्यज्य (गृहादिकम्) व्रजति इति परिव्राट्=संन्यासी। ८—'राट्' इति टकारविशिष्टग्रहणं पदान्तोपलक्षणार्थम्।

पदान्त में।

३२५—युज् धातु को नुम् होता है सर्वनामस्थान परे रहते, समास में नहीं होता।

३२६—चवर्ग को कवर्ग आदेश होता है झल् परे रहते पदान्त में।

३२७—व्रश्चादि सात और छान्त शान्त को षकार अन्तादेश होता है झल् परे रहते और पदान्त में। (वा० परिपूर्वक व्रजधातु को क्विप् होता है और दीर्घ होता है तथा षकार होता है पदान्त में)।

३२८—विश्व शब्द को दीर्घ होता है वसु और राट् परे रहते।

विश्वाराट्। विश्वराजौ। विश्वराड्भ्याम्।

३२९ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९ ॥

पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः। भृट्[1]। सस्य श्चुत्वेन शः। झलां जश् झशीति शस्य जः। भृज्जौ। भृज्जः। भृड्भ्याम्। त्यदाद्यत्वं पररूपत्वम्।

३३० तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६ ॥

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ। स्यः। त्यौ। त्ये। सः। तौ। ते। यः। यौ। ये। एषः। एतौ। एते। एनम्[7]। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः।

३३१ ङे-प्रथमयोरम् ७।१।२८॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः।

३३२ त्वाहौ सौ ७।२।९४॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य[8]।

३३३ शेषे लोपः ७।२।९० ॥

आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ-अनयोष्टिलोपः। त्वम्। अहम्।

उपलक्षणत्वं च—'स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम्'।

१—'भ्रस्ज्, धातोः क्विपि संप्रसारणम्, 'स्कोरि'ति सलोपः। जकारस्य-'व्रश्चे'ति षत्वे जश्त्वे च वा चर्त्वम्। २—'त्यदादीनामः' इति-अत्वम्। 'अतो गुणे' इति पररूपम्। ३—'त्यद्' शब्दस्येदं रूपम्। ४—इदं 'तद्' शब्दस्य। ५—'यद्'। ६—एतद्। ७—अन्वादेशे रूपाणि। ८—'युष्म्' 'अस्म्' इति भागस्य।

३२९—संयोग के आदि सकार ककार का लोप होता है पदान्त में और झल् परे रहते।

३३०—त्यदादियों के अन्त्यभिन्न त द को स होता है सु परे रहते।

३३१—युष्मद् अस्मद् से परे ङे और प्रथमा द्वितीया विभक्ति को अम् आदेश होता है।

३३२—युष्मद् अस्मद् के म पर्यन्त भाग के को त्व अह आदेश होते हैं सु परे रहते।

३३३—आत्व यत्व निमित्त से भिन्न विभक्ति परे रहते युष्मद् अस्मद् की टि का लोप होता है।

३३४ युवावौ द्विवचने ७ । २ । ९२ ॥

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

३३५ प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७ । २ । ८८ ॥

औङ्यतेयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् ।

३३६ यूय-वयौ जसि ७ । २ । ९३ ॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य । यूयम् । वयम् ।

३३७ त्वमावेकवचने ७ । २ । ९७ ॥

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

३३८ द्वितीयायां च ७ । २ । ८७ ॥

अनयोरात्स्यात् । त्वाम् । माम् ।

३३९ शसो न ७ । १ । २९ ॥

आभ्यां शसो नः । अमोऽपवादः[2] । आदेः परस्य । संयोगान्तलोपः । युष्मान् । अस्मान् ।

३४० योऽचि ७ । २ । ८९ ॥

अनयोर्यादेशोऽनादेशेऽजादौ विभक्तौ । त्वया । मया ।

१—'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः संज्ञा । २ 'ङे प्रथमयोः' इति विहितस्यामोऽपवादोऽयं नः ।

३३४—युष्मद् अस्मद् के म पर्यन्त भाग को युव आव आदेश होता है द्वित्व की उक्ति में विभक्ति परे रहते ।

३३५—युष्मद् अस्मद् को आकार होता है प्रथमा द्विवचन परे रहते लोक में।

३३६—युष्मद् अस्मद् के युष्म् अस्म् भाग को यूय वय आदेश होते हैं जस् परे रहते।

३३७—एकत्व की विवक्षा में युष्म् अस्म् को त्व-म आदेश होते हैं विभक्ति परे रहते ।

३३८—युष्मद् अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है द्वितीया विभक्ति परे रहते ।

३३९—युष्मद् अस्मद् से शस् को न आदेश होता है ।

३४०—युष्मद् अस्मद् को यकार आदेश होता है अनादेश अजादि विभक्ति परे रहते ।

३४१ युष्मदस्मदोरनादेशे ७ । २ । ८६ ॥

अनयोरात्स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

३४२ तुभ्य-मह्यौ ङयि ७ । २ । ९५ ॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य । टिलोपः[2] । तुभ्यम् । मह्यम् ॥

३४३ भ्यसोऽभ्यम् ७ । १ । ३० ॥

आभ्यां परस्य । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

३४४ एकवचनस्य च ७ । १ । ३२ ॥

आभ्यां ङसेरत् । त्वत् । मत्[5] ।

३४५ पञ्चम्या अत् ७ । १ । ३१ ॥

आभ्यां भ्यसः । युष्मत् । अस्मत् ।

३४६ तव-ममौ ङसि ८ । १ । ९६ ॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य ।

३४७ युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ८ । १ । २७ ॥

तव । मम । युवयोः २ । आवयोः २ ।

१—युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य 'तुभ्य-मह्यौ' आदेशौ स्तः 'ङे' विभक्तौ—इत्यर्थः । २—'शेषे लोपः' इत्यनेन । ३—युष्मदस्मद्भ्यां परस्य भ्यसः (चतुर्थी-बहुवचनस्य) 'अभ्यम्' इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । ४—पञ्चम्येकवचनस्येत्यर्थः । ५—'त्वमावेकवचने' इति त्व-मौ । ६—षष्ठ्येकवचने । ७—अशः शित्करणं सर्वादेशार्थम् । अन्यथा—'आदेः परस्य' इति स्यात् । ८—'युवावौ द्विवचने' इति युवावौ ।

३४१—युष्मद् अस्मद् को आकार आदेश होता है अनादेश हलादि विभक्ति परे रहते ।

३४२—युष्म् अस्म् को तुभ्य मह्य आदेश होते हैं ङे परे रहते ।

३४३—युष्मद् अस्मद् से भ्यस् को अभ्यम् आदेश होता है ।

३४४—युष्मद् अस्मद् से परे ङसि को अत् होता है ।

३४५—युष्मद् अस्मद् से परे पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होता है ।

३४६—युष्म् अस्म् को तव मम आदेश होते हैं ङस् परे रहते ।

३४७—युष्मद् अस्मद् से परे ङस् को अश् होता है ।

३४८ साम आकम् ७ । १ । ३३ ॥

आभ्यां साम[1] आकम् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युष्मासु[2] । अस्मासु ।

३४९ युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८ । १ । २० ॥

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ ।

३५० बहुवचनस्य वस्-नसौ ८ । १ । २१ ॥

उक्तविषयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः ।

३५१ तेमयावेकवचनस्य ८ । १ । २२ ॥

उक्तविषयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः ।

३५२ त्वामौ द्वितीयायाः ८ । १ । २३ ॥

उक्तविषयोर्द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वामौ स्तः[3] ।

> श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः ।
> स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः ॥ १ ॥

१—'आकम्-आदेशानन्तरम्-अन्त्यलोपपक्षे ('शेषे लोपः' इत्यत्रार्थे मतद्वयम् 'आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ-एतयोरन्त्यस्य लोपः' इत्येकम्, अपरं च 'शेषे' इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी, तथा च मपर्यन्ताच्छेषस्य लोपः' इत्यर्थः, तत्रान्त्यलोपपक्षे इदम्) प्राप्तस्य ('आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति) सुटो निवृत्त्यर्थं ('साम' इति) ससुट्क-निर्देशः । २-'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यात्वम् । ३-इत्थमत्र विवेकः-द्वितीयैकवचने 'त्वा-मा' । चतुर्थीषष्ठ्येकवचनयोः 'ते-मे' इति । विभक्तित्रयबहुवचनेषु वस्-नसौ । सर्वत्र द्विवचने 'वाम्' 'नौ' इति भवतः । ४—श्रीश इति । श्रीशः = परमात्मा, त्वा=त्वाम्, मा=माम्, इह अवतु = रक्षतु । स श्रीशः ते = तुभ्यम्, मे=मह्यम्, अपि शर्म = सुखम्, दत्तात् = दद्यात् । स हरिः, ते = तव, मे=मम, स्वामी = ईश्वरः । विभुः = विष्णुः, वाम् = युवाम्, नौ = आवाम्, पातु = रक्षतु ।

३४८—युष्मद् अस्मद् से परे साम् को आकम् आदेश होता है ।

३४९—पद से परे अपाद के आदि में स्थित षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयाविशिष्ट युष्मद् अस्मद् शब्दों को वाम् नौ आदेश होते हैं ।

३५०—बहुवचन में पूर्ववत् षष्ठ्यादिविशिष्टों को वस् नस् आदेश होते हैं ।

३५१—पूर्ववत् स्थितों को षष्ठी और चतुर्थी के एकवचन में ते मे आदेश होते हैं ।

३५२—पूर्ववत् स्थितों की द्वितीया के एकवचन में त्वा मा आदेश होते हैं ।

सुखं[1] वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः ।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात्सेव्योऽत्र वः स नः ॥ २ ॥

(एकवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः) (एकतिङ् वाक्यम्) तेनेह न । ओदनं पच तव भविष्यति । इह तु स्यादेव शालीनां ते-ओदनं दास्यामि । (एते वांनावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः) । अन्वादेशे तु नित्यं[3] स्युः । धाता ते भक्तोऽस्ति । तव भक्तोऽस्तीति वा । तस्मै ते नम इत्येवं ।

३५३ न च-वाहाहैवयुक्ते ८ । १ । २४ ॥

चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः । हरिस्त्वां मां च रक्षतु । कथं त्वां मां वा न रक्षेदित्यादि ।

३५४ पश्यार्थैश्चानालोचने ८ । १ । २५ ॥

अचाक्षुषज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे नैते आदेशाः स्युः । चेतसा त्वां समीक्षते । आलोचने[4] तु भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा ।

३५५ सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ८ । १ । २६ ॥

विद्यमानपूर्वात्प्रथमान्तादन्वादेशेऽप्येते आदेशा वा स्युः । भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम् । त्वा मेति वा ।

३५६ सोऽऽमन्त्रितम् २ । ३ । ४८ ॥

सम्बोधने या प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात् ।

१—सुखं वामिति, ईशः, वाम्=युवाभ्याम्, नौ=आवाभ्याम्, सुखं ददातु । हरिः, वाम्=युवयोः, नौ=आवयोः पतिः=पालकः । सः=ईशः, वः=युष्मान्, नः=अस्मान्, अव्यात्=रक्ष्यात् । वः=युष्मभ्यम्, नः=अस्मभ्यम्, शिवम्=कल्याणं दद्यात् । अत्र= संसारे,स हरिः, वः=युष्माकम्, नः=अस्माकम्, सेव्यः=भजनीयः । इत्युदाहरणानि। २—अत्र तु तिङ् (तिङन्त-)द्वयम् । ३—नित्यमित्यर्थः । ४—चाक्षुषज्ञाने । ५—'सा' इत्यनेन

(वा०-(१) समान वाक्य में युष्मद् अस्मद् को उक्त आदेश होते हैं । (२) एक तिङ् को वाक्य कहते हैं । (३) ये वां नौ आदि आदेश अनन्वादेश में विकल्प से होते हैं, अन्वादेश मे नित्य) ।

३५३—च वा ह अह एव इन पाँचों के योग में पूर्वोक्त आदेश नहीं होते ।

३५४—अचाक्षुष ज्ञानार्थक धातुओं के योग में पूर्वोक्त आदेश नहीं होते ।

३५५—विद्यमान पूर्व प्रथमान्त से परे युष्मद् अस्मद् को अन्वादेश में भी पूर्वोक्त आदेश विकल्प से होते है ।

३५६—सम्बोधन में प्रथमान्त की आमन्त्रित संज्ञा होती है ।

३५७ आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८ । १ । ७२ ॥

अग्ने तव[2] । देवास्मान्पाहि ।

३५८ नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ८ । १ । ७३ ॥

विशेष्यं समानाधिकरणे विशेषणे आमन्त्रिते परे नाविद्यमानवत् । हरे दयालो नः पाहि । सुपात् । सुपाद् । सुपादौ ।

३५९ पादः पत् ६ । ४ । १३० ॥

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् । अग्निमत् । अग्निमद् । अग्निमथौ । अग्निमद्भ्याम् ।

३६० अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६ । ४ । २ ॥

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति च । उगिदचामिति नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन ङः । प्राङ्[6] । प्राञ्चौ । प्राञ्चः ।

३६१ अचः ६ । ४ । १३८ ॥

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः ।

प्रथमा परामृश्यते ।

१—सदपि–असद्वदित्यर्थः । तत्र पदात्परत्वं न स्यादिति भावः । २—इत्यत्र 'अग्ने !' अविद्यमानवत् । ३—इत्यत्र 'देव' शब्दोऽविद्यमानवत् । अत्र–उभयत्रापि ते-नसौ–आदेशौ न भवतः । 'तव' 'अस्मान्' इत्येतयोः पदात्परत्वाभावात् । ४—अत्र 'दयालो !' इति समानाधिकरणविशेषणे परे हरिशब्दो नाऽविद्यमानवत् । ततश्च 'दयालो' इत्यस्याऽविद्यमानवत्त्वेऽपि 'हरे !' इति पदात्परत्वान्नसाऽऽदेश इति भावः । ५—'अग्निं मथ्नाति' इति विग्रहः, थान्तोऽयम् । ६—प्राञ्च्+सु, नलोपः, नुम्, 'संयोगान्तस्य...' इति चकारलोपः, 'न'कारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यनेन ङः ।

३५७—पूर्वस्थित आमन्त्रित अविद्यमानवत् होता है ।

३५८—समानाधिकरण आमन्त्रित विशेषण परे रहते विशेष्य वाचक पद अविद्यमानवत् नहीं होता ।

३५९—पाद शब्द को पद् आदेश होता है ।

३६०—हलन्त अनिदित् अङ्ग की उपधा के न का लोप होता है कित्, ङित् परे रहते ।

३६१—लुप्तनकारक अञ्चु के भसंज्ञक अकार का लोप होता है ।

३६२ चौ ६ । ४ । १३८ ॥

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् ॥ प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः[1] । प्रत्यग्भ्याम् ॥ उदङ् । उदञ्चौ ।

३६३ उद ईत् ६ । ४ । १३९ ॥

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् ।

३६४ समः समि ६ । ३ । ९३ ॥

अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे[2] । सम्यङ् । सम्यञ्चौ । समीचः[3] । सम्यग्भ्याम् ।

३६५ सहस्य सध्रिः ६ । ३ । ९५ ॥

तथा[4] । सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्रीचः । सध्र्यग्भ्याम् ।

३६६ तिरसस्तिर्यलोपे ६ । ३ । ९४ ॥

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ अप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः[5] । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिरश्चः । तिरश्चा । तिर्यग्भ्याम् ।

३६७ नाञ्चेः पूजायाम् ६ । ४ । ३० ॥

पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न । प्राङ् । प्राञ्चौ । नलोपाभावादलोपो

१—प्रत्यञ्च्+(शस्) अस्, नलोपः, 'अच' इत्यकारलोपः, 'चौ' पूर्वस्याऽणः ('प्रति' इत्येतद्गतस्य 'इ'कारस्य) दीर्घः=प्रतीचः । २—'सम्' इत्यस्य 'समि' इत्यादेशः । ३—'न' लोपः, 'अ' लोपः, दीर्घः, यथा प्रतीचः । ४—अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे 'सह' इत्यस्य 'सध्रि' इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । ५—'तिरि'-आदेशः । 'तिरश्चः' इत्यत्र 'अच' इति-अकारलोपात्र तिर्यादेशः ।

३६२—लुप्तनकारक तथा लुप्त अकारक अञ्चु परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है ।

३६३—उत् शब्द से परे लुप्तनकारक अञ्चु के भसंज्ञक अकार को ईकार होता है ।

३६४—अप्रत्ययान्त अञ्चु परे रहते सम् को समि आदेश होता है ।

३६५—अप्रत्ययान्त अञ्चु परे रहते सह को सध्रि आदेश होता है ।

३६६—अलुप्ताकार अप्रत्ययान्त अञ्चु परे रहते तिरस् को तिरि आदेश होता है ।

३६७—पूजार्थक अञ्चु के न का लोप नहीं होता ।

न । प्राञ्चः । प्राग्भ्याम् । प्राङ्क्षु, प्राङ्क्षु । एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः । क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुञ्चः । क्रुङ्भ्याम् । पयोमुक्[1] । पयोमुग् । पयोमुचः । पयोमुग्भ्याम् । महः पूजायाम्, 'वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च' एते निपात्यन्ते । शतृवच्चैषां कार्यं स्यात् । उगित्वान्नुम्[2] ।

३६८ सान्तमहतः संयोगस्य ६ । ४ । १० ॥

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् ! । महतः । महद्भ्याम् ।

३६९ अत्वसन्तस्य चाधातोः ६ । ४ । १४ ॥

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् । भातेर्डवतुः[4] । डित्वसामर्थ्याद्भस्यापि टेर्लोपः । भवान् । भवन्तौ । शत्रन्तस्य तु भवन्[5] ।

३७० उभे अभ्यस्तम् ६ । १ । ५ ॥

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे[6] ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्त-संज्ञे स्तः ।

३७१ नाभ्यस्ताच्छतुः ७ । १ । ७८ ॥

अभ्यस्तात्परस्य शतुर्[7]नुम् न । ददत् । ददतौ ।

१—पयो (जलम्) मुञ्चति—इति विग्रहः, मेघोऽर्थः । २—'उगिदचां...' इत्येन । ३—विद्वान्, (विद्वांसौ), । महान्, (महान्तौ) इत्यादौ च 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेन कृतस्य सकारतकारलोपस्याऽसिद्धत्वान्नान्तोपधत्वं नास्तीति 'सर्वनामस्थाने चा···' इति दीर्घो न प्राप्नोति—इत्यतः सूत्रारम्भः । ४—भा (दीप्तौ) इत्यस्मात् । ५—शतृप्रत्ययान्तस्य अत्वन्तत्वाभावात् 'अत्वसन्तस्य चा...' इति दीर्घो न । ६—षष्ठाध्यायस्थ-द्वित्वप्रकरणे । ७—शतृप्रत्ययस्य ।

३६८—सान्त संयोग के नकार की और महत् शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ होता है सर्वनामस्थान परे रहते, सम्बुद्धि को छोड़कर ।

३६९—अत्वन्त की उपधा और धातुभिन्न असन्त की उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते ।

३७०—छठे अध्याय के द्वित्व प्रकरण में जो दो विधान किए हैं वे दोनों समुदित अभ्यस्त संज्ञक होते हैं ।

३७१—अभ्यस्त से परे शतृ को नुम् नहीं होता ।

३७२ जक्षित्याद्यः षट् ६ । १ । ६ ॥

षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चकासत् । दीधीङ्दीप्तिदेवनयोः । वेवीङ्—वेतिना तुल्ये । एतौ छान्दसौ । दीध्यत् । वेव्यत् ।

जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा ।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥ १॥

गुप्, गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ।

३७३ त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३ । २ । ६० ॥

त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थाद् दृशेर्धातोः कञ् स्यात् । चात्क्विन् ।

३७४ आ सर्वनाम्नः[1] ६ । ३ । ६१ ॥

दृग्दृशवतुषु । तादृक्[2], तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् । व्रश्चेति षः । जश्त्वचर्त्वे । विट्, विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् ।

३७५ नशेर्वा ८ । २ । ६३ ॥

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते । नक्, नग् । नट्[3], नड् । नशौ । नशः । नड्भ्याम् । नग्भ्याम् ।

१—'दृग्-दृश-वतुषु' इति सूत्रमनुवर्तते । सर्वनाम्नः—आकारोऽन्तादेशः स्यात् दृग्दृशवतुषु । २—'स' इव दृश्यते इति बाहुलकात्कर्मणि क्विन् । स इवायं पश्यति=ज्ञानविषयो भवति इति कर्मकर्तरि वा क्विन् । दृशेरत्र ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्तित्वादज्ञानार्थत्वात् । तादृक्, तद्—दृश्+क्विन्, क्विनः—सर्वापहारे 'आ सर्वनाम्नः' इति दकारस्य—आत्वे, तादृश् इति भवति । सु-विभक्तौ व्रश्चेति षः, षस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति डः, तस्य 'क्विन् प्रत्ययस्येति' 'गः', 'वावसाने' इति वा कः, तादृक् (ग्) । कञ्-प्रत्यये तु 'तादृशः' रामवत् । एवमेव 'घृतस्पृक्' इत्यादौ साधनं बोध्यम् । ३—कुत्वाभावपक्षे षत्वम्, जश्त्वम्, वा चर्त्वं च ।

३७२—जागृ आदि छः और जक्षिति धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होती है ।

३७३—त्यदादि उपपद रहते अज्ञानार्थक दृश् धातु से कञ् प्रत्यय होता है और क्विन् भी ।

३७४—सर्वनाम को आकार अन्तादेश होता है दृग्, दृश्, वतु परे रहते ।

३७५—नश् को कवर्ग अन्तादेश होता है पदान्त में ।

३७६ स्पृशोऽनुदके क्विन् ३ । २ । ५६ ॥

अनुदके[1] सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् । घृतस्पृक्[2], घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । दधृक्[3], दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् । रत्नमुट्, रत्नमुड् । रत्नमुषौ । रत्नमुषः । रत्नमुड्भ्याम् । षट्, षड् । षड्भिः । षड्भ्यः । षण्णाम्[4] । षट्त्सु, षट्सु । यत्तु प्राचा षण्णां षड्णामित्युदाहृतं तत्प्रामादिकमेव । प्रत्यये भाषायामिति नित्यवचनात् ॥ रुत्वं प्रति षत्वस्याऽसिद्धत्वात् ससजुषोरुरिति रुत्वम् ।

३७७ र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८ । २ । ७६ ॥

रेफ-वान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते । पिपठीः[5] । पिपठिषौ । पिपठिषः । पिपठीर्भ्याम् ।

३७८ नुम्विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि ८ । ३ । ५८ ॥

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपीण्कुभ्याम् परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः । ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः । पिपठीष्षु, पिपठीःषु । चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्षु । विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् ! ।

३७९ वसोः संप्रसारणम् ६ । ४ । १३१ ॥

वस्वन्तस्य भस्य संप्रसारणम् । विदुषः[6] । वसुस्रंस्विति दत्वम् । विद्वद्भ्याम् ।

३८० पुंसोऽसुङ् ७ । १ । ८९ ॥

सर्वनामस्थाने विवक्षितेऽसुङ् स्यात् । पुमान्[7] । हे पुमन् ! । पुमांसौ । पुंसः ।

१—उदकशब्दभिन्ने, इत्यर्थः । २—'क्विन् प्रत्ययस्ये'ति कुत्वम् । ३—'ऋत्विग्दधृक्...' इति क्विन्नन्तनिपातनमिदम् । ४—'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुट्, षस्य जश्त्वे—षड् + नाम् इत्यत्र 'अनाम्', इति पर्युदासात् 'ष्टुना ष्टुः' ष्टुत्वम् 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति डस्य णत्वे षण्णाम् । ५—'पठ्' धातोः सन्नन्तात् क्विप्, पिपठिषति—इति पिपठीः पिपठिष् + सु "हल्ङ्यादिति सुलोपे षत्वस्याऽसिद्धत्वात्" 'ससजुषो रुः' इति रुः, 'र्वो' रिति दीर्घः । ६—विद्वस् + (शस्) अस् । सम्प्रसारणम् (वस्य–उत्वम्) पूर्वरूपम्, षत्वम् । ७—पुंस् + सु, असुङ्, पुमस् +

३७६—उदकभिन्न सुबन्त उपपद रहते स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है ।

३७७—रेफवान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होता है पदान्त में ।

३७८—नुम्, विसर्जनीय और शर् के व्यवधान में भी इण् कवर्ग से परे स को ष होता है ।

३७९—वस्वन्त भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है ।

३८०—सर्वनामस्थान की विवक्षा में पुंस् को असुङ् होता है । (वा०—

पुंभ्याम् । पुंसु । ऋदुशनेत्यनङ्, उशना । उशनसौ । (अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः) । हे उशन !, उशनन् !, हे उशनः ! उशनोभ्याम् । अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः । हे अनेहः ! । वेधाः । हे वेधः ! । वेधसौ । वेधसः । वेधोभ्याम् ।

३८१ अदस औ सुलोपश्च ७ । २ । १०७ ॥

सौ परे । तदोरिति सः । असौ । (औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः सादुत्वं च) ।

असकौ । असुकः । त्यदाद्यत्वं पररूपत्वम्, वृद्धिः ।

३८२ अदसोऽसेर्दादु दो मः ८ । २ । ८० ॥

अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च । आन्तरतम्याद्ध्रस्वस्य उः । दीर्घस्य ऊः । अमू । जसः शी । गुणः ।

३८३ एत ईद्बहुवचने ८ । २ । ८१ ॥

अदसो दात् परस्यैत ईद्दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ । अमी । पूर्वत्रासिद्धमिति विभक्तिकार्यं प्राक् पश्चादुत्वमत्वे । अमुम् । अमून् । मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः ।

सु, सुलोपः । "उगिदचां..."इति नुम्, "सान्तमहतः..." इति दीर्घः । संयोगान्तलोपः, पुमान् ।

१—वशेः कनसि-प्रत्ययः । 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणम् । २—एवं 'चन्द्रमस्' शब्दः । ३—अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात्सर्वनामस्थाने परे सुलोपश्च । ४—परिमाणकृतान्तरतम्यात् । ५—बहुवचने । ६—अदस्+(जस्) त्यदाद्यत्वे पररूपे 'जसः शी', 'आद्गुणे', 'अदे' इति स्थितौ 'एत ईद् बहुवचने'-इति—ईत्वे दस्य मश्च, एवं तृतीयादिबहुवचने सर्वत्र 'बहुवचने झल्येत्' इति—एत्वं कृत्वा ईत्वं दस्य मत्वं च विधेयम् । ७—"आङो नास्त्रियाम्" इत्यनेन ।

उशनस् शब्द को सम्बोधन में विकल्प से अनङ् आदेश होता है और न का लोप भी विकल्प से होता है ।)

३८१ अदस् को औ अन्तादेश होता है सु परे रहते ।

३८२—सान्तभिन्न अदस् शब्द के दकार से परे ह्रस्व को उ, दीर्घ को ऊ आदेश होता है और द को म होता है ।

३८३—अदस् के द से परे एकार को ईकार और द को म होता है बहुवचन में ।

३८४ न मु ने[1] ८ । २ । ३ ॥

नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः । अमुना । अमूभ्याम्[2] । अमीभिः । अमुष्मै । अमीभ्यः । अमुष्मात् । अमुष्य । अमुयोः । अमीषाम् । अमुष्मिन् । अमुयोः । अमीषु ।

इति हलन्ताः पुंलिङ्गाः ।

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

३८५ नहो धः ८ । २ । ३४ ॥

नहो हस्य धः स्याद् झलि पदान्ते च ।

३८६ नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ ६ । ३ । ११६ ॥

क्विबन्तेष्वेषु पूर्वस्याणो दीर्घः । उपानत्[1] । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । क्विबन्तत्वात्कुत्वेन हस्य घः । जश्त्वचर्त्वे । उष्णिक्, उष्णिग्[4] । उष्णिहौ । उष्णिग्भ्याम् । द्यौः[5] । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम्[6] । गीः[7] । गिरौ । गिरः ।

१—(७ । ३ । १२०) 'ना' भावदृष्टौ, (८ । २ । ३) 'मु' भावस्याऽसिद्धत्वात् कथं (घिसंज्ञा) 'ना' भावः, इत्यसिद्धत्वाऽभावप्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम् । २—अदस्+भ्याम्, त्यदाद्यत्वे पररूपम्, सुपि चेति दीर्घः, ऊत्वं मत्वं चेति—अमूभ्याम् । इति हलन्ताः पुंलिङ्गाः ।

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

१—'उप' उपसर्गात् णह् (बन्धने) धातोः क्विप्, पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानत्=पादत्राणम (जुत्ती) । एवं नीवृत् । प्रावृट् । मर्माविद् । अभीरुक् । ऋतीषट् । परीतत्—इत्येतेषु पूर्वपददीर्घः । ४—'ऋत्विग्दधृग्...' इति क्विन् । ५—'दिव औत्' इति वस्य औत्वम्, विसर्गः । ६—'दिव उत्' इति—उत्वम् । ७—गिर्+सु, सुलोपः "र्वोरुपधाया दीर्घ..." इति दीर्घः । रेफस्य विसर्गः । गीः=वाणी ।

३८४—ना-भाव कर्तव्य होने पर या कर चुकने पर मु-भाव असिद्ध नहीं होता ।

इति हलन्ताः पुंलिङ्गाः ।

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

३८५—नह् धातु के ह को ध होता है झल् परे रहते पदान्त में ।

३८६—क्विबन्त नहि वृति वृषि आदि परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है ।

एवं पूः[१] । चतस्रः २ । चतसृभिः । चतसृभ्यः २ । चतसृणाम्[२] । चतसृषु । का[३] । के । काः । सर्ववत् ।

३८७ यः सौ ७ । २ । ११० ॥

इदमो दस्य यः सौ । 'इदमो मः' । इयम् । त्यदाद्यत्वम् , पररूपत्वम् , टाप् । दश्चेति मः । इमे । इमाः । इमाम् । इमे । इमाः । अनया । हलि लोपः । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः २ । अनयोः २ । आसाम् । अस्याम् । आसु । स्रक् , स्रग् । स्रजौ । स्रजः । स्रग्भ्याम् । त्यदाद्यत्वे टाप् । स्या । त्ये । त्याः । एवम्—तद्[४] । यद् । वाक् , वाग्[५] । वाचौ । वाचः । वाग्भ्याम् ३ । अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । अप्तृन्निति दीर्घः । आपः । अपः ।

३८८ अपो भि ७ । ४ । ४८ ॥

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये । अद्भिः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु । दिक्[६] ,दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्[७] । दृक्[८] दृग् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् । त्विट् त्विड् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । ससजुषोरिति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् । आशीः[९] । आशिषौ । आशी-

---

१—पूः = नगरी, पूः, पुरौ, पुरः । २—'न तिसृचतसृ' इति न दीर्घः । ३—'किमः कः' इति कादेशे स्त्रियां टाप् , हल्ङ्याब्भ्य इति सुलोपः । ४—'तत्' शब्दस्य स्त्रियां—सा, ते ताः । एतत्-शब्दस्य एषा, एते, एताः । ५—'चोः कुः' इति । ६—'ऋत्विग्दधृग्' इति सूत्रेण क्विन् । ७—"क्विन् प्रत्ययस्य..." इति सूत्रे क्विन् प्रत्ययो दृष्टो यस्मादिति बहुव्रीहिः । तथा चात्र क्विन्-प्रत्ययाभावेऽपि "तादृक्" इत्यादौ 'दृशोऽनालोचने...' इत्यनेन क्विन्विधानदर्शनात् भवत्येव कुत्वम् । ८—अत्र क्विप् । ९—'आङः शासु इच्छायाम्' क्विप् , 'आशासः क्वावुपसङ्ख्यानम्' इत्युपधाया इत्वम्, 'शासि-वसि घसीनाञ्च' इति सस्य षः, आशिष्—शब्दात् सुलोपे षस्य रुत्वे 'र्वोरुपधाया' इति दीर्घः ।

३८७—इदम् शब्द के दकार को यकार होता है सु परे रहते स्त्रीलिङ्ग में ।

३८८—अप् शब्द को तकार अन्तादेश होता है भादि प्रत्यय परे रहते । (वा०—अन्वादेश में एतद् शब्द को विकल्प से एनत् आदेश होता है नपुंसकलिङ्ग में) ।

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

भ्याम् । असौ । उत्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया[2] । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै[3] अमूभ्यः । अमुष्याः २ । अमुयोः २ । अमूषाम् । अमूषु ।

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

स्वमोर्लुक् । दत्वम्[4] । स्वनडुत्[5] । स्वनडुही । चतुरनडुहोरित्याम् । स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । वाः[6] । वारी । वारि । वारा । वार्भ्याम् । चत्वारि[7] । किम्[8] । के । कानि । इदम् । इमे । इमानि । (अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः) । एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः २ । व्योम । व्योम्नी, * व्योमनी । व्योमानि । ब्रह्म । (संबुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः) । हे ब्रह्म !, हे ब्रह्मन् ! । ब्रह्मणी । ब्रह्माणि । 'रोऽसुपि' । अहः[9] । 'विभाषा ङिश्योः'[10] । अह्नी, अहनी । अहानि ।

३८९ अहन् ८ । २ । ६८ ॥

अहन्नित्यस्य रुः पदान्ते । अहोभ्याम्[11] । दण्डि । दण्डिनी । दण्डीनि ।

१—अदस् सु इति स्थिते सकारस्य औत्वे सुलोपे, दस्य सत्वे च रूपम् । २—अदस्+टा, त्यदाद्यत्वपररूपे स्त्रीत्वविवक्षायां टाप् । सवर्णदीर्घः, 'आङि चापः' इत्येत्वेऽयादेशः, उत्वमत्वे, अमुया । ३—अदस्+ङे, त्यदाद्यत्वे पररूपम्, टाप्, सवर्णदीर्घः, अदा+ए, इत्यत्र 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याट्, आपश्च ह्रस्वः, वृद्धौ, उत्वे मत्वे षत्वे च, अमुष्यै ।

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

४—'वसुस्रंसु...' इत्यनेन । ५—सु = शोभनाः अनड्वाहः—वृषभा यस्मिन् यस्य वा तत्कुलम् । ६—'वार्' इति रान्तोऽयं शब्दः । ७—चतुर्+(जस्) शि, "चतुरनडुहो..." इत्याम् । ८—नात्र किमः कादेशः विभक्तेरभावात् । प्रत्ययलक्षणं तु न, 'न लुमते'ति लुकि तन्निषेधात् । ९—अहन्+सु, सुलोपः, "रोऽसुपि' इति नकारस्य रेफादेशः, विसर्गः । १०—इति वा–अकारलोपः । ११—'हशि च' इति —उत्वम्, गुणः ।

३८९—अहन् शब्द को रु आदेश होता है पदान्त में ।

---

* 'विभाषा ङिश्योरि'ति वाऽकारलोपः ।

सुपथि । टिलोपः, सुपथी । सुपन्थानि । ऊर्क् (र्ग्) । ऊर्जी । ऊर्न्जि । नरजानां संयोगः । त्यद् । त्ये । त्यानि । तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि । अवङ् स्फोटायनस्येति अवङ् ।

गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असंख्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं (१०६) मतम् ॥ १ ॥
स्वमसुप्सु नव, षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥ २ ॥

गवाक् , गवाग् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् । शकृत् । शकृती । शकृन्ति । ददत् । ददती ।

३६० वा नपुंसकस्य ७ । १ । ७६ ॥

अभ्यस्तात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य क्लीबस्य नुम्वा स्यात्सर्वनामस्थाने । ददन्ति ददति । तुदत् ।

३९१ आच्छीनद्योर्नुम् ७ । १ । ८० ॥

अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्वा शीनद्योः । तुदन्ती तुदती । तुदन्ति । भात् । भान्ती, भाती । भान्ति । पचत् ।

१—सुपथि = शोभनमार्गम् नगरम् । द्विवचने 'सुपथी' नपुंसकत्वात्सर्वनामस्थानसंज्ञाऽभावाद् 'यचि भम्' इति भ-संज्ञायाम्, 'टेः' इति टिलोपः । २—बहुवचने 'सुपन्थानि' 'शि सर्वनामस्थानम्' इति शेः सर्वनामस्थानत्वात् 'थो न्थः' इति न्थादेशे 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इति अत्वे सुपन्थन् + इ इत्यवस्थितौ उपधादीर्घः । ३—'ऊर्ज्' धातोः क्विप् । ४—(नकार-रेफ-जकाराणां संयोगः) । अत्र व्यपदेशिवद्भावेनाऽन्त्याच्—ऊकारस्ततो नुमि, एवं वर्णक्रमः—इति भावः । ५—गोपूर्वकादञ्चेः क्विनि, क्विनः सर्वापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुः, गोः अञ्च् + सु, सुलोपे 'अनिदितां हल' इति नस्य लोपः । 'अवङ् स्फोटायनस्य' इत्यवाङ्, सवर्णदीर्घः । चोः कुरिति कुत्वम् , जश्त्वे वैकल्पिके चर्त्वे च-गवाक् , गवाग् । प्रकृतिभावे गो अक् , गो अग् । पूर्वरूपे–गोऽक् , गोऽग् । पूजायां गवाङ् , गो अङ् , गोऽङ् । इति सौ नवरूपाणि । विस्तरभयान्न सर्वाणि दर्शितानि ।

३६०—अभ्यस्त से परे शतृप्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग को विकल्प से नुम् होता है सर्वनामस्थान परे रहते ।

३६१—अवर्णान्त अङ्ग से परे शतृप्रत्ययान्त शब्दस्वरूप को नुम् होता है विकल्प से शीप्रत्यय और नदीसंज्ञक परे रहते ।

३६२ शप्श्यनोर्नित्यम् ७ । १ । ८१ ॥

शप्श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम् शीनद्योः । पचन्ती । दीव्यत् । दीव्यन्ती । धनुः । धनुषी । सान्तेति दीर्घः । नुम्विसर्जनीयेति षः । धनूंषि । धनुर्भ्याम् । एव चक्षुर्हविरादयः[2] । पयः । पयसी । पयांसि । पयोभ्याम् । सुपुम्[3] । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्वमत्वे । अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् ।

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

अथाऽव्ययप्रकरणम् ।

३६३ स्वरादिनिपातमव्ययम् १ । १ । ३७ ॥

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसंज्ञाः स्युः ।

१—स्वर् । २—अन्तर् । ३—प्रातर् । ४—पुनर् । ५—सनुतर् ।

१—द्विवचनान्तमिदम् । २—'धन' धातोः 'उस्' प्रत्यये 'धनुष्' शब्दो भवति ; धनुर्भ्यामित्यत्र रेफान्तत्वेऽपि धातुत्वाभावात् हलि चेति र्वोरिति च न दीर्घः। २—चक्षुः, चक्षुषी, चक्षूंषि । हविः, हविषी, हवींषि । ३—शोभनाः पुमांसो यत्र तत् कुलं—सुपुम, सुपुंसी, जसि–सुपुमांसि–'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम्,'सान्त-महत...'इति दीर्घः । ४—'अदस्' शब्दस्य प्रथमाया एकवचने रूपम् । ५—त्य-दाद्यत्वम्, (पररूपम् , गुणः) । ६—पुनस्तद्वत् ।

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

अथ—अव्ययार्थाः ।

१—स्वर्गः । २—मध्यम् । ३—दिनादि (प्रत्यूषः) । ४—भूयः । (अप्र-थमम्) । ५—अन्तर्धानम् ।

३६२—शप् श्यन् सम्बन्धी अकार से परे शतृ के अवयवान्त शब्दस्वरूप को नित्य नुम् होता है शी और नदी परे रहते ।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

अथ अव्यय प्रकरण

३६३—स्वरादिगणपठित शब्द और निपातसंज्ञक शब्दों की अव्ययसंज्ञा होती है । (अव्ययों के हिन्दी अर्थ मेरी लघुकौमुदी के परिशिष्ट में देखिये)।

६—उच्चैस् । ७—नीचैस् । ८—शनैस् । ९—ऋधक् । १०—ऋते । ११—युगपत् । १२—आरात् । १३—पृथक् । १४—ह्यस् । १५—श्वस् । १६—दिवा । १७—रात्रौ । १८—सायम् । १९—चिरम् । २०—मनाक् । २१—ईषत् । २२—जोषम् । २३—तूष्णीम् । २४—बहिस् । २५—अवस् । २६—अधस् । २७—समया । २८—निकषा । २९—स्वयम् । ३०—वृथा । ३१—नक्तम् । ३२—न । ३३-मञ् । ३४—हेतौ । ३५-इद्धा । ३६—श्रद्धा । ३७—सामि । ३८—वत् । ३९—ब्राह्मणवत् । ४०—क्षत्रियवत् । ४१—सना । ४२—सनत् । ४३—सनात् । ४४—उपधा । ४५—तिरस् । ४६—अन्तरा । ४७—अन्तरेण । ४८—ज्योक् । ४९—कम् । ५०—शम । ५१—सहसा । ५२—विना । ५३—नाना । ५४—स्वस्ति । ५५—स्वधा । ५६—अलम् । ५७—वषट् । ५८—श्रौषट् । ५९—वौषट् । ६०—अन्यत् । ६१—अस्ति । ६२—उपांशु । ६३—क्षमा । ६४—विहायसा । ६५—दोषा । ६६—मृषा । ६७—मिथ्या । ६८—मुधा । ६९—पुरा । ७०—मिथो ।

६—उच्चस्थानम् । ७—नीचस्थानम् । ८—क्रियामान्द्यम् । ९—सत्यम् । १०—विना । ११—एककालम् । १२—दूरं सामीप्यं च । १३—भिन्नम् । १४—अतीतदिनम् । १५—आगामिदिनम् । १६—दिनम् । १७—रात्रिः । १८—दिनावसानम् । (निशामुखम्) । १९—बहुकालम् । २०—अल्पम् । २१—अल्पम् । २२—मौनम् । २३—मौनम् । २४—बाह्यम् । २५—बाह्यम् । २६—नीचैः । २७—सामीप्यम् । २८—सामीप्यम् । २९—आत्मना । ३०—व्यर्थम् । ३१—रात्रिः । ३२—निषेधः । ३३—निषेधः । ३४—निमित्तम् । ३५—प्राकाश्यम् । ३६—स्फुटम् (अवधारणञ्च) । ३७—अर्धम् । (जुगुप्सितञ्च) । ३८-वत् प्रत्ययः सादृश्येऽर्थे । ३९-तस्योदाहरणम् । ४०—एतदपि । ४१—नित्यम् । ४२—नित्यम् । ४३-नित्यम् । ४४-भेदः । ४५—तिरस्कारः । ४६—मध्यं विना च । ४७—विना । ४८—कालभूयस्त्वम् । शीघ्रं सम्प्रति च । ४९—जलं मूर्धा निन्दा सुखञ्च । ५०—सुखम् । ५१—आकस्मिकम् । ५२—वर्जनम् । ५३—अनेकम् । ५४—मङ्गलम् । ५५—पितृदानम् । ५६—भूषणं, पर्याप्तिः, शक्तिः, वारणं, निषेधश्च । ५७—देवहविर्दाने । ५८—देवहविर्दाने । ५९—देवहविर्दाने । ६०—अन्यार्थकम् । ६१—अस्तीत्यर्थे । ६२—अप्रकाशं, रहस्यञ्च । ६३—क्षमार्थे । ६४—आकाशः । ६५—रात्रिः । ६६—असत्यम् । ६७—असत्यम् । ६८-व्यर्थम् । ६९—पूर्वकाले । ७०—रहः, सहार्थः ।

७१—मिथस् । ७२—प्रायस् । ७३—मुहुस् । ७४—प्रवाहुकम् । ७५—प्रवाहिका । ७६—आर्यहलम् । ७७—अभीक्ष्णम् । ७८—साकम् । ७९—सार्धम् । ८०—नमस् । ८१—हिरुक् । ८२—धिक् । ८३—अथ । ८४—अम् । ८५—आम् । ८६—प्रताम् । ८७—प्रशान् । ८८—मा । ८९—माङ् । (आकृतिगणोऽयम्) । ९२—च । ९१—वा । ९२—ह । ९३—अह । ९४—एव । ९५—एवम् । ९६—नूनम् । ९७—शश्वत् । ९८—युगपत् । ९९—भूयस् । १००—कूपत् । १०१—सूपत् । १०२—कुवित् । १०३—नेत् । १०४—चेत् । १०५—चण् । १०६—यत्र । १०७—कच्चित् । १०८—नह । १०९—हन्त । ११०—माकिः । १११—माकिम् । ११२—नकिः । ११३—नकिम् । ११४—माङ् । ११५—नञ् । ११६—यावत् । ११७—तावत् । ११८—त्वै । ११९—न्वै । १२०—द्वै । १२१—रै । १२२—श्रौषट् । १२३—वौषट् । १२४—स्वाहा । १२५—स्वधा । १२६—वषट् । १२७—तुम् । १२८—तथाहि । १२९—खलु । १३०—किल ।

७१—रहः, सहार्थः । ७२—बाहुल्यम् । ७३—वारं वारम् । ७४—समानकालम् । ७५—इदं पाठान्तरम् । ७६—बलात्कारः । ७७—पौनःपुन्यम् । ७८—सहार्थकः । ७९—सहार्थकः । ८०—नमस्कारः । ८१—वर्जनम् । ८२—निन्दा-भर्त्सनञ्च । ८३-प्रारम्भः । अनन्तरं-मङ्गलंच । ८४—शीघ्रम् । ८५—स्वीकारः । ८६—ग्लानिः । ८७—समानम् । ८८—निषेधः, शंका च । ८९—निषेधः, शंका च । ९०—समुच्चयः । ९१—विकल्पः । ९२—प्रसिद्धिः । ९३—पूजा, स्पष्टता च । ९४—अवधारणम् । ९५—उक्तपरामर्शः । ९६-निश्चयः, तर्कश्च । ९७—पौनःपुन्यं, नित्यञ्च । ९८—एककालम् । ९९—पुनः । आधिक्यञ्च । १००—प्रश्नः, प्रशंसा च । १०१-प्रश्नः, प्रशंसा च । १०२—भूरि । १०३-शंका । १०४—यदि । १०५—यद्यर्थे । १०६-यस्मिन्, गर्हाऽऽश्चर्यंच ।१०७-इष्टप्रश्नः । १०८—प्रत्यारम्भः । १०९-विषादो हर्षो वाक्यारम्भश्च । ११०—वर्जनम् । १११-वर्जनम् । ११२-वर्जनम् । ११३—वर्जनम् । ११४—निषेधः । ११५—निषेधः । ११६—साकल्यम् । ११७—साकल्यम् । ११८—वितर्कः । ११९—पाठान्तरमिदम् । १२०—वितर्कः । १२१—दानम् । १२२—देवहविर्दानम् । १२३—देवहविर्दानम् । १२४—देवहविर्दानम् । १२५—पितृदानम् । १२६—देवदानम् । १२७—हुंकारः । १२८—निदर्शनम् । १२९—वाक्यालङ्कारे निश्चये निषेधे च । १३०—वार्तायाम् (ऐतिह्ये) । अलीके च ।

१३१—अथो। १३२—अथ। १३३—सुष्ठु। १३४—स्म। १३५—आदह। (+ उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च)। १३६—अवदत्तम्। १३७—अहंयुः। १३८—अस्तिक्षीरा। १३९—अ। १४०—आ। १४१—इ। १४२—ई। १४३—उ। १४४—ऊ। १४५—ए। १४६—ऐ। १४७—ओ। १४८—औ। १४९—पशु। १५०—शुकम्। १५१—यथाकथाच। १५२—पाट्। १५३-प्याट्। १५४-अङ्ग। १५५—है। १५६—हे। १५७—भोः। १५८—अये। १५९—द्य। १६०—विषु। १६१—एकपदे। १६२—युत्। १६३—आतः। चादिरप्याकृतिगणः।

३६४ तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १। १। ३८॥

यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्। (परिगणनं कर्तव्यम्) तसिलादयः[1] प्राक् पाशपः। शस्प्रभृतयः[2] प्राक् समासान्तेभ्यः। अम्[3]। आम्।

१३१—मङ्गलम्, आनन्तर्यम्, अधिकारश्च। १३२-पूर्वोक्तेषु। १३३—प्रशंसा। १३४—अतीते, पादपूरणे च। १३५—उपक्रमः, कुत्सनञ्च। + उपसर्गप्रतिरूपका विभक्तिरूपकाः स्वरप्रतिरूपकाश्चाऽव्ययानीत्यर्थः। १३६—(अव) इति उ० स० प्र०। १३७—(अहं) इति सुबन्तप्र० प्र० अहंयु (अहङ्कारवान्)। १३८—(अस्ति) इति तिङ् त० प्र० = विद्यमानदुग्धा (गौः)। १३९—सम्बोधनम्। १४०—वाक्यस्मरणयोः। १४१—सम्बोधनम्। १४२—सम्बो०। १४३—सम्बो०। १४४—सम्बो०। १४५—सम्बो०। १४६—सम्बो०। १४७—सम्बो०। १४८—सम्बो० (एकदेशस्वरप्रतिरूपका इमे)। १४९—सम्यक्। १५०—शीघ्रता। १५१—अनादरः। १५२—सम्बो०। १५३—सम्बो०। १५४—सम्बो०। १५५—सम्बो०। १५६—सम्बो०। १५७—सम्बो०। १५८—सम्बो०। १५९—हिंसा। १६०—नानार्थे। १६१—अकस्मात्। १६२—निन्दा। १६३—इतोऽपि।

१—"पञ्चम्यास्तसिल्" इत्यतः 'याप्ये पाशप्" इति पर्यन्तमित्यर्थः। २—"बह्वल्पार्थात्...शस्" इत्यारभ्य "समासान्ताः" इति सूत्रपर्यन्ताः। ३—'अम्' 'आम्' प्रत्ययौ, तदन्ता इत्यर्थः।

३६४—असर्वविभक्ति तद्धितान्त की अव्यय संज्ञा होती है। (परिगणन कर देना चाहिये)।

कृत्वोर्थाः[1] । तसिवती[2] । नानाञौ[3] । इति । एतदन्तमव्ययम्[4] । अतः[5] इत्यादि ।

३९५ कृन्मेजन्तः १ । १ । ३९ ॥

कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययम्[6] । स्मारंस्मारम्[7] । जीवसे[8] । पिबध्यै ।

३९६ क्त्वा-तोसुन्-कसुनः[9] १ । १ । ४० ॥

एतदन्तमव्ययम् । कृत्वा[10] । उदेतोः । विसृपः ।

३९७ [11]अव्ययीभावश्च १ । १ । ४१ ॥

अधिहरि[12] ।

३९८ [13]अव्ययादाप्सुपः २ । ४ । ८२ ॥

अव्ययाद्विहितस्याऽऽपः सुपश्च लुक् । तत्र[14] शालायाम् । विहितविशेषणान्नेह[15] ।

१—"सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्" इत्यादिविहिताः कृत्वसुजादयस्त्रयः । २—'तसिश्च' इति (एकदिगर्थे) विहितः 'तसि' प्रत्ययः । 'तेन तुल्यं···' 'तत्र तस्येव' वतिप्रत्ययश्च । ३—'विनञ्भ्यां नानाञौ नसह" इति विहितौ । ४—पूर्वोक्तप्रत्ययान्तमित्यर्थः । ५—अतः=अस्मात् (स्थानात्) कारणात् वा (तसिल्-प्रत्ययान्तोऽयम्) अत्र=(इह) । शतशः । अनेकशः । एककृत्वः । इत्येवमादीनि तदुदाहरणानि । ६—मान्त एजन्तश्च यः कृत्प्रत्ययः तदन्तमव्ययमित्यर्थः । ७—अत्र णमुल् (अम्) प्रत्ययः । स्मृत्वा, स्मृत्वा इत्यर्थः । ८—जीवसे, (असे) प्रत्ययः । जीवनाय—इत्यर्थः । पिबध्यै (शध्यै) प्रत्ययः । पानायेत्यर्थः । (द्वाविमौ वैदिकौ) ९—क्त्वा-कृत्वा तोसुन्, कुसन् प्रत्ययाः । १०—क्त्वा—कृत्वा, तोसुन्—उदेतोः =(उदितो भूत्वा इत्यर्थः), कसुन्—विसृपः=(गत्वा) । ११—अव्ययमित्यर्थः । १२-'हरौ' इति 'अधिहरि' विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः (समासः) । १३-लुगित्यनुवर्तते । १४-'तत्र' इत्यतः स्त्रीत्वे टाप् तस्य लुक् । १५—अव्ययात्परस्येत्यनुक्त्वाऽव्ययाद्विहितस्येति भावः । तेन—'अत्युच्चैसौ' इत्यत्र न सुब् लुक् । अत्र समासाद्विहितस्य सुपोऽव्ययभूतादुच्चैश्शब्दात्परत्वेऽपि न ततो विहितत्वम् । अत्युच्चैरिति समुदायस्याऽनव्ययत्वात् । स्वरादिगणे केवलस्यैवोच्चैश्शब्दस्य पाठादिति भावः ।

३९५—मान्त और एदन्त कृत् प्रत्ययान्त शब्द की अव्यय संज्ञा होती है ।

३९६—क्त्वा तोसुन् और क्वसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है ।

३९७—अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा होती है ।

३९८—अव्यय से किये आप् और सुप् का लुक् होता है । इत्यव्ययाः ।

अत्युक्तौ । अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति तथापि न गौणे । आप्-अदर्थ अर्थम्, अव्ययस्यालिङ्गत्वात् । तथा च श्रुतिः—

(अव्यय-लक्षणम्)

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति[1] तदव्ययम् ॥ १ ॥
वष्टि[2] भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ २ ॥

अवगाहः । वगाहः । अपिधानम् । पिधानम् ॥ इत्यव्ययानि ॥,

॥ इति सुबन्तं समाप्तम् । (इति पूर्वार्द्धम्) ॥

अथोत्तरार्द्धम् ।

अथ तिङन्ते भ्वादयः ।

लट् । लिट् । लुट् । लृट् । लेट् । लोट् । लङ् । लिङ् । लुङ् । लृङ्[3] ॥

एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः ।

१—विकृतं भवति । २—वष्टि–इति । भागुरिः = तन्नामा–आचार्यः, अवाप्योः = अव–अपि एतयोः, अल्लोपम् अकारस्य लोपं वष्टि = इच्छति । तथा हलन्तानामपि शब्दानाम् आपं (टाप् प्रत्ययं) वष्टि = इच्छति । अत्र दृष्टान्तः—वाचा, निशा, दिशा (इत्यादि) । इत्यव्ययप्रकरणम् ।

॥ इति श्रीमध्यकौमुद्यां पूर्वार्द्धप्रभाकारी ॥

३—एते दश लकाराः । ४—अनुलोमसङ्ख्यया पंचमो लेट्-एव नतु प्रतिलोमसङ्ख्यया लोट्, "छन्दसि लेट्" इति सूत्रात् ।

अव्यय लक्षण—

सदृशं त्रिष्विति—जो शब्द तीनों लिंगों सब विभक्तियों तथा सब वचनों में एकसा रहता है वह अव्यय कहलाता है ।

वष्टिभागुरिरिति—भागुरि आचार्य 'अव' और 'अपि' उपसर्ग के अकार का लोप मानता है । और हलन्त शब्दों से भी स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय मानता है, जैसे—वाचा, निशा, दिशा ।

इति पूर्वार्धम्

३११ लः कर्मणि च[2] भावे चाकर्मकेभ्यः[3] ३ । ४ । ६९ ॥

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च ।

१—लकाराः । २—चकारात् कर्त्तरि । ३—अत्रापि चकारात् 'कर्त्तरि' इति लभ्यते । अर्थो वृत्तौ स्पष्टः । अत्र—के 'सकर्मकाः' के 'अकर्मकाः' इति विवेक इत्थम् :—

> क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षाम् ।
> 'सकर्मकं' तं सुधियो वदन्ति शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात् ॥ १ ॥

यत्र कर्तृवाचकपदेन सह प्रयुक्तं क्रियापदं "किम्" इत्यपेक्षते तत्र स धातुः 'सकर्मकः' यथा देवदत्तो भक्षयति, व्रजति, अधीते । इत्याद्येषु सर्वत्र 'किम्' इत्यपेक्षा जायतेऽतः सकर्मका एते धातवः । यत्र तु क्रियापदं 'किम्' इत्यस्याऽपेक्षां न कुरुते तेऽकर्मकाः, यथा—भवति, एधते, लज्जते, शेते—इत्यादयः ।

तथा च परिगण्यते—

> लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धि-क्षय-भय-जीवन-मरणम् ।
> शयन-क्रीडा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः ॥ १ ॥

इदं चाप्यत्र बोध्यम्—

दशसु गणेषु सर्वत्रापि सकर्मकाऽकर्मकाभ्यां कर्तर्येव लकाराः, अत एव गणीयप्रयोगे सर्वत्र—उक्तः (अभिहितः) कर्ता । अनुक्तं (अनभिहितं) कर्म । तस्मादेव गणीयक्रियायोगे कर्मणि "कर्मणि द्वितीया" इति शास्त्रेण द्वितीयैव । कर्तरि च प्रातिपदिकार्थत्वात्प्रथमैव । यथा—देवदत्तो गृहं गच्छति । चैत्रः शेते, इत्यादि । सकर्मकेभ्यः कर्मणि, अकर्मकेभ्यो भावे लकारा भावकर्मप्रक्रियायां प्रदर्शयिष्यन्ते । तत्र भावः कर्म वा 'उक्तम्' (अभिहितम्) कर्ता च 'अनुक्तः' (अनभिहितः) । तेन तद्योगे कर्त्तरि "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इति सूत्रेण तृतीया । कर्मणि प्रातिप्रदिकार्थमात्रत्वात्प्रथमा (उक्तत्वान्न द्वितीया) यथा—अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण, स्थीयते देवदत्तेन ।

एतन्मूलिकैवैषा प्रसिद्धिः—

> "प्रथमान्तो यदा कर्ता द्वितीया कर्मणस्तदा ।
> यदा कर्ता तृतीयान्तः प्रथमा कर्मणस्तदा" ॥ १ ॥

अथ भ्वादयः

३९६—सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्ता में लकार होते हैं ।

४०० वर्तमाने लट् ३ । २ । १२३ ॥

वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात् । अटावितौ । उच्चारणसामर्थ्याल्लस्य नेत्वम्[1] ।
भू सत्तायाम् । कर्तृविवक्षायां भू ल् इति स्थिते । लस्येत्यधिकारः ।

४०१ तिप्-तस्-झि-सिप्-थस्-थ-मिब्वस् मस्-तातांझ-थासाथांध्व-मिड्वहिमहिङ् ३ । ४ । ७८ ॥

एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः ।

४०२ लः परस्मैपदम् १ । ४ । ९९ ॥

लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः ।

४०३ तङानावात्मनेपदम् १ । ४ । १०० ॥

तङ् प्रत्याहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसंज्ञापवादः[2] ।

४०४ अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १ । ३ । १२ ॥

अनुदात्तेत उपदेशे यो ङित्तदन्ताच्च धातोर्लस्य स्थाने आत्मनेपदं स्यात् ।

४०५ स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १ । ३ । ७२ ॥

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले ।

४०६ शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १ । ३ । ७८ ॥

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि लस्य परस्मैपदं स्यात्[3] ।

१—न इत्संज्ञा इत्यर्थः । २—परस्मैपदसंज्ञाया अपवाद इत्यर्थः ।

३—एवं चायमत्र सङ्ग्रहः—

आत्मनेपदिनः	परस्मैपदिनः ।
(१) अनुदात्तेतः (धातवः) ।	(१) अनुदात्तेद्भिन्नाः (धातवः) ।
(२) ङितः (धातवः) ।	(२) ङिद्भिन्नाः (धातवः) ।

४००—वर्तमानकालिक क्रियावृत्ति धातु से लट् लकार होता है ।

४०१—लकार के स्थान पर तिबादि आदेश होते हैं ।

४०२—लकार के स्थान पर होनेवाले आदेश परस्मैपद संज्ञक होते हैं ।

४०३—तङ् प्रत्याहार और शानच्-कानच् की आत्मनेपद संज्ञा होती है ।

४०४—अनुदात्तेत् और ङित् धातु की आत्मनेपद संज्ञा होती है ।

४०५—स्वरितेत् और ञित् धातु से कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद होता है ।

६—आत्मनेपदनिमित्तहीन धातु से कर्ता में परस्मैपद होता है ।

४०७ तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १ । ४ । १०१ ॥

तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः ।

४०८ तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्येकशः १ । ४ । १०२ ॥

लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रत्येकमेकवचनादिसंज्ञानि स्युः ।

४०९ युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः १।४।१०५॥

तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः ।

कर्तृगामिक्रियाफलाः—	कर्तृभिन्न-(पर)-गामिक्रियाफलाः—
(३) स्वरितेतः (धातवः)	(३) स्वरितेतः (धातवः)
(४) ञितश्च (धातवः)	(४) ञितश्च (धातवः)
	(५) स्वरितेद्भिन्नाः (धातवः)
	(६) ञिद्भिन्नाश्च (धातवः) ।

तेन स्वरितेतो ञितश्च उभयपदिनः ।

२—नेनेत्थं व्यवस्था—

तिङ्							
परस्मैपदम्				आत्मनेपदम्			
पुरुषः	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०	पुरुषः	ए०व०	द्वि०व०	ब०व०
प्र० पु०	तिप्,	तस्,	झि,	प्र०पु०	त,	आताम्,	झ,
म०पु०	सिप्,	थस्,	थ,	म०पु०	थास्,	आथाम्,	ध्वम्,
उ०पु०	मिप्,	वस्,	मस्,	उ०पु०	इट्,	वहि,	महि (ङ्)

३—तिङा वाच्यं यत्कारकं (कर्तृरूपं कर्मरूपं वा) तद्वाचिनि=तद्वाचके । यथा—त्वं भवसि । त्वम् अनुभूयसे (मया) ।

४०६—तिङ् के आत्मनेपद और परस्मैपद सम्बन्धी तीन-तीन त्रिकों की क्रम से प्रथम, मध्यम, उत्तम संज्ञा होती है ।

४०८—प्राप्तप्रथमादिसंज्ञक त्रिकों के तीन वचनों की क्रम से एकवचन द्विवचन बहुवचन संज्ञा होती है ।

४०६—तिङ्वाच्य-कारकवाची युष्मद् के प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान होने पर धातु से मध्यम पुरुष होता है ।

४१० अस्मद्युत्तमः १ । ४ । १०७ ॥

तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः ।

४११ शेषे प्रथमः १ । ४ । १०८ ॥

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् । भू ति इति जाते ।

४१२ तिङ् शित्सार्वधातुकम् ३ । ४ । ११३ ॥

तिङ; शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः ।

४१३ कर्तरि शप् ३ । १ । ६८ ॥

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप्[३] ।

४१४ सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७ । ३ । ८४ ॥

अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । अवादेशः[४] । भवति[५] । भवतः ।

४१५ झोऽन्तः ७ । १ । ३ ॥

प्रत्ययावयवस्य झस्यान्तादेशः । अतो गुणे । भवन्ति[६] । भवसि । भवथः । भवथ ।

४१६ अतो दीर्घो यञि ७ । ३ । १०१ ॥

अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके । भवामि । भवावः । भवामः । स भवति,

---

१—तिङ्वाच्यकारकवाचिनि अस्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च उत्तमः (पुरुषः), यथा—अहं भवामि । अहम् 'अनुभूये'—(त्वया) । २—तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदस्मद्भिन्ने = तदादिशब्दे प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च प्रथमः पुरुष इत्यर्थः, यथा—स भवति । सोऽनुभूयते (मया) । ३—'शप्' विकरणोऽयं धातु-प्रत्यय-मध्यपाती । ४—"एचोऽयवायावः" इति । ५—भू + अति, गुणेऽवादेशे भवति । ६—भू+अ+अन्ति, गुणेऽवादेशे, भव+अन्ति पररूपे च भवन्ति ।

४१०—उक्तप्रकार अस्मद् के प्रयुज्यमानाऽप्रयुज्यमान होने पर उत्तम पुरुष होता है ।

४११—मध्यम, उत्तम के अविषय मे प्रथम पुरुष होता है ।

४१२—धात्वधिकार में पठित तिङ् और शित् को सार्वधातुक संज्ञा होती है ।

४१३—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते धातु से शप् होता है ।

४१४—सार्वधातुक आर्धधातुक परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण होता है ।

४१५—प्रत्ययावयव झ को 'अन्त' आदेश होता है ।

४१६—अदन्त अङ्ग को दीर्घ होना है यञादि सार्वधातुक परे रहते ।

तौ भवतः, ते भवन्ति, । त्वं भवसि, युवां भवथः, यूयं भवथ । अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः ।

४१७ शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे ८ । ४ । १८ ॥

उपदेशे कादिखादिषान्तवर्जे गदनदादेरन्यस्मिन्धातावुपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्णत्वं वा स्यात् । प्रणिभवति । प्रनिभवति ।

४१८ परोक्षे[1] लिट् ३ । २ । ११५ ॥

भूतान[2]द्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात् । लस्य तिबादयः ।

४१९ परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ३ । ४ । ८२ ॥

लिटस्तिबादीनां णलाद[3]यः स्युः । 'भू अ' इति स्थिते ।

४२० भुवो वुग्लुङ्लिटोः ६ । ४ । ८८ ॥

भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोर[4]चि ।

४२१ लिटि धातोरनभ्यासस्य ६ । १ । ८ ॥

लिटि परेऽनभ्यासस्य धात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः[5] आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य । भूव्[6] भूव् इति जाते ।

१—अक्षिभ्यः परं=परोक्षम्-तस्मिन्-काले । २—अनद्यतन इति—अतीताया रात्रेरुत्तरार्द्धत आगामिन्या रात्रेः पूर्वार्द्धपर्य्यन्तम् (यः कालः सः) अद्यतनः, तद्भिन्नोऽनद्यतनः । ३—णल् , अतुस् , उस् । थल् , अथुस् , अ । णल् , व, म । इत्यादेशाः (नव) । ४—लुङ्लिट्—सम्बन्धिनि, इत्यर्थः । "एकाचो द्वे प्रथमस्य" "अजादेर्द्वितीयस्य"' त्यधिकारद्वयमत्र । ५—हलादीनामेकाचामनेकाचां च धातूनां प्रथमावयवस्य द्वित्वम्, अजाद्यनेकाचां धातूनां तु द्वितीयावयवस्येति विवेकः । ६—वुक: प्रचलन् सहावयवैः प्रचलितः, इति वुक्-सहितस्य भुवो द्वित्वम् ।

४१७—उपदेशमें कादि खादि षान्त से अतिरिक्त गदनदादि से भिन्न धातु परे रहते उपसर्गस्थ निमित्त से परे 'नि' को णत्व विकल्प से होता है ।

४१८—भूत अनद्यतन परोक्षार्थवृत्ति धातु से लिट् लकार होता है ।

४१९—लिट् के स्थान में तिबादि नौ को णलादि नौ आदेश होते हैं ।

४२०—भू धातु को वुगागम होता है लुङ् लिट् सम्बन्धी अच् परे रहते ।

४२१—अभ्यासरहित धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व होता है, आदिभूत अच् से परे द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होता है ।

४२२ पूर्वोऽभ्यासः ६ । १ । ४ ॥

अत्र ये द्वे विहिते तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात् ।

४२३ हलादिः शेषः ७ । ४ । ६० ॥

अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यतेऽन्ये हलो लुप्यन्ते, इति वलोपः ।

४२४ ह्रस्वः ७ । ४ । ५९ ॥

अभ्यासस्याचो ह्रस्वः स्यात् ।

४२५ भवतेरः ७ । ४ । ७३ ॥

भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्याल्लिटि ।

४२६ अभ्यासे चर्च ८ । ४ । ५४ ॥

अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च । झशां जशः, खयां चर इति विवेकः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः ।

४२७ लिट् च ३ । ४ । ११५ ॥

लिडादेशस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात् ।

४२८ आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७ । २ । ३५ ॥

वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात् । बभूविथ । बभूवथुः । बभूव । बभूव । बभूविव । बभूविम ।

१—अत्र-अन्यव्यावृत्तिपूर्वकत्वे सति स्वावस्थानत्वम्=शेषत्वम्-तदेवाह वृत्तौ-अन्ये हलो लुप्यन्त इति, अत्रायं विशेषो बोध्यः-यत्र-आदिर्हल् स्यात् तत्र स एव शिष्यते, यत्र तु-आदिर्हल् न सम्भवेत्तत्रान्त्यस्य निवृत्तिमात्रम्, तथा च 'आद' 'आत' इत्यत्र दकार-तकारमात्रं निवर्तते । २—भू धातोः, 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' । ३—भू, लिट्, तिप्, तिपो णल्, भू+अ, इति स्थितौ, वुक्-द्वित्वे । भूव् भूव्+अ, हलादिशेषे, भू भूव्+अ । अभ्यासह्रस्वे उकारस्याऽकारः । भस्य बत्वम् बभूव ।

४२२—यहाँ जो दो किए गए हैं उनमें से प्रथम की अभ्यास संज्ञा होती है।

४२३—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है अन्य हलों का लोप होता है।

४२४—अभ्यास के अच् को ह्रस्व होता है।

४२५—भू धातु के अभ्यास के उकार को अकार होता है लिट् परे रहते।

४२६—अभ्यास के झलों को जश् और खरों को चर् होते हैं।

४२७—लिडादेश तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है।

४२८—वलादि आर्धधातुक को इडागम होता है।

४२९ अनद्यतने लुट् ३ । ३ । १५ ॥

भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् स्यात् ।

४३० स्यतासी लृ-लुटोः ३ । १ । ३३ ॥

धातोरेतौ स्तो लृलुटोः परतः । शबाद्यपवादः । लृ इति लृङ्लृटोर्ग्रहणम्[1] ।

४३१ आर्धधातुकं शेषः ३ । ४ । ११४ ॥

तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः[2] स्यात् । इट्[3] ।

४३२ लुटः प्रथमस्य[4] डा-रौ-रसः २ । ४ । ८५ ॥

डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भविता[5] ।

४३३ तासस्त्योर्लोपः[6] ७ । ४ । ५० ॥

सादौ प्रत्यये ।

४३४ रि च ७ । ४ । ५१ ॥

रादौ प्रत्यये तथा[7] । भवितारौ । भवितारः । भवितासि । भवितास्थः । भवितास्थ । भवितास्मि । भवितास्वः । भवितास्मः ।

४३५ लृट् शेषे च ३ । ३ । १३ ॥

भविष्यदर्थाद्धातोर्लृट् क्रियार्थायां क्रियायां सत्यामसत्यां च । स्य इट् । भवि-

---

१—'निरनुबन्धक-ग्रहणे सामान्यग्रहणम्' इति न्यायात् । २—आर्धधातुकसंज्ञः । ३— 'आर्धधातुकस्ये......' इत्यनेन । ४—लुटः प्रथमपुरुष-स्थानिकानां 'तिप्, तस्, झि', इत्येतेषां क्रमेण 'डा, रौ, रस्,' इत्यादेशाः स्युः, इत्यर्थः । ५—'दीधीवेवीटाम्' इति निषेधात् इटो न गुणः । ६—सस्येति भावः । ७—तासेरस्तेश्च सस्य लोपः (इति भावः) ।

४२९—भविष्यत् अनद्यतन अर्थ में धातु से लुट् होता है ।

४३०—धातु से स्य और तास् प्रत्य होते हैं लङ् लृट् और लुट् परे रहते ।

४३१—तिङ् शित् से भिन्न धातु से विहित प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है ।

४३२—लुट् के प्रथम पुरुषके तिप्, तस्, झि को क्रमसे डा, रौ, रस् आदेश होते हैं ।

४३३—तास् और अस्ति के स् का लोप होता है सादि प्रत्यय परे रहते ।

४३४—तास् के स् का लोप होता है रादि प्रत्यय परे रहते ।

४३५—भविष्यत् अर्थ में धातु से लृट् होता है क्रियार्थक क्रिया के होने या न होने पर ।

ष्यति । भविष्यतः । भविष्यन्ति । भविष्यसि । भविष्यथः । भविष्यथ । भविष्यामि । भविष्यावः । भविष्यामः ।

४३६ लोट् च ३ । ३ । १६२ ॥

विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट् ।

४३७ आशिषि लिङ्-लोटौ ३ । ३ । १७३ ॥

४३८ एरुः ३ । ४ । ८६ ॥

लोट इकारस्य उः । भवतु ।

४३९ तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ७ । १ । ३५ ॥

आशिषि तुह्योः तातङ् वा । परत्वात्सर्वादेशः । ननु ङिच्चेत्यस्य कावकाश इति चेच्छृणु—अनन्यार्थङकारयुक्तानङादिष्विति गृहाण । भवतात् ।

४४० लोटो लङ्वत् ३ । ४ । ८५ ॥

लोटस्तामादयः सलोपश्च ।

४४१ तस्थस्थमिपां तांतन्तामः ३ । ४ । १०१ ॥

ङितश्चतुर्णां तामादयः स्युः । भवताम् । भवन्तु ।

१—'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् । २—'विधिनिमन्त्रणामन्त्र...' इति सूत्रोक्तेषु । ३—ङिच्चेत्यस्याऽनन्यार्थ'ङित्त्वेषु 'अनङ्' आदिषु चरितार्थत्वान्न बाधकत्वम्, (परत्वात्सर्वादेशः) । अत्र तु 'भवतात्' इत्यादौ गुणादिनिषेधो ङित्त्वप्रयोजनम् । ४—लङ् वदिति-स्थानषष्ठ्यन्तात् लङो वतिप्रत्यये सिद्ध्यति । तेन लङ्स्थानिकस्य कार्यस्यैवातिदेशः, नतु लङि विधीयमानस्य कार्यस्य, तथा च 'भवतु' 'अस्तु' इत्यादौ-अडाटौ न भवतः । लङो यथा तामादयः सलोपश्च भवति, तथैव लोटोऽपि भवेदित्यर्थः । ५—ङित् लकारस्थानिकानां '(१) तस्, (२) थस्, (३) थ, (४) मिप्' इत्येषां "(१) ताम्, (२) तम्, (३) त, (४) अम्" इत्येते-

---

४३६—विध्यादि अर्थों में धातु से लोट् होता है ।

४३७—आशीर्वाद अर्थ में धातु से लिङ् और लोट् लकार होते हैं ।

४३८—लोट् सम्बन्धी इ को उ आदेश होता है ।

४३९—आशीर्वाद अर्थ में तु और हि को तातङ् आदेश होता है विकल्पसे ।

४४०—लोट् में लङ् की तरह कार्य होते हैं ।

४४१—ङित् सम्बन्धी तस्-थस्-थ-मिप् को क्रम से ताम्-तम्-त-अम् आदेश होते हैं ।

४४२ सेर्ह्यपिच्च ३ । ४ । ८७ ॥

लोटः सेर्हिः सोऽपिच्च ।

४४३ अतो हेः ६ । ४ । १०५ ॥

अतः परस्य हेर्लुक् । भव । भवतात् । भवतम् । भवत ।

४४४ मेर्निः ३ । ४ । ८२ ॥

लोटो मेर्निः स्यात् ।

४४५ आडुत्तमस्य पिच्च ३ । ४ । ९२ ॥

लोडुत्तमस्याट् स पिच्च । हिन्योरुत्वं न । इकारोच्चारणसामर्थ्यात्[1] । भवानि ।

४४६ ते प्राग्धातोः १ । ४ । ८० ॥

ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः ।

४४७ आनि लोट् ८ । ४ । १६ ॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य लोडादेशस्यानीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । (दुरः षत्व—णत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः)[2] । दुःस्थितिः । दुर्भवानि । (अन्तः-शब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्)[3] । अन्तर्भवाणि ।

आदेशाः क्रमेण स्युरित्यर्थः ।

१—अन्यथा 'सेर्ह्यपिच्च, 'मेर्निः' इत्युभयत्रापि—उत्वमेवोच्चारितं भवेत् पाणिनिना, 'सेर्ह्युः' 'मेर्नुः' इति । २—अन्यथा षत्व-ष्टुत्वयोः णत्वे च दुःष्ठितिः, दुर्भवाणि, इति स्यात् ।' ३—अङ्विधिः—यथा—'अन्तर्धा', 'आतश्चोपसर्गे' इत्यनेन 'अङ्' प्रत्यय· । किविधिर्यथा—'अन्तर्धिः' 'उपसर्गे घोः किः' इति 'कि' प्रत्यय· । णत्वविधिर्यथा—'अन्तर्भवाणि' ।

४४२—लोट् सम्बन्धी सि को हि होता है ।

४४३—अदन्त से परे हि का लुक् होता है ।

४४४—लोट् सम्बन्धी मि को नि आदेश होता है ।

४४५—लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष को आट् का आगम होता है वह पित् होता है ।

४४६—गतिसंज्ञक और उपसर्गसंज्ञक धातु से पूर्व प्रयुक्त होता है ।

४४७—उपसर्गस्थ निमित्त र-ष से परे लोट् सम्बन्धी आनि के न को ण होता है । (वा०-(१) णत्व-षत्व के विधान में दुर् को उपसर्गत्व नहीं होता है (२) अङ-विधि, किविधि और णत्व कर्तव्य में अन्तर् शब्द की उपसर्गसंज्ञा होती है)।

४४८ नित्यं ङितः ३ । ४ । ९९ ॥

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः । अलोऽन्त्यस्येति सलोपः । भवाव । भवाम ।

४४९ अनद्यतने लङ् ३ । २ । १११ ॥

अनद्यतन–भूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् ।

४५० लुङ्–लङ्–लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६ । ४ । ७१ ॥

एष्वङ्गस्याट् ।

४५१ इतश्च ३ । ४ । १०० ॥

ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तस्य लोपः । अभवत् । अभवताम् । अभवन् । अभवः । अभवतम् । अभवत । अभवम् । अभवाव । अभवाम ।

४५२ विधि–निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट–संप्रश्न–प्रार्थनेषु लिङ् ३ ३।१६१॥[1]

एष्वर्थेषु धातोर्लिङ् ।

४५३ यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३ । ४ । १०३ ॥

लिङः परस्मैपदानां यासुडागमो ङिच्च । ङित्त्वोक्तेर्ज्ञायते क्वचिदनुबन्धकार्येऽ-

---

१—विधिः = प्रेरणम् = आज्ञाकरणम (भृत्यादेः) पठेत् , यजेत् । निमन्त्रणम् = नियोगकरणम् = श्राद्धभोजनादौ प्रवर्तनम् (दौहित्रादेः) इह भुञ्जीत । आमन्त्रणम् = कामचारानुज्ञा=तदिच्छानुसारमन्वेषणा (इहासीत भवान्) । अधीष्टः = आदरपूर्विकाऽध्येषणा (पुत्रमध्यापयेद् भवान्) । सम्प्रश्नः = संप्रधारणम् = उचिताऽनुचितपरिपृच्छा (भो वेदमधीयीय—उत तर्कम्) । प्रार्थनम् = याचनम् (भो भोजनं लभेय) । २—युयात् स्तुयात् इत्यादौ, गुणनिषेधार्थं यासुटो ङिद्वचनम् । ननु लिङो ङित्त्वेनैव स्थानिवद्भावेन तिबादौ समागतेन लिङादेशातबाद्या-

---

४४८—ङित् लकार सम्बन्धी सकारान्त उत्तम पुरुष का नित्य लोप होता है ।

४४९—अनद्यतन भूतार्थवृत्ति धातु से लङ् लकार होता है ।

४५०—लुङ् , लङ् , लृङ् परे रहते अङ्ग को अट् का आगम होता है, वह उदात्त होता है ।

४५१—ङित् लकार सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद के इकार का लोप होता है ।

४५२—प्रेरणा-निमन्त्रण-आमन्त्रण-सत्कारपूर्वकव्यापार-सम्प्रश्न और प्रार्थना इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है ।

४५३—लिङ् सम्बन्धी परस्मैपद को यासुट् आगम होता है और वह उदात्त ङित् होता है ।

प्यनल्विधाविति प्रतिषेध इति । तेन वक्ष्यमाणेत्यत्र ङीन्न ।

४५४ लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७ । २ । ७९ ॥

सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः । इति प्राप्ते ।

४५५ अतो येयः ७ । २ । ८० ॥

अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य यास् इत्यस्य इय् । गुणः[1] । 'लोपो व्योर्वलि'[2] । भवेत् । भवेताम् ।

४५६ झेर्जुस् ३ । ४ । १०८ ॥

लिङो झेर्जुस् स्यात् । भवेयुः । भवेः । भवेतम् । भवेत । भवेयम् । भवेव । भवेम ।

४५७ लिङाशिषि ३ । ४ । ११६ ॥

आशिषि लिङस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात् ।

४५८ किदाशिषि ३ । ४ । १०४ ॥

आशिषि लिङो यासुट् कित् । स्कोरिति सलोपः ।

गमे यासुटि यदागमपरिभाषया ङित्त्व भविष्यति-इति यासुटो ङिद्वचनं व्यर्थम् । नच स्थानिभूतलिङो ङकारस्याऽल्त्वेन गुणनिषेधविधौ तदाश्रयणात्—अनल्विधाविति स्थानिवद्भावनिषेधः शङ्कनीयः, 'प्रदाय' 'प्रधाय' इत्यादौ स्थानिवद्भावेन ल्यपः कित्त्वमाश्रित्य घुमास्थेति प्राप्तस्य-ईत्वस्य 'न ल्यपि' इति निषेधेनाऽनुबन्धकार्येषु—अनल्विधाविति निषेधाऽभावज्ञापनात् , तत्राह—ङित्त्वोक्तेर्ज्ञायते इति । अयं भावः-एवं व्यर्थीभूतं यासुटो ङित्त्वं ज्ञापयति-क्वचिदनुबन्धकार्येऽपि-अनल्विधाविति निषेधो भवत्येवेति । तेन 'वक्ष्यमाण' इत्यत्र न ङीप् , अन्यथा लृडादेशस्य शानचः स्थानिवत्त्वेन टित्त्वात् टिड्ढाणञिति ङीप् स्यादेव ।

१—'आद्गुणः' इत्यनेन । २—वकार-यकारयोर्लोपः स्याद् वल्-प्रत्याहारघटितवर्णे (परे) ।

४५४—सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य सकार का लोप होता है ।

४५५—अत् से परे सार्वधातुक के अवयव यास् को इय् होता है ।

४५६—लिङ् सम्बन्धी झि को जुस् होता है ।

४५७—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है ।

४५८—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् को हुआ यासुट् कित् होता है ।

४५६ क्ङिति च १। १। ५॥

गित्किन्ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः। भूयात्। भूयास्ताम्। भूयासुः। भूयाः। भूयास्तम्। भूयास्त। भूयासम्। भूयास्व[1]। भूयास्म।

४६० लुङ् ३। २। ११०॥

भूतार्थे[2] धातोर्लुङ्।

४६१ माङि लुङ् ३। ३। १७५॥

सर्वलकारापवादः[3]।

४६२ स्मोत्तरे लङ् च ३। ३। १७६॥

स्मोत्तरे माङि लङ् स्याल्लुङ् च।

४६३ च्लि लुङि[4] ३। १। ४३॥

शबाद्यपवादः।

४६४ च्लेः सिच् ३। १। ४४॥

४६५ गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ७। ३। ८८॥

एभ्यः सिचो लुक्। गापाविहेणादेश-पिबती[5] गृह्येते।

१—वस्-मसोः सकारस्य "नित्यं ङितः" इति लोपः। २—भूतसामान्ये। ३—'माङ्' प्रयोगे सर्वलकाराणां स्थाने लुङेव भवतीत्यर्थः। मा वद, मा वदेत्—इत्यादौ तु नायं माङ्, किन्तु निषेधार्थो 'मा' शब्दः। ४—लुङि परतः (शबादीन् बाधित्वा) 'च्लिः' स्यादित्यर्थः। ५—इण आदेशो 'गा'। 'पिब' आदेशो यस्य भवति स 'पा' गृह्यते, 'गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणमिति' भाष्योक्तेः।

४५९—गित् कित् ङित् को निमित्त मानकर इग्लक्षण गुण और वृद्धि नहीं होती।

४६०—भूतार्थक धातु से लुङ् लकार होता है।

४६१—माङ् उपपद रहते धातु से लुङ् लकार होता है।

४६२—स्म उत्तर में है जिस माङ् के, ऐसे माङ् के उपपद रहते धातु से लुङ् होता है और लङ् भी।

४६३—धातु से च्लि होता है लुङ् परे रहते।

४६४—च्लि को सिच् आदेश होता है।

४६५—गा, स्था, घुसंज्ञक, पा और भू धातु से परे सिच् का लुक् होता है।

४६६ भूसुवोस्तिङि ७ । ३ । ८८ ॥

भू सू एतयोः सार्वधातुके तिङि गुणो न । अभूत् । अभूताम् । अभूवन्[1] । अभूः । अभूतम् । अभूत । अभूवम् । अभूव । अभूम ।

४६७ न माङ्योगे ६ । ४ । ७४ ॥

अडाटौ न स्तः । मा भवान्भूत् । मा स्म भवत् । मा स्म भूत् ।

४६८ लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३ । ३ । १३९ ॥

हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तं तत्र[2] भविष्यदर्थाद्धातोर्लृङ् क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् । अभविष्यन् । अभविष्यः । अभविष्यतम् । अभविष्यत । अभविष्यम् । अभविष्याव । अभविष्याम । सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत् । इत्यादि ज्ञेयम्[3] । प्रणिभवतीत्यादौ -उपसर्गाणामसमस्तत्वेऽपि संहिता नित्या । तदुक्तम् ।

> संहितैकपदे[4] नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
> नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥ १ ॥

१–'भुवो वुग् लुङ्-लिटोः' इति वुक् । २–तत्र=हेतुहेतुमद्भावादौ द्योत्ये । ३–भूधातुप्रयोगप्रकारनिर्देशः–क्रमशः सर्वलकारेषु—

> धर्मात्सुखं भवति वत्स ! यथा बभूव—
> भक्तध्रुवस्य, भविता च तवापि तच्छ्रुवः ॥
> लाभो भविष्यति, भवान् भवतु प्रवृत्तो—
> धर्मे, यथाऽभवदसौ भगवत्प्रपन्नः ॥ १ ॥
> दैवाद् भवेच्च यदि ते कचिदन्तरायो—
> भूयात्सदा तव विभुर्भगवान् सहायः ॥
> धर्माद्भूदपि च तस्य सुखं, त्वयाऽसौ—
> धर्मोऽभावष्यदिह चेत्सुखमाऽऽ (ऽ) भविष्यत् ॥ २ ॥

४—संहितेति–एकपदे = अखण्डपदे संहिता नित्या, तेन 'भवति' 'द्रवति'

४६६—भू, सू धातु को सार्वधातुक तिङ् परे रहते गुण नहीं होता है ।

४६७—माङ् के योग में अट् और आट् नहीं होते ।

४६८—क्रिया की अनिष्पत्ति गम्यमान हो तो भविष्यदर्थ में विद्यमान धातु से हेतुहेतमद्भावादि अर्थ में लृङ् लकार होता है ।

संहितैकेति—एक पद में संहिता नित्य होती है, धातु और उपसर्ग की

इति । सत्ताद्यर्थनिर्देशश्चोपलक्षणम्[1]। यागात्स्वर्गो भवतीत्यादौ उत्पद्यत इत्याद्यर्थात् । उपसर्गास्त्वर्थविशेषस्य द्योतकाः[2]। प्रभवति[3]। पराभवति । सम्भवति । अनुभवति । अभिभवति । उद्भवति । परिभवति । इत्यादौ विलक्षणार्थावगतेः । उक्तञ्च—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहार–संहार–विहार–परिहारवत्[4] ।। १ ।। इति ।

अत सातत्यगमने[5] । अतति । अततः । अतन्ति । अतसि । अतथः । अतथ । अतामि । अतावः । अतामः ।

'नायकः' 'पावकः' इत्यादौ नित्यमेव संहिताकार्यम् । धातूपसर्गयोरपि परस्परं संहिता नित्या, 'प्रोद्भवति' 'प्रेजते' 'उपोषति' इत्यादौ नित्यं संहिता-कार्यम् । समासेऽपि संहिता नित्या तेन 'सुध्युपास्य' 'सूर्योदयः' 'कृष्णर्द्धिः,' इत्यादौ नित्यं संहिताकार्यम् । वाक्ये तु सा = संहिता विवक्षामपेक्षते = विवक्षया भवति; नो वा भवति, तेन वाक्ये संहिताकार्याणां विकल्पः सिद्ध्यति 'पश्यतीन्दुम्' 'पश्यति इन्दुम्' । प्रकृते च 'प्रनिभवति' इत्यादौ धातूपसर्गयोर्योग इति नित्य णत्वं (संहिताकार्य) प्राप्नोति, तत्र विकल्पार्थं 'शेषे विभाषाऽकखा......' इति सूत्रारम्भः ।

१—उपलक्षणं नाम 'स्वार्थबोधकत्वे सति स्वेतरार्थबोधकत्व' मिति । ज्ञापकञ्चात्र 'कुर्द–खुर्द–गुर्द–गुद–क्रीडायामेव' इत्यत्र एवशब्दोपादानम्, 'सेधतेर्गतौ' इत्यत्र गतिग्रहणञ्चाऽपि । अन्यथा 'षिध' गत्याम् इत्यत्र गत्यर्थस्यैव निर्देशात् पुनर्गतिग्रहणं व्यर्थं स्यादिति । २—ननु वाचकाः, उपसर्गमन्तरापि 'भू' धातोरुत्पत्त्याद्यर्थप्रतीतिसम्भवात्, तथाच तत्र (धातौ) विद्यमानमेवार्थविशेषं द्योतयन्ति, यथा—प्रदीपः सत एव घटपटादीन् प्रकाशयतीति । ३—प्रभवः = प्रकाशः, उत्पत्तिः, शक्तिर्वा । पराभव = पराजयः । सम्भवः = सम्भावना । अनुभवः = उपभोगः । अभिभवः = तिरस्कारः । उद्भवः = उत्पत्तिः । परिभवः = तिरस्कारः । ४—प्रहारः = कशाद्याघातः । आहारः = भक्षणम् । संहारः = वधः । विहारः = क्रीडा । परिहारः = परित्यागः । ५—निरन्तरगमने ।

संहिता नित्य होती है । किन्तु वाक्य में संहिता विवक्षाधीन है ।

उपसर्गेणेति—उपसर्ग के बल से धात्वर्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है जैसे—प्रहार=आघात करना, आहार=भोजन करना, संहार=विनाश करना, विहार=क्रीडा करना, परिहार = समाधान करना ।

४६९ अत आदेः ७ । ४ । ७० ॥

अभ्यासस्यादेरतो दीर्घः स्यात् लिटि[1] । पररूपापवादः । आत । आततुः । आतुः । आतिथ । आतथुः । आत । आत । आतिव । आतिम । अतिता । अतिष्यति । अततु ।

४७० आडजादीनाम् ६ । ४ । ७२ ॥

अजादेरङ्गस्याड् लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु । आतत् । अतेत् । अत्यात् । लुङि सिचि इडागमे कृते ।

४७१ अस्ति-सिचोऽपृक्ते ७ । ३ । ९६ ॥

विद्यमानात्सिचोऽस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागमः ।

४७२ इट ईटि ८ । २ । २८ ॥

इटः परस्य सस्य लोपः स्यादीटि । (सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः) आतीत् । आतिष्टाम् ।

४७३ सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३ । ४ । १०९ ॥

सिचोऽभ्यस्तात् विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस् । आतिषुः । आतीः । आतिष्टम् । आतिष्ट । आतिषम् । आतिष्व । आतिष्म । आतिष्यत् । एवम्—अव रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्त्यवगम-प्रवेश-श्रवण- स्वाम्यर्थयाचन - क्रियेच्छा - दीप्त्यवाप्त्या-लिङ्गन-हिंसा-दान-भाग-वृद्धिषु । अवतीत्यादि । षिध गत्याम् ।

१—'न ल्यो लिटि' इति सूत्राल्लिटि—इत्यनुवर्त्तते । तेन—'ऋ' धातोर्यङ्-लुक्प्रकरणे 'अरर्ति' इत्यादौ न दीर्घः, लिटोऽभावात् । २—सिच् अस् चेति (समाहारे) सिचस् । अस्तीति विद्यमानार्थकमव्ययम्, 'सिचस्' इत्यस्य विशेषणम् । तथैवाह वृत्तौ—विद्यमानात्सिच इत्यादि । ३—सिचः सकारलोपस्य (इट ईटि ८ । २ । २८ इति) त्रैपादिकत्वेनाऽसिद्धत्वाद् 'अकः सवर्णे' इति दीर्घाऽप्राप्तिरिति–तदर्थमिदं वार्तिकम् ।

४६९—अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ होता है ।

४७०—अजादि अङ्ग को आडागम होता है लुङ्, लङ्, लृङ् परे रहते ।

४७१—विद्यमान सिच् और अस्ति से परे अपृक्त हल् को ईट् का आगम होता है ।

४७२—इट् से परे सकार का लोप होता है ईट् परे रहते ।

(वा०—एकादेश करने में सिच् का लोप सिद्ध होता है) ।

४७३—सिच्, अभ्यस्त और विद् से परे ङित्संबन्धी झि को जुस् होता है ।

४७४ पुगन्तलघूपधस्य च ७ । ३ । ८६ ॥

पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्येको गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः । धात्वादेरिति सः । सेधति । षत्वम्[1] । सिषेध ।

सेक् सृप्-सृ-स्तृ-सृज-स्तृ-स्त्यान्ये दन्त्याजन्तसादयः ।
एकाचः षोपदेशाः स्युः ष्वष्क्-स्विद्-स्वद्-स्वञ्ज-स्वप्-स्मिङः ॥ १ ॥[2]

दन्त्यः केवलदन्त्यो न तु दन्तोष्ठजोऽपि । ष्वष्कादीनां पृथक् ग्रहणात् ।

४७५ असंयोगाल्लिट् कित् १ । २ । ५ ॥

असंयोगात्परोऽपिल्लिट् कित्स्यात् । सिषिधतुः । सिषिधुः[3] । सिषेधिथ । सिषिधथुः । सिषिध । सिषेध । सिषिधिव । सिषिधिम । सेधिता । सेधिष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात्[4] । असेधीत् । असेधिष्यत् ।

१—'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन । २—धातुपाठे के षोपदेशाः के वा सोपदेशा इति संशये षोपदेशान् परिगणयति–सेक्सृप् इति–दन्त्याजन्तसादय एकाचः (धातवः) षोपदेशा भवन्तीत्यन्वयः, अस्याऽयमर्थः-दन्त्यश्च अच्च दन्त्याचौ तौ अन्तौ=अव्यवहितपरौ यस्य स दन्त्याजन्तः, एवंभूतः सः=सकार आदिर्येषां ते दन्त्याजन्तसादयः, दन्त्यवर्णपरक–सकारादयः, अच्परकसकारादयश्च–एकाचो धातवः षोपदेशा इति भावः, सूद क्षरणे—इत्यादयोऽच्परकसादयः, स्था गतिनिवृत्तौ—इत्यादयो दन्त्यपरक-सादयः । ननु सेक्-सृपादीनामपि तथात्वेन षोपदेशत्वं स्यादिति चेन्न, "सेक् सृप्.. ..." इत्यादिना तद्भिन्नत्वेन निर्देशात् । स्वष्क-स्विदादीनां तथात्वाऽभावेनाप्राप्तिर्माभूदिति तेषां पृथग्ग्रहणम् । दन्त्याजन्तेत्यत्र दन्त्यपदेन केवलदन्त्यः (सकार—तकारादिः) एव गृह्यते न तु दन्तोष्ठजो (वकारो)ऽपि, तथा सति—स्वष्कादौ-अव्याप्त्यभावात् तेषां पृथग्ग्रहणस्याऽनावश्यकत्वं स्यात् । षोपदेशफलं च 'निषेधति' 'तिष्ठासति' इत्यादौ षत्वम् । ३—तेन न गुणः । ४—"किदाशिषि" इति यासुटः कित्वात् ङित्वाच्च न गुणः ।

४७४—पुगन्त अंग और लघूपध अंग के अवयव इक् को गुण होता है सार्वधातुक आर्धधातुक परे रहते ।

सेक् सृप् इति—सेक् सृप् सृ स्तृ सृज् स्तृ स्त्यै इनसे भिन्न जो दन्त्यान्त अथवा अजन्त सकारादि एकाच् धातु वह षोपदेश है । तथा ष्वष्क् स्विद् स्वद् स्वञ्ज् स्वप् स्मिङ् ये भी षोपदेश हैं ।

४७५—असंयोग से परे पिद्भिन्न लिट् कित् होता है ।

४७६ सात्पदाद्योः ८। ३। १११॥

सातेः पदादेश्च सस्य षो न। इति निषेधे प्राप्ते।

४७७ उपसर्गात्सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति-स्तोभति-स्था-सेनय-सेध-सिच-सञ्ज-स्वञ्जाम् ८। ३। ६५॥

उपसर्गस्थान्निमित्तादेषां सस्य षः।

४७८ सदिरप्रतेः ८। ३। ६६॥

प्रतिभिन्नादुपसर्गात्सदेः सस्य षः।

४७९ स्तम्भेः ८। ३। ६७॥

सौत्रस्य षः।

४८० अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ८। ३। ६८॥

अवात्स्तम्भेरेतयोरर्थयोः सस्य षः।

४८१ वेश्च स्वनो भोजने ८। ३। ६९॥

व्यवाभ्यां स्वनतेः सस्य षः।

१—अभिषुणोति, निषेधति, इत्यादीन्युदाहरणानि बोध्यानि। २—निषीदति, उपनिषत्, इत्यादीन्युदाहरणानि। प्रतेस्तु प्रतिसीदति। ३—'विष्टभ्नोति' इत्यत्र षत्वम्। ४—आलम्बनम्=आश्रयणम्। आविदूर्यम्=सामीप्यम्। क्रमशो यथा—'यष्टिमवष्टभ्य तिष्ठति'=आश्रित्येत्यर्थः। 'अवष्टब्धा गौः=निरुद्धा सती समीपे—आस्ते' इत्यर्थः। ५—(अव) 'विष्वणति'=सशब्दं भुङ्क्ते—इत्यर्थः।

४७६—साति प्रत्यय के सकार को तथा प्रत्ययादि सकार को षकार नहीं होता।

४७७—उपसर्ग स्थ निमित्त से परे सुनोत्यादि धातुओं के सकार को षकार होता है।

४७८—प्रतिभिन्न उपसर्ग से परे सद्धातु के स को ष होता है।

४७९—उपसर्गस्थ निमित्त से परे सौत्र स्तम्भ धातु के स को ष होता है।

४८०—अव उपसर्ग से परे स्तम्भ धातु के स को ष होता है आलम्बन और सामीप्य अर्थ में।

४८१—वि और अव उपसर्ग से परे स्वन के स को ष होता है भोजन अर्थ में।

४८२ परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम् ८ । ३ । ७०

परिनिविभ्यः परेषामेषां सस्य षः । निषेधति ।

४८३ प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि ८ । ३ । ६३ ॥

सितशब्दात्प्राग्ये सुनोत्यादयस्तेषामड्व्यवायेऽपि सस्य षः । न्यषेधत् । न्यषेधीत् । न्यषेधिष्यत् ।

४८४ स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ८ । ३ । ६४ ॥

प्राक्सितात्स्थादिष्वभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वं स्यात्, एषामेव चाभ्यासस्य न तु सुनोत्यादीनाम् । निषिषेध । निषिषिधतुः ॥

४८५ सेधतेर्गतौ ८ । ३ । ११३ ॥

गत्यर्थस्य सेधतेः सस्य षो न । गङ्गां विसेधति । एवम्—चिती संज्ञाने ।

१—(परि) (नि) विषेवते, विषयः, परिषीव्यति 'परिषहते' सुटस्तु—परिष्करोति । २—यद्यपि 'निषिषेध' इत्यादौ-अभ्यासस्य "उपसर्गात्सुनोति" इत्यादि सूत्रेण षत्वं सिद्धम्, ततः परस्य च 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन षत्वं भविष्यतीति नास्य सूत्रस्य प्रयोजनं भाति । तथापि यत्र=अभितष्ठौ, इत्यादौ-अवर्णान्तोऽभ्यासः तत्र षत्वविधानार्थमिदमावश्यकम् । ३—ईकार इत्, ईदित्फलं तु "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति निष्ठायामनिट्कत्वम् ।

"अत्र प्रसङ्गाद् धातुषु वर्णविशेषाणाम् इत्करणफलं दर्श्यते चित्रे"

वर्णानाम्	इत्करणे	प्रयोजनम्	उदाहरणम्
(उदात्त) 'अ'—	इत्करणे फलम्	परस्मैपदम्—	अत— 'अतति' ।
(अनुदात्त) 'अ'—	इत्करणे फ०	आत्मनेपदम्	एध—'एधते' ।
(स्वरित)- 'अ'—	इत्करणे फ०	उभयपदम्	भज-'भजति-भजते'

४८२—परि नि और वि इन उपसर्गों से परे सेवसित आदि धातुओं के स को ष होता है ।

४८३—सित के पूर्व सुनोत्यदि धातुओं के स को अट् के व्यवधान में भी ष होता है ।

४८४—सित से पूर्व स्थादि धातुओं के सकार को अभ्यास के व्यवधान में भी षकार होता है । (और इन्हीं के अभ्यास को ष त्व होता है) ।

४८५—गत्यर्थक सिध धातु के स को ष नहीं होता ।

वर्णानाम्	इत्करणे	प्रयोजनम्	उदाहरणम्
आ—	इत्करणे फ०	'आदितश्च' इति निष्ठायाम् इण्-निषेधः—	(ञि) फला-प्रफुल्लः ।
इ—	इत्करणे फ०	'इदितो नुम् धा०' इति नुम्	(टु) नदि-नन्दति ।
इर्—	इत्करणे फ०	'इरितो वा' इति-अङ् वा-	णिजिर्-अनिजत्, अनैक्षीत् ।
ई—	इत्करणे फ०	'श्वीदितो निष्ठायाम्' इति-निष्ठायां नेट्—	उन्दी-उन्नः, उत्तः ।
उ—	इत्करणे फ०	'उदितो वा' इति क्त्वि वेट्	शमु-शमित्वा-शान्त्वा ।
ऊ—	इत्करणे फ०	'स्वरतिसूति...' इति वेट्	गुपू-गोपिता, गोप्ता ।
ऋ—	इत्करणे फ०	'नाग्लोपिशा...' उपधा-ह्रस्वाभावः—	लोकृ-अलुलोकत् ।
ऌ—	इत्करणे फ०	"पुषादिद्युतादि"...इति च्लेरङ्—	गम्लृ-अगमत् ।
ए—	इत्करणे फ०	'ह्मयन्त...'इति वृद्ध्यभावः	कटे अकटीत् ।
ओ—	इत्करणे फ०	'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम्	भुजो-भुग्नः ।
ङ्—	इत्करणे फ०	आत्मनेपदम्	शीङ्-शेते ।
ञ्—	इत्करणे फ०	उभयपदम्	श्रिञ्-श्रयति, श्रयते ।
ञि—	इत्करणे फ०	'ञीतः क्तः' इति वर्तमाने क्तः	ञिइन्धी, इद्धः ।
टु—	इत्करणे फ०	"ट्वितोऽथुच्"	टुनदि-नन्दथुः-टुवेपृ-वेपथुः ।
डु—	इत्करणे फ०	"ड्वितः क्त्रिः"	डुकृञ्-कृत्रिमम् ।
ष्—	इत्करणे फ०	"षिद्भिदादिभ्योऽङ्"	त्रपूष् त्रपा, क्षमूष् क्षमा

क्वचित्ककारणकारादीनाम्—इत्करणं तु केवलं विशेषणार्थम् (विशेषग्रहणार्थम्) यथा 'इण्' गतौ । 'इक्' स्मरणे 'इणो यण्' इत्यादि । चेतति, चेततः, चेतन्ति । चिचेत, चिचिततुः, चिचितुः । चेतिता । चेतिष्यति । चेततु । अचेतत् । चेतेत् । चित्यात् । अचेतीत् । अचेतिष्यत् ।

शुच शोके[1]। गद व्यक्तायां वाचि। गदति॥

४८६ नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-पवति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च ८।४।१७॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्णत्वं स्यात् गद-नदादिषु परेषु। प्रणिगदति।

४८७ कुहोश्चुः ७।४।६२॥

अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः॥

४८८ अत उपधायाः ७।२।११६॥

उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च प्रत्यये। जगाद। जगदतुः। जगदुः। जगदिथ। जगदथुः। जगद॥

४८९ णलुत्तमो वा ७।१।९१॥

णित्स्यात्। जगाद, जगद। गदिता। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्। गद्यात्॥

४९० अतो हलादेर्लघोः ७।२।७॥

हलादेर्लघोरकारस्य वृद्धिर्वेडादौ सिचि परस्मैपदेषु। अगादीत्, अगदीत्। अगदिष्यत्। णद अव्यक्ते शब्दे॥

४९१ णो नः ६।१।६५॥

धात्वादेर्णस्य नः। णोपदेशास्त्वनर्द[5]-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द्-नक्क-नॄ-नृतः।

१-शोचति। शुशोच, शुशुचतुः, शुशुचुः। शोचिता। शोचिष्यति। शोचतु, शोचतात्। अशोचत्। शोचेत्। शुच्यात्। अशोचीत्। अशोचिष्यत्। २-स्पष्टायाम्। ३-श्तिपा शपा च निर्देशो यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थः। तेन-प्रनिजागदीति, प्रनिनानदीति इत्यादौ णत्वं नेति भावः। ४-अस्फुटे। ५-नर्द-नाटि-नाथ-नाध-नन्द-नक्क-नॄ-नृत इत्येतान् धातून् परित्यज्यावशिष्टाः (नकारादयः) णोपदेशाः।

४८६—उपसर्गस्थनिमित्त से परे नि के न को ण होता है गदादि परे रहते।

४८७—अभ्यास के कवर्ग हकार को चवर्ग होता है।

४८८—उपधा के अत् को वृद्धि होती है ञित, णित् प्रत्यय परे रहते।

४८९—उत्तम पुरुष का णल् विकल्प से णित् होता है।

४९०—हलादि धातु के ह्रस्व अकार को वृद्धि होती है विकल्प से इडादि परस्मैपद सिच् परे रहते।

४९१—धातु के आदि में स्थित ण को न होता है। णोपदेश—नर्द, नाटि नाथ् नाध् नन्द् नक्क् नॄ नृत् धातुओं से भिन्न नकारादि धातुएँ णोपदेश हैं।

४९२ उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ८ । ४ । १४ ॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य णोपदेशस्य णः स्यात्समासेऽसमासेऽपि । प्रणदति । प्रणिनदति । नदति । ननाद ॥

४९३ अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६ । ४ । १२० ॥

लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं तदवयवस्याऽसंयुक्तहल्मध्यस्थस्यात एत्वमभ्यासलोपश्च किति लिटि । नेदतुः । नेदुः ॥

४९४ थलि च सेटि ६ । ४ । १२१ ॥

इड्वति थलि प्रागुक्तं स्यात् । नेदिथ । नेदथुः । नेद । ननाद, ननद । नेदिव । नेदिम । नदिता । नदिष्यति । नदतु । अनदत् । नदेत् । नद्यात् । अनादीत्, अनदीत् । अनदिष्यत् । श्च्युतिर् क्षरणे । (इर इत्संज्ञा वाच्या) ।

४९५ शर्पूर्वाः खयः ७ । ४ । ६१ ॥

शिष्यन्ते अभ्यासस्य । हलादिःशेषापवादः । चुश्च्योत ॥

४९६ इरितो वा ३ । १ । ५७ ॥

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा परस्मैपदेषु । अश्च्युतत् , अश्च्योतीत् । यकाररहितोऽप्ययमित्येके । श्चोतति । चुश्चोत । अश्चोतत् , अश्चोतीत् । च्युतिर् आसेचने ।

णोपदेशफलं तु णत्वम् ।

१–'नेर्गदे' त्यादिना णत्वम् । २–अतः किम् ? दिदिवतुः । तपरः किम् ? ररासे । एक–इत्यादि किम् ? तत्सरतुः । अनादेशादेः किम् ?—चकणतुः । लिडाऽऽदेशविशेषणादिह स्यादेव । 'नेमिथ' 'सेहे' । ३–अत एत्वम् , अभ्यासलोपश्च । ४–'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धिः । ५–अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्तेऽन्ये हलो लुप्यन्ते इत्यर्थः । ६–"पुगन्तलघूपधस्य" इति गुणः ।

४९२—उपसर्गस्थ निमित्त से परे णोपदेश धातु के न को ण होता है समास और असमास में ।

४९३—लिट् को निमित्त मान कर आदेश आदि नहीं हुए हैं जिसको, ऐसा जो अङ्ग, तदवयव असंयुक्तहल्मध्यस्थ अकार को एकार होता है और अभ्यास का लोप होता है कित् लिट् परे रहते ।

४९४—पूर्वसूत्र की तरह कार्य होता है सेट् थल् परे रहते । (वा० इर् की इत्संज्ञा होती है)

४९५—अभ्यास में शर्पूर्वक खय् शेष रहते हैं ।

४९६—इरित् धातु से परे च्लि को अङ् विकल्प से होता है परस्मैपद में ।

श्च्योतति[1] । टुनदि समृद्धौ ॥

४९७ आदिर्ञिटुडवः १ । ३ । ५ ॥

उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः ॥

४९८ इदितो नुम् धातोः ७ । १ । ५८ ॥

नन्दति । ननन्द । नन्दिता । नन्दिष्यति । नन्दतु । अनन्दत् । नन्देत् । इदित्त्वान्नलोपो न । नन्द्यात् । अनन्दीत् । अनन्दिष्यत् । एवं कुथि पुथि लुथि मथि हिंसा-संक्लेशनयोः । बिदि अवयवे । बिन्दति । भिदीति पाठान्तरम् । भिन्दति । गडि वदनैकदेशे । गण्डति । चदि आह्लादने । चन्दति । अदि चेष्टायाम् । अन्दति । कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च । क्लिदि परिदेवने । तकि कृच्छ्रजीवने ॥ युगि जुगि वुगि वर्जने । मघि मण्डने । शिघि आघ्राणे । मन्थ विलोडने । मन्थति । ममन्थ । किन्त्वान्नलोपः, मथ्यात् । अर्च पूजायाम् । अर्चति ॥

४९९ तस्मान्नुड् द्विहलः ७ । ४ । ७१ ॥

द्विहलो धातोर्दीर्घीभूताकारात् परस्य नुट् । आनर्च । आनर्चतुः । आनर्चुः । अर्चिता । अर्चिष्यति । अर्चतु । आर्चत् । अर्चेत् । अर्च्यात् । आर्चीत् । आर्चिष्यत् । एवम्-अर्द[5] गतौ याचने च । अति[6] अदि बन्धने । वन षण संभक्तौ । वनति । ववान ॥

१—श्च्योतति । चुश्च्योत । श्च्योतिता । श्च्योतिष्यति । श्च्योततु । अश्च्योतत्, श्च्योतेत् । श्च्युत्यात् । अश्च्योतीत्, अश्च्युतत् । अश्च्योतिष्यत । २—इदितो धातोर्नुम् इत्यर्थः । ३—कुथिप्रभृतीनां शिघिपर्यन्तानामेकोनविंशतेर्धातूनां सर्वत्राऽऽशीर्लिङि नलोपाभाव 'कुन्थ्यात्' 'पुन्थ्यात्' इत्यादीनि रूपाणि ज्ञेयानि । ४—'अत आदेः' इति कृतदीर्घादित्यर्थः, तेन आर्चीत्, इत्यादौ नुट् न । ५-लिटि आ + अर्द, नुट् 'आनर्द' । ६—'इदितो...' इति नुम् । अन्तति । आनन्त । अन्तिता । अन्तिष्यति । अन्ततु । आन्तत् । अन्तेत् । अन्त्यात् । आन्तीत् । आन्तिष्यत् । अन्देर्लिटि—'आनन्द' ।

४९७—उपदेश में धातु के आदि मे वर्तमान 'ञि टु डु' इनकी इत् संज्ञा होती है ।

४९८—इदित् धातु को नुम् आगम होता है ।

४९९—द्विहल् धातु के दीर्घीभूत अकार से परे को नुट् होता है लिट् लकार में ।

५०० न शस-दद-वादि-गुणानाम् ६ । ४ । १२६ ॥

शसेर्ददेर्वकारादीनां गुणशब्देन भावितो[1] योऽत्[2] तस्य च एत्वाभ्यासलोपौ न । ववनतुः । ववनुः । सनति । ससान । सेनतुः । सेनुः ।

५०१ ये विभाषा ६ । ४ । ४३ ॥

जन-सन-खनामात्वं वा यादौ क्ङिति । सायात, सन्यात् ॥ व्रज व्रज गतौ । व्रजति । वव्राज । व्रजिता । व्रजिष्यति । व्रजतु । अव्रजत् । व्रजेत् । व्रज्यात् ॥

५०२ वद्–व्रज–हलन्तस्याचः ७ । २ । ३ ॥

एषामचो वृद्धिः परस्मैपदे सिचि । अव्राजीत् । अव्रजिष्यत् । कटे वर्षावरण-[3] योः । कटति । चकाट[4] । कटिता । कटिष्यति । कटतु । अकटत् । कटेत् । कट्यात् ॥

५०३ ह्मयन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम् ३ । १ । २८ ॥

ह–म–यान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्नेडादौ[5] सिचि परस्मैपदेषु । अकटीत् । अकटिष्यत् । गुपू रक्षणे ॥

१—(भावितो=विहितः ।) 'पेचे' इत्यत्र अकारस्य गुणत्वेऽपि गुणशब्देन विहितत्वाभावाद् एत्वाऽभ्यासलोपनिषेधो न । 'शशरतुः' 'पपरतु' इत्यादौ गुणशब्देन विहितत्वाद् एत्वाभ्यासलोपनिषेधः प्रवर्तते । २—'अत एकहल्मध्ये...' इत्यतोऽत् –इत्यनुवर्तते । 'ध्वसोरेद्धा...' इत्यतश्च 'एत्' इत्यनुवर्तते । तथा चाऽऽह मूले शसेरित्यादि । ३—वर्षम्=खण्डम् एकदेश इति यावत्–यथा–'भारतवर्षम्'='भारत-खण्डम्' इति । ४—'कुहोश्चुः' इति चुत्वम् । ५—अस्य यथासङ्ख्यमिमान्यु-दाहरणानि–मह (पूजायाम्) अमहीत् । क्रमु (पादविक्षेपे) अक्रमीत् । हय (गतौ) अहयीत् । क्षणु (हिंसायाम्) अक्षणीत् । श्वस् (प्राणने) अश्वसीत् । जागृ (निद्राक्षये) अजागरीत् । ण्यन्ते—छन्दसि 'नोनयतिध्वनयति' इत्यादिना

५००—शस् दद् तथा वकारादि धातु को और गुण शब्दभावित अकार को एत्वाभ्यासलोप नहीं होता ।

५०१—जन् सन् और खन् धातु को आत्व होता है विकल्प से यकारादि कित् ङित् परे रहते ।

५०२—वद व्रज और हलन्त धातु के अङ्गावयव अच् को वृद्धि होती है परस्मैपद सिच् परे रहते ।

५०३—हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त धातु और क्षण, श्वस्, जागृ तथा णयन्त श्वि और एदित् धातु को वृद्धि नहीं होती ।

५०४ गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः ३ । १ । २८ ॥
स्वार्थे ॥

५०५ सनाद्यन्ता धातवः ३ । १ । ३२ ॥

सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञाः स्युः ।

सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यषोऽथाचारक्विब्-णिङ्यङौ तथा ।

यगाय-ईयङ्-णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः ॥ १ ॥

सनाद्यन्ता धातव इत्यस्यानन्तरं 'भूवादय' इत्येव सूत्रयितुं युक्तम् । धातुत्वा-द्यादयः । गोपायति ॥

५०६ आयादय आर्धधातुके वा ३ । १ । ३१ ॥

आर्धधातुकविवक्षायामायेयङ्णिङो वा स्युः । (कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिटि) कास आम्विधानान्मस्य नेत्त्वम्[2] ॥

५०७ अतो लोपः ६ । ४ । ४८ ॥

आर्धधातुकोपदेशे यददन्तं तस्यातो लोप आर्धधातुके ॥

५०८ आमः २ । ४ । ८१ ॥

आमः परस्य लुक् ।

चकि निषिद्धे ऊन (परिहाणे) इत्यस्य लुङि (मा भवान्) ऊनयीत् । (टुओ) श्वि (वृद्धौ) अश्वयीत्, (पदित्) कटे (वर्षावरणयोः) अकटीत् ।

१—तेन पुनर्धातव इति ग्रहणगौरवं न स्यात् । तस्याऽनुवृत्तिलभ्यत्वात् ।
२—अन्यथा मकारस्येत्संज्ञायां कित्वात् 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति शास्त्रेण—आसकास-धात्वोः-आ—आस् का—आस् इत्यत्र दीर्घेण तादवस्थ्यमेवेति तयोराम्-विधानमेव व्यर्थं स्यात् ।

५०४—गुप्, धूप्, विच्छ्, पण् और पन् धातुओं से आय् प्रत्यय होता है स्वार्थ में ।

५०५—सन् से लेकर कमेर्णिङ् पर्यन्त प्रत्ययान्त शब्दों की धातु संज्ञा होती है ।

५०६—आर्धधातुक की विवक्षा में आयादि से विकल्प होते हैं ।

(वा०—कास् और अनेकाच् धातु से आम् होता है लिट् परे रहते ।)

५०७—आर्धधातुक उपदेशकाल में जो अकारान्त उसके अ का लोप होता है आर्धधातुक परे रहते ।

५०८—आम् से परे लिट् का लोप होता है ।

५०९ कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३ । १ । ४० ॥

आमन्ताल्लिट्परा: कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते, तेषां द्वित्वादि ।

५१० उरत् ७ । ४ । ६६ ॥

अभ्यासस्य ऋतोऽत्स्यात्प्रत्यये । वृद्धिः । गोपायाञ्चकार । द्वित्वात्परत्वाद्यणि प्राप्ते ।

५११ द्विर्वचनेऽचि १ । १ । ५९ ॥

द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये । गोपायाञ्चक्रतुः । गोपायाञ्चक्रुः ।

५१२ एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७ । २ । १० ॥

उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च ततः परस्यार्धधातुकस्येण् न ।

ऊदृदन्तैर्यौति-रु-क्ष्णु-शी-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः ।
वृङ्-वृञ्भ्यां विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः[3] स्मृताः ॥ १ ॥

कान्तेषु शक्लृ–एकः । चान्तेषु पच्–मुच्–रिच–वच्–विच–सिचः षट् ।

१—गोपायाम् + कृ कृ + अ । उरदत्वम्, हलादिः शेषः, 'अचो ञ्णिति'इति वृद्धिः । 'कुहोश्चु' इति अभ्यासककारस्य चकारः । मस्याऽनुस्वारः परसवर्णश्च (ञः) । २—ऊदन्तो यथा–भू (सत्तायाम्) । ॠदन्तो यथा—पॄ (पालनपूरणयोः) । यु (मिश्रणामिश्रणयोः) । रु (शब्दे) । क्ष्णु (तेजने) । शीङ् (स्वप्ने) ष्णु (प्रस्रवणे) । णु (स्तुतौ) । टुक्षु (शब्दे) । टु-ओश्वि (गति-वृद्धयोः) । डीङ् (विहायसा गतौ) । श्रिञ् (सेवायाम्) । वृङ् (संभक्तौ) । वृञ् (वरणे), इत्येतद्व्यतिरिक्ता अजन्ता एकाचो धातवोऽनिट इत्यर्थः । (अस्यां कारिकायां सेट्धातु–संग्रहः) । एतदग्रे चानिटां हलन्तानां संग्रहः । क्रमभङ्गे तु लाघवमेव कारणम् । ३—अनुदात्ताः, इत्यर्थः ।

५०९—आमन्त से परे लिट्परक कृ भू अस् का अनुप्रयोग होता है ।

५१०—अभ्यास ऋवर्ण को अत् होता है ।

५११—द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते अच् को आदेश नहीं होता द्वित्व की चिकीर्षा में ।

५१२—उपदेश में एकाच् और अनुदात्त धातु से परे आर्धधातुक को इट् नहीं होता ।

ऊदृदन्तैरिति—दीर्घ ऊकारान्त दीर्घ ॠकारान्त तथा 'यु' आदि ११ धातुओं को छोड़कर शेष एकाच् अजन्त धातुएँ अनुदात्त हैं ।

छान्तेषु प्रच्छ्एकः। जान्तेषु त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्ज-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-सञ्ज्-स्वञ्ज्-सृजः पञ्चदश। दान्तेषु-अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-नुद्-पद्य-भिद्-विद्य-विनद्-विन्द्-शद्-सद्- स्विद्य - स्कन्द - हदः षोडश। धान्तेषु क्रुध्-क्षुध्-बुध्य-बन्ध्-युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्याः एकादश। नान्तेषु मन्य-हनौ द्वौ। पान्तेषु आप्-क्षिप्-छुप्-तप् तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपः त्रयोदश। भान्तेषु-यभ्-रभ्-लभः, त्रयः। मान्तेषु गम्-नम्-रम्-यमः, चत्वारः। शान्तेषु क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशः दश। षान्तेषु कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्याः, एकादश। सान्तेषु घस-वसती द्वौ। हान्तेषु दह्-दुह्-दिह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहः, अष्टौ। अनुदात्ता हलन्तेषु धातवो द्व्यधिकं शतम्। गोपायाञ्चकर्थ। गोपायाञ्चक्रथुः। गोपायाञ्चक्र। गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चकर। गोपायाञ्चकृव। गोपायाञ्चकृम। गोपायाम्बभूव। गोपायामास। जुगोप। जुगुपतुः। जुगुपुः।

५१३ स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा ७।२।४४॥

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा। जुगोपिथ, जुगोप्थ। गोपायिता, गोपिता, गोप्ता। गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति। गोपायतु। अगोपायत्। गोपायेत्। गोपाय्यात्, गुप्यात्। अगोपायीत्।

५१४ नेटि ७।२।४॥

इडादौ सिचि हलन्तलक्षणा वृद्धिर्न। अगोपीत्, अगौप्सीत्[3]।

५१५ झलो झलि ८।२।२६॥

झलः परस्य सस्य लोपः स्याज्झलि। अगौप्ताम्। अगौप्सुः। अगौप्सीः।

१—'णलुत्तमो वा' इति णित्वाभावपक्षे न वृद्धिः। २—हलन्तलक्षणैव वृद्धिरेतेन निषिध्यते न तु वदिव्रज्योरपि तयोर्विशिष्य वृद्धिविधानादिति भावः। ३—इडभावपक्षे रूपमिदम्।

अनुदात्ता—इति उपर्युक्त १०२ हलन्त धातुएँ अनुदात्त हैं।

५१३—स्वरत्यादि और ऊदित् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है विकल्प से।

५१४—इडादि सिच् परे रहते हलन्त को वृद्धि नहीं होती।

५१५—झल् से परे स् का लोप होता है झल् परे रहते।

अगोसम्। अगोप्त। अगोप्सम्। अगोप्स्व। अगोप्स्म। अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत्, अगोप्स्यत्। क्षि क्षये क्षयति। चिक्षाय। चिक्षियतुः। चिक्षियुः। एकाच इति निषेधे प्राप्ते।

५१६ कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि ७।२।१३॥

कादिभ्य एव लिट इण्न स्यादन्यस्मादनिटोऽपि स्यात्।

५१७ अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ७।२।६१॥

उपदेशोऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट् ततः परस्य थल इण्न।

५१८ उपदेशेऽत्वतः ७।२।६२॥

उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इण्न।

५१९ ऋतो भारद्वाजस्य ७।२।६३॥

तासौ नित्यानिट ऋदन्तस्यैव थलो नेट् भारद्वाजस्य मतेन। तेनान्यस्य तु स्यादेव। अयमत्र संग्रहः।

अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्॥ १॥

१—'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः। २—इयङ् 'अचिश्नु' इत्यादिना। ३—क्रादीनां चतुर्णां ग्रहणं नियमार्थम्। नियमप्रकारश्चायम्—प्रकृत्याश्रयः प्रत्ययाश्रयो वा यावान् इण्निषेधः स लिटि चेत्तर्हि क्रादिभ्य एव नान्येभ्य इति। ततश्चतुर्णां थलि भारद्वाजनियमप्रापितस्य वमादिषु क्रादिनियमप्रापितस्य चेटो निषेधार्थं ग्रहणम्। तेन—'बिभिदिव' 'बिभिदिम' इत्यादौ 'एकाच-उपदेशे' इति निषेधः, 'बभूविम' इत्यादौ 'श्र्युकः किति' इति निषेधश्च न भवतीति भावः। ४—तासाविवेति तास्वत्—इत्यत्र सप्तम्यन्ताद् वतिः प्रत्ययः। तथा चायमर्थः—यथा तासौ न भवति तथा थल्यपि न। ५—(ऋदन्तभिन्नेषु) अजन्तेषु—अनि-

---

५१६—क्रादि से ही परे लिट् को इट् नहीं होता, अन्य अनिट् धातुओं से परे भी लिट् को इट् होता है।

५१७—उपदेश में जो अजन्त धातु, तास् परे रहते नित्य अनिट्, उससे परे थल् को इट् नहीं होता।

५१८—उपदेश में अकारवान् जो धातु, तास् परे रहते नित्य अनिट्, उसको थल् परे रहते इट् नहीं होता।

५१९—तास् परे रहते नित्य अनिट् ऋदन्त धातु को ही थल् परे रहते इट्

चिच्चयिथ-चिचेथ। चिच्चियथुः। चिच्चय। चिच्चाय-चिच्चय। चिच्चियिव। चिच्चियिम। चेता। चेष्यति। चयतु। अचयत्। चयेत्।

५२० अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५॥

अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद्यादौ प्रत्यये न तु कृत्सार्वधातुकयोः[१]। चीयात्।

५२१ सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।२।१॥

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः परस्मैपदे सिचि। अचैषीत्[२]। अचेष्यत। तप सन्तापे।

टूसु कादिनियमात् ('कृ सृ भृ वृ...'सूत्रात्) लिटि सर्वत्र नित्यमिट् प्राप्तः, स च 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' थलि निषिध्यते (पाणिनिमतेन)। भारद्वाजमतेन 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति नियमाद्-विधीयते। एवम् अकारवान् तासि नित्यानिट् यो धातुस्तस्मादपि कादिनियमेन लिटि सर्वत्र 'इट्', थलि 'उपदेशेऽत्वतः' इति निषिद्धो भारद्वाजनियमेन पुनर्विधीयते। तथा च मतद्वयेन विकल्पः सिद्ध्यति। क्रमेणोदाहरणम्-यथा चिच्चयिथ, चिचेथ। तेपिथ, ततप्थ। पपिथ, पपाथ। पेचिथ, पपक्थ। इयजिथ, इयष्ठ। तथा चोक्तं संग्रहकारिकायाम्—अजन्तोऽकारवान्वेत्यादि। किञ्च ईदृक्=तासौ नित्यानिट् ऋदन्तो धातुस्थलि नित्यमनिड् भवति; कादिनियमेन सर्वत्र प्राप्तस्येटस्थलि अजन्तत्वात् 'अचस्तास्वत्थल्यनिटः' इति पाणिनिमतेन, 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति भारद्वाजमतेनापि—इड्निषेधात्। यथा—जहर्थ। दधर्थ। यस्तु न स्यादजन्तो नाप्यकारवान् स च तासौ नित्यानिडपि लिटि सर्वत्र सेट् एव, कादिनियमात्।

१—कृत्सार्वधातुकयोस्तु 'संचित्य' 'शृणुयात्' इत्यादौ न दीर्घः। २—अचैषीत्, अचैष्टाम्, अचैषुः। अचैषीः, अचैष्टम्, अचैष्ट। अचैषम्, अचैष्व, अचैष्म।

नहीं होता भरद्वाज के मत में। अन्य धातुओं को तो भारद्वाज के मत से इट् होता ही है।

यहाँ यह संग्रह है, अजन्तोऽकारेति—(१) जो धातु अजन्त अथवा अकार वान् है और तास् परे रहते नित्य अनिट् है उससे परे थल् को विकल्प से इट् होता है (यह वेट् कहलाता है)। (२) तथा तास् परे रहते नित्य अनिट् ऋदन्त धातु थल् में नित्याऽनिट् होता है। (३) कादियों से भिन्न धातु लिट् में सेट् होता है।

५२०—अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है यादि प्रत्यय परे रहते। कृत्सार्वधातुक परे रहते नहीं होता।

५२१—इगन्त अङ्ग को वृद्धि होती है परस्मैपदपरक सिच् परे रहते।

तपति। तताप। तेपतुः। तेपुः। तेपिथ, ततप्थ। तप्ता। तप्स्यति। तपतु। अतपत्। तपेत्। तप्यात्। अताप्सीत्। अताप्ताम्। अतप्स्यत्।

५२२ निसस्तपतावनासेवने ८।३।१०२॥

षः स्यात्। आसेवनं—पौनःपुन्यं, ततोऽन्यस्मिन्विषये। निष्टपति। क्रमु पादविक्षेपे।

५२३ वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः ३।१।७०॥

एभ्यः श्यन्वा कर्तरि सार्वधातुके। पक्षे शप्।

५२४ क्रमः परस्मैपदेषु ७।३।७६॥

क्रमेर्दीर्घः परस्मैपदे शिति। क्राम्यति। क्रामति। चक्राम।

५२५ स्नु-क्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ७।२।३६॥

अत्रैवेट्। क्रमिता। क्रमिष्यति। क्राम्यतु, क्रामतु। अक्राम्यत्, अक्रामत्। क्राम्येत्, क्रामेत्। क्रम्यात्। अक्रमीत्। अक्रमिष्यत्। चमु छमु जमु झमु अदने।

५२६ ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति ७।३।७५॥

अचो दीर्घः। (आङि चम इति वक्तव्यम्) आचामति। आङि किम्-चमति। विचमति। अचमीत्। स्खल संचलने। स्खलति। चस्खाल।

१—भारद्वाजमते 'इट्' अन्यमते तदभावः। २—निष्कृष्य तपतीत्यर्थः। आसेवने तु 'निस्तपति' इति, न षत्वम्। ३—आत्मनेपदे तु—'आक्रमते' इति न दीर्घः। ४—स्नुक्रमोरुदात्तत्वादिटि सिद्धे वचनमिदं नियमार्थम्, अत आह—अत्रैवेति। तेन—'उपस्नोष्यते' (जलेन) 'उपक्रंस्यते' इत्यादौ नेट्। ५—'ह्मयन्त' इति न वृद्धिः। ६—'शर्पूर्वाः खयः' इति (खय्) चकारः, शिष्यते अन्येषां लोपः। 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः।

५२२—पौनःपुन्य से भिन्न अर्थ में तप धातु परे रहते निस् के स को ष होता है।

५२३—भ्राशादि धातुओं को विकल्प से श्यन् होता है कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे रहते।

५२४—क्रम धातु को दीर्घ होता है परस्मैपदपरक शित् परे रहते।

५२५—स्नु और क्रम् धातु से वलादि आर्धधातुक को तभी इट् [illegible] जब कि आत्मनेपद का निमित्त न हो। (अर्थात् परस्मैपद हो [illegible]

५२६—ष्ठिवु क्लमु और चम् धातु के अच् [illegible]

रहते। (आङ् पूर्वक चम् के अच् [illegible]

५२७ अतो ल्रान्तस्य ७ । २ । २ ॥

अतः समीपौ यौ ल्रौ तदन्तस्याङ्गस्यातो वृद्धिः परस्मैपदे सिचि । अत्सा-
रीत् । त्सर छद्मगतौ । अत्सारीत् । पा पाने ।

**५२८ पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद्-सदां पिब-
जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः ७ । ३ । ७८ ॥**

पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये । पिबादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः ।
पिबति ।

५२९ आत औ णलः ७ । १ । ३४ ॥

आदन्ताद्धातोर्णल औकारादेशः । पपौ ।

५३० आतो लोप इटि च ६ । ४ । ६४ ॥

अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिटोः परयोरातो लोपः । पपतुः । पपुः । पपिथ,
पपाथ । पपथुः । पप । पपौ । पपिव । पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपि-
बत् । पिबेत् ।

५३१ एर्लिङि ६ । ४ । ६७ ॥

घुसंज्ञानां मा-स्था-गै-पिबति-जहाति-स्यतीनां चात एत्वमार्धधातुके किति लिङि
पेयात् । गातिस्थेति सिचो लुक् । अपात् । अपाताम् ।

१—(लिटि) तत्सार, तत्सरतुः, तत्सरुः । तत्सरिथ, तत्सरथुः, तत्सर ।
तत्सार-तत्सर, तत्सरिव, तत्सरिम । २—उपधायामिकारस्याभावात्, पिबादेश-
विधानसामर्थ्याद्वा । ३—पा + अ, अभ्यासह्रस्वः, णल औत्वम् । ४—इड्वि-
कल्पः पूर्ववत् ।

५२७—अत् के समीप जो लकार रेफ तदन्त अङ्ग के अत् को वृद्धि होती
है परस्मैपद में सिच् परे रहते ।

—पा आदि धातुओं को पिबादि आदेश होते हैं इत्संज्ञक शकारादि

धातु से परे णल् को औ होता है ।

न ङित् आर्धधातुक और इट् परे रहते आकार का लोप

त्व होता है आर्धधातुक कित्

५३२ आतः ३। ४। ११० ॥

सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस्।

५३३ उस्यपदान्तात् ६। १। ९६ ॥

अपदान्तादवर्णादुसि पररूपमेकादेशः। अपुः। अपास्यत्। ग्लै म्लै हर्षक्षये। ग्लायति।

५३४ आदेच उपदेशेऽशिति ६। १। ४५ ॥

उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्वं न तु शिति। जग्लौ[3]। ग्लाता। ग्लास्यति। ग्लायतु। अग्लायत्। ग्लायेत्।

५३५ वान्यस्य संयोगादेः ६। ४। ६८ ॥

घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वा आर्धधातुके किति लिङि। ग्लेयात्, ग्लायात्।

५३६ यम-रम-नमातां सक् च ७। २। ७३ ॥

एषां सक् स्यादेभ्यः सिच इट् परस्मैपदेषु। अग्लासीत्[4]। अग्लास्यत्। एवं म्लायति। धेट् पाने। धयति। दधौ। धाता। धास्यति। धयतु। अधयत्। धयेत्।

५३७ दा-धा-घ्वदाप् १। १। २० ॥

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञाः स्युर्दाप्-दैपौ विना। धेयात्।

१—'सिजभ्यस्त...' इति सूत्रेणैव जुसि सिद्धे नियमार्थमिदम्। तेन—'अभूवन्' इत्यादौ न झेर्जुस्। २—शपि ऐकारस्य 'आय्'। ३—जग्लौ, जग्लतुः, जग्लुः। जग्लिथ, जग्लाथ, जग्लथुः, जग्ल। जग्लौ, जग्लिव, जग्लिम। ४—अग्लासीत्, अग्लासिष्टाम्, अग्लासिषुः, इत्यादि। ५—'गा-मा-दा-ग्रहणेष्वविशेषः' इति परिभाषायां दाग्रहणेन धारूपस्यापि ग्रहणम्। तेन धाग्रहणे धेट्-इत्यादीनामपि ग्रहणम्।

५३२—सिज्लुक् होने पर आदन्त से ही झि को जुस् होता है।

५३३—अपदान्त अकार से उस् परे रहते पररूप एकादेश होता है।

५३४—उपदेश में एजन्त धातु को आत्व होता है शित् परे रहते नहीं होता।

५३५—घुमास्थादि से अन्य संयोगादि धातु के आकार को एकार होता है विकल्प से आर्धधातुक लिङ् परे रहते।

५३६—यम्, रम्, नम् और आकारान्त धातु को सक् आगम होता है और सिच् को इडागम होता है।

५३७—दाप् दैप् को छोड़कर दा रूप और धा रूप धातुओं की घु संज्ञा होती है।

५३८ विभाषा धेट्श्व्योः ३ । १ । ४९ ॥

आभ्यां च्लेश्चङ् वा ।

५३९ चङि ६ । १ । ११ ॥

चङि परे अनभ्याससधात्ववयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेर्द्वितीयस्य । अदधत् । अदधताम् । अदधन् ।

५४० विभाषा घ्रा-धेट्-शा-च्छासः २ । ४ । ७८ ॥

एभ्यः सिचो लुग्वा परस्मैपदेषु । अधात् । अधाताम् । अधुः । पक्षे इट्सकौ । अधासीत् । अधासिष्टाम् । अधासिषुः । ग्लै न्यक्करणे । ग्लायति । द्रै स्वप्ने । द्रायति । ध्रै तृप्तौ । ध्रायति । ध्यै चिन्तायाम् । ध्यायति, दध्यौ । रै शब्दे । रायति । स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः । स्त्यायति । षोपदेशस्यापि सत्वे कृते रूपं तुल्यम् । षोपदेशफलं तु तिष्ट्यासतीत्यादौ भविष्यति । खै खदने । । खायति । क्षै जै षै क्षये । क्षायति । जायति । सायति । घुमास्थेत्यत्र 'विभाषा घ्राधेट्' इत्यत्र च स्यतेरेव ग्रहणं न त्वस्यै, तेन एत्वसिज्लुकौ न । सायात् । असासीत् । कै गै शब्दे ।

१—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इति 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति चाऽधिकृतम् । 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति सूत्रं लिटि इति परित्यज्य कृत्स्नमनुवर्त्तते, तथा चाह मूले । २—'आतः' इति जेर्जुस् । ३-ग्लौ । ग्लाता । ग्लास्यति । ग्लायतु । अग्लायत् । ग्लायेत् । ग्लायात्, ग्लेयात् । अग्लासीत् । इदमत्र बोध्यम्—आकारान्तानाम् एकारान्तानाम् ऐकारान्तानाम् ओकारान्तानाम् औकारान्तानाञ्च सर्वेषां धातूनां 'आदेच ...' इति कृताऽऽकारत्वाद् लुङि इट्सकौ भविष्यतः । यत्र विशेषः तत्र मूलेनैव प्रतिपाद्यते । ४—'धात्वादेः षः सः' इति कृतसकारस्याऽऽदेशत्वात् षत्वम् । अन्यथा—आदेशसकाराभावात् षत्वन्न स्यात्, दन्त्यादेस्तु 'तिस्त्यासति' इत्येव । ५—अत्र व्याख्यानमेव शरणम् (व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्) । 'विभाषा घ्राधेट्...' इत्यत्र श्यन्विकरणाभ्यां साहचर्यञ्च 'सहचरिताऽसहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इति ।

५३८—धेट् धातु और श्वि धातु से परे च्लि को अङ् विकल्प से होता है ।

५३९—चङ् परे रहते अनभ्यास धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है । अजादि धातु के द्वितीय अवयव एकाच् को द्वित्व होता है ।

५४०—घ्रा धेट् शो छो षो इन पाँच धातुओं से परे सिच् का परस्मैपद में विकल्प से लुक् होता है ।

शै श्रै पाके । पै ओवै शोषणे । पायात् । अपासीत् । घुमास्थेतीत्वं तदपवाद एर्लिङी-त्येत्वं, गातिस्थेति सिज्लुक् च न, (लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्)[1] इति पारूपस्य लाक्षणिकत्वात् । ष्टै वेष्टने । स्तायति[2] । स्नै वेष्टने । शोभायां चेत्येके । स्नायति । दैप् शोधने । दायति । अघुत्वादेत्वसिज्लुकौ न । दायात् । अदासीत् । घ्रा गन्धोपादाने । जिघ्रति । घ्रायात्, घ्रेयात् । अघ्रात् । अघ्रासीत् । अघ्रास्यत् । ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । धमति । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । तिष्ठति । स्थादि-ष्विति-षत्वम्, अधितष्ठौ । उपसर्गादिति षत्वम् । अधिष्ठाता । स्थेयात् । सत्वे कृते प्रकृतिस्तवर्गः[3] स्यात् ।

> नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु ।
> सकारजः शकारश्चे षाट्टवर्गस्तवर्गजः[4] ।।

गातिस्थेति सिचो लुक् । अस्थात् । म्ना अभ्यासे । मनति[5] । दाण् दाने । प्रणियच्छति[6] । ह्वृ कौटिल्ये । ह्वरति[7] ।

१—लक्षणैः सूत्रैः निष्पन्नं लाक्षणिकम् । साक्षादुक्तं प्रतिपदोक्तम् । अत्र च पारूपस्य लाक्षणिकत्वं नतु स्वाभाविकत्वमिति । २—'धात्वादेः षः सः' इति सत्वम् । निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः इति ष्टुत्वाभावः । ३—'ष्ठा' धातोः 'धात्वादेः' इति सत्वे कृते प्रकृतिस्तवर्गो भवति, अर्थात्—षत्वं निमित्तीकृत्यैव ष्टुत्वं विहितमासीत् तदपाये ष्टुत्वाऽपायः स्वतः सिद्धः । ४—नकारजावित । धातुषु झलि परतोऽनु-स्वारः पञ्चमश्च = ङकारो ञकारो णकारो नकारो मकारो वा, नकारजौ=नकारा-ज्जातौ—अर्थात्—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' इति नकारस्याऽनुस्वारो यथि परतश्च नकार-स्थानिकानुस्वारस्य 'अनुस्वारस्य ययि' इति परसवर्णः पञ्चमो ङकारादिः । क्रमशो यथा—शंसु—ध्वंसु—भ्रंस्वादयः । अङ्क—अञ्च—लुण्ठ—ग्रन्थ—तुम्फादयश्च । तत्फलन्तु—'अनिदिताम्' इति नलोपादि यथा स्यात्— 'शस्यात्' 'तुफ्यात्' इत्यादिषु । तथा सर्वत्र धातुषु चे=चकारे परे शकारः सकारस्थानिकः । यथा—'ओ व्रश्चू' छेदने, 'वव्रष्ठ' इत्यत्र स्कोरिति सलोपः । किञ्च—षाट्टवर्गस्तवर्गजः = रेफात् षकाराद्वा (परः)—टवर्गस्तवर्गजो भवति; यथा—'ऊर्णुञ्' इति । यथा च 'ष्ठा' इत्यस्य 'स्थेयात्' । ५—'पाघ्राध्मा...' इति मनाऽऽदेशः । ६—यच्छाऽऽदेशः, 'नेर्गद...' इति णत्वम् । ७—'सार्वधातुक...' इति (अर्) गुणः ।

(लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है) ।

नकारजाविति—धातुओं में झल् परे रहते जो भी अनुस्वार और पञ्चम (अर्थात् ङ्, ञ्, ण्, न्, म्,) है, वह नकार के स्थान में ही हुआ है । तथा च च परे रहते शकार सकार स्थानिक है । और रेफ षकार से परे टवर्ग तवर्ग स्थानिक है ।

५४१ ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ७ । ४ । १० ॥

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो लिटि । उपधाया वृद्धिः । जहार । जह्रतुः । जह्रुः । जहर्थ । जह्रथुः । जह्र । जहार, जहर । जहरिव । जहरिम । हर्ता ।

५४२ ऋद्धनोः स्ये ७ । २ । ७० ॥

ऋतो हन्तेश्च स्यस्य इट् । हरिष्यति । हरतु । अहरत् । हरेत् ।

५४३ गुणोर्ति-संयोगाद्योः ७ । ४ । २९ ॥

अर्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणो यकि यादावार्धधातुके लिङि च । ह्रियात् । अहार्षीत् । स्वृ शब्दोपतापयोः । स्वरति । स्वरतीति वेट् । सस्वरिथ, सस्वर्थ । वमयोस्तु स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्याच्छ्रयुकः कितीति निषेधे प्राप्ते क्रादिनियमान्नित्यमिट् । सस्वरिव । सस्वरिम । परत्वाद्धनोरिति नित्यमिट् । स्वरिष्यति । अस्वारीत् । अस्वार्षीत् । स्मृ चिन्तायाम् । स्मरति । हृ संवरणे । ह्वरति । सृ गतौ । क्रादित्वान्नेट् । ससर्थ । सस्रिव । सस्रिम ।

५४४ रिङ्-श-यग्लिङ्क्षु ७ । ४ । २८ ॥

शे यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ् । रीङि प्रकृते रिङ्विधि-

---

१—'णलुत्तमो वा' इति णित्वाभावपक्षे रूपम् । २—(ह्रस्व) ऋकारान्तत्वादनिट् । ३—'स्वरतिसूतिसूयति...' ७ । २ । ४२ ॥ इति विकल्पो यद्यपि परः, तथापि 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः ७ । २ । ३५ ॥' इति त्रिक'खण्डाऽऽरम्भात् = प्रकरणाऽऽरम्भात् प्रागेव 'नेड्वशि कृति ७।२।८ ॥' 'श्र्युकः किति ७ । २ । ११ ॥' इत्यादिप्रतिषेध (निषेध) काण्डारम्भसामर्थ्यात् अयं 'श्र्युकः किति' इति निषेधः स्वरत्यादिविकल्पं बाधते । लिटि वमयोस्तु एतं निषेधं क्रादिनियमो बाधत इति नित्यमिट् । ४—सस्मार । स्मर्ता । स्मरिष्यति । स्मरतु । अस्मरत । स्मरेत् । स्मर्यात् । अस्मार्षीत् । अस्मार्ष्टाम्, अस्मार्षुः । अस्मरिष्यत् । ५— अर्थभेदात् पुनः पाठः । ६—यदि दीर्घ एव कर्त्तव्यः स्यात् तर्हि 'रीङ' मेव किन्न विदध्यात् । ह्रस्वे कृते दीर्घकरणे गौरवात् ।

५४१—ऋदन्त संयोगादि अङ्ग को गुण होता है लिट् परे रहते ।

५४२—ऋदन्त और हन् धातु के परे स्य को इट् आगम होता है ।

५४३—ऋ धातु और संयोगादि ऋदन्त धातु को गुण होता है यक् परे रहते और आर्धधातुक परे रहते ।

५४४— श यक् और यादि आर्धधातुक लिङ् परे रहते ऋत् को रिङ् आदेश होता है ।

सामर्थ्यान्न दीर्घः। स्त्रियात्। असार्षीत्। असरिष्यत्। शीघ्रगतौ तु धावेति शिति धौरादेशः। धावति। गृ घृ सेचने। ध्वृ हृ र्च्छने[1]। ध्वरति। दृशिर् प्रेक्षणे। पश्यति। ददर्श। असुधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन, ददृशतुः। ददृशुः।

५४५ विभाषा[2] सृजि-दृशोः ७। १। ६५॥

आभ्यां थल इड् वा।

५४६ सृजि-दृशोर्झल्यमकिति ६। १। ५८॥

अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति। ददृष्ठ। ददर्शिथ।

५४७ षढोः कः सि ८। २। ४१॥

द्रक्ष्यति। दृश्यात्। इरित्वादङ् वा।

५४८ ऋदृशोऽङि गुणः[3] ७। ४। १६॥

अदर्शत्। अङभावे—

५४९ न दृशः ३। १। ४७॥

च्लेर्वक्ष्यमाणः क्सो न। अद्राक्षीत्[4]। अद्रक्ष्यत्। श्रु श्रवणे।

५५० श्रुवः शृ च ३। १। ७४॥

श्रुवः 'शृ' आदेशः श्नुप्रत्ययश्च[5] कर्तरि सार्वधातुके। शृणोति[6]।

१—हृर्च्छनम्=कौटिल्यम् अन्ये तु 'ह्वृ' इति पाठः। अस्यैव ह्वारमित्याहुः। २—सृज् धातोर्दृशधातोश्च क्रादिनियमान्नित्यमिट् प्राप्तस्तत्र विभाषेयम्। ३—ऋवर्णान्तानां दृशेश्च गुणः स्यादङि इति सूत्रार्थः। ऋवर्णान्ता अङि गुणभाजस्त्रय एव धातवः। ऋधातोः सृधातोश्च 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' इत्यङ् विधीयते। जृधातोश्च 'जृस्तम्भुः...' इत्यङ् विधिः। नान्यस्मात् ऋकारान्तादङ्। ४—अद्राष्टाम्, अद्राक्षुः। अद्राक्षीः, अद्राष्टम्, अद्राष्ट। अद्राक्षम्, अद्राक्ष्व, अद्राक्ष्म। ५—शपोऽपवादः। ६—ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यं। श्नुप्रत्ययस्याऽपित्वेन ङित्वात् 'शृ' इत्येतस्य न गुणः। 'सार्वधातुका...' इति 'श्नु' इत्यस्य गुणः।

५४५—सृज् और दृश् धातु से परे थल् को इट् होता है विकल्प से।

५४६—सृज् और दृश् को अम् आगम होता है किद् भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते।

५४७—ष और ढ को क होता है सकार परे रहते।

५४८—ऋकारान्त और दृश् धातु को गुण होता है अङ् परे रहते।

५४९—दृश् धातु से परे च्लि को 'क्स' नहीं होता।

५५०—श्रु धातु को शृ आदेश होता है और श्नु प्रत्यय होता है।

५५१ सार्वधातुकमपित् १ । २ । ४ ॥

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत्स्यात् । शृणुतः ।

५५२ हुश्नुवोः सार्वधातुके ६ । ४ । ८७ ॥

जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्यासंयोगपूर्वस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके । शृण्वन्ति । शृणोति । शृणुथः । शृणुथ । शृणोमि ।

५५३ लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ६ । ४ । १०७ ॥

असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य लोपो वा म्वोः परयोः । शृण्वः, शृणुवः । शृण्मः, शृणुमः । शुश्राव । शुश्रुवतुः । शुश्रुवुः । शुश्रोथ, शुश्रविथ । शुश्रुवथुः । शुश्रुव । शुश्राव, शुश्रव । शुश्रुव । शुश्रुम । श्रोता । श्रोष्यति । शृणोतु, शृणुतात् । शृणुताम् । शृण्वन्तु ।

५५४ उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ६ । ४ । १०६ ॥

असंयोगपूर्वात्प्रत्ययोतो हेर्लुक् । शृणु, शृणुतात् । शृणुतम् । शृणुत । गुणावादेशौ । शृणवानि । शृणवाव । शृणवाम । अशृणोत् । अशृणुताम् । अशृण्वन् । अशृणोः । अशृणुतम् । अशृणुत । अशृणवम् । अशृण्व, अशृणुव । अशृण्म, अशृणुम । शृणुयात् । शृणुयाताम् ।

५५५ अयपदान्तात् ६ । १ । ९५ ॥

अपदान्तादवर्णादुसि पररूपमेकादेशः स्यात् । शृणुयुः । शृणुयाः । शृणुयातम् । शृणुयात । शृणुयाम् । शृणुयाव । शृणुयाम । श्रूयात् । अश्रौषीत्[4] । अश्रोष्यत् । गम्लृ सृप्लृ गतौ ।

१—तेन गुणवृद्ध्यभावः । २—'आड्डत्तमस्य पिच्च' इति 'आट्' । ३—'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः । ४—अश्रौषीत्, अश्रौष्टाम्, अश्रौषुः । अश्रौषीः, अश्रौष्टम्, अश्रौष्ट । अश्रौषम्, अश्रौष्व, अश्रौष्म । अत्र सर्वत्र 'सिचि वृद्धिः परस्मै...' इत्यनेन वृद्धिः ।

५५१—पित् भिन्न सार्वधातुक ङिद्वत् होता है ।

५५२—हु धातु और श्नुप्रत्ययान्त जो अनेकाच् अङ्ग, तदवयव असंयोग पूर्वक उवर्ण को यण् आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ।

५५३—असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकार का लोप होता है विकल्प से वकार मकार परे रहते ।

५५४—असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकार से परे हि का लुक् होता है ।

५५५—अपदान्त 'अ' वर्ण से उस् परे रहते पररूप एकादेश होता है ।

५५६ इषु-गमि-यमां छः ७ । ३ । ७७ ॥

इच्छति । गच्छति । जगाम ।

५५७ गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि ६ । ४ । ९८ ॥

एषामुपधाया लोपः स्यादजादौ क्ङिति नत्वङि । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ, जगन्थ । जग्मथुः । जग्म । जगाम, जगम । जग्मिव । जग्मिम । गन्ता ।

५५८ गमेरिट् परस्मैपदेषु ७ । २ । ५८ ॥

गमेः सादेरार्धधातुकस्येट् परस्मैपदेषु । गमिष्यति । गच्छतु । अगच्छत् । गम्यात् ।

५५९ पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु ३ । १ । ५५ ॥

श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्ऌदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु । अगमत् । अगमिष्यत् । सर्पति ।

५६० अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ६ । १ । ५९ ॥

उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधस्तस्याम्वा झलादावकिति । सप्ता, सर्प्ता । असृपत् । ञिक्ष्विदा अव्यक्ते शब्दे । क्ष्वेदति । यभ मैथुने । यभति । वेट्-येभिथ ।

५६१ झषस्तथोर्धोऽधः ८ । २ । ४० ॥

झषः परयोस्तथयोर्धः स्यात् न तु दधातेः । ययब्ध । यब्धा ।

१—गम् गम्+अ, हलादिः शेषः, चुत्वम्, 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः, जगाम । २—'गन्ता' इत्यत्र गम्+ता, इति स्थितौ मकारस्य 'नश्चापदान्तस्य...' इति अनुस्वारः, 'अनुस्वारस्य ययि...' इति परसवर्णः । ३—अगमत्, अगमताम्, अगमन् । अगमः, अगमतम्, अगमत । अगमम्, अगमाव, अगमाम । ४—ऌदित्वादङ् । ५—लुङि—अयाप्सीत्, अयाब्धाम्, अयाप्सुः । इत्यादि ।

५५६—इष् गम् और यम् धातु को छ् अन्तादेश होता है शित् परे रहते ।

५५७—गम् हन् जन् खन् घस् इन धातुओं की उपधा का लोप होता अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते । अङ् परे हो तो नहीं होता ।

५५८—गम् से परे सादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है परस्मैपद परे रहते ।

५५९—श्यन्विकरण पुषादि, द्युतादि और ऌदित् से परे च्लि को अङ् होता है परस्मैपद परे रहते ।

५६०—उपदेश में अनुदात्त जो ऋदुपध धातु उसको अम् आगम विकल्प से होता है कित् भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते ।

५६१—झष् से परे त थ को ध होता है, दधाति को नहीं होता ।

णमु[1] प्रह्वत्वे शब्दे च। नेमिथ, ननन्थ। नन्ता। नंस्यति। ❀अनंसीत्। अनंसिष्ट।
त्यज हानौ। त्यजति। तत्याज। तत्यजिथ, तत्यक्थ। त्यक्ता। अत्याक्षीत्।
अत्याक्ताम्। अत्यक्ष्यत्। अक्षू व्याप्तौ।

५६२ अक्षोऽन्यतरस्याम् ३। १। ७५॥

श्नुर्वा स्यात्कर्तरि सार्वधातुके। पक्षे शप्। अक्ष्णोति, अक्षति। आनक्ष[2]।
आनक्षिथ, आनष्ठ[3]। अक्षिता, अष्टा। अक्षिष्यति। स्कोरिति कलोपः।

५६३ षढोः कः सि ८। २। ४१॥

अक्ष्यति। अक्ष्णोतु। अक्ष्णुहि[4]। अक्ष्णवानि। आक्ष्णोत्। आक्ष्णवम्।
अक्ष्णुयात्। अक्ष्णुयाताम्। अक्ष्णुयुः। अक्ष्यात्। आक्षीत्। आक्षिष्टाम्।
तक्षू त्वक्षू तनूकरणे।

५६४ तनूकरणे तक्षः ३। १। ७६॥

श्नुर्वा शब्विषये। तक्ष्णोति तक्षति वा काष्ठम्। ततक्ष। ततक्षिथ। ततष्ठ[5]।
अतक्षीत्। अतक्षिष्टाम्। अताक्षीत्[6]। अताष्टाम्। तनूकरणे किम्—वाग्भिः संत-
क्षति। भर्त्संयतीत्यर्थः। रक्ष पालने। रक्षति॥ णिक्ष चुम्बने। प्रणिक्षति[7]॥

१—'णो नः' इति नत्वम्-नमति। ननाम, नेमतुः, इत्यादि। २-'तस्मान्नुड्...' इति नुट्। ३—आनक्ष्+थ, इति स्थितौ 'स्कोः...' इति कलोपे ष्टुत्वम्। ४—असंयोगपूर्वत्वाभावाद् 'उतश्च प्रत्ययाद्...' इति न हेर्लुक्। ५—ततक्ष्+थ, इति स्थितौ 'स्कोः...' इति कलोपः, ष्टुत्वम्। ६—'स्वरतिसूतिसूयति...' इतीडभावपक्षे वृद्धौ 'स्कोः...' इति कलोपः, 'षढोः कः सि' इति षस्य कः, सिचः सकारस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे क-ष-संयोगे क्षः अताक्षीत्। अताष्टाम्, इत्यत्र 'झलो झलि' इति सिचः सस्य लोपः। ७-'उपसर्गादसमासे...' इति णत्वम्।

५६२—अक्ष् धातु से कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते 'श्नु' होना है विकल्प से। (पक्ष में शप् होता है)।

५६३—ष और ढ को क होता है सकार परे रहते।

५६४—तनूकरण अर्थ में तक्ष् धातु से 'श्नु' होता है विकल्प से शप् के विषय में।

❀अनम् स् त् इत्यत्र 'यमरमनमाताम्...'इति इट् सकौ, इटि सिचः सस्य लोपे, मस्यानुस्वारे—अनंसीत्।

वक्ष रोषे। संघात इत्येके। वक्षति। मृक्ष संघाते। मक्ष इत्येके। तक्ष त्वचने। त्वचनं = संवरणम्, त्वचो ग्रहणं च। पक्ष परिग्रह इत्येके॥ सूर्क्ष आदरे। सुसूर्क्ष। काक्षि[1] वाक्षि माक्षि काङ्क्षायाम्॥ द्राक्षि ध्राक्षि ध्वाक्षि घोरवाशिते च[2]। चूष[3] पाने। तूष तुष्टौ। पूष वृद्धौ। मूष स्तेये। लूष रूष भूषायाम्। शूष प्रसवे। यूष हिंसायाम्। जूष च। भूष अलंकारे। जि जये। जयति।

५६५ सँल्लिटोर्जेः ७। ३। ५७॥

सँल्लिण्निमित्तादभ्यासात्परस्य जेः कुत्वम्। जिगाय। जिग्यतुः। जिगयिथ, जिगेथ[4]। जीव प्राणधारणे। जीवति। पीव मीव तीव णीव स्थौल्ये। पीवति। पिपीव॥ मुर्वी बन्धने।

५६६ उपधायां च ८। २। ७८॥

धातोरुपधाभूतयो रेफवकारयोर्हल्परयोः परत इको दीर्घः स्यात्। मूर्वति॥ पुर्व पर्व मर्व पूरणे। पूर्वति। पर्वति। मर्वति॥ चर्व अदने। चर्वति॥ कष खष शिष जष झष वष मष रुष रिष हिंसार्थाः। शेषति। शिशेष। शेष्टा।

५६७ शल इगुपधादनिटः क्सः ३। १। ४५॥

इगुपधो यः शलन्तस्तस्मादनिटश्च्लेः क्सादेशः। अशिक्षत्[6]।

५६८ तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः ७। २। ४८॥

इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा। रोषिता, रोष्टा॥ भष भर्त्सने।

१—काङ्क्षति, वाङ्क्षति। माङ्क्षति। आशीर्लिङि 'काङ्क्ष्यात्' इत्यादि। इदित्वान्नलोपो न। एवमग्रे। २—घोरवाशितम् = काकादिशब्दः। चकारात् काङ्क्षायाम्। ३—चूष पाने=इक्षुदण्डादिचूषणे,—चूषति। चुचूष। चूषिता। लुङि—अचूषीत्। ४—अजन्तत्वात् थलि वेट्। ५—जिजीव। जीविता। लुङि—अजीवीत्, अजीविष्टामित्यादि। ६—'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः क्सः 'षढोः कः सि' इति षस्य कः, सस्य षत्वं, क-ष संयोगे क्षः, अशिक्षत्।

५६५—सन् और लिट्निमित्तक अभ्यास से परे जिधातु को कुत्व होता है।

५६६—धातु के उपधाभूत जो रेफ वकार हल् परक है उनके परे रहते इक् को दीर्घ होता है।

५६७—इगुपध शलन्त धातु से परे अनिट् च्लि को क्स आदेश होता है।

५६८—इष् सह् लुभ् रुष् रिष् इन धातुओं से परे तादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होता है।

इह भर्त्सनं=भरव: ॥ पुष[1] पुष्टौ । पोषिता । अनुदात्तेषु पुष्येति श्यना निर्देशाद्य-मुदात्तः । अङ् विधौ दैवादिकस्य[2] ग्रहणात् नाङ् । अपोषीत् । श्रिषु श्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे । श्रेषति । श्लेषति । प्रोषति । प्लोषति ।

॥ इति परस्मैपदिनः ॥

एध वृद्धौ

५६९ टित आत्मनेपदानां टेरे ३ । ४ । ७९ ॥

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम् । एधते ।

५७० आतो ङितः ७ । २ । ८१ ॥

अतः परस्य ङितामात इय् स्यात्[3] । एधेते । एधन्ते ।

५७१ थासस्से ३ । ४ । २० ॥

टितो लस्य थासः से स्यात् । एधसे । एधेथे । एधध्वे । एधे । एधावहे । एधामहे ।

५७२ इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३ । १ । ३६ ॥

इजादिर्यो धातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम् लिटि ।

५७३ आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य १ । ३ । ६३ ॥

आम् प्रत्ययो यस्मादित्यतद्गुणसंविज्ञानो[4] बहुव्रीहिः । आम्प्रकृत्या तुल्यमनु-

१—पोषति । पुपोष । २—अत्र व्याख्यानमेव प्रमाणम् । ३—इयादेश-यकारस्य 'लोपो व्योर्वलि' इति लोप । ४—तद्गुणसंविज्ञानोऽतद्गुणसंविज्ञान-श्चेति द्विविधो बहुव्रीहिः । तस्य = अन्यपदार्थस्य (प्रधानीभूतस्य) गुणाः= विशेषणानि, तेषां संविज्ञानम् = क्रियान्वयितया ज्ञानं विद्यते यत्र स तद्गुण-संविज्ञानः—यथा 'लम्बकर्णमानय' इत्यादौ अन्यपदार्थस्य (प्रधानी-भूतस्य) पुरुषादेः गुणाः कर्णादयः, आनयनक्रियान्वयितया प्रतीयन्ते । यत्र च-प्रधानी-

५६९—टित् लकार स्थानिक आत्मनेपद प्रत्ययों की टि को एत्व होता है ।

५७०—ह्रस्व अकार से परे ङित्सम्बन्धी आकार को इय् होता है ।

५७१—टित् लकार के थास् को से आदेश होता है ।

५७२—इजादि गुरुमान् धातु से ऋच्छति को छोड़कर आम् होता है ।

५७३—अनुप्रयुज्यमान कृञ् धातु से आम्प्रकृति के तुल्य आत्मनेपद होता है । (अर्थात् आम्प्रकृति यदि आत्मनेपदी हो तो कृञ् से आत्मनेपद होता है । अन्यथा नहीं) ।

प्रयुज्यमानात्कृञोऽप्यात्मनेपदं स्यात् ।

५७४ लिटस्तझयोरेशिरेच्[3] ३ । ४ । ८१ ॥

एकारोच्चारणं ज्ञापकम्—तङादेशानां टेरेत्वं नेति । तेन डा-रौ-रसां न । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चक्राते । एधाञ्चक्रिरे । एधाञ्चकृषे । एधाञ्चक्राथे ।

५७५ इणः षीध्वं[4]-लुङ्-लिटां धोऽङ्गात् ८ । ३ । ७८ ॥

इण्णन्तादङ्गात्परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः । एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चकृवहे । एधाञ्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास । अनुप्रयोगसामर्थ्यादस्तेर्भूभावो न । अन्यथा हि कश्चानुप्रयुज्यत इति कृभ्विति वा ब्रूयात् । एधिता । एधितारौ । एधितारः । एधितासे । एधितासाथे ।

५७६ धि च ८ । २ । २५ ॥

धादौ प्रत्यये सलोपः । एधिताध्वे ।

भूतान्यपदार्थविशेषणानि क्रियान्वयितया न विज्ञायन्ते सोऽतद्गुणसंविज्ञानः-यथा 'दृष्टसागरमानय' इत्यादौ प्रधानीभूतस्यान्यपदार्थस्य पुरुषादेर्विशेषणानि—सागरादय आनयन-क्रियान्वयितया न प्रतीयन्ते । तथा च प्रकृते 'आम्प्रत्ययवद्' इति—अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, तेन आम्प्रत्ययविनिर्मुक्तः, आम्प्रत्ययस्य प्रकृतिभूतो धातुरेव गृह्यते, इति । तथा चानेन सूत्रेणेदं तत्त्वं बोध्यते—यस्माद्धातोराम् प्रत्ययः कृतः स चेत्परस्मैपदी, तदा प्रयुज्यमानात्कृञोऽपि परस्मैपदं स्यात्, यद्यात्मनेपदी स्यात् (प्रकृतिभूतो धातुः) तदा कृषोऽप्यात्मनेपदम् । उभयपदित्वे च कृञोऽप्युभयपदमेव प्रयोक्तव्यम् इति ।

१—कृञो ञित्त्वात्कर्तृभिन्न (पर) गामिनि क्रियाफले परस्मैपदं प्राप्नोति, तथैवं व्यवस्थाप्यते, 'आम्' यस्माद् (धातोः) विहितः तस्य (धातोः) यद्यात्मनेपदं स्यात्तदैव कृञोऽप्यात्मनेपदं स्यादन्यथा न । तेन 'इन्दाञ्चकार'इत्यादौ न (तङ्) आत्मनेपदम् । २—एश् इति शित्करकरणं शित्त्वात् सर्वादेशत्वाय । ३—अन्यथा—'इश्' इत्येव ब्रूयात् । 'टित आत्मने' इति एत्वसिद्धेः । ४—षीध्वमिति षकारोच्चारणन्तु 'ब्रवीध्वम्' इत्यत्र—एकदेशविकृतन्यायेन सीध्वमित्यस्य सत्त्वादतिव्याप्तिवारणाय । ५—अन्यथा—असमेव वा भुवमेव वाऽनुप्रयुञ्जीत । ६—प्रत्यय इति—

५७४—लिट् के त और झ को क्रमशः एश् और इरेच् आदेश होता है ।

५७५—इणन्त अङ्ग से परे षीध्वम् और लुङ्, लिट् के धकार को ढकार होता है ।

५७६—धादि प्रत्यय परे रहते स का लोप होता है ।

५७७ ह एति ७ । ४ । ५२ ॥

तासस्त्योः सस्य हः स्यात् एति परे । एधिताहे । एधितास्वहे । एधितास्महे । एधिष्यते । एधिष्यावहे । एधिष्यामहे ।

५७८ आमेतः ३ । ४ । ९० ॥

लोट एत आम् । एधताम् । एधेताम् । एधन्ताम् ।

५७९ सवाभ्यां वामौ ३ । ४ । ९१ ॥

सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद्वामौ स्तः । एधस्व[1] । एधेथाम् । एधध्वम् ।

५८० एत ऐ ३ । ४ । ९३ ॥

लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात् । एधै । एधावहै । एधामहै । 'आटश्च'[2] । ऐधत । ऐधेताम् । ऐधन्त । ऐधथाः । ऐधेथाम् । ऐधध्वम् । ऐधे । ऐधावहि । ऐधामहि ।

५८१ लिङः सीयुट् ३ । ४ । १०२ ॥

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्येति सलोपः ।

५८२ लोपो व्योर्वलि ६ । १ । ६६ ॥

एधेत[3] । एधेयाताम् ।

५८३ झस्य रन् ३ । ४ । १०५ ॥

लिङो झस्य रन् स्यात् । एधेरन् । एधेथाः । एधेयाथाम् । एधेध्वम् ।

५८४ इटोऽत् ३ । ४ । १०६ ॥

लिङादेशस्य इटोऽत् स्यात् । एधेय । एधेवहि । एधेमहि ।

अन्यथा-वासो धत्ते, मृगो धावतीत्यादौ सलोपः स्यात् ।

१—'एधसे' इति सिद्धे एकारस्य वत्वम् । २—इति सूत्रेण वृद्धिः । ३—'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपः ।

५७७—तास् और अस्ति के स् को ह् होता है एकार परे रहते ।

५७८—लोट् के ए को आम् होता है ।

५७९—सकार और वकार से परे लोट् के एकार को क्रम से व और अम् होता है ।

५८०—लोट् के उत्तमपुरुष के एकार को ऐकार होता है ।

५८१—लिङ् के तिबादि को सीयुट् आगम होता है ।

५८२—वकार और यकार का लोप होता है वल् परे रहते ।

५८३—लिङ् के झ को रन् आदेश होता है ।

५८४—लिङ्स्थानिक इट् को अत् आदेश होता है ।

५८५ सुट् तिथोः ३ । ४ । १०७ ॥

लिङस्तथोः सुट्। यलोपः[1]। एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् । एधिषीध्वम्[2] । एधिषीय । एधिषीवहि । एधिषीमहि । ऐधिष्ट[3] । ऐधिषाताम् ।

५८६ आत्मनेपदेष्वनतः ७ । १ । ५ ॥

अनकारात्परस्यात्मनेपदेषु झस्याऽत् स्यात् । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः । ऐधिषाथाम् । ऐधिढ्वम् । ऐधिषि । ऐधिष्वहि । ऐधिष्महि । ऐधिष्यत । ऐधिष्येताम् । ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः । ऐधिष्येथाम् । ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये । ऐधिष्यावहि । ऐधिष्यामहि । कमु कान्तौ ।

५८७ कमेर्णिङ् ३ । १ । ३० ।

स्वार्थे । कामयते ।

५८८ अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ६ । ४ । ५५ ॥

एषु[5] णेरय् । कामयाञ्चक्रे । आयादय इति वा णिङ् । चकमे । चकमाते । चकमिरे । चकमिषे । चकमाथे । चकमिध्वे । चकमे । चकमिवहे । चकमिमहे । कामयिता, कमिता । कामयिष्यते, कमिष्यते । कामयताम् । अकामयत । कामयेत । कामयिषीष्ट[6], कमिषीष्ट ।

५८९ णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ् ३ । १ । ४८ ॥

णयन्तात् श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् कर्त्रर्थे लुङि । अकाम् इ अ त इति स्थिते ।

१—सीयुटो यकारस्य लोपः । २—एधिषीध्वम्, अत्र 'ध्वम्' इत्यस्य इणः परत्वेऽपि, अङ्गस्य—इण्णन्तत्वाभावात् 'इणः षीध्वंलुङ्...' इति ढत्वं न । 'ऐधिढ्वम्' इत्यत्र तु सिज्विशिष्टस्याऽङ्गसंज्ञा, सिजन्तं च इट् इति—अङ्गान्तर्भूतत्वेन ('धि च' इति सकारलोपे) इण्णन्ताङ्गत्वेन भवति ढत्वम् । ३—एध+(लुङ्) त, च्लेः सिच्, इट्, आट्, वृद्धिश्च । षत्वं ष्टुत्वम् ऐधिष्ट । ४—इच्छायामित्यर्थः । ५—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु, इत्येषु णेरयादेशः स्यात् । णिलोपापवादोऽयम् । ६—कामयिषीयास्ताम्, कामयिषीरन्, इत्यादिना ।

५८५—लिङ् सम्बन्धी तकार, थकार को सुट् आगम होता है ।
५८६—अनकार से परे आत्मनेपद सम्बन्धी झ को अत् आदेश होता है ।
५८७—कम धातु से णिङ् प्रत्यय होता है स्वार्थ में ।
५८८—अय आमादि प्रत्यय परे रहते णि के स्थान में अय् आदेश होता है ।
५८९—णयन्त से परे और श्रि, द्रु, स्रु धातुओं से परे च्लि को चङ् आदेश

५६० णेरनिटि ६ । ४ । ५१ ॥

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः ।

५६१ णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ७ । ४ । १ ।

चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासो लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णौ-वग्लोपेऽसति ।

५६३ सन्यतः ७ । ४ । ७६ ॥

अभ्यासस्यात इत्सनि ।

५६४ दीर्घो लघोः ७ । ४ । ९४ ॥

लघोरभ्यासस्य दीर्घः सन्वद्भावविषये । अचीकमत । णिङभावपक्षे । (कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः) । अचकमत । अकामयिष्यत, अकमिष्यत । भाम क्रोधे । भामते । बभामे । क्षमूष् सहने । क्षमते । चक्षमे । चक्षमिषे, चक्षंसे । चक्षमिवहे । चक्षमिमहे ।

५६५ म्वोश्च ८ । २ । ६५ ॥

मान्तस्य धातोर्मस्य नः स्यान्म्वोः परयोः । चक्षण्वहे । चक्षण्महे । गाधृ

१—'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्' इति न्यायात् णेरिति णिङ्-णिचो-रुभयोरपि ग्रहणम् । २—णौ अग्लोपो (णिजुन्निमित्तकोऽकृप्रत्याहारघटितवर्ण-लोपः) यदि न भूतः स्यादित्यर्थः । सति-अग्लोपे दीर्घसन्वद्भावौ न भवतः, यथा—अचकथत्, अजहलत्, इत्यादि । ३—'चङि' इति द्वित्वम् । अत्र णेरभावात् सन्वद्भावो न, तेन—इत्वं दीर्घश्चापि न । ४—भामिता । लुङि—अभामिष्ट, अभामिषाताम्, अभामिषत, इत्यादि । ५—क्षमिता, क्षन्ता । लुङि—अक्षमिष्ट, अक्षंस्त ।

होता है कर्त्रर्थ लुङ् परे रहते ।

५६०—अनिडादि आर्धधातुक परे रहते णि का लोप होता है ।

५६१—चङ्परक णि परे रहते अंग की उपधा को ह्रस्व होता है ।

५६२—चङ्परक णि परे रहते जो अंग उसके अवयव लघुपरक अभ्यास को सन्वद्भाव होता है यदि णि परे रहते अक् का लोप न हुआ हो ।

५६३—अभ्यास के अकार को इत् होता है सन् परे रहते ।

५६४—लघु अभ्यास को दीर्घ होता है सन्वद्भाव के विषय में ।

(वार्तिक—कम् से परे च्लि को चङ् आदेश होता है)

५६५—मान्त धातु के म को न होता है म और व परे रहते ।

प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च। गाधते[1]। बाधृ लोडने। लोडनं = प्रतिघातः। बाधते[2]। नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु[4]। (आशिषि नाथ इति वाच्यम्)। अस्याशिष्ये-वात्मनेपदं स्यात्। नाथते। अन्यत्र—नाथति। दध धारणे। दधते। स्कुदि आप्रवणे। आप्रवणमुत्प्लवनमुद्धरणं च। स्कुन्दते[5]। चुस्कुन्दे। श्विदि श्वैत्ये। श्विन्दते। शिश्विन्दे[7]। वदि अभिवादनस्तुत्योः। वन्दते। ववन्दे[6]। भदि कल्याणे सुखे च। भन्दते, बभन्दे। मदि स्तुति—मोद—मद—स्वप्न—कान्ति—गतिषु। मन्दते। स्पदि किञ्चिच्चलने। स्पन्दते। पस्पन्दे। मुद हर्षे। मोदते। मुमुदे[8]। ऊर्द माने क्रीडायां च। ऊर्दते। ऊर्दाञ्चक्रे। कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव[9]। कूर्दते[10]। खूर्दते। गूर्दते। गोदते। जुगुदे। षूद क्षरणे। सूदते। सुषूदे। ह्राद अव्यक्ते शब्दे। ह्रादते। जह्रादे। ह्लादी सुखे च। चादव्यक्ते शब्दे। ह्लादते। स्वाद आस्वादे। स्वादते। पर्द कुत्सिते शब्दे। गुदरव इत्यर्थः। पर्दते। पपर्दे। यती प्रयत्ने। यतते। येते[11]। श्रथि शैथिल्ये। श्रन्थते। ग्रथि कौटिल्ये। ग्रन्थते[12]। कत्थ श्लाघायाम्। कत्थते। चकत्थे। श्लोकृ सङ्घाते। सङ्घातो = ग्रन्थः। स चेह ग्रथ्यमानस्य व्यापारो ग्रन्थितुर्वा। आद्येऽकर्मको द्वितीये सकर्मकः। श्लोकते। शुश्लोके। शकि शङ्कायाम्। शङ्कते। शशङ्के। अकि लक्षणे। अङ्कते। आनङ्के[13]। ककि वकि श्वकि त्रकि ढौकृ त्रौकृ ष्वष्क वस्क मस्क टिकृ टीकृ तिकृ तीकृ रघि लघि गत्यर्थाः। कङ्कते। वङ्कते। श्वङ्कते। त्रङ्कते। ढौकते। डुढौके[14]। त्रौकते। तुत्रौके। (सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां सत्वप्रतिषेधः)। ष्वष्कते। षष्वष्के। वस्कते। ववस्के। मस्कते। ममस्के। टेकते। टीकते। तेकते। तीकते। रङ्घते। लङ्घते। श्लाघृ कत्थने[15]। श्लाघते। पचि व्यक्तीकरणे। पञ्चते। पपञ्चे। ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु*। अर्जते। (नुड्विधौ ऋकारैकदेशो रेफो

१—प्रतिष्ठा = आधारे स्थितिः। २—जगाधे। गाधिता। अगाधिष्ट। ३—बबाधे। बाधिता। अबाधिष्ट। ४—याच्ञोपतापैश्वर्याशीरर्थेषु। ५—'इदितो नुम् धातोः' इति नुम्। ६—वन्दिता। अवन्दिष्ट। ७—'शर्पूर्वाः खयः'। ८—मोदिता। अमोदिष्ट। ९—एवग्रहणेन धातूनामनेकार्थत्वं ज्ञाप्यते। १०—चुकूर्दे। कूर्दिता। अकूर्दिष्ट। 'उपधायाञ्चे' ति दीर्घः। ११—यतिता। अयतिष्ट। १२—जग्रन्थे। ग्रन्थिता। अग्रन्थिष्ट। १३—'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुट्। १४—'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति—अभ्यासे ह्रस्व उः। १५—कत्थनम् = आत्मप्रशंसा।

---

* अर्जनं प्राधान्येन, उपार्जनं तु प्रासङ्गिकम्।

ह्रस्वेन गृह्यते) । आनृजे[1] । ऋजि भृजी भर्जने । ऋञ्जाञ्चक्रे । भर्जते । एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ । एजते । एजाञ्चक्रे । भ्रेजते । बिभ्रेजे । भ्राजते । बभ्राजे । वेष्ट वेष्टने । वेष्टते । विवेष्टे । चेष्ट चेष्टायाम् । चेष्टते । चिचेष्टे[2] । स्फुट विकसने स्फोटते । पुस्फुटे । टुवेपृ कम्पने । वेपते । कपि चलने । कम्पते[3] । भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च । भिक्षते । बिभिक्षे । दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयन-नियम-व्रतादेशेषु । दीक्षते । दिदीक्षे । भाष व्यक्तायां वाचि । भाषते । बभाषे । वर्ष स्नेहने । वर्षते । ववर्षे । ईह चेष्टायाम् । ईहते । ईहाञ्चक्रे । गर्ह गल्ह कुत्सायाम् । गर्हते । गल्हते । काशृ दीप्तौ । काशते । ऊह वितर्के । ऊहते । ऊहाञ्चक्रे । कथम् 'अनुक्रमण्यूहति पण्डितो जनः' इति । (अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्) । अनुदात्तेत्त्वश्चिड्ङो ङित्करणाज्ज्ञापकात्[4] । तेन-'उदयति[5] यदि भानुः' । 'स्फायन्निर्मोकसंधिः'[6] इत्यादि सिद्धमित्याहुः । अय गतौ । अयते ।

५६६ उपसर्गस्यायतौ ८ । २ । १९ ॥

अयतावुपसर्गरेफस्य लत्वम् । प्लायते[7] । पलायते[8] ।

५६७ दयायासश्च ३ । १ । ३७ ॥

दय, अय आस एभ्य आम्लिटि । अयाञ्चक्रे । अयिता । अयिष्यते । अयताम् । आयत । अयेत । अयिषीष्ट ।

५६८ विभाषेटः ८ । ३ । ७९ ॥

इणः परो य इट् ततः परेषां षीध्वं-लुङ्-लिटां धस्य वा ढ । अयिषीढ्वम्[9], अयिषीध्वम् । आयिष्ट । आयिढ्वम्, आयिध्वम् । आयिषत । द्युत दीप्तौ । द्योतते ।

१—तेन द्विहल्त्वान्नुट् । २-चेष्टिता । अचेष्टिष्ट । ३—चकम्पे । कम्पिता । अकम्पिष्ट । ४—चक्षिङोऽनुदात्तेत्त्वेनैवाऽऽत्मनेपदं सिद्धे ङित्करणं व्यर्थं सत् ज्ञापयति-'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्' इति । ५—उपूर्वस्य 'अय्' धातोः परस्मैपदे-'उदयति' इति रूपम् । ६—स्फायी वृद्धौ-इत्यनुदात्तेतो धातोर्लटः शत्रादेशे स्फायन्निति रूपम् ७—'प्र' उपसर्गः । ८-'परा' उपसर्गः । ९—वा ढत्वम् ।

५६६—अय धातुपरक उपसर्ग के रेफ को लकार होता है ।

५६७—दय्-अय् आस् से आम् होता है लिट् परे रहते ।

५६८—इण् से परे जो इट्, उससे परे षीध्वं और लुङ्, लिट् के ध को ढ होता है विकल्प से ।

५९९ द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम् ७ । ४ । ६७ ॥

अभ्यासस्य । दिद्युते[1] । द्योतिता । द्योतिष्यते । द्योतताम् । अद्योतत । द्योतेत । द्योतिषीष्ट ।

६०० द्युद्भ्यो लुङि १ । ३ । ९१ ॥

द्युतादिभ्यः परस्मैपदं वा लुङि । पुषादीत्यङ् । अद्युतत्, अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत । एवं श्विता[2] वर्णे । ञिमिदा[3] स्नेहने । ञिष्विदा[4] स्नेहनमोचनयोः । मोहनयोरित्येके, ञिक्ष्विदा चेत्येके । रुच[5] दीप्तावभिप्रीतौ च । घुट परिवर्तने । शुभ दीप्तौ । क्षुभ संचलने । णभ तुभ हिंसायाम् । स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अवस्रंसने । ध्वंसु गतौ च । स्रम्भु विश्वासे । वृतु वर्तने । वर्तते । (ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन) ववृते । वर्तिता ।

६०१ वृद्भ्यः स्य-सनोः १ । ३ । ९२ ॥

वृतादिभ्यः पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं स्ये सनि च ।

६०२ न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ७ । २ । ५९ ॥

वृत्-वृध्-शृध्-स्यन्दूभ्यः सादेरार्धधातुकस्येण्न तङानयोरभावे[6] । वर्त्स्यति,

---

१—दिद्युताते, दिद्युतिरे-इत्यादि । द्योतिता । द्योतिष्यते । द्योतताम् । अद्योतत । द्योतेत । द्योतिषीष्ट । २—श्वेतते । शिश्विते । श्वेतिता । श्वेतिष्यते । श्वेतताम् । अश्वेतत । श्वेतेत । श्वेतिषीष्ट । अश्वेतिष्ट, अश्वितत् । अश्वेतिष्यत् । ३—मेदते । मिमिदे । (लुङि) अमिदत्, अमेदिष्ट । ४—स्वेदते । सिष्विदे (लुङि) अस्विदत्, अस्वेदिष्ट । क्ष्वेदते । चिक्ष्विदे । इत्यादि । ५—रोचते । रुरुचे । (लुङि) अरुचत्, अरोचिष्ट । एवं घोटते । जुघुटे । अघुटत्, अघोटिष्ट, एवं लुङि सर्वत्र रूपद्वयम् । शोभते, शुशुभे । क्षोभते, चुक्षुभे । नभते, नेभे । तोभते, तुतुभे । स्रंसते, सस्रंसे । भ्रंसते, बभ्रंसे । ध्वंसते, दध्वंसे । स्रम्भते, सस्रम्भे । एषां लुङि परस्मैपदेऽङि 'अनिदिताम्' इति नकारलोपः । अस्रसत् । अभ्रसत् । अध्वसत् । अस्रभत् । विपूर्वकः स्रम्भधातुर्विश्वासे प्रयुज्यते । ६—यत्र तङ् आनश्च (आत्मनेपदं) न स्यात् । अर्थात् परस्मैपदादिकं स्यात् ।

५९९—द्युत् और स्वादि के अभ्यास को संप्रसारण होता है ।

६००—द्युतादि से परे लुङ् को परस्मैपद होता है विकल्प से ।

६०१—पाँच वृतादियों से परस्मैपद विकल्प से होता है स्य, और सन् परे रहते ।

६०२—वृत् वृध् शृध् स्यन्द् इन धातुओं से सादि आर्धधातुक को इट् नहीं

वर्तिष्यते । वर्तताम् । अवर्तत । वर्तेत । वर्तिषीष्ट । अवृतत् , अवर्तिष्ट । अवर्त्स्यत् , अवर्तिष्यत । एवं वृधु वृद्धौ । शृधु शब्दकुत्सायाम् । स्यन्दू प्रस्रवणे । स्यन्दते । सस्यन्दे । सस्यन्दिषे, सस्यन्त्से । सस्यन्दिध्वे, सस्यन्ध्वे । स्यन्दिता, स्यन्ता । वृद्भ्यः स्यसनोरिति परस्मैपदे कृते ऊदिल्लक्षणमन्तरङ्गमपि विकल्पं बाधित्वा चतुर्ग्रहणसामर्थ्यान्न वृद्भ्य इति निषेधः । स्यत्स्यति, स्यन्दिष्यते, स्यन्त्स्यते । स्यन्देत । स्यन्दिषीष्ट, स्यन्त्सीष्ट । द्युद्भ्यो लुङीति परस्मैपदपक्षे ऽङ् । नलोपः । अस्यदत् , अस्यन्दिष्ट, अस्यन्त । अस्यन्त्साताम् । अस्यन्त्सत । अस्यन्त्स्यत् , अस्यन्दिष्यत, अस्यन्त्स्यत ।

६०३ अनु-वि-पर्यभि-निभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ८ । ३ । ७२ ॥

एभ्यः परस्याप्राणिकर्तृकस्य स्यन्दतेः सस्य षो वा । अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते वा जलम् । अप्राणिषु किम्-अनुस्यन्दते हस्ती । कृपू सामर्थ्ये ।

६०४ कृपो रो लः ८ । २ । १८ ॥

कृपः उ इति छेदः । कृपे रेफस्य लः । कृपेर्ऋकारस्यावयवो यो रेफसदृशस्तस्य च लकारसदृशः स्यात् । कल्पते । चक्लृपिषे, चक्लृप्से[3] । इत्यादि स्यन्दिवत् ।

६०५ लुटि च क्लृपः १ । ३ । ९३ ॥

लुटि स्यसनोश्च क्लृपेः परस्मैपदं वा ।

६०६ तासि च क्लृपः ७ । २ । ६० ॥

क्लृपेः परस्य तासेः सादेरार्धधातुकस्येण्न तङानयोरभावे । कल्प्तासि, कल्पितासे, कल्प्तासे । कल्प्स्यति, कल्पिष्यते, कल्प्स्यते । कल्पिषीष्ट ।

१—'कृपू' धातुपर्यन्तोऽयं द्युतादिगणः, तेन पक्षे अङ्‌। २—'अनिदिताम्...' इत्यादिना । ३—ऊदित्वाद् वेट् ।

होता तङ् और आन के अभाव में ।

६०३—अनु वि परि अभि नि इनसे परे अप्राणिकर्तृक सन्द् धातु के स को ष होता है विकल्प से ।

६०४—कृप् धातु के रेफ को लत्व होता है और कृप के ऋकारावयव रेफ सदृश भाग को भी लकार सदृश होता है ।

६०५—कृप् से परस्मैपद होता है विकल्प से लुट् स्य और सन् परे रहते ।

६०६—क्लृप् से परे तास् और सादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता तङ् और आन के अभाव में ।

६०७ लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु १ । २ । ११ ॥

इक्समीपाद्धलः परौ झलादी लिङात्मनेपदपरः सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः । क्लृप्सीष्ट । अक्लृपत्, अकल्पिष्ट, अक्लृप्त । अकल्प्स्यत्, अकल्पिष्यत, अकल्प्स्यत । इति द्युतादयः । दद दाने । ददते । ददंदे । ददाते । ददिरे । ददिता । ददिष्यते । ददताम् । अददत । ददेत । ददिषीष्ट । अददिष्ट । अददिष्यत । त्रपूष् लज्जायाम् । त्रपते ।

६०८ तॄ-फल-भज-त्रपश्च ६ । ४ । १२२ ॥

एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च किति लिटि सेटि थलि च । त्रेपे । त्रपिता, त्रप्ता[3] । त्रपिष्यते, त्रप्स्यते । त्रपताम् । त्रपेत । त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट, अत्रपिष्ट, अत्रप्त[4] । अत्रपिष्यत । अत्रप्स्यत । घट चेष्टायाम् । घटते । जघटे । व्यथ भयसंचलनयोः ।

व्यथो लिटि ७ । ४ । ६८ ॥

व्यथेरभ्यासस्य संप्रसारणं स्याल्लिटि । हलादिः शेषापवादः । विव्यथे । प्रथ प्रख्याने । प्रथते । पप्रथे । प्रस विस्तारे । प्रसते । म्रद मर्दने । स्खद स्खदने । स्खदनं=विद्रावणम् । स्खदते । क्रप कृपायां गतौ च । क्रपते । ञित्वरा संभ्रमे । त्वरते[5] । टुभ्राजृ टुभ्राशृ टुभ्लाशृ दीप्तौ । भ्राजते ।

६०९ फणां च सप्तानाम् ६ । ४ । १२५ ॥

फण, राजृ, भ्राजृ, भ्राशृ, भ्लाशृ, स्यमु, स्वन, एषां वा एत्वाभ्यासलोपौ स्तः किति लिटि सेटि थलि च । भ्रेजे । बभ्राजे । वा भ्राशेति श्यन्वा । भ्राश्यते, भ्राशते । भ्रेशे, बभ्राशे । भ्लाश्यते । भ्लेशे, बभ्लाशे । रमु क्रीडायाम् । रमते । रेमे[6] ।

१—तेन न गुणः । २—'न शसददवादिगुणानाम्' इति–एत्वाभ्यासलोपयोर्निषेधः । ३—ऊदित्वात् वेट् । इडभावपक्षे रूपम् । ४—'झलो झलि' इति सलोपः । ५—तत्वरे । त्वरिता । अत्वरिष्ट । ६—रेमाते, रेमिरे । लुङि–अरंस्त,

---

६०७—इक्समीप हल् से परे जो झलादि लिङ् और आत्मनेपद परक सिच् ये दोनों कित् होते हैं ।

६०८—तॄ फल भज् और त्रप् इन् धातुओं के अत् को एत्व और अभ्यास लोप होता है, कित् लिट् और सेट् परे रहते ।

व्यथोलिटि—व्यथ् धातु को सम्प्रसारण होता है लिट् परे रहते ।

६०९—फण् आदि सात धातुओं को एत्वाभ्यास लोप विकल्प से होता है कित् लिट् और सेट् थल् परे रहते ।

रब्धा। जभी जृभि गात्रविनामे।

६१० रधिजभोरचि ७। १। ६१॥

नुम्। जम्भते। जजम्भे। जृम्भते। जजृम्भे। इत्यात्मनेपदिनः।

अथोभयपदिनः।

श्रिञ् सेवायाम्। श्रयति। श्रयते। शिश्राय[1], शिश्रिये। श्रयितासि, श्रयितासे। श्रयिष्यति, श्रयिष्यते। श्रयतु, श्रयताम्। अश्रयत्, अश्रयत। श्रयेत्। श्रीयात्[2], श्रयिषीष्ट। अशिश्रियत्[3], अशिश्रियत। अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत। भृञ् भरणे। भरति, भरते। बभार। बभ्रतुः। बभ्रुः। बभर्थ। बभृम। बभ्रे। बभृषे। भर्तासि, भर्तासे। भरिष्यति[5], भरिष्यते। भरतु, भरताम्। अभरत्, अभरत। भरेत्, भरेत। भ्रियात्[6]।

६११ उश्च १। २। १२॥

ऋवर्णात्परौ झलादी लिङ्सिचावात्मनेपदपरौ कितौ स्तः। भृषीष्ट। भृषीयास्ताम्। अभार्षीत्[8]।

६१२ ह्रस्वादङ्गात् ८। २। २७॥

सिचो लोपो झलि। अभृत। अभरिष्यत्, अभरिष्यत। हृञ् हरणे। हरति, हरते। जहार। जह्रतुः। जह्रुः। जहर्थ। जह्रिव। जह्रिम। जह्रे। जह्रिषे। हर्तासि, हर्तासे। हरिष्यति, हरिष्यते। धृञ् धारणे। धरति, धरते। णीञ् प्रापणे। नयति, नयते[10]। डुपचष् पाके। पचति। पचते। पपाच। पेचिथ, पपक्थ। पेचे। पक्ता।

अरंसाताम्, अरंसत। अरंस्थाः, अरंसाथां, अरन्ध्वम्। अरंसि, अरंस्वहि, अरंस्महि।

१—शिश्रियतुः, शिश्रियुः। शिश्रयिथ, शिश्रियथुः, इत्यादि। २—'अकृत्सार्वधातु···' इति दीर्घः। ३—"णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि···" इति चङ्, द्वित्वम्, इयङ्। ४—थलि 'कृसभृ···'इतीड्निषेधः। ५—"ऋद्धनोः स्ये" इति 'इट्'। ६—"अकृत् सार्व···' इति दीर्घ प्राप्तः, 'रिङ्' इति ह्रस्वविधानसामर्थ्यान्न भवति। ७—तेन न गुणः। ८—"सिचि वृद्धिः" इति वृद्धिः। अभार्ष्टम्, अभार्षुः। इत्यादि। ९—दधार। अधृत, अधार्षीत्। १०—लिटि—निनाय निन्यतुः, निन्युः। निनयिथ, निनेथ। निन्ये। निन्याते। निन्यिरे। अनैषीत्, अनेष्ट, अनेषाताम्।

६१०—रध् और जभ् धातु को नुम् होता है अजादि प्रत्यय परे रहते।

६११—ऋवर्ण से परे झलादि लिङ् और सिच् कित् होते हैं तङ् परे रहते।

६१२—ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सिच् का लोप होता है झल् परे रहते।

पक्ष्यति, पक्ष्यते[1] । भज सेवायाम् । भजति, भजते । भेजे । भक्तासि । भक्ष्यति, भक्ष्यते[2] । भजतु, भजताम् । अभाक्षीत्, अभक्त । अभक्षाताम् । यज देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु । यजति, यजते ।

६१३ लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ६ । १ । १७ ॥

वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य संप्रसारणं स्याल्लिटि । इयाज[3] ।

६१४ वचि-स्वपि-यजादीनां किति ६ । १ । १५ ॥

वचि-स्वप्योर्यजादीनां च संप्रसारणं किति ।

यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ् व्येञ् इत्यपि ।

ह्वेञ्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव ॥ १ ॥

ईजतुः[4] । ईजुः । इयजिथ, इयष्ठ[5] । ईजे । यष्टा । यक्ष्यति । यक्ष्यते[6] । यजतु । यजताम् । अयजत् । अयजत । यजेत । इज्यात् । यक्षीष्ट । अयाक्षीत्[7] । अयष्ट । अयक्ष्यत् । अयक्ष्यत । वह प्रापणे । वहति । वहते । उवाह[8] । ऊहतुः । ऊहुः । उवहिथ । 'झषस्तथोर्धोऽधः' ।

१—पक्ष्यति, पक्ष्यते । लुङि—अपाक्षीत्, अपाक्ताम्, अपाक्षुः । आत्मनेपदे—अपक्त, अपक्षाताम्, अपक्षत । इत्यादि । २—भज्+स्यति । "चोः कुः" इति 'गः' "खरि च" इति कः । ककारात्परस्य सस्य षत्वम् । कषसंयोगे क्षः । एवमग्रेऽपि । (लृङि) अभक्ष्यत । ३—ययज्+अ, (अभ्यासस्य) सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम्, उपधावृद्धिः । इयाज । ४—यज्+अतुस्, इत्यत्र 'वचि स्वपी'ति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च, 'इज्' इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषे सवर्णदीर्घः । ईजतुः । ५—इडभावपक्षे रूपमिदम् । ययज्+थ (ल्), अभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । "व्रश्चभ्रस्जसृज..." इति जकारस्य षत्वम् । ततः ष्टुत्वम् । ६—षस्य कत्वम्, कषसंयोगे क्षः । ७—अयाक्षीत्, अयाष्टाम्, अयाक्षुः, वदव्रजेति वृद्धिः । ८—उवाह, ऊहतुः, इत्यादि, इयाज, ईजतुः-इत्यादिवत् ।

६१३—वच्यादि और ग्रह्यादि धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है लिट् परे रहते ।

६१४—वच्-स्वप् और यजादि धातु को संप्रसारण होता है कित् परे रहते ।

यजिर्वपिरिति—यज् वप् वह् वस् वेञ् व्येञ् ह्वेञ् वद और श्वि ये नौ धातुएं यजादि कहलाती हैं ।

६१५ ढो ढे[1] लोपः ८ । ३ । १३ ॥

६१६ सहिवहोरोदवर्णस्य[2] ६ । ३ । ११२ ॥

ढलोपे । उवोढ[3] । ऊहे । वोढा । वक्ष्यति । वक्ष्यते । वहतु । उह्यात् । वक्षीष्ट । अवाक्षीत् । अवोढाम् । अवाक्षुः । अवाक्षीः । अवोढम् । अवोढ । अवाक्षम् । अवाक्ष्व । अवाक्ष्म । अवोढ । अवक्षाताम् । अवक्षत । अवोढाः । अवक्षाथाम् । अवोढ्वम् । अवक्षि । अवक्ष्वहि । अवक्ष्महि । टुवप् बीजसन्ताने । बीजसन्तानं=क्षेत्रे विकिरणं गर्भाधानं च । अयं छेदनेऽपि । केशान्वपति । वपते । उवाप । ऊपे । वप्ता । वप्स्यति । वप्स्यते । उप्यात् । वप्सीष्ट । प्रणयवाप्सीत् । अवप्त[6] । वेञ् तन्तुसन्ताने । वयति । वयते ।

६१७ वेञो वयिः २ । ४ । ४१ ॥

वा स्यात् लिटि । इकार उच्चारणार्थः । उवाय ।

६१८ ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि—विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनां ङिति च ६ । १ । १६ ॥

चात्किति संप्रसारणम् । इति यस्य प्राप्ते ।

६१९ लिटि वयो यः ६ । १ । ३८ ॥

वयो यस्य संप्रसारणं न स्याल्लिटि । ऊयतुः । ऊयुः ।

१—ढस्य ढे परे लोप इत्यर्थः । २—अनयोरवर्णस्य 'ओत्' स्याद् ढलोपे सति–इति सूत्रार्थः । ३—उवह् + थ (ल्), थस्य धत्वे हस्य "हो ढः" इति ढत्वम्, ष्टुत्वेन धस्यापि ढत्वम्, शेषं मूले स्पष्टम् । ४—ढस्य "षढोः कः सि" इति कत्वम् । सस्य षत्वम् । क्षः । ५—"नेर्गदणद···" इति णत्वम्, अवाप्ताम्, अवाप्सुः, इत्यादि । ६–"झलो झलि" इति सिचो लोपः । अवप्साताम्, अवप्सत ।

६१५—ढकार का लोप होता है ढकार परे रहते ।

६१६—सह और वह् धातु के अकार को ओकार होता है ढकार के लोप होने पर ।

६१७—वेञ् को वय् आदेश होता है लिट् परे रहते ।

६१८—ग्रहि ज्या आदि सूत्रोक्त नौ धातुओं को सम्प्रसारण होता है कित् ङित् परे रहते ।

६१९—वय् के य को सम्प्रसारण नहीं होता लिट् में ।

६२० वश्चास्यान्यतरस्यां किति ६ । १ । ३६ ॥

वयो यस्य वो वा स्यात्किति लिटि । ऊवतुः । ऊवुः । वयस्यासावभावात्थलि नित्यमिट् । उवयिथ । स्थानिवत्त्वेन पित्वात् तङ् । ऊये । ऊवे । वयादेशाभावे ।

६२१ वेञः ६ । १ । ४० ॥

संप्रसारणं न स्यात् लिटि । ववौ । ववतुः । ववुः । वविथ, ववाथ । ववे । ववाते । वविरे । वाता । ऊयात् । वासीष्ट । अवासीत् । अवासिष्टाम् । अवासिषुः । व्येञ् संवरणे । व्ययति । व्ययते ।

६२२ न व्यो लिटि ६ । १ । ४६ ॥

आत्वं न । परमपि हलादिःशेषं बाधित्वा यस्य संप्रसारणम् । उभयेषां ग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा वच्यादीनां ग्रहादीनां चानुवृत्त्यैव सिद्धे किं तेन । विव्याय । विव्यतुः* । विव्युः ।

६२३ इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम् ७ । २ । ६६ ॥

अद् ऋ व्येञ् एभ्यस्थलो नित्यमिट् । विव्ययिथ । विव्ययुः । विव्य । विव्याय, विव्यय । विव्यिव । विव्यिम । विव्ये । व्याता । व्यास्यति । वीयात् । व्यासीष्ट । अव्यासीत् । अव्यास्त । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च ।

६२४ अभ्यस्तस्य च ६ । १ । ३३ ॥

अभ्यस्तीभविष्यतो ह्वेञः संप्रसारणम् । जुहाव । जुहुवे । ह्वाता । ह्वास्यति । ह्वास्यते ।

६२५ लिपि-सिचि-ह्वश्च ३ । १ । ५३ ॥

च्लेरङ् । अह्वत् । अह्वताम् ।

१—यजादित्वात्सम्प्रसारणे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घः ।

६२०—वय् के य को व होता है विकल्प से कित् लिट् में ।

६२१—वेञ् को लिट् में सम्प्रसारण नहीं होता ।

६२२—व्येञ् को लिट् में आत्व नहीं होता ।

६२३—अद् ऋ व्येञ् इनसे परे थल् को नित्य इट् होता है ।

६२४—अभ्यस्त हो रहे ह्वेञ् को सम्प्रसारण होता है ।

६२५—लिप् सिच् और ह्वेञ् धातु से परे च्लि को अङ् आदेश होता है ।

---

*सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'वि' इत्यस्य द्वित्वे सति विव्यतुः, विव्युः ।

६२६ आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ३ । १ । ५४ ॥

अङ् वा । अह्वत, अह्वास्त । राजृ दीप्तौ । राजति । राजते । रराज । रेजतुः रराजतुः । रेजुः, रराजुः । रेजे, रराजे । हिक्क अव्यक्ते शब्दे । हिक्कति । हिक्कते । अञ्चु गतौ पूजने च । अञ्चति । अञ्चते । अचु इत्येके । अचीत्यपरे । टुयाचृ याञ्चायाम् । याचति । याचते । बुधिर बोधने । बोधति । बोधते । अबुधत्, अबोधीत् । अबोधिष्ट । खनु अवदारणे । खनति । खनते । चखान । चख्नतुः । चख्नुः । चख्ने । खायात्, खन्यात् । चीवृ आदानसंवरणयोः । चीवति । चीवते । चायृ पूजानिशामनयोः । चायति । चायते । व्यय गतौ । व्ययति । व्ययते । दाशृ दाने । दाशति । दाशते । भेषृ भये । गतावित्येके । भेषति । भेषते । अस गतिदीप्त्यादानेषु । असति । असते । आस । आसे । अयं षान्तोऽपि । स्पश बाधनस्पर्शनयोः । स्पर्शनं = ग्रन्थनम् । स्पशति । स्पशते । लष कान्तौ । लष्यति, लषति । लषते, लष्यते । चष भक्षणे । चषति । चषते । छष आदानसंवरणयोः । छषति । छषते । दाशृ दाने । दाशति । दाशते । धावु गतिशुद्ध्योः । धावति । धावते । इत्युभयपदिनः । इति भ्वादिः ।

अथादादिगणः ॥२॥

६२७ ऋतेरीयङ् ३ । १ । २९ ॥

स्वार्थे । ऋतिः सौत्रः । जुगुप्सायामिति बहवः । कृपायां चेत्येके । ऋतीयते ।

१—'फणां च सप्तानाम्' इति-एत्वाभ्यासलोपौ । २—याचिता । अयाचीत्, अयाचिष्टाम्, अयाचिषुः । आत्मनेपदे-अयाचिष्ट, अयाचिषाताम्, अयाचिषत । इत्यादि । ३—'इरितो वा' वैकल्पिकोऽङ् । ४—'गमहन...' इति उपधालोपः । ५—'ये विभाषा' इति विकल्पेन नस्यात्वम् । लुङि—अखानीत्, अखनीत् । आत्मनेपदे—अखनिष्ट । इत्यादि । ६—'वा भ्रमु...' इति वैकल्पिकः श्यन् । ७—अधावीत्, अधाविष्टाम्, अधाविषुः । आत्मनेपदे—अधाविष्ट, अधाविषाताम्, अधाविषत । ॥ इति भ्वादयः ॥

५२६—आत्मनेपद में लिप् सिच् ह्वेञ् धातु से च्लि को अङ् विकल्प करके होता है । (इति भ्वादयः)

६२७—सौत्र ऋत् धातु से ईयङ् प्रत्यय होता है स्वार्थ में ।

ऋतीयाऽभावपक्षे । आयादय इति इयङभावपक्षे । शेषात्कर्तरीति परस्मैपदम् । आनर्त । अर्तिता । अर्तिष्यतीत्यादि । अद् भक्षणे ।

६२८ अदिप्रभृतिभ्यः शपः २ । ४ । ७२ ॥

लुक् स्यात् । अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्सि । अत्थः । अत्थ । अद्मि । अद्वः । अद्मः ।

६२९ लिट्यन्यतरस्याम् २ । ४ । ४० ॥

अदो घस्लृ वा स्यात् । जघास । उपधालोपः । घस्य चर्त्वे ।

६३० शासि-वसि-घसीनां च ८ । ३ । ६० ॥

इण्कुभ्यामेषां सस्य षः । जक्षतुः । जघसिथ । आद । आदतुः । आदुः । आदिथ । अत्ता । अत्स्यति । अत्तु, अत्तात् । अत्ताम् । अदन्तु ।

६३१ हु-झल्भ्यो हेर्धिः ६ । ४ । १०१ ॥

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात् । अद्धि, अत्तात् । अत्तम् । अत्त । अदानि अदाव । अदाम ।

६३२ अदः सर्वेषाम् ७ । ३ । १०० ॥

अदः परस्यापृक्तस्य सार्वधातुकस्याऽट् स्यात् । आदत् । आत्ताम् । आदन् ।

१—लङि आर्तीयत, आर्तीयेताम्, आर्तीयन्त । लिङि—ऋतीयेत । ऋतीयिषीष्ट । आर्तीयिष्ट । आर्तीयिष्यत । आर्धधातुकेषु—इयङभावपक्षे शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम् । आनर्त । अर्तिता । अर्तिष्यति । ऋत्यात् । आर्तीत् । आर्तिष्यत् । २—(जघस् + अतुस् , इत्यत्र) 'गमहन...' इति सूत्रेण उपधालोपः । ३—सस्य षत्वे घस्य चर्त्वम् । कषसंयोगे क्षः । ४—'घस' इत्यस्य तासि प्रयोगाभावात् "उपदेशेऽत्वतः" इति निषेधाभावेन क्रादिनियमात् (क्राधन्यो लिटि सेट् भवेदित्युक्तेः) नित्यमिट् । ५—'घस्लृ' आदेशाभावपक्षे रूपाणि । ६—'इडत्यर्ति...' इति नित्यमिट् ।

६२८—अदादि धातुओं से परे शप् का लुक् होता है ।

६२९—अद् धातु को घस्लृ आदेश होता है विकल्प से लिट् परे रहते ।

६३०—इण् कवर्ग से परे शास् वस् और घस् धातु के स को ष होता है ।

६३१—हु धातु और झलन्त धातु से परे हि को धि आदेश होता है ।

६३२—अद् धातु से परे अपृक्त सार्वधातुक को अडागम होता है सब आचार्यों के मत में ।

आदः । आत्तम् । आत्त । आदम् । आद्व । आद्म । अद्यात् । अद्याताम् । अद्युः । अद्यात् । अद्यास्ताम् । अद्यासुः ।

६३३ लुङ्सनोर्घस्लृ २ । ४ । ३७ ॥

अदो घस्लृ स्याद् लुङि सनि च । लृदित्त्वादङ् । अघसत् । आत्स्यत् । हन हिंसागत्योः । हन्ति ।

६३४ अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६ । ४ । ३७ ॥

अनुनासिकान्तानामेषां लोपः । यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः । तनु-षणु-क्षणु-क्षिणु-ऋणु-तृणु-घृणु-वनु-मनु इति तनोत्यादयः । हतः । घ्नन्ति । हंसि । हथः । हथ । हन्मि । हन्वः । हन्मः ।

६३५ वमोर्वा ८ । ४ । २३ ॥

उपसर्गस्थान्निमित्ताद्धन्तेर्नस्य णो वा । प्रहण्मि । प्रहन्मि । प्रहण्वः प्रहन्वः । प्रहण्मः । प्रहन्मः । जघान[1] । जघ्नतुः[2] । जघ्नुः ।

६३६ अभ्यासाच्च ७ । ३ । ५५ ॥

हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात् । जघनिथ, जघन्थ । जघ्नथुः । जघ्न । जघान, जघन । जघ्निव । जघ्निम । हन्ता । हनिष्यति[3] । हन्तु, हतात् । हनाम् । घ्नन्तु ।

६३७ हन्तेर्जः ६ । ४ । ३६ ॥

हौ ।

१—लिटि द्वित्वे हलादिशेषे 'हहन्+अ' अभ्यासस्य 'कुहोश्चुः' इति चुत्वम् । 'हो हन्तेः....'इति हस्य घत्वम् । 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः जघान । २—'गम-हन...' इति उपधालोपः । नकारे परे "हो हन्तेः" इति घत्वम् जघ्नतुः । ३—'ऋद्धनोः स्ये' इति 'इट्' ।

६३३—अद् को घस्लृ आदेश होता है लुङ् और सन् परे रहते ।

६३४—अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश धातु और वन धातु तथा तनोत्यादि धातु के अनुनासिक का लोप होता है झलादि कित् ङित् परे रहते ।

६३५—उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन् धातु के नकार को णकार होता है विकल्प से व म परे रहते ।

६३६—अभ्यास से परे हन् धातु के हकार को कुत्व होता है ।

६३७—हन् धातु के स्थान पर जकारादेश होता है हि परे रहते ।

६३८ असिद्धवदत्राभात् ६ । ४ । २२ ॥

इत ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेराभीयम्[1] । समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं[2] स्यात् । इति जस्यासिद्धत्वान्न हेर्लुक्[3] । जहि, हतात् । हतम् । हत । हनानि । हनाव । हनाम । अहन् । अहताम् । अघ्नन् । अहन् । अहतम् । अहत । अहनम् । अहन्व । अहन्म । हन्यात् ।

६३९ आर्धधातुके ६ । ४ । ४६ ॥

इत्यधिकृत्य ।

६४० हनो वध लिङि २ । ४ । ४२ ॥

६४१ लुङि च ६ । ४ । ४३ ॥

वध्यात् । वध्यास्ताम् । अवधीत्* । अहनिष्यत् । यु मिश्रणामिश्रणयोः ।

६४२ उतो वृद्धिर्लुकि हलि ७ । ३ । ८९ ॥

लुग्विषये उतो वृद्धिः स्यात्पिति हलादौ सार्वधातुके न त्वभ्यस्तस्य । यौति । युतः । युवन्ति । यौषि । युथः । युथ । यौमि । युवः । युमः । युयाव । युयुवतुः । युयुवुः । युयविथ । युयुवथुः । युयुव । युयाव, युयव । युयुविव । युयुविम । यविता । यविष्यति । यौतु, युतात् । अयौत् । अयुताम् । अयुवन् । युयात् । इह वृद्धिर्न । भाष्ये पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्नेति व्याख्यानात् । युयाताम् । युयुः । यूयात्[6] । यूया-

---

१—आभीये । २—पूर्वकृतम् आभीयम् । ३—'अतो हेः' इति हेर्लुक् प्राप्त आसीत् । ४—अत्र 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति तिपस्तकारस्य लोपः । ५—यासुटो ङित्त्वात् । तत्र पित्, साक्षादुक्तेन ङित्त्वेनाऽऽतिदेशिकस्य पित्त्वस्य बाधात् । ६—आशीर्लिङि 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः ।

६३८—'असिद्धवदत्राभात्' ६ । ४ । २२ । सूत्र से लेकर षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद तक आभीय कहलाते हैं । समानाश्रय आभीय कर्तव्य हो तो पूर्वकृत आभीय असिद्ध होता है ।

६३९—'आर्धधातुके' यह अधिकार सूत्र है ।

६४०—हन् धातु को वध आदेश होता है लिङ् परे रहते ।

६४१—हन् धातु को वध आदेश होता है लुङ् परे रहते ।

६४२—लुक् के विषय में उकार को वृद्धि होती है हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते, अभ्यस्त को वृद्धि नहीं होती ।

---

*वधादेशोऽदन्तः, अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः ।

स्ताम् । यूयासुः । अयावीत् । अयविष्यत् । या प्रापणे[1] । याति । यातः । यान्ति । ययौ[2] । याता । यास्यति । यातु । अयान् । अयाताम् ।

६४३ लङः शाकटायनस्यैव ३ । ४ । १११ ॥

आदन्ताल्लङो झेर्जुस् वा । अयुः, अयान् । यायात् । यायाताम् । यायुः । यायात् । यायास्ताम् । यायासुः । अयासीत् । अयास्यत् । एवं वा[3] गतिगन्धनयोः । भा दीप्तौ । ष्णा शौचे । वान्यस्य संयोगादेरित्येत्वम् । स्नेयात् , स्नायात् । श्रा पाके । द्रा कुत्सायां गतौ । प्सा भक्षणे । पा रक्षणे । रा दाने । ला आदाने । दाप् लवने । ख्या प्रकथने । अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः । विद् ज्ञाने ।

६४४ विदो लटो वा ३ । ४ । ८३ ॥

वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा । वेद । विदतुः । विदुः । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विद्व । विद्म । पक्षे—वेत्ति । वित्तः । विदन्ति ।

६४५ उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् ३ । १ । ३८ ॥

एभ्यो लिट्याम् वा । *विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः । विदाञ्चकार । विवेद[4] । वेदिता[5] । वेदिष्यति ।

१—गमने प्रसिद्धः । २—'आत औ णलः' इति णल औत्वम् । ययौ, ययतुः, ययुः । ययिथ, ययाथ । ययथुः—इत्यादि । ३—वाति । ववौ । भाति । बभौ । स्नाति । सस्नौ । श्राति । शश्रौ । द्राति । दद्रौ । प्साति । पप्सौ । राति । ररौ । ललौ । दाति । ददौ । पाति । पपौ । ख्याति । सर्वत्र लुङि 'यमरमनमातां सक् च' इति 'इट्सकौ' अवासीत् , अवासिष्टाम् , अवासिषुः-इत्यादिरूपाणि ज्ञेयानि । 'स्ना-श्रा-द्रा-प्सा' एषां चतुर्णाम् आशीर्लिङि 'वान्यस्य संयोगादेः' इति विकल्पेन एत्वम्—स्नेयात्-स्नायात् । श्रेयात्, श्रायात् । द्रेयात् , द्रायात् । प्सेयात् , प्सायात् । इत्यादि । ४—लघूपधत्वाभावान्न गुणः । ५—आमोऽभावपक्षे रूपम् । ६—अनिट्-कारिकासु तु श्यन्निर्देशेन सत्तार्थकस्य दिवादेर्विदो ग्रहणं, तेनाऽयं सेट् ।

६४३—आदन्त धातु से परे लङ् की झि को जुस् होता है विकल्प से ।

६४४—विद् धातु से परे लट् सम्बन्धी परस्मैपद को णलादि आदेश विकल्प से होते हैं ।

६४५—उष् , विद्, जागृ धातु से परे आम् होता है विकल्प से लिट् परे रहते ।

---

* आम् सन्नियोगेन विदेरदन्तत्वं प्रतिज्ञातम् ।

६४६ विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ३ । १ । ४१ ॥

वेत्तेर्लोट्याम्, गुणाभावो लोटो लुक् लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते । पुरुषवचने न विवक्षिते, 'इति'-शब्दोपादानात्[1] ।

६४७ तनादिकृञ्भ्य उः ३ । १ । ७९ ॥

शपोऽपवादः । विदाङ्करोतु ।

६४८ अत उत्सार्वधातुके ६ । ४ । ११० ॥

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽत उत्सार्वधातुके क्ङिति । विदाङ्कुरुतात् । विदाङ्कुरुताम् । विदाङ्कुर्वन्तु । विदाङ्कुरु । विदाङ्करवाणि । वेत्तु । अवेत् । अविताम् । अविदुः* ।

६४९ दश्च ८ । २ । ७५ ॥

धातोः पदान्तस्य दस्य सिपि रुर्वा । अवेः, अवेत् । विद्यात् । विद्याताम् । विद्युः । विद्यात् । विद्यास्ताम् । विद्यासुः । अवेदीत् । अवेदिष्यत् । असु भुवि[3] । अस्ति ।

६५० श्नसोरल्लोपः ६ । ४ । १११ ॥

अस्यास्तेश्चातो लोपः सार्वधातुके क्ङिति । स्तः । सन्ति । असि । स्थः । स्थ । अस्मि । स्वः । स्मः ।

१—प्रथमपुरुषो बहुवचनं च न विवक्षितमित्यर्थः, सूत्रे 'इति'शब्दोपादानात् । सर्वस्मिन्नपि लोटि—उक्तनिपातनमिति भावः । २—'उतश्च' इति हेर्लुक् । ३—सत्तायामित्यर्थः ।

६४६—विद् से आम् होता है लोट् परे रहते तथा गुण का अभाव और लोट् का लुक् होता है और लोट्परक कृ धातु का अनुप्रयोग होता है विकल्प से ।

६४७—तनादि धातु और कृञ् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है ।

६४८—'उ' प्रत्ययान्त कृञ् धातु के अ को उ होता है सार्वधातुक कित्, ङित् परे रहते ।

६४९—धातु के पदान्त दकार को विकल्प से रु होता है सिप् परे रहते ।

६५०—श्न और अस्ति के अकार का लोप होता है सार्वधातुक कित् ङित् परे रहते ।

---

* 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति जुस् ।

६५१ अस्तेर्भूः ६ । ४ । ५६ ॥

आर्धधातुके । बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु, स्तात् । स्ताम् । सन्तु ।

६५२ घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६ । ४ । ११९ ॥

घोरस्तेश्चैत्वं अभ्यासलोपश्च । आभीयत्वाद्धेर्धिः । एधि, स्तात् । स्तम् । स्त । असानि । असाव । असाम । आसीत् । आस्ताम् । आसन् । स्यात् । स्याताम् । स्युः । भूयात् । अभूत् । अभविष्यत् ।

६५३ उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८ । ३ । ८७ ॥

उपसर्गेणः प्रादुसश्च परस्यास्तेः सस्य षो यकारेऽचि च परे । निःष्यात् । प्रादुःष्यात् । निःषन्ति । प्रादुःषन्ति । यच्परे किम्—अभिस्तः । रु शब्दे ।

६५४ तु-रु-स्तु-शम्यमः सार्वधातुके ७ । ३ । ९५ ॥

एभ्यः सार्वधातुकस्य हलादेस्तिङ ईड्वा । नाभ्यस्तस्येत्यतोऽनुवृत्तिसंभवे पुनः सार्वधातुकग्रहणमपिदर्थम्* । रवीति, रौति । रुवीतः, रुतः । हलादेः किम्—रुवन्ति । तिङः किम्—शाम्यति । सार्वधातुके किम्—आशिषि रूयात् । विध्यादौ तु रुयात्, रुवीयात् । अरावीत् । अरविष्यत् । तु इति सौत्रो धातु—गतिवृद्धिहिंसासु । तवीति, तौति । तुवीतः, तुतः । तुवन्ति । तुताव । तोता । तोष्यति । णु स्तुतौ । नौति । नुनाव । नविता । टुक्षु शब्दे । क्षौति । चुक्षाव । क्षविता । क्ष्णु तेजने ।

१—सर्वत्र आर्धधातुके (लिट्-लुट्-लृट्—आशीर्लिङ्-लुङ्-लृङ्क्षु) अस्तेर्भूभावः । बभूव, इत्यादय एव प्रयोगा इत्यर्थः । २—एत्वस्याऽऽभीयत्वेनाऽसिद्धत्वात् 'हुझल्भ्यो...'-इति हेर्धिः ३—(अस्+सि=हि) धि, सस्य एत्वम्, अकारस्य श्नसोरिति लोपः-एधि । ४—लङि—आ+अस्+त्, 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इति 'ईट्', आटश्चेति वृद्धिः—आसीत् । ५—शब्दे=अव्यक्तशब्दे-इत्यर्थः ।

६५१—अस् धातु को भू आदेश होता है आर्धधातुक परे रहते ।

६५२—घुसंज्ञक और अस् धातु को एत्व और अभ्यास का लोप होता है हि परे रहते ।

६५३—उपसर्ग सम्बन्धी इण् से परे और प्रादुस् से परे अस्ति के स को ष होता है यकार और अच् परे रहते ।

६५४—तु, रु, स्तु, शम्, अम् इन धातुओं से परे हलादि सार्वधातुक तिङ् को ईट् होता है विकल्प से ।

* ततोऽनुवृत्तौ तु 'पित्'-इत्यप्यनुवर्तेत, 'सहचरिता',-इत्यादिन्यायात् । तथाच 'अपिति' इदं न स्यात् ।

क्ष्णौति । क्ष्णविता । अक्ष्णावीत् । ष्णु प्रस्रवणे । स्नौति । सुष्णाव । स्नविता । षु प्रसवैश्वर्ययोः । प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम् । सौति । सुतः । सुषाव । सोता । असौषीत् । कु शब्दे । कौति । चुकाव । कोता । इण् गतौ । एति । इतः ।

६५५ इणो यण् ६ । ४ । ८१ ॥

इणो यण् स्यादजादौ प्रत्यये । इयङोऽपवादः । यन्ति ।

६५६ अभ्यासस्यासवर्णे ६ । ४ । ७८ ॥

अभ्यासस्येवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि । इयाय ।[1]

६५७ दीर्घ इणः किति ७ । ४ । ६९ ॥

इणोऽभ्यासस्य दीर्घः किति लिटि । ईयतुः । ईयुः । इययिथ[2], इयेथ । एता । एष्यति । एतु[3] । ऐत् । ऐताम् । आयन्[4] । इयात्[5] । ईयात्[6] ।

६५८ एतेर्लिङि ६ । ४ । ६७ ॥

उपसर्गात्परस्य इणोऽणो ह्रस्वः स्यादार्धधातुके किति लिङि । निरियात् ।

६५९ अन्तादिवच्च ६ । १ । ८५ ॥

योऽयमेकादेश स पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात् (उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्) अभीयात्[7] । अणः किम्—समेयात्[8] ।

१—इ+इ+अ, वृद्धौ, आयादेशे, अभ्यासस्य 'इयङ्' इयाय । २—'थलि वेट्' उभयत्रापि गुणः, अभ्यासस्य 'इयङ्' । ३—हौ-'इहि' ४—इ+अन् । 'इणो यण्' इति यण्, तस्याभीयत्वेनाऽसिद्धत्वादाट् । आयन् । ऐः, ऐतम्, ऐत । आयम्, ऐव, ऐम । ५—इयात्, इयाताम्, इत्यादि । ६—'अकृत् सार्व...' इति दीर्घः । ७—अत्र सवर्णदीर्घस्य पूर्वान्तवद्भावे-इणोऽण् नास्ति, परादिवद्भावे उपसर्गस्वरूपं भज्येत, उभयत आश्रयणे च नान्तादिवद्भाव इति न ह्रस्वः । ८—सम्+आ+ईयात्, गुणे कृते, 'समेयात्' इत्यत्र एकारोऽण् नास्तीति न ह्रस्वः ।

६५५—इण् धातु को यण् होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ।

६५६—अभ्यास के इवर्ण उवर्ण को इयङ् उवङ् आदेश होते हैं असवर्ण अच् परे रहते ।

६५७—इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ होता है कित् लिट् परे रहते ।

६५८—उपसर्ग से परे इण् धातु सम्बन्धी अण् को ह्रस्व होता है आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते ।

६५९—पूर्व पर के स्थान में जो एकादेश होता है वह पूर्व के अन्त के समान और पर के आदि के समान होता है ।

६६० इणो गा लुङि २ । ४ । ४५ ॥

"गाति स्थेति" सिचो लुक् । अगात् । अगाताम् । अगुः* । ऐष्यत् । इक् स्मरणे । अयमधिपूर्व एव । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति लिङ्गात् (इणवदिक इति वक्तव्यम्) । अधियन्ति । अध्यगात् । केचित्त्वार्धधातुकाधिकारोक्तस्यैवातिदेशमाहुः, तन्मते यणन । तथा च भट्टिः—ससीतयो राघवयोरधीयन्निति[1] । वी गति-व्याप्ति-प्रजन-कान्त्यसन-खादनेषु । प्रजनम्=गर्भग्रहणम् । असनं क्षेपणम् । वेति । वीतः । वियन्ति । वेषि । वेमि । वीहि । अवेत् । अवीताम् । अवियन् । अटि सति अनेकाच्त्वाद्यणिति केचित्—अव्यन् । अत्र ईकारोऽपि धात्वन्तरं प्रश्लिष्यते । एति । ईतः । इयन्ति । इयात् । ऐषीत् । वच परिभाषणे । वक्ति । वक्तः । अयमन्तिपरो न प्रयुज्यते । बहुवचनपर इत्यन्ये । झिपर इत्यपरे । वक्तु । वग्धि । वच्यात् । उच्यात् ।

६६१ अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ् ३ । १ । ५२ ॥

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् ।

६६२ वच उम् ७ । ४ । २० ॥

अङि परे । अवोचत् । अवक्ष्यत् । मृजू शुद्धौ ।

६६३ मृजेर्वृद्धिः ७ । २ । ११४ ॥

मृजेरिको वृद्धिः स्याद् धातुप्रत्यये परे । मार्ष्टि । मृष्टः । (क्ङित्यजादौ वेष्यते) । मृजन्ति, मार्जन्ति । ममार्ज । ममार्जतुः, ममृजतुः । ममार्जिथ, ममार्ष्ठ । मार्जिता,

१—अधिपूर्वकादिको लटः शत्रादेशे—इत्थं रूपम् 'अधीयन्' इति आर्धधातुकत्वाभावान्न यण् । आर्धधातुकाधिकारोक्तस्यैवातिदेशात् । २—मृज्+थल् इट्त्वादि, वृद्धिश्च 'व्रश्च...' इति षत्वे ष्टुत्वम् (ऊदित्वादिडभावे रूपमिदम्) वसूमसोः—ममार्जिव, ममृजिव ममृज्व । ममार्जिम, ममृजिम , ममृज्म ।

(वार्तिक—उभयत आश्रयण में अन्तादिवद्भाव नहीं होता ।)

६६०—इण् धातु को गा आदेश होता है लुङ् परे रहते ।

६६१—अस्यति वक्ति ख्याति इन धातुओं से च्लि को अङ् आदेश होता है ।

६६२—अङ् परे रहते वच् को उम् आगम होता है ।

६६३—मृज् के इक् को वृद्धि होती है धातु सम्बन्धी प्रत्यय परे रहते ।

*'आतः' इति जुस्, 'उस्यपदान्तादि'ति पररूपम् ।

मार्ष्टि । मार्ष्टु । मृड्ढि । अमार्ट् , अमार्ड् । अमार्जीत् , अमार्क्षीत् । अमार्क्ष्यत् , अमार्जिष्यत् । रुदिर् अश्रुविमोचने ।

६६४ रुदादिभ्यः सार्वधातुके ७ । २ । ७६ ॥

रुद् स्वप् श्वस् अन् जक्ष् एभ्यो वलादेः सार्वधातुकस्येट् । रोदिति । रुदितः । हौ परत्वादिटि धित्वं न । रुदिहि ।

६६५ रुदश्च पञ्चभ्यः ७ । ३ । ९८ ॥

हलादेः पितः सार्वधातुकस्यापृक्तस्य ईट् ।

६६६ अड् गार्ग्य-गालवयोः ७ । ३ । ९९ ॥

अरोदीत्, अरोदत् । अरुदिताम् । अरुदन् । अरोदीः, अरोदः । प्रकृति[2]-प्रत्ययविशेषापेक्षाभ्यामडीड्भ्यामन्तरङ्गत्वाद्यासुट् (असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे[3]) । रुद्यात् । अरुदत्[4] । अरोदीत् । अरोदिष्यत् । ञिष्वप् शये । स्वपिति । स्वपितः । सुष्वाप । सुषुपतुः । सुष्वपिथ, सुष्वप्थ ।

६६७ सुविनिर्दुर्भ्यः सुपि-सूति-समाः ८ । ३ । ८८ ॥

१—'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेवे'ति न्यायात् । २—ननु-लिङस्तिपि यासुटं बाधित्वा परत्वाद् 'अड् गार्ग्यगालवयोः' इति 'रुदश्च पञ्चभ्यः' इति च-अडीटौ स्यातामित्यत आह—प्रकृतिप्रत्ययेति—अडीटौ हि हलादिपित्सार्वधातुकाऽपृक्तप्रत्ययाऽपेक्षत्वात्—रुदादिप्रकृतिविशेषाऽपेक्षत्वाच्च बहिरङ्गौ । तदपेक्षया लिङो विधीयमानो 'यासुट् परस्मैपदेषु...' इति यासुट्प्रत्ययसामान्यापेक्षत्वादन्तरङ्गः । ३—'अन्तरङ्गे कार्ये कर्त्तव्ये सति बहिरङ्गमसिद्धमित्यर्थः' । ४—'इरितो वा' इत्यङ् विकल्पेन ।

६६४—रुद् , स्वप् , श्वस् , अन् , जक्ष् इन पाँच धातुओं से परे वलादि सार्वधातुक को इट् आगम होता है ।

६६५—रुदादि पाँच धातुओं से परे हलादि पित् सार्वधातुक अपृक्त को ईट् आगम होता है ।

६६६—गार्ग्य गालव आचार्यों के मत में रुदादि धातुओं से परे हलादि पित् सार्वधातुक अपृक्त को अट् आगम होता है । अन्तरङ्ग की कर्तव्यता में बहिरङ्ग असिद्ध होता है ।

६६७—सु, वि, निर्, दुर् उपसर्गों से परे सुप् , सूति, सम् धातुओं के स को षत्व होता है कित् लिट् परे हो तो ।(द्विर्वचन भिन्न कार्य में ही "पूर्वत्रासिद्ध" प्रवृत्त होता है)

भ्यः सुप्यादेः सस्य षः किति लिटि। परत्वात्संप्रसारणे षत्वे च कृते द्वित्वम्। (पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने)[1]। सुषुपतुः। अकिति तु द्वित्वेऽभ्यासस्य संप्रसारणम्। षत्वस्यासिद्धत्वात्, ततः पूर्वं "हलादिः शेषः", नित्यत्वाच्च[2]। ततः सुपिरूपाभावान्न षः। सुष्वाप। स्वप्ता। अस्वपीत्, अस्वपत्[3]। स्वप्यात्। सुप्यात्, सुषुप्यात्। अस्वाप्सीत्। अस्वप्स्यत्॥ श्वस प्राणने। श्वसिति। श्वसितः। शश्वास। श्वसिता। श्वसिष्यति। श्वसितु। अश्वसीत्-अश्वसत्, अश्वसिताम्, अश्वसन्। श्वस्यात्। ह्म्यन्तेति वृद्धिर्न। अश्वसीत्। अन च। अनिति। आन। अनिता। आनीत्, आनत्।

६६८ अनितेः ८।४।१९॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्यानितेर्नस्य णः। प्राणिति। जक्ष भक्ष-हसनयोः। जक्षिति[4]। जक्षितः।

६६९ अदभ्यस्तात् ७।१।४॥

झस्य अत् स्यात्। अन्तापवादः। जक्षति। अजक्षीत्-अजक्षत, अजक्षिताम्। सिजभ्यस्तेति जुस्। अजक्षुः॥ जागृ निद्राक्षये। जागर्ति। जागृतः[6]। जाग्रति। जागराञ्चकार, जजागार॥

६७० जाग्रोऽवि-चिण्-णल्-ङित्सु ७।३।८५॥

१—ननु—'सुषुपतुः' इत्यत्र परत्वात्सम्प्रसारणे षत्वे कृतेऽपि तस्य त्रैपादिकत्वेनाऽसिद्धत्वात् षकारोपलक्षितस्य द्वित्वं न स्यात्, इति चेत्तत्राह—पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचन इति—अर्थात्—द्विर्वचने कर्त्तव्ये पूर्वत्रासिद्धमिति न प्रवर्तते। २—'कृताकृतप्रसङ्गी विधिर्नित्यः' 'हलादिः शेषः' इति कृतेऽकृतेऽपि च षत्वे प्रवर्त्तते ३—'अड् गार्ग्य...' इत्यट् पक्षे रुदश्चेति-ईट्। ४—रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीट्। ५—'झोऽन्तः' इत्यस्यापवादः। ६—ङित्वान्न गुणः। जाग्रतीत्यत्र 'जक्षित्यादयः...' इत्यभ्यस्तत्वाद् 'अदभ्यस्तात्' इत्यत्। ७—'उषविद्जागृभ्यो...' इति वैकल्पिक आम्। 'सार्वधातुका......' इति गुणः। ८—आमभावे जाकारस्य द्वित्वे वृद्धौ जजागारेति। अतुसादौ कित्वाद्

६६८—उपसर्गस्थ निमित्त से परे अन् धातु के न को ण होता है।

६६९—अभ्यस्त से परे झ को अत् होता है।

६७०—जागृ धातु को गुण होता है विन्, चिण्, णल् से भिन्न वृद्धि विषय प्रत्यय और ङित् से भिन्न निषेध विषय प्रत्यय परे रहते।

जागर्तेर्गुणः स्याद्विचिण्णल्ङिद्भ्योऽन्यस्मिन्वृद्धिविषये प्रतिषेधविषये च। जजागरतुः, जजागरुः। जागरिता। अजागः। अजागृताम्॥

६७१ जुसि च ७। ३। ८३॥

अजादौ जुसि इगन्ताङ्गस्य गुणः। अजागरुः। अजादौ किम्—जागृयुः। आशिषि तु—*जागर्यात्। जागर्यास्ताम्, जागर्यासुः। अजागरीत्॥ दरिद्रा दुर्गतौ। दरिद्राति॥

६७२ इद्दरिद्रस्य ६। ४। ११४॥

हलादौ क्ङिति सार्वधातुके इत्स्यात्। दरिद्रितः॥

६७३ श्नाभ्यस्तयोरातः ६। ४। ११२॥

लोपः क्ङिति सार्वधातुके। दरिद्रति। अनेकाच्त्वादाम्। दरिद्राञ्चकार। 'आत औ णलः' इत्यत्र ओ इत्येव सिद्धे औकारविधानं दरिद्रातेरालोपे कृते श्रवणार्थम्। अत एव ज्ञापकादाम्नेत्येके। ददरिद्रौ। (दरिद्रातेरार्धधातुके विवक्षिते आलोपो वाच्यः)। (लुङि वा)। (सनि[1] ण्वुलि ल्युटि च न) दरिद्रिता। अदरिद्रात्। अदरिद्रिताम्। अदरिद्रुः। दरिद्रियात्। दरिद्रयात्। अदरिद्रीत्।

गुणनिषेधे प्राप्ते सूत्रं 'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु' इति, जजागरतुः, जजागरुः।

१—सनि यथा—दिदरिद्रासति। ण्वुलि यथा—दरिद्रायकः। ल्युटि यथा—दरिद्राणः। सनि दरिद्रातेः 'अनन्तरस्ये'ति न्यायाद् एतद्वार्तिकप्राप्तस्यैव (दरिद्रातेरार्धधातुके विवक्षिते—आलोपो वाच्यः) इति प्राप्तस्यैव लोपस्य निषेधः। तेन 'तनिपतिदरिद्राणामुपसङ्ख्यानम्' इति दरिद्रातेः सन इट्पक्षे 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपो भवत्येव। दिदरिद्रिषति। तदुक्तं भाष्ये—

न दरिद्रायके लोपो दरिद्राणे च नेष्यते।
दिदरिद्रासतीत्येके दिदरिद्रिषतीति वा॥

६७१—इगन्त अङ्ग को गुण होता है अजादि जुस् परे हो तो।

६७२—दरिद्रा धातु को 'इत्' अन्तादेश होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

६७३—श्ना प्रत्यय और अभ्यस्त संज्ञक धातु के आकार का लोप होता है कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

(दरिद्रा धातु के आकार का लोप होता है आर्धधातुक की विवक्षा में)

---

*—'किदाशिषि' इति यासुटः कित्वाद् 'जाग्रोऽवि...' इति गुणः।

इट्सकौ[1]। अदरिद्रासीत्॥ चकासृ दीप्तौ। चकास्ति, चकास्तः, चकासति[2]। चकासाञ्चकार। चकासिता। चकास्तु। चकाधि[3]॥

६७४ तिप्यनस्तेः ८। २। ७३॥

पदान्तस्य सस्य दः स्यात्तिपि नत्वस्तेः। अचकात्, अचकाद्। अचकास्ताम्। अचकासुः॥

६७५ सिपि धातोरुर्वा ८। २। ७४॥

पदान्तस्य सस्य। पक्षे दः। अचकाः, अचकात्॥ शासु अनुशिष्टौ। शास्ति॥

६७६ शास इदङ्हलोः ४। ४। ३४॥

शास उपधाया इत्स्यादङि[4] हलादौ क्ङिति च। शिष्टः। शासति। शशास। शशासतुः। शासिष्यति। शास्तु, शिष्टात्। शिष्टाम्। शासतु॥

६७७ शा हौ[5] ६। ४। ३५॥

शास्तेः। तस्याभीयत्वेनासिद्धत्वाद्धेर्धिः। शाधि। अशात्। अशिष्टाम्। अशासुः[7]। अशाः, अशात्। शिष्यात्॥

१—(आलोपे–अदरिद्रीत् द्। आलोपाभावपक्षे 'यमरमनमातां...' इतीट्सकौ। अदरिद्रासीत्, अदरिद्रासिष्टाम्, अदरिद्रासिषुः। २—जक्षित्यादित्वेनाऽभ्यस्तत्वाज्झस्याऽत्। ३—'धि च' इति सलोपः। सिच एव सकारस्य 'धि च' इत्यनेन लोपः, इति मते तु सकारस्य जश्त्वेन दकारे 'चकाद्धि' इति रूपं तद्भाष्यविरुद्धम्। सकारमात्रस्य लोपाऽभ्युपगमात्। ४—अङ्साहचर्यात्परस्मैपदे एव। नेह–आशास्ते। ५—'शासिवसि...' इति षः। ६—शास्तेः शादेशः स्याद् हौ परे–इति सूत्रार्थः। ७—अभ्यस्तत्वात् 'सिजभ्यस्त...' इति झेर्जुस्।

(लुङ् मे विकल्प से आलोप होता है) (सन् ण्वुल् और ल्युट् परे रहते दरिद्रा के आकार का लोप नहीं होता)।

६७४—पदान्त सकार को दकार होता है तिप् परे रहते। अस् धातु के सकार को नहीं होता।

६७५—धातु के पदान्त सकार को रु होता है सिप् परे रहते विकल्प से।

६७६—शास् धातु की उपधा को इत् आदेश होता है अङ् परे रहते और हलादि कित् ङित् परे रहते।

६७७—हि परे रहते शास् को 'शा' आदेश होता है।

६७८ सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्च ३ । १ । ५६ ॥

एभ्यश्च्लेरङ् कर्त्रर्थे लुङि । अशिषत् । अशासिष्यत् ॥ इति परस्मैपदम् ॥ शीङ् स्वप्ने ॥

६७९ शीङः सार्वधातुके गुणः ७ । ४ । २१ ॥

शेते । शयाते ॥

६८० शीङो रुट् ७ । १ । ६ ॥

झादेशस्यातो रुडागमः स्यात् । शेरते । शेषे । शयाथे । शेध्वे । शये । शेवहे । शिश्ये । शयिता । शयिषीष्ट । अशयिष्ट । अशयिष्यत ॥ इङ् अध्ययने । इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । अधीते । अधीयाते । अधीयते ॥

६८१ गाङ् लिटि २ । ४ । ४९ ॥

इङो गाङ् स्यात् लिटि । अधिजगे । अध्येता । अध्येष्यते । अधीताम् । अधीष्व । अधीयाथाम् । अधीध्वम् । अध्यये[2] । अध्ययावहै । अध्ययामहै । अध्यैत । अध्यैयाताम्[3] । अध्यैध्वन् । अध्यैथि । अध्यैवहि । अध्यैमहि । अधीयीत । अधीयीयाताम् । अधीयीरन् । अध्येषीष्ट ॥

६८२ विभाषा लुङ्लृङोः २ । ४ । ५० ॥

इङो गाङ् वा स्यात् ॥

१—इङ् अध्ययने, इक् स्मरणे, इति धातुद्वयम्, 'अधि' उपसर्गपूर्वकमेव प्रयुज्यते सर्वत्रेत्यर्थः । २—अधि+इ+इ, (आ+इ–ए–ऐ) अधि–इ+ऐ, अत्र गुणाऽयादेशयोः कृतयोरुपसर्गस्य यण् अध्ययै । अत्र यद्यपि पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते इत्यन्तरङ्गत्वाद् गुणात्पूर्वं सवर्णदीर्घः प्राप्तः, तथापि 'णेरध्ययने वृत्तम्' इति निर्देशान्न भवति, इदम्–एकदेशिपक्षे । 'पूर्वं' धातुः साधनेन युज्यते, पश्चादुपसर्गेण, इति सिद्धान्तपक्षे तु नास्त्येव दोषः । ३—परत्वात्पूर्वम् इयङ्, तत आट् ततो वृद्धिः ।

६७८—सृ, शास् और ऋ धातु से परे च्लि को अङ् आदेश होता है कर्त्रर्थक लुङ् परे हो तो ।

६७९—शीङ् धातु को गुण होता है सार्वधातुक परे रहते ।

६८०—शीङ् धातु से परे झ-स्थानिक आदेश अ को रुट् आगम होता है ।

६८१—इङ् धातु को गाङ् आदेश होता है लिट् परे रहते ।

६८२—इङ् धातु को गाङ् आदेश होता है विकल्प से लुङ् लृङ् परे रहते ।

६८३ गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् १ । २ । १ ॥

गाङादेशात्कुटादिभ्यश्चाऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः ॥

६८४ घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि ६ । ४ । ६६ ॥

एषामात ईत्स्याद्धलादौ क्ङित्यार्धधातुके । अध्यगीष्ट, अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत, अध्यैष्यत ॥ ईर गतौ कम्पने च । ईर्ते । ईराञ्चक्रे । ईरिता । ईरिष्यते । ईर्ताम् । ईर्ष्व । ईर्ध्वम् । ऐरिष्ट ॥ ईड स्तुतौ । ईट्टे ॥

६८५ ईशः से ७ । २ । ७७ ॥

६८६ ईडजनोर्ध्वे च ७ । २ । ७८ ॥

ईशीड्जनां सेध्वेशब्दयोः सार्वधातुकयोरिट् स्यात् । योगविभागो वैचित्र्यार्थः । ईडिषे । ईडिध्वे । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्—ईडिध्व । ईडिध्वम् । विकृतिग्रहणेन प्रकृतेरग्रहणात् ऐड्ढ्वम् । ईश ऐश्वर्ये । ईशिषे । ईशिध्वे ॥ आस उपवेशने । आस्ते । दयायासश्चेत्याम् । आसाञ्चक्रे । आस्व आध्वम् । आसिष्ट ॥ आङः शासु इच्छायाम् । आशास्ते । आशासाते ॥ वस आच्छादने । वस्ते । वस्से । वध्वे । ववसे । वसिता ॥ णिसि चुम्बने । निंस्ते । णिजि शुद्धौ । निङ्क्ते । निङ्क्षे । निञ्जिता । वृजी वर्जने । वृक्ते ।

१—सिचो ङित्वादीत्वम् । २—वैचित्र्यञ्चेद्–'ध्वे' इत्यस्य पूर्वत्रापकर्षः 'से' इत्यस्य–उत्तरत्राऽनुवृत्तिर्निरास्तिरिति । ३—विकृतिग्रहणेन='ध्वे' इति विकृतरूपग्रहणेन, –प्रकृतेः='ध्वम्' इत्यस्याऽग्रहणादिड् न । ४–ऐश्वर्यम्=अधिकारः सामर्थ्यञ्च । ५—धि चेति सलोपः । ६–'णो नः' इति नत्वम् , 'इदितो नुम् धातोः' इति नुम् । निंसे । निंसिता । अनिंसिष्ट-इत्यादि । ७—निज् धातोः से परे, नुमि, जस्य 'व्रश्चेति' षत्वे, 'षढोः कः सि' इति कः । सस्य षत्वम् , कषसंयोगे क्षः निङ्क्षे । ८—अनिट्केषु 'णिजिर्' इति जौहोत्यादिकस्य ग्रहणादयं सेट् ।

६८३—गाङादेश और कुटादि से परे ञित् णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होता है ।

६८४—घुसंज्ञक, मा, स्था, गा, पा, हा और षोऽन्तकर्मणि धातु के आकार को ईकार होता है हलादि कित् , ङित् आर्धधातक परे रहते ।

६८५—ईश् धातु से परे सार्वधातुक 'से' को इट् आगम होता है ।

६८६—ईड् और जन् धातु से परे सार्वधातुक 'ध्वे' को इट् आगम होता है ईश् से परे भी ध्वे को इट् होता है ।

वृजाते । इदिदित्यन्ये । वृङ्क्ते । पृची संपर्चने[1] । पृक्ते ॥ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । सूते । सुषुवे । सुषुविषे । सोता, सविता । सुवै सविषीष्ट । असविष्ट । असोष्ट ॥ चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अयं दर्शनेऽपि । इकारोऽनुदात्तो युजर्थः[2] । नुम्तु न । अन्त्ये[3] इदिति व्याख्यानात् । चष्टे । चक्षाते । आर्धधातुके—

६८७ चक्षिङः ख्याञ् ६ । ४ । ५४ ॥

६८८ वा लिटि ६ । ४ । ५२ ॥

अत्र भाष्ये—ख्शादिरयमादेशः । असिद्धकाण्डे[4] शस्य यो वेति स्थितम् । ञित्वात्पदद्वयम् । चख्यौ, चख्ये, चक्शौ, चक्शे, चचक्षे । ख्याता, क्शाता । ख्यास्यति, ख्यास्यते, क्शास्यति, क्शास्यते । चष्टाम् । अचष्ट । चक्षीत । ख्यायात्, ख्येयात्, क्शायात, क्शेयात । अस्यतिवक्तीत्यङ् । अख्यत, अख्यत्, अक्शासीत्, अक्शास्त । वर्जने क्शाञ्[5] नेष्टः । समचक्षिष्टेत्यादि इत्यात्मनेपदिनः । अथोभयपदिनः । द्विष अप्रीतौ । द्वेष्टि, द्विष्टे । द्वेक्ष्यति । द्विड्ढि । द्वेषै । अद्वेट् ।

६८९ द्विषश्च ३ । ४ । ११२ ॥

लङो झेर्जुस्वा । अद्विषुः, अद्विषन् । अद्विक्षत्[6] । दुह *प्रपूरणे । 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घः । दोग्धि । दुग्धः । दुहन्ति । धोक्षि[7] । दुग्धे । दुहाते । दुहते । धुक्षे ।

१—सम्पर्चनम्=सम्बन्धः । २—'अनुदात्तेतश्च हलादेः' इति ल्युडपवाद—युच्प्रत्ययार्थ इति भावः । तेन 'विचक्षणः' इति सिद्धयति । अत्र ञित्स्वरनिवृत्तये युच्प्रत्यय इति भावः । ३ —ननु—इदित्वाद् 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमागमः स्यादित्यत आह—नुम्तु नेति—अन्त्य इदिति व्याख्यानात् । अर्थात् 'इदितो नुम् धातोः' इत्यत्र 'गोः पदान्ते' इत्यस्माद् अन्ते—इत्यनुवर्त्तते । ४—असिद्धकाण्डे=त्रिपादीप्रकरणे णत्वप्रकरणानन्तरमिति शेषः । तेन प्रख्यानमित्यत्र न णत्वम् (यत्वस्याऽसिद्धत्वेन) । अन्यथा यकारव्यवधानस्य सह्यत्वेन णत्वं स्यादेव । ५—वर्जनेऽर्थे चक्षिङः ख्याञादेशो (क्शाञादेशः)=(क्शाञादेशः) नेष्टः । ६—'शल इगुपधादनिटः...'इति क्सः । ७—दुह् + सि (प्), गुणः 'दादेर्धातो...' इति हस्य घत्वम्, 'एकाचो बशो...' इति दस्य धः । सस्य षत्वं, क—ष संयोगे क्षः ।

६८७—चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश होता है ।

६८८—लिट् में विकल्प से होता है ।

---

* प्रपूरणं = पूरणाभावः = क्षारणमित्यर्थः । 'धात्वर्थं बाधते कश्चित्' इति वचनात् । प्रपूरणं = प्यायनमिति तत्त्वबोधिनी ।

दुहाथे। दुग्ध्वे। दुह्वहे। दुह्महे। दुदोह, दुदुहे। दोग्धा। धोक्ष्यति, धोक्ष्यते। दोग्धु, दुग्धात्। दुग्धाम्। दुहन्तु। दुग्धि। दुग्धात्। दुग्धम्। दुग्ध। दोहानि। दुग्धाम्। दुहाताम्। दुहताम्। धुक्ष्व। दुहाथाम्। धुग्ध्वम्। दोहै। दोहावहै। दोहामहै। अधोक्। अदुग्धाम्। अदुहन्। अदोहम्। अदुग्ध। अदुहाताम्। अदुहत। अधुग्ध्वम्। दुह्यात्, दुहीत। †धुक्षीष्ट। अधुक्षत्।

६९० लुग्वा दुह-दिह लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये ७। ३। ७३॥

एषां क्सस्य लुग्वा दन्त्ये तङि अलोऽन्त्यस्य। ‡अदुग्ध। अधुक्षत।

६९१ क्सस्याचि ७। ३। ७२॥

अजादौ तङि क्सस्य लोपः। अधुक्षाताम्। अधुक्षन्त()। अधुक्षथाः, अदुग्धाः। अधुक्षाथाम्। अधुक्षध्वम्, अधुग्ध्वम्। अधुक्षि। अधुक्षावहि अदुह्वहि। अधुक्षामहि। अधोक्ष्यत्। अधोक्ष्यत। एवं दिह उपचये। उपचयो = वृद्धिः। लिह् आस्वादने। लेढि। लीढः। लिहन्ति। लेक्षि। लीढे, लिहाते। लिहते। लिक्षे। लिहाथे। लीढ्वे। लेढु, लीढात्। लीढाम्। लिहन्तु। लीढि। लेहानि। लीढाम्। अलेट्। अलीढाम्। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि।

६९२ ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३। ४। ८४॥

१—लुङि आत्मनेपदे 'वहि' प्रत्यये 'क्से' अधुक्षावहि 'लुग्वा दुहदिह...' इति क्सस्य लुक्पक्षे अदुह्वहि। २—लिह्+सि ( ), गुणे ढत्वे 'षढोः कः सि' इति सस्य षत्वे क-ष संयोगे क्षः लेक्षि।

६८९——द्विष् धातु से परे लङ् सम्बन्धी झि को जुस् आदेश होता है।

६९०—दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातु के क्स का लुक् होता है विकल्प से दन्त्य तङ् प्रत्यय परे रहते।

६९१—क्स का लोप होता है अजादि तङ् परे रहते।

६९२ ब्रूञ् धातु से परे लट् सम्बन्धी तिबादि पाँच को णलादि पाँच आदेश विकल्प से होते हैं और ब्रूञ् धातु को आह आदेश होता है।

---

†'लिङ् सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्त्वान्न गुणः।

‡क्सप्रत्ययस्यान्तलोपे सकारस्य च 'झलो झलि' इति लोपे हस्य घः, तकारस्य धः, घस्य गः, अदुग्ध। लुगभावे अधुक्षत।

()झस्याजादित्वाभावात् पूर्वं 'क्सस्याचि' इत्यस्य प्राप्तिरेव नास्ति। अन्तादेशे कृतेऽजादित्वात् 'क्सस्याचि' इति अकारलोपः = अधुक्षन्त।

ब्रुवो लडस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाहादेशः । आह । आहतुः । आहुः ।

६६३ आहस्थः । ८ । २ । ३५ ॥

झलि । चर्त्वम्[2] । आत्थ । आहथुः ।

६६४ ब्रुव ईट् ७ । ३ । ९३ ॥

ब्रुवो हलादेः पित ईट् । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति । ब्रूते । ब्रुवाते । ब्रुवते ।

६६५ ब्रुवो वचिः २ । ४ । ५३ ॥

आर्धधातुके । उवाच । ऊचतुः । ऊचु-[4] । उवचिथ, उवक्थ । ऊचे । वक्ता । वक्ष्यति, वक्ष्यते । ब्रवीतु-ब्रूतात् । ब्रूताम् । ब्रूहि । ब्रवाणि । ब्रूताम् । ब्रवै । अब्रवीत् । अब्रूत । ब्रूयात् । ब्रुवीत । उच्यात् । वक्षीष्ट । अवोचत् । अवक्ष्यत् । चर्करीतं च । चर्करीतमिति यङ्लुगन्तस्य सञ्ज्ञा, तददादौ बोध्यमित्यर्थः । ऊर्णुञ् आच्छादने ।

६६६ ऊर्णोतेर्विभाषा ७ । २ । ६ ॥

वृद्धिर्वा हलादौ पिति सार्वधातुके । ऊर्णौति-ऊर्णोति । ऊर्णुतः । ऊर्णुवन्ति । ऊर्णुते । ऊर्णुवाते । ऊर्णुवते । (ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्) ।

१–तिप्–तस्–झि–सिप्–थस्, एषां पञ्चानां क्रमेण 'णल्–अतुस्–उस्–थल्–अथुस्' एते पञ्च आदेशाः स्युः । २–थकारस्य तकारः । ३—'लिट्यभ्यासस्यो...' इति सम्प्रसारणम् । ४—'वचिस्वपियजादीनाम्' इति सम्प्रसारणे कृते पूर्वरूपे च ततो उच् इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषे सवर्णदीर्घः–ऊचतुः । ५—'अस्यतिवक्ति...' इत्यङि 'वच उम्' इति 'उम्' 'आद्गुणः' इति गुणः—अवोचत् । आत्मनेपदे –अवोचत । ६—यङ्लुगन्तप्रक्रियायाम् अदादिगणकार्यम् = शब्लुगादिकं भवतीत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्—प्राचीनानां चर्करीतमिति यङ्लुगन्तस्य संज्ञा । एवं णयन्तस्य कारितमिति । सन्नन्तस्य चिकीर्षितमिति । यङन्तस्य चेक्रीतमिति । ७—'इआदेश्च गुरु...' इति प्राप्तं निषिध्यते ।

६६३—आह को थकार अन्तादेश होता है झल् परे रहते ।

६६४—ब्रूञ् धातु से परे हलादि पित् को ईट् आगम होता है ।

६६५—ब्रूञ् धातु को वच् आदेश होता है सार्वधातुक के विषय में ।

६६६—ऊर्णुञ् धातु को विकल्प से वृद्धि होती है हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते । (वा० ऊर्णुञ् धातु से आम् प्रत्यय नहीं होता ।)

६६७ न न्द्राः संयोगादयः ६ । १ । ३ ॥

अचः संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति । नुशब्दस्य द्वित्वम् । ऊर्णुनाव, ऊर्णुनुवतुः । ऊर्णुनुवुः ।

६६८ विभाषोर्णोः १ । २ । ३ ॥

इडादिप्रत्ययो वा ङित् । ऊर्णुनुविथ, ऊर्णुनविथ[2] । ऊर्णविता, ऊर्णुविता । ऊर्णोतु, ऊर्णौतु । ऊर्णवानि । ऊर्णवै ।

६६९ गुणोऽपृक्ते ७ । २ । ९१ ॥

ऊर्णोतेर्गुणोऽपृक्ते इडादौ पिति सार्वधातुके । वृद्ध्यपवादः[3] । और्णोत् । और्णोः । और्णुतम् । ऊर्णुयात्, ऊर्णुयाताम् । ऊर्णूयात्, ऊर्णूयास्ताम् । ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णविषीष्ट । *और्णुवीत् ।

७०० ऊर्णोतेर्विभाषा ७ । ३ । ९० ॥

इडादौ परस्मैपदे परे सिचि वृद्धिर्वा । और्णावीत् । और्णाविष्टाम् । पक्षे गुणः । और्णवीत् । और्णविष्टाम् । ॥ इत्यादयः ॥

अथ जुहोत्यादिगणः ॥३॥

हु दानादनयोः[4] ।

१—णत्वस्याऽसिद्धत्वादित्यनुसन्धेयम्, अत एव नोत्तरखण्डे णत्वश्रवणम् । सर्वत्र धातुषु रेफात्परस्य णकारस्य नकारस्थानिकत्वमेव, तथैवोक्तम्—

नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु ।
सकारजश्शकारश्चे षाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥

२ ङित्वपक्षे 'उवङ्' तदभावपक्षे गुणः । ३—निरवकाशत्वात् । इत्यदादयः । ४—दानञ्चेह प्रक्षेपः, सच प्रकृते—अग्न्यादौ हविरादीनाम् ।

६६७—अच् से परे सयोगादि न् द् र् को द्वित्व नहीं होता ।

६६८—ऊर्णुञ् धातु से इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् होते हैं ।

६६९—ऊर्णुञ् धातु को गुण होता है अपृक्त इडादि पित् सार्वधातुक परे रहते ।

७००—ऊर्णुञ् धातु को विकल्प से वृद्धि होती है इडादि परस्मैपद सिच् परे रहते । ॥ इत्यदादयः ॥

---

*लुङि परस्मैपदे रूपम्—('विभाषोर्णोः' इति ङिद्भत्वे उवङि) और्णुवीत् । ङिद्वदभावे विकल्पेन वृद्धिः, पक्षे गुणः—और्णावीत्, और्णवीत् ।

७०१ जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २ । ४ । ७५ ॥

शपः श्लुः स्यात् ।

७०२ श्लौ ६ । १ । १० ॥

धातोर्द्वे स्तः । जुहोति[1] । जुहुतः । हुश्नुवोरिति यण् । जुह्वति[2] ।

७०३ भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ३ । १ । ३९ ॥

एभ्यो लिट्यम् वा स्यादामि श्लाविव कार्यं[3] च । जुहवाञ्चकार, जुहाव[4] । होता । होष्यति । जुहोतु जुहुतात् । जुहुताम् । जुह्वतु । जुहुधि[5] । जुहवानि । अजुहोत् । अजुहुताम् । अजुहवुः[6] । जुहुयात् । हूयात् । अहौषीत्[7] । अहोष्यत् । ञिभी भये । बिभेति ॥

७०४ भियोऽन्यतरस्याम् ६ । ४ । ११५ ॥

इकारो वा स्याद्धलादौ सार्वधातुके क्ङिति । बिभितः, बिभीतः । बिभ्यति । बिभयाञ्चकार, बिभाय । भेता । भेष्यति । बिभेतु, बिभितात्, बिभीतात् । अबिभेत्[9] । बिभियात्, बिभीयात्[10] । भीयात् । अभैषीत् । अभेष्यत् ॥ ह्री लज्जायाम् । जिह्रेति । जिह्रीतः । जिह्रियति[11] । जिह्रयाञ्चकार, जिह्राय[12] । ह्रेता । ह्रेष्यति ।

१—अभ्यासहकारस्य 'कुहोश्चुः' इति चुत्वम् । २—'अदभ्यस्तात्' इति झस्याऽत् । ३—द्वित्वादि । ४—आमोऽभावपक्षे—जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः, इत्यादि । ५—'हुझल्भ्यो हेर्धिः' । ६—'सिजभ्यस्त...' इति जुस्, 'जुसि चे'ति गुणः । ७—अहौषीत्, अहौष्टाम्, अहौषुः । अहौषीः, अहौष्टम्, अहौष्ट । अहौषम्, अहौष्व, अहौष्म । ८—'भीह्रीभृहुवां...' इति सूत्रेणाऽऽम् श्लाविव कार्यं च । ९—अबिभिताम्, अबिभीताम्, अबिभयुः ('जुसि च' इति गुणः) । अबिभेः, अबिभितम्—अबिभीतम्, अबिभित—अबिभीत, अबिभयम्, अबिभिव—अबिभीव, अबिभिम—अबिभीम । १०—एवं सर्वत्रापि रूपद्वयम् । ११—'अदभ्यस्तात्...' इत्यत्, 'अचिश्नु...' इतीयङ् । १२—जिह्राय, जिह्रियतुः, जिह्रियुः, इत्यादिरूपाणि ।

अथ जुहोत्यादयः ।

७०१—जुहोत्यादिगणपठित धातुओं से परे शप् को श्लु (लोप) होता है ।

७०२—धातु को द्वित्व होता है श्लु होने पर ।

७०३—भी, ह्री, भृ और हु धातु से आम् होता है विकल्प से लिट् परे रहते और आम् परे रहते धातु को श्लुवत् कार्य होता है ।

७०४—भी धातु को इकार आदेश होता है विकल्प से हलादि कित् ङित् परे रहते ।

जिह्नेतु । अजिह्नेत्[1] । जिह्रियात् । ह्रीयात् । अह्रैषीत् । अह्रेष्यत् ॥ पॄ पालन-पूरणयोः ॥

७०५ अर्तिपिपर्त्योश्च ७ । ४ । ७७ ॥

अभ्यासस्य इत्स्यात् श्लौ । पिपर्ति ॥

७०६ उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७ । १ । १०२ ॥

अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत् तदन्तस्याङ्गस्य उः ॥

७०७ हलि च ८ । २ । ७७ ॥

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि । पिपूर्तः । पिपुरति[2] । पपार ॥

७०८ शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा ७ । ४ । १२ ॥

एषां किति ह्रस्वो वा स्यात् । पप्रतुः । पप्रुः ॥

७०९ ऋच्छत्यॄताम् ७ । ४ । ११ ॥

तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोॠतां च गुणो लिटि । पपरतुः । पपरुः ॥

७१० वॄतो वा ७ । २ । ३८ ॥

वृङ् वृञ्भ्यामॄदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि । परिता, परीता । परिष्यति-

---

१—अजिह्नेत्, अजिह्नीताम्, अजिह्रयुः, इत्यादि । २—'अदभ्यस्तात्' इति 'अत्' ।

७०५—ऋ धातु और पॄ धातु के अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है श्लु में ।

७०६—अङ्ग का अवयव ओष्ठ्य है पूर्व में जिसके ऐसा जो ॠकार तदन्त अङ्ग को उकार आदेश होता है ।

७०७—रेफान्त और वान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होता है हल् परे रहते ।

७०८—शॄ दॄ पॄ धातु को ह्रस्व होता है लिट् परे रहते विकल्प से ।

७०९—तौदादिक ऋच्छ धातु और ॠकारान्त धातु को गुण होता है लिट् परे रहते ।

७१०—वृङ्, वृञ् और ॠदन्त धातुसे परे इट्को दीर्घ होता है विकल्पसे, लिट् परे नहीं ।

परीष्यति। पिपर्तु[1], पिपुरतु। अपिपः। अपिपूर्ताम्। अपिपरु[2]:। पिपूर्यात्। पिपूर्यास्ताम्। पिपूर्युः। पूर्यात्। अपारीत्॥

७११ सिचि च परस्मैपदेषु ७।२।४०॥

अत्र वृत इटो न दीर्घः। अपारिष्टाम्। अपरिष्यत्, अपरीष्यत्। ओहाक्[3] त्यागे। जहाति॥

७१२ जहातेश्च ६।४।११६॥

इद् वा स्याद्धलादौ क्ङिति सार्वधातुके। जहितः।

७१३ ईहल्यघोः ६।४।११३॥

श्नाभ्यस्तयोरात ईत्स्यात्सार्वधातुके क्ङिति हलि न तु घोः। जहीतः। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु, जहितात्, जहीतात्[6]॥

७१४ आ च हौ ६।४।११७॥

जहातेराच्चादिदीतौ स्तः। जहाहि, जहिहि, जहीहि। अजहात्। अजहीताम्। अजहुः॥

७१५ लोपो यि ६।४।११८॥

१—पिपूर्तात्, पिपूर्ताम्। पिपूर्हि, पिपूर्तात्, पिपूर्तम्, पिपूर्त। पिपराणि, पिपराव, पिपराम। २—'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति जेर्जुस्। अपिपः, अपिपूर्तम्, अपिपूर्त। अपिपरम्, अपिपूर्व, अपिपूर्म। ३—ओकारः (अनुनासिकत्वात्), ककारश्च–इत्संज्ञकः। ४—घुसंज्ञकस्य नेत्यर्थः। ५—झस्य 'अत्' "श्नाभ्यस्तयोरि" ति आलोपः। जहासि, जहिथः-जहीथः जहि (ही) थ। जहामि, जहिवः, जहीवः, जहिमः, जहीमः। जहौ, जहतुः, जहुः! जहिथ, जहाथ, जहथुः, जह। जहौ, जहिव, जहिम। ६—जहिताम्–जहीताम्, जहतु। ७—आत्वे 'जहाहि'। इत्वे जहिहि। ईत्वे 'जहीहि'।

७११—परस्मैपद सिच् परे रहते इट् को दीर्घ नहीं होता।

७१२—जहाति धातु को इकार होता है विकल्प से हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

७१३—श्ना और अभ्यस्त के आकार को ईकार होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते, घुसंज्ञकों को नहीं।

७१४—जहाति धातु को आकार, इकार और ईकार आदेश होते हैं हि परे रहते।

७१५—जहाति के आकार का लोप होता है यकारादि सार्वधातुक परे रहते।

जहातेराल्लोपो यादौ सार्वधातुके । जह्यात् । एलिंङीति एत्वम् । हेयात् । अहासीत् । अहास्यत् ॥ ऋ गतौ । इयर्ति । इयृतः[1] । इय्रति[2] । आर । आरतुः । आरुः । इडत्त्यर्तीति नित्यमिट् । आरिथ । अर्ता । अरिष्यति । इयर्तु । इयराणि । ऐयः[3] । ऐयृताम् । ऐयरुः । इयृयात् । अर्यात्[4] । आरत्[5] । आरिष्यत् ॥ माङ् माने शब्दे[6] च ॥

७१६ भृञामित् ७ । ४ । ७६ ॥

भृञ् माङ् ओहाङ् एषामभ्यासस्येत्स्यात् श्लौ । मिमीते । मिमाते । श्नाभ्यस्तेति आतो लोपः । मिमते । ममे । माता । मास्यते । मिमीताम् । अमिमीत[8] । मिमीत । मासीष्ट । अमास्त[9] । अमास्यत ॥ ओहाङ् गतौ । जिहीते । जिहाते । जिहते । जहे । हाता । हास्यते । जिहीताम् । अजिहीत । जिहीत । हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत ॥ डुभृञ् धारणपोषणयोः । बिभर्ति । बिभृतः । बिभ्रति । बिभृते । बिभ्राते । बिभ्रते । बिभराञ्चकार[10], बभार । बभर्थ । बभृव । बिभराञ्चक्रे, बभ्रे । भर्ता । भरिष्यति । भरिष्यते । बिभर्तु । बिभराणि । बिभृताम् । अबिभः । अबिभृताम् । अबिभरुः । अबिभृत । बिभृयात्, बिभ्रीत । भ्रियात्[11], भृषीष्ट[12] । अभार्षीत्, अभृत[13] । अभरिष्यत्, अभरिष्यत । डुदाञ् दाने । ददाति । दत्तः[14] । ददति । दत्ते । ददाते ।

१—अर्तिपिपर्त्योश्चेति-अभ्यासस्य इत्त्वे, अभ्यासस्यासवर्णे-इति-इयङ् तदुत्तरस्य तु गुणः । २—'अदभ्यस्ता...' इत्यत्, यण् । ३—'अर्तिपिपर्त्योश्च' इत्यभ्यासस्य-इत्वम्, 'सार्वधातुका...' इति-ऋकारस्य गुणः, 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इतीयङ् 'इतश्च' इति-इकारलोप, 'हल्ङ्याब्' इति तल्लोप., रेफस्य विसर्गः, 'आटश्चे'ति वृद्धिः-ऐयः । ४—'गुणोऽर्ती'ति गुणः । ५-'सर्तिशास्त्यर्त्ति...' इत्यङ् 'ऋदृशोऽङि...' इति गुणः । ६—अजाबिडालादिशब्दे इत्यर्थः । ७—'श्नाभ्यस्तयोरातः' इति आल्लोपः । ८-अमिमीत, अमिमाताम्, अमिमत । अमिमीथाः । अमिमाथाम् । अमिमीध्वम्, अमिमि, अमिमीवहि, अमिमीमहि । ९—अमास्त, अमासाताम्, अमासत । अमास्थाः, अमासाथाम्, अमाध्वम् । अमासि, अमास्वहि, अमास्महि । १०—'भीह्रीभृ...' इत्याम् । ११—'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इति रिङ् । अत्र 'रिङ्' इति ह्रस्वविधानसामर्थ्यान्न दीर्घः । १२—'उश्च' इति कित्वान्न गुणः । १३—'ह्रस्वादङ्गात्' सिचो लोपः । १४—'श्नाभ्यस्तयोरातः'

७१६—भृञ्, माङ् ओहाङ् धातुओं के अभ्यास को इकार आदेश होता है श्लु के विषय में ।

ददते । ददौ[1] । ददे । दाता । दास्यति । दास्यते । ददातु । देहि[3] । दत्ताम् । अददात् । अदत्त । दद्यात्, ददीत, देयात्[4], दासीष्ट । अदात्[5] । अदाताम् । अदुः[6] ॥

७१७ स्थाघ्वोरिच्च १ । २ । १७ ॥

अनयोरिदन्तादेशः सिच्च किदात्मनेपदेषु । अदित[7] । अदास्यत्, अदास्यत ॥ डुधाञ् धारणपोषणयोः ॥

७१८ दधस्तथोश्च ८ । २ । ३८ ॥

द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष् तथयोः स्ध्वोश्च परतः । धत्तः । दधति । दधासि । धत्थः । धत्ते । धत्से । धद्ध्वे । धेहि[10] ॥ णिजिर् शौचपोषणयोः ।

७१९ निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७ । ४ । ७५ ॥

निज्–विज्–विषामभ्यासस्य गुणः स्याच्छ्लौ । नेनेक्ति[11] । नेनिक्तः । नेनिजति ।

इति–आलोपः । अघोरिति निषेधात् 'ई हल्यघोः' इति ईत्वं न ।

१—'आत औ णलः' इति 'औत्वम्' । २—'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपः । ३—'घ्वसोरेद्धा'...इति-एत्वम्, अभ्यासलोपश्च । ४—'एर्लिङि' । ५—'गातिस्थाघुपा...' इति सिचो लुक् । ६—'आतः' इति जुस् 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपम् । ७—"ह्रस्वादङ्गात्" इति सिचो लोपः । अदित, अदिषाताम्, अदिषत । अदिथाः, अदिषाथाम्, अदिढ्वम् । अदिषि, अदिष्वहि, अदिष्महि । ८—अस्य चोपसर्गयोगे । एवमर्थविशेषः—

'विपूर्वो धा करोत्यर्थे, अभिपूर्वस्तु भाषणे ।
मेलने चापि संपूर्वो निपूर्वः स्थापने मतः ॥ १ ॥

यथा—कार्यं विदधाति, (इति करोत्यर्थे) । मधुरमभिदधाति, (भाषणे) । कुशलो संदधाति (मेलने) । पादं निदधाति (स्थापने) ।

९—यथा 'दत्तः', इति । १०—'घ्वसो...' इत्येत्वाऽभ्यासलोपौ । ११—जस्य कुत्वं चर्त्वं च ।

७१७—स्था धातु और घुसंज्ञक धातु को इकार अन्तादेश होता है और सिच् कित् होता है आत्मनेपद परे रहते ।

७१८—द्विरुक्त झषन्त धा धातु के बश् को भष् होता है त-थ और स ध्व परे रहते ।

७१९—णिज् , विज् , और विष धातु के अभ्यास को गुण होता है श्लु के विषय में ।

नेनिक्ते । निनेज । नेक्ता । नेक्ष्यति, नेक्ष्यते । नेनेक्तु । नेनिग्धि ॥

७२० नाभ्यस्तस्याचि[1] पिति सार्वधातुके ७ । ३ । ८७ ॥

लघूपधगुणो न । नेनिजानि । नेनिक्ताम् । अनेनेक् । अनेनिक्ताम् । अनेनिजुः । अनेनिजम् । अनेनिक्त । नेनिज्यात् । नेनिजीत । निज्यात्, निक्षीष्ट[2] । अनिजत्[3], अनैक्षीत्, अनिक्त[4] । अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यत । एवं विजिर् पृथग्भावे ॥ विष्लृ व्याप्तौ ॥ इति जुहोत्यादयः ।

अथ दिवादिगणः ॥ ४ ॥

दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु ।

७२१ दिवादिभ्यः श्यन् ३ । १ । ६९ ॥

कर्तरि सार्वधातुके । शपोऽपवादः । हलि चेति दीर्घः । दीव्यति । दिदेव । देविता । देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत् । अदेविष्यत् । एवं षिवु[5] तन्तुसन्ताने ।

७२२ सिवादीनां वाड्व्यवायेऽपि ८ । ३ । ७१ ॥

परिनिविभ्यः परेषामेषां सस्य षो वा । पर्यषीव्यत्, पर्यसीव्यत् । नृती

१—अजादौ पिति सार्वधातुके अभ्यस्तस्य लघूपधगुणो न स्यात्-इत्यर्थः । २—'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्वान्न गुणः । ३—अनिजत्, अनिजताम्, अनिजन् । अङभावे—अनैक्षीत्, अनैक्ताम्, अनैक्षुः । ४—आत्मनेपदे च-अनिक्त, अनिक्षाताम्, अनिक्षत । इति जुहोत्यादयः । ५—जिजाभिलाषः । ६—वस्त्रादिसीवने इत्यर्थः । सीव्यति । सिषेव । सेविता । सेविष्यति । सीव्यतु । असीव्यत् । सीव्येत् । सीव्यात् । असेवीत् । असेविष्यत् । ७—सिवु-सह-सुट-स्तु-स्वञ्जः, इति सिवादयः ।

७२०—अभ्यस्त को लघूपध गुण नहीं होता अजादि पित् सार्वधातुक परे रहते ।

अथ दिवादयः

७२१—दिवादिगणपठित धातुओं से परे श्यन् होता है कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते ।

७२२—परि, नि, वि से परे सिवादि धातुओं के स को ष विकल्प से होता है ।

गात्रविक्षेपे । नृत्यति । ननर्त । नर्तिता ।

७२३ सेऽसिचि कृत-चृत-छृद-तृद-नृतः ७ । २ । ५७ ॥

एभ्यः सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड्वा । नर्तिष्यति, नर्त्स्यति । नृत्यात् । अनर्तीत्[2] । त्रसी उद्वेगे[3] । वाभ्राशेति श्यन्वा । त्रस्यति, त्रसति । तत्रास ।

७२४ वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम् ६ । ४ । १२४ ॥

एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ वा । त्रेसतुः, तत्रसतुः । त्रेसिथ, तत्रसिथ । त्रसिता । शो तनूकरणे ।

७२५ ओतः श्यनि ७ । ३ । ७१ ॥

लोपः[4] श्यनि । श्यति । श्यतः । श्यन्ति । शशौ[5] । शशतुः । शशुः । शाता । शास्यति । अशात् । अशाताम् । इट्सकौ । अशासीत् । अशासिष्टाम् । छो छेदने । छ्यति[6] । षो अन्तकर्मणि । स्यति[7] । ससौ । सेयात्[8] । दो अवखण्डने ।

१—नर्त्तने । २—'वदव्रजे'ति प्राप्ताया वृद्धेः 'नेटि' इति निषेधः, 'पुगन्ते'ति गुणे, अनर्तीत्, अनर्तिष्टाम्, अनर्तिषुः । इत्यादि । ३—उद्वेगो=भयम् । लिटि-तत्रास, त्रेसतुः-तत्रसतुः, त्रेसुः-तत्रसुः । त्रेसिथ-तत्रसिथ, त्रेसथुः-तत्रसथुः, त्रेस-तत्रस, तत्रास-तत्रस, त्रेसिव, त्रेसिम-तत्रसिम । लुडादौ-त्रसिता । त्रसिष्यति । त्रस्यतु, त्रसतु । अत्रस्यत्-अत्रसत् । त्रस्येत्-त्रसेत् । त्रस्यात् । अत्रासीत्-अत्रसीत् । अत्रसिष्यत् । इति । ४—ओकारस्य लोप इत्यर्थः । ५—'आदेच उपदेशेऽशिति' इति 'आत्वे' णल औत्वम् । ६—छ्यति । चच्छौ । छाता । छास्यति । छ्यतु । अच्छ्यत् । छ्येत् । छायात् । अच्छात्, अच्छासीत् । अच्छास्यत्-इति रूपाणि । ७—'धात्वादेः षः सः' इति सत्वम् । ८—आशीर्लिङि-सेयात् (मास्थादित्वस्य पाठात्'एर्लिङि' इति-एत्वम्), लुङि-'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' इति सिचो लुग् वा, असात्, पक्षे 'यमरमनमे' ति इट्सकौ-असासीत्, असासिष्टाम्, असासिषुः, इत्यादि ।

७२३—कृत-चृत-छृद-तृद-नृत धातुओं से परे सिच्भिन्न सादि आर्धधातुक को इडागम होता है विकल्प से ।

७२४—जॄ-भ्रमु-त्रस् धातुओं को एत्व होता है और अभ्यास का लोप होता है विकल्प से कित् लिट् और सेट् थल् परे रहते ।

७२५—ओकार का लोप होता है श्यन् परे रहते ।

ध्यति । दधौ । देयात्[1] । अदात् । व्यध ताडने[2] । विध्यति । विव्याध । विविधतुः । विव्यद्ध । विव्यधिथ । व्यद्धा । व्यत्स्यति । विध्येत् । विध्यात् । अव्यात्सीत् । पुष पुष्टौ । पुष्यति । पुपोष । पुपोषिथ । पोक्ष्यति पुषादीत्यङ् । आपरस्मैपदात्[6] । अपुषत् । शुष शोषणे । शुष्यति । शुशोष । अशुषत् । णश अदर्शने । नश्यति । ननाश । नेशतुः[8] ।

७२६ रधादिभ्यश्च ७ । २ । ४५ ॥

रध् नश् तृप् दृप् द्रुह् मुह् ष्णुह् ष्णिह् एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट् । नेशिथ,

७२७ मस्जि-नशोर्झलि ७ । १ । ६० ॥

नुम् स्यात् । ननंष्ठ* । नेशिव, नेश्व । नशिता, नंष्टा । नशिष्यति, नङ्क्ष्यति । नश्येत् । नश्यात् । अनशत् । प्रणश्यति[10] ।

७२८ नशेः षान्तस्य ८ । ४ । ३६ ॥

णत्वं न । प्रनंष्टा । अन्तग्रहणं[11] भूतपूर्वप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रनङ्क्ष्यति । रध

१—'एर्लिङि' इत्यैत्वम् । लुङि-घुसंज्ञायां 'गातिस्थे'ति सिचो लुक्, अदात् । २—वेधने प्रसिद्धः । ३—श्यनः 'सार्वधातुकमपित्' ङित्त्वे 'ग्रहि-ज्या...' इति सम्प्रसारणम् । ४—'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । ५—'झषस्तथोर्धोऽधः' इति थस्य धत्वम्, पूर्वधकारस्य, जश्त्वम् (दः)। (इडभावे रूपमिदम्) लुङि-'वदव्रजे'ति वृद्धिः, खरि चेति चर्त्वम् । अव्यात्सीत्, अव्याद्धाम्, अव्यात्सुः-इत्यादिरूपाणि । ६—परस्मैपदपर्यन्तम् पुषादिगण इत्यर्थः । ७—अभावे=नाशे । ८—'अत एकहल्मध्ये...' इति एत्वाभ्यासलोपौ ।

९—इडभावे 'व्रश्चभ्रस्ज...'इति शस्य षत्वम्, 'षढोः कःसि' इति कत्वे परस्य सस्य षत्वे कषसंयोगे क्षः । नुम्, अनुस्वारपरसवर्णौ-नङ्क्ष्यति १०—'उपसर्गादसमासेऽपि...' इति णत्वम् । ११—षस्य इत्युक्तेऽपि पदस्येत्यस्य विशेषणत्वेन

७२६—रधादि धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होता है ।

७२७—मस्ज् और नश् धातु को नुम् आगम होता है झलादि प्रत्यय परे रहते ।

७२८—षान्त नश् धातु के नकार को णत्व नहीं होता ।

*नुमि 'ननंश् थ' इत्यत्र व्रश्चेति शस्य षत्वे ष्टुत्वम्—ननंष्ठ ।

हिंसा-संराध्योः ।

७२९ रधि-जभोरचि ७ । १ । ६१ ॥

नुम् । ररन्ध । ररन्धतुः । ररन्धिथ, ररद्ध । ररन्धिव, रेध्व ॥

७३० नेट्यलिटि रधेः ७ । १ । ६२ ॥

लिड्वर्जे इटि रधेर्नुम्न । रधिता, रद्धा । रधिष्यति, रत्स्यति । अङि नुम् । अनिदितामिति नलोपः । अरधत् । तृप प्रीणने । तृप्यति । ततर्प्य, ततर्प्थ, ततर्पिथ । तर्पिता, तर्प्ता, त्रप्ता । (स्पृश्-मृश्-कृष्-तृप्-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः) अतर्पीत्, अत्राप्सीत्, अताप्र्सीत्, अतृपत् । दृप हर्षमोहनयोः दृप्यति । रधादित्वादिमौ वेट्कावमर्थमनुदात्तता । द्रुह जिघांसायाम् । द्रुह्यति । वा द्रुहेति वा घः । पक्षे ढः । दुद्रोग्ध, दुद्रोढ, दुद्रोहिथ । द्रोहिता, द्रोग्धा, द्रोढा । अद्रुहत् । मुह वैचित्त्ये । वैचित्यमविवेकः । मुह्यति । मुमोहिथ, मुमोग्ध, मुमोढ । मोहिता, मोग्धा, मोढा । मोहिष्यति, मोक्ष्यति । अमुहत् । ष्णुह उद्गिरणे । स्नुह्यति । सुष्णोह । सुष्णोहिथ, सुष्णोग्ध, सुष्णोढ । सुष्णुहिव, सुष्णुह्व । स्नोहिता, स्नोग्धा, स्नोक्ष्यति । अस्नुहत् । ष्णिह प्रीतौ । स्निह्यति । सिष्णेह । स्नेढा । स्नेहिष्यति । स्नेहिता, स्नेग्धा, स्नेढा । अस्निहत् । तुष तुष्टौ । तुष्यति । दुष वैकृत्ये । दुष्यति । श्लिष आलिङ्गने । श्लिष्यति ।

षान्तस्येति लाभादन्तग्रहणं व्यर्थं सद् ज्ञापयति भूतपूर्वप्रतिपत्त्यर्थमिति, अर्थात्- साम्प्रतं षान्तत्वाभावेऽपि स्यादेव निषेधः । यथा—प्रनङ्क्ष्यति ।

१—इडभावपक्षे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य...' इति वैकल्पिकोऽम् । पक्षे गुणः । २—'रधादिभ्यश्च' इति वैकल्पिके—इटि ईटि च गुणः, 'इट ईटि' इति सिज्- लोपः । अतर्पीत् । इडभावपक्षे वैकल्पिके अमि—उपधावृद्धौ, अत्राप्सीत् । अताप्र्सीत् । सिजभावपक्षे—पुषादित्वादङ्—अतृपत् । ३—'अनुदात्तस्य चर्दुप- धस्या......' इत्यमूविधानार्थमनयोरनुदात्तत्वमित्यर्थः । ४—वैकृत्यम् = विकारः, दुष्यति = विकृतो भवतीत्यर्थः ।

७२९—रध् और जभ् धातु को नुम् होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ।

७३०—लिड्वर्ज इट् परे रहते रध् को नुम् नहीं होता । (स्पृश्, मृश्, कृष्, तृप्, दृप्, इन धातु सम्बन्धी च्लि को सिच् विकल्प से होता है ।) रधादि- त्वादिति—रधादि होने से ये दोनों वेट् हैं और अम् के लिये इनकी अनु- दात्तता है ।

७३१ श्लिष आलिङ्गने॥ ३।१।४६॥

च्लेः क्सः। अश्लिक्षत्[1] कन्यां देवदत्तः। आलिङ्गने किम्-समश्लिषज्जतु[2] काष्ठम्। प्रत्यासत्ताविह[3] श्लिषिः। क्रुध क्रोधे। क्रुध्यति। क्षुध बुभुक्षायाम्। क्षुध्यति। शुध शौचे। शुध्यति। षिधु संराद्धौ। सिध्यति। शमु उपशमे।

७३२ शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ७।३।७४॥

शम् तम् दम् श्रम् भ्रम् क्षम् क्लम्-मदामचो दीर्घः श्यनि। प्रणिशाम्यति। शेमतुः। शेमु। शेमिथ। शमिता। अशमत्। तमु काङ्क्षायाम्। ताम्यति। तमिता। अतमत्। दमु उपशमे। दाम्यति। दमिता। अदमत्। श्रमु तपसि खेदे च। श्राम्यति। अश्रमत्। भ्रमु अनवस्थाने। वा भ्राशेति श्यन्वा। भ्राम्यति, भ्रमति। भ्रेमतुः[4], बभ्रमतुः। अभ्रमत्। क्षमू सहने। क्षाम्यति। चक्षमिथ, चक्षन्थ। चक्षमिव, चक्षण्व[5]। क्षमिता। क्षन्ता। अत्र न षित्। भ्वादिस्तु षित्।

अषितैः[6] क्षाम्यतेः क्षान्तिः क्षमूष- क्षमतेः क्षमा।

क्लमु ग्लानौ। ष्ठिवुक्लमुचमामिति दीर्घः। क्लाम्यति, क्लामति। क्लमिता। अक्लमत्। मदी हर्षे। माद्यति। अमदत्। असु क्षेपणे। अस्यति। आस। असिता। अस्यतीत्यङ्।

७३३ अस्यतेस्थुक् ७।४।१७॥

१—आलिङ्गति स्म। २—पुषादित्वादङ्। ३—प्रत्यासत्तिः = संयोगः। ४—'वा जॄभ्रमुत्रसाम्' इत्येत्वाभ्यासलोपौ वैकल्पिकौ। ५—उदित्वादिट्। ६—'म्वोश्चे'ति नत्वे, णत्वम्। ७—पितोऽपित्वयोः फलभेदं श्लोकार्धेन सङ्गृह्णाति, अषित इति-अषितः क्षाम्यतेः=श्यन्विकरणपठितस्य क्षम् धातोः किनि क्षान्तिरिति रूपम्। अषित्वात् 'षिद्भिदादिभ्यः' इत्यङ् नेत्यर्थः। क्षमूषस्तु भौवादिकात् षितः क्तिनं बाधित्वा षित्वादङि 'क्षमा' इति रूपम्।

७३१—आलिङ्गन अर्थ में श्लिष् धातु से परे च्लि को क्स होता है।

७३२—शम् आदि आठ धातुओं के अच् को दीर्घ होता है श्यन् परे रहते।

अषित इति—दिवादि गणीय अषित् क्षमू धातु का क्तिन् होकर 'क्षान्ति' बनता है। भ्वादिगणीय षित् क्षमूष् का स्त्रीत्व में अङ् होकर 'क्षमा' रूप बनता है।

७३३—अस्यति को थुक् आगम होता है अङ् परे रहते।

---

*प्राणिकर्तृकमुपगूहनमालिङ्गनम्।

अक्षि। आस्यत्। यसु प्रयत्ने।

७३४ यसोऽनुपसर्गात् ३।१।७१॥

७३५ संयसश्च ३।१।७२॥

श्यन्वा। यस्यति, यसति। संयस्यति, संयसति। अनुपसर्गात्किम्। प्रयस्यति। जसु मोक्षणे। जस्यति। तसु उपक्षये। दसु च। तस्यति। अतसत्। दस्यति। अदसत्। वसु स्तम्भे। वस्यति। न शसददेति निषेधः। ववास। ववसतुः। वश्चादिरिति मते तु-वेसतुः। वेसुः। व्युष विभागे। व्युष्यति। बिस प्रेरणे। बिस्यति। अबिसत्। बुस उत्सर्गे। बुस्यति। मुस खण्डने। मुस्यति। मसी परिणामे। परिणामो=विकारः। लुठ विलोडने। लुठ्यति। उच समवाये। उच्यति। उवोच[१]। ऊचतुः। ऊचुः। भृशु भ्रंशु अध पतने। भृश्यति। बभर्श। अभृशत्। अनिदितामिति नलोपः। भ्रश्यति। बभ्रंश। अभ्रशत्[२]। कृश तनूकरणे। कृश्यति। ञितृषा पिपासायाम्। तृष्यति। हृष तुष्टौ। श्यनङौ मौवादिकाद्विशेषः, हृष्यति। अहृषत्। रुष रिष हिंसायाम्। तोषेति वेट्। रोषिता, रोष्टा। रेषिता, रेष्टा। कुप क्रोधे। कुप्यति। गुप व्याकुलत्वे। लुभ गार्ध्ये। गार्ध्यमाकाङ्क्षा। लोभिता, लोब्धा[३]। लोभिष्यति। स्वादेराकृतेर्गणाल्लोभतीत्यप्याहुः[४]। क्षुभ संचलने। क्षुभ्यति। क्लिदू आर्द्रीभावे। क्लिद्यति। चिक्लेदिथ, चिक्लेत्थ। चिक्लिदिव, चिक्लिद्व। चिक्लिदिम, चिक्लिद्म। ञिमिदा स्नेहने।

७३६ मिदेर्गुणः ७।३।८२॥

मिदेरिको गुणः इत्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये। मेद्यति। अमिदत्। ञिक्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः। क्ष्विद्यति। ऋधु वृद्धौ। ऋध्यति। आनर्ध[५]। गृधु

१उच्+अ, द्वित्वे, गुणे, 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इत्युवङ्। २—पुषादित्वादङ्, 'अनिदितां...' इति न लोपः। ३—'तीषसहलुभ...' वेट्, इडभावे रूपम्, भस्य जश्त्वम्। ४—स्वादिगणस्याऽवृत्करणात्=असमापनात् समाप्तेरभावादिति यावत् (स्वादिराकृतिगणः)। तेन शपि लोभतीत्यपि रूपम्। ५—ऋकारैकदेशो रेफो हल्त्वेन गृह्यते, तेन 'तस्मान्नुड्...' इति नुट् 'आनर्ध'।

७३४—उपसर्ग रहित यस् धातु से श्यन् प्रत्यय होता है विकल्प से।

७३५—सं पूर्वक यस् से श्यन् होता है विकल्प से।

७३६—मिद् धातु के इक् को गुण होता है इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय परे हो तो।

अभिकाङ्क्षायाम् । गृध्यति । अगृधत् । इति परस्मैपदिनः । षूङ् प्राणिप्रसवे । सूयते । सुषुवे । क्रादिनियमान्नित्यमिट् । सुषुविषे । सुषुविवहे । सोता[1], सविता । दूङ् परितापे । दीङ् क्षये ।

७३७ दीङो युडचि क्ङिति ६ । ४ । ६३ ॥

दीङः परस्याजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट् । (वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ[2]) । दिदीये ।

७३८ मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च ६ । १ । ५० ॥

एषामात्वं ल्यपि चादशित्येज्निमित्ते । दाता । दास्यते । (स्थाघ्वोरित्वे दीङः प्रतिषेधः[3]) अदास्त । डीङ् विहायसा गतौ । डीयते । पीङ् पाने । पीयते । माङ् माने । मायते । ममे । माता । जनी[6] प्रादुर्भावे ।

७३९ ज्ञा-जनोर्जा ७ । ३ । ७९ ॥

शिति । जायते । गमहनजनेति उपधाया लोपः । 'स्तोः श्चुना श्चुः' । जज्ञे । जनिता । जनिष्यते ।

१—'स्वरतिसूतिसूयति...' इति वेट् । लृडादौ-सोष्यते-सविष्यते । सूयताम् । असूयत । सूयेत । सोषीष्ट, सविषीष्ट, असोष्ट, असविष्ट । असोष्यत-असविष्यत-इति रूपाणि । २—युट आभीयत्वेनाऽसिद्धत्वात् 'एरनेकाच...' इति यण् प्राप्तः, स माभूदित्येतदर्थमिदं वार्त्तिकम् । ३—'स्थाघ्वोरिच्च' इति प्राप्तमित्त्वं न स्यादित्यर्थः । ४—पक्षिविमानादिगमने इत्यर्थः । लिटि-'एरनेकाचो...' इति यण् 'डिड्ये' । लुङि अडयिष्ट, अडयिषाताम्, अडयिषत । अडयिष्ठाः । इत्यादयः । ५—लुङि-अमास्त, अमासाताम्, अमासत । इत्यादि । ६—ईकार इत् । ७—द्वित्वे हलादिशेषे जजन्+(त) ए, इत्यत्र 'गमहनजन...' इति उपधालोपे श्चुत्वेन नस्य ञत्वे जञोर्ज्ञः जज्ञे ।

७३७—दीङ् धातु से परे अजादि कित् ङित् आर्धधातुक को युट् का आगम होता है । (वा०-उवङ् और यण् के विधान में वुक्-युट् सिद्ध ही रहते हैं ।)

७३८—मीञ्, मिञ् और दीङ् धातु को आत्व होता है ल्यप् परे रहते । चकार से शित्भिन्न एच्निमित्तक प्रत्यय परे रहते भी आत्व होता है ।

(वा-'स्थाघ्वोरिच्च' से प्राप्त इत्व दीङ् को नहीं होता ।)

७३९—ज्ञा और जन धातु को जा आदेश होता है शित् परे रहते ।

७४० दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ३।१।६१॥

एभ्यश्च्लेश्चिण्वा एकवचने तशब्दे परे ।

७४१ चिणो लुक् ६ । ४ । १०४ ॥

चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् ।

७४२ जनि-वध्योश्च ७ । ३ । ३५ ॥

न वृद्धिश्चिणि ञ्णिति कृति च । अजनि, अजनिष्ट । दीपी दीप्तौ । दीप्यते । दिदीपे । अदीपि , अदीपिष्ट । पद गतौ । पद्यते । पेदे । पत्ता । पद्येत । पत्सीष्ट ।

७४३ चिण्ते पदः ३ । १ । ६० ॥

अपादि । अपत्सातामू[1] । अपत्सत । विद सत्तायाम् । विद्यते । वेत्ता । बुध अवगमने । बुध्यते । बोद्धा[2] । एकाचो बशो भष् झषन्तस्येति भष्भावः । भोत्स्यते[3] । भुत्सीष्ट । अबोधि[4], अबुद्ध । अभुत्सातामू । युध संप्रहारे । युध्यते । युयुधे । योद्धा । अयुद्ध । सृज विसर्गे । सृज्यते । ससृजे । सृजिदृशोर्झल्यमकितीत्यमागमः । स्रष्टा[5] । स्रक्ष्यते । सृक्षीष्ट । लिङ्सिचाविति कित्त्वम् । असृष्ट । असृक्षाताम् । मीङ् हिंसायाम् । मीयते । रीङ् श्रवणे । रीयते । लीङ् श्लेषणे । लीयते ।

७४४ विभाषा लीयतेः ६ । १ । ५१ ॥

लीयतेरिति यका निर्देशो नतु श्यना[6] । लीलीङोरात्वं स्यादेज्विषये ल्यपि च ।

१—अपत्थाः, अपत्साथाम्, अपद्ध्वम् । अपत्सि, अपत्स्वहि, अपत्स्महि । २—लघूपधगुणः, तकारस्य धत्वम् । भोत्स्यते, 'एकाचो बशो भष्...' इति बस्य भत्वम् । ४—'दीपजनबुध...' इति च्लेः चिण् (विकल्पेन) । ५—अमो मित्त्वाद् ऋकारात्परत्वम् , जकारस्य षत्वम्, तकारस्य ष्टुत्वम्, यण् । ६—'सार्वधातुके यक्' इति विहितेन यका न तु श्यना अन्यथा लीङित्येव ब्रूयात् । तेन लीलिङोरुभयोरप्यात्वम्

७४०—दीपादि धातुओं से परे च्लि को चिण् विकल्प से होता है एकवचन तशब्द परे रहते।

७४१—चिण् से परे त शब्द का लुक् होता है ।

७४२—जन् और वध के उपधाभूत अच् को वृद्धि नहीं होती चिण् और ञित् णित् कृत् परे रहते ।

७४३—पद धातु से परे च्लि को चिण् होता है त शब्द परे रहते ।

७४४—ली और लीङ् को आत्व होता है एच् विषय में और ल्यप् परे रहते ।

बोता, बाता। सेष्यते, बास्यते। एज्विषये किम्। बीयते। लिल्ये। ब्रीङ् वृणो-त्यर्थे। ब्रीयते। विव्रिये। इत्यात्मनेपदिनः। मृष तितिक्षायाम्[1]। मृष्यति। मृष्यते। ममर्षिथ। ममृषे। ममृषिषे। मर्षितासि, मर्षितासे। णह बन्धने। नह्यति, नह्यते। ननाह। 'नहो धः' इति धः। ननद्ध। नेहे। नद्धा। नत्स्यति। अनात्सीत्। अनद्ध। रञ्ज रागे रज्यति, रज्यते। शप आक्रोशे। शप्यति, शप्यते। शक विभाषितो मर्षणे*। विभाषित इत्युभयपदीत्यर्थः। शक्यति, शक्यते, हरिं द्रष्टुं भक्तः। शशाक। शेकिथ, शशक्थ। शेके। शक्ता। शक्ष्यति। शक्ष्यते। पुषादित्वादङ्, अशकत्। अशक्त। सेट्कोऽयमित्येके। तन्मतेनाऽनिट्केषु लृदित्पठितः। शकिता। शकिष्यति। शकिष्यते। ॥ इति दिवादिः ॥

अथ स्वादिगणः ॥५॥

षुञ् अभिषवे।

७४५ स्वादिभ्यः श्नुः ३। १। ७३॥

कर्तरि सार्वधातुके। शपोऽपवादः। सुनोति। सुनुतः। हुश्नुवोरिति यण्। सुन्वन्ति। लोपश्चास्येति प्रत्ययेऽतो वा लोपः। सुन्वः, सुनुवः। सुनुते। सुन्वते। सुनुषे। सुषाव, सुषुवे। सोता। सुनु। सुनवानि। सुनवै। सुनुयात्।

७४६ स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७। २। ७२॥

१—वरणे इत्यर्थः। २—सहने इत्यर्थः। ३—णो नः। लिटि–ननाह, नेहतुः, नेहुः। नेहिथ, ननद्ध, नेहथुः, नेह। ननाह-ननह, नेहिव, नेहिम। आत्मनेपदे-नेहे, नेहाते, नेहिरे। इत्यादि। ४–'नहो धः' इति हस्य धत्वे चर्त्वम्, नत्स्यति। लुङि अनात्सीत्। अनाद्धाम्, अनात्सुः। अनात्सीः, अनाद्धम्, अनाद्ध। अनात्सम्, अनात्स्व, अनात्स्म। आत्मनेपदे-अनद्ध, अनत्साताम्, अनत्सत। इत्यादि। ५—'अनिदितां...'इति न लोपः। ६—अभिषवः = स्नपनं पीडनं स्नानं सुरासन्धानं च। ७—'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्यात्। ८—'आडुत्तमस्य...' इत्यादि कृते 'हुश्नुवोरि'ति यणं बाधित्वा परत्वाद् गुणः, सुनवानि। एवं सुनवै।

अथ स्वादयः

७४५—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते स्वादिगणपठित धातुओं से श्नु होता है।

७४६—स्तु-सु-धूञ् धातुओं से परे सिच् को इट् होता है परस्मैपद परे रहते।

---

*मर्षणमिह सामर्थ्यम्।

षिञ इट् । असावीत् । असोष्ट । अभिषुणोति । अभ्यषुणोत् ।

७४७ सुनोतेः स्यसनोः ८ । ३ । ११७ ॥

सस्य षो न । विसोष्यति । षिञ् बन्धने । विसिनोति[2] । चिञ् चयने । चिनोति । चिनुते ।

७४८ विभाषा चेः ७ । ३ । ५८ ॥

अभ्यासाच्चेः कुत्वं वा सनि लिटि च । चिकाय, चिचाय, चिक्ये, चिच्ये । अचैषीत्, अचेष्ट ॥ स्तृञ् आच्छादने । स्तृणोति, स्तृणुते । तस्तार्[3], तस्तरे । गुणोर्तीति गुणः । स्तर्यात् ॥

७४९ ऋतश्च संयोगादेः ७ । २ । ४३ ॥

ऋदन्तात्संयोगादेर्लिङ्सिचोरिड् वा तङि । स्तरिषीष्ट, स्तृषीष्ट[4] । अस्तरिष्ट, अस्तृत[6] ॥ धुञ् कम्पने । धुनोति, धुनुते । दुधाव, दुधुवे । अधौषीत् । अधोष्यत् ॥ धूञ् कम्पने । धूनोति । धूनुते । स्वरतीति वेट् । दुधविथ, दुधोथ । किति लिटि नु॥

७५० श्र्युकः किति ७ । २ । ११ ॥

श्रिञ एकाच उगन्ताच्च गित्किनोरिण्न । इति प्राप्ते । क्रादिनियमान्नित्यमिट् । दुधुविव । दुधुविम । अधावीत्, अधविष्ट, अधोष्ट ॥ कृञ् हिंसायाम् । कृणोति,

१—'उपसर्गात्सुनोति...'इति षत्वे णत्वम् । अभ्यषुणोत् इत्यत्र 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम् । २—'सात्पदाद्योः' इति षत्वनिषेधः, 'उपसर्गात्सुनोति ...' इति तु न षः, सुनोत्यादिष्वनन्तर्भावात् । ३—ऋवर्णान्तस्य णत्वं वाच्यम् । ४—'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणे वृद्धिः । तस्तरतुः, अत्र पूर्वोक्तेन गुणः । ५—उश्चेति कित्वान्न गुणः । ६—'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः । ७—'स्वरतिसूतिसूयति...७ । २ । ४४ ।' इति विकल्पो यद्यपि परः, तथापि 'आर्धधातुकस्येड्...७ । २ । ३५ ।' इति विधिकाण्डारम्भात् प्राग् 'नेड् वशि कृति ७।२।८।'

७४७—सुनोति के स को ष नहीं होता स्य और सन् परे रहते ।

७४८—अभ्यास से परे चिञ् धातु को कुत्व होता है विकल्प से सन् और लिट् परे रहते ।

७४९—ऋदन्त संयोगादि धातु से परे लिङ् और सिच् को इडागम होता है तङ् परे रहते ।

७५०—श्रिञ् और एकाच् उगन्त धातु से परे गित् और कित् को इट् नहीं होता ।

कृणुते । चकार । चकर्थ । चक्रे । क्रियात् । कृषीष्ट । अकार्षीत्, अकृत ॥ वृञ् वरणे । वृणोति, वृणुते ॥

७५१ बभूथाततन्थ-जगृभ्म-ववर्थेति निगमे ७ । २ । ६४ ॥

एषां वेद इडभावो निपात्यते । तेन भाषायां थलीट् । ववरिथ, ववृव । ववृवहे । वृतो वा । वरीता, वरिता ॥

७५२ लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ७ । २ । ४२ ॥

वृङ्वृञ्भ्यामृदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा तङि ॥

७५३ न लिङि ७ । २ । ३६ ॥

वृतो लिङ इटो न दीर्घः । वरिषीष्ट, वृषीष्ट । अवारीत्, अवरिष्ट, अवृत ॥ टुदु उपतापे । दुनोति ॥ हि गतौ वृद्धौ च ॥

७५४ हिनुमीना ८ । ४ । १५ ॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यैतयोर्नस्य णः । प्रहिणोति ॥

७५५ हेरचङि ७ । ३ । ५६ ॥

अभ्यासाद् हिनोतेर्हस्य कुत्वं नतु चङि । जिघाय ॥ आप्लृ व्याप्तौ । आप्नोति । आप्नुतः । आप्नुवन्ति । आप्नुवः । आप्नुहि[1] । लृदित्त्वादङ् । आपत् ॥ शक्लृ

'श्र्युकःकिति ७ । २ । ११ ।' इत्यादिप्रतिषेध-(निषेध)—काण्डारम्भसामर्थ्यात्-अयं श्र्युकः किति-निषेधः स्वरत्यादिविकल्पं बाधते । एवं निषेधं च क्रादिनियमो बाधते (इति नित्यमिट् ।) विधिप्रकरणात्प्रागेव निषेधप्रकरणाऽऽरम्भसामर्थ्यादित्यर्थः ।

१—असंयोगपूर्वत्वान्न हेर्लुक् ।

७५१—बभूव, आततन्थ, जगृभ्म, ववर्थ, वेद विषयक इन प्रयोगों में इट् का अभाव निपातित है ।

७५२—वृङ् वृञ् और ऋदन्त धातु से परे लिङ् और सिच् को इट् होता है विकल्प से तङ् परे रहते ।

७५३—वृङ् वृञ् और दीर्घ ऋकारान्त धातु से परे लिङ् सम्बन्धी इट् को दीर्घ नहीं होता ।

७५४—उपसर्गस्थ निमित्त से परे 'हिनु' 'मीना'-सम्बन्धी नकार को णकार होता है ।

७५५—अभ्यास से पर हिनोति धातु के हकार को कुत्व होता है, किन्तु चङ्

शकौ । अशकत् ॥ राध साध संसिद्धौ । राध्नोति ॥

७५६ राधो हिंसायाम् ६ । ४ । १२३ ॥

एत्वाभ्यासलोपौ स्तः किति लिटि सेटि थलि च । अपरेधतुः । अपरेधुः । रेधिथ । राद्धा । साध्नोति । ससाध । साद्धा । असात्सीत् । असाद्धाम् ॥ ञिधृषा प्रागल्भ्ये । धृष्णोति । दधर्ष । धर्षिता ॥ दम्भु दम्भने[1] । अनिदितामिति नलोपः । दभ्नोति । ददम्भ (श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनां लिटः कित्वं वा) । कित्वपक्षे नलोपः । तस्याभीयत्वादसिद्धत्वेनैत्वाभ्यासलोपयोरप्राप्तौ । (दम्भेश्च एत्वाभ्यासलोपौ वक्तव्यौ) देभतुः, ददम्भतुः । दम्भिता । दभ्यात् ॥ तृप प्रीणने ॥

७५७ क्षुभ्नादिषु च ८ । ४ । ३९ ॥

न णत्वम् । तृप्नोति । ततर्प ॥ अशू व्याप्तौ संघाते च । अश्नुते ॥

७५८ अश्नोतेश्च[2] ७ । ४ । ७२ ॥

दीर्घादभ्यासादवर्णात्परस्य नुट् । आनशे । अशिता । अष्टा । अशिष्यते, अक्ष्यते । अश्नुवीत[3] । अक्षीष्ट[4], अशिषीष्ट, । आशिष्ट, आष्ट । आक्षाताम् ॥

इति स्वादिः ॥

१—लोकवञ्चनाय विहितकर्मानुष्ठानम्=दम्भनम्—दम्भः । २—अश श्नुविकरणनिर्देशः क्र्यादिगणस्थस्य 'अश भोजने' इत्यस्य वारणार्थः । ३—अश्न संयोगपूर्वत्वात् 'हुश्नुवो' रिति यण् न, किन्तूवङ् । ४—ऊदित्त्वादिड्-विकल्पः । 'व्रश्चे...'ति षत्वे, 'षढोः कःसि' इति कः, परस्य षत्वम्, क-षसंयोगे क्षः ।

इति स्वादयः ।

परे रहते नहीं होता ।

७५६—हिंसार्थक राध् धातु को एत्वाभ्यास लोप होता है कित् लिट् और सेट् थल् परे रहते ।

(श्रन्थ् ग्रन्थ् दम्भ् और स्वञ्ज् धातु से परे लिट् कित् होता है विकल्प से)

(दम्भ् धातु को एत्वाभ्यास लोप होता है कित् लिट् और सेट् थल् परे रहते)

७५७—क्षुभ्नादिगण पठित शब्दों में नकार को णकार नहीं होता ।

७५८—अश्नोति के अभ्यास सम्बन्धी दीर्घ अकार से परे स्थित वर्ण को नुट् आगम होता है ।

॥ इति स्वादयः ॥

अथ तुदादिगणः ॥ ६ ॥

तुद व्यथने ॥

७५९ तुदादिभ्यः शः ३ । १ । ७७ ॥

शपोऽपवादः । तुदति, तुदते । तुतोदिथ । तुतुदे । तोत्ता । अतौत्सीत्, अतुत्त ॥ णुद प्रेरणे । नुदति, नुदते । नुनोद । नुनुदे । नोत्ता । भ्रस्ज पाके । ग्रहिज्येति संप्रसारणम् । सस्य श्चुत्वम् । तस्य जश्त्वम् । भृज्जति, भृज्जते ॥

७६० भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ६ । ४ । ४७ ॥

भ्रस्जेरेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वार्धधातुके । मित्त्वादन्त्यादचः परः । स्थानषष्ठीनिर्देशाद्रोपधयोर्निवृत्तिः । बभर्ज । बभर्जतुः । बभर्जिथ, बभर्ष्ठ । बभ्रज्जतुः । बभ्रज्जिथ । स्कोरिति सलोपः । व्रश्चेति षः । बभ्रष्ठ । बभर्ज, बभ्रज्जे । भर्ष्टा, भ्रष्टा । भर्क्ष्यति, भ्रक्ष्यति । (क्ङिति रमागमं बाधित्वा संप्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन,) भृज्ज्यात्, भृज्ज्यास्ताम्, भृज्ज्यासुः । भर्क्षीष्ट, भ्रक्षीष्ट । अभार्क्षीत्, अभ्राक्षीत् । अभर्ष्ट, अभ्रष्ट । कृष विलेखने, कृषति, कृषते । चकर्ष, चकृषे ।

१—'श' इत्यस्य 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वान्न लघूपधगुणः । तुदति । लुङि-अतौत्सीत्, वदव्रजेति वृद्धिः । अतौत्ताम्, (झलो झलि, सिचो लोपः) अतौत्सुः इत्यादि । आत्मनेपदे-अतुत्त, अतुत्साताम्, अतुत्सत । अतुत्थाः, अतुत्साथाम्, अतुद्ध्वम् । अतुत्सि, अतुत्स्वहि, अतुत्स्महि । २—अनौत्सीत्, अनुत्त (लुङि) । ३—रमागमोऽयं रेफस्य-उपधायाश्च स्थाने आदेशो भवतीत्यर्थः । तथा चागमत्वमादेशत्वं चास्य सिद्ध्यति । ४—भ्रस्ज्+अ, रमागमे उपधायाः (सस्य) रेफस्य च निवृत्तौ 'भज्+अ' इति स्थितौ द्वित्वे हलादिशेषे अभ्यासकार्ये च 'बभर्ज' इति सिद्ध्यति । ५—इडभावे व्रश्चेति षत्वे थस्य ष्टुत्वे रूपम् । ६—रमागमाऽभावपक्षे इमानि रूपाणि । ७—वार्त्तिकमिदम् । ८—तुल्यबलविरोधे अपरं कार्यमिति विच्छिद्य पूर्वं कार्यमिति नियमेनेत्यर्थः । ९—लुङि-अभ्राक्षीत्, अभ्राष्टाम्, अभ्राक्षुः । अभ्राक्षीः, अभ्राष्टम्, अभ्राष्ट । अभ्राक्षम्, अभ्राक्ष्व, अभ्राक्ष्म । पक्षे अभार्क्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्क्षुः, इत्यादिरूपाणि ।

७५९—तुदादिगण पठित धातुओं से 'श' विकरण होता है । यह शप् का अपवाद है ।

७६०—भ्रस्ज् धातु के रेफ और उपधा के स्थान में रम् आगम होता है विकल्प से आर्धधातुक परे रहते । (वा०—कित् ङित् परे रहते रमागम को

कष्टा, कर्ष्टा। कृक्षीष्ट। अकाक्षीत्[1], अकार्क्षीत्। अकृक्षत्। अकृष्ट[2], अकृक्षाताम्[3], अकृक्षत। स्पृशमृशेति सिज् वा। अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त॥ मिल संगमने। मिलति, मिलते। मिमेल। मेलिता। अमेलीत्। मुच्लृ मोक्षणे॥

७६१ शे मुचादीनाम् ७। १। ५९॥

मुच्-लुप्-लिप्-विद्-सिप्-सिच्-कृत्-खिद्-पिशां नुम्। मुञ्चति, मुञ्चते। मोक्ता। मुच्यात्। लिङ्सिचाविति कित्। मुक्षीष्ट। अमुचत्[4], अमुक्त। अमुक्षाताम्॥ लुप्लृ छेदने। लुम्पति, लुम्पते। लोप्ता। अलुपत्, अलुप्त। विद्लृ[5] लाभे। विन्दति, विन्दते। विवेद। व्याघ्रभूतिमते सेट्। वेदिता। भाष्यमतेऽनिट्। परिवेत्ता[7]। षिच क्षरणे। सिञ्चति, सिञ्चते। असिचत्, असिचत[8], असिक्त। लिप उपदेहे[10]। लिम्पति, लिम्पते। लेप्ता। लिपिसिचिह्वश्चेत्यङ्। अलिपत्, अलिप्त। कृती छेदने। कृन्तति। चकर्त। कर्तिता। सेसिचीति वेट्। कर्तिष्यति, कर्त्स्यति[11]। अकर्तीत्॥ खिद परिदेवने। खिन्दति। चिखेद। खेत्ता।

आत्मनेपदे—अमर्ष्ट, अमर्क्षाताम्, अमर्क्षत। अमर्ष्ठाः, अमर्क्षाथाम्, अमड्ढ्वम्। अमर्क्षि, अमर्क्ष्वहि, अमर्क्ष्महि। पक्षे—अम्राष्ट, अम्रक्षाताम्, अम्रक्षत। अम्राष्ठाः—इत्यादि।

१—'अनुदात्तस्ये'ति सिचि अम् वा, अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत्। २—सिजभावपक्षे क्सेः क्सः। ३—तङि 'लिङ्सिचावात्म...' इति कित्वादम् न।

४—लृदित्वादङ्। ५—चत्वारो विद्धातवः, तत्रैवं रूपभेदः—

'वेत्ति' रूपं विद ज्ञाने, 'विन्ते' विद विचारणे।

'विद्यते' विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे च 'विन्दति'॥ इति॥

६—'विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादेरिष्टो भाष्येऽपि दृश्यते।

व्याघ्रभूत्यादयस्त्वेनं नेह पेठुरिति स्थितम्॥' इत्युक्तेः॥

७—परिपूर्वकाद् विद्धातोस्तृचि इडभावे गुणे च परिवेत्ता = ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्य दाराग्निहोत्रादिपरिग्रहीता। ८—सेक्ता, सेक्ष्यति। इत्यादि। ९—असिचत, असिचेताम्, असिचन्त। असिचथाः, असिचेथाम्, असिचध्वम्। असिचे, असिचावहि, असिचामहि। १०—लेपने इत्यर्थः। ११—'सेऽसिचि कृतचृत...' इति इट् वा।

बाधकर पूर्वविप्रतिषेध से संप्रसारण ही होता है।)

७६१—मुचादियों को नुमागम होता है श परे रहते।

पिश अवयवे। पिंशति। पेशिता॥ ओव्रश्चू[1] छेदने। वृश्चति। वव्रश्च[2]। वव्रश्चिथ–वव्रष्ठ[3]। व्रश्चिता। व्रष्टा। व्रश्चिष्यति, व्रक्ष्यति[4]। वृश्च्यात्। अव्रश्चीत्, अव्राक्षीत्[5]। व्यच व्याजीकरणे। विचति[6]। विव्याच। विविचतुः। व्यचिता। व्यचिष्यति। विच्यात्। अव्याचीत्, अव्यचीत्[7]। व्यचेः कुटादित्वमनसीति तु नेह प्रवर्तते, अनसीति पर्युदासेर्न, कृन्मात्रविषयत्वात्। उछि उञ्छे। उञ्छः = कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलमिति यादवः। उञ्छति[9]। उञ्छाञ्चकार। ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। ऋच्छत्यृतामिति गुणः। द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्[10]। आनर्च्छ, आनर्च्छतुः[11]। ऋच्छिता[12]। उज्झ उत्सर्गे। उज्झति। उज्झाञ्चकार[13]। लुभ विमोहने। लुभति। तीषसहलुभेति वेट्।

१—ओकारोऽनुनासिकत्वादित्संज्ञकः। २—लिटि द्वित्वे अभ्यासस्य सम्प्रसारणे उरदत्वे हलादिशेषे रूपम्। ३—'स्कोः संयो...' इति सलोपः, 'व्रश्चभ्रस्ज...' इति अन्त्यस्य (चकारस्य) षत्वम्। ४—ऊदित्वादयं वेट्, इडभावे रूपमिदम्, चकारस्थानिकस्य षकारस्य 'षढोः कः सि' इति कत्वे परस्य (सस्य) षत्वे कषसंयोगे क्षः। ५—ऊदित्वाद्वेट्। इडभावपक्षे 'स्को'-रिति सलोपः, व्रश्चेति षः, षढोरिति कः, सस्य षत्वं क-षसंयोगे क्षः, 'अतो हलादेः' इति वृद्धिः। अव्राक्षीत्। ६—'ग्रहिज्या...' इति सम्प्रसारणम्। ७—'अतो हलादेर्लघोः' इति वा वृद्धिः। ८—द्विविधो हि नञ्–यथा चोक्तम्—

'नञौ तु द्वौ समाख्यातौ पर्युदास–प्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥' इति॥

अत्र हि समस्तत्वात् पर्युदासो नञ्, पर्युदासो हि सदृशग्राही, तेन असभिन्नेऽससदृशे कृत्प्रत्यये (उद्विचिता, उद्विचितुम्, इत्यादौ) एव कुटादित्वेन ङित्वप्रयुक्तं सम्प्रसारणं भवति। तिङ्विषये 'व्यचिता' इत्यादौ (लुटि) तु न। ९—उञ्छाञ्चकार। उञ्छिता। उञ्छिष्यति। उञ्छतु। औञ्छत्। उञ्छेत्। उञ्छ्यात् (इदित्वान्नलोपो न)। औञ्छीत्। औञ्छिष्यत्। इति रूपाणि। १०—'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति सूत्रे इत्यर्थः। उपलक्षणत्वात् = परकत्वात्। ११—'इजादेश्च...' इति सूत्रे 'अनृच्छः' निषेधात् आम् न। 'आनर्च्छतुः' इत्यत्र 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः। १२—लुङि-आर्च्छीत्, आर्च्छिष्टाम्, आर्च्छिषुः, इत्यादि। १३-लिङ्लोपौ-उज्झाञ्चकार। उज्झिता। औज्झीत् (लुङि)।

(तुम्फादि धातुओं से नुम् आगम होता है श परे रहते)

क्षोभिता, क्षोब्धा। क्षोभिष्यति। तृप तृम्फ तृप्तौ। तृपति। ततर्प। तर्पिता। अतर्पीत्। तृम्फति। (शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः)। आदिशब्दः प्रकारे। तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः। ततृम्फ। तृफ्यात्। मृड सुखने। पृड च। मृडति। पृडति। शुन गतौ। शुनति। इषु इच्छायाम्। इषुगमीति छः। इच्छति। तीषेति वेट्। एषिता, एष्टा। एषिष्यति। इष्यात्। ऐषीत्। कुट कौटिल्ये। गाङ्कुटादीति ङित्त्वम्। चुकुटिथ। चुकोट। चुकुट। कुटिता। पुट संश्लेषणे। पुटति। पुटिता। स्फुट विकसने। स्फुटति। स्फुर स्फुल संचलने। स्फुरति। स्फुलति।

७६२ स्फुरति-स्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ८। ३। ७६॥

१—लुङि-अक्षोभीत्। २—'श' इत्यस्य 'सार्वधातुकमपित्' इत्यनेन ङित्वात् 'अनिदिताम्...' इति नलोपः (पुनर्नुमि रूपं तृम्फति)। नचात्र नकारो नास्ति, किन्तु मकार इति वाच्यम्, नकारस्यैव स्थानेऽनुस्वारे परसवर्णे च मकारस्य जातत्वात्। (अनिदितामिति लोपदृष्टौ-अनुस्वारपरसवर्णयोरसिद्धत्वाद् लोपदृष्टौ नकार एवेति।) तथा चोक्तम्—

नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु।
सकारजः शकारश्चे षाड्वर्गस्तवर्गजः॥ इति॥

३—'शे तृम्फादीनाम्...' इत्यत्र आदिशब्दः प्रकारे (सादृश्ये) तथा च ये धातवः तृम्फधातुरिव (तृम्फधातुर्यथा नकारयुक्तः तथा) नकारानुषक्ताः= नकारयुक्ताः (नकारस्थानिकजायमानानुस्वारपरसवर्णा अपि लोपदृष्टौ नकारानुषक्ताः) तेषु सर्वत्र शप्रत्यये परतः 'नुम्' स्यादित्यर्थः। ४—आशिषि यासुटः किस्वाद् 'अनिदिताम्...' इति 'न' लोपः। ५—शुशोन। शोनिता। शोनिष्यति। शुनतु। अशुनत्। शुनेत्। शुन्यात्। अशोनीत्। अशोनिष्यत्। इति रूपाणि। ६—लिटि-इयेष, ईषतुः, ईषुः। इयेषिथ, ईषथुः, ईष। इयेष, ईषिव, ईषिम। ७—कुटति। चुकोट (णलो णित्वात्) गाङ्कुटादीति न ङित्वम्, चुकुटतुः, चुकुटुः। चुकुटिथ (गाङ्कुटादीति ङित्वेन गुणाभावः) चुकुटथुः, चुकुट। चुकोट, चुकुट (उत्तमस्य णलो वा णित्वात्) णित्वाभावे ङित्वे न गुणः, परत्र गुणः) चुकुटिव, चुकुटिम। कुटिता, कुटिष्यति। इत्यादि।

७६२—निर् नि और वि उपसर्ग से स्फुर्-स्फुल् के स को षत्व होता है।

षत्वं वा । निष्कुरति, निस्कुरतीत्यादि । णू स्तवने । परिणूतगुणोदयः । नुवति । नुनाव । नुविता । इति कुटादयः । टुमस्जो शुद्धौ । मज्जति । ममज्ज । मस्जिन-शोरिति नुम् । (मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः) । संयोगादिलोपः । ममङ्क्थ, ममज्जिथ । मङ्क्ता । मङ्क्ष्यति । रुजो भङ्गे । अरौक्षीत् । भुजो कौटिल्ये । रुजिवत् । विश प्रवेशने । विशति । मृश आमर्शने । आमर्शनं = स्पर्शः । अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत्, अमृक्षत् । स्पृशमृशेति च्लेः सिच् वा । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । विशरणं = दुःखम् । सीदतीत्यादि । शद्लृ शातने ।

७६३ शदेः शितः १ । ३ । ६० ॥

शिद्भाविनोऽस्मात्तङानौ स्तः । शीयते । शीयताम् । अशीयत । शीयेत ।

१—(दीर्घ) ऊकारान्तत्वबोधनार्थेदम् । अत्र 'श्र्युकः किति' इति इण्निषेधः । २—नुविष्यति । नुवतु । अनुवत् । नुवेत् । नूयात् । अनुवीत् । अनुविष्यत् । ३—सस्य श्चुत्वेन शः । शस्य जश्त्वेन जः । ४—'मित्' हि-अन्त्यादचः परो भवतीति नियमेन मकारस्याऽकारात्परो माभूत्, किन्तु सकारजकारयोर्मध्ये । ५—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यनेन सलोपः इत्यर्थः । ६—अजारवत्भारर्थाद्वेट् । ७—अमाङ्क्षीत् । अमाङ्क्षीः, अमाङ्क्तम्, अमाङ्क्त । अमाङ्क्षम् । अमाङ्क्ष्व, अमाङ्क्ष्म । अमङ्क्ष्यत् (लृङि) । ८—अरौक्षीत्, अरौक्ताम् । अरौक्षुः । अरौक्षीः, अरौक्तम्, अरौक्त । अरौक्षम्, अरौक्ष्व, अरौक्ष्म । अरोक्ष्यत् । ९—विशति । विवेश, विविशतुः, विविशुः । वेष्टा (व्रश्चेति षत्वम्, पुगन्तेति गुणः) वेक्ष्यति । विशतु । अविशत् । विशेत् । विश्यात् । अविक्षत् ('शल इगुपधादनि...' इति च्लेः 'क्सः') अवेक्ष्यत् । इति रूपाणि । १०—एतस्य रूपाणि-मृशति । ममर्श । मर्ष्टा । मक्ष्यति । मृशतु । अमृशत् । मृशेत् । मृश्यात् । ११—लुङि अमृपक्षे क्सं बाधित्वा स्पृशमृशेति वार्तिकेन पाक्षिके सिचि वदव्रजेति वृद्धौ-अम्राक्षीत्, अम्राष्टाम्, अम्राक्षुः । अम्राक्षीः, इत्यादि । अमभावपक्षे सिचि च सति—अमार्क्षीत्, अमार्ष्टाम् अमार्क्षुः, अमार्क्षीः अमार्ष्टम्, इत्यादि । १२—पाघ्राध्मेति सीदादेशः । सीदति । ससाद, सेदतुः । सत्ता । सत्स्यति । सीदतु । असीदत् । सीदेत् । सद्यात् । असदत्-(लृदित्वात् 'पुषादि...' इत्यङ्) । असत्स्यत् ।

(वा०—मस्ज् धातु को अन्त्य से पूर्व नुम् होता है ।)

७६३—शिद्भावी शद् धातु से आत्मनेपद होता है ।

शशाद। शत्ता। शत्स्यति। अशदत्। अशत्स्यत्। कॄ विक्षेपे।

७६४ ऋत इद्धातोः ७।१।१००॥

किरति। (इत्वोत्वाभ्यां गुणवृद्धी विप्रतिषेधेन)। चकार। चकरतुः। करिता, करीता। कीर्यात्। अकारीत्।

७६५ किरतौ लवने ६।१।१४०॥

उपात्किरतेः सुट् छेदेऽर्थे। उपस्किरति। (अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम्)। उपास्किरत्। उपचस्कार।

७६६ हिंसायां प्रतेश्च ६।१।१४१॥

उपात्प्रतेश्च किरतेः सुट् हिंसायाम्। उपस्किरति। प्रतिस्किरति। गॄ निगरणे।

७६७ अचि विभाषा ८।२।२१॥

गिरते रेफस्य लोऽजादौ प्रत्यये। गिरति, गिलति। गरिता, गरीता। गलिता, गलीता। प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्। ग्रहिज्येति संप्रसारणम्। पृच्छति। पप्रच्छतुः, पप्रच्छुः। प्रष्टा। प्रक्ष्यति। अप्राक्षीत्। मृङ् प्राणत्यागे।

७६८ म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च १।३।६१॥

१—परत्वाद् गुणवृद्धी भवत इति वक्तव्ये कुतोऽस्याऽऽरम्भः? इति चेत् तत्रोच्यते, परादप्यन्तरङ्गं बलवदितीत्वे प्राप्ते वार्तिकमिदमारब्धम्। २—'ऋच्छत्यृताम्' इत्यनेन गुणः। ३—'वृतो वा' इति वा दीर्घः। ४—कीर्यात्, कीर्यास्ताम्, कीर्यासुः, ('ऋत इद्धातोः' इति 'इर्' हलि च इति दीर्घः)। ५—'ऋत इद्धातोः' इति-'इर्'। ६—'वृतो वा' वा इटो दीर्घः। ७—ज्ञीप्सा = प्रश्नकरणम्। ८...'व्रश्च...' इति छकारस्य षत्वम्। ९—प्रक्ष्येति षत्वे 'षढोः कः सि' इति कः, कषसंयोगे क्षः। प्रक्ष्यति। १०—अप्राक्षीत् ('वदव्रज...' इति वृद्धिः)। अप्राष्टाम्, अप्राक्षुः। अप्राक्षीः, अप्राष्टम्, अप्राष्ट। इत्यादि।

७६४—दीर्घ ॠकारान्त धातु के अङ्ग को ऋकार को इत् होता है।

(इत्व उत्व की अपेक्षा पूर्व विप्रतिषेध से गुण और वृद्धि होते हैं।)

७६५—उप से परे कॄ धातु को सुट् होता है छेदन अर्थ में।

(वा०—अट् और अभ्यास के व्यवधान मे भी ककार से पूर्व सुट् होता है।)

७६६—उप और प्रति से परे कॄ धातु को सुट् होता है हिंसा अर्थ में।

७६७—गॄ धातु के रेफ को लकार होता है अजादि प्रत्यय परे रहते।

७६८—मृङ् धातु से आत्मनेपद हो केवल लुङ् लिङ् और शित् परे रहते,

लुङ्लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तङानौ नान्यत्र[1]। ङित्त्वं स्वरार्थम्। रिङ्[2]। इयङ्। म्रियते। ममार। ममर्थ। मम्रिव। मम्रिम। मर्ता। मरिष्यति[3]। मृषीष्ट। अमृत[4]। पृङ् व्यायामे। प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः। व्याप्रियते। व्यापप्रे। व्यापरिष्यते। ह्रस्वादङ्गादिति सिज्लोपः। व्यापृत व्यापृषाताम्। जुषी प्रीतिसेवनयोः। जुषते। जुजुषे[5]। ओविजी भयसंचलनयोः। प्रायेणायमुत्पूर्वः। उद्विजते[6]।

७६९ विज इट् १। १। २॥

विजेः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्[7]। उद्विजिता। उद्विजिष्यते। ओलजी ओलस्जी व्रीडने। लजते। लेजे। लज्जते। ललज्जे।

॥ इति तुदादिगणः॥

अथ रुधादिगणः ॥७॥

रुधिर् आवरणे।

७७०—रुधादिभ्यः श्नम् ३। १। ७८॥

श्नपोऽपवादः। रुणद्धि। 'श्नसोरल्लोपः'। रुन्द्धः, रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्द्धः,

---

१—एवं चात्र विवेकः। लट् लोट् लङ् विधिलिङ् आशीर्लिङ् लुङ् तु आत्मनेपदम्। लिट् लुट् लृट् लृङ् तु परस्मैपदम्। तथैवोदाहरणानि मूले। २—'रिङ्शयग् लिङ्क्षु' इति 'रिङ्'। 'अचि श्नुधातु...' इति इयङ्। ३—'ऋद्धनोः स्ये' इति इट्। ४—अमृत ('ह्रस्वादङ्गात्' इति सूत्रेण सिचो लुक्) अमृषाताम्, अमृषत। अमृथाः, अमृषाथाम्, अमृढ्वम्। अमृषि, अमृष्वहि, अमृष्महि। ५—जोषिता। जोषिष्यते। जुषताम्। अजुषत। जुषीत। जोषिषीष्ट। अजोषिष्ट। अजोषिष्यत। इति रूपाणि। ६—विविजे। विजिता। विजिष्यते। विजताम्। अविजत। विजीत। विजिषीष्ट। अविजिष्ट। अविजिष्यत। ७—तेन न लघूपधगुणः। इति तुदादयः। ८—णत्वस्याऽसिद्धत्वादनुस्वारे परसवर्णे च जाते तस्य (परसवर्णस्य) असिद्धत्वात्तस्य णत्वं न 'झरो झरि' इति विकल्पेन धलोपः, रुन्धः, पक्षे—'रुन्द्धः' इति।

अन्यत्र नहीं।

७६९—विज् से परे इडादि प्रत्यय ङिद्वत् होता है। इति तुदादयः।

७७०—रुधादिगणपठित धातुओं से श्नम् होता है कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते।

रुन्द्ध । रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः । रुन्धे, रुन्धाते । रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्द्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे । रुन्ध्महे । रुरोध, रुरुधे । रोद्धा । रोत्स्यति, रोत्स्यते । रुणद्धु, रुन्द्धात्, रुन्द्धाम्, रुन्धन्तु । रुन्धि[1], रुणधानि[2] । रुणधाव । रुणधाम । रुन्द्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत् (द्) । अरुन्द्धाम् । अरुन्धन् । दश्चेति रुर्वा । अरुणः[3], अरुणत् (द्) । अरुन्द्धम् । अरुन्द्ध । अरुन्द्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । रुन्ध्यात्, रुन्धीत । रुध्यात्, रुत्सीष्ट[4] । अरुधत्[5], अरौत्सीत् । अरुद्ध । अरोत्स्यत्, अरोत्स्यत । भिदिर्[6] विदारणे । छिदिर्[7] द्वैधीकरणे । युजिर् योगे । रिचिर् विरेचने । रिणक्ति । रिङ्क्ते । रिरेच । रेक्ता । अरिणक्[8] । अरिचत्, अरैक्षीत्, अरिक्त । विचिर् पृथग्भावे । विनक्ति, विङ्क्ते[10] । क्षुदिर् संपेषणे । क्षुणत्ति, क्षुन्ते । क्षोत्ता । अक्षुदत्, अक्षौत्सीत्, अक्षुत्त । उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः । छृणत्ति, छृन्ते । चच्छर्द । सेऽसिचीति वेट् । चच्छृदिषे, चच्छृत्से । छर्दिता । छर्दिष्यति । छर्त्स्यति । अच्छृदत्, अच्छर्दीत्, अच्छर्दिष्ट । उतृदिर् हिंसानादरयोः । तृणत्ति । तृन्ते[11] । कृती-वेष्टने । कृणत्ति[12] । तृह हिसि हिंसायाम् ।

७७१ तृणह इम् ७ । ३ । ९२ ॥

१–झलन्तत्वाद् 'हुझल्भ्यो...' इति हेर्धिः । २—रुणधानि–'आडुत्तमस्य पिच्चे'ति आडागमः । ३—सिपि 'दश्च' इति रुर्वा । ४—'लिङ्सिचावात्म...' इति कित्वान्न गुणः । ५–'इरितो वा' इत्यङ् । अरुधत्, अरुधताम्, अरुधन् इत्यादि । अङभावे अरौत्सीत् (वदव्रजेति वृद्धिः), अरौद्धाम् (झलो झलीति सिचः सलोपः), अरौत्सुः, अरौत्सीः, इत्यादि । अरुद्ध (आत्मनेपदे, झलो झलीति सलोपे) । ६–भिनत्ति, भिन्ते । बिभेद, बिभिदे । भेत्तासि, भेत्तासे । भेत्स्यति, भेत्स्यते । भिनत्तु, भिन्ताम् । अभिनत्, अभिन्त । भिन्द्यात्, भिन्दीत । भिद्यात्, भित्सीष्ट । अभिदत्, अभैत्सीत्, अभित्त । अभेत्स्यत्, अभेत्स्यत । सिद्धिस्तु रुधिवत् । ७—चिच्छेद, चिच्छिदे । अच्छिदत्, अच्छैत्सीत्, इत्यादि भिदिवत् । ८—लुङि—अयुजत्–अयौक्षीत्–अयुक्त । ९—अरिणक्, अरिङ्क्ताम्, अरिञ्चन् । अरिणक्, अरिङ्क्तम्, अरिङ्क्त । अरिणचम्, अरिञ्च्व, अरिञ्च्म । १०—अस्य रिचिवद्रूपाणि । ११—तर्दिता । तर्दिष्यति । लुङि–अतृदत्, अतर्दीत्, अतर्दिष्ट । १२—कर्तिता । अकर्तीत् । अयं परस्मैपदी ।

७७१—तृह् धातुसे श्नम् करने पर इम् आगम् होता है हलादि पित् परे रहते ।

तृह: श्नमि कृते इम् हलादौ पिति । तृणेढि । तृण्ढः । ततर्ह । तर्हिता । अतृणेट् ।

७७२ श्नान्नलोपः ६ । ४ । २३ ॥

हिनस्ति । जिहिंस । हिंसिता । उन्दी क्लेदने । उनत्ति । उन्तः । उन्दन्ति । उन्दाञ्चकार । औनत् । औन्ताम् । औन्दन् । औनः । औनदम् । अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु । अनक्ति । अङ्क्तः । अञ्जन्ति । आनञ्ज । आनञ्जिथ, आनङ्क्थ । अञ्जिता, अङ्क्ता । अङ्ग्धि । अनजानि । आनक् ।

७७३ अञ्जेः सिचि ७ । २ । ७१ ॥

अञ्जेः सिचो नित्यमिट् । । आञ्जीत् । तञ्चू संकोचने । तनक्ति । तङ्क्ता,

---

१-२—तृन इ ह् + ति, गुणे; ऋवर्णान्तस्य णत्वे, 'तृणेह् + ति' 'होढः' इति हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धः' इति तकारस्य धकारे ष्टुत्वे पूर्वढस्य लोपः, तृणेढि । तृण्ढः—अल्लोपः, अनुस्वारपरसवर्णौ । तृणेढि, तृण्ढः, तृंहन्ति । तृणेक्षि, तृण्ढः, तृण्ढ । तृणेह्मि, तृंह्व, तृंह्मः । लङि—अतृणेट्, (श्नमि इम् । हल्ङ्यादिलोपे ढत्व-जश्त्वे), अतृण्ढाम्, अतृंहन् । अतृणेट् (ड्), अतृण्ढम्, अतृण्ढ । अतृणहम्, अतृंह्व, अतृंह्म । वि० लि० तृंह्यात् । आ० लि० तृंह्यात् । लु० अतर्हीत्, अतर्हिष्टाम् । अतर्हिष्यत् । ३—श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यादित्यर्थः । ४—हिनस्ति, हिंस्तः, हिंसन्ति । हिनस्सि, हिंस्थः, हिंस्थ । हिनस्मि, हिंस्वः, हिंस्मः । जिहिंस, जिहिंसतुः, जिहिंसुः । जिहिंसिथ, जिहिंसथुः । हिंसिता । हिंसिष्यति । हिनस्तु, हिंस्तात्, हिंस्ताम्, हिंसन्तु । हिन्धि—(हौ श्नमि नुमि कृते श्नान्नलोपः इति नुमो लोपे हेरपित्त्वेन ङित्वात् श्नसोरल्लोपे धि चेति सलोपे रूपम्), हिंस्तात्, हिंस्तम्, हिंस्त । हिनसानि, हिनसाव, हिनसाम । ('तिप्यनस्ते'रिति सस्य दः) अहिनत् (द), अहिंस्ताम्, अहिंसन् । अहिनसम्, अहिंस्व, अहिंस्म । हिंस्यात् । (क्ङिति इदित्वान्नलोपो न) हिंस्यात्, हिंस्यास्ताम् । अहिंसीत् । अहिंसिष्यत् । ५—(लुटि) उन्दिता । उन्दिष्यति । उनत्तु—उन्तात् । उन्धि । उनदानि । वि० लि० उन्द्यात् । आ० लि० उद्यात् । लुङि—औन्दीत् । औन्दिष्यत् । ६—'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुट् । ७—ऊदित्वाद् वेट् । ८—वदव्रजेति वृद्धिर्न, नेटीति निषेधात्, आटा सह तु आटश्चेति वृद्धिः । आञ्जीत् । तेन मा भवानञ्जीत्, इति । लृङि—आञ्जिष्यत्, आङ्क्ष्यत् ।

७७२—श्नम् से परे न का लोप होता है ।

७७३—अञ्जि धातु से परे सिच् को नित्य इट् आगम होता है ।

तञ्चिता । ओविजी भयसंचलनयोः । विनक्ति । विङ्क्तः । विज इडिति ङित्त्वम् । विविजिथ । विजिता । अविनक् । अविजीत् । शिष्लृ विशेषणे । शिनष्टि । शिंष्टः । शिंषन्ति । शिनक्षि । शिशेष । शिशेषिथ । शेष्टा । शेक्ष्यति । हेर्धिः[1] । शिण्ड्ढि[2] । शिनषाणि । अशिनट्[3] । शिंष्यात् । शिष्यात् । अशिषत्[4] । अशेक्ष्यत् । एवं पिष्लृ[5] संचूर्णने । भञ्जो आमर्दने । श्नान्नलोपः । भनक्ति । बभञ्जिथ, बभङ्क्थ[6] । भङ्ग्धि । अभाङ्क्षीत् । भुज पालनाऽभ्यवहारयोः । भुनक्ति । भोक्ता । भोक्ष्यति । अभुनक्[7] ।

७७४ भुजोऽनवने १ । ३ । ६६ ॥

तङानौ स्तः । ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम्—महीं भुनक्ति[8] । ञिइन्धी दीप्तौ । इन्धे । इन्धाते । इन्धते । इन्त्से । इन्धाञ्चक्रे । इन्धिता । इन्धाम् । इन्धाताम् । इन्धताम् । इनधै । ऐन्ध । ऐन्धाताम् । ऐन्धत । ऐन्धाः[9] । विद विचारणे । विन्ते । वेत्ता[10] ॥ इति रुधादिगणः ॥

अथ तनादिगणः ८ ।

तनु विस्तारे ।

१—'हुझल्भ्यो हेर्धिः' । २—शिनष्+धि, इति स्थितिः । 'श्नसोरल्लोपः' इति 'अ' लोपे । जश्त्वम्, ष्टुत्वम्, झलो झलीति वा सलोपः, अनुस्वारपरसवर्णौ—शिण्ढि, शिण्ड्ढि । ३—अशिनट्, अशिंष्टाम्, अशिंषन् । अशिनट् (ड्), अशिंष्टम्, अशिंष्ट । अशिनषम्, अशिंष्व, अशिंष्म । ४—लृदित्वात् पुषादीत्यङ् । ५—पिनष्टि । पिपेष । पेष्टा । पेक्ष्यति । पिनष्टु । पिण्ढि । अपिनट् । पिंष्यात् । पिष्यात् । अपिषत् । अपेक्ष्यत् । ६—क्रादिनियमाद् (थलि) वेट् । ७—अभुनक्, अभुङ्क्ताम्, अभुञ्जन्—इत्यादि । भुञ्ज्यात् । भुज्यात् । अभौक्षीत्, अभौक्ताम्, अभौक्षुः । इत्यादि । ८—पालयतीत्यर्थः । ९—वि० लि० इन्धीत । आ० लि० इन्धिषीष्ट । लुङि—ऐन्धिष्ट । लृङि—ऐन्धिष्यत् । १०—वेत्स्यते । विन्ताम् । अविन्त । विन्दीत । वित्सीष्ट । अवित्त । अवेत्स्यत ॥ इति रुधादयः ॥

७७४—पालनभिन्न (खाने) अर्थ में भुज् धातु से तङ् और आन होते हैं । इति रुधादयः ।

७७५ तनादिकृञ्भ्य[1] उः ३ । १ । ७९ ॥

तनोति, तनुते । ततान, तेने । तनिता । तनिष्यति, तनिष्यते । तनोतु, तनुताम्[2] । अतनोत्, अतनुत । तनुयात्, तन्वीत । तन्यात्, तनिषीष्ट । अतनीत्[3], अतानीत् ।

७७६ तनादिभ्यस्तथासोः २ । ४ । ७९ ।

तनादेः सिचो वा लुक् तथासोः[4] । अनुदात्तोपदेशेति नलोपः । अतत[5], अतनिष्ट । अतथाः, अतनिष्ठाः । अतनिष्यत्, अतनिष्यत । षणु दाने । सनोति[6], सनुते । ये विभाषेति आत्वम् । सायात्, सन्यात् ।

७७७ जन-सन-खनां सञ्झलोः ६ । ४ । ४२ ॥

एषामाकारो झलादौ सनि झलादौ क्ङिति च । असात, असनिष्ट । असाथाः, असनिष्ठाः । क्षणु हिंसायाम् । क्षणोति, क्षणुते[7] । ह्म्यन्तेति न वृद्धिः । अक्षणीत्[8] ।

१—तनादित्वादेव सिद्धे कृञ्ग्रहणं गणकार्यस्यानित्यत्वे लिङ्गम्, तेन "न विश्वसेदविश्वस्ते" इत्यादि सिद्धम् । (श्वसेदित्यत्रादादिगणकार्यं शपो लुग् न भवति-इत्यर्थः) । २—सिपि-तनु ('उतश्च प्रत्ययात्...' इति हिलोपः), तनुतात्, तनुतम्, तनुत । तनवानि, तनवाव, तनवाम । ३—'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धिः । ४—'थास्'-साहचर्यात् (आत्मनेपदे भवः) प्रथमपुरुषैकवचनः 'त' शब्दो गृह्यते, न तु 'थ' स्थानिकः, तेनेह न-यूयमतानिष्ट । 'सहचरिताऽसहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इति नियमात् । ५—'अनुदात्तोपदेश०' इत्यनुनासिकलोपः, अतत । ६—ससान, सेनतुः, सेनुः । सेनिथ, सेनथुः । आत्मनेपदे-सेने, सेनाते, सेनिरे, इत्यादि । सनितासि, सनितासे । सनिष्यति, सनिष्यते । सनोतु । सिपि—सनु । सनुताम् । असनोत्, असनुत । वि० लि० सनुयात्, सन्वीत । सायात्-सन्यात्, सनिषीष्ट । ७—लिटि, चक्षाण, चक्षणे । क्षणितासि, क्षणितासे । इत्यादि । ८—ह्म्यन्तेति प्राप्ता वृद्धिर्नेटीत्यनेन निषिध्यते । पुनश्च 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन प्राप्ताया वृद्धेर्ह्म्यन्तेति निषेध इत्यर्थः ।

७७५—तनादिगणपठित धातु तथा कृञ् धातु से उ विकरण होता है कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते ।

७७६—तनादि से परे सिच् का विकल्प से लुक् होता है त और थास् परे रहते ।

७७७—जन्, सन्, खन् धातुओं को आकारान्तादेश होता है सन् परे रहते और झलादि कित् ङित् परे रहते ।

अतत[1], अतनिष्ट। अतथाः, अतनिष्ठाः। क्षिणु च। उप्रत्यये लघूपधगुणो वा[2]। क्षिणोति[3], अक्षेणीत्। अक्षित, अक्षेणिष्ट। तृणु अदने। तृणोति, तर्णोति। तृणुते, तर्णुते। डुकृञ् करणे। करोति। 'अत उत्सार्वधातुके' कुरुतः। हलि चेति दीर्घे प्राप्ते।

७७८ न भ-कुर्छुराम् ८। २। ७९॥

भस्य कुर्छुरोरुपधाया न दीर्घः। कुर्वन्ति।

७७० नित्यं करोतेः ६। ४। १०८॥

करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो म्वोः परयोः। कुर्वः। कुर्मः। कुरुते। चकार। चकर्थ। चकृव। चक्रे। कर्ता। करिष्यति, करिष्यते। करोतु, कुरुताम्। अकरोत्, अकुरुत॥

७८० ये च ६। ४। १०९॥

कृञ उलोपो यादौ प्रत्यये। कुर्यात्, कुर्वीत। क्रियात्, कृषीष्ट। अकार्षीत्,

---

१—'तनादिभ्यस्तथासोः' इति वा सिचो लुक्। अत्र गणे सर्वत्रापि—इदं सूत्रं प्रवर्तते, इति बोध्यम्। २—'पुगन्तलघूपधस्येति' उपधासंज्ञानिमित्तकत्वात्संज्ञापूर्वकोऽयं विधिः। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति न गुण इत्यात्रेयः। संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वस्य भाष्यानुक्तत्वाद् भवत्येव गुण इत्यन्ये। तथा चोक्तं 'गुणो वा' इति। ३—लिटि—चिक्षेण, चिक्षिणतुः, चिक्षिणुः। चिक्षेणिथ, चिक्षिणथुः, चिक्षिण। चिक्षेण, चिक्षिणिव, चिक्षिणिम। आत्मनेपदे चिक्षिणे, चिक्षिणाते, चिक्षिणिरे। चिक्षिणिषे, इत्यादि। ४—ततर्ण—ततृणे। तर्णितासि, तर्णितासे। तर्णिष्यति, तर्णिष्यते। तृणोतु, तर्णोतु। तृणुताम्, तर्णुताम्। अतृणोत्, अतर्णोत्, अतृणुत, अतर्णुत। तृणुयात्, तर्णुयात्, तृण्वीत, तर्ण्वीत। तृण्यात्, तर्णिषीष्ट। अतर्णीत्, अतर्णिष्ट, अतृत। अतर्णिष्यत्, अतर्णिष्यत। ५—'ऋद्धनोः स्ये' इति इट्। ६—करोतु—कुरुतात्, कुरुताम्, कुर्वन्तु। कुरु—कुरुतात्, कुरुतम्, कुरुत। करवाणि, करवाव, करवाम। आत्मनेपदे—कुरुताम्, कुर्वाताम्, कुर्वताम्। कुरुष्व, कुर्वाथाम्, कुरुध्वम्। करवै, करवावहै, करवामहै। ७—'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इति रिङ्। ८—'उश्चेति' कित्त्वान्न गुणः। ९—अकार्षीत्, अकार्ष्टम्,

---

७७८—भसंज्ञक कुर् और छुर् की उपधा को दीर्घ नहीं होता।

७७९—कृधातु के प्रत्यय सम्बन्धी उकार का नित्य लोप होता है वकार, मकार परे रहते।

७८०—कृ के उकार का लोप होता है यादि प्रत्यय परे रहते।

अकृत । अकरिष्यत्, अकरिष्यत ।

७८१ संपरिभ्यां करोतौ भूषणे ६ । १ । १३७ ॥

७८२ समवाये च ६ । १ । १३८ ॥

आभ्यां परस्य करोतेः सुट् भूषणे संघाते चार्थे। संस्करोति = अलङ्करोतीत्यर्थः। संस्कुर्वन्ति = संघीभवन्तीत्यर्थः। संपूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुट् 'संस्कृतं भक्षाः' इति ज्ञापकात् ॥

७८३ उपात्प्रतियत्न–वैकृत–वाक्याध्याहारेषु च ६ । १ । १३९ ॥

कृञः सुट् । चात्प्रागुक्तयोरर्थयोः । प्रतियत्नो = गुणाधानम् । विकृतमेव वैकृतं = विकारः । वाक्याध्याहारः = आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम् । उपस्कृता[२] कन्या । उपस्कृता[३] ब्राह्मणाः । एधो दकस्योपस्कुरुते[४] । उपस्कृतं[५] भुङ्क्ते । उपस्कृतं[६] ब्रूते ॥ वनु याचने । वनुते । ववने[७] ॥ मनु अवबोधने । मनुते । मेने । मनिता । अमनुत । मन्वीत । मनिषीष्ट ॥ इति तनादिगणः ॥

अथ क्र्यादिगणः ॥९॥

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये[८] ॥

अकार्षुः । अकार्षीः, इत्यादि । आत्मनेपदे–अकृत (तनादिभ्यस्तथासोः, इति सिचो लोपे) लोपाभावेऽपि ह्रस्वादङ्गादिति सिचो लोपे 'अकृत' इति । अकृषाताम्, अकृषत । अकृथाः, अकृषाथाम्, अकृढ्वम् । अकृषि, अकृष्वहि, अकृष्महि ।

१—तेन–'अन्नं संस्करोति' इत्यादि सिद्धम् । २—अलङ्कृता इत्यर्थः । ३—सङ्घीभूता इत्यर्थः । ४—एधः = काष्ठं, दकस्य = जलस्य उपस्कुरुते=गुणान् आधत्ते = गृह्णाति–इत्यर्थः । ५—विकृतमित्यर्थः । ६—वाक्याध्याहारपूर्वकं ब्रूते इत्यर्थः । ७—'न शसददवादिगुणानाम्' इति निषेधात्–एत्वाभ्यासलोपौ न । लुङि = अवत–अवनिष्ट । इति तनादयः ।

८—क्रयणे इत्यर्थः ।

७८१, ८२—सम् परि-पूर्वक कृञ् धातु को सुट् होता है भूषण और संघात अर्थ में ।

७८३—उप से परे कृञ् धातु को सुट् होता है प्रतियत्न वैकृत और वाक्याध्याहार अर्थ में, चकार से पूर्व कहे गये अर्थों में भी सुट् होता है। इति तनादयः।

७८४ क्र्यादिभ्यः श्ना ३ । १ । ८१ ॥

शपोऽपवादः । क्रीणाति । 'ई हल्यघोः' क्रीणीतः । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' । क्रीणन्ति । क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ । क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः । क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते । क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे । क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे । चिक्राय-चिक्रियतुः, चिक्रियुः । चिक्रयिथ, चिक्रेथ । चिक्रिये । क्रेता । क्रेष्यति, क्रेष्यते । क्रीणातु, क्रीणीतात् । क्रीणीताम् । क्रीणाताम् । क्रीणताम् । अक्रीणात्[1], अक्रीणीत[2] । क्रीणीयात्, क्रीणीत । क्रीयात्, क्रेषीष्ट । अक्रैषीत्, अक्रेष्ट । अक्रेष्यत्, अक्रेष्यत ॥ प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च । प्रीणाति, प्रीणीते[3] । श्रीञ् पाके । श्रीणाति, श्रीणीते ॥ मीञ् हिंसायाम् । प्रमीणाति । 'हिनुमीना' इति णत्वम् । प्रमीणीते । मीनातीत्यात्वम्[4] । ममौ । मिम्यतुः । ममिथ, ममाथ[5] । मिम्ये । माता । मास्यति । मीयात् । मासीष्ट । अमासीत्[6] । अमासिष्टाम् । अमास्त । षिञ् बन्धने । सिनाति, सिनीते । सिषाय, सिष्ये । सेता[7] ॥ स्कुञ् आप्रवणे[8] ॥

७८५ स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च ३ । १ । ८२ ॥

१—अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन् । अक्रीणाः अक्रीणीतम्, अक्रीणीत । अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीम । २—अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत । अक्रीणीथाः, अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम् । अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि । ३—पिप्राय, पिप्रिये । इत्यादि क्रीञ्वत् । ४—'मीनातिमिनोतिदीङां...' इत्यस्मिन् सूत्रे, 'अशिति-एज् निमित्ते' इत्युक्तत्वात् तिप्-सिप्-मिप्-सु (गुण-वृद्धियोग्येषु) अस्य प्रवृत्तिर्नान्यत्र । ५—'आतो लोप इटि च' आकारलोपः । अजन्तत्वात् थलि वेट्, पक्षे ममाथ । ६—आत्वे कृते 'यमरमनमातां सक् च' इति सक्, सिच इट् च । ७—लुङि-असैषीत्, असैष्टाम्, असैषुः । इत्यादि । आत्मनेपदे-असेष्ट, असेषाताम्, असेषत । असेष्ठाः, असेषाथाम्, असेढ्वम् । असेषि, असेष्वहि, असेष्महि । ८—आप्रवणम्=उद्वरणम् उत्प्लवनञ्च । ९—स्तभ्नोति, स्तभ्नाति । तस्तम्भ । स्तम्भिता । स्तम्भिष्यति । स्तभ्नोतु, स्तभ्नातु, स्तम्नुहि-(उतश्च प्रत्ययादिति सूत्रे असंयोगपूर्वादित्युक्तेर्न हेर्लुक्) । अस्तभ्नोत्, अस्तभ्नात् । अस्तम्भिष्यत् । प्राय एवं शेषाणां श्रयाणामपि रूपाणि ।

अथ क्र्यादयः

७८४—क्र्यादि धातुओं से श्ना विकरण होता है कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते ।

७८५—स्तम्भु आदि से परे श्नु होता है और श्ना भी ।

च्यात् श्ना। स्कुनोति, स्कुनुते। स्कुनाति, स्कुनीते। चुस्काव[1], चुस्कवे। स्कोता। स्कोषीत्, अस्कोष्ट। स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः[2]। सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः॥

७८६ हलः श्नः शानज्झौ[3] ३।१।८३॥

स्तभान॥

७८७ जॄ-स्तम्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च ३।१।५८॥

च्लेरङ् वा। व्यष्टभत्[4], अस्तम्भीत्। युञ् बन्धने। युनाति, युनीते। योता[6]॥ क्नूञ् शब्दे। क्नूनाति, क्नूनीते[7]। क्नविता॥ द्रूञ् हिंसायाम्। द्रूणाति, द्रूणीते[8]॥ द्रूञ् हिंसायाम्। द्रूणाति, द्रूणीते[9]॥ पूञ् पवने॥

७८८ प्वादीनां ह्रस्वः ७।३।८०॥

पूञ् लूञ् स्तॄञ् कॄञ् वॄञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ भॄ मॄ दॄ जॄ मॄ धॄ नॄ कॄ ॠ गॄ ज्या री ली व्ली प्ली एषां चतुर्विंशतेर्ह्रस्वः शिति। पुनाति, पुनीते। पविता॥ लूञ् छेदने। लुनाति, लुनीते॥ स्तॄञ् आच्छादने। स्तृणाति, स्तृणीते। तस्तार। तस्तरतुः[10]। तस्तरे। स्तरिता, स्तरीता[11]। स्तीर्यात्। स्तृणीत। 'ॠत इद्धातोः'। स्तीर्यात्[12]। स्तरिषीष्ट[13], लिङ् सिचोरिति वेट्। स्तीर्षीष्ट[14]॥ 'सिचि च परस्मैपदेषु'। अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः। अस्तरिष्ट, अस्तीर्ष्ट॥ कॄञ् हिंसायाम्। कृणाति, कृणीते। चकार, चकरे[15]। वॄञ् वरणे। वृणाति,

---

१—'शर्पूर्वाः खयः'। २—सूत्र एव पठिताः, न पुनर्गणे इत्यर्थः। ३—हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद् हौ परे। ४—'अतो हे' रित्याऽऽरम्भसामर्थ्यात् सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तेर्हेर्लुक्। ५—'प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम्। ६—लुङि—अयौषीत्, अयौष्टाम्, इत्यादि। आत्मनेपदे—अयुत, अयुषाताम्, इत्यादि। ७—चुक्नाव, चुक्नुवे। लुङि—अक्नावीत्, अक्नविष्ट। ८—दर्ता। दरिष्यति, दरिष्यते। लुङि—अदार्षीत्, अदृत। ९—दुद्राव। द्रविता। अद्रावीत्। १०—अत्र गुणः 'ऋच्छत्यॄताम्' इत्यनेन। ११—'वॄतो वा' इति वा दीर्घः। १२—'ॠत इद्धातोः' इति 'इर्' हलि चेति दीर्घः। १३—अत्र 'वॄतो वा' इति प्राप्तो दीर्घः 'न लिङि' इति निषिध्यते। १४—उश्चेति कित्त्वम् 'ॠत इद्...' इतीर्, हलि चेति दीर्घः। १५—'ऋच्छत्यॄताम्' इति गुणः।

७८६—हल् से परे श्ना को शानच् आदेश होता है हि परे रहते।
७८७—जॄ आदि धातुओं से च्लि को अङ् विकल्प से होता है।
७८८—पूञादि २४ धातुओं को ह्रस्व होता है शित् परे रहते।

वृणीते । ववार, ववरे । वरिता, वरीता । उदोष्ठ्येत्युत्वम् । वूर्यात्, वरिषीष्ट, वूर्षीष्ट[1] । अवारीत् । अवारिष्टाम् । अवरिष्ट, अवरीष्ट, अवूर्ष्ट । धूञ् कम्पने । धुनाति, धुनीते । दुधविथ, दुधोथ । दुधुविव । धोता । धविता[2] 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु'[3] । अधावीत्, अधविष्ट । ग्रह उपादाने । गृह्णाति, गृह्णीते । जग्राह । जगृहे ॥

७८९ ग्रहोऽलिटि दीर्घः ७ । २ । ३७ ॥

एकाचो ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घो न तु लिटि । ग्रहीता । गृह्णातु । गृहाण । गृह्यात् । ग्रहीषीष्ट । ह्म्यन्तेति न वृद्धिः । अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम् । अग्रहीषाताम् ॥ कुष निष्कर्षे । कुष्णाति । कोषिता ॥

७९० निरः कुषः ७ । २ । ४६ ॥

वलादेरार्धधातुकस्येड् वा । निष्कोषिता, निष्कोष्टा । निरकोषीत् । शल इगुपधादिति क्सः । निरकुक्षत् ॥ अश भोजने । अश्नाति । आश । अशिता । अशान[4] । अशान ॥ ज्ञा अवबोधने । ज्ञाजनोर्जेति जादेशः । जानाति । जज्ञौ ॥ पृ पालनपूरणयोः । पृणाति ॥ शॄ हिंसायाम् । शृणाति । अदृशां ह्रस्वो वेति पक्षे यण् । शश्रतुः, शशरतुः । दॄ विदारणे । दृणाति । दद्रतुः, ददरतुः ॥ जॄ वयोहानौ । जृणाति ॥ मुष स्तेये । मुष्णाति । मोषिता ॥ पुष पुष्टौ । पुष्णाति । पोषिता ॥ बन्ध बन्धने । बध्नाति । बबन्ध । बबन्धिथ । बन्धा । भन्त्स्यति । अभान्त्सीत् । अबान्धाम्[10] । अभान्त्सुः । क्लिशू विबाधने । क्लिश्नाति[11] । क्लेशिता, क्लेष्टा । अक्लेशीत्, अक्लिक्षत्[12] ॥ वृङ् संभक्तौ । वृणीते । वव्रे । ववृढ्वे । वरिता, वरीता । अवरिष्ट, अवरीष्ट, अवृत ॥ इति क्र्यादिगणः ॥

१—वूर्षीष्ट, इडभावपक्षे उश्चेति कित्वम्, 'उदोष्ठ्य' इति 'उर्', हलि चेति दीर्घः । २—'स्वरतिसूतिसूयति...' इति वेट् । ३—इति नित्यमिट् । ४—ग्रहणे इत्यर्थः । ५—संप्रसारणम् 'ग्रहिज्या...' इति सूत्रेण । ६—'हलः श्नः शानज्झौ' अशान । लुङि—आशीत्, आशिष्टाम्, आशिषुः, इत्यादि । ७—लुङि—अमोषीत्, नेटीति वृद्धिनिषेधः । ८—'अनिदिताम्...' इति न-लोपः । ९—'एकाचो बशो भष्...' इति बस्य भत्वम् । १०—'झलो झलि' इति सिचो लोपः, 'झषस्तथोर्धः' इति तकारस्य धत्वम् । ११—'शात्' इति श्चुत्वनिषेधः । १२—इडभाव-

---

७८९—एकाच् ग्रह् धातु से विहित इट् को दीर्घ होता है, लिट् परे रहते नहीं ।
७९०—निर् उपसर्ग पूर्वक कुष धातु से परे वलादि आर्धधातुक को इट्

अथ चुरादिगणः ॥१०॥

चुर स्तेये ।

७६१ सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् ३ । १ । २५ ॥

चूर्णान्तेभ्यः प्रातिपादिकाद्धात्वर्थे इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे इति । पुगन्तेति गुणः । सनाद्यन्ता इति धातुत्वम् । तिप्शबादि । गुणायादेशौ । चोरयति ।

७६२ णिचश्च १ । ३ । ७४ ॥

णिजन्तादात्मनेपदं कर्तृगामिनि क्रियाफले । चोरयते । चोरयामास । चोरयिता । चोर्यात्[1] । चोरयिषीष्ट । णिश्रीति चङ् । णौ चङीति ह्रस्वः । चङीति द्वित्वम् । हलादिः शेषः । दीर्घो लघोरित्यभ्यासस्य दीर्घः । अचूचुरत् । चिति स्मृत्याम् । चिन्तयति । अचिचिन्तत् । चिन्तेति पठितव्ये इदित्करणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम् । तेन चिन्त्यादित्यादौ नलोपो न । चिन्तति । चिन्तेदित्यादि । यत्रि संकोचे । यन्त्रयति । यन्त्रेति पठितुं शक्यम् । यत्तु इदित्करणाद्यन्त्रतीति माधवेनोक्तं तच्चिन्त्यम्[3] । एवं कुद्रि अनृतभाषणे । तत्रि कुटुम्बधारणे । मत्रि गुप्तपरिभाषणे । तन्त्रयते । मन्त्रयते । एतौ आत्मनेपदिनौ । स्फुडि परिहासे । स्फुण्डयति । पीड अवगाहे ।

पक्षे 'शल इगुपधा...' इति क्सः ।

१—'णेरनिटि' इति णिलोपः । २—चिन्तयति, चिन्तयाञ्चकार, इत्यादौ णिचः किङ्त्वाभावादेव नलोपस्याऽप्रसक्त्या व्यर्थमिदित्करणमिति चेत्तत्राह—णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गमिति । तेन णिजभावे—आशीर्लिङि 'चिन्त्याद्' इत्यत्र नलोपो न । ३—तच्चिन्त्यमिति 'यन्त्र्यात्' इत्यणिजन्ते सत्यपि नकारस्यानुपधात्वादेव नलोपस्याऽप्रसक्त्या—इत्त्वस्य प्रयोजनाभावादिति भावः ।

विकल्प से होता है ।

७६१—सत्यापपाशादि शब्दों से और चुरादिगणपठित धातुओं से णिच् होता है स्वार्थ में ।

७६२—णिजन्त से आत्मनेपद होता है कर्तृगामि क्रियाफल में ।

७९३ भ्राज-भास-भाष-दीप-जीव-मील-पीडामन्यतरस्याम् ७ । ४ । ३ ॥

एषामुपधाया ह्रस्वो वा चङ्परे णौ । अपीपिडत्, अपिपीडत् । प्रथ प्रख्याने । प्रथयति ।

७९४ अत्स्मृ-दृ-त्वर-प्रथ-म्रद्-स्तॄ-स्पशाम् ७ । ४ । ९५ ॥

एषामभ्यासस्याकारश्चङ्परे णौ । इत्वापवादः । अपप्रथत् । पृथ प्रक्षेपे । पर्थयति ।

७९५ उर्ऋत्[2] ७ । ४ । ७ ॥

उपधाया ऋवर्णस्य ऋद्वा चङ्परे णौ इररारामपवादः[3] । अपीपृथत्, अपपर्थत् । लुण्ठ स्तेये । लुण्ठयति । अलुलुण्ठत् । तड आघाते । ताडयति । अतीतडत् । मडि भूषायां हर्षे च । मण्डयति । अममण्डत् । भडि कल्याणे । भण्डयति । अबभण्डत् । छर्द वमने । छर्दयति । अचच्छर्दत् । चुद सञ्चोदने । चोदयति । अचूचुदत् । पाल रक्षणे । पालयति । अपीपलत् । पूज पूजायाम् । पूजयति । अपूपुजत् । कृत संशब्दने ।

७९६ उपधायाश्च ७ । १ । १०१ ॥

धातोरुपधाया ॠत इत् । रपरत्वम् । उपधायां चेति दीर्घः । कीर्तयति । अचीकृतत्, अचिकीर्तत् । म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि । म्लेच्छयति । अमिम्लेच्छत् । ईड स्तुतौ । ईडयति । पिडि सङ्घाते । पिण्डयति । रुष रोषे । रोषयति । अरूरुषत् । तुल उन्माने । तोलयति । अतूतुलत् । शुल्ब माने । शुल्बयति । अशुशुल्बत् ।

१—'सन्यतः' इति प्राप्तस्येत्वस्यापवादः । २—'जिघ्रतेर्वा' इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्तते । ३—'अचीकृतद्' इत्यादौ 'उपधायाश्च' इति 'इर्' प्राप्तः, 'अपीपृथत्' इत्यादौ 'अर्' प्राप्तः, 'अमीमृजत्' इत्यत्र 'मृजेर्वृद्धिः' इति 'आर्' प्राप्तः । सर्वत्र तेषामयमपवादः 'उर्ऋद्' इति । ४—ऐडिडत् (लुङि) । ५—अपिपिण्डत् ।

७९३—भ्राज भास आदि धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है विकल्प से चङ् पर णि परे रहते ।

७९४—स्मृ, दृ, त्वर्, प्रथ्, म्रद्, स्तॄ, स्पश् इन धातुओं के अभ्यास को अत् होता है (यह इत्व का अपवाद है) ।

७९५—उपधा के ऋवर्ण को ऋत् होता है विकल्प से चङ् पर णि परे रहते (इर् अर् आर् का यह अपवाद है) ।

७९६—ऋकारान्त धातु के उपधा स्वरूप दीर्घ ऋकार को इत्व होता है ।

घुषिर् विशब्दने । घोषयति । अजूघुषत् । पट पुट लुट तुजि मिजि पिजि लुजि भजि लघि त्रसि पिसि कुसि दसि कुशि घट घटि बृहि बर्ह बल्ह गुप धूप विच्छ चीव पुथ लोकृ लोचृ णद कुप तर्क वृतु वृधु भाषार्थाः।[1] पाटयति । पोटयति । लोटयति । तुञ्जयति । एवं परेषाम् । घाटयति । घण्टयति ।

७६७ नाग्लोपि-शास्वृदिताम् ७ । ४ । २ ॥

णिच्यग्लोपिनः शास्तेऋदितां चोपधाया ह्रस्वो न चङ्परे णौ । अलुलोकत्[2] । अलुलोचत् । वर्तयति । वर्धयति । 'आधृषाद्वा' । इत ऊर्ध्वं विभाषितणिचो धृषधातुमभिव्याप्य । युज पृच संयमने । योजयति[3] । योजति । अयौजीत् । पर्चयति[4] । पर्चति । पर्चिता । अपर्चीत् । अर्च पूजायाम्[5] । षह मर्षणे । साहयति[6] । 'स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम्' । वृञ् वरणे । वारयति[7] । वरति, वरते । जॄ वयोहानौ । जारयति[8] । जरति । शिष असर्वोपयोगे । शेषयति[9] । शेषति । शेष्टा । अशिक्षत् । तप दाहे । तापयति[10] । तपति । तप्ता । तृप तृप्तौ । तर्पयति[11] । तर्पति । हिसि हिंसायाम् । हिंसयति[12] । हिंसति । अर्ह[13] पूजायाम् । छद अपवारणे इत्यरितेत् । छादयति[14] । छदति, छदते । धूञ् कम्पने । (धूञ्प्रीञोर्नुक्) णौ । धूनयति[15] । धवति, धवते । प्रीञ् तर्पणे । प्रीणयति, प्रीणयते[16] । प्रीयति, प्रीयते । वच परिभाषणे । वाचयति[17] । वचति । वक्ता । अवाक्षीत् । मान पूजायाम् ।

१—शब्दविशेषार्थाः । लुङि-अपीपटत् । अपूपुटत् । अलूलुटत् । इत्यादयः ।
२—ह्रस्वाभावान्न सन्वद्भावदीर्घौ । ३—अयूयुजत् । ४—अपपर्चत्, अपीपृचत् । ५—आर्चिचत् । ६—असीसहत् । ७—अवीवरत् । ८—अजीजरत् । ९—अशीशिषत् । १०—अतीतपत् । ११—अतीतृपत्, अततर्पत् । १२—अजिहिंसत् । १३—आर्जिहत्, णिचा सह द्वित्वात्सन्वद्भावो नेति तद्विषये विहितो यो दीर्घो लघोरिति दीर्घः स न प्रवर्तते । १४—अचच्छदत् । १५—अयं स्वादौ क्र्यादौ तुदादौ चुरादौ च, स्वादौ ह्रस्वश्च । तथा चाऽऽह कविरहस्ये—

धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकं चूतं धुनाति धुवति स्फुटितातिमुक्तम् ।
वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून् तत्कानने भवति चन्दनमञ्जरीश्च ॥

अदूधुनत् । १६—अपिप्रयत् । १७—अवीवचत् ।

७६७—णिच् परे रहते अग्लोपी जो धातु और शास् तथा ऋदन्त धातु की उपधा को ह्रस्व नहीं होता चङ् पर णि परे रहते ।

मानयति[1]। मानति। मानिता। भू प्राप्तौ आत्मनेपदी। भावयते[2]। भावते। णिच्-संनियोगेनैवात्मनेपदमित्येके। भवति। मार्ग अन्वेषणे। घृष प्रसहने। घर्षयति[3]। घर्षति। अथादन्ताः। कथ वाक्यप्रबन्धे। अल्लोपः[4]।

७६८ अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १। ५। ५७॥

परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये। इति स्थानिवत्त्वाल्लोपबाधा वृद्धिः। कथयति। अग्लोपित्वाद्दीर्घसन्वद्भावौ न। अचकथत्। गण संख्याने। गणयति।

७६६ ई च गणः ७। ४। ६७॥

गणेरभ्यासस्य इत् स्यात्। चाद्चङ्परे णौ। अजीगणत्, अजगणत्। रच प्रतियत्ने। रचयति। अररचत्। कल गतौ संख्याने च। कलयति, अचकलत्। मह पूजायाम्। महयति। सूच पैशुन्ये। सूचयति। अषोपदेशत्वान्न षः। असुसूचत्। कुमार क्रीडायाम्। कुमारयति। अचुकुमारत्। ऊन परिहाणे। ऊनयति। ओः पुयण्ज्यपरे इति सूत्रे पयवेरिति वक्तव्ये वर्णप्रत्याहारजग्रहो लिङ्गम्। 'णिच्यच

१—अमीमनत्। २—अबीभवत्। ३—अदीघृषत्, अदघर्षत्। ४—णिचि 'अतो लोपः' इति अन्त्यावयवस्याऽकारस्य लोपः। ५—अल्लोपस्येत्यर्थः। ६—अयमपि अग्लोपी। ७—'अस्मृ...' इत्यत्र योऽयं स चकारेण समुच्चीयते। ८—प्रतियत्नः = गुणाधानम् = विरचनमिति यावत्। ९-अममहत्। १०—'ऊन-परिहाणे' इत्यस्य (लुङि) 'औननत्' इति रूपसिद्धिः। ननु-द्वित्वात्परत्वादन्तरङ्ग-त्वाच्च-अतो लोपे कृते णिचा सह निशब्दस्य द्वित्वे 'औनिनत्' इति रूपं स्यान्न-त्वौननत् इति। 'द्विवचनेऽची'ति सूत्रन्तु अत्र नैव प्रवर्तते, अल्लोपनिमित्तस्य णिचो द्वित्वनिमित्तत्वाभावात्। अत्यत आह—'ओःपुयण्ज्येत्यादि' अयमर्थः-पिपावयिषति, बिभावयिषतीत्यादौ द्वित्वप्रत्ययनिमित्ते णाच द्विर्वचनेऽचीति निषेधा-प्रवृत्त्या द्वित्वात्प्रागेव परत्वाद् वृद्ध्यावादेशयोः कृतयोरभ्यासाऽऽकारस्य ह्रस्वे सति 'सन्यतः' इत्येवेत्वसिद्धेः 'ओ पुयण्जी'ति सूत्रे पवर्गयणजकारग्रहणं व्यर्थम्। केवलं पिपविषते,-यियविषतीत्यत्र-इत्वसिद्धये पकारयकारग्रहणमेवापेक्षितम्।

७६८—पर को निमित्त मानकर होनेवाला जो अच् के स्थान में आदेश, वह स्थानिवत् होता है स्थानीभूत अच् से पूर्व दृष्ट को कोई काय करना हो तो।

७६९—गण धातु के अभ्यास को ईकार होता है, चकार से अकार भी होता है चङ्परक णि परे रहते॥ इति चुरादयः॥

आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये' इति । यत्र द्विरुक्तावभ्यासोत्तरखण्डस्याद्योऽच् प्रक्रियायां परिनिष्ठितरूपे वाऽवर्णो लभ्यते तत्रैवायं निषेधः । ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वात् । तेनाचिकीर्तदित्यादि सिद्धम् । प्रकृते तु नशब्दस्य द्वित्वम् । तत उत्तरखण्डे अल्लोपः । औननत् । ध्वन शब्दने । ध्वनयति । अदध्वनत् । सूत्र वेष्टने । सूत्रयति । मूत्र प्रस्रवणे । मूत्रयति । अदन्तत्वसामर्थ्याण्णिज्विकल्पः । मूत्रति । आगर्वादात्मनेपदिनः । पद गतौ । पदयते । अपपदत । गृह ग्रहणे । मृग अन्वेषणे । मृगयते । शूर वीर विक्रान्तौ । शूरयते । वीरयते । गर्व माने । गर्वयते ।

॥ इति चुरादयः ॥

अथ णिच्प्रक्रिया ॥ १ ॥

८०० स्वतन्त्रः कर्ता १ । ४ । ५४ ॥

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

८०१ तत्प्रयोजको हेतुश्च १ । ४ । ५५ ॥

कर्तुःप्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात् ।

अन्यथा-'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' 'सनीवन्तर्ध...' इति सूत्राभ्यामिटि कृते-इडादेः सनो द्वित्वनिमित्तत्वेन-इटोऽपि द्वित्वनिमित्ततया द्विर्वचनेऽचीति गुणावादेशयोर्निषेधे सति 'पू' 'यू' इत्यनयोर्द्वित्वेऽभ्यासेऽकाराभावेन सन्यत इत्यस्याप्रवृत्त्या पुपविषते, युयविषति, इत्यनिष्टं रूपं प्रसज्येत । एवञ्च व्यर्थं सत् पवर्गयण्जकारग्रहणं ज्ञापयति 'णिच्यच आदेशो न द्वित्वे कर्त्तव्ये' तेन प्रकृते 'न' शब्दस्य द्वित्वमुत्तरखण्डे-ऽल्लोपः 'औननद्' इति सिद्ध्यति ।

१—इदञ्च ज्ञापकं सजातीयापेक्षं तेन द्वित्वे सति यत्राभ्यासोत्तरखण्डस्याद्योऽच प्रक्रियायां परिनिष्ठिते वा रूपेऽवर्णो लभ्यते तत्रैवायं निषेधः प्रवर्त्तते । तथा च 'अचिकीर्त्तत्' इत्यादौ नास्य प्रवृत्तिः । २—ननु-कथादावस्य (मूत्रधातोः) पाठो व्यर्थः । अदन्तत्वे फलाभावात् , नच सन्वत्त्वनिवृत्तयेऽल्लोपित्वायाऽदन्तत्वमिति शङ्क्यम्, लघुपरकत्वाभावादेव तदप्रसक्तेः । इति चुरादयः । ३—तच्छब्देन 'स्वतन्त्रः कर्ते'ति पूर्वसूत्रोपात्तः कर्त्ता परामृश्यते । तस्य=कर्तुः प्रयोजकः= प्रेरकः ।

८००—क्रिया में स्वतन्त्रता से विवक्षित अर्थ कर्तृसंज्ञक होता है ।

८०१—कर्ता का प्रयोजक हेतुसंज्ञक और कर्तृसंज्ञक होता है ।

८०२ हेतुमति च ३ । १ । २६ ॥

प्रयोजकव्यापारे प्रेरणादौ वाच्ये धातोर्णिच्। भवन्तं प्रेरयति भावयति[2]।

८०३ ओः पुयण्ज्यपरे ७ । ४ । ८० ॥

सनि परे यदङ्गं तदवयवो योऽभ्यासस्तस्योत इत्स्यात्पवर्गयण्जकारेष्ववर्णपरेषु परतः। अबीभवत्[4]। अपीपवत्[5]। मूङ्[6] बन्धने। अमीमवत्। अबी-

१—हेतुमति च इति। हेतुः = प्रेरकः कर्त्ता स्वनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयतासम्बन्धेन (आधारतया) अस्यास्तीति हेतुमान् प्रयोजकनिष्ठः प्रेषणादिव्यापारः, तस्मिन् वाच्ये णिच् स्यादित्यर्थः। प्रेषणादावित्यत्रादिशब्देनाऽध्येषणाऽनुमत्युपदेशादीनां ग्रहणम्। भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तना प्रेषणा, समानस्याऽधिकस्य वा सत्याचार्यादेः प्रवर्त्तनाऽध्येषणा, अनुमतिः = राजादेः सम्मतिः, रोगाऽऽक्रान्तस्य कषायादिपाने हितावबोधनेन प्रवर्त्तना = उपदेशः। २—भूधातोर्णिचि वृद्धौ 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसञ्ज्ञायां लट्, तिप्, शप्, भावि + अ + ति, इत्यवस्थायां 'सार्वधातुका...' इति गुणेऽयादेशः भावयति। णिचश्चेति कर्त्तृगामिनि फले-आत्मनेपदमपि, तेन भावयते, भावयेते, भावयन्ते, इत्यादि। इत्थञ्चात्र कर्त्तृयोजनाप्रकारः—देवदत्तो भवति, भवन्तं तं यज्ञदत्तः प्रेरयति प्रेरयते वा, इति यज्ञदत्तो देवदत्तं भावयति भावयते वा। लिडादौ भावयाञ्चकार। भावयाञ्चक्रे इत्यादिरूपाणि। ३—उशब्दस्य ओरिति षष्ठी। पुयण्जि-अपरे, इतिच्छेदः। पुश्च यण् च ज् च इति समाहारद्वन्द्वात्सप्तम्येकवचनम्। अः परो यस्मात् सोऽपरस्तस्मिन्नपरे-इदं पुयण्जीत्यस्य विशेषणम्। अङ्गस्येत्यधिकारः 'सन्यतः' इत्यस्मात्सनि 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यस्माद् 'अभ्यासस्य' 'भृञामित्' इत्यस्माद् 'इत्' इति चानुवर्तते तथा चार्थो वृत्तौ स्पष्टः। ४—भूधातोर्णिजन्ताल्लुङि—अडागमे च्लेश्चङि 'णिच्यच आदेशो नःद्वित्वे कर्त्तव्ये' इति पूर्वं वृद्ध्यभावे 'भू' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासकार्ये (भस्य बत्वे ह्रस्वे च) अबु भू + इ + अत्, इति स्थितौ (परस्य) वृद्धौ आवादेशे 'णौ चङ्युपधायाः' इति ह्रस्वे सन्वद्भावेऽभ्यासोकारस्येत्वे (णिलोपे) 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घः—अबीभवत्, अबीभवताम्, अबीभवन्। ५—अपीपवत् पूङ् धातोर्णिचि लडादौ 'पावयति' इत्यादि, लुङि'अपीपवत्' सिद्धिस्तु-अबीभवद्वत्। ६—लटि-मावयतीत्यादिरूपाणि। लुङि—अमीमवत्।

८०२—प्रयोजक के व्यापार=प्रेषणा, अन्वेषणा और अध्येषणा आदि के वाच्य होने पर धातु से णिच् प्रत्यय होता है।

८०३—सन् परे रहते जो अंग, उसके अवयव अभ्यास को इकारादेश होता

यवत् । रु शब्दे । अरीरवत् । अलीलवत्[3] । अजीजवत्[4] । पुयण्जीति किम् । नुनावयिषति । अपरे किम् । बुभूषति ।

८०४ स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां वा ७।४।८१॥

एषामभ्यासोकारस्येत्वं वा सनि अवर्णपरे धात्वक्षरे परे। असिस्रवत् । इत्यादि। अवर्णपरे किम्—अशुशुवत् । णिजन्तागिणच् । परत्वाद् वृद्धौ प्राप्तायाम् । (यण्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेनेति) णिलोपः । चोरयति । णौ

१—युधातोर्णिचि लटि 'यावयति' । २—लटि 'रावयति' इत्यादि । लुङि—'अरीरवत्' । ३—लूञ् धातोर्णिचि लटि—'लावयति' लुङि—'अलीलवत्' । ४—'जु' इति सौत्रो धातुस्तस्माण्णिचि लटि 'जावयति' । लुङि—'अजीजवत्' । सर्वाणीमानि 'ओः पुयण्जि...' इति सूत्रोदाहरणानि । ५—नात्राऽभ्यासोकारः पवर्गयण्जकारपरः । अत एव 'ओः पुयण्जि' त्तीकारो न । ६—अत्राऽभ्यासोकारस्य पवर्गपरत्वेऽपि पवर्गस्याऽकारपरकत्वाभावान्नेत्वम् । ७—अपरे-इत्यनुवर्तते नतु पुयण्जीति पवर्गजकारयोरसम्भवात् स्रवत्यादौ यणः सत्त्वेऽप्यव्यभिचारात् । ८—स्रुधातोर्णिचि लटि 'स्रावयति' । लुङि-अस्रुस्रव्+इ+अत्, इत्यवस्थायां 'स्रवति शृणोती' त्यादिनाऽभ्यासोकारस्य वैकल्पिके इत्वे 'असिस्रवत्' 'असुस्रवत्' संयोगे परे ह्रस्वं गुरु स्यादिति नियमादभ्यासे ह्रस्वाभावात् "दीर्घो लघो" रिति न दीर्घः । ९—श्रु श्रवणे—श्रावयति । लुङि—अशिश्रवत्, 'अशुश्रवत्' । द्रु—द्रावयति । अदिद्रवत्, अदुद्रवत् । प्रु—प्रावयति । अपुप्रवत्, अपिप्रवत् । प्लु—प्लावयति । अपिप्लवत्, अपुप्लवत् । च्यु—च्यावयति । अचिच्यवत्, अचुच्यवत् । १०—चिन्त्यमिदं प्रत्युदाहरणम् । सूत्रेऽस्याऽग्रहणेन प्राप्तेरेवाभावात् । अत एव तत्त्वबोधिन्यां शुश्रूषतीति प्रत्युदाहरणे दत्तम् । ११—स्वार्थणिजन्ताच्चुरधातोः प्रेरणार्थके णिचि चोरि+इ+अ ति, इत्यवस्थायां 'णेरनिटी'ति णिलोपः प्राप्नोति, "अचो ञ्णिती" तिवृद्धिश्चेत्युभयोः प्राप्तौ "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" इति परत्वाद् वृद्धावेव प्राप्तायां 'यण्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेने'ति

है अवर्णपरक पवर्ग, यण्, जकार परे रहते ।

८०४—स्रवत्यादियों के अभ्यास सम्बन्धी उकार को इत्व होता है विकल्प से सन्वद्भाव में अवर्ण-परक धात्वक्षर परे रहते । (इयङ्, यण्, गुण वृद्धि दीर्घ इनकी अपेक्षा णि लोप और अल्लोप पूर्व विप्रतिषेध से होता है)

चङीति ह्रस्वः। दीर्घो लघोरिति दीर्घः। न चाग्लोपित्वाद् द्वयोरप्यसंभवः, यथाकृति-निर्देशात्। अचूचुरत्।

टुवोश्वि गतिवृद्ध्योः।

८०५ णौ च संश्चङोः २।४।५१॥

सन्परे चङ्परे च णौ श्वयतेः संप्रसारणं वा स्यात्। (संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्) इति वचनात्संप्रसारणम्। अशूशवत्। अलघुत्वान्न दीर्घः। अशिश्वयत्।

८०६ स्तम्भु-सिवु-सहां चङि ८।३।११६॥

उपसर्गादेषां सस्य षो न स्याच्चङि। अवातस्तम्भत्। पर्यसीषिवत्। न्यसीषहत्।

णिलोपः। अस्यायमर्थः-णिलोपोऽल्लोपश्च-इयङ्गुणवृद्धिदीर्घान् पूर्वविप्रतिषेधेन बाधत इति। "विप्रतिषेधे परं कार्यं" मित्यत्राऽपरं कार्य्यमिति छित्वा तुल्यबल-विरोधे क्वचित्पूर्वमेव कार्यमिति व्याख्यानात्। प्रकृते च पूर्वविप्रतिषेधेन वृद्धिं बाधित्वा णिलोपः।

१—अथ णयन्ताद् णौ प्रथमस्य णेर्लोपे चोरीत्यस्माल्लुङि चङि—अचोर्+इ +अत्, इति स्थितौ—णौ चङीति ह्रस्वे दीर्घो लघोरिति दीर्घे 'अचूचुरत्' इति सिद्ध्यति। न चात्र द्वितीय-णौ प्रथमणिलोपमादायाऽग्लोपित्वात् (नाग्लोपीति-ह्रस्वनिषेधात्) सन्वद्भावाभावे णौ चङीति ह्रस्वस्य दीर्घो लघोरिति दीर्घस्य चेति द्वयोरप्यसम्भवस्तत्राह ण्याकृतिनिर्देशात् इति-चङ्परे णावित्यत्र णावित्यस्य चङ्परकणित्वजात्याश्रयैकानेकणिज्व्यक्तिपरकत्वं विवक्षितम्। तथा च णिद्वयस्य चङ्परकत्वाभावेऽपि णित्वस्य चङ्परकत्वमस्तीति भवति ह्रस्वदीर्घयोः प्रवृत्तिः। २—णिचि लटि श्वाययतीति रूपम्। ३—सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'शु' इत्यस्य द्वित्वे सन्वद्भावे दीर्घो लघोरिति दीर्घः। सम्प्रसारणाभावपक्षेऽलघुत्वान्न दीर्घः। ४—लटि-अवष्टम्भयतीत्यादिरूपाणि "अवाच्चाऽलम्बनाऽऽविदूर्ययो" रिति षत्वम्। चङि-अवातस्तम्भत्। ५-६—षिवु-तन्तुसन्ताने, षह-मर्षणे, इति णिजन्ताभ्यां लटि परिषेवयति, निषाहयति "परिनिविभ्यः सेवसित:..." इत्युपसर्गनिमित्तं

८०५—सन् परक और चङ् परक णि परे रहते 'श्वि' धातु को सम्प्रसारण होता है विकल्प से। (संप्रसारण और संप्रसारणाश्रित कार्य बलवान् होता है)।

८०६—उपसर्ग निमित्त से परे स्तम्भ् सिव् सह् इन धातुओं के स को ष नहीं होता चङ परे रहते।

८०७ स्वापेश्चङि ६ । १ । १८ ॥

णयन्तस्य स्वापेश्चङि संप्रसारणम् । असूषुपत्[1] ।

८०८ हनस्तोऽचिण्णलोः ७ । ३ । ३२ ॥

चिण्णल्वर्जे ञ्णिति णिति । घातयति[2] ।

८०९ अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुङ्णौ ७ । ३ । ३६ ॥

स्थापयति[3] ।

८१० तिष्ठतेरित् ७ । ४ । ५ ॥

उपधाया इश्चङ्परे णौ इदादेशः स्यात् । अतिष्ठिपत्[6] ।

८११ जिघ्रतेर्वा ७ । ४ । ६ ॥

उपधाया इत्वं वा चङ्परे णौ । अजिघ्रपत्[7], अजिघ्रिपत् ।

८१२ शा-च्छा-सा-ह्वा-व्या-वेपां युक्, णौ ७ । ३ । ३७ ॥

षत्वम् । चङि षत्वनिषेधे पर्य्यसीषिवत्, न्यषीषहत् । उपसर्गनिमित्तस्यैव षत्वस्यायं निषेधोऽभ्यासनिमित्तन्तु षत्वं भवत्येव ।

१—णयन्तात्स्वप् धातोर्लटि स्वापयतीत्यादि । लुङि चङि पूर्वं सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वे सन्वद्भावेऽभ्यासदीर्घे च असूषुपत् । २—हन्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्याच्चिण्णल्वर्जे ञ्णिति णिति । ३—लुङि अजीघतत् । ४—अर्त्यादीनां षण्णामादन्तानाञ्च पुक् स्याण्णौ । ५—आदन्तत्वात्पुक् । स्थापयति = तिष्ठन्तं प्रेरयतीत्यर्थः । ६—अस्थाप् + इ + अ त्, इति स्थितौ द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'अथ स्थाप् इ अत्' इत्यत्र अभ्यासस्य चर्त्वे, उपधाह्रस्वेऽभ्यासस्य 'सन्यतः,इतीत्वे षत्वे ष्टुत्वे 'अति ष्ठप् इ अत्' इति स्थितौ उपधाया इत्वे णिलोपे 'अतिष्ठिपत्' । ७—णिजन्ताद् घ्राधातोर्लटि घ्रापयति । लुङि—वैकल्पिकमित्वम् ।

८०७—णयन्त स्वप् धातु को चङ् परे रहते सम्प्रसारण होता है ।

८०८ हन् धातु को त कार अन्तादेश होता है चिण् और णल् से भिन्न ञित् णित् प्रत्यय परे रहते ।

८०९—अर्ति, ह्री आदि धातुओं को पुक् का आगम होता है णि परे रहते ।

८१०—स्था धातु की उपधा को इकार आदेश होता है चङ्परक णि परे रहते।

८११—घ्रा धातुकी उपधा को इत्व विकल्प से होता है चङ् पर णि परे रहते ।

८१२—शो, छो, षो, ह्वेञ्, व्येञ् और पा धातु को युक् आगम होता है णि परे रहते ।

शाययति। अशीशयत्। ह्राययति।

८१३ ह्वः संप्रसारणम् ६।१।३२॥

सन्परे चङ्परे च णौ ह्वः सम्प्रसारणं स्यात्। (काणयादीनां वा =) चङ्परे णौ उपधाया ह्रस्वो वा। णयन्ताः कण-रण-भण-श्रण-लुप-हेठाः षट् भाष्ये। हायि-वाणि-लोटि-लोपयश्चत्वारोऽधिका न्यासे। चाणि लोटी अप्यन्यत्र। इत्थं काणयादयो द्वादश। अजूहवत्, अजुहावत्। पाययति।

८१४ लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य ७।४।४॥

पिबतेरुपधाया लोपः स्यादभ्यासस्य ईदन्तादेशश्च चङ्परे णौ। अपीप्यत्। (पातेर्णौ लुग्वक्तव्यः) पुकोऽपवादः। पालयति।

८१५ वो विधूनने जुक् ७।३।३८॥

णौ। वाजयति। विधूनने किम्-केशान्वापयति।

८१६ शदेरगतौ तः ७।३।४२॥

१—शो तनूकरणे धातुः। णिचि 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे पुकोऽपवादो युक्। २—ह्वेञ् धातोर्लुङि-अह्वा+इ+अ त्. इति स्थिते सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'हु' इत्यस्य द्वित्वे-उत्तरखण्डस्य वृद्ध्यवादेशयोर्वैकल्पिक उपधाह्रस्वे सन्वद्भावे दीर्घे च-'अजूहवत्'। ३—पा पाने धातुः। णिचि पुकोऽपवादो युक् पाययति। ४—पायीत्यस्माल्लुङि-चङि पाय् शब्दस्य द्वित्वे हलादिशेषेऽभ्यासाऽऽकारस्येत्वे उपधालोपे च 'अपीप्यत्' इति। ५—पा रक्षणे-इत्यस्माण्णौ पुकोऽपवादे लुगागमे पालयति। लुङि-अपीपलत्। ६—ओवै शोषणे-इति धातोरात्वे कृते पुकोऽपवादे जुकि वाजयति। लुङि अवीवजत्। ७—नात्र विधूननम् (कम्पनम्) अर्थः, किन्तु सुगन्धीकरणं छेदनं वार्थः। ८—शदेर्णौ तोऽन्तादेशः स्यान्नतु

८१३—सन्‌पर और चङ् पर णि परे रहते ह्वेञ् को सम्प्रसारण होता है।

(काणि आदि १२ धातुओं की उपधा को ह्रस्व विकल्प से होता है चङ् पर णि परे रहते)

८१४—पिबति धातु की उपधा का लोप होता है, और अभ्यास को 'ईत्' अन्तादेश होता है चङ् पर णि परे रहते। (पा रक्षणे धातु को लुक् आगम होता है णि परे रहते)

८१५—ओवै धातुको जुक् आगम होता है कम्पाने-रूप अर्थ में।

८१६—गति भिन्न अर्थमें शद् धातु को तकार अन्तादेश होता है णि परे रहते।

णौ। शातयति। गतौ तु—गाः शादयति गोविन्दः। गमयतीत्यर्थः।

८१७ रुहः पोऽन्यतरस्याम् ७।३।४३॥

णौ। रोपयति, रोहयति।

८१८ दोषो णौ ६।४।९०॥

दुष्यतेरुपधाया ऊत्स्याण्णौ। दूषयति।

८१९ वा चित्तविरागे ६।४।९१॥

विरागोऽप्रीतता। चित्तं दूषयति दोषयति वा कामः।

८२० उभौ साभ्यासस्य ८।४।२१॥

साभ्यासस्यानितेरुभौ नकारौ णत्वं प्राप्नुतो निमित्ते सति। प्राणिणत्।

८२१ णौ गमिरबोधने २।४।४६॥

इणः। गमयति। बोधने तु—प्रत्याययति। घट चेष्टायाम्। घटादयो मितः।

गताविति सूत्रार्थः।

१—लुङि-अशीशतत्। २—लुङि-अरूरुपत्, अरूरुहत्। ३—कृतलघूपधगुणस्य दुष्धातोर्निर्देशः। लघूपधगुणापवाद ऊत्। 'दुषो णौ' इत्येव तु सुवचम्। ४—लुङि-'अदूदुषत्' इति रूपम्। ५—प्र अन्+इ+अ त्, इति स्थिते णत्वस्यासिद्धत्वात् नीत्यस्य द्वित्वे—उत्तरखण्डेऽभ्यासनकारेण व्यवधानादप्राप्ते णत्वे, उभयोर्णत्वार्थम् 'उभौ साभ्यासस्ये'ति सूत्रम्। न च 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति निषेधाद् द्वित्वे कर्त्तव्ये णत्वस्यासिद्धत्वं न भविष्यति, 'अनिते' रिति कृते च णत्वे पश्चाद् द्वित्वे प्राणिणादिति सेत्स्यतीति व्यर्थं सूत्रमिदमिति वाच्यम्, 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इत्यस्यानित्यत्वज्ञापनार्थैतत्सूत्रस्यावश्यकत्वात्। तेन 'ऊर्णुनाव' इत्यत्र नुशब्दस्य द्वित्वेऽभ्यासोत्तरखण्डे णत्वाभावसिद्धिरिति। ६—इणो गमिः स्याण्णौ न तु बोधने। ७—लुङि-अजीगमत्। ८—लुङि-प्रत्यायियत्। ९—घटादिगणपठिता धातवो मित्संज्ञकाः। एतदाद्यानि सप्त गणसूत्राणि।

८१७—रुह् को पकार अन्तादेश होता है णि परे रहते।

८१८—दुष् धातु की उपधा को ऊत् होता है णि परे रहते।

८१९—चित्त विकार अर्थ में दुष् की उपधा को ऊत् विकल्प से होता है णि परे रहते।

८२०—निमित्त पूर्व रहते साभ्यास अन् धातुसे दोनों नकारों को णत्व होता है।

८२१—बोधन भिन्न अर्थ में इण् धातु को गम् आदेश होता है णि परे रहते। (गणसूत्र—भ्वादिगण के अन्तर्गत घटादिगण पठित धातुएँ मित् संज्ञक

जनी-जृष्-क्नसु-रञ्जोऽमन्ताश्च, मितः । 'ज्वल-ह्वल-ह्मल-नमामनुपसर्गाद्वा' एषां मित्त्वं वा । 'ग्ला-स्ना-वनु-वमां च', अनुपसर्गादेषां मित्त्वं वा । 'न कम्यमिचमाम्', अमन्तत्वात्प्राप्तं मित्त्वमेषां न । 'यमोऽपरिवेषणे', मित्त्वं न । 'स्खदिरवपरिभ्यां च' । मित्वम ।

८२२ मितां ह्रस्वः ६ । ४ । ९२ ॥

ज्ञपादीनां घटादीनां च णावुपधाया ह्रस्वः । घटयति । अजीघटत्[1] । ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् ।

८२३ रभेरशब्लिटोः ७ । १ । ६३ ॥[2]

नुमचि ।

८२४ लभेश्च[3] ७ । १ । ६४ ॥

अररम्भत्[4] । अललम्भत् । ईर्ष्ययति[5] । (ईर्ष्यतेस्तृतीयस्येति वक्तव्यम्[6]) तृतीय-

---

१—लुङि रूपम्, चङि द्वित्वे हलादिशेषेऽभ्यासस्येत्वे संयोगपरकत्वेन लघुत्वाभावाद् 'दीर्घो लघो' रिति न दीर्घः । २—रभेर्नुम् स्यादचि न तु शब्लिटोरिति सूत्रार्थः । ३—नुम् स्यादित्यर्थः । योगविभागः 'आङो यि' इत्यत्र लभेरेवानुवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थं । ४—लटि-रम्भयति । लम्भयति । लुङि-च्लेश्चङि द्वित्वे हलादिशेषेऽभ्यासस्य लघुपरकत्वाभावात्सन्वद्भावाभावः, तेन-इत्वदीर्घौ न । ५—ईर्ष्यधातोर्ण्यन्ताल्लटि रूपमिदम् । ६—द्वित्वमिति शेषः । ईर्ष्यधातोर्ण्यन्ताल्लुङि च्लेश्चङि णिसहितयोः यकारयकारयोर्द्वित्वं प्राप्नोति, तत्र षस्य द्वित्वं वारयितुमिदं वार्तिकमारभ्यते । अस्य चार्थद्वयम्-ईर्ष्यतेस्तृतीयव्यञ्जनस्य द्वित्वमित्येकः, ईर्ष्यते-

---

है) (जनी आदि धातुएँ और अमन्त धातुएँ मित् संज्ञक होती हैं) (उपसर्ग रहित ज्वल् ह्वल् ह्मल्-धातुएँ विकल्प से मित् होती है) (उपसर्ग रहित ग्ला, स्ना, वनु, वम्, धातुएँ विकल्प से मित् हैं) (कम् चम् धातुएँ अमन्त होने पर भी मित् नहीं है) (परिवेषण से भिन्न अर्थ में यम् धातु मित् नहीं है) (अव-परि उपसर्ग से पर स्खद् धातु मित् नहीं है)

८२२—ज्ञपादि और घटादि जो मित् संज्ञक धातुएँ उनकी उपधा को ह्रस्व होता है णि परे रहते ।

८२३—रभ् धातु को नुम् आगम होता है शप् और लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहते ।

८२४—लभ धातु को भी नुम् आगम होता है शप् लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहते । (ईर्ष्यति के तृतीय व्यञ्जन अथवा तृतीय एका च् को द्वित्व होता है) ।

व्यञ्जनस्य तृतीयैकाच इति वार्थः। आद्ये षस्य द्वित्वं वारयितुमिदम्। द्वितीये त्वजा-देर्द्वितीयस्येत्यस्यापवादतया सन्नन्ते प्रवर्तते। ऐर्ष्यियत्। द्वितीयव्याख्यायां णिजन्ता-वकि ष एवाभ्यासे श्रूयते। हलादिः शेषात्। द्वित्वं तु द्वितीयस्यैव। तृतीयाभावेन प्रकृतवार्तिकाप्रवृत्तेः। ऐर्षिष्यत्। ॥ इति णिजन्तप्रक्रिया॥

अथ सन्नन्तप्रक्रिया ॥२॥

८२५ धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३।१।७॥

इषिकर्मणो धातोरिषिणैककर्तृकात्सन्नेच्छायाम्। पठ व्यक्तायां वाचि। इट्।

८२६ सन्यङोः ६।१।६॥

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य। सन्यतः। पठितुमिच्छति पिपठिषति। कर्मणः किम्-गमनेनेच्छतीति करणान्मा भूत्। समानकर्तृकात् किम्-शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः। वा ग्रहणाद्वाक्यमपि।

स्तृतीयस्यैकाचो द्वित्वमित्यपरः। तत्र प्रथमेऽर्थे षस्य द्वित्वं निवार्य यिशब्दस्य द्वित्वं करोतीदं वार्तिकम्, तेन 'ऐर्ष्यियत्' इति रूपं भवति। अपरस्मिन्नर्थे तु नात्रेदं वार्तिकं प्रवर्तिष्यते तृतीयस्यैकाचोऽभावात्। किन्तु-अजादेर्द्वितीयस्येत्यस्यापवादतया सन्नन्ते प्रवर्तते, तत्र 'स' इति तृतीयस्यैकाचो विद्यमानत्वात्।

१—प्रथमव्याख्यायां तृतीयव्यञ्जनस्य णिसहितस्य द्वित्वे रूपमिदम्। २—द्वितीयव्याख्यायां तृतीयस्यैकाचोऽभावेन प्रकृतवार्तिकाप्रवृत्तेर्द्वितीयावयवस्यैकाचो द्वित्व रूपमिदम् ॥ इति णिजन्तप्रक्रिया॥

३—इषिः=इच्छा, इषिणैककर्तृकत्वादिषिकर्मीभूतव्यापारवाचकाद् धातो-रित्यर्थः। ४—इच्छायामित्युक्तत्वात्कर्मत्वं कर्तृत्वञ्च तदपेक्षमेव गृह्यते। ५—पठधातोरिच्छायां सनि 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे 'आर्धधातुकस्ये' तीटि 'सन्यङो' रिति द्वित्वे हलादिशेषे 'सन्यत' इत्यभ्यासस्येत्वे सनः सकारस्य षत्वे रूपं पिपठि-षति। लिटि-पिपठिषाञ्चकार। लुङि-अपिपठिषीत्। ६—नात्र गमनमिच्छायाः कर्म, किन्तु करणम्, तेन नात्र सन्। ७—पठनकर्तारः शिष्याः, इच्छायाः कर्ता तु गुरुरिति नास्ति समानकर्तृकत्वं, तेन न सन्।

८२५—इच्छा के कर्मीभूत और इच्छा के साथ एक कर्तावाले धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय होता है विकल्प से।

८२६—सन्नन्त और यङन्त धातुओं के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व होता है, अजादि धातुओं के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होता है।

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥ १ ॥

तेन पिपठिषितुमिच्छतीति वाक्यमेव। 'लुङ्सनोर्घस्लृ'।

८२७ सः स्यार्धधातुके ७। ४। ४९॥

सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके। अत्तुमिच्छति जिघत्सति। एकाच इति नेट्।

८२८ अज्झनगमां सनि ६। ४। १६॥

अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि।

१—शैषिकादिति 'धातोः कर्म' इति सूत्रस्थभाष्यवार्तिकमिदम्, अस्यायमर्थः— शैषिकात्=शेषाधिकारे विहितात् सरूपः=समानरूपः शैषिकः = शेषाधिकारविहितः प्रत्ययो न, यथा—शालायां भवः शालीयः—इत्यत्र 'वृद्धाच्छः' इति शैषिकश्छः प्रत्ययः, ततश्च शालीये भव इत्यर्थे शालीयशब्दात् पुनः शैषिकश्छो न भवति, तेन शालीये भव इति वाक्यमेव। शैषिकात् शैषिकः सरूप एव निषिध्यते, विरूपस्तु स्यादेव, यथा—अहिच्छत्रे भव आहिच्छत्र इति भवार्थेऽण्, ततश्चाऽऽहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रीय इति अण्णन्ताच्छो (भवत्येव)। तथा—मतुबर्थीयात् मत्वर्थात् सरूपो मतुबर्थिकः= मत्वर्थो न भवति। यथा—धनमस्यास्तीति धनवान् इत्यत्र मतुप्, ततश्च धनवानस्यास्तीत्यर्थविवक्षायां मतुबन्तात्सरूपो मतुब् न, विरूपस्तु स्यादेव, यथा— दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी 'अत इनिठनौ' इतीनिप्रत्ययः। ततश्च दण्डिनः सन्त्यस्यां शालायामित्यर्थविवक्षायां दण्डिमतीत्यत्र—इन्नन्तान्मतुब् (भवत्येव)। एवं सन्न-न्तात्सरूपः सन्नेष्यते, अत्रापि सरूप इत्यनुषज्जतेऽर्थद्वारा सादृश्यं तत्पार्थस्तथा चेच्छासन्नन्तादिच्छासन्न, यथा—पठितुमिच्छति पिपठिषति ततश्च पिपठिषितुमिच्छतीति वाक्यमेव। स्वार्थसन्नन्तादिच्छासन् तु विरूपत्वात्स्यादेव, यथा—'जुगुप्सते' 'मीमांसते' इति स्वार्थः सन्, ततश्च जुगुप्सितुमिच्छति मीमांसितुमिच्छति 'जुगुप्सिषते' 'मीमांसिषते' इत्यत्र—इच्छासन् (भवत्येव)। २—इत्यनेन सूत्रेणाऽदो घस्लादेशः। ३—सनि—अदो घस्लादेशे 'घस'इत्यस्य द्वित्वे चुत्वे जश्त्वे सन्यत इतीत्वे सस्य तत्वे

शैषिकादिति—शैषिक प्रत्ययान्त से पुनः समान रूप शैषिक प्रत्यय नहीं होता। तथा मत्वर्थिक प्रत्ययान्त से दुबारा सरूप मत्वर्थिक प्रत्यय नहीं होता। और सन्नन्त से पुनः सरूप=समानार्थक सन् नहीं होता।

८२७—सकार को तकारादेश होता है सादि आर्धधातुक परे रहते।

८२८—अजन्तधातु, हन् और अजादेश गम् धातुको दीर्घ होता है झलादि

८२९ इको झल् १ । २ । ९ ॥

इगन्ताज्झलादिः सन्कित् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । जिघांसति ।

८३० सनि च २ । ४ । ४७ ॥

इणो गमिः स्यात्सनि न तु बोधने । जिगमिषति । बोधने तु प्रतीषिषति ।

८३१ इङश्च २ । ४ । ४८ ॥

इङो गमिः स्यात् सनि । अधिजिगांसते ।

८३२ रुद्-विद्-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च १ । २ । ८ ॥

एभ्यः सन् क्त्वा च कितौ स्तः । रुरुदिषति । विविदिषति । मुमुषिषति ।

जिघत्सति । लुङि—अजिघत्सीत् ।

१—कृधातोरिच्छासनि 'एकाच उपदेशे' इतीडभावे 'अज्झनगमां...' इति दीर्घे इको झल्, इति कित्त्वेन गुणाभावे 'ऋत इद्धातोः' इति-इत्त्वे रपरत्वे 'किर्' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'हलि च' इत्यभ्यासोत्तरखण्डस्य दीर्घे, रेफरूपेणः परत्वात्सनः सस्य षत्वे (शटि तिपि शपि पररूपे) चिकीर्षति । लुङि—अचिकीर्षीत् ।

२—हन्तुमिच्छतीति हन्तेः सनि 'अज्झन...' इति दीर्घे द्वित्वेऽभ्यासह्रस्वे चुत्वे 'सन्यतः' इति-इत्वे 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वे 'नश्चापदान्त...' इत्यनुस्वारे जिघांसति । लुङि—अजिघांसीत्, अजिघांसिष्टाम् । ३—एतुमिच्छतीति विग्रहः, इणो गमादेशे रूपमिदम्, अत्रेणो गमनमर्थः । ४—प्रतिपूर्वकादिणः सनि षत्वे द्वितीयावयवस्यैकाचः 'ष' इत्यस्य द्वित्वे सन्यत इत्यभ्यासस्येत्वे प्रतीषिषति इति रूपम् । लुङि—प्रत्यैषिषीत् । अत्र त्विणो बोधनमर्थः । ५—अध्येतुमिच्छतीत्यर्थेऽधिपूर्वादिङः सनि 'इङश्चे'ति गमादेशे 'गमः परस्मैपदेषु' इत्युक्तेरिडभावे 'अज्झन' इति दीर्घे द्वित्वेऽभ्यासह्रस्वे चुत्वेऽभ्यासेत्वे मस्यानुस्वारे—अधिजिगांसते—इति । लुङि—अध्यजिगांसिष्ट, अध्यजिगांसिषाताम्, अध्यजिगांसिषत । ६—तेन रोदितुमिच्छति रुरुदिषति, वेदितुमिच्छति विविदिषति, मोषितुमिच्छति मुमुषिषति, इत्यादौ लघूपधगुणो न ।

सन् परे रहते ।

८२९—इगन्त धातु से परे झलादि सन् कित् होता है ।

८३०—इण् को गम् आदेश होता है सन् परे रहते, बोधन अर्थ में नहीं होता ।

८३१—इङ् को गम् आदेश होता है सन् परे रहते ।

८३२—रुदविदादिकों से सन् और क्त्वा कित् होते हैं ।

८३३ सनि ग्रहगुहोश्च ७। २। १२॥

ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण्न। जिघृक्षति।

८३४ हलन्ताच्च १। २। १०॥

इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन्कित्। गुहू संवरणे। जुघुक्षति। सुषुप्सति।

८३५ किरश्च पञ्चभ्यः ७। २। ७५॥

कॄ गॄ दृङ् धृङ् प्रच्छ एभ्यः सन इट्। पिपृच्छिषति। चिकरिषति। जिगरिषति। जिगलिषति। (अत्रेटो दीर्घो नेष्टः)॥

८३६ पूर्ववत्सनः १। ३। ६२॥

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात्। दिदरिषते। दिध-

---

१—ग्रहेर्नित्यं गुहेर्विकल्पेन प्राप्ते निषेधोऽयम्। २—ग्रहेः सनि "ग्रहिज्ये" ति सम्प्रसारणे द्वित्वादौ जगृह् स इति स्थिते हकाररूपेण परत्वेन सस्य षत्वं प्राप्तं तस्यासिद्धत्वाद् हस्य ढत्वे भष्भावः "षढोः कः सि" इति कत्वे सस्य षत्वे (क ष संयोगे क्षः) 'जिगृक्ष' इत्यस्य "सनाद्यन्ता" इति धातुत्वे लडादयः, जिघृक्षति। लुङि—अजिघृक्षीत्। ३—गुहूधातोः सनि—इण्निषेधे पूर्ववद् भष्भावादौ जुघुक्षति। लुङि—अजुघुक्षीत्। ४—स्वपधातोः सनि 'रुदविदे'ति सनः कित्वाद् "वचि स्वपि..." इति सम्प्रसारणं लघूपधगुणाभावश्च, द्वित्वादौ, सुषुप्सति। लुङि—असुषुप्सीत्। ५—प्रच्छधातोः सनि रुदविदेति सनः कित्वाद् ग्रहिज्येति सम्प्रसारणं, द्वित्वादि, 'किरश्च पञ्चभ्यः' इति सन इट्, सनः सस्य षत्वे पिपृच्छिषति। लुङि—अपिपृच्छिषीत्। ६—कॄ विक्षेपे—इत्यस्मात्सनि—इट्, सनि वेति विकल्पे प्राप्ते किरश्चेति नित्यमिट्, द्वित्वादि—अभ्यासोत्तरस्य गुणे सनः षत्वे चिकरिषति। ७—गॄ निगरणे धातुः, सिद्धिः पूर्ववत्, अचि विभाषेति लत्वविकल्पः। ८—दृतो वेति दीर्घमाशङ्क्याऽऽह—अत्रेटो दीर्घो नेष्टः (वार्तिकमिदम्)। ९—दृङ् आदरणे—इत्यस्मात्सनि किरश्चेतीटि द्वित्वादौ 'दिदरिष' इत्यस्मात्पूर्ववत्सन इत्यात्मनेपदं दिदरिषते।

८३३—ग्रह गुह् और उगन्त धातु से परे सन् को इट् नहीं होता।

८३४—इक्समीप हल् से परे झलादि सन् कित् होता है।

८३५—कॄ, गॄ, दृङ्, धृङ्, प्रच्छ, इन पांचों से परे सन् को इट् होता है।

८३६—सन् की प्रकृतिभूत धातु के तुल्य ही सन्नन्त से आत्मनेपद होता है (अर्थात् जिस धातु से सन् हुआ है उसे यदि आत्मनेपद है तभी सन्नन्त से आत्मने पद होता है)

रिषेते। बुभूषति ॥

८३७ सनीवन्तर्ध-भ्रस्ज-दम्भु-श्रि-स्वृ-यू णुं-भर-ज्ञपि-सनाम् ७।२।४९॥

इवन्तेभ्य ऋधादिभ्यश्च सन इड् वा॥

८३८ च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९॥

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् श ऊठ् एतावादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ क्ङिति च। यण्। द्वित्वम्। दुद्यूषति। दिदेविषति॥

८३९ स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् ८।३।६१॥

अभ्यासेणः परस्य स्तौतिण्यन्तयोरेव सस्य षः षभूते सनि नान्यस्य। तुष्टूषति। सिषाधयिषति। स्तौतिण्योः किम्-सुस्यूषति, सिसेविषति॥

८४० आप्-ज्ञप्यृधामीत् ७।४।५५॥

एषामच ईत्स्यात्सादौ सनि॥

लुङि-अदिदरिषिष्ट।

१—धृङ् अवस्थाने धातुः, सिद्धिः पूर्ववत्। २-भूधातोः "सनि ग्रहगुहोश्चे" तीविनिषेधे द्वित्वादौ 'इको झल्'इति सनः कित्वान्न गुणः, षत्वे बुभूषति। ३— दिवुधातोः सनि, "सनीवन्तर्धेति" इड्विकल्पे। इडभावपक्षे 'हलन्ताच्चे'ति सनः कित्वे 'च्छ्वोः शूड...' इति वस्योठि यणि 'द्यु' इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषेऽभ्यासह्रस्वे सनः षत्वे दुद्यूषति। इट्पक्षे—'दिदेविषति' सनः कित्वाभावाल्लघूपधगुणः। ४—स्तुधातोः सनि "अज्झन..." इति दीर्घे द्वित्वादौ सनः षत्वेऽभ्यासोत्तरस्य "स्तौतिण्यो" रेवेति षत्वे ष्टुत्वं 'तुष्टूषति'। ५—णयन्तोदाहरणमिदम्। णयन्तात्साधधातोः सनीटि द्वित्वे हलादिशेषे ह्रस्वे सन्यत इतीत्वे स्तौतिण्योरिति षत्वे सिषाधयिषति। ६—७—सिवुधातोः सनीडभावे दुद्यूषतिवद्रूपम्। अभ्यासोत्तरस्य स्तौतिण्योरेवेति नियमान्न षत्वम्। इट्पक्षे सिसेविषति।

८३७—इवन्त धातुओं से तथा ऋधादि धातुओं से परे सन् को इट् विकल्प से होता है।

८३८—सतुक् छकार को और वकार को क्रम से 'श' और 'ऊठ्' आदेश होते हैं यदि अनुनासिक या क्विप् अथवा झलादि कित् ङित् परे हो।

८३९—अभ्यास के इण् से परे स्तु धातु और णयन्त धातु के ही सकार को षत्व होता है षभूत सन् परे रहते। अन्य धातु के स को षत्व नहीं होता।

८४०—आप्, ज्ञप्, ऋध्, इन धातुओं के अच् को ईत् होता है सादि

८४१ अत्र लोपोऽभ्यासस्य ७।४।५८॥

सनिमीमेत्यारभ्य यदुक्तं तत्राभ्यासस्य लोपः। आप्तुमिच्छति–ईप्सति[1]। अर्धि-तुमिच्छति–ईर्त्सति[3]। अर्दिधिषति[4]। बिभ्रक्षिषति[5]। बिभर्जिषति, बिभ्रक्षति, बिभर्क्षति।

८४२ दम्भ इच्च ७।४।५६॥

दम्भेरच इत्स्यादीच सादौ सनि। हलन्तादित्यत्र हल्ग्रहणं जातिपरम्। तेन

१—अयमर्थः सनिमीमेति सूत्रम् ७।४।५४॥ "आप्ज्ञप्यृधामीत्" ७।४।५५। इति सूत्रम्, "दम्भ इच्च ७।४।५६।" इति सूत्रम्, "मुचोऽकर्मकस्य ७।४।५७।" इति सूत्रञ्च यत्र प्रवर्त्तते तत्राऽभ्यासस्य लोप इति। २—आप्लृ व्याप्तावित्यस्मात्सनि "आप्ज्ञप..." इत्याकारस्येत्वे द्वित्वेऽभ्यासलोपे ईप्सतीति रूपम्। लुङि—ऐप्सीत्। ३—ऋधु धातोः सनि सनीवन्तर्धेतीड्विकल्पः; इडभावपक्षे—ऋकारस्य 'आप ज्ञपि–ऋधाम्' इतीत्वे रपरत्वे धस्य चर्त्वे 'त्स' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासलोपे 'ईर्त्सति' इति रूपम्। लुङि—ऐर्त्सीत्। ४–इट्पक्षे रूपमिदम्। ५—भ्रस्ज धातोः सनि सनीवन्तर्धेति–इट्पक्षे 'भ्रस्जो रोपधयो'रिति रमागमाभावपक्षे 'बिभ्रज्जिषति' इति रूपम्। अत्र सस्य श्चुत्वेन शः, शस्य जश्त्वेन जः, क्ङिदभावाद् ग्रहिज्येति सम्प्रसारणं न। इट्रमागमपक्षे–भ्रस्ज्+इस्, इति स्थितेऽकारदुपरि सकारात्प्राक् रेफागमे भकारात्परस्य रेफस्य सकारस्य च निवृत्तौ 'भर्ज्+इस्, इति स्थिते द्वित्वे हलादिशेषे जश्त्वे–इत्वे सनः षत्वे 'बिभर्जिषति, इति रूपम्। तदेवमिट्पक्षे रमागमतदभावाभ्यां रूपद्वयम्। इडभावे रमागमाभावे च बिभ्रक्षति इति रूपम्, "स्को" रिति सलोपो व्रश्चेति षत्वं षढोरिति कत्वं सस्य षत्वं कषसंयोगे क्षः, द्वित्वादि पूर्ववत्। इडभावे रमागमे च 'बिभर्क्षति इति रूपम्, सिद्धिः पूर्ववत्। तदेवमिडभावपक्षेऽपि रमागमतदभावाभ्यां रूपद्वयम्। ६—ननु दम्भधातोः सनि परे "दम्भ इच्च" तीत्वे सन इक्समीपहल्परकत्वाभावाद् "हलन्ताच्चे" ति कित्वं न स्यात्तत्राह–हलन्तादित्यत्र हल्ग्रहणं जातिपरमिति हल्त्व-

---

सन् परे रहते।

८४१—सनिमीमा...से लेकर यहाँ तक जो कार्य कहे हैं वे जहां पर हुए हों वहाँ अभ्यास का लोप होता है।

८४२—दम्भ धातु के अच् को इत् होता है पक्ष में ईत् भी होता है सादि सन् परे रहते। (धातु से आशङ्का अर्थ में भी सन् होता है ऐसा कहना चाहिये) तन्, पत् और दरिद्रा धातु से परे सन् को इट् विकल्प से होता है)

सनः कित्वान्नलोपः । धिप्सति, धीप्सति, दिदम्भिषति । शिश्रीषति, शिश्रयिषति । उदोष्ठ्येत्युत्वम् । सुस्वूर्षति, सिस्वरिषति । युयूषति, यियविषति । 'विभाषोर्णोः' इति ङित् । ऊर्णुनुविषति, ऊर्णुनविषति, ऊर्णुनूषति । बिभरिषति, बुभूर्षति । जिज्ञपयिषति, ज्ञीप्सति । सिसनिषति, सिषासति । (आशङ्कायां सन्वक्तव्यः) ।

जात्याऽऽक्रान्तैकानेकव्यक्तिपरमित्यर्थः, तेन भवत्यत्रापि सनः कित्वम् ।

१-२—दम्भ इत्येतीत्वे सनः कित्त्वान्नलोपे भष्भावे भस्य चर्त्वे द्वित्वेऽभ्यासलोपे धिप्सतीति रूपम् । ईत्वपक्षे धीप्सति । सनीवन्तर्धेतीट्पक्षे दिदम्भिषति 'दम्भ इच्चे' त्यस्याऽप्रवृत्तेरभ्यासलोपस्याप्यप्रवृत्तिः । ३—श्रिञ् सेवायामित्यस्मात्सनि सनीवन्तेतीडभावेऽज्झनेतिदीर्घ इको झल् इति सनः कित्वान्न गुणः, 'शिश्रीषति' । इट्पक्षे सनो झलादित्वाभावान्न कित्वं नापि दीर्घः 'शिश्रयिषति' इति रूपम् । ४—स्वृधातोः सनि सनीवन्तेति–इडभावे–ऋकारस्याऽज्झनेति दीर्घे कृते "उदोष्ठ्यपूर्वस्ये" त्युत्वे रपरत्वे "हलि चे" ति दीर्घः, 'सुस्वूर्षति' । इट्पक्षे सिस्वरिषति 'स्व' इत्यस्य द्वित्वे उरदत्वे–इत्वम् । ५—युधातोः सनि सनीवन्तेतीडभावपक्षेऽज्झनेति दीर्घे "इको झल्" इति सनः कित्वाद् गुणाभावो द्वित्वं युयूषति । इट्पक्षे—"द्विर्वचनेऽचि" इति गुणनिषेधाद् 'यु' इत्यस्य द्वित्वे तदुत्तरखण्डे गुणे अवादेशे च "ओः पुयण्जी"त्यभ्यासोकारस्येत्वे यियविषति । ६—ऊर्णुञ्धातोः सनि सनीवन्तेतीट्पक्षे 'विभाषोर्णो' रिति ङित्वे 'नु' शब्दस्य द्वित्वे-उवङि 'ऊर्णुनुविषति इति रूपम् । ङिद्वद्भावपक्षे–गुणे–ऊर्णुनविषति । इडभावपक्षे–"अज्झने"ति दीर्घे 'इको झल्' इति सनः कित्वाद् गुणाभावे 'ऊर्णुनूषति' । ७—भृधातोः सनि सनीवन्तेतीट्पक्षे द्वित्वे-उरदत्वे रपरत्वे हलादिशेषे सन्यत इतीत्वे–उत्तरखण्डस्य गुणे बिभरिषति । इडभावपक्षे च भृ+स, इति स्थिते "अज्झने"ति दीर्घे 'उदोष्ठ्ये' त्युत्वे रपरत्वे उत्तरखण्डस्य हलि चेति दीर्घे बुभूर्षति । ८—ज्ञपधातोर्ण्यन्तात्सनि सनीवन्तेतीट्पक्षे द्वित्वादौ सन्यत इतीत्वे जिज्ञपयिषति । इडभावपक्षे-इको झलिति कित्वान्न गुणः 'अज्झनेति' दीर्घात्परत्वाद् णिलोपः, 'आप्ज्ञप...' इतीत्, द्वित्वेऽभ्यासस्य लोपो ज्ञीप्सति । ९—सनधातोः सनि सनीवन्तेतीट्पक्षे सिसनिषतीति रूपम् । अत्र "जन सने" त्यात्वन्न, सनो झलादित्वाभावात् "स्तौतिण्यो" रेवेति षत्वञ्च न । इडभावपक्षे च सिषासतीति रूपम्, जनसनेतिनकारस्यात्वे कृते 'सा' इत्यस्य द्वित्वे ह्रस्वे अत इत्वे षत्वे च रूपं, षभूते सनीत्युक्तत्वात् स्तौतिण्योरेवेति नियमस्याप्रवृत्तेर्भवत्येवात्र षत्वम् । १०—आशङ्काविषयक्रियावृत्तेर्धातोः स्वार्थे सन्नित्यर्थः ।

श्वा मुमूर्षति। (तनि-पति-दरिद्रातिभ्यः सनो वेड् वाच्यः)। तितनिषति।

८४३ तनोतेर्विभाषा ६।४।१७॥

उपधाया दीर्घो झलादौ सनि। तितांसति, तितंसति। कूर्द्धं पिपतिषति॥

८४४ सनि मी-मी-मा-घु-रभ-लभ-शक-पत-पदामच इस् ७। ४। ५४॥

एषामच इस् स्यात् सादौ सनि।। अभ्यासलोपः पित्सति। दिदरिद्रिषति, दिदरिद्रासति॥

८४५ मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा ७।४।५७॥

सादौ सनि। अभ्यासलोपः। मोक्षते-मुमुक्षते, वा वत्सः स्वयमेव। अकर्मकस्य किम्-मुमुक्षति मुमुक्षते वा वत्सं कृष्णः॥

८४६ इट् सनि वा ७।२।४१॥

१—मृङ् धातोः सनि "अज्झने"ति दीर्घे 'इको झलि'ति सनः कित्वम् 'उदोष्ठ्यपूर्वस्ये'ति-उत्वे रपरत्वे द्वित्वे हलि चेति दीर्घे सनः षत्वे मुमूर्षति-शङ्कितमरणो भवतीत्यर्थः (मरणशङ्काविषयो भवति)। 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्चे'यत्र 'सनोन' इत्यनुवर्त्य सन्नन्तान्नात्मनेपदमिति व्याख्यानात्परस्मैपदमेव। २—तनेः सनि 'तनि-पति...' इड्विकल्पस्तत्रेट्पक्षे (तितनिषति) रूपमिदम्। ३—इडभावपक्षे तनोतेर्विभाषेति-उपधाया दीर्घे नस्यानुसारे तितांसति, दीर्घाभावपक्षे तितंसति। ४—पत् धातोः सनि 'तनि पती' तीट्पक्षे पिपतिषति, इति रूपम्। ५—इडभावपक्षे सनि मीमेति 'इस्' स्कोरिति सलोपे द्वित्वेऽत्र लोपोऽभ्यासस्येत्यभ्यासलोपः-पित्सति। ६—दरिद्रातेः सनि तनिपतीतीट्पक्षे 'द' इत्यस्य द्वित्वे सन्यतः इतीत्वे 'दरिद्रातेरार्धधातुके'ति-अलोपे दिदरिद्रिषति। इडभावपक्षे च दिदरिद्रासति। ७—मुच् धातोः सनि 'मुचोऽकर्मकस्ये'ति गुणाभावपक्षे चोः-कुरिति कुत्वे सनः षत्वे मुमुक्षते। गुणपक्षे चात्र लोपोऽभ्यासस्येत्यभ्यासलोपे मोक्षते। अकर्मकस्येत्युक्तेः कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायामयं विकल्पोऽन्यत्र तु मुमुक्षतीत्येव।

८४३—तन् धातु की उपधा को दीर्घ होता है झलादि सन् परे रहते।

८४४—मी, मा आदि धातुओं के अच् को इस् होता है सादि सन् परे रहते।

८४५—अकर्मक मुच् धातु को गुण होता है विकल्प से सादि सन् परे रहते।

८४६—वृङ्, वृञ् और दीर्घ ऋकारान्त धातु से परे सन् को इट् विकल्प से होता है।

वृङ्वृञ्भ्यामृदन्ताच्च सन इड् वा। विवरिषते[1], विवरीषते, वुवूर्षते[2]। विवरिषति, विवरीषति, वुवूर्षति। तितरिषति[3],तितरीषति, तितीर्षति[4]।

८४७ स्मि-पूङ्-रञ्ज्वशां सनि ७।२।७४॥

स्मिङ् पुङ् ऋ अञ्जू अशू एभ्यः सन इट्। सिस्मयिषते[5]। पिपविषते[6]। अरिरिषति[7]। अञ्जिजिषति[8]। अशिशिषति[9]। गुप गोपने। तिज निशाने। कित निवासे रोगापनयने च। मान पूजायाम्। बध बन्धने। दान खण्डने। शान तेजने।

८४८ गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ३।१।५॥

८४९ मान्बध-दान्-शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य ३।१।६॥

सूत्रद्वयोक्तेभ्यः सन् मानादानामभ्यासस्येकारस्य दीर्घश्च। (गुपेर्निन्दायाम्।

१—वृङ्धातोः सनि 'इट् सनि वे' तीट् पक्षे 'वृतो वे'तीटो वैकल्पिके द्वित्वादौ विवरिषते, विवरीषते। २—इडभावपक्षे च 'अज्झने' ति दीर्घे 'उदोष्ठ्ये' त्युत्वे रपरत्वे-द्वित्वादौ हलि चेति दीर्घे वुवूर्षते। वृञ् धातोर्ञित्वादुभयपदम्, आत्मनेपदे तु पूर्ववद्रूपाणि, परस्मैपदे च विवरिषति, विवरीषति, वुवूर्षति। ३-४—तृधातोः सनि 'इट् सनि वे' तीट्पक्षे द्वित्वादौ गुणेऽभ्यासस्येत्वे 'वृतो वे' तीटो दीर्घविकल्पे तितरिषति, तितरीषति। इडभावपक्षे च 'ऋत इद् धातो'रिति-इत्वे रपरत्वे हलि चेति दीर्घे-तितीर्षति। ५—स्मिङ् धातोः सनि'स्मिपूङ्...' इति इट्, द्वित्वादौ गुणायादेशयोः सिस्मयिषते। ६—पूङ् धातोः सनि 'स्मिपूङ्...' इतीटि द्वित्वादौ 'ओः पुयण् ज्यपरे'ति' अभ्यासस्येत्वे—पिपविषते। ७—ऋधातोः सनि स्मिपूङितीटि "सार्वधातु..." इति गुणे 'अरिस' इति स्थिते 'अजादेर्द्वितीयस्ये'ति 'रिस्' शब्दस्य द्वित्वम्, अरिरिषति। ८—अञ्जू धातोः सनि स्मिपूङितीटि 'जिस्' इत्यस्य द्वित्वे रूपम्-अञ्जिजिषति। ९—अशू धातोः सनि-ऊदित्वादिटो विकल्पे प्राप्ते स्मिपूङिति नित्यमिट् 'अजादेर्द्वितीयस्ये'ति 'शिस्' इत्यस्य द्वित्वे 'अशिशिषति'।

८४७—स्मि, पूङ, रञ्ज्, अश् इनसे परे सन् को इट् होता है।

८४८—गुप्, तिज्, कित् इन धातुओं से सन् होता है।

८४९—मान्, बध्, दान्, शान्, इन धातुओं से सन् होता है, और अभ्यास की इकार को दीर्घ होता है। (गुप् से निन्दा अर्थ में, तिज् से क्षमा अर्थ में, कित् से रोग के हटाने अर्थ में और निग्रह अपनयन नाश तथा संशय

तिजेः क्षमायाम्। कितेर्व्याधिप्रतीकारे निग्रहे अपनयने नाशने संशये च। माने-र्जिज्ञासायाम्। बधेश्चित्तविकारे। दानेरार्जवे। शानेर्निशाने)। गुप्प्रभृतयः किञ्चिदा निन्दाद्यर्थका एवाऽनुदात्तेतः। दानशानौ तु स्वरितेतौ। एष्वर्थेष्वेते नित्यसन्नन्ताः। अर्थान्तरे त्वननुबन्धकाश्चुरादयः। अनुबन्धस्य केवलेऽचरितार्थत्वात्सन्नन्तात्पद-व्यवस्था। धातोरित्यविहितत्वात्सनोऽत्र नार्धधातुकत्वम्। तेनेड्गुणौ न। जुगु-प्सते। तितिक्षते। चिकित्सति। मीमांसते। बीभत्सते। दीदांसति, दीदांसते। शीशांसति, शीशांसते। णिचि तु। गोपयति। गोपयते॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया॥

अथ यङन्तप्रक्रिया

८५० धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३।१।२२॥

पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ्।

८५१ गुणो यङ्लुकोः ७।४।८२॥

अभ्यासस्य। ङिदन्तत्वादात्मनेपदम्। पुनःपुनरतिशयेन वा भवति—बोभूयते।

१—क्षमायाम्=सहने। २—रोगदूरीकरणे। ३—तीक्ष्णीकरणे। ४—धात्वर्थेष्वेवायं सन् नत्विच्छायाम्। ५—तत्तदर्थविशेषेष्वनुबन्धरहिताः। ६—केवले अचरितार्थं लिङ्ग समुदायोपकारकं भवतीति न्यायात्। सन्नन्तेभ्यः तत्तद-नुबन्धानुसार पदव्यवस्था=आत्मनेपदं परस्मैपदं वा। ७—आर्धधातुकं शेष इत्यत्र 'धातोरिति विहित' इति व्याख्यायते। अयञ्च सन् धातोरिति विहितो नास्ति—इति नार्धधातुकत्वमस्य तेन इड्-गुणौ न। ८—गुप्धातोर्निन्दायां सनि, द्वित्वादौ जुगुप्सते। एवमग्रेऽपि। ९—मानधातोर्जिज्ञासायां सनि द्वित्वादावभ्यासेकारस्य सन्यत इति विहितस्य 'मान्बधे'ति दीर्घो मीमांसते। एवं बीभत्सते। दीदां-सति, दीदांसते। शीशांसति, शीशांसते। १०—गुप्धातोर्णिचि लघूपधगुणे धातुत्वाल्लडादौ गोपयति, गोपयते।

अर्थ में, मान् धातु से जिज्ञासा अर्थ में, बध् से चित्त विकार अर्थ में, दान् से आर्जव अर्थ में, शान् से तीक्ष्णीकरण अर्थ में सन् होता है)।

अथ यङन्तप्रक्रिया

८५०—पौनःपुन्य और भृशार्थ के द्योत्य होने पर एकाच् हलादि धातु से यङ् होता है।

८५१—अभ्यास को गुण होता है यङ् परे रहते और यङ्लुक् के विषय में।

बोभूयाञ्चक्रे । अबोभूयिष्ट । धातोः किम् । आर्धधातुकत्वं यथा स्यात् । सुबो धात्विरित्यादि । एकाचः किम् । पुनःपुनर्जागर्ति । हलादेः किम् । भृशमीक्षते ।

८५२ नित्यं कौटिल्ये गतौ[२] । १ । २३ ॥

गत्यर्थात्कौटिल्य एव यङ् न तु क्रियासमभिहारे ।

८५३ दीर्घोऽकितः ७ । ४ । ८३ ॥

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो यङ्-यङ्लुकोः । कुटिलं व्रजति—वाव्रज्यते ।

८५४ यस्य हलः ६ । ४ । ४९ ॥

हलः परस्य यस्य लोपः स्यादार्धधातुके । 'आदेः परस्य' । 'अतो लोपः' । वाव्रजाञ्चक्रे । वाव्रजिता ।

८५५ रीङृतः ७ । ४ । २७ ॥

अकृद्यकारे असार्वधातुकयकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः ॥ डुकृञ् करणे । चेक्रीयते ॥[३]

८५६ रीगृदुपधस्य च ७ । ४ । ९० ॥

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङ्-यङ्लुकोः । वरीवृत्यते । वरीवृताञ्चक्रे । वरीवृतिता[४] ।

१—आर्धधातुकसञ्ज्ञायां धातोरिति विहित इति व्याख्यातत्वात् । २—व्रज धातोर्यङि द्वित्वादौ 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासदीर्घे 'वाव्रज्य' इत्यस्मात् लुटि तासादाविटि 'यस्य हलः' इति यलोपः 'अतोलोपः' इत्यकारलोपः, वाव्रजिता । ३—कृञ्धातोर्यङि 'रीङ् ऋतः' इति रीङ् , क्रीत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासकार्ये गुणे चेक्रीयते । ४—वृतुधातोर्यङि द्वित्वादावभ्यासस्य रीगागमे 'वरीवृत्य' इत्यस्मात्तासादौ-इटि

८५२—गत्यर्थक धातुओं से कौटिल्य अर्थ में ही यङ् होता है, क्रियासमभिहार अर्थ में नहीं ।

८५३—किद्भिन्न अभ्यास को दीर्घ होता है यङ् परे रहते और यङ्लुक के विषय में ।

८५४—हल् से परे 'य' का लोप होता है आर्धधातुक परे रहते ।

८५५—कृद् भिन्न यकार तथा असार्वधातुक यकार और च्वि प्रत्यय परे रहते ऋदन्त अङ्ग को रीङ् आदेश होता है ।

८५६—ऋदुपध धातु के अभ्यास को रीक् आगम होता है यङ् परे रहते और यङ्-लुक् के विषय में ।

'क्षुभादिषु च' । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते । (रीगृत्वत इति वाच्यम्) वरीवृश्च्यते । परीपृच्छ्यते ।

८५७ लुप-सद-चर-जप-जभ-दह-दश-गृभ्यो भावगर्हायाम् ३ । १ । २४ ॥

एभ्यो धात्वर्थगर्हायामेव यङ् । गर्हितं लुम्पति—लोलुप्यते । सासद्यते ॥

८५८ चर-फलोश्च ७ । ४ । ८७ ॥

अनयोरभ्यासस्यातो नुक् यङ्-यङ्लुकोः । नुगित्यनेनानुस्वारो लक्ष्यते । स च पदान्तवद्वाच्यः । वा पदान्तस्येति यथा स्यात् ॥

८५९ उत्परस्यातः ७ । ४ । ८८ ॥

चरफलोरभ्यासात्परस्यात उत्स्याद्यङ्-यङ्लुकोः । हलि चेति दीर्घः । चञ्चूर्यते, चंचूर्यते । पम्फुल्यते, पंफुल्यते ॥

यस्य हल इति यलोपे अलोपे वरीवृश्चिता, अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाल्लोपधागुणः । अवरीवृश्चिष्ट (लुङि) ।

१—नृती गात्रविक्षेपे—इत्यस्य रूपमिदं, सिद्धिः पूर्ववत् । 'क्षुभादिषु चे'—ति णत्वाभावः । २—ग्रह्धातोर्यङि ग्रहिज्येति सम्प्रसारणं द्वित्वादावभ्यासस्य रीगागमे रूपम् । ३—व्रश्चधातोर्यङि सम्प्रसारणम् । ४—लुप्धातोर्यङि (गर्हितार्थे) रूपमिदम् । ५—दीर्घोऽकित इत्याभ्यासस्य दीर्घः । लुङि—असासद्दिष्ट । ६—नुमतोऽनुनासिकस्येति पूर्वसूत्रे यंयम्यते, रंरम्यते, इत्यादावनुस्वारश्रवणार्थं नुगित्यनुस्वारोपलक्षणमाश्रयणीयम् । अन्यथा—झल्परत्वाभावान्नश्चापदान्तस्येत्यनुस्वाराऽसम्भवान्नकार एव श्रूयेत । तस्यैवेहानुवृत्तेरत्राप्यनुस्वारोपलक्षणार्थत्वमिति भावः । सचानुस्वारः पदान्तवत्, तेन पक्षे परसवर्णमिति रूपद्वयं सिद्ध्यति । ७—चर्धातो र्यङि द्वित्वे नुकि 'उत्परस्यातः' इत्युत्वे हलि चेति दीर्घोऽनुस्वारस्य विकल्पेन परसवर्णः । ८—फलधातो रूपमिदं, सिद्धिः पूर्ववत् ।

(ऋकार वान् धातु के अभ्यास को रीक् आगम होता है ऐसा कहना चाहिये)

८५७—लुप् सद् आदि धातुओं से धात्वर्थ गर्हा में ही यङ् होता है ।

८५८—चर् और फल् सम्बन्धी अभ्यास के अत् को नुक् आगम होता है यङ् परे रहते और यङ्लुक् के विषय में ।

८५९—चर् फल् सम्बन्धी अभ्यास से परे अत् को उत् होता है यङ् यङ्लुक् में ।

८६० जप-जभ-दह-दश-भञ्ज-पशां च ७ । ४ । ८६ ॥

एषामभ्यासस्य नुक् यङ्-यङ्लुकोः । गर्हितं जपति-जञ्जप्यते । इत्यादि ।

८६१ ग्रो यङि ८ । २ । २० ॥

गिरते रेफस्य लत्वं यङि । गर्हितं गिलति-जेगिल्यते² ॥ (सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः)। सोसूच्यते ॥ अट पट गतौ । अटाट्यते ॥

८६२ यङि च ७ । ४ । ३० ॥

अर्तेः संयोगादेश्च ऋदन्ताङ्गस्य गुणो यङि । यकारपरस्य रेफस्य न द्वित्वनिषेधः, अरार्यते इति भाष्योदाहरणात् । अरारिता । अशाश्र्यते । ऊर्णोनूयते ॥

८६३ सिचो यङि ८ । ३ । ११२ ॥

सस्य षो न । निसेसिच्यते ॥

१—गर्हितजपेऽत्र यङ् । लङि-अजञ्जपिष्ट । २—गृधातोर्यङि 'ऋत इद् धातो' रितीत्वे रपरत्वे द्वित्वादावभ्यासस्य 'गुणो यङ्लुको' रिति गुणे 'ग्रो यङि' इति लत्वे रूपमिदम् । ३—अदन्तात्सूचधातोरनेकाच्त्वात्पूर्वसूत्रेणाप्राप्तो यङ् सूचिसूत्रीत्यादिना वार्तिकेन भवति, द्वित्वादि-अभ्यासगुणः । ४—अट्धातोर्यङि 'अजादेर्द्वितीयस्ये'ति 'ट्य' शब्दस्य द्वित्वे हलादिशेषे 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासदीर्घः-अटाट्यते, लुटि-अटाटिता । ५—धातोरेकाच इति सूत्रे-इति शेषः । रेफस्य द्वित्वनिषेधे तु-'अरार्य्यते' इति भाष्योदाहरणं व्याकुप्येत । ऋधातोर्यङि यङि चेति गुणे 'र्य' शब्दस्य द्वित्वे हलादिशेषे दीर्घोऽकित इति दीर्घः । ६—अशूधातोर्यङि रूपमिदं, सिद्धिः पूर्ववत् । ७—ऊर्णुञ् धातोर्यङि 'नु' शब्दस्य द्वित्वे हलादिशेषेऽभ्यासगुणे 'अकृत्सार्वधातुकेति' दीर्घः । ८—सिचिर् क्षरणे-इत्यस्माद् धातोर्यङि रूपमिदम् ।

८६०—जप्, जभ् आदि धातुओं के अभ्यास को नुक् आगम होता है यङ् तथा यङ्लुक् में ।

८६१—गॄ धातु के रेफ को लत्व होता है यङ् परे रहते । (सूचि सूत्रि आदि धातुओं से अनेकाच् और अजादि होने पर भी यङ् हो जाता है क्रिया समभिहार अर्थ में) ।

८६२—ऋधातु और संयोगादि ऋदन्त धातु से अङ्ग को गुण होता है यङ् परे रहते ।

८६३—सिच् के स को षत्व नहीं होता यङ् परे रहते ।

८६४ न कवतेर्यङि ७।४।६३॥

अभ्यासस्य चुत्वं न। कोकूयते। कौतिकुवत्योस्तु—चोकूयते॥ (हन्तेर्हिंसायां यङि घ्नीभावो वाच्यः) जेघ्नीयते। हिंसायां किम्—

८६५ नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ७।४।८५॥

अदन्ताभ्यासस्य नुक् यङ्-यङ्लुकोः। जंघन्यते॥

८६६ अयङ् यि क्ङिति ७।४।२२॥

शीङोऽयङादेशः स्याद् यादौ क्ङिति। शाशय्यते॥

८६७ स्वपि-स्यमि-व्येञां यङि ६।१।१९॥

एषां संप्रसारणं स्याद् यङि। सोषुप्यते। सेसिम्यते। वेवीयते॥

।सङिः स्पष्टा। अभ्यासस्कारस्य 'उपसर्गात्सुनोती' त्यनेन ततः परस्य च 'स्थादिष्व-भ्यासस्य' चेत्यनेन प्राप्तं षत्वं 'सिचो यङि' इति निषिध्यते।

१—कुङ् धातोः शब्विकरणाद् यङि द्वित्वेऽभ्यासस्य गुणे 'अकृत्सार्व' इति दीर्घे कुहोश्चुरिति चुत्वे प्राप्ते 'न कवते' र्यङीति चुत्वनिषेधः कोकूयते। लुग्वि-करण-शविकरणयोः कौतिकुवत्योस्तु नात्र सूत्रे ग्रहणं कवतेरिति शपा निर्दे-शात्, तेन तयोश्चोकूयते—इति रूपम्। २—हन्तेर्यङि (हिंसायाम्) घ्नीभावे द्वित्वादावभ्यासस्य गुणे रूपम्। ३—गत्यर्थाद् हन्तेर्यङि द्वित्वेऽभ्यासस्य नुमागमेऽ-भ्यासाच्चेति कुत्वे जंघन्यते। ४—शीङ् स्वप्ने—इत्यस्माद् यङि परत्वादन्तरङ्गत्वा-च्चाऽयङादेशे कृते द्वित्वे हलादिशेषे 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासदीर्घे शाशय्यते। ५—स्वप् धातोर्यङि सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वादावभ्यासस्य गुणेऽभ्यासादुत्तरस्य सनः षत्वे रूपम्। ६—स्यम् धातोर्यङि सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वादावभ्यासगुणे रूपम्। अषोपदेशत्वान्न षः। ७—व्येञो यङि सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वादि 'गुणः' इति 'अकृत्सार्व...' इति वा दीर्घः।

८६४—कु धातु के अभ्यास को चुत्व नहीं होता यङ् परे रहते।

(हन् धातु को हिंसा अर्थ में घ्नी आदेश होता है यङ् परे रहते)

८६५—अनुनासिकान्त अङ्ग के अदन्त अभ्यास को नुक् आगम होता है यङ् और यङ् लुक् में।

८६६—शीङ् धातु को अयङ् आदेश होता है यकारादि कित् प्रत्यय परे रहते।

८६७—स्वप्, स्यम्, व्येञ्, इनको सम्प्रसारण होता है यङ् परे रहते।

८६८ न वशः ६ । १ । २० ॥
वशो न संप्रसारणम् । वावश्यते[1] ।

८६९ चायः की ६ । १ । २१ ॥
यङि । चेकीयते[2] ॥

८७० ई घ्राध्मोः ७ । ४ । ३१ ॥
जेघ्रीयते[3] । देध्मीयते[4] ।

८७१ नीग्-वञ्चु-स्रंसु-ध्वंसु-भ्रंसु-कस-पत-पद-स्कन्दाम् ७।४।८४॥
एषामभ्यासस्य नीग् यङ्-यङ्लुकोः । अकित इत्युक्तेर्न दीर्घः । वनीवच्यते[5] । सनीस्रस्यते । दनीध्वस्यते । बनीभ्रस्यते । चनीकस्यते । पनीपत्यते । पनीपद्यते । चनीस्कद्यते । ॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

अथ यङ्लुगन्तप्रक्रिया ॥ ४ ॥

८७२ यङोऽचि[6] च २ । ४ । ७४ ॥

१—वश्धातोर्यङि ग्रहिज्येति सम्प्रसारणे प्राप्ते 'न वशः' इति तन्निषेधः, द्वित्वादौ दीर्घोऽकित इत्यभ्यासदीर्घः । २—चायृ पूजानिशामनयोरित्यस्माद् यङि कीभावेऽभ्यासगुणे रूपम् । ३-४—घ्रा गन्धोपादाने, ध्मा शब्दे-इत्याभ्यां यङीत्वे द्वित्वादावभ्यासस्य गुणे रूपद्वयमिदम् । ५—वञ्चुधातोर्यङि 'अनिदितां...' इति नलोपे द्वित्वेऽभ्यासस्य नीगागमे रूपम् । दीर्घोऽकित इत्यत्राऽकित इत्युक्तेर्नाभ्यासदीर्घस्तदवयवस्य नीकः कित्वात् । एवं क्रमशः स्रंसु-ध्वंसु-भ्रंसु-कस-पत-पद-स्कन्दधातूनां सनीस्रस्यते-इत्यादीनि रूपाणि ॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

६—अचि-इति प्रत्ययग्रहणात्तु प्रत्याहारग्रहणं यङा साहचर्यात् 'सहचरिताऽसहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इति हि न्यायः । 'यय क्षत्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्त्तते ।

८६८—यङ् परे रहते वश् को सम्प्रसारण नहीं होता ।

८६९—चायृ धातु को 'की' आदेश होता है यङ् परे रहते ।

८७०—घ्रा और ध्मा धातु को ईकार अन्तादेश होता है यङ् परे रहते ।

८७१—वञ्चु आदि धातुओं के अभ्यास को नीक् आगम होता है यङ् परे रहते और यङ्लुक् के विषय में । अथ यङ्लुक्प्रक्रिया ।

८७२—यङ् प्रत्यय का लुक् होता है अच् प्रत्यय परे रहते । चकार से कहीं अच् प्रत्यय के विना भी लुक् होता है ।

यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्। चकारात्तं विनापि क्वचित्[1]। अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति। ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम्। अभ्यासकार्यम्। धातुत्वाल्लडादयः। 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'[2]। चर्करीतं चेत्यदादौ पाठाच्छपो लुक्।

८७३ यङो वा ७।३।९४॥

यङन्तात्परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईड् वा स्यात्। भूसुवोरिति निषेधो यङ्लुकि भाषायां न। 'बोभूतु[3] तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात्। बोभवीति, बोभोति। बोभूतः। बोभुवति[4]। बोभवीषि, बोभोषि। बोभूथः, बोभूथ। बोभवीमि, बोभोमि। बोभूवः। बोभूमः। बोभवाञ्चकार, बोभवाम्बभूव, बोभवामास। बोभविता। बोभविष्यति। बोभवीतु, बोभोतु, बोभूतात्। बोभूताम्। बोभुवतु। बोभूहि। बोभवानि। अबोभवीत्, अबोभोत्। अबोभूताम् अबोभवुः। बोभूयात्। बोभूयाताम्। बोभूयुः। बोभूयात्। बोभूयास्ताम्। गातिस्थेति सिचो लुक्। यङो वेतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्। अबोभूवीत्, अबोभोत्। अबो-

---

१—अच्प्रत्ययाभावेऽपीत्यर्थः। सूत्रे चकाराद् बहुलं छन्दसीति पूर्वसूत्राद् बहुलग्रहणमप्यनुकृष्यते, एवञ्चाऽच्प्रत्यये तदभावेऽपि च यङो बहुलं लुगिति फलितम्। अच्प्रत्यये यङ्लुक उदाहरणम्, लोलुवः पोपुवः, इति। अच्प्रत्ययाभावे च बोभवीतीत्यादि। २—यङो ङित्त्वमाश्रित्याऽऽत्मनेपदन्तु न भवति, ङित्त्वस्य प्रत्ययाऽप्रत्ययसाधारणत्वेन प्रत्ययलक्षणाऽप्रवृत्तेः। यत्र हि प्रत्ययस्यासाधारणं रूपमाश्रीयते तत्रैव प्रत्ययलक्षणमिति नियमः। ३—बोभू + ई ति, इति स्थिते-उकारस्य गुणेऽवादेशे बोभवीति इति रूपम्। तत्र 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधमाशङ्क्य समाधत्ते बोभूतु तेतिक्ते इति—वैदिकप्रक्रियायां छन्दसीत्यनुवर्त्तमाने 'दाधर्ति दर्धर्ति दर्धर्षि बोभूतु तेतिक्ते' इत्यादिसूत्रे भूधातोर्यङ्लुगन्तस्य गुणाभावो निपात्यते। तत्र भूसुवोरित्येव गुणनिषेधे सिद्धे पुनर्गुणाभावनिपातनं यङ्लुकि छन्दस्येवाऽयं गुणाभाव इति नियमात्-'लोके भूधातोर्यङ्लुकि भूसुवोरिति गुणनिषेधो न भवतीति ज्ञापयति, तेन भवति गुणः। किञ्चैतेन यङोऽचीति यङ्लुग्विधौ बहुलं छन्दसीत्यतः छन्दसीत्यनुवर्तयन्तः परे परास्ताः, तेनैव निपातनेन लोकेऽपि यङ्लुग् भवतीति ज्ञापनात्। ४—अदभ्यस्तादित्यत्।

८७३—यङ्लुगन्त से परे हलादि पित् सार्वधातुक को ईट् विकल्प से होता है।

मताम् । अबोभूवुः । अबोभविष्यत् । जङ्गमीति[1], जङ्गन्ति । अनुदात्तेत्यनुनासिकलोपः । जङ्गतः । जङ्ग्मति । 'म्वोश्च' । जङ्गन्वः ।

शितपा शपा[2]नुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥ १ ॥

इति वचनान्न इण्निषेधः । जङ्गमिता । अनुनासिकलोपस्याभीयत्वेनासिद्धत्वान्न हेर्लुक् । जङ्गहि । 'मो नो धातोः' । अजङ्गन्[3], अजङ्गमीत् । अनुबन्धनिर्देशान्न च्लेरङ् । अ[4]जङ्गमीत् ।

८७४ रुग्रिकौ च[5] लुकि ७ । ४ । ९१ ॥

१—गम्धातोर्यङ्लुकि 'यङो वे' तीट्पक्षे 'नुगतोऽनुनासिकस्ये'ति नुगागमे नश्चेत्यनुस्वारः परसवर्णो जङ्गमीति । ईडभावपक्षे—जङ्गन्ति । तसि—अनुनासिकलोपे जङ्गतः । झौ गमहनेत्युपधालोपो जङ्ग्मति । जङ्गंसि, जङ्गमीषि । जङ्गथः । जङ्गथ । जंगन्मि, जङ्गमीमि । जङ्गन्वः । जङ्गन्मः । २—गमेरनिट्त्वात् 'प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणाद्' यङ्लुगन्तस्यापि 'एकाच उपदेशे...' इतीडनिषेधः स्यात्, तथा च कथं जङ्गमितेतीत्यत आह–शितपा शपेति । शितपा निर्दिष्टं यङ्लुकि न यथा–'हन्तेर्जः' इति शितपा निर्देशादादेशो न 'जङ्गहि' इति । शपा निर्दिष्टं यङ्लुकि न यथा–'भवतेरः' इत्यादि । यच्चानुबन्धेन निर्दिष्टं तद् न यङ्लुकि यथा–'अजङ्गमीत्' इत्यत्र ऌकारानुबन्धनिर्दिष्टत्वाच्च्लेरङ् न । गणनिर्दिष्टञ्च यङ्लुकि न यथा–'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इतीण्निषेधो न । 'वर्वर्तिष्यति' । यत्रैकाज् ग्रहणं तदपि यङ्लुकि न, यथा–जङ्गमितेत्यत्रैव 'एकाच उपदेशे' इतीण्निषेधो न, तेन सर्वेऽप्यनिट्का धातवो यङ्लुकि सेट्का भवन्ति । एतच्च 'एकाच उपदेशे' इत्यत्रैकाज्ग्रहणेनैकदेशानुमत्या ज्ञापितमिति । ३—लङि–अजङ्गम्+त् इति स्थिते हल्ङ्यादिना तलोपे 'मो नो' इति मस्य नत्वे–अजङ्गन् । ईट्पक्षे–अजङ्गमीत् । तसादौ च अजङ्गताम् । अजङ्ग्मुः । अजङ्गन्, अजङ्गमीः । अजङ्गतम् । अजङ्गत । अजङ्गमम् । अजङ्गन्व । अजङ्गन्म । ४—ह्म्यन्तेति वृद्धिनिषेधः । ५—चकारेण 'रीगृदुपधस्य' इत्यतो

शितपा शपेति—शितपा निर्दिष्ट कार्य और शपा निर्दिष्ट कार्य अनुबन्धनिर्दिष्ट और गण निर्दिष्टकार्य तथा जिसमें एकाज् ग्रहण हो ऐसे सूत्र से निर्दिष्ट कार्य, ये पांचो कार्य यङ् लुक् में नहीं होते ।

८७४—ऋदुपध धातु के अभ्यास को रुक् रिक् रीक् ये आगम होते हैं यङ्लुक् में।

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रुक्[1] रिक् रीक् एते स्युर्यङ्लुकि ॥

८७५ ऋतश्च ७ । ४ । ९२ ॥

ऋदन्तधातोरपि तथा । वर्वृतीति, वरिवृतीति, वरीवृतीति, वर्वर्ति, वरिवर्ति, वरीवर्ति । वर्वृतः ३ । वर्वृतति ३ । वर्वर्तामास ३ । वर्वर्तिता ३ । गणनिर्दिष्टत्वान्न वृद्भ्यश्चतुर्भ्य इति न[3] । वर्वर्तिष्यति ३ । अवर्वृतीत् । अवर्वर्त्[4] ३ । सिपि दश्चेति रुत्वपक्षे रोरि । अवर्वाः ३ । गणनिर्दिष्टत्वादङ् न । अवर्वर्तीत् ३ । चर्करीति, चरिकरीति, चरीकरीति । चर्कर्ति, चरिकर्ति, चरीकर्ति । चर्कृतः ३ । चर्क्रति ३ । चर्कराञ्चकार ३ । चर्करिता ३ । अचर्करीत् ३, अचर्कः ३ । चर्कृयात् ३ । आशिषि रिङ् । चर्क्रियात् ३ । अचर्कारीत् ३ । ऋतश्चेति तपरत्वान्नेह । चाकर्ति, चाकरीति । चाकीर्तः[10] । चाकीर्हि । चाकराणि । अचाकरीत्, अचाकः । अचाकीर्ताम् । अचाकरुः । अचाकारीत् । अचाकारिष्टाम् । तातरीति, तातर्तीत्यादि । इति यङ्लुगन्ताः ।

रीगनुकृष्यते ।

१—रुक उकार उच्चारणार्थो व्याख्यानात् । २—वृत्धातोर्यङि लुकि द्वित्वादौ लटि तिपि—ईटि—अभ्यासस्य रुगागमे रूपम् 'नाभ्यस्तस्याचीति' निषेधात् लघूपधगुणो न । एवमग्रेऽपि । ३—वृतादिर्हि गणो गणनिर्दिष्टत्वाद् वर्वर्तिष्यतीत्यत्रेणनिषेधो नेत्यर्थः । ४—यङ्लुगन्तस्य वृतेर्लङि सिपि रूपमिदम् । ५—पुषादिद्युताद्यीति सूत्रे गणनिर्दिष्टत्वाद् वृतेश्च द्युतादित्वाच्च्लेरङ् नेत्यर्थः । ६—कृधातोर्यङ्लुकि लटस्तिपीट्पक्षे द्वित्वादावभ्यासस्य रुगागमे चर्करीति । ईडभावपक्षे चर्कर्ति । झौ चर्क्रति 'अभ्यस्तात्' इत्यद् यण् । ७—लङि—तिपि रुगागमे गुणे—ईडभावे—अचर्कर्त्, इत्यत्र हल्ङ्यादिलोपे रेफस्य विसर्गः—अचर्कः । ८—सिचि वृद्धिरिति वृद्धिः । ९—कृविक्षेपे—इत्यस्माद् यङ्लुकि लटस्तिपीडभावे द्वित्वादावभ्यासदीर्घे चाकर्ति इति रूपम । दीर्घत्वान्न रुगादयः । १०—तसः 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वाद् गुणाभावे—ऋत इत्वं रपरत्वं हलि चेति दीर्घः । झौ चाकिरति । ११—तॄ प्लवनसन्तरणयोरित्यस्य यङ्लुकि रूपाणि । सिद्धिः पूर्ववत् ।

॥ इति यङ्लुगन्तप्रक्रिया ॥

८७५—ऋदन्त धातु के अभ्यास को भी यङ्लुक् में रुक् रिक् रीक् आगम होते हैं ।

अथ नामधातुप्रक्रिया ॥५॥

८७६ सुप आत्मनः क्यच् ३ । १ । ८ ॥

इषिकर्मण एषितुरात्मसम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यज्वा ।

८७७ सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २ । ४ । ७१ ॥

एतयोरवयवस्य सुपो लुक् स्यात् ॥

८७८ क्यचि च ७ । ४ । ३३ ॥

अवर्णस्य ईःस्यात् । आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । (मान्तप्रकृतिकसुबन्तादव्ययाच्च न क्यच्) किमिच्छति । इदमिच्छति । स्वरिच्छति ।

८७९ अशनायोदन्य-धनाया बुभुक्षा-पिपासा-गर्द्धेषु ७ । ४ । ३४ ॥

एते क्यजन्ता निपात्यन्ते । अशनायति । उदन्यति । धनायति । बुभुक्षादौ किम् । अशनीयति । उदकीयति । धनीयति ।

८८० अश्व-क्षीर-वृष-लवणानामात्मप्रीतौ क्यचि ७ । १ । ५१ ॥

एषां क्यच्यसुक् । (अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्) । अश्वस्यति वडवा । वृषस्यति

१—इच्छा कर्तुः । २—पुत्र + अम्+य, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वम्, (सुपो लुक्) लट् , तिप् , शप् , पुत्र + य+अ + ति, अकारस्य (पुत्रशब्दस्थस्य) ईत्वम् , पररूपम् (यकारस्थाऽकारस्य 'अतो गुणे' इत्यनेन)—पुत्रीयति । पुत्रीयाञ्चकार, पुत्रीयिता । लुङि—अपुत्रीयीत् । ३—उदकशब्दस्य 'उदन्' भावोऽन्ययोर्दीर्घत्वञ्चापि निपात्यते । ४—अन्नं सङ्ग्रहीतुमिच्छतीत्यर्थः । उदकीयति= सस्यादिसेचनार्थमुदकमिच्छति । धनीयति = दरिद्रः सन् जीवनाय धनमिच्छति । ५—मैथुनार्थमश्वमिच्छतीत्यर्थः । एवं वृषस्यति ।

८७६—इष् धातु के कर्म और इच्छाकर्ता के वाचक सुबन्त से इच्छा अर्थ में क्यच् होता है विकल्प से ।

८७७—धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लुक् होता है ।

७७८—अवर्ण को ईकारान्तादेश होता है क्यच् परे रहते ।

८७९—बुभुक्षा पिपासा और गर्द्धा अर्थ में क्रमशः 'अशनाय' 'उदन्य' और 'धनाय' ये क्यच् प्रत्ययान्त निपातन हैं ।

८८०—अश्व क्षीर वृष लवण इनको क्यच् में 'असुक्' आगम होता है आत्मप्रीति अर्थगम्य रहते । (अश्व और वृष को मैथुनेच्छा अर्थ में । क्षीर और लवण को

गौः । (क्षीरलवणयोर्लालसायाम्) । क्षीरस्यति बालः । लवणस्यत्युष्ट्रः । (सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ) । दधिस्यति । दध्यस्यति ।

८८१ नः क्ये १ । ४ । १५ ॥

क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नान्यत् । नलोपः । राजीयति । नान्तमेवेति किम् । वाच्यति । 'हलि च' । गीर्यति । पूर्यति । धातोरित्येव । तेनेह न । दिवमिच्छति दिव्यति ।

८८२ क्यस्य विभाषा ६ । ४ । ५० ॥

हलः परयोः क्यच्क्यङोर्लोपो वाऽऽर्धधातुके । 'आदेः परस्य' । 'अतो लोपः' । तस्य स्थानिवद्भावाल्लोपधाया गुणः । समिधिता, समिध्यिता ।

८८३ काम्यच्च ३ । १ । ९ ॥

उक्तविषये काम्यच् । पुत्रमात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यिता ।

८८४ उपमानादाचारे ३ । १ । १० ॥

उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति

१—दधिस्यति, क्यचि सुगागमे रूपमिदम्, असुगागमे दध्यस्यति । २—'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यनेन । ३—अन्यथाऽत्र चोः कुरिति कुत्वं 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वं च स्यात् । ४—गिरमात्मन इच्छति पुरं वाऽऽत्मन इच्छतीत्यर्थे क्यचि हलि चेत्युपधादीर्घे गीर्यति, पूर्यति । ५—नात्र दिव् धातुः किन्तु सुबन्तम् । तेन नात्र हलिचेति दीर्घः । ६—इति 'य्' मात्रस्य लोपः, ततोऽवशिष्टस्य 'अ' इत्यस्य 'अतो लोपः' इत्यनेन लोपः । ७—अल्लोपस्य । ८—क्यस्य विभाषेति लोपविकल्पे रूपद्वयमिदम् । ९—उच्चारणसामर्थ्यात्ककारस्य नेत्सञ्ज्ञा । १०—"यस्य हल" इत्यत्र यस्येति सङ्घातग्रहणमित्युक्तत्वाद् यलोपो न ।

लालसा अर्थ में असुक् होता है) (सभी प्रातिपदिकों को लालसा अर्थ में सुक् और असुक् आगम होता है) ।

८८१—क्यच् और क्यङ् परे रहते नान्त की ही पद संज्ञा होती है, अन्य की नहीं ।

८८२—हल् से परे क्यच् और क्यङ् का लोप होता है विकल्प से आर्धधातुक परे रहते ।

८८३—उक्त विषय (क्यच् के विषय में) में काम्यच् भी प्रत्यय होता है ।

८८४—उपमानवाचक कर्मसंज्ञक सुबन्त से आचार अर्थ में क्यच् होता है ।

स्त्राम्। विष्णूयति[1] द्विजम्। (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा[2] वक्तव्यः) 'अतो गुणे'। कृष्ण इवाचरति कृष्णति। स्व इवाचरति स्वति। सस्वौ[3]।

८८५ अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६। ४। १५॥

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः क्वौ झलादौ क्ङिति च। इदमिवाऽऽचरति-इदामति। राजेवाचरति-राजानति। पन्था इवाचरति-पथीनति। मथीनति। इन्हन्-ञिति नोपधादीर्घः (इत्यपरे) पथेनति[4]। मथेनति।

८८६ कर्तुः क्यङ् सलोपश्च ३। १। ११॥

उपमानात्कर्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यङ् वा सान्तस्य कर्तृवाचकस्य लोपो वा। क्यङ् वेत्युक्तेः पक्षे वाक्यम्। (संनियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः) इति क्यङ्सलोपयोः सहैव प्रवृत्तिः। लोपश्च व्यवस्थितः[6]। (ओजसोप्सरसो नित्य-मितरेषां विभाषया)। कृष्ण इवाचरति कृष्णायते। ओजायते[7]। अप्सरायते।

१—विष्णुमिवाचरति। अकृत्सार्वधातुकयोरिति दीर्घः। २—अयं क्विप् आचारेऽर्थे, कर्तरि, उपमानवाचकाद् भवति। ३—णलि 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'आत औ णलः' इति औत्वम्। ४—अन्तरङ्गत्वाद्दीर्घस्ततो लघूपधत्वाऽभावान्न गुणः, पथीनति। मथीनति। 'इन्हन्पूषार्य...' इत्यनेन शाविवोपधा-दीर्घ इति नियमाद्दीर्घाऽभावे गुणः, पथेनति मथेनति इत्यपरे। ५—'धातोः कर्मणः' इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्तते तदाह क्यङ् वेति। ६—व्यवस्थितः=व्यवस्थां प्राप्तः। क्वचिदेव भवतीत्यर्थं, तदेवाह-ओजस इत्यादि। ओजस्-शब्दस्याप्स-रस्-शब्दस्य च नित्यं सकारलोपः क्यङि, इतरेषां सान्तानां क्यङि वा सलोपः इत्यर्थः। ७—ओजश्शब्दो यशश्शब्दश्च वृत्तिविषये तद्वति वर्तते। सलोपेऽकृत्सार्व-धातुकेति दीर्घः। ओजस्वीवाऽऽचरतीति विग्रहः। यशश्शब्दात्क्यङि विकल्पेन सलोपे यशायते, यशस्यते=यशस्वीवाचरतीत्यर्थः।

(वा०—प्रातिपदिक मात्र से क्विप् होता है विकल्प से आचार अर्थ में।)

८८५—अनुनासिकान्त की उपधा को दीर्घ होता है क्वि और झलादि कित् ङित् परे रहते।

८८६—उपमानवाची कर्तृ सञ्ज्ञक सुबन्त से आचार अर्थ में क्यङ् होता है विकल्प से। सकारान्त कर्तृवाचक के 'स' का लोप भी होता है विकल्प से।

(सन्नियोग शिष्टों की साथ ही प्रवृत्ति होती है और साथ ही निवृत्ति होती है)। (ओजस् और अप्सरस् शब्द के सकार का नित्य लोप होता है, शेष

यशायते, यशस्यते। विद्वायते, विद्वस्यते (आचारेऽवगल्भ-क्लीब-होडेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः)। वाग्रहणाद्वाक्यमपि। अवगल्भादयः पचाद्यजन्ताः। क्विप्सन्नियोगेनानुदात्तत्वमनुनासिकत्वं चाच्प्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते। तेन तङ्[2]। अवगल्भते। क्लीबते। होडते। भूतपूर्वादप्यनेकाचं आम्[3]। एतद्वार्तिकारम्भसामर्थ्यात्। अवगल्भाञ्चक्रे। क्लीबाञ्चक्रे। होडाञ्चक्रे। उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक् क्रियते। तेन गल्भ-शब्दात्प्रागट्। अवागल्भत।

१—विद्वानिवाचरतीत्यर्थे विद्वच्छब्दात्क्यङि सलोपविकल्पेऽकृत्सार्वधातुकेति दीर्घः, विद्वायते, विद्वस्यते। २—गल्भ-धार्ष्ट्ये, क्लीब—अधार्ष्ट्ये, होडृ—अनादरे, एभ्यः पचाद्यचि अवगल्भादयः शब्दाः सिद्ध्यन्ति। अवगल्भ इवाचरति, क्लीब इवाचरति, होड इवाचरतीत्यर्थे क्विब् भवति (क्यङ् च) क्विप्सन्नियोगेन चैषामन्त्यस्याऽकारस्याऽनुदात्तत्वमनुनासिकत्वञ्च प्रतिज्ञायत इत्युक्तम्। अनुदात्तेत्वादात्मनेपदम्। अवगल्भते, क्लीबते, होडते। ३—अन्त्याऽकारस्येत्वेन लुप्तत्वात् क्विपि धातूनामेकाच्त्वेन कास्यनेकाच इत्यस्याऽप्रवृत्तेः, अवगल्भाञ्चक्रे, क्लीबाञ्चक्रे, होडाञ्चक्रे,-इत्यत्र कथमाम् (अवगल्भ इत्यत्र 'अव' इत्यस्य उपसर्गसमानाकारत्वेन पृथक्करणान्नानेकाच्त्वम्) तत्राह भूतपूर्वादपि—एतद्वार्तिकेति च। अयमर्थः—साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिरिति न्यायेन क्विबुत्पत्तेः प्राक्तनमेवानेकाच्त्वमाश्रयणीयम्। अत्र प्रमाणमेतद्वार्तिकाऽऽरम्भ एव, सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वेति वक्ष्यमाणवार्तिकादेव अवगल्भते, अवजगल्भे, इत्यादिसिद्धौ पुनरेभ्यः क्विब्-विधानं तत्सन्नियोगेनाऽन्त्यवर्णस्याऽनुदात्तत्वानुनासिकत्वप्रतिज्ञानार्थं सद् भूतपूर्वगत्याऽनेकाच्त्वाश्रयणं ज्ञापयतीति भावः। नच सर्वप्रातिपदिकेति वार्तिकेन क्विपि सति 'अवगल्भती'ति भवति। एतद्वार्तिकारम्भस्य चानुदात्तत्वप्रतिज्ञानेन 'अवगल्भते' इत्यादिसिद्धिः फलं, तेन अवगल्भाञ्चक्रे-इति न स्यादिति वाच्यम्, अच्प्रत्ययरहितानां धातुपाठपठितानामनुदात्तेतामेव गल्भादिधातूनां (धातूनामनेकार्थत्वेन) अवगल्भ इवाचरतीत्याद्यर्थेषु वृत्तिसम्भवात्—अवगल्भते—इत्यादिसिद्धेः पुनः क्रियमाणमिदं वार्तिकम् (आचारे—अवगल्भ—इति) भूतपूर्वगत्याऽनेकाच्त्वाश्रयणं ज्ञापयत्येव। ४—क्विबन्तादवगल्भ इत्यस्माल्लङि 'अव' इत्यतः पूर्वमाडागमे प्राप्ते—उत्तरमाह—उपसर्गसमानाकारमित्यादि। अयम्भावः—चुरादौ सङ्ग्रामयुद्ध इत्यत्रोपसर्गविशिष्टस्य धातुत्ववचनेनैतद् ज्ञाप्यते "धातुसञ्ज्ञाप्रयोजके प्रत्यये = सन्-णिच्-क्विबादौ चिकी-

सके सकार का लोप विकल्प से होता है)।

अपायाक्षिमत्र।

८८७ लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् ३।१।१३॥

८८८ वा क्यषः १।३।९०॥

क्यषन्तात्परस्मैपदं वा। अलोहितो लोहितो भवति-लोहितायति, लोहितायते। ननूच्चारणसामर्थ्यात्काम्यच इव क्यषोऽपि ककारः कुतो न श्रूयते, तस्य[1] भाष्ये प्रत्याख्यानात्। पटपटायति, पटपटायते।[2]

८८९ कष्टाय[3] क्रमणे ३।१।१४॥

चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ्। कष्टाय क्रमते-कष्टायते। पापं कर्तु-मुत्सहत इत्यर्थः। (सत्र-कक्ष-कष्ट-कृच्छ्र-गहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायाम्)। कण्वं = पापं चिकीर्षति। सत्रायते। कक्षायते।

८९० कर्मणो रोमन्थ-तपोभ्यां वर्ति-चरोः ३।१।१५॥

कर्मीभूताभ्यां रोमन्थतपोभ्यां क्रमेण वर्तनायां चरणे चार्थे क्यङ् स्यात्। रोमन्थं वर्तयति-रोमन्थायते। (हनुचलन इति वाच्यम्) चर्वितस्याकृष्य पुनश्चर्वण-

---

षिते=कर्तुमिष्टे सति उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं पृथक् क्रियते" इति तेन प्रकृते क्विपि चिकीर्षितेऽवेत्यस्य पृथक्करणं ततश्चाङ्गसञ्ज्ञा धातुसञ्ज्ञा च गल्भमात्रस्यैव तेन गल्भशब्दादेव प्राग् अट्।

१—ननु उच्चारणसामर्थ्याद् यथा काम्यच्प्रत्ययस्य ककारो न लुप्यते तथा क्यषोऽपि ककारो न लुप्येत, किन्तु श्रूयेत तत्राह—तस्य भाष्येति। तस्य = क्यषः ककारस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात् यदि ककारश्रवणमिष्टमभविष्यत्तर्हि ककारं किमिति प्रत्याख्यास्यद्भाष्यकारः। २—पटच्छब्दाद् डाचि 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुल'मिति द्वित्वे 'नित्यमाम्रेडिते डाची'ति पूर्वतकारस्य पररूपे डित्त्वाट्टिलोपे च पटपटाशब्दाद् डाजन्तात्क्यषि रूपमिदम्। पटपटाभवतीति विग्रहः। ३—अत्र ङित्त्वात्क्यङ एवानुवृत्तिर्न तु क्यषः। ४—सत्रादयो वृत्तिविषये पापार्थास्तेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यश्चि-कीर्षायां क्यङित्यर्थः। पापञ्चिकीर्षतीत्यस्वपदविग्रहः।

८८७—लोहितादियों से और डाजन्तों से भवति अर्थ में क्यष् होता है।

८८८—क्यष् प्रत्ययान्त से परस्मैपद विकल्प से होता है।

८८९—चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से उत्साह अर्थ में क्यङ् होता है। (सत्र कक्ष कष्ट कृच्छ्र और गहन-शब्द से पाप चिकीर्षा अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है)

८९०—कर्म भूत रोमन्थ और तपः शब्द से क्रमशः वर्तन और चरण अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है। (हनु चलन अर्थात् जुगाली करने रूप अर्थ में ही रोमन्थ

मित्यर्थः । नेह—कीटो रोमन्थं वर्तयति । (तपसः परस्मैपदं च) तपश्चरति—तपस्यति।

८६१ बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने ३ । १ । १६ ॥

बाष्पमुद्वमति—बाष्पायते । ऊष्मायते (फेनाच्चेति वक्तव्यम्) । फेनायते ।

८६२ शब्द-वैर-कलहाभ्र-कण्व-मेघेभ्यः करणे ३ । १ । १७ ॥

एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् । शब्दं करोति—शब्दायते । (सुदिनदुर्दिन-नीहारेभ्यश्च) । सुदिनायते । दुर्दिनायते । नीहारायते । (प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च) । 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात्' इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-विन्मतुल्लोप-यणादिलोप- प्रस्थस्फाद्यादेशभसंज्ञास्तद्वण्णा-

---

१—रोमन्थशब्दस्यार्थद्वयं तत्र रोमन्थं वर्त्तयति रोमन्थायते इत्यत्र चर्वितचर्वणमर्थः । कीटो रोमन्थं वर्त्तयति—इत्यत्र तु—अपानप्रदेशान्निःसृतं द्रव्यं = रोमन्थः, तदश्नातीत्यर्थः । वर्त्तुलं करोतीति वा । २—कर्मीभूतात्तपश्शब्दाच्चरणेऽर्थे क्यङ् परस्मैपदञ्चेत्यर्थः । ३—ऊष्माणमुद्वमति फेनमुद्वमति चेति विग्रहः । ४—करोतीत्यर्थे क्यङिति शेषः । सुदिनं करोतीति विग्रहः । ५—पुंवद्भावो यथा—पट्वीमाचष्टे पटयति । (भस्याऽढे तद्धिते, इत्यनेन) । रभावो यथा—दृढं करोति द्रढयति । टिलोपो यथा—पटुमाचष्टे पटयति । विनो लुग्—स्रग्विणम् आचष्टे स्रजयति । मतुपो लुग्यथा—श्रीमन्तं करोतीति श्राययति । यणादिपरलोपो यथा—स्थूलमाचष्टे स्थवयति, प्रादेशो यथा—प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थादेशो यथा—स्थिरं करोति स्थापयति, स्फादेशो यथा—स्फिरमाचष्टे स्फापयति । भसंज्ञा यथा—पट्वीमाचष्टे पटयति।

शब्द से क्यङ् होता है ऐसा कहना चाहिये) । (क्यङन्त तपस् से परस्मैपद होता है ऐसा कहना चाहिये)

८६१—कर्मभूत बाष्प और ऊष्म शब्द से उद्वमन अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है । (फेन शब्द से भी उद्वमन अर्थ में क्यङ् होता है ऐसा कहना चाहिये)।

८६२—कर्मभूत शब्द वैर कलह अभ्र कण्व और मेघ शब्द से करोति अर्थ में क्यङ् प्रत्यय बहुलता से होता है । (प्रातिपदिक से धात्वर्थ में णिच् होता है । और इष्ठ परे रहते जैसे प्रातिपदिक को पुंवद्भाव रभाव टिलोप विन् लोप मतुप्लोप यणादिलोप तथा प्रस्थस्फ आदि आदेश और भ संज्ञा आदि कार्य होते हैं, वे सब णि परे रहते भी होंगे) ।

यपि स्युः। पटुमाचष्टे-पटयति। परत्वाद् वृद्धौ सत्यां टिलोपः। अपीपटत्। णौ बलीयस्त्व भाष्ये तु वृद्धेर्लोपो बलीयानिति स्थितम्। अपपटत्।

८६३ पुच्छ-भाण्ड-चीवराण्णिङ् ३।१।२०॥

(पुच्छादुदसने व्यसने पर्यसने च)। विविधं विरुद्धं चोत्क्षेपणं=व्यसनं। उत्पुच्छयते। परिपुच्छयते। (भाण्डात्समाचयने)। संभाण्डयते। समबभाण्डत। (चीवरादर्जने परिधाने च)। संचीवरयते भिक्षुः।

८६४ मुण्ड-मिश्र-श्लक्ष्ण-लवण-व्रत-वस्त्र-हल-कल-कृत-तूस्तेभ्यो णिच् ३।१।२१॥

कृञर्थे। मुण्डं करोति-मुण्डयति। (व्रताद्भोजनतन्निवृत्त्योः) पयः शूद्रान्नं वा व्रतयति। (वस्त्रात्समाच्छादने)। संवस्त्रयति। (हल्यादिभ्यो ग्रहणे)। हलि-कल्योरदन्तत्वं च निपात्यते। हलिं कलिं वा गृह्णाति-हलयति, कलयति। महद्धलं=हलिः। कृतं गृह्णाति-कृतयति। तूस्तानि विहन्ति वितूस्तयति। तूस्तं=केशा इत्येके। जटीभूताः केशा इत्यन्ये। पापमित्यपरे। (सत्यार्थवेदानामापुग्वक्तव्यः)।

१—पटुशब्दाद् णिचि 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिरपि प्राप्ता—इष्ठवद्भावाट्-टिलोपोऽपि, तत्र परत्वाद् वृद्धौ सत्यां टेः=औकारस्य लोपः, तेन नायमग्लोपी तस्माद्भवति सन्वद्भावो दीर्घश्च। (लुङि) अपीपटत्। २—भाष्ये तु वृद्धेर्लोपो बलीयानित्युक्तत्वाद् णौ वृद्धिं बाधित्वा टेः=उकारस्यैव लोपस्तेनायं भवत्यग्लोपी—अतो न सन्वद्भावदीर्घौ, अपपटत्। ३—समाचयनम्=राशीकरणम्। ४—पयो व्रतयति=अश्नातीत्यर्थः। शूद्रान्नं व्रतयति=वर्जयतीत्यर्थः। ५—वस्त्रेण सम्यगाच्छादयतीत्यर्थः। ६—हलिकल्योरदन्तत्वनिपातनात् वृद्धेः पूर्वं पश्चाद्वा टिलोपे (अ—लोपे-आलोपे वा) अगेव लुप्यत इति-अग्लोपित्वान्न सन्वद्भावदीर्घौ-अजहलत्। अचकलत्। ७—उपकारं स्वीकरोतीत्यर्थः, कृतज्ञो भवतीति भावः।

८६३—कर्मभूत पुच्छ भाण्ड और चीवर शब्द से णिङ् प्रत्यय होता है। (पुच्छ से उदसन अर्थ में और पर्यसन अर्थ में)। (भाण्ड से समाचयन इकट्ठा करने या सजाकर रखने अर्थ में)। (चीवर से और परिधान अर्जन अर्थ में णिङ् होता है)।

८६४—मुण्ड मिश्रादि शब्दों से करोति अर्थ में णिच् होता है। (व्रत शब्द से भोजन और भोजननिवृत्ति अर्थ में वस्त्र से समाच्छादन अर्थ में और हल्यादियों से ग्रहण अर्थ में णिच् होता है। (सत्य अर्थ और वेद शब्द से णि परे रहते आपुक् आगम होता है)।

सत्यापयति। अर्थापयति[1]। वेदापयति[2]। पाशं विमुञ्चति—विपाशयति[3]। रूपं पश्यति—रूपयति। वीणयोपगायति—उपवीणयति। तूलेनानुकुष्णाति—अनुतूलयति। कुष्णाति तूलेनानुघट्टयतीत्यर्थः। श्लोकैरुपस्तौति—उपश्लोकयति। सेनयाभियाति—अभिषेणयति[4]। लोमान्यनुमार्ष्टि—अनुलोमयति। त्वच संवरणे। पचाद्यच्। त्वचं गृह्णाति—त्वचयति। वर्मणा संनह्यति—संवर्मयति। वर्णं गृह्णाति—वर्णयति। चूर्णैरवध्वंसते—अवचूर्णयति। ॥ इति नामधातुप्रक्रिया ॥

अथ कण्ड्वादिः।

८६५ कण्ड्वादिभ्यो यक् ३।१।२७॥

एभ्यो धातुभ्यो[5] नित्यं यक् स्यात् स्वार्थे॥ कण्डूञ् गात्रविघर्षणे। कण्डूयति, कण्डूयते। इत्यादि।

अथात्मनेपदप्रक्रिया।

८६६ कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४॥

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। व्यतिलुनीते[6]=अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः।

८६७ न गतिहिंसार्थेभ्यः[7] १।३।१५॥

१—अर्थं करोत्याचष्टे वेत्यर्थः। २—वेदं करोत्याचष्टे वा। ३—पाशं विमुञ्चतीत्यादौ 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे' इति णिच्। ४—उपसर्गात्सुनोतीति षः॥ इति नामधातुप्रक्रिया॥

५—धातुग्रहणं प्रातिपदिकनिवृत्त्यर्थम्—द्विविधा हि कण्ड्वादयो धातवः प्रातिपदिकानि च, तत्र धातुभ्य एव स्यादित्यर्थः। यकः कित्त्वेन धातवः (कण्ड्वादयः) इति ज्ञायते। कण्डूञ् इति दीर्घपाठेन प्रातिपदिकान्यपीति, यदि तु धातव एव स्युस्तर्हि ह्रस्वान्ते पठितेऽपि यकि परे 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घेण 'कण्डूयते' इति सिद्धेः किं दीर्घपाठेन। ६—अत्वादुभयपदी। ७—वि-अति-लूञ् धातुः। ८—गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धातुभ्यः कर्मव्यतिहारे पूर्वसूत्रप्राप्तमात्मनेपदन्न स्यादित्यर्थः।

८६५—कण्ड्वादि धातुओं से स्वार्थ में यक् प्रत्यय होता है।

८६६—क्रिया का विनिमय (अदला बदली) द्योत्य हो तो धातु से आत्मनेपद होता है कर्ता में।

८६७—क्रिया विनिमय अर्थ में गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओं से आत्मनेपद नहीं होता।

व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति । (हरतेरप्रतिषेधः[1]) । संप्रहरन्ते राजानः ।

८९८ इतरेतरान्योन्योपपदाच्च १ । ३ । १६ ॥

(परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम्[2]) । इतरेतरस्यान्योऽन्यस्य परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति ॥

८९९ नेर्विशः १ । ३ । १७ ॥

निविशते ।

९०० परिव्यवेभ्यः[3] क्रियः १ । ३ । १८ ॥

परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते ।

९०१ विपराभ्यां जेः १ । ३ । १९ ॥

विजयते । पराजयते ।

९०२ क्रीडोऽनु-सं-परिभ्यश्च १ । ३ । २१ ॥

चादाङः । अनुक्रीडते । संक्रीडते । आक्रीडते । (समोऽकूजने) । संक्रीडते । कूजने तु संक्रीडति चक्रम् । (आगमेः क्षमायाम्[4]) । ण्यन्तस्येदं ग्रहणम् । आगमयस्व तावत् = मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः । (शिक्षेर्जिज्ञासायाम्[5]) । धनुषि शिक्षते=

१—हृञ् धातोरुपसर्गबलाद् हिंसार्थत्वेन 'न गतिहिंसार्थेभ्य' इत्यात्मनेपदनिषेधे प्राप्ते निषेधाभाव-सूचकमिदं वार्तिकम् । २—इतरेतरमन्योन्यं परस्परमित्येतत्त्रितयोपपदात् कर्मव्यतिहारे पूर्वसूत्रप्राप्तमात्मनेपदं नेति सूत्रवार्तिकयोरर्थः । ३—परि-वि-अव-इत्येतदुपसर्गपूर्वस्य क्रीणातेरात्मनेपदमित्यर्थः । ४—क्षमायाम्=सहने, तितिक्षायामिति यावत् । ५—शकेः सन्नन्तस्य शिक्षेत्यनेन ग्रहणं, नतु शिक्ष विद्योपादाने इत्यस्य । सनि मीमेतीस् अभ्यासलोपः-शिक्षते ।

८९८—'इतरेतर और अन्योऽन्य' शब्द उपपद हों तो कर्म व्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता । ('परस्पर' शब्द उपपद रहते भी आत्मनेपद नहीं होता) ।

८९९—नि उपसर्गपूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद होता है ।

९००—परि-वि-अवपूर्वक क्रीञ् धातु से आत्मनेपद होता है ।

९०१—वि और परापूर्वक जि धातु से आत्मनेपद होता है ।

९०२—अनु, सम्-परि और आङ् उपसर्ग पूर्व रहते क्रीड् धातु से आत्मनेपद होता है । (सम् पूर्व रहते कूजन भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है) । (आङ् पूर्वक ण्यन्त गम् धातु से क्षमा=सहन अर्थ में आत्मनेपद होता है परगामी क्रिया फल में भी) । (शिक्ष से जिज्ञासा अर्थ में आत्मने पद होता है) ।

चतुर्विषयज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः ।

६०३ वृत्ति-सर्ग-तायनेषु क्रमः १ । ३ । ३८ ॥

वृत्तिरप्रतिबन्धः । ऋचि क्रमते बुद्धिः । सर्गः=उत्साहः । अध्ययनाय क्रमते । तायनं=वृद्धिः । क्रमन्तेऽस्मिञ्छास्त्राणि = स्फीतानि भवन्तीत्यर्थः ।

६०४ आङ उद्गमने १ । ३ । ४० ॥

आक्रमते सूर्यः (ज्योतिरुद्गमन इति वाच्यम्) नेह—आक्रामति धूमो हर्म्यतलात् ।

६०५ वेः पादविहरणे १ । ३ । ४१ ॥

साधु विक्रमते वाजी ।

६०६ प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् १ । ३ । ४२ ॥

प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थता । प्रक्रमते । उपक्रमते । समर्थाभ्यां किम् ? प्रक्रामति=गच्छतीत्यर्थः । उपक्रामति = आगच्छतीत्यर्थः ।

६०७ अनुपसर्गाद्वा १ । ३ । ४३ ॥

क्रामति । क्रमते ।

६०८ अपह्नवे ज्ञः १ । ३ । ४४ ॥

शतमपजानीते = अपलपतीत्यर्थः ।

१—आङ्पूर्वकात् क्रमतेरुद्गमनेऽर्थे—आत्मनेपदमित्यर्थः । २—ज्योतिरुद्गमने इत्युक्तत्वान्नेहाऽऽत्मनेपदम्, नहि धूमो ज्योतिः । ३—विपूर्वकात्क्रमतेः पादविहरणे वर्तमानादात्मनेपदमित्यर्थः । ४—समोऽर्थो ययोस्तौ समर्थौ (शकन्ध्वादित्वात्पररूपम्) तुल्यार्थावित्यर्थः । प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थता, तेन प्रारम्भार्थाभ्यां प्रोपाभ्यां क्रमतेरात्मनेपदमित्यर्थः । ५—अपह्नवे = अपलापे गोपने इति यावत् ।

६०३—क्रम धातु से आत्मनेपद होता है वृत्ति=अप्रतिबन्ध, सर्ग=उत्साह, और तायन=वृद्धि अर्थ में ।

६०४—आङ् से परे क्रम धातु से आत्मनेपद होता है उद्गमन अर्थ में । (ज्योतिरुद्गमन में कहना चाहिये) ।

६०५—वि पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है पाद विहरण अर्थ में ।

६०६—प्र तथा उप पूर्व रहते क्रम धातु से आत्मनेपद होता है प्रारम्भ अर्थ में ।

६०७—उपसर्ग रहित क्रम धातु से आत्मनेपद विकल्प से होता है ।

६०८—अपलाप अर्थ में ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है ।

९०९ अकर्मकाच्च १ । ३ । ४५ ॥

सर्पिषो जानीते = सर्पिषोपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः ।

९१० समवप्रविभ्यः स्थः[1] १ । ३ । २२ ॥

संतिष्ठते[2] । अवतिष्ठते । प्रतिष्ठते[3] । वितिष्ठते । (आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्) शब्दं नित्यमातिष्ठते[4] ।

९११ प्रकाशन-स्थेयाख्ययोश्च[5] १ । ३ । २३ ॥

गोपी कृष्णाय तिष्ठते = आशयं प्रकाशयतीत्यर्थः । 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः'=कर्णादीन्निर्णेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थः ।

९१२ उदोऽनूर्ध्वकर्मणि १ । ३ । २४ ॥

मुक्तावुत्तिष्ठते[6] । अनूर्ध्वेति किम् ? पीठादुत्तिष्ठति ।

९१३ उपान्मन्त्रकरणे १ । ३ । २५ ॥

आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते । मन्त्रकरणे किम् ? भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन । (उपाद्देवपूजा-संगतिकरण-मित्रकरण-पथिष्विति वाच्यम्) । आदित्यमुपति-

१—स्थः=तिष्ठतेः, सम्-अव-प्र-वि-इत्येतदुपसर्गपूर्वकादात्मनेपदमित्यर्थः । २—सन्तिष्ठते = समाप्तो भवतीत्यर्थः । लिडादौ-सन्तस्थे । संस्थाता । संस्थास्यते । सन्तिष्ठताम् । समतिष्ठत । सन्तिष्ठेत । संस्थासीष्ट । समस्थित (स्थाध्वोरिच्च ह्रस्वादङ्गादिति सिचो लुक्) समस्थास्यत । इति रूपाणि । ३—प्रतिष्ठते = गच्छतीत्यर्थः । ४—नित्यत्वेन प्रतिजानीते इत्यर्थः । ५—प्रकाशनम् = स्वाभिप्रायाविष्करणम् । स्थेयाख्या = विवादनिर्णेतुरभिधानम् । प्रकाशनाख्यायां स्थेयाख्यायाञ्च वर्त्तमानात्स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । ६—गुरूपगमनादिना यतते इत्यर्थः ।

९०९—अकर्मक ज्ञा धातु से भी आत्मनेपद होता है ।

९१०—सम्, अव, प्र, वि, पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है । (आङ् पूर्व रहते प्रतिज्ञा अर्थ में भी स्था से आत्मनेपद होता है)

९११—स्वाभिप्राय प्रकाशन और आख्या=विवाद निर्णेता के आख्यान रूप अर्थ में स्था धातु से आत्मनेपद होता है ।

९१२—उत् उपसर्ग पूर्व रहते स्था धातु से ऊर्ध्व कर्म (उठना) से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है ।

९१३—उप पूर्व रहते मन्त्रकरण अर्थ में स्था धातु से आत्मनेपद होता है । (उप पूर्व रहते धातु से देवपूजा—संगतिकरण—मित्रकरण—और मार्ग

ष्ठते । गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते । रथिकानुपतिष्ठते=मित्रीकरोतीत्यर्थः । पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते=प्राप्नोतीत्यर्थः । (वा लिप्सायाम्) । भिक्षुकः प्रभुमुपतिष्ठति, उपतिष्ठते वा ।

६१४ उद्विभ्यां तपः १ । ३ । २७ ॥

अकर्मकादित्येव । उत्तपते, वितपते=दीप्यते इत्यर्थः । स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम् । उत्तपते वितपते पाणिम् । नेह—सुवर्णमुत्तपति ।

६१५ आङो यमहनः १ । ३ । २८ ॥

आयच्छते । आहते । अकर्मकात्स्वाङ्गकर्मकादित्येव । नेह—परस्य शिर आहन्ति।

६१६ आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् २ । ४ । ४४ ॥

हनो वधादेशो वा लुङि । आवधिष्ट, आवधिषाताम्, आवधिषत ।

६१७ हनः सिच् १ । २ । १४ ॥

कित् । अनुनासिकलोपः । आहत, आहसाताम्, आहसत ।

६१८ यमो गन्धने १ । २ । १५ ॥

सिच् कित् । गन्धनं=सूचनं-परदोषाविष्करणम् । उदायत । गन्धने किम् ? उदायंस्त पादम्=आकृष्टवानित्यर्थः ।

१—स्तुत्यादिभिः पूजयतीत्यर्थः । २—उपश्लिष्यतीत्यर्थः । ३—चकारेणाऽकर्मकस्यापि सङ्ग्रहः । ४—आङ्पूर्वकाद् यम्धातोर्हन्तेश्चात्मनेपदमित्यर्थः । ५—अनुदात्तोपदेशवनतीत्यादिना । ६—उदाङ्पूर्वकाद् यम आत्मनेपदे लुङि गन्धनार्थे सिचः कित्त्वेऽनुनासिकलोपे ह्रस्वादङ्गादिति सिचो लोपे 'उदायत' इति रूपम् । गन्धनभिन्नेऽर्थे तु कित्त्वाभावेनानुनासिकलोपाभावे ह्रस्वात्परत्वाभावान्न सिचो लुक् ।

अर्थ में आत्मनेपद होता है)

(उपसे परे 'स्था' को आत्मनेपद होता है लिप्सा अर्थ में विकल्प से)

६१४—उत् और विपूर्व रहते अकर्मक तप धातु से आत्मनेपद होता है ।

६१५—आङ् पूर्वक यम् और हन् धातु से आत्मनेपद होता है । (अकर्मक और स्वाङ्ग कर्मक से ही होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

६१६—आत्मनेपद में हन् को वध आदेश विकल्प से होता है लुङ् में ।

६१७—हन् से परे सिच् कित् होता है ।

६१८—गन्धन=परदोषाविष्करण अर्थ में यम् से परे सिच् कित् होता है ।

९१९ समो गम्यृच्छिभ्याम् १ । ३ । २९ ॥

अकर्मकाभ्यामित्येव । संगच्छते ।

९२० वा गमः १ । २ । १३ ॥

गमः परौ झलादी लिङ्सिचौ वा कितौ स्तः।[2] संगसीष्ट, संगंसीष्ट । समगत, समगंस्त । समृच्छते । अकर्मकाभ्यां किम् ? ग्रामं संगच्छति । (विदिप्रच्छि-स्वरतीनामुपसंख्यानम्) । वेत्तेरेव ग्रहणम् । संविद्ये । संविदाते ।

९२१ वेत्तेर्विभाषा ७ । १ । ७ ॥

वेत्तेः परस्य झादेशस्यातो रुडागमो वा । संविद्रते, संविदते । संपृच्छते । संस्वरते । अथास्मिन्नकर्मकाधिकारे हनिगम्यादीनां कथमकर्मकतेति चेत्, शृणु ।

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥ १ ॥

१—सङ्गतो भवतीत्यर्थः । २—तेन सङ्गसीष्टेत्यत्र विकल्पेनानुनासिकलोपः । ३—'वा गमः' इति सिचः कित्वेनानुनासिकलोपे ह्रस्वादङ्गादिति सिचो लोपः । कित्वाभावे-समगंस्त । ४—परस्मैपदसाहचर्य्यात् । ५—आङो यमहन इत्यादौ अकर्मकादित्यनुवर्त्तते, तत्रायं प्रश्नः-प्रायः सकर्मतया प्रयुज्यमानानां हनिगम्यादीनां कथमकर्मतेति । तत्रोत्तरमुच्यते धातोरर्थान्तरे इत्यादि, धातोरर्थान्तरे = धातुपाठपठितादर्थादन्यत्रार्थे वृत्तेः = वर्तनात् क्रियाऽकर्मिका भवति, यथा-प्रापणार्थस्य वह्-धातोः 'भारं वहती'त्यादौ सकर्मकत्वेऽपि स्यन्दनरूपार्थान्तरप्रयोगे 'नदी वहतीत्यादौ' अकर्मकता। तथा धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् क्रियाऽकर्मिका भवति, अर्थात् यस्य धातोः कर्म धात्वर्थान्तरगतं स्यात्तस्याप्यकर्मकत्वमिति यथा-जीवति = प्राणान् धारयति, नृत्यति= गात्रं विक्षिपति । एवं कर्मणः प्रसिद्धेः क्रिया अकर्मिका भवति, यथा 'मेघो वर्षति' अत्र वर्षकर्मणो जलस्य प्रसिद्धत्वम् । तथा कर्मणोऽविवक्षातोऽपि क्रियाऽकर्मिका भवति यथा-'हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः' (हितात् पुरुषाद् यो न संशृणुते (स्वहितं) स किंप्रभुः=कुत्सितः प्रभुरित्यर्थः) । अत्र स्वहितस्य वस्तुतः कर्मत्वेऽपि तस्याविवक्षयाऽकर्मकत्वमिति भावः । एवञ्चास्मिन्नकर्मकाधिकारे सतोऽपि कर्मणोऽविवक्षयाऽकर्मकत्वं सिद्धमिति बोध्यम् ।

९१९—सम् पूर्वक अकर्मक गम् और ऋच्छ धातु से आत्मनेपद होता है ।

९२०—गम् से परे झलादि लिङ् और सिच् कित् होते हैं विकल्प से । (विद् ज्ञाने प्रच्छ और स्वरति इन धातुओं से सम् पूर्व रहते आत्मनेपद होता है)।

९२१—विद् से परे झादेश अत् को रुट् आगम होता है विकल्प से । यहाँ हन् गम् आदि धातुएँ अकर्मक कैसे होती हैं सो सुनिये धातोरर्थान्तरे इति—

वहति भारम् । नदी वहति = स्यन्दत इत्यर्थः । जीवति । नृत्यति । प्रसिद्धे-र्यथा—मेघो वर्षति । कर्मणोऽविवक्षातो यथा—'हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः' ।

६२२ संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरण-ज्ञान-भृति-विगणन-व्ययेषु नियः १ । ३ । ३६ ॥

शास्त्रे नयते । दण्डमुन्नयते=उत्क्षिपतीत्यर्थः । माणवकमुपनयते । तत्त्वं नयते । कर्मकरानुपनयते । करं विनयते=राज्ञे देयं भागं परिशोधयतीत्यर्थः । शतं विनयते= धर्मार्थं विनियुङ्क्ते इत्यर्थः । (उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्) कन्या-निरस्यति, निरस्यते । समूहति, समूहते ।

६२३ उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः ७ । ४ । २३ ॥

यादौ किति । ब्रह्म समुह्यात् । अग्निं समुह्य ।

६२४ निसमुपविभ्यो ह्वः १ । ३ । ३० ॥

निह्वयते ।

१—उत्सञ्जनम्=उत्क्षेपणम् । २—शास्त्रस्थं सिद्धान्तं शिष्येभ्यः प्रापयती-त्यर्थस्तेन शिष्यसम्माननं फलितम् । ३—विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेनोपनेतर्याचार्यत्वं क्रियते । ४—निश्चिनोतीत्यर्थः । ५—भृतिदानेन स्वसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । ६—विगणनोदाहरणमिदम् । विगणनम्=ऋणादेः परिशोधनम् ।

---

(१) अर्थान्तर में चले जाने से भी धातु अकर्मक हो जाती है, जैसे—नदी वहति ।

(२) कर्म यदि धात्वर्थ के अन्तर्गत हो जाय तब भी धातु अकर्मक हो जाती है, जैसे—जीवति, नृत्यति ।

(३) तथा कर्म की प्रसिद्धि से भी धातु अकर्मक हो जाती है, जैसे—मेघो वर्षति ।

(४) और कर्म की अविवक्षा से भी धातु अकर्मक हो जाती है, जैसे—"हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः"

६२२—संमानन उत्सञ्जन आचार्यकरण ज्ञान भृति विगणन और व्यय अर्थ में 'नि' धातु से आत्मनेपद ही होता है । (उपसर्ग पूर्वक अस्यति और ऊह धातु से आत्मनेपद विकल्प से होता है ऐसा कहना चाहिये)

६२३—उपसर्गपूर्वक ऊह धातु को ह्रस्व होता है यादि कित् परे रहते ।

६२४—नि सम् उप वि इनके पूर्व रहने पर ह्वेञ् से आत्मनेपद ही होता है ।

९२५ स्पर्धायामाङः १ । ३ । ३१ ॥

कृष्णश्चाणूरमाह्वयते । स्पर्धायां किम् ? पुत्रमाह्वयति ।

९२६ उदश्चरः सकर्मकात् १ । ३ । ५३ ॥

धर्ममुच्चरते=उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः ।

९२७ समस्तृतीयायुक्तात् [1] १ । ३ । ५४ ॥

रथेन संचरते ।

९२८ दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १ । ३ । ५५ ॥

समो दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं [2] स्यात्तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या [3] संयच्छते [4] कामी ।

९२९ उपाद्यमः स्वकरणे १ । ३ । ५६ ॥

स्वकरणं=स्वीकारः । भार्यामुपयच्छते ।

९३० विभाषोपयमने १ । २ । १६ ॥

यमः सिच् किद्वा विवाहेऽर्थे । राम सीतामुपायत, उपायंस्त वा=उदवोढेत्यर्थः[5]।

९३१ ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशां सनः १ । ३ । ५७ ॥

सन्नन्तानामेषां प्राग्वत् [6] । धर्मं जिज्ञासते । शुश्रूषते सुस्मूर्षते । दिदृक्षते ।

१—संपूर्वकात् चरधातोः तृतीयान्तेन योगे आत्मनेपदमित्यर्थः । २—आत्मनेपदम् । ३—'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' दास्यै-इत्यर्थः । ४—पाघ्राध्मेति दाणो 'यच्छ' आदेशः । ५—सिचः कित्त्वादनुनासिकलोपे ह्रस्वादङ्गादिति सिचो लोपः । कित्त्वाभावपक्षे-'उपायंस्त' । ६—आत्मनेपदमित्यर्थः । 'पूर्ववत्सनः' इत्यस्यापवादोऽयम् ।

९२५—आङ् पूर्व रहते स्पर्धा अर्थ में ह्वेञ् से आत्मनेपद ही होता है ।

९२६—उत् पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है ।

९२७—तृतीयान्त से युक्त सम्-पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है ।

९२८—तृतीयान्त से युक्त सम् पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है यदि वह तृतीया चतुर्थी के अर्थ में हुई हो ।

९२९—उपपूर्वक 'यम्' धातु से स्वीकार अर्थ में आत्मनेपद होता है ।

९३०—विवाह अर्थ में यम् से परे सिच् विकल्प से कित् होता है ।

९३१—सन्नन्त ज्ञा० श्रु० स्मृ० दृश् से आत्मनेपद होता है ।

९३२ नाऽनोर्ज्ञः १।३।५८॥

पुत्रमनुजिज्ञासति।

९३३ प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु १।३।६४॥

प्रयुङ्क्ते। उपयुङ्क्ते। (स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम्)। उद्युङ्क्ते। नियुङ्क्ते। अयज्ञपात्रेषु किम्? द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति।

९३४ समः क्ष्णुवः १।३।६५॥

संक्ष्णुते शस्त्रम्।

९३५ गन्धनावक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः १।३।३२॥

गन्धनं=हिंसा। उत्कुरुते=सूचयतीत्यर्थः। अवक्षेपणं=भर्त्सनम्। श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते=भर्त्सयत इत्यर्थः। हरिमुपकुरुते=सेवते। परदारान्प्रकुरुते=तेषु सहसा प्रवर्तते। एधोदकस्योपस्कुरुते=गुणमाधत्ते। कथाः प्रकुरुते=प्रकथयतीत्यर्थः। शतं प्रकुरुते=धर्मार्थं विनियुङ्क्ते। एषु किम्—कटं करोति।

॥ इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ॥

१—अनुपूर्वकाज् ज्ञाधातो सन्नन्तान्नात्मनेपदमित्यर्थः। २—प्रोपाभ्यां परस्य युजेरयज्ञपात्रविषयादात्मनेपदमित्यर्थः। ३—स्वरौ=अचौ, आद्यन्तौ यस्य स स्वराद्यन्तः। एवम्भूतोपसर्गात्परस्य एव युजेरात्मनेपदमित्यर्थः, स्वरादेः स्वरान्ताद् वा उपसर्गादिति यावत्। ४—एधोदकस्योपस्कुरुते=एधश्च दकं चेति समाहारद्वन्द्वः, एधः=इन्धनम्, दकं=जलम्, एधोदकम् उपस्कुरुते=('उपात् प्रतियत्ने' इति सुट् 'कृञः प्रतियत्ने' इति षष्ठी) गुणमाधत्ते इत्यर्थः। एधस्य=काष्ठस्य शोषणादि गुणाधानम्। दकस्य=जलस्य तु गन्धद्रव्यसंपर्कजनितगन्धाधानम्। इत्यात्मनेपदप्रक्रिया॥

९३२—अनु पूर्व हो तो सन्नन्त ज्ञा धातु से आत्मनेपद नहीं होता।

९३३—प्र उप पूर्वक युज् धातु से यज्ञपात्र भिन्न विषय में आत्मनेपद होता है। (स्वर है आदि अथवा अन्त में जिसके ऐसा उपसर्ग पूर्व रहते आत्मनेपद होता है यह कहना चाहिये)।

९३४—सम् पूर्वक क्ष्णु धातु से आत्मनेपद होता है।

९३५—गन्धन=हिंसा, अवक्षेपण=भर्त्सन, सेवन, साहस, प्रतियत्न=गुणाधान, प्रकथन, और उपयोग=विनियोग अर्थ में कृञ् धातु से आत्मनेपद ही होता है।

अथ परस्मैपदप्रक्रिया ॥ ७ ॥

'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'[1]। श्वि—श्वयति ।

९३६ विभाषा श्वेः ६ । १ । ३० ॥

संप्रसारणं वा लिटि यङि च । शुशाव । शुशुवतुः । (श्वयतेर्लिट्यभ्यासस्य लोप-प्रतिषेधः)[2] । शिश्वाय । शिश्वियतुः । शिश्वियुः । शूयात् । जृस्तम्भ्वित्यङ् वा ।

९३७ श्वयतेरः ७ । ४ । १८ ॥

अङि । अश्वत् । अश्वन् । विभाषेति चङ् । अशिश्वियत् । अश्वयीत् ।

९३८ अनुपराभ्यां कृञः १ । ३ । ७९ ॥

कर्तृगेऽपि फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति । पराकरोति ।

९३९ अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः[3] १ । ३ । ८० ॥

क्षिप प्रेरणे । स्वरितेत् । अभिक्षिपति ।

९४० प्राद्वहः १ । ३ । ८१ ।

प्रवहति ।

९४१ परेर्मृषः १ । ३ । ८२ ॥

परिमृष्यति ।

१—उक्तादन्यः शेषः । आत्मनेपदनिमित्तमुक्तं तद्भिन्नो विषयः शेषः, यथैवोक्तमेतत्सूत्रवृत्तौ आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदमिति । २—एलि विभाषा श्वेरिति सूत्रकृतसम्प्रसारणाभावपक्षे 'श्वि' इत्यस्य द्वित्वे 'लिट्यभ्यासस्ये' त्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे 'शिश्वाय' इति रूपं स्यात्तत्राह—श्वयतेर्लिटीत्यादि । लिट्यभ्याससम्प्रसारणस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः, तथा च श्वीत्यस्याऽभ्याससम्प्रसारणाऽभावादभ्यास इकार एव श्रूयते 'शिश्वाय' इति । ३—क्षिपधातुर्हि स्वरितेत्त्वादुभयपदी, ततश्च कर्तृगामिनि क्रियाफले आत्मनेपदे प्राप्ते तत्रापि परस्मैपदविधानार्थमिदं सूत्रम् । अभिप्रत्यतिभ्य उपसर्गेभ्यः परस्य क्षिपः परस्मैपदमेवेति सूत्रार्थः ।

९३६—श्वि धातु को लिट् और यङ् परे रहते सम्प्रसारण विकल्प से होता है । (लिट् परे रहते श्वि को अभ्यास लक्षण संप्रसारण नहीं होता)

९३७—श्वि को अकार अन्तादेश होता है अङ् परे रहते ।

९३८—अनु और परा उपसर्ग पूर्व रहते कृञ् धातु से कर्तृगामी क्रियाफल में और गन्धादि वाच्य रहते भी परस्मैपद ही होता है ।

९३९—अभि, प्रति और अति पूर्व रहते क्षिप धातु से परस्मैपद ही होता है ।

९४०—प्र पूर्व वह् धातु से परस्मैपद ही होता है ।

९४१—परिपूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद होता है ।

९४२ व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३॥

विरमति। आरमति।

९४३ उपाच्च १।३।८४॥

यज्ञदत्तमुपरमति, उपरमयतीत्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्।

९४४ विभाषाऽकर्मकात् १।३।८५॥

उपाद्रमेः परस्मैपदं वा स्यात्। उपरमति, उपरमते। निवर्तत इत्यर्थः।

९४५ बुध-युध-नश-जनेङ्-प्रु-द्रु-स्रुभ्यो णेः १।३।८६॥

एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात्। णिचश्चेत्यस्यापवादः। बोधयति पद्मम्। योधयति काष्ठानि। नाशयति दुःखम्। जनयति सुखम्। प्रावयति, प्रापयतीत्यर्थः। द्रावयति। स्रावयति।

९४६ क्रीङ्जीनां णौ ६।१।४८॥

आत्वं स्यात्। अध्यापयति।

९४७ णौ च संश्चङोः २।४।५१॥

सन्परे चङ्परे च णौ इङो गाङ् वा। अध्यजीगपत्। अध्यापिपत्। क्रापयति। जापयति।

९४८ निगरणचलनार्थेभ्यश्च १।३।८७॥

१—विरमति = विरतो भवतीत्यर्थः। लुङि—व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, इत्यादि। 'यमरमेति' इट्सकौ। २—अण्यन्तत्वेऽपि धातूनामनेकार्थत्वादत्र णिजर्थोऽन्तर्भूतो बोध्यः, णिजर्थश्च=प्रेरणा। ३—'इक् अध्ययने' इत्यस्मात् णिचि क्रीङ्जीनामित्यात्वे पुकि च सत्यधिपूर्वत्वे—अध्यापयति। ४—निगरणं=भक्षणम्, चलनं = कम्पनम्,—इत्येतदर्थकेभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदमित्यर्थः। णिचश्चेत्यस्यापवादः।

९४२—वि आङ् और परिपूर्व रहते रम् धातु से परस्मैपद होता है।

९४३—उप पूर्व रहते भी रम् से परस्मैपद होता है।

९४४—उपपूर्वक अकर्म रम् धातु से परस्मैपद होता है विकल्प करके।

९४५—बुध् युध् आदि ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद ही होता है।

९४६—क्री इङ् और जि धातु को आकार अन्तादेश होता है णि परे रहते।

९४७—सन् पर अथवा चङ् पर णि परे रहते इङ् को गाङ् आदेश विकल्प से होता है।

९४८—ण्यन्त निगरणार्थक और चलनार्थक धातुओं से परस्मैपद ही होता है।

निगारयति । चलयति[1]। (अदेः प्रतिषेधः) । आदयते देवदत्तेन ।

९४९ अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्[2] १ । ३ । ८८ ॥

ण्यन्तात्परस्मैपदम् । शेते कृष्णस्तं गोपी शाययति ।

९५० न[3] पा-दम्याङ्यमाङ्यस-परिमुह-रुचि-नृति-वद-वसः १ । ३ । ८९ ॥

एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं न । पाययते । दमयते । आयामयते । आयासयते । परिमोहयते । रोचयते । नर्तयते । वादयते । वासयते । (धेट उपसंख्यानम्) । धापयते । अकर्त्रभिप्राये शेषादिति परस्मैपदं स्यादेव[4] । वत्सान्पाययति पयः ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया । समाप्ता पदव्यवस्था ॥

अथ भावकर्मप्रक्रिया ८

९५१ भावकर्मणोः[5] १ । ३ । १३ ॥

लस्य तङानौ स्तः ।

१—निगरणार्थत्वेन प्राप्तं निषिद्ध्यते । अदेर्ण्यन्तात्परस्मैपदस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । आदयते देवदत्तेन, 'आदिखाद्योर्न' इति कर्मत्वनिषेधात्तृतीया ।
२—अणौ यो धातुरकर्मकश्चित्तवत्कर्तृकश्च तस्मात् ण्यन्तात्परस्मैपदमित्यर्थः ।
३—पिबतिर्निगरणार्थ, इतरे च चित्तवत्कर्तृकाः, नृतिश्चलनार्थोऽपि, तेनैतेषु सूत्रद्वयेन प्राप्तस्य परस्मैपदस्यैतेन निषेधः । ४—'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इति न्यायेन पूर्वसूत्रद्वयप्राप्तस्यैव परस्मैपदस्यायं निषेधो नतु शेषात्कर्तरीति प्राप्तस्यापीति भावः । तेन 'दमयन्ती कमनीयतामदम्' इत्यादि सिद्धम् । इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥ ५—भावे कर्मणि यो लकारस्तस्यात्मनेपदमित्यर्थः । 'लः कर्मणी'ति सूत्रे सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि कर्त्तरि च, अकर्मकेभ्यस्तु भावे कर्त्तरि च लकारा विहितास्तेषु कर्त्तरि लकारा निरूपिताः (दशगण्याम्) अथेदानीं भावकर्मणोर्लकारा निरूप्यन्ते ।

९४९—अण्यन्त अवस्था में जो धातु अकर्मक रही हो, और जो धातु चित्तवत् कर्तृक हो उससे ण्यन्तावस्था में परस्मैपद ही होता है ।

९५०—पा दम् आदि धातुओं से ण्यन्तावस्था में परगामी क्रियाफल होने पर भी परस्मैपद नहीं होता ।

(ण्यन्त धेट् से भी परस्मैपद नहीं होता)

९५१—भाव और कर्म में धातु के लकार के स्थान में आत्मनेपद होता है ।

९५२ सार्वधातुके यक् ३ । १ । ६७ ॥

भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके धातोर्यक् स्यात् । भावः क्रिया[1] । सा च भावार्थ-लकारेणानूद्यते । युष्मदस्मद्भ्यां[2] सामानाधिकरण्याभावात्प्रथमः पुरुषः । तिङ्-वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन[3] द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादिकम्, किन्तु एकवचन-मेवोत्सर्गतः[4], त्वया मया अन्यैश्च भूयते । बभूवे ।

९५३ स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झन-ग्रह-दृशां वा चिण्वदिट् च ६ । ४ । ६२ ॥

उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीवाङ्गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु भाव-कर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च । चिण्वद्भावपक्षे-अयमिट्[5], चिण्वद्भावाद् वृद्धिः । भाविता । भविता । भाविष्यते, भविष्यते । भूयताम् । अभूयत । भूयेत । भाविषीष्ट, भविषीष्ट ।

१—भावशब्देन प्रकृते क्रिया गृह्यते इत्यर्थः । क्रिया च धात्वर्थ-मात्रम् । यद्यपि धातुत्वेन सकलधातुवाच्यैव सा (क्रिया), भावार्थकलकारेण तु तस्या अनुवाद एव । २—युष्मत्समानाधिकरणे मध्यमः, अस्मत्समानाधिकरणे चोत्तमः पुरुषो विहितः, भावे लकारे च 'आस्यते त्वया' इत्यादौ तिङ्वाच्येन भावेन युष्मदस्मदोः सामानाधिकरण्याभावात् न मध्यमो न चोत्तमः, किन्तु परिशेषा-त्प्रथमः पुरुषः । ३—अत्र तिङ्वाच्यो भावः = क्रिया, तस्य च लिङ्गसङ्ख्याद्यन्वयाऽ-योग्यत्वाद् अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वादिसङ्ख्याद्यप्रतीतेर्न द्विवचनं बहुवचनं वा किन्त्वेक-वचनमेव । क्रियाया लिङ्गसङ्ख्यान्वयाऽयोग्यत्वे च हेतुः शब्दशक्तिस्वाभाव्यमेव । ४—उत्सर्गतः = स्वभावतः, अर्थादेकवचनस्य सङ्ख्यानपेक्षत्वात् । द्विवचनबहु-वचनपरिशिष्टविषय एकवचनस्य प्राप्तिरिति भाष्यसिद्धान्तः । ५—'सन्नियोगशिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिरिति' न्यायेन चिण्वद्भावसन्नियोगशिष्टोऽयमिट् चिण्वद्भावाभावपक्षे न भवति । सेड्धातूनां वलादिलक्षणस्त्विट् स्यादेवेति भावः ।

९५२—धातु से यक् प्रत्यय होता है भावकर्मवाची सार्वधातुक परे रहते ।

९५३—उपदेश में जो अच्, तदन्त जो धातु और हन्-ग्रह-दृश-धातु, इनको चिण्वत् अङ्गकार्य विकल्प से होता है; स्य सिच् सीयुट् और तास् परे रहते, भाव और कर्म की गम्यमानता में; साथ ही स्यादियों को इडागम भी होता है।

६५४ चिण्भावकर्मणोः ३ । १ । ६६ ॥

च्लेश्चिण् स्याद्भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे । अभावि । अभाविष्यत, अभविष्यत । अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्सकर्मकः—अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च । अनुभूयेते । अनुभूयन्ते । त्वमनुभूयसे । अहमनुभूये । अन्वभावि । अन्वभाविषाताम् । अन्वभविषाताम् । णिलोपः, भाव्यते । भावयाञ्चक्रे । भावयाम्बभूवे । भावयामासे । चिण्वदिट् । आभीयत्वेनासिद्धत्वाण्णिलोपः । भाविष्यते, भावयिष्यते । भाव्यताम् । अभाव्यत । भाव्येत । भावयिषीष्ट, भाविषीष्ट । अभावि । अभाविषाताम्, अभावयिषाताम् । बुभूष्यते । बुभूषाञ्चक्रे । बुभूषिता । बुभूषिष्यते । बोभूयते । अकृत्सार्वधातुकेति दीर्घः । स्तूयते विष्णुः । स्ताविता, स्तोता । स्ताविष्यते, स्तोष्यते । अस्तावि । अस्ताविषाताम्, अस्तोषाताम् । गुणोऽर्तीति गुणः—अर्यते । स्मर्यते । अन्वङ्क्तयुतामिति गुणः । आरे । सस्मरे । उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट् । आरिता । अर्ता । स्मारिता । स्मर्ता । नलोपः । स्रस्यते । सस्रंसे । इदितस्तु नन्द्यन्ते । इज्यते ।

१—यद्यप्ययं भूधातुरकर्मकस्तथाप्युपसर्गवशादर्थान्तरवृत्तेर्भवति सकर्मकः, तेन कर्मणि लकारः । अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च, कर्मणोऽनुक्तत्वाभावान्न द्वितीया, किन्तु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा, कर्तुश्चाऽनुक्तत्वात्तृतीया । २—ण्यन्ताद् भूधातोः कर्मणि लकारे यकि 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'भाव्यते' इत्यादि । ३—भाविष्यते-इत्यत्र चिण्वदिट आभीयत्वेनासिद्धत्वाद्भवति णिलोपः । ४—सन्नन्ताद् भूधातोः 'बुभूष' इत्यस्माद्भावे लकारे यक्यतो लोपे बुभूष्यते इत्यादि । ५—यङन्ताद् भूधातोर्भावे लकारे यकि 'बोभूय्यते' अतो लोपः पूर्ववत् । यङ्लुगन्तात्तु यङो लुक्येकयकारकं रूपं—'बोभूयते' इति । ६—ऋधातोः स्मृधातोश्च कर्मणि लकारे यकि—उभयत्र 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणे 'अर्य्यते' 'स्मर्य्यते' । ७—लिटि द्वित्वे परस्य गुणेऽभ्यासस्याऽत 'अत आदेः' इति दीर्घे सवर्णदीर्घः । ८—परत्वान्नित्यत्वाच्च गुणे रपरे कृतेऽजन्तत्वाभावेऽपि-उपदेशे योऽजन्त इत्युक्तेर्भवति चिण्वदिट् इति भावः । ९—स्रंसुधातोर्भावे लकारे तकि 'अनिदितां...' इति नलोपे रूपम् । १०—टुनदि समृद्धावित्यस्माद्भावे लकारे रूपमिदम्, इदित्वान्नलोपो न । ११—यज् धातोर्भावेऽर्थविशेषे कर्मणि वा लकारे यकि 'वचि स्वपी'ति सम्प्रसारणे रूपम् ।

६५४—च्लि के स्थान पर चिण् होता है भावकर्मवाची त शब्द परे रहते ।

९५५ तनोतेर्यकि ६ । ४ । ४४ ॥

आदन्तादेशो वा स्यात् । तायते । तन्यते ।

९५६ तपोऽनुतापे च ३ । १ । ६५ ॥

च्लेश्चिणन कर्मकर्तरि अनुतापे च । अन्वतप्त पापेन । घुमास्थेतीत्वम् । दीयते । धीयते । ददे । दधे ।

९५७ आतो युक् चिण्कृतोः ७ । ३ । ३३ ॥

आदन्तानां युगागमश्चिणि ञ्णिति कृति च । दायिता । दाता । दायिषीष्ट, दासीष्ट । अदायि । अदायिषाताम् । शम्यते मोहो मुकुन्देन ।

९५८ चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् ६ । ४ । ९३ ॥

चिण्परे णमुल्परे च णौ मितामुपधाया दीर्घो वा । शामिता, शमिता, शमयिता । शामिष्यते, शमिष्यते, शमयिष्यते । ण्यन्तत्वाभावे शम्यते मुनिना ।

९५९ नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ७ । ३ । ३४ ॥

उपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च । अशमि । अदमि । उदात्तो-

---

१—पापं कर्तृ, तेनाऽभ्याहत इत्यर्थः । कर्मणि लुङ् । यद्वा पापेन पुंसा (कर्त्रा) अशोचीत्यर्थः । इह दुःखानुभवः शोकः पश्चात्ताप इत्यर्थः । एवञ्चेह धात्वर्थेनो-पसङ्ग्रहादकर्मकत्वेन भावे लुङ् । २—चिण्वद्भावादिटि युक् । ३—शम्धातोर्हेतु-मण्णौ—उपधावृद्धौ—अमन्तत्वेन मित्वाद् ह्रस्वे शमीत्यस्मात्कर्मणि लकारो यक् णिलोपः । ४—लुटि तासि शमि = इ ता, इति स्थितेऽमन्तत्वेन मित्वान्मित्त्व-मुपधाह्रस्वे प्राप्ते दीर्घोऽनेन विकल्प्यते । ५—चिण्वदिटि—आभीयत्वेन तस्याऽसिद्ध-त्वाद् णिलोपे दीर्घे विकल्पे च शामिता, शमिता, चिण्वत्त्वाभावे वलादिलक्षणे-इटि णिलोपाभावे रूपं 'शमयिता' । ६—ण्यन्तत्वाभावेन शम्धातोरकर्मकत्वाद्भावे लकारः ।

९५५—तन् धातु को आकार अन्तादेश होता है विकल्प से यक् परे रहते ।

९५६—तप् धातु की च्लि को चिण् आदेश नहीं होता कर्मकर्ता में, अनुताप अर्थ की गम्यमानता में ।

९५७—अदन्त धातुओं को युक् आगम होता है चिङ्, अथवा ञित्, णित् कृत् परे रहते ।

९५८—चिण्पर और णमुल्पर णि परे रहते मित् धातुओं की उपधा को दीर्घ होता है विकल्प से ।

९५९—आङ् पूर्वक चम् धातु को छोड़कर उदात्तोपदेश मान्त धातु की

पदेशस्येति किम्? अगामि। मान्तस्येति किम्? अवादि। अनाचमेरिति किम्? आचामि। (अनाचमि-कमि-वमीनामिति वक्तव्यम्)। अकामि। अवामि।

६६० भञ्जेश्च चिणि ६।४।३३॥

नलोपो वा। अभाजि, अभञ्जि। लभ्यते।

६६१ विभाषा चिण्णमुलोः ७।१।६९॥

लभेर्नुम् वा। अलम्भि। अलाभि॥ इति भावकर्मप्रक्रिया॥

अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥९॥

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामपि अकर्मकत्वात्कर्तरि भावे च लकारः।

६६२ कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः ३।१।८७॥

कार्यातिदेशोऽयम्। कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्। तेन यगात्मनेपदं चिण् चिण्वदिट् च स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन। (भूषाकर्मकिरादीनां सन्नन्तानां च यक्-

---

१—चिणि 'आयादय आर्धधातुके वा' इति णिङभावे रूपमिदम्। २—नलोपपक्षे-उपधावृद्धिः। इति भावकर्मप्रक्रिया॥

१—यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते तदा कारकान्तराण्यपि स्वव्यापारे स्वतन्त्रत्वात्कर्तृसञ्ज्ञां लभन्ते इति सिद्धान्ते यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं स्यात् तदा कर्माभावात्सकर्मका अपि धातवोऽकर्मका एव भवन्ति, एतेभ्यः कर्तरि भावे च लकाराः। ४—शास्त्रातिदेशः कार्यातिदेशश्चेति पक्षद्वयम्। कर्मणि यानि शास्त्राणि प्रवर्तन्ते तानि तुल्यक्रिये कर्तर्यपि प्रवर्तेरन्निति शास्त्रातिदेशपक्षेऽर्थः। कार्यातिदेशपक्षे च कर्मणि यानि कार्याणि भवन्ति तद्वचानि कर्तर्यपि स्युरित्यर्थः। द्वयोः पक्षयोः कार्यातिदेशपक्षो मुख्यः, शास्त्रस्यापि कार्यार्थत्वादतः स एवात्राऽऽश्रितः। ५—तेन=कार्यातिदेशेन कर्मणि प्रवर्तमानं यगात्मनेपदादि कर्मकर्तर्यपि प्रवर्तते।

उपधा को वृद्धि नहीं होती चिण् परे रहते और ञित् णित् कृत्प्रत्यय परे रहते।

६६०—भञ्ज धातु के न का लोप होता है विकल्प से चिण् परे रहते।

६६१—लभ् धातु को नुम् का आगम होता है विकल्प से चिण् और णमुल् परे रहते।

६६२—कर्मस्था क्रिया के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्ता कर्मवत् होता है।

चिणौ चिण्वदिट् च नेति वक्तव्यम्) । अवकुरुते[2] कन्या । अवमकृत । अवकिरते हस्ती । अवाकीष्ट । *अवाकरिष्ट, अवाकरीष्ट । गिरते । अगीष्ट । अगरिष्ट, अगरीष्ट । आद्रियते । आहृत । किरादिस्तुदाद्यन्तर्गणः । चिकीर्षते[3] कटः, अचिकीर्षिष्ट ।

९६३ तपस्तपःकर्मकस्यैव[4] ३ । १ । ८८ ॥

कर्ता कर्मवत् । तप्यते तपस्तापसः । अर्जयतीत्यर्थः । अतप्त । तपःकर्मकस्यैवेति किम् ? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । (सकर्मकाणां[5] प्रतिषेधो वक्तव्यः) । अजां ग्रामं नयति । (दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोरिति वाच्यम्) ।

९६४ न दुह-स्नु-नमां यक्चिणौ ३ । १ । ८९ ॥

एषां कर्मकर्तरि यक्चिणौ न शप् । तस्य लुक् । गौः पयो[6] दुग्धे ।

९६५ अचः कर्मकर्तरि ३ । १ । ६२ ॥

अजन्ताच्च्लेश्चिण्वा कर्मकर्तरि तशब्दे परे । अकारि । अकृत ।

९६६ दुहश्च ३ । १ । ६३ ॥

१—कर्मवद्भावात्प्राप्तं यक्चिणादि वार्तिकेनानेन निषिध्यते । २—भूषावाचित्वान्नात्र यक् आत्मनेपदमात्रमेव । ३—सन्नन्तत्वाद् यको निषेध आत्मनेपदन्तु, स्यादेव-(चिकीर्षति कटम्, कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां) चिकीर्षते कटः = चिकीर्षाविषयो भवतीत्यर्थः । ४—तपःकर्मकस्यैव तपधातोः कर्ता कर्मवदिति नियमसूत्रार्थः, 'तप्यते तपस्तापसः' तपिरत्रार्जनार्थकः । ५—एककर्मकाणां छिदिभिदिप्रभृतीनां कर्मणः कर्तृत्वविवक्षयाऽकर्मकाणां सतां कर्तुः कर्मवत्त्वमुक्तम्, ये तु द्विकर्मका अर्थाद् एकस्य कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायामपि द्वितीयस्य कर्मणः सत्त्वात् सकर्मका धातवस्तेषां कर्मकर्तुः कर्मवत्त्वप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । तेन अजां ग्रामं नयतीत्यत्र कर्मवत्त्वाभावान्न यगात्मनेपदादि । ६—दुहेः कर्मकर्तरि यकि निषिद्धे शप्

९६३—तपः कर्मक तप् धातु का ही कर्ता कर्मवत् होता है, अन्य कर्मक तप् का कर्ता कर्मवत् नहीं होता ।

९६४—दुह्, स्नु, नम् धातुओं से यक् और चिण् नहीं होते कर्मकर्ता में ।

९६५—अजन्त धातु से परे च्लि को चिण् विकल्प से होता है त शब्द परे रहते कर्मकर्ता में ।

९६६—दुह् धातु से परे च्लि को चिण् विकल्प से होता है त शब्द परे रहते कर्मकर्ता में ।

---

*"लिङ्सिचोरात्मनेपदे" इति वेट ।

तथा। अदोहि, अदुग्ध। लुग्वेति क्सस्य लुक्पक्षेऽयम्। अदुक्षत। उदुम्बरः[2] फलं पच्यते।

९६७ कुषिरजोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च ३।१।९०॥

अनयोः कर्मकर्तरि न यक् किन्तु श्यन्परस्मैपदं च। आत्मनेपदापवादः[3] कुष्यति, कुष्यते वा पादः। रज्यति, रज्यते वा वस्त्रम्। यगविषये तु नास्य प्रवृत्तिः[4]। कोषिषीष्ट। रंक्षीष्ट। इति कर्मकर्तृप्रक्रिया॥

अथ लकारार्थप्रक्रिया १०

९६८ अभिज्ञावचने लृट् ३।२।११२॥

स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने धातोर्लृट्। लङोऽपवादः। वस निवासे। स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः[6]। एवं बुध्यसे चेतयसे इत्यादिप्रयोगेऽपि।

९६९ न यदि ३।२।११३॥

यद्योगे उक्तं न। अभिजानासि यद्वने अभुञ्ज्महि[7]।

प्रवर्त्तते, तस्य च 'अदिप्रभृतिभ्यः' इति लुक्। गौ स्वयमेव पय उत्सृजतीत्यर्थः।

१—दुहेश्च्लेश्चिण्वा कर्मकर्त्तरि तशब्दे परे। २—उदुम्बरवृक्षं फलं पचति काल इत्यत्र द्विकर्मकः पच्-धातुः, कर्मणः कर्त्तृत्वविवक्षायाम् उदुम्बरः स्वयमेव (कालविशेषमनपेक्ष्य) फलं पच्यते। अत्रोदुम्बरस्य गौणकर्मणः कर्त्तृत्वविवक्षायां फलेन प्रधानकर्मणा सकर्मकत्वात् 'सकर्मकाणां प्रतिषेधः' इति कर्मवत्त्वस्य निषेधे प्राप्ते 'दुहिपचोरि' ति पुनः कर्मवत्त्वविधानम्। तेन भवति यगादि। ३—दिवादित्वात्तस्मिन्नेव विषये श्यन् परस्मैपदञ्चेत्यर्थः ४—यकं प्रतिषिध्य तत्स्थाने श्यनो विधानसामर्थ्याद् यकोऽविषये तु नास्य=यकः प्रवृत्तिरिति भाव। इति कर्मकर्त्तृप्रक्रिया॥

५—अभिज्ञा=स्मृतिः, सा-उच्यतेऽनेनेत्यभिज्ञावचनम्, तस्मिन् अर्थात् स्मृतिबोधके पदे समीपे प्रयुज्यमाने सति। ६—हे कृष्ण! गोकुलेऽवसाम इति यत् तत्स्मरसीत्यर्थः। ७—प्राप्तस्य लृटो 'न यदी'ति प्रतिषेधादुत्सर्गो लङ् प्रवर्त्ततेऽर्थः पूर्ववदेव।

९६७—कुष् और रञ्ज् धातु से कर्मकर्ता में यक् नहीं होता किन्तु श्यन् और परस्मैपद होता है विकल्प से।

९६८—स्मृतिबोधक उपपद रहते भूत अनद्यतन अर्थ में धातु से लृट् होता है।

९६९—स्मृतिबोधक उपपद रहते यत् शब्द के योग में धातु से लृट् लकार नहीं होता।

९७० विभाषा साकाङ्क्षे ३।२।११४॥

उक्तविषये लृट् वा, लक्ष्यलक्षणभावेन साकाङ्क्षश्चेद्धात्वर्थः। स्मरसि कृष्ण! वने वत्स्यामस्तत्र, गाश्चारयिष्यामः। वासो लक्षणं चारणं लक्ष्यम्। पक्षे लङ्। 'परोक्षे लिट्'। चकार। उत्तमपुरुषे चित्तविक्षेपादिना पारोक्ष्यम्। सुप्तोऽहं किल विललाप। (अत्यन्तापह्नवे लिड् वक्तव्यः)। कलिङ्गेष्ववात्सीः? नाहं कलिङ्गान् जगाम।

९७१ प्रश्ने चासन्नकाले ३।२।११७॥

पृच्छ्यमानेऽर्थे लिङ्विषये लङ्लिटौ स्त आसन्नकाले। अगच्छत्किम्?। जगाम किम्?।

९७२ लट् स्मे ३।२।११८॥

लिटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः।

९७३ अपरोक्षे च ३।२।११९॥

भूतानद्यतने लट् स्यात् स्मयोगे। एवं स्म पिता ब्रवीति।

९७४ ननौ पृष्टप्रतिवचने ३।२।१२०॥

भूते लट्। अकार्षीः किम्? ननु करोमि भोः।

१—वासो हि गोचारणस्य लक्षणम्=ज्ञापकम्, गोचारणञ्च लक्ष्यम्=ज्ञाप्यमित्यर्थः। २—अहमर्थस्य प्रत्यक्षत्वात्परोक्षत्वाभावेन लिट उत्तमपुरुषप्रयोगः कथं स्यादित्यत आह-'उत्तमपुरुष' इति। ३—पञ्चवर्षाभ्यन्तरमासन्नकालम्, पञ्चवर्षातीतं कालं विप्रकृष्टकालमाहुरिति वृत्तिकाराः। प्रयोक्तुर्दृष्टिपथविषयत्वमासन्नकालत्वमिति मनोरमार्थः।

९७०—लक्ष्यलक्षण-भाव से धात्वर्थ साकाङ्क्ष हो तो पूर्वोक्त विषय में लृट् विकल्प से होता है।

(अत्यन्तापह्नव में लिट् लकार होता है ऐसा कहना चाहिये)।

९७१—पृच्छ्यमान अर्थ में लिट् के विषय में लङ् और लिट् होते हैं आसन्न काल में।

९७२—'स्म' के योग में धातु से लिट् विषय में लट् होता है।

९७३—अपरोक्ष अनद्यतन भूत में लट् होता है स्म का योग रहते।

९७४—ननु शब्द के योग में भूतकाल में लट् होता है, प्रश्नानन्तर उत्तर ना हो तो।

९७५ नन्वोर्विभाषा ३ । २ । १२१ ॥

अकार्षीः किम् ? न करोमि, नाकार्षम् । अहं नु करोमि, अहं न्वकार्षम् ।.

९७६ पुरि लुङ् चास्मे ३ । २ । १२२ ॥

पुरायोगे भूतानद्यतने वा लुङ् चाल्लट् न तु स्मयोगे । पक्षे यथाप्राप्तम् । वसन्तीह पुरा छात्राः । अवात्सुः । अवसन् । ऊषुर्वा । अस्मे इति किम् । यजति स्म पुरा । भविष्यतीत्यनुवर्तमाने—

९७७ यावत्पुरानिपातयोर्लट् ३ । ३ । ४ ॥

यावद्[1]भुङ्क्ते । निपातयोः किम्—यावद्दास्यते तावद्भोक्ष्यते । करणभूतया पुरा[2] यास्यति ।

९७८ विभाषा कदाकर्ह्योः ३। ३ ।५ ॥

लट् वा स्यात् । कदा कर्हि वा भुङ्क्ते । भोक्ष्यते भोक्ता वा ।

९७९ वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ३ । ३ । १३१ ॥

वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसमीपे भूते भविष्यति च वा स्युः । कदा आगतोऽसि—अयमागच्छामि, आगमं वा । कदा गमिष्यसि—एष गच्छामि, एष गमिष्यामि वा ।

९८० आशंसायां[3] भूतवच्च ३ । ३ । १३२ ॥

भविष्यत्काले भूतवद्वर्तमानवच्च प्रत्यया वा स्युराशंसायाम् । देवश्चेदवर्षीद्वर्षति

१—यावदित्यस्य निश्चितमर्थः । २—रेफान्तस्य नगरीवाचकस्य पुर्-शब्दस्य तृतीयान्तमिदं रूपम्, तद्बोधयितुमेव करणभूतयेत्याह । ३—अप्राप्तस्य प्रियस्य

९७५—प्रश्नानन्तर उत्तर देना हो तो न और नु के योग में धातु से भूतकाल में लट् विकल्प से होता है ।

९७६—पुरा शब्द के योग में अनद्यतन भूतकाल में विकल्प से लुङ् होता है चकार से लट् भी होता है, स्म के योग में नहीं होता ।

९७७—'यावत्' और 'पुरा' निपात के योग में धातु से भविष्यदर्थ में लट् होता है ।

९७८—कदा और कर्हि शब्दके योग में भविष्यदर्थ में लट् विकल्प से होता है ।

९७९—वर्तमान में होनेवाले प्रत्यय वर्तमान समीप भूत और वर्तमान समीप भविष्यदर्थ में भी विकल्प से हो जाते हैं ।

९८०—आशंसा गम्यमान रहते भविष्यत्काल में भूतवत् और वर्तमानवत् प्रत्यय होते हैं विकल्प से ।

वर्षिष्यति वा, धान्यमवाप्स्म, वपामः, वप्स्यामो वा।

९८१ क्षिप्रवचने लृट् ३।३।१३३॥

क्षिप्रपर्याये उपपदे पूर्वविषये लृट्। वृष्टिश्चेत्क्षिप्रमाशु त्वरितं वा यास्यति शीघ्रं वप्स्यामः।

९८२ आशंसावचने लिङ् ३।३।१३४॥

आशंसावाचिन्युपपदे भविष्यति लिङ् स्यात्, न भूतवत्। गुरुश्चेदुपेयादाशंसे अधीयीय।

९८३ हेतुहेतुमतोर्लिङ्[२] ३।३।१५६॥

वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात्। कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति। भविष्यत्येवेष्यते। नेह-हन्तीति पलायते।

९८४ इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ ३।३।१५७॥

इच्छामि भुञ्जीत भुङ्क्तां वा भवान्। एवं कामये प्रार्थये। (कामप्रवेदने[३] इति वक्तव्यम्) नेह-इच्छन्करोति।

९८५ लिङ् च ३।३।१५९॥

समानकर्तृकेषु इच्छार्थेषु। भुञ्जीयेतीच्छति। विधिनिमन्त्रणेति लिङ्। विधिः=प्रेरणं भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्, यजेत। निमन्त्रणं=नियोगकरणम् आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्, इह भुञ्जीत। आमन्त्रणं काम-

---

प्राप्तीच्छा=आशंसा। सा च भविष्यद्विषयैव, भूतेच्छाविरहात्।

१—वचनग्रहणात् क्षिप्रपर्याये-इति लभ्यते। २—कार्यकारणभावे बोध्ये वा लिङित्यर्थः। ३—परम्प्रति स्वाभिप्रायाविष्करणम्=कामप्रवेदनम्।

९८१—आशंसा गम्यमान रहते शीघ्र वाचक शब्द उपपद हो तो लृट् लकार होता है।

९८२—आशंसा वाचक उपपद हो तो भविष्यदर्थ में लिङ् होता है। भूतवत् या वर्तमानवत् नहीं होता।

९८३—हेतुहेतुमद्भाव में धातु से लिङ् लकार विकल्प करके होता है।

९८४—इच्छार्थक उपपद रहते लिङ् और लोट् विकल्प से होते हैं।

(काम प्रवेदन=अन्य के प्रति अपना अभिप्राय प्रकट करना अर्थ में ही ये लिङ् लोट् होते हैं)।

९८५—समान कर्तृक इच्छार्थक उपपद रहते लिङ् होता है।

चारानुज्ञा[1], इह आसीत। अधीष्टः=सत्कारपूर्वको व्यापारः, पुत्रमध्यापयेत्। संप्रश्नः=संप्रधारणम्, किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्। प्रार्थनं=याच्ञा, भो भोजनं लभेय ? एवं लोट्।

९८६ प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च ३।३।१६३॥

प्रैषो=विधिः। अतिसर्गः=कामचारानुज्ञा। भवता यष्टव्यम्। चाल्लोटोऽनुकर्षणं प्राप्तकालार्थम्। भवान्यजताम्।

९८७ अर्हे कृत्यतृचश्च ३।३।१६९॥

चाल्लिङ्। त्वं कन्यां वहेः।

९८८ शकि लिङ् च ३।३।१७२॥

शक्तौ लिङ् स्याच्चात्कृत्याः। त्वं भारं वहेः।

९८९ धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ३।४।१॥

धात्वर्थानां सम्बन्धे यत्र काले प्रत्यया उक्तास्ततोऽन्यत्रापि स्युः। तिङन्तवाच्य[2]क्रियायाः प्राधान्यात्तदनुरोधेन गुणभूतक्रियावाचिभ्यः प्रत्ययाः। वसन्ददर्श। भूते लट्। अतीतवासकर्तृकर्तृकं दर्शनमित्यर्थः। सोमयाज्यस्य पुत्रो भविता। सोमेन यक्ष्यमाणो यः पुत्रस्तत्कर्तृकं भवनम्।

९९० क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः ३।४।२॥

पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोर्लोट् तस्य च हिस्वौ स्तः। तिङामपवादः। तौ

१—कामचारानुज्ञा=तदिच्छानुसारं तदनुकूलप्रेरणा। २—'वसन् ददर्श' इत्यादौ तिङन्तवाच्या दर्शनादिक्रिया प्रधाना वासादिक्रिया तु दर्शनादिक्रियार्थत्वाद् गुणभूता, अतः प्रधानभूतदर्शनादिक्रियानुसारेण गुणभूतवासादिक्रियावाचिभ्य एवेह कालान्तरेषु प्रत्यया विधीयन्ते–इत्यर्थः।

९८६—प्रैष=विधि, अतिसर्ग=कामचारानुज्ञा, और प्राप्तकाल अर्थ में आगे कहे जानेवाले कृत्य प्रत्यय होते हैं, और लोट् लकार भी होता है।

९८७—अर्ह अर्थ में कृत्य प्रत्यय और तृच् प्रत्यय होता है, और लिङ् लकार भी होता है।

९८८—शक्य अर्थ में लिङ् और कृत्य प्रत्यय होते हैं।

९८९—धात्वर्थों का सम्बन्ध गम्यमान होतो जो प्रत्यय जिस काल में होने के लिये कहे गये हैं उससे अन्य काल में भी होंगे। (तिङन्तवाच्य क्रिया प्रधान रहेगी उसके अनुसार गौण क्रिया वाची धातु से उक्तातिरिक्त काल में प्रत्यय होंगे)

९९०—'पौनःपुन्य' और 'भृशम्' अर्थ में धातु से सर्व लकारापवाद लोट्

च हिस्वौ क्रमेण परस्मैपदात्मनेपदसंज्ञौ स्तस्तिङ्संज्ञौ च। तध्वमोर्विषये तु हिस्वौ वा स्तः। पुरुषैकवचनसंज्ञे नानयोरतिदिश्येते, हिस्वविधानसामर्थ्यात्। तेन सकलपुरुषवचनविषये परस्मैपदिभ्यो हिः कर्तरि, आत्मनेपदिभ्यः स्वो भावकर्मकर्तृषु।

६६१ समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ३।४।३॥

अनेकक्रियासमुच्चये द्योत्ये प्रागुक्तं वा स्यात्।

६६२ यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् ३।४।४॥

आद्ये[3] लोड्विधाने लोट्प्रकृतिभूत एव धातुरनुप्रयोज्यः।

६६३ समुच्चये सामान्यवचनस्य ३।४।५॥

समुच्चये लोड्विधौ सामान्यार्थस्य धातोरनुप्रयोगः स्यात्। अनुप्रयोगाद्यथायथं लडाद्यस्तिबादयश्च। ततः सङ्ख्याकालयोः पुरुषविशेषार्थस्य चाभिव्यक्तिः।

१—यदि हि मध्यमपुरुषत्वम् एकवचनत्वञ्चातिदेश्यत्वेन विवक्षितमभविष्यत्तर्हि सर्ववचनेषु हिस्वविधानं व्यर्थमभविष्यत्—अर्थात्—युष्मत्सामानाधिकरण्ये—एकत्वे च सत्येव लोटो हिस्वौ स्यातामन्यत्र तु यथायथं तिबाद्यादेशाः स्युः, तथा सति लोटो हिस्वविधानस्यानर्थक्यं स्फुटमेव। अतो न पुरुषवचनातिदेशः। २—धातोर्लोट् तस्य च हिस्वौ (तध्वमोर्विषये वा) इत्युक्तमित्यर्थः। ३—आद्ये = प्रथमेऽर्थात्क्रियासमभिहारे इत्यादिसूत्रेण कृते। ४—अनुप्रयोगात् = अनुप्रयुज्यमानाद् धातोरित्यर्थः। यथायथं यथाप्राप्तम्।

होता है। लोट् को सर्वतिङपवाद 'हि' और 'स्व' होते हैं। हि और स्व की क्रमशः परस्मैपद और आत्मनेपद संज्ञा होती है, और तिङ् संज्ञा भी होती है। किन्तु 'त' और 'ध्वम्' के विषय में 'हि' और 'स्व' विकल्प से होते हैं। (पुरुष और वचन का अतिदेश नहीं किया जायगा, अन्यथा हि स्व विधान व्यर्थ था,) तात्पर्य यह हुआ कि समस्त पुरुष और वचनों के विषय में परस्मैपदी धातुओं से 'हि' होगा, कर्ता में आत्मनेपदियों से स्व होगा, भाव और कर्म कर्ता में।

६६१—अनेक क्रियाओं का समुच्चय द्योत्य हो तो पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होगा।

६६२—प्रथम सूत्र से जहां लोट् का विधान होगा वहां लोट् प्रकृतिभूत धातु का ही अनुप्रयोग होगा।

६६३—जहां द्वितीय सूत्र से (समुच्चय अर्थ में) लोट् का विधान होगा वहां सामान्यार्थक धातु का अनुप्रयोग होगा। अनुप्रयुज्यमान धातु से यथाप्राप्त लट् आदि तिबादि होंगे। उन्हीं से संख्या और काल की पुरुष विशेष की प्रतीति होगी।

(क्रियासमभिहारे द्वे वाच्ये)। याहि याहीति याति। पुनः पुनरतिशयेन वा यानं प्राप्नोतीत्यर्थः। एककर्तृकं वर्तमानं यानं यातीत्यस्य। इतिशब्दस्तु अभेदान्वये तात्पर्यं ग्राहयति। एवं यातः। यान्ति। याथः। याथ। यात यातेति यूयं याथ। याहि याहीत्ययासीत्, यास्यति वा। अधीष्वाधीष्वेत्यधीते। ध्वंविषये तु-पक्षे अधीध्वमधीध्वमिति यूयमधीध्वे। समुच्चये-सक्तून्पिब, धानाः खादेत्यभ्यवहरति। अन्नं भुङ्क्ष्व, दाधिकमास्वादस्वेत्यभ्यवहरते। तथमोस्तु पिबत खादतेत्यभ्यवहरथ। भुङ्ग्ध्वमास्वादध्वमित्यभ्यवहरध्वे। पक्षे तु हित्वौ। अत्र समुच्चीयमानविशेषाणामनुप्रयोगार्थेन सामान्येनाभेदान्वयः। पक्षे सक्तून् पिबति। धानाः खादति। अन्नं भुङ्क्ते। दाधिकमास्वादते। एतेन—

"पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः॥"

(माघसर्ग १-श्लो० ५१)

इति व्याख्यातम्। अवस्कन्दनलवनादिरूपा भूतानद्यतनपरोक्षा एककर्तृका अस्वास्थ्यक्रियेत्यर्थात्। इह पुनः पुनश्चस्कन्देत्यादिरर्थ इति तु व्याख्यानं भ्रममूलकमेव। द्वितीयसूत्रे क्रियासमभिहारे इत्यस्यानुवृत्तेः। लोडन्तस्य द्वित्वापत्तेश्च।

१—याहि याहि इति यातः, याहि याहि—इति यान्ति। याहि याहि इति यासि। याहि याहि—इति यामि—इत्यादयः। २—स्वादेशाभावपक्षे-इत्यर्थः। ३—"समुच्चयेऽन्यतरस्याम्" "समुच्चये सामान्यवचनस्य" इति च सूत्रद्वयेन तदुदाहरणप्रदर्शनेन च पुरीमवस्कन्देत्यादि माघकाव्यस्थं व्याख्यानमित्यर्थः। बली=रावणः नमुचिद्विषा=इन्द्रेण सह विगृह्य=विरोधं प्राप्य पुर्याः=अमरावत्या अवस्कन्दनम्=पीडनं नन्दनवनस्य लवनम्=कर्त्तनं रत्नानां मोषणममराङ्गनानां हरणमित्येवम्प्रकारेणाऽहर्दिवम्=अहन्यहनि दिवः=स्वर्गस्य अस्वास्थ्यं चक्रे=कृतवानित्यन्विताथः। तथैव फलितमाह—अवस्कन्दनलवनादिरूपेति। ४—भ्रममूलकम्=भ्रान्तिहेतुकम्। तदेवोपपादयति—द्वितीयसूत्रे-इत्यादि। लोडन्तस्य द्वित्वापत्तेश्चेत्यादि।

(क्रिया समभिहार में लोडन्त को द्वित्व होता है ऐसा कहना चाहिये)

समुच्चय के विषय में उदाहरण यह माघ काव्य का श्लोक है—

पुरीमवस्कन्देति—प्रबल पराक्रमी रावण ने इन्द्र से विरोध करके पुरी अमरावती को रोक; नन्दन वन को काट; उत्तम रत्नों को तथा देवाङ्गनाओं को हर; इस प्रकार स्वर्ग में प्रतिदिन आतङ्क मचा रक्खा था।

पुरीमवस्कन्देत्यादि मध्यमपुरुषैकवचनमित्यपि केषाञ्चिद् भ्रम एव। 'पुरुषवचनसंज्ञे इह ने'त्युक्तत्वात्॥ इति लकारार्थप्रक्रिया॥

इति तिङन्तप्रकरणं समाप्तम्।

अथ कृदन्तप्रकरणम्।

६६४ धातोः ३।१।९१॥

आतृतीयाध्यायान्तं ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः। कृदतिङिति कृत्संज्ञा।

६६५ वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४॥

अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादः प्रत्यय उत्सर्गस्य वा बाधकः स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

१—मध्यमपुरुषैकवचनसादृश्यमेव तेषां भ्रमहेतुः पुरुषवचनयोर्नात्रातिदेश इति तूक्तमेव। इति लकारार्थप्रक्रिया॥

इति श्रीप्रभाकरीविवृतौ मध्यकौमुदीटीकायां तिङन्तप्रकरणं सम्पूर्णम्।

अथ कृदन्तप्रकरणम्।

२—तिङ्निरूपणानन्तरं कृत्प्रत्ययान्निरूपयिष्यन्नधिकारविशेषमाह—धातोरिति। तेन सर्वेऽपि कृत्प्रत्यया धातोः परे भवन्ति, इति निष्पन्नम्। ३—तृतीयाध्यायसमाप्तिपर्यन्तमयमधिकारः (धातोरिति) तत्र प्रमाणन्तु भाष्यव्याख्यानमेव। ४—परिभाषासूत्रमिदम्। उत्सर्गः=सामान्यविषयः। अपवादश्च=विशेषविषयः। 'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते' इति न्यायानुसारम्, अपवादः—उत्सर्गस्य सर्वत्र नित्यं बाधको भवति। तथाऽत्र प्रकरणेऽपि—अपवादेन उत्सर्गस्य नित्यं बाधे प्राप्ते सूत्रेणाऽनेन विकल्पेन बाधो व्यवस्थाप्यते—वाऽसरूप, इति, तेन "अचो यत्" 'ऋहलोर्ण्यत्' इत्याद्यपवादविषये उत्सर्गाः (सामान्याः) तव्यदादयोऽपि प्रवर्तन्ते

कृदन्ते कृत्यप्रक्रिया।

६६४—तृतीयाध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'धातोः' यह अधिकार है। (तव्यादि प्रत्यय धातु से परे होते हैं)।

६६५—'धातोः' इस सूत्र के अधिकार में असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग का बाधक होता है विकल्प से 'स्त्रियाम्' इस अधिकार को छोड़कर।

९९६ कृत्याः ३ । १ । ९५ ॥
ण्वुल्तृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः ।
९९७ कर्तरि कृत् ३ । ४ । ६७ ॥
कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात्, इति प्राप्ते ।
९९८ तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः ३ । ४ । ७० ॥
एते भावकर्मणोरेव स्युः ।
९९९ तव्यत्तव्यानीयरः ३ । १ । ९६ ॥
धातोरेते स्युः । एधितव्यम् । एधनीयं त्वया । भावे औत्सर्गिकमेकवचनं

'भव्यम् भवितव्यम्, कार्यम्, कर्त्तव्यम्, वाच्यम्—वक्तव्यम्' इत्यादि । न समानं रूपं यस्य सोऽसरूपः, (असारूप्ये एवायं वैकल्पिको बाधः)। सरूपस्तूत्सर्गस्य नित्यं बाधको भवति, यथा—'कर्मण्यण्' इत्युत्सर्गस्य 'आतोऽनुपसर्गे कः' इत्यपवादो नित्यं बाधकः—गोदः, कम्बलदः, (अण् (अ) क (अ) इत्युभौ हि सरूपौ)। स्त्र्यधिकारे तु नेयं परिभाषा (सूत्रं) प्रवर्तते, 'तेन क्रियां क्तिन्' इत्युत्सर्गस्य 'अ प्रत्ययात्' इत्यपवादो नित्यं बाधकः—चिकीर्षा, जिहीर्षा ।

१—तव्यत्, तव्यः अनीयर् इति प्रत्ययत्रयम्, तव्यत्तव्ययोः 'तित्स्वरित' मिति स्वरे भेदः । किञ्च 'पूरणगुण'—इति सूत्रे तव्यप्रत्ययान्तस्य समासनिषेधः—यथा स्व-कर्तव्यम् । २—भावस्य (भावरूपस्य धात्वर्थस्य) द्रव्यरूपत्वाऽभावाद्, भावे प्रत्यये लिङ्गसङ्ख्यान्वयः कथं स्यादिति तत्राह—औत्सर्गिकमेकवचनमिति । एकवचनं हि न सङ्ख्यापेक्षं किन्तु द्विवचनबहुवचनयोरविषये शब्दसाधुत्वाय औत्सर्गिकी तस्य प्रवृत्तिः, एवं नपुंसकलिङ्गस्यापि—पुंस्त्रीलिङ्गविषयाऽभाव औत्सर्गिकी शब्द-साधुत्वमात्रार्थे प्रवृत्तिरिति । अर्थात्—यत्र न लिङ्गविशेषापेक्षा तत्र शब्दसाधुत्वाय नपुंसकं लिङ्गम् । सङ्ख्याविशेषानपेक्षत्वे च एकवचनं केवलं शब्दसाधुत्वाय प्रवर्तते स्वभावत इति । भावे प्रत्यये कर्तुरनुक्तत्वात्तृतीया, एधितव्यम्; एधनीयम्; त्वया । कर्मणि प्रत्यये च कर्मण उक्तत्वात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा, कर्तुरनु-क्तत्वात्तृतीया—चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया ।

९९६—"ण्वुल्तृचौ" सूत्र से पहले प्रत्ययों की कृत्यसंज्ञा होती है ।
९९७—कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्ता में होता है ।
९९८—कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं ।
९९९—धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं ।

क्लीबत्वं च । चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया । (केलिमर[1] उपसंख्यानम्) पचेलिमा[2] माषाः । पक्तव्या इत्यर्थः । भिदेलिमाः सरलाः । भेत्तव्या इत्यर्थः । कर्मणि[3] प्रत्ययः । (वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च) । वसतीति वास्तव्यः ।

१००० कृत्यचः ८ । ४ । २९ ॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्याच उत्तरस्य कृत्स्थस्य नस्य णत्वं स्यात् । प्रयाणीयम् । अचः किम् । प्रमग्नः (निर्विण्णस्योपसंख्यानम्) ।

१००१ णेर्विभाषा ८ । ४ । ३० ॥

प्राग्वत् । प्रयापणीयम् । प्रयापनीयम् ।

१००२ हलश्चेजुपधात् ८ । ४ । ३१ ॥

हलादेरिजुपधाद्धातोः परस्य कृन्नस्याचः परस्य णो वा । प्रकोपणीयम् । प्रको-

---

१—भावकर्मणोरर्थयोर्धातोः 'केलिमर्'-प्रत्ययोऽपि वक्तव्य इत्यर्थः, ककारो रेफश्चात्र—इत्संज्ञकः । २—पचधातोः केलिमर्प्रत्यये—पचेलिमाः, भिद्धातोश्च भिदेलिमाः इति । अत्र कित्वाल्लोपधागुणः । सरलाः=वृक्षविशेषाः । ३—केलिमर्-प्रत्ययः कर्मण्यर्थे भवतीत्यर्थः । वृत्तिकारस्तु कर्मकर्तरि चायमिष्यते इत्याह । ४—वस्धातोः कर्तरि तव्यत्प्रत्ययो भवति, स च णिद्वद् वक्तव्य इत्यर्थः । ५—तव्य-त्प्रत्यये णिद्भावात् 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः । ६—कृत्प्रत्ययावयवस्येत्यर्थः । ७—'टु मस्जो शुद्धौ' धातोः क्तप्रत्यये ओदितश्चेति निष्ठानत्वे, स्कोरिति सलोपे, चोः कुरिति कुत्वे रूपम् 'प्रमग्नः' इति । अचः परत्वाऽभावान्नस्य णत्वं न । ८—निर् पूर्वकात् विद्धातोः क्तप्रत्यये रदाभ्यामिति निष्ठायाः=तकारस्य, दस्य च नत्वे सति, अचः परत्वाऽभावेन णत्वस्याऽप्राप्तौ वार्त्तिकमिदमारभ्यते । तेन परस्य नस्यानेन णत्वम्, पूर्वस्य नस्य च 'ष्टुना ष्टु'रिति ष्टुत्वेन णत्वम्, निर्विण्णा-मिनि । ९—उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य ण्यन्ताद् विहितो यः कृत्प्रत्ययः तत्स्थस्य नस्य णो वा स्यात्, इत्यर्थः ।

(धातु से केलिमर् प्रत्यय भी होता है) (वस् धातु से कर्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय होता है । और वह णिद्वत् होता है) ।

१०००—उपसर्गस्थ निमित्त से परे अच् से उत्तर कृत्प्रत्यय के नकार को णत्व होता है । (निर्विण्ण शब्द में णत्व हो जाना चाहिये) ।

१००१ ण्यन्त से पूर्ववत् णत्व विकल्प से होता है ।

१००२—हलादि इजुपध धातु से परे अजुत्तर कृत्प्रत्यय के नकार को णत्व विकल्प से होता है ।

पनीयम् । हलः किम् । प्रोहणीयम्[1] । इजुपधात्किम् । प्रवपणीयम्[2] ।

१००३ इजादेः सनुमः ८ । ४ । ३२ ॥

सनुमश्चेद्भवति इजादेर्हलन्ताद्विहितो यः कृत्तत्स्थस्यैव[3] । (इखि गतौ) । प्रेङ्खणीयम् । इजादेः किम् । (मगि सर्पणे) । प्रमङ्गनीयम् ।

१००४ वा निंस-निक्ष-निन्दाम् ८ । ४ । ३३ ॥

एषां नस्य णो वा कृति । प्रणिंसितव्यम् । प्रनिंसितव्यम्[4] ।

१००५ न भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायी-वेपाम् ८ । ४ । ३४ ॥

एभ्यः कृतस्य णो न । प्रभानीयम् । प्रभवनीयम् । (ण्यन्तभादीनामुपसंख्यानम्[5]) प्रभापनीयम् ।

१००६ कृत्यल्युटो बहुलम् ३ । ३ । ११३ ॥

क्वचित्प्रवृत्तिः[6] क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

१—प्र + ऊह् + अनीय (र्) = प्रोहणीयम्, नात्र धातुर्हलादिरिति न णत्वविकल्पः, किन्तु 'कृत्यचः' इति नित्यमेव णत्वम् । २—प्र–वप् + अनीय (र्)=प्रवपणीयम्, नात्र धातुः-इजुपधः इति न णत्वविकल्पः, किन्तु 'कृत्यचः' इति नित्यं णत्वम् । ३—'कृत्यचः' इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रम् । सिद्धौ सत्याम् आरभ्यमाणो विधिर्नियमायेति न्यायात् । ४—'कृत्यचः' इति प्राप्ते निषेधोऽयम् । ५—ण्यन्तानां भा–भू–पू–कमि–गमि–प्यायी–वेपां न णत्वमिति वक्तव्यमित्यर्थः । ६—क्वचित्प्रवृत्तिः, अप्राप्तस्यापीति शेषः, यथा–स्नानीयं चूर्णम् इत्यत्र करणेऽप्राप्तस्यापि-अनीयर् प्रत्ययस्य प्रवृत्तिः । क्वचिदप्रवृत्तिः प्राप्तस्यापीति

१००३—नुम् सहित से परे यदि णत्व होता है तो इजादि हलन्त से विहित कृत्प्रत्ययस्थित नकार को ही होवे ।

१००४—निंस निक्ष् निन्द इन धातुओं के नकार को उपसर्गस्थ निमित्त से परे णकार विकल्प से होता है ।

१००५—भा भू आदि धातु से परे कृत्प्रत्यय के नकार को णत्व नहीं होता । (ण्यन्त 'भा' आदि धातुओं से भी णत्व नहीं होता है) ।

१००६—धातु से कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुलतया होता है ।

बहुलता का विवेचन करते हैं क्वचित्प्रवृत्तिरिति–कहीं प्रवृत्त होना और कहीं प्रवृत्त न होना, कहीं विकल्प से प्रवृत्त होना, और कहीं अन्यदेव=प्रकृति और अर्थ

स्नान्त्यनेन स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः। ^[1][2]

१००७ ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः[3] ३। १। ११०॥

क्यप् स्यात्। वृत्-वृत्यम्[4]। वृध्-वृध्यम्। क्लृपिचृत्योस्तु-कल्प्यम्[5]। चर्त्यम्[6]।

१००८ अचो यत् ३। १। ९७॥

अजन्ताद् धातोर्यत् स्यात्। चेयम्[7]। जेयम्।

१००९ ईद्यति ६। ४। ६५॥

यति परे आत ईत्। गुणः। देयम्। ग्लेयम्[8]।

१०१० पोरदुपधात् ३। १। ९८॥

पवर्गान्तादुदुपधाद्यत्। ण्यतोऽपवादः[10]। शप्यम्[11]। लभ्यम्।

शेषः, यथा—अग्रसरः, इत्यत्र पूर्वपदस्यैदन्तत्वाप्रवृत्तिर्बाहुलकात्। क्वचिद्विभाषा=विकल्पः, यथा-'मघवा बहुलम्' इति विकल्पः। क्वचिदन्यदेव=(विकल्पप्राप्तस्यापि) नित्यत्वादिकम्, यथा—उन्मत्तगङ्गम् इत्यत्र नित्यमम्-भावः, तृतीयासप्तम्योर्बहुलमिति बहुलग्रहणात्।

१—स्नाधातोः करणे अनीयर् प्रत्ययः। २—दाधातोः सम्प्रदाने अनीयर् प्रत्ययः। ३-क्लृपिधातुं चृतिधातुं च वर्जयित्वा ऋदुपधात् धातोः क्यप् स्यादित्यर्थः। ४—'वृतु वर्तने' इत्यस्मात् क्यप् प्रत्यये 'वृत्यम्', कित्वाल्लोपधागुणः। एवं-वृध्-धातोः वृध्यम्। ५—'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्यये रूपम्—कल्प्यम्। उपधागुणः। ६—चृत् धातोर्ण्यत्प्रत्यये रूपं चर्त्यम्। उपधागुणः। ७—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणः, चि+य(त्)=चेयम्। एवं जेयम्। ८—दाधातोः यत् प्रत्यये, ईत्वे, सार्वधातुकेति गुणः, देयम्। ९—ग्लै हर्षक्षये इति धातोर्भावे यत् प्रत्यये, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति-आत्वे, ईत्वे गुणः—ग्लेयम्। १०—'ऋहलोर्ण्यत्' इति प्राप्तस्य ण्यतोऽपवाद इत्यर्थः। ११—शप्+य(त्) म्=प्रशप्यम्। लभ्+य(त्) म्=लभ्यम्।

के व्यत्यय में भी प्रत्यय का होना,ःएवं विधि के विधान को अनेक रूपों में देखकर शास्त्रों ने बहुलता को चतुर्विध कहा है।

१००७—क्लृप् और चृत् धातु को छोड़कर ऋदुपध धातु से क्यप् प्रत्यय होता है।

१००—अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है।

१००९—यत् प्रत्यय परे रहते आकार को ईत् होता है।

१०१०—अदुपध पवर्गान्त धातु से यत्प्रत्यय होता है।

१०११ आङो यि ७ । १ । ६५ ॥

आङः परस्य लभेर्नुम् यादौ प्रत्यये । आलम्भ्यो गौः ।

१०१२ उपात्प्रशंसायाम्[1] ७ । १ । ६६ ॥

उपलम्भ्यः साधुः । स्तुतौ किम् । उपलब्धुं शक्यः-उपलभ्यः ।

१०१३ शकि-सहोश्च[2] ३ । १ । ९९ ॥

शक्यम् । सह्यम् ॥

१०१४ गद्-मद्-चर-यमश्चानुपसर्गे[3] ३ । १ । १०० ॥

गद्यम् । मद्यम् । चर्यम् । (चरेराङि चागुरौ) आचर्यो देशः । अगुरौ किम्-आचार्यः = गुरुः । यम्यम् ।

१०१५ अवद्य-पण्य-वर्या गर्ह्य-पणितव्यानिरोधेषु ३ । १ । १०१ ॥

अवद्यं = पापम् । पण्यं = विक्रेयम् । शतेन वर्या कन्या ।

१—उपपूर्वाद् लभेर्नुम् स्यात् प्रशंसायामित्यर्थः । २—शकिसहिभ्यां धातुभ्यां यतोऽपवादो यत् इत्यर्थः । ३—उपसर्गरहितेभ्यो गदमदादिभ्यो ण्यतोऽपवादो यत् इत्यर्थः ।४—आङि-उपसर्गे सत्यपि चरधातोर्यत् स्यादेव गुरुभिन्नेऽर्थे । आचर्यो देशः=गन्तव्य इत्यर्थः । ५—'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् प्रत्यये 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः, आचर् + ण्यत्=आचार्यः । यम्-धातोर्यत्-यम्यम् । ६—गर्ह्य-पणितव्याऽनिरोधे-ध्वर्थेषु क्रमेण-अवद्यपण्यवर्या निपात्यन्ते इत्यर्थः । ७—नञ्पूर्वकाद् वद् धातोः 'वदेः सुपि...' इति यत् क्यप् च प्राप्तः । तत्र यदेव स्यात् सोऽपि गर्हायामेवेति निपात्यते । अवद्यम्=अवाच्यम् , गर्हणीयमिति यावत् । पण-धातोर्ण्यतः प्राप्तौ पणितव्यार्थे=विक्रेयार्थे यत् निपातितः, पण्यम्=विक्रेयम् । वृङ्धातोः 'एतिस्तुशा...' इति क्यपि प्राप्ते यत् निपात्यते, अनिरोधार्थे=अप्र-

---

१०११—आङ् से परे लभ् धातु को नुम् आगम होता है यदि प्रत्यय परे रहते ।

१०१२—उप से परे लभ् को नुम् आगम होता है प्रशंसा अर्थ में ।

१०१३—शक् और सह् धातु से यत् प्रत्यय होता है ।

१०१४—उपसर्ग रहित गदादि धातुओं से यत् प्रत्यय होता है ।

(आङ् पूर्वक चर् धातु से यत् होता है यदि 'गुरु' अर्थ न हो)

१०१५—गर्ह्य पणितव्य और अनिरोध अर्थ में क्रमशः अवद्य, पण्य, और वर्य ये यत्प्रत्ययान्त निपातन होते हैं ।

१०१६ वह्यं करणम् ३।१।१०२॥

वहन्त्यनेनेति वह्यं—शकटम्। वाह्यमन्यत्।

१०१७ अर्यः स्वामि–वैश्ययोः ३।१।१०३॥

अनयोः किम्। आर्यो ब्राह्मणः।

१०१८ उपसर्या काल्या प्रजने ३।१।१०४॥

गर्भग्रहणे प्राप्तकाला चेदित्यर्थः। उपसर्या गौः। गर्भाधानार्थं वृषभेणोपगन्तुं योग्येत्यर्थः। प्रजने काल्येति किम्–उपसार्या काशी। प्राप्तव्येत्यर्थः।

१०१९ अजर्यं संगतम् ३।१।१०५॥

विशेष्यं चेत्। न जीर्यतीत्यजर्यम्—सतां संगतम्।

१०२० वदः सुपि क्यप् च ३।१।१०६॥

चाद्यत्। ब्रह्मोद्यम्। ब्रह्मवद्यम्।

तिबन्धार्थे। वर्या=स्वयंवरेण वरणीया इत्यर्थः।

१—वह् धातोः करणे ण्यतोऽपवादो यत् निपात्यते, इत्यर्थः। अन्यत्र वहति वाह्यम् इति। २—स्वामिनि वैश्ये चार्थे ऋधातोर्यत् निपात्यते। (ण्यतोऽपवादः) इत्यर्थः। अन्यत्र ण्यति–आर्यः। ('अचो ञ्णिति' वृद्धिः)। ३—काल्या प्रजने इत्यस्य गर्भग्रहणे प्राप्तकाला इत्यर्थः। गर्भग्रहणे प्राप्तकाला स्त्रीपशुव्यक्ति-र्विवक्षिता चेत् तदा उपपूर्वात्सृधातोर्ण्यतोऽपवादो यत् निपात्यते इति सूत्रार्थः। ४—नञ्पूर्वकाद् जीर्यतेः (जॄष् धातोः) कर्तरि यत् प्रत्ययो निपात्यते संगतं चेद् विशेष्यं स्यादित्यर्थः। अन्यत्र कर्तरि तृच् अजरिता। ५—संगतिरित्यर्थः। ६—वद् धातोः क्यप् स्यादनुपसर्गे सुप्युपपदे भावे, चाद् यत्। ७—ब्रह्म–वद्+क्यप्—ब्रह्मोद्यम्। 'वचिस्वपियजा...' इति सम्प्रसारणम्। पक्षे यत्प्रत्यये ब्रह्मवद्यम्, ब्रह्म=वेदस्तस्य वदनम्=उच्चारणमित्यर्थः।

१०१६—करण अर्थ में 'वह्य' शब्द निपातित है।

१०१७—स्वामी और वैश्य अर्थ में अर्य शब्द यत्प्रत्ययान्त का निपातन है।

१०१८—काल्या प्रजने=गर्भग्रहण में प्राप्तकाला अर्थ में 'उपसर्या' शब्द यत्प्रत्ययान्त निपातित है।

१०१९—संगत विशेष्य रहते 'अजर्य' शब्द निपातित है।

१०२०—वद् धातु से उपसर्ग भिन्न सुबन्त उपपद रहते भाव में क्यप् प्रत्यय होता है, चकार से पक्ष में यत् भी होता है।

१०२१ भुवो भावे ३ । १ । १०७ ॥

क्यप् । ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयम्[१] ।

१०२२ हनस्त च ३ । १ । १०८ ॥

चात्क्यप् । ब्रह्मणो हननं ब्रह्महत्या[२] [३] ।

१०२३ एति-स्तु-शास्वृ-दृ-जुषः क्यप् ३ । १ । १०९ ॥

१०२४ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६ । १ । ७१ ॥

इत्यः[४] । स्तुत्यः । शिष्यः[५] । वृ इति वृञो ग्रहणं न वृङः । वृत्यः[६] । वृङ्स्तु वार्या ऋत्विजः । आदृत्यः । जुष्यः । पुनः क्यब्रुक्तिः परस्यापि यतो बाधनार्था । अवश्यस्तुत्यः ।

१—कित्वाद् गुणाभावः । २—अनुपसर्गे सुप्युपपदे हन्धातोर्भावे क्यप् स्यात् तकारश्चान्ताऽऽदेशः । ३-ब्रह्म-हन्+क्यप् । नकारस्य 'हनस्त' इति तकारः, स्त्रीत्वं लोकात्-ब्रह्महत्या । ४—इण्-गतौ, इत्यस्मात् क्यपि प्रत्यये, इ+त्(ः) इत्यवस्थायां तुगागमे इत्यः=गन्तव्य इत्यर्थः । एवं स्तुधातोः स्तुत्यः । ५—शास् धातोः क्यप् प्रत्यये 'शास इदङ्हलोः' इति आकारस्य इत्वे आदेशप्रत्यया-वयवत्वाऽभावात् 'आदेशप्रत्यययो' रिति षत्वाऽप्राप्तौ 'शासिवसिघसीनां' चेति षत्वम्, शिष्यः । शास्तेऽसौ इति विग्रहः । ६—वृञ् धातोः क्यप् प्रत्यये ह्रस्वस्येति तुक्-वृत्यः । वृङ् धातोस्तु 'ऋहलो' रिति ण्यत्प्रत्यये वृद्धौ बहुवचने वार्याः=अवश्यं भजनीयाः (वृङ् सम्भक्तौ) । आदृ+क्यप्, तुक्=आदृत्यः । आदरणीयः इत्यर्थः । जुष्+क्यप्, जुष्यः=सेवनीयः । ७—ननु 'वदः सुपि' इत्यतोऽनुवृत्त्यैव सिद्धे (क्यप्-ग्रहणे), पुनरिह क्यब्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—पुनः क्यब्रुक्तिरित्यादि । अयं भावः—'ओरावश्यके' इत्यस्य यतोऽवश्यलाव्यमित्यादि-रवकाशः, 'एतिस्तुशासे' ति क्यपश्च स्तुत्यः-इत्यादिरवकाशः, एवं लब्धावकाशयो-रुभयोरवश्यस्तुत्य'-इत्यत्र प्राप्तौ तुल्यबलविरोधे परं कार्यमिति परत्वेन 'ओराव-श्यके' इति यदेव प्रसज्यते, तन्माभूदिति पुनः क्यब्रुक्तिः । तेन क्यप्-एव ।

१०२१—भू धातु से भाव अर्थ में क्यप् प्रत्यय होता है सुबन्त उपपद रहते ।

१०२२—हन् के नकार को तकार होता है और क्यप् प्रत्यय होता है, सुबन्त उपपद रहते भाव अर्थ में ।

१०२३—एति, स्तु, आदि धातुओं से क्यप् प्रत्यय होता है ।

१०२४—ह्रस्व को तुक् आगम होता है पित् कृत्प्रत्यय परे रहते ।

१०२५ मृजेर्विभाषा ३ । १ । ११३ ॥

मृजेः क्यब्वा । मृज्यः ।

१०२६ ऋहलोर्ण्यत् ३ । १ । १२४ ॥

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च ण्यत् ।

१०२७ चजोः कु घिण्ण्यतोः ७ । ३ । ५२ ॥

चजोः कुत्वं घिति ण्यति च । (निष्ठायामनिट इति वक्तव्यम्) तेनेह च-गर्ज्यम् । मार्ग्यः ।

१०२८ ओरावश्यके ३ । १ । १२५ ॥

ण्यत् । पाव्यम् ।

'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुंकाममनसोरपि ।
समो वा हिततत्योर्मांसस्य पचियुड्घञोः ॥

१—मृज्धातोर्ऋदुपधत्वात् 'ऋदुपधाच्चाक्लृपि' इति नित्यं क्यपि प्राप्ते विकल्पार्थोऽयमारम्भः । २—गर्जधातोर्हि निष्ठायां सेट्—गर्जितम् इति तेन न कुत्वम् । ३—क्यपोऽभावपक्षे ण्यप्रत्ययः, 'मृजेर्वृद्धि' रिति वृद्धौ कुत्वे रूपम्—मार्ग्यः = शोधनीयः । ४—उवर्णान्ताद् धातोः ण्यत् स्यादवश्यंभावे द्योत्ये, इत्यर्थः । ५—पूधातोर्ण्यत्प्रत्ययः, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ,'वान्तो यि प्रत्यये' आवादेशे पाव्यम् । एवं लाव्यमित्यादि । ६—लुम्पेदिति अवश्यमः = अवश्यंशब्दस्य, अन्त्यम् = मकारं लुम्पेत् = लोपयेत् पुरुष इति शेषः, कृत्ये = कृत्यप्रत्यये परे, यथा—अवश्य-लाव्यम् । तथा 'तुम्' इत्यस्य मकारं लुम्पेत् कामशब्दे मनःशब्दे च परे सति,

१०२५—मृज् धातु से क्यप् प्रत्यय विकल्प से होता है ।

१०२६—ऋवर्णान्त और हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है ।

१०२७—चकार और जकार को कुत्व होता है घित् और ण्यत् प्रत्यय परे रहते । (निष्ठा में जो अनिट् उसको कुत्व होता है ऐसा कहना चाहिये)

१०२८—उकारान्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है अवश्यंभावी अर्थ में ।

लुम्पेदिति—'अवश्यम्' शब्द के अन्त्यवर्ण मकार का लोप करो कृत्य प्रत्यय परे रहते । और 'तुम्' शब्द के मकार का भी लोप कर दो काम और मनस् शब्द परे रहते । हित और तत शब्द परे रहते 'सम्' शब्द के अन्त्यवर्ण मकार का भी लोप कर दो । और युडन्त तथा घञन्त पच् धातु परे रहते 'मांस' शब्द के अन्त्यवर्ण अकार का लोप करो ।

आवश्यपाव्यम् ।

१०२९ भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा[1] ३।४।६८॥
एते कृत्यान्ताः कर्तरि वा निपात्यन्ते । भवतीति भव्यः । भव्यमनेन वा ।

१०३० भोज्यं[2] भक्ष्ये ७ । ३ । ६९ ॥
भोग्यमन्यत्[3] ।

१०३१ वचोऽशब्दसंज्ञायाम् ७ । ३ । ६७ ॥
न कुत्वम् । वाच्यम् । वाक्यमन्यत्[4] ।

१०३२ राजसूय-सूर्य-मृषोद्य-रुच्य-कुप्य-कृष्टपच्याऽव्यथ्याः[5] ३।१।११४॥
एते सप्त क्यबन्ता निपात्यन्ते ।

यथा—कर्तुकामो, गन्तुमना इत्यादि । एवं हितशब्दे ततशब्दे च परे समूशब्दस्य अन्त्यम्=मकारं वा लुम्पेत्, यथा—सहितं, सततं—सन्ततम् । तथा पचि युड्घञो:= =अर्थात् युट्प्रत्ययान्ते घञ्प्रत्ययान्ते च पच्धातौ पचनशब्दे पाकशब्दे च परे सति इति यावत्, मांसस्य=मांसशब्दस्य अन्त्यम्=अकारं लुम्पेत्—उदाहरण यथा—मांस्पचनम्, मांस्पाकः ।

१—भवतीति भव्यः, कर्तरि यत् । गायतीति गेयः, कर्तरि यत्, 'ईद्यति' ईत्वे, सार्वधातुकेति गुणः । प्रवक्तीति प्रवचनीयः, कर्तरि अनीयर् । उपतिष्ठते इति उपस्थानीयः कर्तरि—अनीयर् । जायते इति जन्यः, कर्तरि यत् । आप्लवतेऽसौ—आप्लाव्यः, 'ओरावश्यके' इति कर्तरि ण्यत् । आपतति—असौ, इत्यापात्यः । 'ऋहलो'रिति कर्तरि ण्यत् । २—भक्ष्ये गम्ये ण्यत्प्रत्यये भुज्धातोः कुत्वाभावो निपात्यते । भोज्यम् । ३—भक्षणीयभिन्नं धनादिकम् इत्यर्थः । ४—वच्धातो-र्ण्यत्प्रत्यये कुत्वाभावनिपातने—वाच्यम्=वचनीयं वस्तु, वाक्यम्=प्रकृतिरूपम् । ५—एते सप्त क्यप्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते इत्यर्थः । राजपूर्वकात् सुञ् धातोः क्यप् प्रत्यये दीर्घो निपात्यते, राज्ञा सूयते राजसूयम्=यज्ञविशेषः, अर्धर्चादिः । सृधातोः कर्तरि क्यप् सरत्याकाशे इति सूर्यः, निपातनादुत्वं दीर्घश्च ।

१०२९—भव्य गेयादि शब्द कर्ता अर्थ में कृत्यप्रत्ययान्त निपातित होते हैं विकल्प से ।

१०३०—भक्ष्य अर्थ में 'भोज्य' शब्द निपातित है ।

१०३१—वच् के च को कुत्व नहीं होता शब्द संज्ञा से अतिरिक्त स्थल में ।

१०३२—राजसूय आदि शब्द क्यप् प्रत्ययान्त निपातित हैं ।

१०३३ भिद्योध्यौ[1] नदे ३। १। ११५॥

नदे किम्। भेत्ता[2]। उज्झिता।

१०३४ पुष्यसिध्यौ[3] नक्षत्रे ३। १। ११६॥

अधिकरणे क्यन्निपात्यते। पुष्यन्त्यस्मिन्नर्थाः पुष्यः। सिध्यन्त्यस्मिन्सिध्यः।

१०३५ विपूय[4]-विनीय-जित्यामुञ्ज-कल्क-हलिषु ३। १। ११७॥

विपूयो मुञ्जः। विनीयः कल्कः[5]। जित्यो[6] हलिः।

१०३६ प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः[7] ३। १। ११८॥

(छन्दसीति वक्तव्यम्) प्रतिगृह्यम्[8]। अपिगृह्यम्। लोके तु[9]। प्रतिग्राह्यम्। अपिग्राह्यम्।

मृषापूर्वाद् वद्धातोः क्यपि "वचि स्वपीति" सम्प्रसारणम्, मृषोद्यम्। रुच् धातोः क्यप् प्रत्यये रोचते इति रुच्यः। गुप् धातोः क्यप्प्रत्यये गकारस्य कत्वं निपात्यते, कुप्यम् = सुवर्णरजतादिभिन्नं धनम्। कृष्टपूर्वकात् पच् धातोः निपातनात् कर्मकर्तरि क्यप्। कृष्टे स्वयमेव पच्यन्ते—कृष्टपच्याः। नञ्पूर्वकात् व्यथ्धातोः कर्तरि क्यप् निपात्यते, न व्यथतेऽव्यथ्यः।

१—नदविशेषे कर्तरि, भिदेरुज्झेश्च क्यप् निपात्यते इत्यर्थः, उज्झेर्धत्वं च निपात्यते। २—भिनत्ति इति भेत्ता = भेदनकर्ता। तृच्। एवम् उज्झिता। ३—पुष् धातोः सिध् धातोश्च नक्षत्रे वाच्येऽधिकरणे क्यप् निपात्यते इत्यर्थः। ४—क्यप्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते इत्यर्थः। ५—कल्कः=पिष्ट औषधविशेषः। ६—जिधातोः क्यपि तुक् जित्यः=हलिः=महद्धलं=हलिः। जित्यो = बलेन कृष्टव्यः। ७—क्यप् स्यादिति शेषः। ८—प्रति-ग्रह्धातोः क्यप्, कित्वाद् ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम्, प्रतिगृह्यम्। एवम् अपिगृह्यम्। ९—न क्यप्, किन्तु यत्, वृद्धौ प्रतिग्राह्यम्।

१०३३—नद अर्थ में 'भिद्य' और 'उध्य' ये दोनों क्यबन्त निपातित हैं।

१०३४—नक्षत्र वाच्य रहते 'पुष्य' और 'सिध्य' शब्द अधिकरण क्यबन्त निपातित हैं।

१०३५—मुञ्ज कल्क और हलि अर्थ में 'विपूय' 'विनीय' 'जित्य' ये क्रमशः निपातित हैं।

१०३६—प्रति और अपि उपसर्ग पूर्व रहते ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है। (वेद में होता है ऐसा कहना चाहिये)।

१०३७ पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु[1] च ३ । १ । ११९ ॥

अवगृह्यम् । प्रगृह्यं पदम् । अस्वैरी = परतन्त्रः । गृह्यकाः शुकाः । ग्रामगृह्या सेना । आर्यैर्गृह्यते-आर्यगृह्यः । तत्पक्षाश्रित इत्यर्थः ।

१०३८ विभाषा कृवृषोः ३ । १ । १२० ॥

कृत्यम्[3] । वृष्यम् । कार्यम्[4] । वर्ष्यम् ।

१०३९ युग्यं च पत्रे ३ । १ । १२१ ॥

पत्रं=वाहनम् । योग्यमन्यत् ।

१०४० अमावस्यदन्यतरस्याम्[6] ३ । १ । १२२ ॥

अमा सह वसतोऽस्यां चन्द्रार्कावित्यमावस्या अमावास्या वा ।

१०४१ अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः ३ । १ । १३१ ॥

१—पद-अस्वैरि-बाह्या पक्ष्येष्वर्थेषु ग्रह् धातो क्यप् स्यात्, इत्यर्थः । क्यपि सम्प्रसारणम् । गृह्यकाः = पञ्जरादिबन्धनेन परतन्त्रीकृता । ग्रामगृह्या = ग्रामाद् बहिर्भूता इत्यर्थः । आर्यगृह्यः = आर्यपक्षाश्रित इत्यर्थः । २—कृञः ऋदन्तत्वात् नित्यं ण्यति प्राप्ते वृषधातोरृदुपधत्वात् नित्यं क्यपि प्राप्ते च क्यप्—विकल्पोऽयम् । ३—क्यप्प्रत्यये तुक् कृत्यम् । वृष्यम्, कित्वान्नोपधागुणः । ४—पक्षे ण्यत्, वृद्धि, कार्यम् । वर्ष्यम्, उपधागुण । ५—युज् धातोः क्यप् कुत्वं च निपात्यते, वाहनेऽर्थे । अन्यत्र ण्यत्प्रत्यये चजोरिति कुत्वम्, योग्यम् । ६—अमोपपदाद् वसेरधिकरणे ण्यत्, वृद्धौ सत्यां पाक्षिको ह्रस्वश्च निपात्यते इत्यर्थ । ७—अग्नौ गम्ये परिचाय्य-उपचाय्य-समूह्या इत्येते निपात्यन्ते इत्यर्थः । परि-पूर्वकादुपपूर्वकाच्च 'चि' धातोर्ण्यत्प्रत्यय आयादेशश्च निपात्यते परिचाय्यः, उपचाय्यः । सम्पूर्वकाद्वह्धातोः कर्मणि ण्यत् सम्प्रसारणं दीर्घश्च निपात्यते, समूह्यः ।

१०३७—पद, अस्वैरि, बाह्य, और पक्ष्य अर्थ में भी ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है ।

१०३८—कृ और वृष् से क्यप् प्रत्यय होता है विकल्प करके ।

१०३९—वाहन अर्थ में युज् धातु से क्यप् और कुत्व निपातन से होता है ।

१०४०—अमा उपपद रहते वस् धातु से अधिकरण अर्थ में ण्यत् होता है, वृद्धि हो जाने पर पाक्षिक ह्रस्व भी होता है निपातन से ।

१०४१—अग्नि गम्य रहते 'परिचाय्य' 'उपचाय्य' और 'समूह्य' ये निपातन से सिद्ध होते हैं ।

अग्नावेते साधवः।

१०४२ क्रतौ कुण्डपाय्य-संचाय्यौ ३।१।१३०॥

१०४३ चित्याग्निचित्ये च ३।१।१३२॥

चित्योऽग्निः। अग्नेश्चयनमग्निचित्या[3]। इति कृत्यप्रत्ययाः।

अथ कृत्प्रक्रिया (पूर्वकृदन्तम्)॥

१०४४ ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३॥

धातोरेतौ स्तः। कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे।

१०४५ युवोरनाकौ ७।१।१॥

यु वु एतयोरनुनासिकयोरेतौ स्तः। कारकः[4]। कर्ता।

१०४६ नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४॥

नन्द्यादेर्ल्युर्ग्रह्यादेर्णिनिः पचादेरच्स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः। जनार्दनः। लवणः। गणे निपातनाण्णत्वम्। ग्राही[6]। स्थायी। मन्त्री। पचः[7]। आकृतिगणोऽयम्।

१०४७ इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः ३।१।१३५॥

१—अग्नौ = अग्न्याधारस्थलविशेषे इत्यर्थः। २—'चित्यः' अग्निचित्या, इति च अमी निपात्येते। चित्यः कर्मणि यत् तुक च निपात्यते। ३—अग्निपूर्वकात् 'चि' धातोर्यत्, तुक् च। स्त्रीत्वं लोकात्, अग्निचित्या॥ इति कृत्यप्रत्ययाः॥

४—करोतीति कारकः, कर्ता, ण्वुल्प्रत्यये वृद्धिः, तृचि गुणः। ५—ल्युप्रत्यये 'यु' इत्यस्य अनादेशः। जनमर्दयतीति जनार्दनः। लुनातीति लवणः। ६—ग्रहधातोर्णिनि प्रत्यये—उपधावृद्धिः। ग्राही, स्थाधातोः णिनिः, 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युक्—स्थायी। ७—पचधातोरच्, पचतीति पचः।

१०४२—क्रतु वाच्य रहते 'कुण्डपाय्य' और 'संचाय्य' ये दोनों निपातित हैं।

१०४३—अग्न्याधारस्थल अर्थ में 'चित्य' और 'अग्निचित्य' ये दोनों निपातित हैं।

१०४४—धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं।

१०४५—यु और वु को क्रम से अन और अक आदेश होते हैं।

१०४६—नन्द्यादि से ल्यु, ग्रहादि से णिनि और पचादि से अच् प्रत्यय होते हैं।

१०४७—इगुपध धातु और ज्ञा-प्री-कृ धातु से क-प्रत्यय होता है।

एभ्यः कः स्यात् । क्षिपः[1] । बुधः । कृशः । ज्ञः[2] । प्रियः[3] । किरः[4] ।

१०४८ आतश्चोपसर्गे ३ । १ । १३६ ॥

प्रज्ञः[6] । सुग्लः ।

१०४९ पा-घ्रा-ध्मा-धेट्-दृशः शः ३ । १ । १३७ ॥

एभ्यः शः स्यात् । पिबः[7] । जिघ्रः । धमः । धयः । पश्यः ।

१०५० अनुपसर्गाल्लिम्प-विन्द-धारि-पारि-वेद्युदेजि-चेति-साति-साहिभ्यश्च ३ । १ । १३८ ॥

लिम्पः[9] । विन्दः । धारयः[10] । पारयः । वेदयः । उदेजयः । चेतयः[11] । सातयः ।

१—इगुपधोदाहरणम्—क्षिपः किन्त्वाल्लोपधागुणः । एवं बुधः कृशः । २—ज्ञाधातोः कप्रत्यये 'आतो लोप इति च', इत्यालोपः । ३—प्रीञ्—धातोः कप्रत्यये इयङ्, प्रीणातीति प्रियः । ४—कॄ विक्षेपे इत्यस्मात् कप्रत्ययः, 'ऋत इद्धातो'-रिति इत्वं रपरत्वम् । किरतीति किरः । ५—सोपसर्गात्—आदन्ताद् धातोः कप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ६—प्र-'ज्ञा' धातोः कप्रत्यये, 'आतो लोप' इत्यालोपे प्रजानातीति प्रज्ञः । सु-'ग्लै' धातोः कप्रत्यये, 'आदेच' इत्यात्वे, 'आतो लोप' इति लोपः । सुग्लायतीति सुग्लः । ७—पा पाने इत्यस्मात् शप्रत्यये तस्य शित्वेन सार्वधातुकत्वात्—'पाघ्राध्मा' इति पिबादेशः, शप् , पररूपम् , पिबतीति पिबः । एवं घ्रा-धातोर्जिघ्रतीति जिघ्रः । धमतीति धमः । धयतीति धयः । दृश् धातोः पश्यादेशे, पश्यतीति पश्यः । ८—उपसर्गरहितेभ्यः सूत्रोक्तेभ्यो धातुभ्यः शप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ९—लिप् उपदेहे इत्यस्मात् शप्रत्यये तस्य शित्वात्सार्वधातुकत्वेन 'तुदादिभ्यः शः' इति शपोऽपवादः शः, 'शे मुचादीनाम्' इति नुम् , लिम्पतीति लिम्पः । एवं विद्लृ लाभे, इत्यस्य विन्दतीति विन्दः । १०—धृञ् धातोर्ण्यन्ताद् 'धारि' इत्यस्मात् शप्रत्यये शप् , गुणः, अयादेशः, धारयतीति धारयः । एवं पारयतीति पारयः । वेदयतीति वेदयः । उदेजयतीति उदेजयः । ११—चिति संज्ञाने इत्यस्मात् ण्यन्तात्-शप्रत्यये, चेतयतीति चेतयः । एवं सातयतीति सातयः । (सातिः सुखार्थः सौत्रो धातुः ण्यन्तात् तस्मात् शप्रत्यये रूपम्) । सह मर्षणे इत्यस्य ण्यन्तस्य, साहयतीति साहयः ।

१०४८—उपसर्गपूर्वक आदन्त धातु से क-प्रत्यय होता है ।

१०४९—पाघ्रा आदिओं से श प्रत्यय होता है ।

१०५०—उपसर्ग रहित लिम्प् विन्द आदि धातुओं से श प्रत्यय होता है ।

शादय: । अनुपसर्गात्किम् । प्रलिपः[1] । (गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्[2]) । गोविन्दः[3] । अरविन्दम्[4] ।

१०५१ ददाति-दधात्योर्विभाषा[5] ३ । १ । १३६ ॥

ददः । दधः । पक्षे—वक्ष्यमाणो णः[6] ।

१०५२ ज्वलिति[7]-कसन्तेभ्यो णः[8] ३ । १ । १४० ॥

वा स्यात् । ज्वालः[9] । ज्वलः । चालः । चलः ।

१०५३ श्याद्व्यधास्रु-संस्रुतीणवसाऽवहृ-लिह-श्लिष-श्वसश्च[10] ३ । १ । १४१ ॥

अवश्यायः[11] । आत्—दायः[12] । धायः । व्याधः । आस्रावः-संस्रावः । अत्यायः ।

१—प्रलिम्पतीति प्रलिपः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः, शविकरणाऽभावान्न नुम् । २—गवादिषूपपदेषु विन्देः शप्रत्ययो वाच्यः, सञ्ज्ञायामिति नियमः । ('कर्मण्यण्' इत्यस्यापवादोऽयम्) । ३—गाः=उपनिषद्वाचो विन्दति प्रमाणतया इति गोविन्दः=साक्षात्परब्रह्मपरमात्मा भगवान् श्रीकृष्णः । ४—अराणि = चक्रे नाभिनेम्योरन्तरालप्रोतानि काष्ठानि, तत्साहश्याद् दलान्यपि अराणि उच्यन्ते, तानि विन्दतीति—अरविन्दम्=कमलम् । ५—दाञ्-धाञ्-धातुभ्यां शप्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः । ६—ददातीति ददः, दधातीति दधः । शः, शप् जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः, 'श्लौ' इति द्वित्वम्, 'आतो लोपः' इत्यालोपः । ७—'श्याद्व्यध...' इत्यादिसूत्रेणेति भावः । ८—ज्वलादिभ्यः कसन्तेभ्यो णप्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः । ९—णप्रत्यये 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धिः, ज्वलतीति ज्वालः, पक्षेऽच् प्रत्ययः ज्वलः । एवम् चलतीति चालः, चलः । १०—श्या-आत्-व्याध-आस्रु-संस्रु-अतीण्-अवसा-अवहृ-लिह्-श्लिष-श्वसेत्येकादशभ्योऽनुपसर्गेभ्यो नित्यं णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ११—अव-श्यैङ्, इत्यस्मात् णप्रत्यये 'आदेच' इत्यात्वे, आतो युक्, इति युगागमे अवश्यायः = नीहारः, (ओस) । १२—आदन्तोदाहरणे—ददातीति दायः, दधातीति धायः, दाधाधातुभ्यां णप्रत्यये युक् । विध्यति-इति व्याधः, णप्रत्यये उपधावृद्धिः । आस्रवतीत्यास्रावः, 'अचो

(गो आदि शब्द उपपद रहते विन्द् धातु से 'श' प्रत्यय होता है संज्ञा में)

१०५१—ददाति दधाति से 'श' प्रत्यय होता है विकल्प करके ।

१०५२—ज्वलादि कसन्त धातुओं से ण प्रत्यय होता है विकल्प से ।

१०५३—श्यैङ् और आदन्त तथा व्यध् आदि धातुओं से नित्य 'ण' प्रत्यय होता है ।

अवसायः । अवहारः । लेहः । श्लेषः । श्वासः ।

१०५४ विभाषा ग्रहः ३ । १ । १४३ ॥

व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन जलचरे ग्राहः । ज्योतिषि ग्रहः ।

१०५५ गेहे[२] कः ३ । १ । १४४ ॥

गृह्णाति धान्यादिकमिति गृहम्[३] ।

१०५६ शिल्पिनि ष्वुन् ३ । १ । १४५ ॥

क्रियाकौशलं=शिल्पम् । तद्वत्कर्तरि ष्वुन् स्यात् ।

१०५७ षः प्रत्ययस्य १ । ३ । ६ ॥

आदिरित् । (नृति-खनि-रञ्जिभ्य एव) । नर्तकः[४] । खनकः । (असि अकेऽने च रञ्जेर्नलोपो वाच्यः) रजकः[५] ।

ञ्णिति' वृद्धिः । एवमग्रेऽपि ।

१—ग्रह् धातोर्णप्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः सूत्रस्य । इयं च व्यवस्थितविभाषा, अयमर्थः-विशेषे=क्वचित् क्वचित् प्रयोगे, अवस्थितौ=अत्र विधिरेव अत्र निषेध एवेत्येवं रूपेण नियमितौ विधिनिषेधौ यस्याः सा व्यवस्थिता सा चासौ विभाषा=व्यवस्थितविभाषा । यद्वा व्यवस्था (अत्र विधिरेव अत्र निषेध एवेत्येवंरूपा) सञ्जाता अस्या इति व्यवस्थिता, सा चाऽसाविति पूर्ववत् । तेन जलचरे=मत्स्यादौ वाच्ये णप्रत्यये उपधावृद्धौ ग्राह इत्येव भवति । ज्योतिषि सूर्यचन्द्रादौ वाच्येऽच्-प्रत्यये ग्रह इत्येव भवतीति । २—गेहे कर्तरि ग्रह्धातोः कप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । "विभाषा ग्रहः" इत्यस्यापवादोऽयम् । ३—ग्रह् धातोः कप्रत्यये, ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम्—गृहम् । गृहशब्दोऽर्धर्चादित्वादुभयलिङ्गः, किन्तु पुंल्लिङ्गे बहुवचनान्त एव प्रयुज्यते, अत एव 'गृहाः पुंभूम्नि' इत्यमरकोशे उक्तम् । ४—नृत्यतीति नर्तकः, खनतीति खनकः, 'वु' इत्यस्य 'युवोरनाकौ, इति अकादेशः । षित्वात् स्त्रियां 'षिद्गौरादिभ्यः' इति ङीष् नर्तकी, खनकी । ५—स्त्रियां षित्वात् ङीष् रजकी ।

१०५४—ग्रह् से 'ण' प्रत्यय विभाषा=पाक्षिक होता है ।

१०५५—गेह कर्ता हो तो ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय होता है ।

१०५६—शिल्पी अर्थ में ष्वुन् प्रत्यय होता है ।

१०५७—प्रत्यय को षकार की इत् संज्ञा होती है ।

(ष्वुन् प्रत्यय नृत् खन् और रञ्ज् धातु से ही होता है) (अस् अक और अन् परे रहते रञ्ज् धातु के नकार का लोप होता है ऐसा कहना चाहिये)

१०५८ गस्थकन् ३ । १ । १४६ ॥

गायतेस्थकन् । गाथकः ।

१०५९ ण्युट् च ३ । १ । १४७ ॥

गायनः ।

१०६० प्रु-सृ-ल्वः समभिहारे वुन् ३ । १ । १४९ ॥

समभिहारग्रहणेन साधुकारित्वं लक्ष्यते । प्रवकः । सरकः । लवकः ।

१०६१ आशिषि च ३ । १ । १५० ॥

वुन् स्यात् । जीवतात्—जीवकः ।

१०६२ तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३ । १ । ९२ ॥

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपद-संज्ञं स्यात् ।

१०६३ कर्मण्यण् ३ । २ । १ ॥

कर्मण्युपपदे धातोरण् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

१—गैधातो थकन्, गायतीति गाथकः 'आदेच' इत्यात्वम् । २—ण्युट् इत्यस्य 'युः', तस्यानादेशः 'युवोरनाकौ' इत्यनेन । आयादेशे गायनः । टित्वात् स्त्रियां टिड्ढाणञिति ङीप् गायनी । ३—साधु प्रवते = गच्छति—इति प्रवकः, वुन्, 'वु' इत्यस्य अकः, गुणः, अवादेशः । एवं साधु सरतीति सरकः (सृ + वुन्) । साधु लुनातीति लवकः (लू + वुन्) । ४—आशीर्विषयार्थवृत्तेर्धातोर्वुन् स्यात्कर्तरि । आशीः = आशासनम्, अयमित्थं भूया-दिति प्रार्थनारूपमिति । तथा—जीवतादिति जीवकः, नन्दतादिति नन्दकः, आशा-सितुः पित्रादेरियमुक्तिः । ५—'उपपदमतिङ्' इति समासः—उपपदसञ्ज्ञायाः फलम् । ६—कुम्भं करोतीति लौकिकविग्रहः । अलौकिकविग्रहस्तु कुम्भ + अस् कार इति । सुबुत्पत्तेः प्रागेव कारशब्देन समासः, कुम्भकारः ।

१०५८—'गै' धातु से 'थकन्' प्रत्यय होता है ।

१०५९—गै से 'ण्युट्' प्रत्यय भी होता है ।

१०६०—साधुकारी अर्थ में प्रु०सृ० और लू धातु से 'वुन्' प्रत्यय होता है ।

१०६१—आशीर्वाद अर्थ में भी 'वुन्' प्रत्यय होता है ।

१०६२—सप्तम्यन्त पद कर्मणि इत्यादियों में वाच्यत्वेन स्थित कुम्भादि के वाचक शब्द की उपपद संज्ञा होती है ।

१०६३—कर्म उपपद रहते धातु से अण् प्रत्यय होता है ।

१०६४ आतोऽनुपसर्गे कः ३ । २ । ३ ॥

कर्मण्युपपदे आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कः स्यान्नाऽण् । अणोऽपवादः । गोदः[1] । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् । गोसंदायः[2] । (मूलविभुजादिभ्यः कः) । मूलानि विभुजतीति मूलविभजो[3] रथः । आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः[4] । कुध्रः ।

१०६५ सुपि स्थः ३ । २ । ४ ॥

कः स्यात् । समस्थः[6] । विषमस्थः । सुपीति योगविभागादन्यस्मादपि । द्वाभ्यां पिबति इति द्विपः[7] ।

१०६६ अम्बाम्ब-गो-भूमि-सव्याप-द्वि-त्रि-कुशे-कु-शं-कङ्गु-मञ्जि पुञ्जि-परमे-बर्हिर्दिव्य'ग्निभ्यः स्थः ८ । ३ । ९७ ॥

एभ्यः स्थस्य सस्य षः स्यात् । द्विष्ठः । त्रिष्ठः ।

१०६७ तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः ३ । २ । ५ ॥

१—गां ददातीति गोदः, कम्बलं ददातीति कम्बलदः, अणि प्राप्ते तदपवादः कप्रत्ययः, 'आतो लोप' इत्यालोपः । २—गां संददातीति गोसन्दायः, उपसर्गपूर्वकत्वान्न कप्रत्ययः, किन्तु 'कर्मण्यणि'ति अण्, 'आतो युक्' इति युगागमः । ३—कित्त्वात् 'पुगन्ते'ति—उपधागुणो न । विभुजति = विमर्दयति, विपूर्वकाद् भुजो कौटिल्ये इत्यस्मात् कप्रत्ययः, इहोपसर्गवशान्मर्दनमर्थः । ४—महीं धरतीति—महीध्रः, कुं = पृथ्वीं धरतीति कुध्रः कप्रत्ययः, कित्त्वान्न गुणः ऋकारस्य 'इको यणि' ति यण् रेफः । ५—सुप्युपपदे स्थाधातोः कप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अत्र सूत्रे 'सुपि' इति योगो विभज्यते, तेन सुप्युपपदे अन्यस्मादप्यादन्तात् कप्रत्ययो भवति, तेन द्वाभ्यां पिबतीति द्विप इत्यादिरपि सिद्धयति । ६—समे तिष्ठतीति समस्थः, कप्रत्यये 'आतो लोप' इत्यालोपः । एवं विषमस्थः । ७—पाधातोः कः, आलोपः, द्वाभ्याम्=मुखेन शुण्डादण्डेन च पिबतीति द्विपः= हस्ती । ८—स्थाधातोः सकारस्येत्यर्थः । द्विष्ठः इत्याद्युदाहरणानि । कप्रत्यये, आतो लोपः ।

१०६४—कर्म उपपद रहते अनुपसर्ग आदन्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है, अण् नहीं होता । (मूल विभुजादि शब्दों से क प्रत्यय होता है) ।

१०६५—सुबन्त उपपद रहते स्था से 'क' प्रत्यय होता है ।

१०६५—अम्बाऽम्ब गोभूमि आदि शब्दों से परे 'क' प्रत्ययान्त स्था के सकार को षकार होता है ।

१०६७—कर्मभूत तुन्द और शोक उपपद रहते परिपूर्वक मृज् और अप

तुन्दशोकयोः कर्मणोरुपपदयोराभ्यां कः । (आलस्यसुखाहरणयोरिति वक्तव्यम्) । तुन्दपरिमृजोऽलसः । शोकापनुदः = सुखस्याहर्ता ।

१०६८ प्रे दाज्ञः ३ । २ । ६ ॥

कः स्यात् । सर्वप्रदः । पथिप्रज्ञः ।

१०६९ समि ख्यः ३ । २ । ७ ॥

गोसंख्यः ।

१०७० गापोष्टक् ३ । २ । ८ ॥

कर्मण्युपपदे । सामगः । (पिबतेः सुराशीध्वोरिति वाच्यम्) । सुरापी । शीधुपी ।

१—परिमृजापनुदोरिति पञ्चम्यर्थे षष्ठीति भावः । २—पूर्वसूत्रोक्तम् आलस्ये सुखाहरणे च गम्ये स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः । ३—तुन्दम् = उदरं परिमार्ष्टि—इति तुन्दपरिमृजः = अलसः । कित्वाद् गुणवृद्धी न भवतः । (अत्र 'मृजेरजादौ' इति पाक्षिकवृद्धिर्न भवति, व्यवस्थितविभाषाश्रयणादित्याहुः) । शोकम् अपनुदति—इति शोकापनुदः = सुखस्याहर्ता, कित्वान्नोपधागुणः । अन्यत्र तुन्दपरिमार्जः, शोकापनोदः, कर्मण्यण् । ४—प्रपूर्वकाद् दाधातोर्ज्ञाधातोश्च कर्मण्युपपदे कप्रत्ययः स्यादित्यर्थः, अणोऽपवादोऽयम् । ५—सर्वं प्रददातीति सर्वप्रदः । ६—पन्थानं प्रजानाति—इति—पथिप्रज्ञः । कप्रत्यये 'आतो लोपः' । ७—गाः सञ्चष्टे—गोसङ्ख्यः, सम्पूर्वकात् चक्षिङः ख्याञादेशे रूपम् , कप्रत्यये 'आतो लोपः' । ८—गै शब्दे, पा पाने, इत्याभ्यां कर्मण्युपपदे टक् स्यादित्यर्थः । ९—सामानि गायतीति सामगः । टक् प्रत्यये 'आतो लोपः' स्त्रियां टित्वात् ङीप् सामगी । १०—पाधातोः सुराशीध्वोरुपपदयोः टक् स्यादित्यर्थः । ११—पुँल्लिङ्गे सुराप इत्यादिप्रयोगस्य 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययेऽपीष्टस्य सिद्धेः सत्वात् ङीत्वे विशेषताज्ञापनार्थमुदाहरति—सुरापी शीधुपी (स्त्री)

पूर्वक नुद् से 'क' प्रत्यय होता है । (आलस्य और सुखाहरण अर्थ में होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

१०६८—कर्म उपपद रहते प्रपूर्वक दा और ज्ञा धातु से 'क' प्रत्यय होता है ।

१०६९—कर्म उपपद रहते सम् पूर्वक ख्या से 'क' प्रत्यय होता है ।

१०७०—कर्म उपपद रहते गा और पा धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है । (पा से सुरा और सीधु उपपद रहते होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

१०७१ हरतेरनुद्यमनेऽच् ३ । २ । ९ ॥

अंशहरः[1] । अनुद्यमने किम् । भारहारः । (शक्तिलाङ्गलांकुश-तोमर-यष्टि-घट-घटी-धनुष्षु ग्रहः[3]) । शक्तिग्रहः ।

१०७२ वयसि[4] च ३ । २ । १० ॥

उद्यमनार्थं सूत्रम् । कवचहरः = कुमारः ।

१०७३ आङि[5] ताच्छील्ये ३ । २ । ११ ॥

पुष्पाण्याहरति तच्छीलः, पुष्पाहरः ।

१०७४ अर्हः ३ । २ । १२ ॥

अर्हतेरच्स्यात् कर्मण्युपपदे । पूजार्हा[6] ब्राह्मणी ।

टित्वात् टिड्ढेति ङीप् । कप्रत्ययान्तस्य तु टापि 'सुरापा' इति स्यात् ।

१—अनुद्यमने विद्यमानात्कर्मण्युपपदे हृञ्धातोः—अच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । उद्यमनम् = उद्ग्रहणम्, उत्थापनम् इति । २—अंश हरति—इति **अंशहरः** = भागस्याऽऽदाता । ३—शक्त्यादिषूपपदेषु ग्रहधातोरच् प्रत्ययः स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः । अत्र वार्तिके घटग्रहणेनैव सिद्धे पुनर्घटीशब्दस्य पृथग्ग्रहणं लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनार्थम् । **शक्तिग्रहः**—इत्यादि, अच्प्रत्ययस्य कित्त्वाऽभावान्न सम्प्रसारणम् । ४—कर्मण्युपपदे वयसि गम्ये हृञ्धातोरच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अनुद्यमने 'हरतेरनुद्यमने' इत्यनेनैव, सिद्धे—उद्यमनार्थं सूत्रमिदम् । **कवचहरः**—कवच हरतीति विग्रहः, अत्र कवचधारणयोग्यत्वेन कुमारावस्था गम्यते । ५—आङ्पूर्वाद् हरतेः कर्मण्युपपदेऽच्प्रत्ययः स्यात् ताच्छील्ये गम्ये । ताच्छील्यं = तत्स्वभावता । ६—पूजाम् अर्हतीति **पूजार्हा** ब्राह्मणी । अच्प्रत्यये स्त्रिया टाप् । अणोऽपवादोऽयम् । अण् प्रत्यये तु सति टिड्ढाणञिति स्त्रिया ङीपि 'पूजार्ही' इति

१०७१—कर्म उपपद रहते हृञ् धातु से अच् प्रत्यय होता है, उद्यमन से भिन्न अर्थ में । (कर्मभूत शक्ति लाङ्गल आदि शब्द उपपद हों तो ग्रह धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

१०७२—अवस्था गम्य रहे तो कर्म उपपद रहते हृञ् से उद्यमनार्थ में 'अच्' प्रत्यय होता है ।

१०७३—आङ् पूर्वक हृञ् से कर्म उपपद रहते ताच्छील्य अर्थ में 'अच्' प्रत्यय होता है ।

१०७४—अर्ह धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है कर्म उपपद रहते ।

१०७५ स्तम्बकर्णयोरमिजपोः ३ । २ । १३ ॥

(हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यम्) । स्तम्बेरमः = हस्ती । कर्णेजपः = सूचकः ।

१०७६ अधिकरणे शेतेः ३ । २ । १५ ॥

खे शेते खशयः । (पार्श्वादिषूपसंख्यानम्) । पार्श्वाभ्यां शेते पार्श्वशयः । पृष्ठशयः । उदरशयः ।

१०७७ चरेष्टः ३ । २ । १६ ॥

अधिकरणे उपपदे । कुरुचरः ।

१०७८ भिक्षा-सेनादायेषु च ३ । २ । १७ ॥

भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायेति ल्यबन्तम् । आदायचरः ।

१०७९ कृञो हेतु-ताच्छील्यानुलोम्येषु ३ । २ । २० ॥

स्यात् । (तन्निवृत्तयेऽच्प्रत्ययविधिः) ।

१—स्तम्बपूर्वकाद् 'रम्'-धातोः कर्णपूर्वकाद् जप-धातोश्च हस्तिसूचकयोरर्थयोरच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । २—स्तम्बे = दर्भादितृणनिचये रमते = क्रीडति, स्तम्बेरमो = हस्ती । 'तत्पुरुषे कृति बहुल' मिति सप्तम्याः (ङेः) अलुक् । ३—कर्णे जपति-इति कर्णेजपः = सूचकः पिशुन इति यावत् । अत्रापि पूर्ववत् ङेरलुक् । ४—सुबन्तेऽधिकरणवाचिन्युपपदे शीङ्धातोरच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । खे शेते—खशयः, गुणायादेशौ । ५—अच् प्रत्ययस्येति शेषः । पृष्ठेन शेते पृष्ठशयः । उदरेण शेते-उदरशयः । ६—कुरुषु=तदाख्यदेशे चरति = अटतीति कुरुचरः, स्त्रियां टित्वात् ङीप् कुरुचरी । ७—एषूपपदेषु चरेष्ट इत्यर्थः । भिक्षां चरति = अर्जयति-भिक्षाचरः । सेनाया चरतीति-सेनाचरः । आदायचरः = लब्धं द्रव्यं गृहीत्वा चरतीत्यर्थः ।

१०७५—स्तम्ब पूर्वक रम् धातु से और कर्ण पूर्वक जप् धातु से अच् प्रत्यय होता है । (हस्ति और सूचक अर्थ में हो ऐसा कहना चाहिये) ।

१०७६—अधिकरण वाचक सुबन्त उपपद रहते शीङ् धातु से अच् प्रत्यय होता है । (पार्श्व आदि शब्द उपपद रहते भी होता है ऐसा उपसंख्यान है)

१०७७—अधिकरण वाचक उपपद रहते चर् से 'ट' प्रत्यय होता है ।

१०७८—भिक्षा, सेना और आदाय उपपद रहते चर् धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ।

१०७९—हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य अर्थ द्योत्य होने पर कृधातु से 'ट' प्रत्यय होता है ।

एषु बोत्येषु कृञष्टः ।

१०८० अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य ८ । ३ । ४६ ॥

अत उत्तरस्याऽनव्ययविसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः करोत्यादिषु । यशस्करी[1] विद्या । श्राद्धकरः । वचनकरः ।

१०८१ दिवा-विभा निशा-प्रभा-भास्कारान्तानन्तादि बहुनान्दी-किं-लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-कर्तृ-चित्र-क्षेत्र-संख्या-जङ्घा-बाह्वहर्यत्त-द्धनुररुष्षु ३ । २ । २१ ॥

एषु कृञष्टोऽहेत्वादावपि । दिवाकरः । विभाकरः । निशाकरः । कस्कादित्वात्[2]सः—भास्करः । बहुकरः । एककरः । द्विकरः । अहस्करः[3] । धनुष्करः[4] । अरुष्करः ।

१०८२ न शब्द-श्लोक-कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मन्त्रपदेषु[5] ३ । २ । २३ ॥

एषु कृञष्टो न । शब्दकारः ।

१—यशः करोतीति-**यशस्करी** विद्या, विद्या यशोहेतुरित्यर्थे टप्रत्यये 'सार्वधातुके'ति गुणः, स्त्रियां टित्वात् ङीप् । श्राद्धं करोति तच्छीलः **श्राद्धकरः** । वचनं करोति **वचनकरः** = गुर्वादिवचनानुवर्ती, अनुलोम्योदाहरणमिदम् । २—भास्कर-शब्दस्य कस्कादिगणपठितत्वात् "कस्कादिषु च" इति सूत्रेण विसर्गस्य सत्वमित्यर्थः । भासं करोतीति **भास्करः** = सूर्यः । ३—अहः करोति **अहस्करः** अहन्निति रुत्वम्, कस्कादित्वात् विसर्गस्य सत्वम् । ४—धनुः करोति **धनुष्करः**, "नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य" इति विसर्गस्य षत्वम्, एवम् **अरुष्कर** इत्यत्रापि । ५—हेत्वादिषु प्राप्तष्टो निषिध्यते सूत्रेणाऽनेन । टप्रत्ययनिषेधादण् भविष्यति, **शब्दकारः** इत्यादि ।

१०८०—अवर्ण से उत्तर अव्ययभिन्न विसर्ग को नित्य सकारादेश होता है समास में कृ-कमि आदि परे रहते ।

१०८१—दिवा विभा आदि कर्म उपपद रहते हेतुताच्छील्यादि से अतिरिक्त अर्थों में भी कृञ् से 'ट' प्रत्यय होता है ।

१०८२—शब्दश्लोकादि कर्म उपपद रहते कृञ् से 'ट' प्रत्यय नहीं होता ।

१०८३ स्तम्बशकृतोरिन् ३ । २ । २४ ॥

(व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्) । स्तम्बकरिर्व्रीहिः । शकृत्करिर्वत्सः ।

१०८४ हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ ३ । २ । २५ ॥

दृतिहरिः । नाथं = नासारज्जुं हरतीति नाथहरिः = पशुः ।

१०८५ फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च ३ । २ । २६ ॥

एतौ निपात्येते । चात्कुक्षिम्भरिः । चान्द्रास्तु आत्मोदरकुक्षिष्विति पेठुः । 'ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः' इति मुरारिः ।

१०८६ एजेः खश् ३ । २ । २८ ॥

ण्यन्तात् ।

१०८७ अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६ । ३ । ६७ ॥

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य मुम् खिदन्ते न त्वव्ययस्य । शित्वाच्छबादि । जनमे-

---

१—स्तम्बे शकृति च कर्मण्युपपदे कृञ्धातोः इन् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । नकार इत्संज्ञकः । तत्र वार्तिकार्थसहकारेण व्रीहौ वत्से एव वाच्ये स्यादिति । २—स्तम्बम्=तृणनिचयं करोति, **स्तम्बकरिः** व्रीहिः, गुणः, रपरत्वम् । ३—शकृत् = मलं करोति **शकृत्करिः** = वत्सः । ४—दृतिनाथयोरुपपदयोर्हृञ इन् स्यात् पशौ कर्तरि । दृतिम् = चर्मभस्त्रिकां हरति दृतिहरिः । एवं **नाथहरिः** । ५—फलानि गृह्णाति—**फलेग्रहिः**, उपपदस्य एदन्तत्वम् इन्प्रत्ययश्च निपात्यते । आत्मानं बिभर्ति—**आत्मम्भरिः**, आत्मनो मुगागमो भृञ इन्प्रत्ययश्च निपात्यते । ६—अनर्घराघवनाटके मुरारिकविरित्यर्थः । ७—ण्यन्तादेजेः खश् स्यादित्यर्थः । ८—'तिङ्शित्सार्वधातुकमि'ति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति गुणः, अय्—इत्यर्थः ।

१०८३—स्तम्ब और शकृत् कर्म उपपद रहते कृञ् से 'इन्' प्रत्यय होता है । (व्रीहि और वत्स अर्थ में ही होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

१०८४—दृति और नाथ कर्म उपपद रहते हृञ् धातु से 'इन्' प्रत्यय होता है पशु अर्थ में ।

१०८५—फलेग्रहि और आत्मम्भरि ये दोनों इन् प्रत्ययान्त निपातन हैं । (चान्द्रवैयाकरण 'उदरम्भरि' 'कुक्षिम्भरि' भी निपातन से सिद्ध करते हैं) ।

१०८६—ण्यन्त एज् धातु से खश् प्रत्यय होता है ।

१०८७—अरुष्, द्विषत् और अजन्त को मुम् होता है खिदन्त परे रहते, अव्यय को ह्रस्व नहीं होता ।

जयतीति जनमेजयः । (वात-शुनी-तिल-शर्द्धेष्वज-धेट्-तुद-जहातिभ्यः खश्) । वातमजा मृगाः ।

१०८८ खित्यनव्ययस्य ६ । ३ । ६६ ॥

ह्रस्वः । शुनिन्धयः । तिलन्तुदः । शर्द्धञ्जहा माषाः ।

१०८९ नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः ३ । २ । २९ ॥

(स्तने धेटो नासिकायां ध्मश्चेति वक्तव्यम्) । स्तनन्धयः । टित्वात्स्तनन्धयी ।

१०९० नाडीमुष्ट्योश्च ३ । २ । ३० ॥

ध्माधेटोः खश् । नाडिन्धमः । नाडिन्धयः । मुष्टिन्धमः, मुष्टिन्धयः ।

१०९१ उदि कूले रुजिवहोः ३ । २ । ३१ ॥

कूलमुद्रुजः । कूलमुद्वहः ।

१—तन्नामा नृपतिविशेषः । २—वातम् अजन्ति = क्षिपन्ति, इति **वातमजाः**, सुपो लुकि मुम् । ३—खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः, न त्वव्ययस्येत्यर्थः । ४—शुनी धयति **शुनिन्धयः**, ह्रस्वे मुम् । तिलानि तुदति इति **तिलन्तुदः**, शर्द्धम् = अपानशब्दं जहाति **शर्द्धञ्जहाः**, अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् । ५—धेट् धातोः टित्वस्याऽवयवेऽचरितार्थत्वेन 'टिड्ढे'ति ङीपि **स्तनन्धयी** । ६—उत्पूर्वाभ्यां रुजि-वहिभ्यां कूले कर्मण्युपपदे खश् स्यादित्यर्थः, **कूलमुद्रुजः** सुपो लुकि मुम् । एवं **कूलमुद्वहः** ।

(वात शुनी आदि कर्म उपपद रहते क्रमशः अज् धेट् आदि धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है) ।

१०८८—खिदन्त परे रहते पूर्वपद को ह्रस्व होता है, किन्तु अव्यय को ह्रस्व नहीं होता ।

१०८९—नासिका और स्तन कर्म उपपद रहे तो ध्मा और धेट् धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है । (स्तन पूर्व रहते धेट् से नासिका पूर्व रहते ध्मा और धेट् दोनों से होता है ऐसा कहना चाहिये ।)

१०९०—कर्म संज्ञक नाडी और मुष्टि शब्द उपपद रहते ध्मा और धेट् से 'खश्' होता है ।

१०९१—उत्पूर्वक रुज् और वह् धातु से कूल कर्म उपपद रहते 'खश्' प्रत्यय होता है ।

१०६२ वहाभ्रे लिहः ३ । २ । ३२ ॥

वहः = स्कन्धः तं लेढीति वहंलिहो गौः । अभ्रंलिहो = वायुः ।

१०६३ परिमाणे पचः ३ । २ । ३३ ॥

प्रस्थम्पचा स्थाली । खारिम्पचः कटाहः ।

१०६४ मित-नखे च ३ । २ । ३४ ॥

मितम्पचा ब्राह्मणी । नखम्पचा यवागूः ।

१०६५ विध्वरुषोस्तुदः ३ । २ । ३५ ॥

विधुन्तुदः । अरुन्तुदः ।

१०६६ असूर्यललाटयोर्दृशितपोः ३ । २ । ३६ ॥

१—वहे अभ्रे च कर्मण्युपपदे लिह्धातोः खश् स्यादित्यर्थः । **वहंलिहः**, अदादित्वाच्छपो लुक् । खशः शित्वेन सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वात् नोपधागुणः । २—एवम् **अभ्रंलिहः** । अभ्रं लेढीति विग्रहः । ३—परिमाणे कर्मण्युपपदे पचेः खश् इत्यर्थः । ४—प्रस्थं पचति **प्रस्थम्पचा** । खश् मुम् । **खारिम्पचः**, खश्, मुम्, खारीं पचतीति विग्रहः, खित्यनव्ययस्येति ह्रस्वः । ५—मिते नखे च कर्मण्युपपदे पचेः खश् इत्यर्थः । नखानि पचति = तापयति **नखम्पचा**, पचिरत्र तापवाची । ६—विधु; अरुस् अनयोः कर्मणोरुपपदयोः तुदः खश् स्यादित्यर्थः । ७—विधुं=चन्द्रं तुदति=पीडयति **विधुन्तुदः**=राहुः । अरुर्मर्म तुदति **अरुन्तुदः**=मर्मवधी । 'अरुस्' शब्दे सकारात्पूर्वम् उकारात् परतो मुमि कृते सकारस्य संयोगान्तत्वेन लोपः । ८—असूर्ये ललाटे च कर्मण्युपपदे दृशेः तपेश्च खश् इत्यर्थः । असूर्यम्पश्या इत्युदाहरणे असूर्यमित्यसमर्थसमासः, सूर्येण नञः सम्बन्धाभावात् ।

१०६२—कर्मभूत वह और अभ्र उपपद रहते लिह् धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ।

१०६३—परिमाणवाचक कर्म उपपद रहते पच् धातु से 'खश्' होता है ।

१०६४—मित और नख कर्म उपपद हों तो भी पच् धातु से 'खश्' होता है ।

१०६५—विधु और अरुष् कर्म उपपद हों तो तुद् धातु से खश् प्रत्यय होता है ।

१०६६—असूर्य और ललाट कर्म उपपद हों तो क्रमशः दृश् और तप् धातु से 'खश्' होता है ।

असूर्यमित्यसमर्थसमासः। दृशिना नञः सम्बन्धात्। असूर्यम्पश्या राजदाराः। ललाटन्तपः सूर्यः।

१०९७ प्रियवशे वदः खच्[2] ३। २। ३८॥

प्रियंवदः[3]। वशंवदः। (गमेः सुपि वाच्यः) मितङ्गमो[4] हस्ती। (विहायसो विह च, खच्च डिद्वा वाच्यः)। विहङ्गमः। विहङ्गः। भुजङ्गमः[6]। भुजङ्गः।

१०९८ [8]द्विषत्परयोस्तापेः ३। २। ३९॥

खच्।

१०९९ खचि ह्रस्वः ६। ४। ९४॥

खचि परे णौ उपधाया ह्रस्वः। द्विषन्तं परं वा तापयति द्विषन्तपः[9], परन्तपः।

सूर्यं न पश्यन्तीत्यर्थे नञो दृशिनाऽन्वितत्वेन सूर्यशब्देनाऽन्वयाभावादित्यर्थः।

१—खश् प्रत्यये शपि पश्यादेशः, मुम्। ललाटन्तपः सूर्यः, सूर्यं पश्यतो ललाटस्याऽवश्यतापात्। २—प्रिये वशे च कर्मण्युपपदे वद् धातोः खच् इत्यर्थः। खशि प्रकृते खच् विधिरुत्तरार्थः। ३—प्रियं वदति, वशं वदति—इति विग्रहौ। ४—सुबन्ते कर्मण्युपपदे गमेः खच्। असञ्ज्ञार्थमिदम्। ५—मितं गच्छति—मितङ्गमः। ६—(आकाशवाचिनि) 'विहायस्' शब्दे उपपदे गमेः खच्, विहायस् शब्दस्य विहादेशः स खच् प्रत्ययो वा डिद् वाच्यः, डित्वादमस्यापि टेर्लोपः—'विहङ्गः। डित्त्वाऽभावपक्षे विहङ्गमः = पक्षी। विहायसा गच्छतीति विग्रहः। ७—भुजैर्गच्छतीति भुजङ्गः, भुजङ्गमः = सर्पः। गमेः सुपीति खच्, खच्च डिद्वेति डित्वविकल्पः। ८—द्विषति परे च कर्मण्युपपदे तापेः खच्। ९—द्विषत् तापि + अ, इति स्थिते, 'खचि ह्रस्वः' इति उपधाह्रस्वे णिलोपे मुमि संयोगान्तलोपे, द्विषन्तप, एवं परन्तपः।

१०९७—प्रिय और वश कर्म उपपद हों तो वद् धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है।

(सुबन्त कर्म उपपद रहते गम् से 'खच्' होता है) (विहायस् शब्द उपपद रहते गम् से 'खच्' होता है। और विहायस् को 'विह' आदेश होता है। तथा खच् प्रत्यय डित् होता है विकल्प से)।

१०९८—कर्मसंज्ञक द्विषत् और पर शब्द उपपद हों तो ताप् धातु से 'खच्' होता है।

१०९९—खच् पर णि परे रहते धातु की उपधा को ह्रस्व होता है।

११०० वाचि यमो व्रते ३ । २ । ४० ॥

खच् ।

११०१ वाचंयम-पुरन्दरौ च ६ । ३ । ६९ ॥

वाक्पुरोरमन्तत्वं निपात्यते । वाचंयमो = मौनव्रती । व्रते किम् । अशक्त्यादिना वाचं यच्छतीति वाग्यमः ।

११०२ पूःसर्वयोर्दारिसहोः ३ । २ । ४१ ॥

खच् । पुरं दारयतीति पुरन्दरः । सर्वसहः । कथं तर्हि भगं दारयतीति भगन्दरः ? बाहुलकात् ।

११०३ सर्व-कूलाभ्र-करीषेषु कषः ३ । २ । ४२ ॥

सर्वङ्कषः = खलः । कूलङ्कषा = नदी । अभ्रङ्कषः=वायुः । करीषङ्कषा = वात्या ।

११०४ मेघर्तिभयेषु कृञः ३ । २ । ४३ ॥

१—वाक् शब्दे उपपदे व्रते गम्ये यमेः खच् स्यादित्यर्थः । २—वाचं यच्छति पुरं दारयति, इति विग्रहे यमेर्दारेश्च खच् । सुपो लुकि वाच्-यम्, पुर्-यम्, इति स्थिते वाक् पुरोररमन्तत्वं निपात्यते, इत्यर्थः । ३—कर्मण्यण् 'अत उपधायाः' वृद्धिः । ४—पुर् शब्दे सर्वशब्दे च कर्मवाचिन्युपपदे दारेः सहेश्च खच् स्यादित्यर्थः । ५—दारेः खच्प्रत्यये णिलोपे 'खचि ह्रस्व' इत्युपधाह्रस्वे, सुपो लुकि 'वाचयमे' ति निपातनादमन्तत्व निपात्यते, पुरन्दरः = इन्द्रः । सर्वं सहते सर्वंसहः । ६—भगन्दरो = रोगविशेषः । ७—बाहुलकादप्राप्तोऽपि खच् भवतीत्यर्थः । कृत्यल्युटो बहुलमित्यत्र बहुलमिति योग विभज्य कृन्मात्रस्योपाधिव्यभिचारादिति भावः । ८—एषूपपदेषु कषधातोः खच् प्रत्यय इत्यर्थः । ९—एषूपपदेषु कृञः खच् इत्यर्थः ।

११००—कर्मभूत वाच् शब्द उपपद रहे तो यम् धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है ।

११०१—वाच् और पुर् को अमन्तत्व निपातन होता है ।

११०२—कर्मभूत पुर् और सर्व उपपद रहते क्रमशः दारि और सह् धातु से 'खच्' होता है ।

११०३—कर्मभूत सर्वकूलादि शब्द उपपद रहें तो कष् धातु से 'खच्' होता है ।

११०४—कर्मभूत मेघ ऋति और भय उपपद हो तो कृञ् धातु से 'खच्' होता है ।

मेघङ्करः। ऋतिङ्करः। भयङ्करः। भयशब्देन तदन्तविधिः[1]। अभयङ्करः।

११०५ क्षेम-प्रिय-मद्रेऽण् च ३।२।४४॥

एषु कृञोऽण् चात्खच्। क्षेमङ्करः, क्षेमकारः[1]। प्रियङ्करः, प्रियकारः। मद्रङ्करः, मद्रकारः। कथं तर्हि अल्पारम्भाः क्षेमकरा इति[2]। कर्मणः शेषत्वविवक्षायां पचाद्यच्[3]। एवं गङ्गाधर-भूधरादयः[4]।

११०६ आशिते भुवः करणभावयोः ३।२।४५॥[5]

खच्। आशितो भवत्यनेन—आशितम्भव ओदनः[6]। आशितस्य भवनम् आशितम्भवः।

११०७ संज्ञायां भृ-तॄ-वृ-जि-धारि-सहि-तपि-दमः ३।२।४६॥

खच्। विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरः। रथन्तरं[7] = साम। शत्रुञ्जयः = हस्ती। युगन्धरः = पर्वतः। शत्रुंसहः। शत्रुन्तपः। अरिन्दमः।

११०८ गमश्च ३।२।४७॥[8]

१—भयशब्दान्त उपपदेऽपि भवतीत्यर्थः। समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः, इति तदन्तविधेरप्राप्तौ वाचनिकोऽयमत्र तदन्तविधिरिति भाष्यम्।

१—खचोऽभावपक्षे कर्मण्यण्, वृद्धिः क्षेमकारः। २—कथं तर्हि—"अल्पारम्भाः क्षेमकराः" इति चेत् कर्मणः शेषत्वविवक्षायां पचाद्यचि क्षेमकरः। ३—तथाच कर्मोपपदाऽभावात् अणोऽभावेऽच् प्रत्ययः। ४—धरतीति धरः, गङ्गाया धर इत्यादिविग्रहाः। ५—आशितशब्दे उपपदे करणे भावे चार्थे भूधातोः खच् स्यादित्यर्थः। ६—पुरुष इति शेषः, यावता ओदनेन आतिथ्यादिर्भोजितो भवति स ओदन आशितम्भव उच्यते, करणे प्रत्ययः। भावे प्रत्यये आशितस्य भवनमिति विग्रहः। ७—सामविशेषस्य सञ्ज्ञेयम्। रथेन तरतीति व्युत्पत्तिमात्रम्, नत्ववयवार्थाऽनुगमः। ८—सञ्ज्ञाया खच् इति शेषः। सुतं गच्छति इति विग्रहः।

(भय शब्दान्त से भी 'खच्' होता है)

११०५—क्षेम प्रिय और मद्र कर्म उपपद रहें तो कृञ् से अण् होता है, पक्ष में 'खच्' भी।

११०६—सुबन्त आशित शब्द उपपद हो तो भू धातु से 'खच्' होता है करण और भाव अर्थ में।

११०७—सुबन्त कर्म उपपद रहते भृ तॄ आदि धातुओं से खच् प्रत्यय होता है संज्ञा में।

११०८—गम् धातु को भी संज्ञा में खच् होता है।

सुतङ्गमः ।

११०९ अन्तात्यन्ताध्व-दूर-पार-सर्वानन्तेषु डः ३ । २ । ४८ ॥

गमेः । अन्तगः । (सर्वत्र-पन्नयोरिति वाच्यम्) सर्वत्रगः । पन्नं=पतितं गच्छतीति पन्नगः । (उरसो लोपश्च) उरसा गच्छतीत्युरगः । (सुदुरोरधिकरणे) सुखेन गच्छन्त्यत्र, सुगः । दुर्गः । (अन्यत्रापि दृश्यत इति वाच्यम्) । ग्रामगः । (डे च विहायसो विहादेशो वाच्यः) विहगः ।

१११० आशिषि हनः ३ । २ । ४९ ॥

शत्रुं वध्यात् शत्रुहः । आशिषि किम्—शत्रुघातः । (दारावाहनोऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम् ।) दारुशब्दे उपपदे आङ्पूर्वाद्धन्तेरण् टकारश्चान्तादेशो वक्तव्य इत्यर्थः । दार्वाघाटः । (चारौ वा) चार्वाघाटः । चार्वाघातः ।

१—एषूपपदेषु गमेर्डः स्यादित्यर्थः । डित्वाट्टिलोपः, अन्तगः अन्तं गच्छति—इति विग्रहः, एवम् अत्यन्तग; अध्वगः इत्यादि । २—उरस्-शब्दे उपपदे गमेर्डः उरस्-शब्दान्त्यस्य (सस्य) लोपश्चेति वक्तव्यमित्यर्थः । ३—डित्वाट्टिलोपे उरगः =सर्पः । ४—सु-दुर् इत्येतयोरुपपदयोः गमेर्डः स्यादधिकरणे वाच्ये । ५—दुःखेन गम्यतेऽत्र दुर्गः । ६—अन्येष्वप्युपपदेषु-अन्येभ्योऽपि धातुभ्यो डप्रत्ययो दृश्यते इत्यर्थः । ७—ग्रामं गच्छति—ग्रामगः डित्वाट्टिलोपः । ८—विहायसा गच्छति-विहगः । ९—कर्मण्युपपदे हन्तेर्डः स्यादाशिषि गम्यायामित्यर्थः । शत्रुहः । डित्वाट्टिलोपः । १०—शत्रुं हन्ति-शत्रुघातः आशीर्वादाऽभावेन डो न, किन्तु 'कर्मण्यण्' इत्यण्, 'हो हन्ते' रिति हस्य घत्वं, 'हनस्त' इति नस्य तकारः, 'अत उपधायाः' वृद्धिः । ११—दारु-आहन्ति इति विग्रहः, अणि घत्वे नस्य टकारे वृद्धौ दार्वाघाटः । १२—चारु-आहन्तीति विग्रहः, सिद्धिः पूर्ववत् ।

११०९—कर्मभूत अन्त अत्यन्त आदि सुबन्त उपपद रहे तो गम् से 'ड' प्रत्यय होता है । (सर्व और पन्न शब्द उपपद हों तो भी गम् से 'ड' होता है) । (उरस् शब्द से परे भी गम् से 'ड' होता है और सकार का लोप होता है) ।

(सु और दुर् उपपद रहते गम् से 'ड' होता है अधिकरण अर्थ में) (अन्य उपपद रहते भी ड होता है) (ड प्रत्यय परे रहते विहायस् को विह आदेश होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

१११०—सुबन्त कर्म उपपद रहते हन् से 'ड' प्रत्यय होता है आशीर्वाद अर्थ में । (कर्मभूत दारु शब्द उपपद हो तो आङ् पूर्व हन् से अण् प्रत्यय होता है और हन् को टकार अन्तादेश होता है) ।

(चारु उपपद रहते प्रागुक्त कार्य विकल्प से होता है)

१११२ अपे क्लेशतमसोः ३ । २ । ५० ॥

अपपूर्वाद्धन्तेर्डः । अनाशीरर्थमिदम् । क्लेशापहः पुत्रः । तमोऽपहः सूर्यः ।

१११२ कुमार-शीर्षयोर्णिनिः ३ । २ । ५१ ॥

कुमारघाती । शिरसः शीर्षभावो निपात्यते । शीर्षघाती ।

१११३ लक्षणे जायापत्योष्टक् ३ । २ । ५२ ॥

हन्तेष्टक् लक्षणवति कर्तरि । जायाघ्नो ना । पतिघ्नी स्त्री ।

१११४ अमनुष्यकर्तृके च ३ । २ । ५३ ॥

जायाघ्नस्तिलकालकः । पतिघ्नी पाणिरेखा । पित्तघ्नं घृतम् । अमनुष्येति किम्—आखुघातः शूद्रः । अथ कथं बलभद्रः प्रलम्बघ्नः कृतघ्न इत्यादि । मूल-

१—'आशिषि हनः' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अनाशीरर्थमिति, आशीर्वादभिन्नविषयार्थमित्यर्थः । २—क्लेशम्-अपहन्ति, तमोऽपहन्तीति विग्रहौ, डित्वाट्टिलोपः क्लेशापहः, तमोऽपहः । ३—अनयोरुपपदयोर्हन्तेर्णिनिः स्यादित्यर्थः । ४—कुमारं हन्तीति कुमारघाती णिनिः, उपधावृद्धिः, घत्वम्, नस्य तकारः । एवं शिरो हन्तीति शीर्षघाती । ५—जायां हन्तीति-जायाघ्नः=जाया-हननसूचक-लक्षणवान् पुरुष इत्यर्थः । टकः कित्वाद् गमहनेत्युपधालोपः, हस्य घत्वम् । ६—अमनुष्यकर्तृके धात्वर्थे वर्तमानाद् हन्तेः कर्मण्युपपदे टक् स्यादित्यर्थः । ७—जायां हन्तीति विग्रहः, सिद्धिः पूर्ववत्, तिलकालकः=तिलाकारः कृष्णबिन्दुरित्यर्थः । ८—आखून्= मूषकान् हन्तीति विग्रहः, मनुष्यकर्तृकत्वेन टकोऽभावे 'कर्मण्यण्' इत्यण्, उपधा-वृद्धिः, हस्य घत्वं, नस्य तकारः । ९—प्रलम्बम्=तन्नामानम् असुरं हन्तीति प्रलम्बघ्नः=बलभद्रः, कृतं हन्तीति कृतघ्नः=उपकारविस्मर्ता पुरुषः, उभयत्रापि हन्तेर्मनुष्यकर्तृकतया कथं टक् इति प्रश्नः । तत्रोत्तरम् मूलविभुजादित्वात्सिद्ध-मिति, मूलविभुजादिगणपाठात् कप्रत्यये सति, गमहनेत्युपधालोपे; इष्टरूपसिद्धि-

१११२—कर्म, भूत, क्लेश और तम शब्द उपपद रहते अप पूर्वक हन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ।

१११२—कर्मभूत कुमार और शिरस् उपपद रहते हन् से 'णिनि' प्रत्यय होता है । (शिरस् को शीर्ष आदेश निपातित होता है) ।

१११३—कर्मभूत जाया और पतिशब्द उपपद हों तो हन् से 'टक्' प्रत्यय होता है लक्षणवान् कर्ता गम्य रहे तो ।

१११४—अमनुष्य कर्तृक हन् धातु से भी कर्म उपपद रहते 'टक्' होता है ।

विघ्नुजादित्वात्सिद्धम् । चोरघातो नगरघातो हस्तीति तु बाहुलकादण्[1] ।

१११५ शक्तौ हस्ति-कपाटयोः ३ । २ । ५४ ॥

हन्तेष्टक् । मनुष्यकर्तृकार्थमिदम् । हस्तिघ्नो ना । कपाटघ्नश्चोरः । कवाटेति पाठान्तरम्[2] ।

१११६ पाणिघ-ताडघौ शिल्पिनि ३ । २ । ५५ ॥[3]

शिल्पिनि किम्—पाणिघातः[4] । (राजघ उपसंख्यानम्) । राजानं हन्ति राजघः[5] ।

१११७ आढ्य-सुभग-स्थूल-पलित-नग्नाऽन्ध-प्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् ३ । २ । ५६ ॥

एषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु कर्मसूपपदेषु कृञः ख्युन्[6] । अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनया आढ्यं-

---

रिति भावः ।

१—ननु नगरं हन्तीति नगरघातो हस्तीत्यत्राऽमनुष्यकर्तृकत्वेन हन्तेः कुतो न टक् इति चेत्तत्राह—बाहुलकादण् इति । कृत्यल्युटो बहुलमिति सूत्रे बहुलग्रहणादण्प्रत्यये समाधेयमिति भावः । २—हस्तिकपाटयोः कर्मण्युपपदयोर्हन्तेष्टक् स्यात् शक्तौ द्योत्यायामित्यर्थः । ३—पाणिताडयोरुपपदयोः हन्तेष्टक् टिलोपो घत्वं च निपात्यते शिल्पिनि गम्ये, इत्यर्थः । पाणिं पाणिना वा हन्तीति पाणिघः । ताडनं = ताडः, तेन तं वा हन्तीति ताडघः = मल्लादिः । ४—शिल्पिनोऽन्यत्र कर्मण्यण् । ५—हन्तेः टक् टिलोपः, घत्वं च निपातितम् । ६—ख इत्, खित्वान्मुम्, 'यु' इत्यस्य अनादेशः । नित्त्वं स्वरार्थम् । ७—ख्युन्प्रत्यये मुमादौ—'आढ्यङ्करण' इत्यस्मात् नञ्स्नञ्कीकक्ख्युँस्तरुणतलुनानामुपसङ्ख्यानमिति स्त्रियां ङीप्, आढ्यङ्करणी = युक्तिर्नीतिर्वा ।

१११५—हस्ती और कपाट कर्म उपपद हो तो हन् से 'टक्' होता है शक्ति द्योत्य रहते ।

१११६—शिल्पी अर्थ में 'पाणिघ' और 'ताडघ' ये दोनों निपातित हैं ।

('राजघ' शब्द भी निपातन से सिद्ध है) ।

१११७—अभूततद्भाव विषयक अच्व्यन्त आढ्य सुभग आदि कर्म उपपद रहते कृञ् धातुसे 'ख्युन्' प्रत्यय होता है ।

करणी। अच्वौ किम्—आढ्यीकुर्वन्त्यनेन।

११११८ कर्तरि भुवः खिष्णुच्-खुकञौ ३ । २ । ५७ ॥

आढ्यादिषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु भवतेरेतौ स्तः। अनाढ्य आढ्यो भवति आढ्यम्भविष्णुः। आढ्यम्भावुकः।

११११९ सत्सू-द्विष-द्रुह-दुह-युज-विद-भिद-च्छिद-जिनी-राजामुपसर्गेऽपि क्विप् ३ । २ । ६१ ॥

एभ्यः क्विप्स्यादुपसर्गे सत्यसति च सुप्युपपदे। द्युसत्। सदिरप्रतेरिति षः, उपनिषत्। अण्डसूः। प्रसूः। मित्रद्विट्। प्रद्विट्। मित्रध्रुट्। प्रध्रुट्। गोधुक्। प्रधुक्। अश्वयुक्। प्रयुक्। वेदवित्। निवित्। (अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः) अग्रणीः। ग्रामणीः।

११२० भजो ण्विः ३ । २ । ६२ ॥

१—अत्र च्विप्रत्ययत्वेन न ख्युन्निति भावः। २—आढ्यपूर्वकाद् भूधातोः खिष्णुच् खित्त्वान्मुम्, सार्वधातुकेति गुणे आढ्यम्भविष्णुः। ३—खुकञ्प्रत्यये, मुमि, वृद्धौ, आवादेशे रूपम्, आढ्यम्भावुकः। ४—दिवि सीदतीति विग्रहः, (द्युसद् + क्विप्) क्विपः सर्वापहारे द्युसत्। ५—अण्डानि सूते—अण्डसूः एवम् प्रसूते प्रसूः। ६—मित्रं द्वेष्टि—मित्रद्विट्, षस्य जश्त्वे 'वाऽवसाने' चर्त्वम् ७—मित्राय द्रुह्यति—विग्रहः, क्विपः सर्वापहारे, प्रथमैकवचने 'वा द्रुह मुहे'ति विकल्पेन हस्य घत्वे, अशो भष् झषन्तस्येति दस्य धत्वे रूपम्। मित्रध्रुक्—मित्रध्रुट। (घत्वाऽभावे ढत्वम)। एवं प्रद्रुह्यतीति-प्रध्रुक्—प्रध्रुट। ८—गां दोग्धि = इति विग्रहः, 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वम्, जश्त्वम्, चर्त्वम्, गोधुक्। प्रदोग्धीति प्रधुक्। ९—अश्वं युनक्ति—इति विग्रहः। १०—वेदं वेत्तीति वेदवित्। नि-विद्यते-अनया इति निवित् काचिद् ऋक्।

११—अग्रं नयतीति, नयतेः क्विप्, णत्वे रूपम्। एवं ग्रामं नयतीति ग्रामणीः = ग्राममुख्यः। १२—सुपि-उपसर्गे चोपपदे भजधातोर्ण्विप्रत्यय इत्यर्थः।

१११८—अभूततद्भाव विषयक अच्व्यन्त आढ्यादि कर्ता उपपद रहते भू धातु से 'खिष्णुच्' और 'खुकञ्' प्रत्यय होते हैं।

१११९—उपसर्ग पूर्व हो या न हो सुबन्त उपपद रहते सद् सू द्विष् आदि धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय होता है।

११२०—उपसर्ग अथवा तद्भिन्न सुबन्त उपपद रहते भज् धातु से 'ण्वि' प्रत्यय होता है।

अंशभाक्[1]। प्रभाक्

११२१ अदोऽनन्ने[2] ३।२।६८॥

विट् स्यात्। आममत्तीत्यामात्[3]। सस्यात्। अनन्ने किम्—अन्नादः।

११२२ क्रव्ये च ३।२।६९॥

अदेर्विट्। पूर्वेण सिद्धे वचनं वाऽसरूपेति प्राप्तस्य बाधनार्थम्। क्रव्यात् = आममांसभक्षकः।

११२३ दुहः कप् घश्च[6] ३।२।७०॥

कामदुघा[7]।

११२४ अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ३।२।७५॥

मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः।

११२५ नेड्वशि कृति ७।२।८॥

वशादेः[8] कृत इण्न। सुशर्मा[9]। प्रातरित्वा[10]।

१—णित्वाद् 'अत उपधायाः' वृद्धिः। अंशं भजतीति विग्रहः। २—अन्न-भिन्नोपपदेऽदेर्विट् स्यादित्यर्थः। ३—आमम् अत्तीति विग्रहः। सस्यम् अत्तीति—सस्यात्। ४—'कर्मण्यण्' इत्यण्। ५—क्रव्यस्याऽन्नभिन्नत्वेन—'अदोऽनन्ने' इत्यनेन विट् सिद्ध्यतीति पुनर्विड्विधान किमर्थमित्यत्रोत्तरमाह—वाऽसरूपेति। वासरूपन्या-येन पक्षेऽणापि प्राप्तस्तद्बाधनार्थं पुनर्विधिरित्यर्थः। क्रव्येऽदेर्विडेवेति भावः। ६—सुप्युपपदे दुहेः कप् स्यात् प्रकृतेर्घश्चान्तादेशः—इत्यर्थः। ७—कामम् = याव-दपेक्षितं दुग्धे कामदुघा = कामधेनुः, स्त्रीत्वे टाप्। ८—वश्प्रत्याहारघटित-वर्णादेः कृत्प्रत्ययस्येत्यर्थः। ९—सुष्ठु शृणातीति—सुशर्मा, शॄधातोर्मनिन्। १०—प्रातरेतीति विग्रहः (प्रातर् इ + क्वनिप्) ह्रस्वस्येति तुक्, प्रातरित्वा।

११२१—अन्न से भिन्न सुबन्त उपपद रहते अद् धातु से विट् प्रत्यय होता है।

११२२—क्रव्य उपपद रहते भी अद् से विट् होता है।

११२३—सुबन्त उपपद रहते दुह् से 'कप्' प्रत्यय होता है और घ अन्ता-देश होता है।

११२४—अन्य धातुओं से भी 'मनिन्' 'क्वनिप्' 'वनिप्' और 'विच्' प्रत्यय होते हैं।

११२५—वशादि कृत्प्रत्यय को इट् नहीं होता।

११२६ विड्वनोरनुनासिकस्यात्[1] ६ । ४ । ४१ ॥

विजायत इति विजावा[2] । ओणृ अपनयने । अवावा[3] । रोट्[4] । रेट् । सुगण् ।

११२७ क्विप् च ३ । २ । ७३ ॥

अयमपि दृश्यते । उखास्रत्[5] । पर्णध्वत् । वाहभ्रट् ।

११२८ अनितेः ८ । ४ । २० ॥

पदान्तस्यानितेर्नस्य णत्वं स्यादुपसर्गस्थान्निमित्तात्परश्चेत् । हे प्राण्[6] । (आशासः क्वावुपधाया इत्वं वाच्यम्[7]) आशीः[8] । इत्वोत्वे । गीः[9] । पूः । 'मो नो धातोः' । प्रतान्[10] । प्रशान् ।

१—विड्वनोः परतोऽनुनासिकस्य आत्स्यादित्यर्थः । २—(वि—जन् + वनिप्) नकारस्याऽऽकारः सवर्णदीर्घः । विजावन्शब्दस्य, **विजावा** इति प्रथमैकवचने रूपम् । ३—ओणति = अपनयति,—**अवावा** (ओण् + वनिप्) णकारस्य आत्वे ओकारस्य अवादेशे अवावन्शब्दः सिद्ध्यति । ४—रुष् रिष् हिंसायाम् इत्याभ्यां विच् प्रत्ययः । वेरपृक्तस्येति वलोपः । रोषति—**रोट्** , रेषति—**रेट्** , जश्त्वे चर्त्वम् । गणेर्विच् **सुगण्**—सुष्ठु गणयतीति विग्रहः । ५—उखायाः स्रंसते इति—**उखास्रत्** , क्विपि, "अनिदिता" मिति नलोपः । "वसुस्रंसु" इति दत्वम् । एवं पर्णाद् ध्वंसते इति **पर्णध्वत्** । वाहाद् भ्रश्यति इति **वाहभ्रट्** , भ्रस्जादिना षत्वे जश्त्वम् । ६—प्रपूर्वादन् धातोः क्विबन्तात्सम्बोधनैकवचने हल्ङ्यादिलोपः, नस्य णत्वम्, **हे प्राण्** । नलोपस्तु न 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधात् । प्राणितीति विग्रहः । ७—आङ् पूर्वकात् शासेरुपधाया इत्वं क्विपि, इत्यर्थः । ८—आशासनम् = **आशीः**, इत्वे, रुत्वे र्वोरिति दीर्घः । ९—गृधातोः क्विप्, पृधातोः क्विप्, पूर्वत्र 'ऋत इद्धि'ति इत्वे रपरत्वे, उत्तरत्र 'उदोष्ठ्यपूर्वस्ये'ति ऋत उत्वं रपरत्वे, उभयत्र सुलोपे उपधादीर्घे **गीः**, **पूः** । १०—प्रताम्यतीति **प्रतान्** । क्विपि रूपम् । 'शमामष्टानाम्' इति दीर्घः । एवं **प्रशान्** ।

११२६—विट् और वन् प्रत्यय परे रहते अनुनासिक को आत्व होता है ।

११२७—धातु मात्र से क्विप् प्रत्यय भी होता है ।

११२८—उपसर्गस्थ निमित्त से परे अन् धातु के पदान्त नकार को णत्व होता है ।

(आङ् पूर्वक शास् धातु की उपधा को इत्व होता है 'क्वि' परे रहते)

११२९ गमः क्वौ ६ । ४ । ४० ॥

अनुनासिकलोपः । अङ्गगत्[1] । (गमादीनामिति वक्तव्यम्) परीतत्[2] । संयत् । (ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्, लोपश्च)[3] । गूः[4] । भ्रूः ।

११३० स्थः क च ३ । २ । ७७ ॥

चात्क्विप् । शंस्थः[6] । शंस्थाः ।

११३१ सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३ । २ । ७८ ॥

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिस्ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी[7] । शीतभोजी ।

१—अङ्गान् = तदाख्यदेशं गच्छति—अङ्गगत्, क्विपि—अनुनासिकलोपः ह्रस्वस्येति तुक् । २—परि–तन् + क्विप्, परितनोति–इति विग्रहः, क्विपि–अनुनासिकलोपः, तुक् । 'नहिवृति' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः । परीतत्, 'पुरीतत्' इति पाठान्तरम्, तत्र पुरिः = हृदयाख्यो मांसखण्डः, तं तनोतीति पुरीतत्–सिद्धिः पूर्ववत्, एवं संपूर्वकात् यम् धातोः क्विपि रूपम्, संयत् संयच्छति–इति विग्रहः । ३—क्विपि गमादीनामुपधाया ऊङ् भवति, चकारादनुनासिकलोपश्च वक्तव्य इत्यर्थः । ४—गच्छतीति विग्रहः, गमेरकारस्य ऊङ् मकारस्य लोपः, गूः । एवम् भ्रमतीति भ्रूः, भ्रमेरकारस्य ऊङ् मलोपश्च । ५—उपसर्गेऽनुपसर्गे च सुप्युपपदे स्थाधातोः कप्रत्ययः क्विप् च स्याद् इत्यर्थः । ६—'शंम्' पूर्वकात् स्थाधातोः कप्रत्यये 'आतो लोपः' शंस्थः । क्विप् प्रत्यये शंस्थाः = सुखं स्थापयतीत्यर्थः । (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र स्थाधातुः) शंस्था इति भाष्यप्रयोगात् घुमास्थेति ईत्वं न । ७–उष्णभोजी उष्णं भुङ्क्ते तच्छीलः, इति विग्रहः । उपधागुणः । एवम्–शीतभोजी ।

११२९—गम् के अनुनासिक का लोप होता है 'क्वि' परे रहते । (गम् आदि के अनुनासिक का लोप होता है ऐसा कहना चाहिये)

(क्विप् परे रहते गम् आदि धातुओं की उपधा को ऊङ् होता है और अनुनासिक का लोप भी होता है) ।

११३०—उपसर्ग या अनुपसर्ग सुबन्त उपपद रहते स्था धातु से 'क' प्रत्यय होता है ।

११३१—अजात्यर्थ सुबन्त उपपद रहते धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता ताच्छील्य द्योत्य हो तो ।

११३२ मनः ३ । २ । ८२ ॥

सुपि मन्यतेर्णिनिः । दर्शनीयमानी ।[1]

११३३ आत्ममाने खश् च ३ । २ । ८३ ।

स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् चाण्णिनिः । पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितम्मन्यः[2] । पण्डितमानी ।

११३४ इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च ६ । ३ । ६८ ॥

इजन्तादेकाचोऽम्स्यात्स च स्वाद्यम्वत्[3] खिदन्ते परे । 'औतोऽम्शसोः' गाम्मन्यः[4] । 'वाऽम्शसोः' स्त्रियम्मन्यः[5] । स्त्रीम्मन्यः । नृ—नरम्मन्यः[6] । भुवम्मन्यः । श्रियमात्मानं मन्यते श्रिमन्यं कुलम्[7] । भाष्यकारप्रयोगाच्छ्रीशब्दस्य ह्रस्वो मुममोरभावश्च ।

१—दर्शनीयं मन्यते इति विग्रहः, उपधावृद्धिः । दर्शनीयमानी । २—खशः शित्वात् सार्वधातुकत्वेन श्यन्, पण्डितम्मन्यः, मुम् । पक्षे णिनिः पण्डितमानी । ३—स्वाद्यन्तर्गतो यथा 'अम्' तथा इत्यर्थः । तेन 'औतोऽम्शसोः', 'वाऽम्शसोः' इत्यादयः प्रवर्तन्ते इति भावः । ४—गाम् आत्मानं मन्यते, इत्यर्थे मनेः खशि श्यन्, सुपो लुक्, गोशब्दादम्, स्वाद्यम्वत्त्वात् 'न विभक्तौ तुस्माः' इति मस्य नेत्वम्, 'औतोऽम्शसो' रिति ओकारस्य आकारः, गाम्मन्यः । ५—स्त्रियम् आत्मानं मन्यते स्त्रियम्मन्यः स्त्रीम्मन्यः । वाऽम्शसोरितीयङभावपक्षेऽमिपूर्वः इति पूर्वरूपम् । ६—नरम् आत्मानं मन्यते नरम्मन्यः । सुपो लुकि 'नृ मन् श्यन्' नृशब्दादम्, 'ऋतो ङि' इति गुणः । एवं भुवम् आत्मानं मन्यते भुवम्मन्यः । ७—भाष्यकारवचनात् श्रीशब्दस्य ह्रस्वो मुममोरभावश्चेति । अत्र मननक्रियां प्रति कुलत्वेन रूपेण कुलं कर्तृ, तस्यैव कुलस्य अध्यारोपितश्रीत्वेन रूपेण कर्मत्वं चेति स्थितिः । एवञ्च श्रीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गस्यापि कुले लक्षणया वृत्तेर्नपुंसकत्वम् । तेन 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्व इत्यर्थः । मुममोरभावश्च वाचनिकः ।

११३२—सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है ।

११३३—स्वकर्मक मनन हो तो सुबन्त उपपद रहते मन् से 'खश्' प्रत्यय होता है । चकार से 'णिनि' भी होता है ।

११३४—खिदन्त प्रत्यय परे रहते इजन्त एकाच् को 'अम्' आगम होता है । और वह स्वादि 'अम्'-वत् होता है ।

('श्रिमन्यं कुलम्' भाष्यप्रयोग से श्रीशब्दको ह्रस्व और मुम् तथा अम् का अभाव होता है) ।

११३५ भूते ३ । २ । ८४ ॥
अधिकारोऽयं वर्तमाने लडिति यावत्।
११३६ करणे यजः ३ । २ । ८५ ॥
करणे उपपदे भूतार्थाद्यजेर्णिनिः कर्तरि। सोमेनेष्टवान्सोमयाजी[1]।
११३७ कर्मणि हनः[2] ३ । २ । ८६ ॥
पितृव्यघाती[3]।
११३८ ब्रह्म-भ्रूण-वृत्रेषु[4] क्विप ३ । २ । ८७ ॥
ब्रह्महा। भ्रूणहा। वृत्रहा। क्विप् चेत्येव सिद्धे ब्रह्मादिष्वेव क्विबेवेति द्विविध-नियमार्थमिदम्। एवमग्रेऽपि।
११३९ सु-कर्म-पाप-मन्त्र-पुण्येषु कृञः ३ । २ । ८९ ॥
सुकृत्[6]। कर्मकृत्। पापकृत्। मन्त्रकृत्। पुण्यकृत्।
११४० सोमे[7] सुञः ३ । २ । ९० ॥
सोमसुत्।

१—सोम–यज्+णिनिः, 'अत उपधायाः' वृद्धिः। २—कर्मण्युपपदे भूतार्थ-वृत्तेर्हन्धातोर्णिनिरित्यर्थः। ३—पितृव्यं हतवान् इति विग्रहः, वृद्धिः, घत्वं, तकारः। ४—एतेषु पूर्वपदेषु हनो भूते क्विप् स्यादित्यर्थः। ५—ब्रह्म हतवान् ब्रह्महा, ब्रह्महणौ, ब्रह्महणः। एवम्–भ्रूणं=गर्भं हतवान् भ्रूणहा, वृत्रम्= असुरविशेषं हतवान् वृत्रहा। ६—सुष्ठु कृतवान्, सुकृत् क्विप्, ह्रस्वस्येति तुक्, एवमग्रेऽपि। ७—सोमे कर्मण्युपपदे भूते सुञ् धातोः क्विप् स्यादित्यर्थः। सोमं सुतवान् इति सोमसुत्।

११३५—'भूते' यह 'वर्तमाने लट्' तक अधिकार है।

११३६—करण उपपद रहते भूतार्थ वृत्ति यज् धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है कर्ता में।

११३७—कर्म उपपद रहते हन् धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है।

११३८—ब्रह्म भ्रूण और वृत्र कर्म उपपद रहते हन् धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय होता है।

११३९—सु कर्म आदि पूर्व रहते कृञ् से 'क्विप्' होता है।

११४०—सोम कर्म उपपद रहते सुञ् धातु से 'क्विप्' होता है।

११४१ अग्नौ चेः[1] ३ । २ । ६१ ॥

अग्निचित्[2] ।

११४२ कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ३ । २ । ६२ ॥

कर्मण्युपपदे कर्मण्येव कारके चिनोतेः क्विप् । अग्न्याधारस्थलविशेषस्याख्यायाम् । श्येन इव चितः श्येनचित्[3] ।

११४३ कर्मणीनि विक्रियः ३ । २ । ६३ ॥

कर्मण्युपपदे विपूर्वात्क्रीणातेरिनिः । (कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम्[4]) । सोमविक्रयी[5] । घृतविक्रयी ।

११४४ दृशेः क्वनिप् ३ । २ । ६४ ॥

कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान्पारदृश्वा ।

११४५ राजनि युधि कृञः[6] ३ । २ । ६५ ॥

क्वनिप् । युधिरन्तर्भावितण्यर्थः[7] । राजानं योधितवान्–राजयुध्वा । राजकृत्वा[8] ।

१—अग्नौ कर्मण्युपपदे भूते चिनोतेः क्विप् स्यादित्यर्थः । २—**अग्निचित्** = अग्न्याख्यं स्थण्डिलविशेषम् इष्टकाभिश्चितवानित्यर्थः । क्विप्, ह्रस्वस्येति तुक् । ३—समुदायोऽयम् आहवनीयधारणार्थे इष्टकानिर्मितस्थलविशेषे निरूढः । ४—कुत्सिते कर्मण्युपपद उक्तविधिर्भवतीत्यर्थः । ५—सोमं विक्रीतवान् = **सोमविक्रयी**, एवं **घृतविक्रयी** । सोमस्य घृतस्य च विक्रयो विक्रेतुः कुत्सामावहति–इति भावः । ६—राजनि कर्मण्युपपदे युध्–कृञ्भ्यां भूते क्वनिप् स्यादित्यर्थः । ७—ण्यर्थोऽन्तर्भूतः इत्यर्थः, तथैव विग्रहः । ८—एवं राजानं कृतवान्—**राजकृत्वा** ।

११४१—अग्नि कर्म उपपद रहते चिञ् धातु से 'क्विप्' होता है ।

११४२—कर्म उपपद रहते चिञ् से कर्मकारक में 'क्विप्' होता है भूतकाल में, अग्न्याधार स्थल विशेष की आख्या हो तो ।

११४३—कर्म उपपद रहते विपूर्वक क्रीणाति से 'इनि' प्रत्यय होता है भूतकाल में । (निन्दा गम्य हो तभी होता है)

११४४—कर्म उपपद रहते दृश् धातु से भूतार्थ में क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

११४५—कर्मसंज्ञक राजन् शब्द उपपद रहते युध् और कृञ् धातु से भूतार्थ में क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

११४६ सहे च ३।२।९६॥

सहयुध्वा। सहकृत्वा।

११४७ सप्तम्यां जनेर्डः ३।२।९७॥

११४८ तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१४॥

ङेरलुक्। सरसिजम्। सरोजम्।

११४९ उपसर्गे च संज्ञायाम् ३।२।९९॥

प्रजाः।

११५० अनौ कर्मणि ३।२।१००॥

अनुपूर्वाज्जनेः कर्मण्युपपदे डः। पुमांसमनुरुध्य जाता पुमनुजा।

११५१ अन्येष्वपि दृश्यते ३।२।१०१॥

अजः। द्विजः। ब्राह्मणजः। अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः। तेन धात्वन्तरादपि कारकान्तरेष्वपि क्वचित्। परितः खाता परिखा।

१—सहशब्दे उपपदे युधिकृञ्भ्यां क्वनिप् स्यादित्यर्थः। २—सप्तम्यन्ते उपपदे जनेर्भूतार्थात् डप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। ३—तत्पुरुषे बहुलं सप्तम्या अलुक् स्यात् कृदन्त उत्तरपदे, इति सूत्रार्थः। ४—सरसि जातमिति विग्रहः, बाहुलकात् पक्षे ङेर्लुकि सरोजम्। ५—प्रजायन्ते स्मेति प्रजाः। 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने', इत्यमरः। डप्रत्यये टिलोपे सिद्धिः। ६—(पुमस्–अनु–जन्+ड,) पूर्वपदे सकारस्य संयोगान्तत्वेन लोपः। स्त्रीत्वे टाप्। ७—अन्येष्वप्युपपदेषु जनेर्डप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। न जातः, इत्यजः। द्वाभ्यां जातः द्विजः इत्यादयो विग्रहाः। ८—परि खन्+ड (:) डित्वाट्टिलोपः, स्त्रीत्वे टाप्। परिखा।

११४६—सह उपपद रहते युध् धातु से क्वनिप् होता है।

११४७—सप्तम्यन्त उपपदक जन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है।

११४८—कृदन्त उत्तर पद परे रहते सप्तमी का लुक् होता है बाहुल्य से तत्पुरुष में।

११४९—उपसर्ग उपपद रहते जन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है संज्ञा में।

११५०—अनु पूर्वक जन् धातु से कर्म उपपद रहते 'ड' प्रत्यय होता है।

११५१—अनुपूर्व न भी हो कारक भी कर्म के अतिरिक्त ही उपपद हों, तब भी जन् से 'ड' प्रत्यय होता है।

११५२ पञ्चम्यामजातौ ३ । २ । ६८ ॥

जातिशब्दवर्जिते पञ्चम्यन्ते उपपदे जनेर्डः । संस्कारजः[1] । अदृष्टजः ।

११५३ क्त-क्तवतू निष्ठा १ । १ । २६ ॥

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः ।

११५४ निष्ठा ३ । २ । १०२ ॥

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र तयोरेवेति भावकर्मणोः क्तः । कर्तरि कृदिति कर्तरि क्तवतुः । स्नातं[2] मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विष्णुर्विश्वं कृतवान् ।

११५५ अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति २ । ४ । ३६ ॥

ल्यपि तादौ किति च । इकार उच्चारणार्थः । जग्धम् ।

११५६ निष्ठायामण्यदर्थे ६ । ४ । ६० ॥

ण्यदर्थौ भावकर्मणी, ततोऽन्यत्र निष्ठाया क्षियो दीर्घः स्यात् ।

११५७ क्षियो दीर्घात् ८ । २ । ४६ ॥

निष्ठातस्य नः । क्षीणवान्[6] । भावकर्मणोस्तु—क्षितः कामो मया । (ऊर्णो-

---

१—संस्काराजातः, अदृष्टाजातः, इति विग्रहौ । २—भाव प्रत्यये कर्तुरनुक्तत्वाद् मयेति तृतीया । ३—कर्मणि प्रत्ययः, कर्मणोऽनुक्तत्वाऽभावान्न द्वितीया, किन्तु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा, कर्तुश्च तृतीया । ४--कित्वान्न गुणः, कर्तरि क्तवतुप्रत्ययः । ५—अद्-धातोः क्तप्रत्यये जग्धादेशः. 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वम्, झरो झरीति पूर्वधकारस्य लोपे जग्धमिति । ६—क्षिधातोः कर्तरि क्तवतुः, निष्ठायामिति दीर्घः, तकारस्य नत्व पात्परत्वाण्णत्वम् । क्षीणवान् । ७—क्षपित इत्यर्थः, अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र क्षिः । अण्यदर्थे इत्युक्तेः न दीर्घनत्वे ।

११५२—जाति वाचक से भिन्न पञ्चम्यन्त उपपद रहते जन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ।

११५३—क्त और क्तवतु की निष्ठा संज्ञा होती है ।

११५४—भूतार्थ वृत्ति धातु से निष्ठासंज्ञक प्रत्यय होते हैं ।

११५५—अद् को जग्ध् आदेश होता है ल्यप् प्रत्यय परे रहते अथवा तादि कित् परे रहते ।

११५६—भावकर्म से भिन्न अर्थ में विहित निष्ठा परे रहते क्षि धातु को दीर्घ होता है ।

११५७—दीर्घ क्षि धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार होता है । (ऊर्णोति को गुणवद्भाव होता है ऐसा कहना चाहिये)

तेर्णुवद्भावो वाच्यः) तेन एकाच्त्वान्नेट् । ऊर्णुतः ।

११५८ रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८ । २ । ४२ ॥

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नो निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शॄ—शीर्णः । भिन्नः । छिन्नः ।

११५९ संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ८ । २ । ४३ ॥

यण्वत्संयोगादेरादन्तान्निष्ठातस्य नः । द्राणः । ग्लानः ।

११६० ल्वादिभ्यः ८ । २ । ४४ ॥

एकविंशतेर्लूआदिभ्यः प्राग्वत् । लूनः । ज्या—प्रहिज्यौ ।

११६१ हलः ६ । ४ । २ ॥

अङ्गावयवाद्धलः परं यत्सम्प्रसारणं तदन्तस्याङ्गस्य दीर्घः । जीनः । (दुग्वो-दीर्घश्च) दु गतौ । दूनः । गु पुरीषोत्सर्गे । गूनः । (पूञो विनाशे) पूना यवाः । विनष्टा इत्यर्थः । पूतमन्यत् । (सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य) । सिनो ग्रासः ।

१—"श्र्युकः किती" ति निषेधान्नेट् इत्यर्थः । २—क्तक्तवतुप्रत्ययावयवीभूतस्य तकारस्येत्यर्थः । नो = नकारः स्यादिति । ३—क्तक्तवतुप्रत्ययाऽवयवीभूततकारात्पूर्वस्य दकारस्य च नकारो भवतीत्यर्थः । ४—शृधातोः क्तप्रत्यये, ऋत इद्धातोरिति इत्वं रपरत्वं हलि चेति दीर्घः, नत्वम्, णत्वम्, शीर्णः । ५—निष्ठातकारस्य नकार इत्यर्थः । ६—प्रहिज्येति सम्प्रसारणम् इत्यर्थः । यकारस्य सम्प्रसारणम् इकारः, सम्प्रसारणाच्चेति, आकारस्य पूर्वरूपम् । ७—निष्ठानत्वं दीर्घश्चेति भावः । ८—विनाशार्थात् पूञ् धातोः परस्य निष्ठातकारस्य नकार इत्यर्थः । ९—पवित्रमित्यर्थः । १०—कर्मैव कर्ता = कर्मकर्ता, ग्रासः कर्मकर्ता यस्य तथा भूतस्य सिनोतेः, (षिञ् बन्धने, इत्यस्मात्) परस्य निष्ठातकारस्य नत्वमित्यर्थः ।

११५८—रेफ-दकार से परे निष्ठा के त को न आदेश होता है और निष्ठा की अपेक्षा पूर्व धातु के द को भी न होता है ।

११५९—संयोगादि यण्वान् आदन्त धातु से परे निष्ठा के त को न होता है ।

११६०—इक्कीस लूआदियों से परे निष्ठा के त को न होता है ।

११६१—अङ्गके अवयव हल् से परे जो संप्रसारण, तदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ।

(दु और गु धातु से परे निष्ठा तकार को नकार होता है और धातु को दीर्घ भी) (विनाशार्थक पूञ् धातु से निष्ठा तकार को नकार होता है और दीर्घ होता है) । (ग्रास कर्म कर्ता हो तो सिनोति से निष्ठा के तकार को नकार होता है) ।

ग्रासेति किम् ? सिता[1] पाशेन सूकरी । कर्मकर्तृकेति किम् ? सितो ग्रासो देवदत्तेन ।

११६२ ओदितश्च ८ । २ । ४५ ॥

प्राग्वत्[2] । भुजो—भुग्नः । टु ओश्वि—शूनः[3] ।

११६३ द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः ६ । १ । २४ ॥

द्रवस्य मूर्तौ = काठिन्ये स्पर्शे चार्थे श्यैङः सम्प्रसारणं स्यान्निष्ठायाम् ।

११६४ श्योऽस्पर्शे ८ । २ । ४७ ॥

श्यैङो निष्ठातस्य नः स्यादस्पर्शेऽर्थे । शीनं[4] घृतम् । अस्पर्शे किम् ? शीतं[5] जलम् । द्रवमूर्तिस्पर्शयोरिति किम् ? संश्यानो वृश्चिकः । शीतात्संकुचित इत्यर्थः ।

११६५ प्रतेश्च[6] ६ । १ । २५ ॥

सम्प्रसारणं निष्ठायाम् । प्रतिशीनः ।

११६६ विभाषाभ्यवपूर्वस्य ६ । १ । २६ ॥

तथा[7] । अभिश्यानं घृतम् । अभिशीनम् । अवश्यानः । अवशीनो वृश्चिकः । व्यवस्थितविभाषेयम्[8] । तेनेह न—समवश्यानः ।

११६७ अञ्चोऽनपादाने[9] ८ । २ । ४८ ॥

निष्ठातस्य नः ।

१—बद्धा इत्यर्थः । २—ओदितो धातोः परस्य निष्ठातकारस्य नत्वमित्यर्थः । ३—श्विधातोः क्तप्रत्यये यजादित्वात्सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम्, 'हलः' इति दीर्घः, निष्ठानत्वम्, शूनः । ४—शीनम् = घनीभूतमित्यर्थः । धातूनामनेकार्थत्वात् । ५—शीतम् = शीतस्पर्शवदित्यर्थः । ६—प्रतिपूर्वस्य श्यैङः सम्प्रसारणं स्यान्निष्ठायाम्, इत्यर्थः । ७—निष्ठायां वा सम्प्रसारणमित्यर्थः । ८—व्यवस्थिता, लब्धव्यवस्था विभाषा इत्यर्थः । ९—अञ्चेः परस्य निष्ठातस्य नकारः स्यादनपादाने, इत्यर्थः ।

११६२—ओदित् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार होता है ।

११६३—द्रवीभूत पदार्थ के काठिन्य और स्पर्श अर्थ में श्यैङ् को सम्प्रसारण होता है निष्ठा परे रहते ।

११६४—श्यैङ् से परे निष्ठा के तकार को नकार होता है स्पर्श भिन्न अर्थ में ।

११६५—प्रतिपूर्व श्यैङ्को सम्प्रसारण होता है निष्ठा परे रहते ।

११६६—अभि और अव पूर्व रहते श्यैङ् को सम्प्रसारण विकल्प से होता है ।

११६७—अञ्च् धातु से निष्ठा के तकार को नकार होता है, अपादान में नहीं होता ।

११६८ यस्य विभाषा ७ । २ । १५ ॥

यस्य कचिद्विभाषयेड् विहितस्ततो निष्ठायामिण् न । उदितो वेति क्त्वायां वेट्त्वादिह नेट् । समक्तः । अनपादाने किम्—उदक्तमुदकं कूपात् ।

११६९ दिवोऽविजिगीषायाम् ८ । २ । ४९ ॥

द्यूनः । विजिगीषाया तु—द्यूतम् ।

११७० निर्वाणोऽवाते ८ । २ । ५० ॥

अवाते इति च्छेदः । निपूर्वाद्वातेर्निष्ठातस्य नत्वं स्याद्वातश्चेत्कर्ता न । निर्वाणोऽग्निर्मुनिर्वा । वाते तु—निर्वातो वातः ।

११७१ शुषः कः ८ । २ । ५१ ॥

निष्ठातस्य कः । शुष्कः ।

११७२ पचो वः ८ । २ । ५२ ॥

पक्वः ।

११७३ क्षायो मः ८ । २ । ५३ ॥

क्षामः ।

१—सम्पूर्वकादञ्चतेः क्तप्रत्यये, इटो निषेधे, अनिदितामिति नलोपः, चस्य कुत्वम्, समक्त = सङ्गतः । २—उद्धृतम्—इत्यर्थः, अत्रापादानसमभिव्याहारस्य सत्वान्नत्वं नेति भावः । ३—दिवो निष्ठातस्य नकारः स्यादविजिगीषायाम् । ४—दिवः क्तप्रत्यये 'च्छ्वो' रित्यूठ्, द्यूनः = स्तुत इत्यर्थः । ५—द्यूतस्य विजिगीषया प्रवृत्तेरिति भावः । ६—निर्वाणः = शान्त इत्यर्थः, नत्वे णत्वम् । ७—निर्वातः = निर्गत इत्यर्थः । ८—क्षै धातोः क्तप्रत्ययं, तकारस्य मकारः, 'आदेच उपदेश' इत्यात्वम्, क्षामः ।

११६८—जिससे कहीं भी इट् विकल्प से किया गया है उस धातु से परे निष्ठा को इट् नहीं होता ।

११६९—दिव् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार होता है यदि विजिगीषा गम्यमान न हो ।

११७०—निर् पूर्वक वा धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार होता है यदि वात कर्ता न हो ।

११७१—शुष् धातु से परे निष्ठा के त को क होता है ।

११७२—पच् धातु से परे निष्ठा के त को व होता है ।

११७३—क्षै धातु से परे निष्ठा के त को म होता है ।

११७४ स्त्यः प्रपूर्वस्य ६ । १ । २३ ॥

प्रात् स्त्यः संप्रसारणं निष्ठायाम् ।

११७५ प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् ८ । २ । ५४ ॥

निष्ठातस्य मो वा । प्रस्तीमः[1] । प्रस्तीतः । प्रात्किम् ? स्त्यानः[2] ।

११७६ अनुपसर्गात्फुल्ल-क्षीब-कृशोल्लाघाः ८ । २ । ५५ ॥

एते निपात्यन्ते । ञिफला—फुल्लः । निष्ठातस्य लत्वं निपात्यते । क्तवत्वेक-देशस्यापीदं निपातनमिष्यते । फुल्लवान् । अनुपसर्गात्किम्—

११७७ आदितश्च ७ । २ । १६ ॥

आकारेतो निष्ठाया इण्न ।

११७८ ति च ७ । ४ । ८९ ॥

चरफलोरत उत् तादौ किति । प्रफुल्लः । प्रक्षीबितः । प्रकृशितः । प्रोल्ला-घितः । (उत्फुल्ल-संफुल्लयोरुपसंख्यानम्[6] ।)

१—प्रस्त्यै इत्यस्मात् क्तप्रत्यये सम्प्रसारणम् । पूर्वरूपम्,-'हल' इति दीर्घः, तकारस्य मत्वे रूपम्—प्रस्तीमः = सङ्घीभूत इत्यर्थः । २—'आदेच उपदेश' इत्यात्वम्, संयोगादेरिति निष्ठातकारस्य नत्वम्, स्त्यानः । ३—एते निपात्यन्ते उपसर्गात्परा न चेदित्यर्थः । ४—फुल्ल इत्यत्र निष्ठातस्य लत्वं, 'ति चे'ति उत्त्वं तु सिद्धमेव, आदितश्चेतीडभावः । क्षीबः, कृशः उल्लाघ इत्यत्र क्तप्रत्ययावयवस्य तकारस्य लोपो निपात्यते । यद्यपि तलोपस्याऽसिद्धत्वादिट् प्राप्नोति तथापि तदभा-वस्य निपातनान्न दोषः क्षीबो = मत्तः । कृशः = तनुः, उल्लाघो = नीरोगः । ५—चरफलोश्चेत्यतः 'चरफलोः' इत्यनुवर्तते तदाह—वृत्तौ । ६—निष्ठातस्य लत्वं वाच्य-मिति भावः । सोपसर्गार्थं वचनम् ।

११७४—प्र पूर्वक स्त्यै धातु को सम्प्रसारण होता है निष्ठा परे रहते ।

११७५—प्र पूर्वक स्त्यै से निष्ठा के तकार को मकार होता है विकल्प से ।

११७६—उपसर्ग से परे न हो तो 'फुल्ल' 'क्षीब' 'कृश' 'उल्लाघ' ये ४ शब्द निष्ठान्त निपातित हैं ।

११७७—आदित् धातु से निष्ठा को इट् नहीं होता ।

११७८—चर् और फल् धातु के अत् को उत् होता है तादि कित् परे रहते ।

(उत्फुल्ल और सम्फुल्ल दोनों निपातन से सिद्ध होते हैं).

११७६ नुद्-विदोन्द-त्रा-घ्रा-ह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् ८ । २ । ५६ ॥

निष्ठातस्य नो वा स्यात् । नुन्नः । नुत्तः । विन्नः । वित्तः । उन्दी—

११८० श्वीदितो निष्ठायाम् ७ । २ । १४ ॥

श्वयतेरीदितश्च निष्ठाया इण् न । उन्नः । उत्तः । इत्यादि ।

११८१ न ध्या-ख्या-पॄ-मूर्छि-मदाम् ८ । २ । ५७ ॥

एभ्यो निष्ठातस्य नो न । ध्यातः । ख्यातः । पूर्तः ।

११८२ राल्लोपः ६ । ४ । २१ ॥

राच्छ्वोर्लोपः स्यात्क्वौ झलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये । मूर्तः । मत्तः ।

११८३ वित्तो भोग-प्रत्यययोः ८ । २ । ५८ ॥

विन्दतेर्निष्ठान्तस्य निपातोऽयं भोग्ये प्रतीते चार्थे । वित्तः = पुरुषः । अनयोः किम्—विन्नः ।

१—ह्रीधातोरप्राप्ते, इतरेभ्यश्च 'रदाभ्या'मिति 'संयोगादे'रिति च नित्यं प्राप्ते उभयत्र विभाषेयम् । प्राप्तेऽपि विकल्पः, अप्राप्तेऽपि विकल्प इत्युभयत्र विभाषा । २—उन्दी क्लेदने, इति ईदित्, इडभावे रदाभ्यामिति तकारस्य दकारस्य च नत्वे रूपम्—उन्नः । ३—रदाभ्यामिति संयोगादेरिति प्राप्तं नत्वमनेन निषिध्यते । ४—पॄधातोः क्तः, श्र्युकः कितीति–इण्निषेधे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इति उत्वं रपरत्वं, नत्वनिषेधे 'हलि चे'ति दीर्घः, पूर्तः । ५—मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः, इत्यस्मात् क्तप्रत्यये छलोपे, आदितश्चेत्यनिट्, रदाभ्यामिति प्राप्तस्य नत्वस्य निषेधे हलि चेति दीर्घे मूर्तः । ६—मदी हर्षग्लेपनयोः, इत्यस्मात् क्तप्रत्ययः, श्वीदित इति नेट् । नत्वनिषेधे चर्त्वे रूपम्–मत्तः । विन्दतेः (विद्लृ लाभे इत्यस्मात्) क्तप्रत्यये, नुदविदोन्देति प्राप्तस्य पाक्षिक-नत्वस्याऽभावनिपातने वित्तः । भोग्ये प्रतीते चार्थे निपातोऽयम् । वित्तः = प्रख्यातः ।

११७९—नुद् विद् आदि से निष्ठा के तकार को नकार विकल्प से होता है ।

११८०—श्वि और इदित् धातु से परे निष्ठा को इट् नहीं होता ।

११८१—ध्या आदि धातुओं से परे निष्ठा के तकार को नकार नहीं होता ।

११८२—रेफ से परे छकार और वकार का लोप होता है क्वि के विषय में झलादि अथवा अनुनासिकादि प्रत्यय परे रहते ।

११८३—भोग और प्रत्यय-प्रसिद्धि अर्थ में 'वित्त' शब्द निपातित है ।

११८४ भित्तं शकलम्[1] ८ । २ । ५९ ॥

भिन्नमन्यत् ।

११८५ ऋणमाधमर्ण्ये[2] ८ । २ । ६० ॥

ऋतमन्यत्र[3] ।

११८६ स्फायः स्फी निष्ठायाम् ६ । १ । २२ ॥

स्फीतः[4] ।

११८७ इण्निष्ठायाम् ७ । २ । ४७ ॥

निरः कुषो निष्ठाया इट् । यस्य[5] विभाषेति निषेधे प्राप्ते पुनर्विधिः । निष्कुषितः ।

११८८ वसतिक्षुधोरिट् ७ । २ । ५२ ॥

आभ्यां क्त्वानिष्ठयोर्नित्यमिट् । उषितः । क्षुधितः ।

१ -शकले = खण्डे वाच्ये भिदेः क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते,इत्यर्थः । २—ऋणेऽधमः = अधमर्णः, यद्वा, = अधमं दुःखप्रदम् ऋणं यस्य सोऽधमर्णः, तस्य भावः कर्म वा आधमर्ण्यम्, तेन व्यवहारविशेषो लक्ष्यते, सच (व्यवहारः) अन्यदीयं द्रव्यं गृहीतम् इयता कालेन इयत्या च वृद्ध्या प्रतिदेयम् इत्येवंरूपस्तस्मिन् विषये ऋधातोः क्तप्रत्यये ऋणमिति रूपं निपात्यते । (अप्राप्तस्य नत्वस्य निपातनम्) । ३—अन्यत्र = आधमर्ण्यव्यवहारभिन्ने विषये, ऋतम् = सत्यम् । ४—स्फायी वृद्धौ इत्यस्मात् क्तप्रत्यये, 'श्वीदित' इतीण्निषेधे स्फीभावे स्फीतः इति रूपम् । ५—निरः कुष इत्यनुवर्तते । ६—आर्धधातुकस्येत्येव सिद्धे किमर्थमिदं सूत्रमित्यत आह—यस्य विभाषेति । कुषधातोः तुजादौ 'निरः कुषः' इति पूर्वसूत्रेण वेट्कत्वात्, 'यस्य विभाषा' इति प्राप्तस्य इण्निषेधस्य बाधनार्थं पुनरिह विधानमित्यर्थः । ७—'एकाच' इतीण्निषेधबाधनार्थमिदं सूत्रम्, इडित्यनुवर्तमाने पुनरिड्ग्रहणं 'स्वरतिसूतिसूयति' इत्यतो वाग्रहणानुवृत्तिर्माभूदित्येवमर्थम् । तथा च नित्यत्वं सिद्ध्यति, तदाह—वृत्तौ नित्यमिति । ८—यजादित्वात्सम्प्रसारणम्, 'शासिवसिघसी'ति षत्वम् । वस् + क्तः = उष् + इतः, उषितः ।

११८४—खण्ड अर्थ में 'भित्तम्' यह निपातित हैं ।

११८५—आधमर्ण्य (देनदारी) अर्थ में ऋण शब्द निपातित हैं ।

११८६—निष्ठा परे रहते स्फायी धातु को स्फी आदेश होता है ।

११८७—निर् पूर्वक कुष् धातु से निष्ठा को इट् होता है ।

११८८—वस् और क्षुध् धातु से परे क्त्वा और निष्ठा को इट् नित्य होता है ।

११८९ अञ्चेः पूजायाम् ७ । २ । ५३ ॥[1]

क्त्वानिष्ठयोरिट् । अञ्चितः । गतौ तु—अक्तः ।[2]

११९० लुभो विमोहने ७ । २ । ५४ ॥[3]

क्त्वानिष्ठयोरिट्, नतु गार्ध्ये । लुभितः । गार्ध्ये तु—लुब्धः ।

११९१ क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः ७ । २ । ५० ॥[4]

इट् वा । क्लिशितः । क्लिष्टः ।[5]

११९२ पूङश्च ७ । २ । ५१ ॥[6]

क्त्वानिष्ठयोरिड् वा ।

११९३ पूङः क्त्वा च १ । २ । २२ ॥

निष्ठा सेट् किन्न स्यात् । पवितः[7] । पूतः । क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम्[8] । नोपधादित्यत्र हि क्त्वैव सम्बध्यते[9] ।

१—उदितो वेति क्त्वाप्रत्यये विकल्पात्, निष्ठायां 'यस्य विभाषे'ति निषेधे प्राप्ते वचनम् । २—पूजार्थाऽभावात्—इडभावे कित्वादनिदितामिति नलोपे 'चोः कु' रिति कुत्वे—अक्तः । ३—तीषसहलुभेति विकल्पात् निष्ठायां यस्य विभाषेति निषेधे प्राप्ते वचनमिदम् 'लुभ विमोहने' इति तौदादिक एव गृह्यते, न तु 'लुभ गार्ध्ये' दैवादिकः । इडभावे, झषस्तथोरिति तकारस्य धत्वे, जश्त्वम्, लुब्धः । ४—'स्वरतिसूति' इत्यतो वेत्यनुवर्तते तदाह—इड् वा । क्लिश उपतापे, इत्यस्य नित्यं प्राप्ते, 'क्लिशू विबाधने, इत्यस्य ऊदित्वाद् विकल्पे निष्ठायां यस्य विभाषेति निषेधे प्राप्ते विकल्पार्थोऽयमारम्भः । ५—इडभावपक्षे 'व्रश्चे'ति षत्वे ष्टुत्वम्, क्लिष्टः । ६—'श्र्युकः किति' इति निषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् । ७—निष्ठायाः कित्वाऽभावाद् गुणः अवादेशः—पवितः । ८—नोपधादित्यत्र सूत्रेऽनुवृत्त्यर्थमित्यर्थः । ९—तत्र हि क्त्वाप्रत्ययस्यैवाऽनुवृत्तिरिष्टा, पूङश्चेत्येवोक्तौ तु निष्ठा शीङित्यतो निष्ठाग्रहणमेवाऽनुवर्तेत, इति भावः ।

११८९—पूजार्थक अञ्च् धातु से क्त्वा और निष्ठा को इट् होता है ।

११९०—लुभ् धातु से क्त्वा और निष्ठा को इट् होता है यदि गर्ध्द अर्थ न हो ।

११९१—क्लिश् धातु से परे क्त्वा और निष्ठा को इट् विकल्प से होता है ।

११९२—पूङ् धातु से परे भी क्त्वा और निष्ठा को विकल्प से इट् होता है ।

११९३—पूङ् से परे सेट् निष्ठा कित् नहीं होती ।

११९४ निष्ठा शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः १।२।१९॥

सेट् किन्न। शयितः। (आदिकर्मणि[2] निष्ठा वक्तव्या)।

११९५ आदिकर्मणि[3] क्तः कर्तरि च ३।४।७१॥

चाद्भावकर्मणोः।

११९६ विभाषा भावादिकर्मणोः ७।२।१७॥

आदितो[4] निष्ठाया इड् वा। प्रस्वेदितश्चैत्रः[5]। प्रस्वेदितं तेन। ञिष्विदेति भ्वादिरत्र गृह्यते। शीङ्िः साहचर्यात्[6]। स्विद्यतेस्तु—स्विदित इत्येव। ञिमिदा ञिक्ष्विदा दिवादी भ्वादी च[7]। प्रमेदितः। प्रक्ष्वेदितः। प्रधर्षितः। धर्षितं तेन। सेट् किम्? प्रस्विन्नः। प्रस्विन्नं तेनेत्यादि।

१—कित्वाऽभावाद् गुणोऽयादेशः। २—यत्र दीर्घकालव्यापिनी क्रिया तत्राद्येषु क्रियाक्षणेषु भूतेष्वपि सर्वस्याः क्रियाया भूतत्वाऽभावाद् भूते विहिता निष्ठा न प्राप्नोतीति तदर्थमिदमारभ्यते वार्तिकम्— आदिकर्मणीति। क्रियाया आरम्भकालविशिष्टोंऽशः = आदिकर्म, तत्र विद्यमानाद् धातोर्निष्ठा वक्तव्येत्यर्थः। ३—आदिकर्मणि क्रियाया भूतांशविवक्षया विहितः क्तः कर्तरि स्यात्, चकाराद् भावकर्मणोरपीत्यर्थः। ४—आदितः = आकार इत् यस्य तस्मादित्यर्थः। भावे आदिकर्मणि च,-आदितो निष्ठाया इड् वा-इति सूत्रार्थः। ५—'निष्ठा शीङ्' इत्यादिना कित्वनिषेधे उपधागुणः, प्रस्वेदित। चैत्रकर्तृका आरम्यमाणप्रस्वेदनक्रियेत्यर्थः। ६—ष्विदा गात्रप्रक्षरणे इति दैवादिकस्येत्यर्थः "निष्ठा शीङि" ति सूत्रे भ्वादेरेव (ञिष्विदा इत्यस्यैव) ग्रहणं नतु दैवादिकस्य, तेन नोपधागुणः। ७—गृह्येते इति शेषः ८—'विभाषा भावादिकर्मणोः' इति इडभावपक्षे, कित्वनिषेधाऽभावात् न गुणः। प्रस्विन्नः।

११९४—शीङ् आदि से परे सेट् निष्ठा कित् नहीं होती। (आदि कर्म = आरम्भकालिक क्रिया अर्थ में विद्यमान धातु से भी निष्ठा होती है ऐसा कहना चाहिये)।

११९५—आदि कर्म में क्रिया के भूतांश विवक्षा से किया गया क्त प्रत्यय कर्ता में होता है और भावकर्म अर्थ में भी होता है।

११९६—आदित् धातु से भाव और आदि कर्म में विहित निष्ठा को इट् विकल्प से होता है।

११९७ मृषस्तितिक्षायाम् १ । २ । २० ॥

सेण् निष्ठा किन्न[1] । मर्षितः । तितिक्षायां किम्—अपमृषितं वाक्यम् । अवि-स्पष्टमित्यर्थः ।

११९८ उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् १ । २ । २१ ॥

उदुपधात्परा भावादिकर्मणोः सेण्निष्ठा वा किन्न[2] । द्युतितम् । द्योतितम् । मुदितम् । मोदितं साधुना । प्रद्योतितः । प्रद्युतितः । प्रमुदितः । प्रमोदितः साधुः । उदुपधात्किम्—विदितम् । भावेत्यादि किम्—रुचितं[3] कार्षापणम् । सेट् किम्—कुष्टम् । शब्विकरणेभ्य[4] एवेष्यते, नेह गुध्यतेर्गुधितम् ।

११९९ [5]निष्ठायां सेटि ६ । ४ । ५२ ॥

णेर्लोपः । भावितः । भावितवान् ।

१२०० दृढः[6] स्थूलबलयोः ७ । २ । २० ॥

स्थूले बलवति च निपात्यते ।

१२०१ दधातेर्हिः[7] ७ । ४ । ४२ ॥

तादौ किति । हितम् ।

१—तेन मर्षित इत्यत्रोपधागुणः । २—कित्वनिषेधो वेत्यर्थः । तेन वा गुणः, द्युतितम् , द्योतितम् इत्यादि । ३—अत्र कर्मणि निष्ठा । ४—भ्वादिभ्य एवे-त्यर्थः । तेन गुध्यतेर्दिवादिगणस्थस्य गुधितम् ५—सेण्निष्ठायां णेर्लोप इत्यर्थः । णेरनिटि, इत्यतो णेरिति, आतो लोप इत्यतो लोप इति चानुवर्तते । ६—बलशब्द अर्शआद्यजन्तो बलवत्परः । अर्थौ वृत्तौ स्पष्टः । 'दृह दृहि वृद्धौ' इत्याभ्यां क्तप्रत्ययः, इडभावः, निष्ठातकारस्य ढत्वं, हकारस्य लोपश्च निपात्यते, इदितो नलोपश्चापि । दृढः । ७—'द्यतिस्यती'त्यतः–ति कितीत्यनुवर्तते । तादौ किति धाधातोः हिरादेशः स्यादित्यर्थः ।

११९७—तितिक्षा अर्थ में मृष् धातु से परे सेट् निष्ठा कित् नहीं होती ।

११९८—उकारोपध धातु से परे भाव और आदि कर्म में विहित सेट् निष्ठा विकल्प से कित् नहीं होती ।

११९९—सेट् निष्ठा परे रहते 'णि' का लोप होता है ।

१२००—स्थूल और बलवान् अर्थ में 'दृढ' शब्द निपातित है ।

१२०१—'धा' धातु को 'हि' आदेश होता है तादि कित् परे रहते ।

१२०२ दो दद्घोः ७ । ४ । ४६ ॥

घुसंज्ञस्य दा इत्यस्य दथ् तादौ किति । चर्त्वम्[1] । दत्तः ।

१२०३ गत्यर्थाकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थास-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च ३ । ४ । ७२ ॥

एभ्यः कर्तरि क्तः स्याद्भावकर्मणोश्च । गङ्गां प्राप्तः[2] । ग्लानः सः । लक्ष्मीमाश्लिष्टो हरिः । शेषमधिशयितः ।

१२०४ द्यति-स्यति-मा-स्थामित्ति किति ७ । ४ । ४० ॥

एषामित्स्यात्तादौ किति । वैकुण्ठमधिष्ठितः[3] । शिवमुपासितः । हरिदिनमुपोषितः[4] । राममनुजातः[5] । गरुडमारूढः[6] । विश्वमनुजीर्णः[7] । पक्षे प्राप्ता गङ्गा तेनेत्यादि ।

१२०५ क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्य-गति प्रत्यवसानार्थेभ्यः ३ । ४ । ७६ ॥

एभ्योऽधिकरणे क्तः, चाद्यथा प्राप्तम् ।

मुकुन्दस्यासितमिदमिदं यातं रमापतेः[8] ।

१—'थ्' इत्यस्य खरि चेति चर्त्वम् = तकारः, इत्यर्थः । दत्तः । २—कर्तरि प्राप्तः क्तप्रत्ययो विधीयते । ३—अधिष्ठाधातोः क्तप्रत्यये, आकारस्य-इत्वे, अधिष्ठितः । वैकुण्ठे स्थितवानित्यर्थः । ४—उपोषितः । वसेः क्तप्रत्यये यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । 'वसतिक्षुधोरिट्' शासिवसिघसीनि षः, हरिदिने न भुक्तवानित्यर्थः । ५—अनुकृतवानित्यर्थः । ६—उपर्याक्रान्तवानित्यर्थः, आरुह् + क्तः, हस्य ढत्वं, तकारस्य धत्वे, ष्टुत्वे, ढलोपे, दीर्घः—आरूढः । ७—जॄधातोः कर्तरि क्तः, 'ॠत इद्'ति इत्वं रपरत्वं, हलि चेति दीर्घः, रदाभ्यामिति नत्वे णत्वम्, अनुजीर्णः । ८—मुकुन्दस्येति, इदम् = पुरो दृश्यमानं मुकुन्दस्य = भगवतः श्रीकृष्णचन्द्रस्य

१२०२—घु संज्ञक 'दा' धातुको 'दथ्' आदेश होता है तादि कित् परे रहते।

१२०३—गत्यर्थक अकर्मक और श्लिष् आदि धातुओ से कर्ता अर्थ में भी 'क्त' प्रत्यय होता है ।

१२०४—दो, सो, मा, और स्था धातु को इत् अन्तादेश होता है तादि कित् प्रत्यय परे रहते ।

१२०५—ध्रौव्य = स्थिरता, गति = चलना, प्रत्यवसान = भोजन इन अर्थों में विद्यमान धातुओं से अधिकरण अर्थ में भी क्त प्रत्यय होता है ।

मुकुन्दस्यासितमिति—"यह मुकुन्द भगवान् का आसित = बैठने का स्थान है । यह रमापति का यात = आने जाने का स्थान है । यह अनन्त भग-

भुक्तमेतदनन्तस्येत्यूचुर्गोप्यो दिदृक्षवः ॥

पक्षे आसेरकर्मकत्वात्कर्तरि भावे च । आसितो मुकुन्दः । आसितं तेन । गत्यर्थेभ्यः कर्तरि कर्मणि च—रमापतिरिदं यातः । तेनेदं यातम् । भुजेः कर्मणि— अनन्तेनेदं भुक्तम् । वर्तमाने इत्यधिकृत्य ।

१२०६ ञीतः क्तः ३ । २ । १८७ ॥

ञिविदा अव्यक्ते शब्दे । क्ष्विण्णः ।

१२०७ मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च ३ । २ । १८८ ॥

राज्ञां मतः । इष्टः । विदितः । अर्चितः । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । "शीलितः रक्षितः, आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि" इत्यादि ।

आसितम् = आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनस्थानमित्यर्थः, औव्योदाहरणमिदम् । इदं च रमापतेः = श्रीकृष्णस्य यातम् = यायते = गम्यतेऽत्रेति यातम् = मार्गः, गत्यर्थोदाहरणमिदम् । एतत् , अनन्तस्य = श्रीकृष्णस्य भुक्तम् = भुज्यतेऽस्मिन्निति भुक्तम् = भोजनस्थानमित्यर्थः, प्रत्यवसानो-(भक्षणा) दाहरणमिदम् । दिदृक्षवः = दर्शनाभिलाषिण्योऽन्वेषमाणा गोप्य इति = पूर्वोक्तम् ऊचुः । इति ।

१—गत्यर्थानां सकर्मकतया कर्तरि कर्मणि च क्तो नतु भावे इत्यर्थः । कर्तर्युदाहरणम्–रमापतिरिदं यातः, कर्तुरुक्तत्वात्प्रथमा, कर्मणश्चानुक्तत्वाद् द्वितीया । कर्मण्युदाहरणम्—तेनेदं यातम इति कर्तुरनुक्तत्वात्तृतीया कर्मणश्चोक्तत्वान्न द्वितीया, किन्तु प्रथमा । २—'ञि' इत् यस्य तस्माद् वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोः क्तप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । यथा,–'ञिक्ष्विदा' इत्यस्य क्ष्विण्णः आदितश्चेति नेट् । रदाभ्यामिति तकारस्य दकारस्य च नत्वे, णत्वम् । ३—वर्तमाने क्त इति शेषः । मतिरिहेच्छा, बुद्धेः पृथगुपादानात् । ४—तीषसहेति वेट्कत्वाद् यस्य विभाषेति इण्निषेधः, ष्टुत्वम् , इष्टः । ५—सूत्रेऽनुक्तार्थेभ्योऽपीत्यर्थः । ६—भाष्यश्लोकोऽयम् ।

वान् का भुक्त = भोजन करने का स्थान है" दर्शनाभिलाषी गोपियाँ इस प्रकार कह रही थीं । (गत्यर्थ क धातुओं से कर्ता और कर्म में 'क्त' प्रत्यय होता है) (भुज धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय होता है)

१२०६—ञीदित् धातु से वर्तमान काल में भी 'क्त' प्रत्यय होता है ।

१२०७—मति = इच्छा, बुद्धि और पूजार्थक धातुओं से वर्तमान में क्त प्रत्यय होता है ।

१२०८ नपुंसके भावे क्तः ३ । ३ । ११४ ॥

क्लीबत्वविशिष्टे भावे कालसामान्ये क्तः स्यात् । जल्पितम् । हसितम् ।

१२०९ सुयजोर्ङ्वनिप् ३ । २ । १०३ ॥

भूते । सुत्वा[२] । यज्वा ।

१२१० जीर्यतेरतृन् ३ । २ । १०४ ॥

जरन्[३] जरन्तौ । वासरूपन्यायेन[४] निष्ठापि[५] । जीर्णः । जीर्णवान् ।

१२११ छन्दसि लिट् ३ । २ । १०५ ॥

१२१२ लिटः कानज्वा ३ । २ । १०६ ॥

१२१३ क्वसुश्च ३ । २ । १०७ ॥

भूतसामान्ये छन्दसि लिट् । तस्य कानच्क्वसू वा स्तः । 'तङानावात्मनेपदम्'[५] । चक्राणः[६] । 'म्वोश्च' । जगन्वान्[७] । कवयस्तु बाहुलकाल्लोकेऽपि प्रयुञ्जते । 'तं तस्थि-[८]

१—सुञ् अभिषवे, इत्यस्माद् यजधातोश्च ङ्वनिप् स्यादित्यर्थः । २—पित्वात् तुक्, सुत्वन् शब्दः, प्रथमैकवचने सुत्वा, एवं यज्वा । ३—जष्धातोः अतृन्, गुणे 'जरत्' शब्दः, इदित्वान्नुम्, जरन्, जरन्तौ, जरन्तः इति । ४—अतृन्प्रत्ययो हि अपवादः, निष्ठा चोत्सर्गः, न्यायेनानेन उत्सर्गस्य विकल्पेन बाधः । तेन पक्षे निष्ठापीत्यर्थः । ५—इत्यनेनात्मनेपदसंज्ञेत्यर्थः । ६—कृधातोर्लिटः कानच्, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये चक्र + आन (ः) इति स्थिते यणि चक्राणः । ७—गम्धातोः लिटः क्वसुः, द्वित्वे जगम् + वस्, इति । म्वोश्चेति मस्य नत्वम् 'जगन्वस्' शब्दः प्रथमायां नुमि दीर्घे, जगन्वान्, जगन्वांसौ इत्यादि । ८—स्थाधातोर्लिटः क्वसुः, द्वित्वादौ 'वस्वेकाजाद्घसा' मिति वसोरिट् । 'तस्थिवस्'–शब्दः प्रथमायां नुमादौ तस्थिवान् तस्थिवांसौ तस्थिवांसः । तस्थिवांसम् इत्यादि, शसि 'वसोः' इति सम्प्रसारणे तस्थुषः' इति ।

१२०८—नपुंसक भाव में धातु से क्त प्रत्यय काल सामान्य अर्थ में होता है ।

१२०९—सु और यज् धातु से भूतकाल में 'ङ्वनिप्' प्रत्यय होता है ।

१२१०—जॄ धातु से भूतकाल में 'अतृन्' प्रत्यय होता है ।

१२११—वेद में समान्यतया भूतकाल में लिट् होता है ।

१२१२—लिट् को वेद में कानच् होता है विकल्प से ।

१२१३—पक्ष में लिट् को क्वसु होता है वेद में (कवि लोग तो वेद से अन्यत्र = लोक में भी कानच् और क्वसु का प्रयोग करते हैं) ।

वांसं नगरोपकण्ठे'। 'श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते'। इत्यादि।

१२१४ वस्वेकाजाद्घसाम् ७। २। ६७॥

कृतद्विर्वचनानामेकाचामादन्तानां घसेश्च वसोरिट् स्यान्नान्येषाम्। आदिवान्। आरिवान्। ददिवान्। जक्षिवान्। एषां किम्—बभूवान्।

१२१५ भाषायां सद्-वस-श्रुवः ३। २। १०८॥

सदादिभ्यो भूतसामान्ये भाषायां लिड् वा स्यात्, तस्य च नित्यं क्वसुः। 'निषेदुषीमासनबन्धधीरः'। 'अध्यूषुपस्तामभवज्जनस्य'। शुश्रुवान्।

१—अधिपूर्वकाद् गम्धातोर्लिटः क्वसुः अधिजगन्वान् इत्यादि। शसि-ङसि-ङसोश्च अधिजग्मुषः, गमहनेत्युपधालोपः, वसोः सम्प्रसारणे पूर्वरूपम्। षत्वम्। २—एकाजुदाहरणमिदम्—अद् भक्षणे इत्यस्माल्लिटः क्वसुः, द्वित्वं हलादिशेषाभ्यासदीर्घसवर्णदीर्घेषु कृतेषु, कृतद्वित्वोऽप्ययमेकाज्—इति भवति 'इट्'। आदिवान् आदिवांसौ इत्यादि। शसि—आदुषः। एवम् ऋ गतौ इत्यस्य आरिवान्, ऋच्छत्यॄतामिति गुणः, द्वित्वादि पूर्ववत्। शसि—आरुषः। आदन्तोदाहरणम्—ददिवान्, डुदाञ् दाने धातुः, लिटः क्वसुः, द्वित्वादि, इट्, 'आतो लोपः' इत्यालोपः। घसधातूदाहरणम्—जक्षिवान्। अदेर्लिटि लिट्यन्यतरस्यामिति घस्लादेशः, लिटः क्वसुः द्वित्वादि, इट्, गमहनेत्युपधालोपः। 'जक्षिवस्' शब्दः, प्रथमायां—जक्षिवान् जक्षिवांसौ इत्यादि, शसि जक्षुषः। ३—भूधातोर्लिटः क्वसुः, इडभावे द्वित्वादि बभूवस्–शब्दः, प्रथमायां बभूवान् बभूवांसौ, इत्यादि। शसि बभूवुषः। ४—निपूर्वकात्सदेर्लिटः, क्वसुः, द्वित्वे 'अत एकहल्मध्ये' इत्येत्वाऽभ्यासलोपौ इति निषेदिवान् निषेदिवांसौ इत्यादि (पुँल्लिङ्गे)। स्त्रीत्वे, निषेदिवस्-शब्दात् उगितश्चेति ङीप्, वसोः सम्प्रसारणम्, इडभावे पूर्वरूपं षत्वम्, 'निषेदुषी' इति। ५—अधिपूर्वाद् वसधातोर्लिटः क्वसुः, यजादित्वाद्धातोर्वस्य सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम्, 'उस्' इत्यस्य द्वित्वम्, हलादिशेषः, सवर्णदीर्घः। अध्यूषिवस्–शब्दः, प्रथमायां नुमादौ अध्यूषिवान् अध्यूषिवांसौ इत्यादि, शसि, ङसिङसोश्च वसोः सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम् (इडभावे) अध्यूषुषः। ६—श्रुधातोर्लिटः क्वसुः, द्वित्वम्। शुश्रुवान्।

१२१४—कृतद्विर्वचन एकाच् आकारान्त धातुओं से और घस् से परे ही वसु को इट् आगम होता है। अन्य से परे नहीं।

१२१५—सद्, वस्, श्रु, इन धातुओं से भूत सामान्य में लिट् विकल्प से

१२१६ उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ३ । २ । १०९ ॥

एते निपात्यन्ते । उपादिणो लिट् वा तस्य क्वसुः । इट् । उपेयिवान् । नात्रोपसर्गस्तन्त्रम् । ईयिवान् । नञोऽश्नातेः क्वसोरिडभावश्च, अनाश्वान् । अनोर्वचेः कर्तरि कानच्, वेदस्यानुवचनं कृतवाननूचानः ।

१२१७ लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३ । २ । १२४ ॥

अप्रथमान्तेन सामानाधिकरण्ये लट एतौ वा स्तः । शबादिः । पचन्तं चैत्रं पश्य ।

१२१८ आने मुक् ७ । २ । ८२ ॥

अङ्गस्यातः । पचमानं चैत्रं पश्य । लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् । सन् द्विजः ।

१२१९ ईदासः ७ । २ । ८३ ॥

आनस्य । 'आदेः परस्य' । आसीनः ।

१२२० विदेः शतुर्वसुः ७ । १ । ३६ ॥

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा । विद्वान् । विदन् ।

१—उपेत्युपसर्गग्रहणं न विवक्षितमित्यर्थः, तेन तदभावेऽपि भवतीति भावः । २—निपात्यते इति शेषः । ३—अनुवच् + कानच्, कित्वात्सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम् सवर्णदीर्घः, अनूचानः । ४—आने परं अङ्गस्यातो मुगागमः स्यादित्यर्थः । ५-६—आसधातोः परस्याऽऽनस्य 'ईत्' स्यादित्यर्थः । आदेः परस्येति नियमेन 'आन' इत्यस्याद्याऽवयवीभूतस्याऽऽकारस्य 'ईत्' आसीन, (आस् + शानच्) । ७—'विद् ज्ञाने' इत्यस्मात् लटः 'शतृ' आदेशो तस्य विकल्पेन 'वसु' प्रत्यये 'विद्वस्' शब्दः सिद्ध्यति । कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वात् स्वादयः, उगित्वान्नुम्,

---

होता है लोक में । और उसको नित्य क्वसु आदेश होता है ।

१२१६—'उपेयिवान्' 'अनाश्वान्' 'अनूचान' ये तीनों शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं ।

१२१७—अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य हो तो लट् के स्थान में शतृ और शानच् आदेश होते हैं ।

१२१८—अङ्ग के अत् को मुक् आगम होता है 'आन' शब्द परे रहते ।

१२१९—आस् धातु से परे 'आन' को ईत् आदेश होता है ।

१२२०—विद् से परे शतृ को 'वसु' आदेश विकल्प से होता है ।

१२२१ तौ सत् ३ । २ । १२७ ॥

तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः ।

१२२२ लृटः सद्वा ३ । ३ । १४ ॥

करिष्यन्तं[1] करिष्यमाणं वा पश्य ।

१२२३ ताच्छील्य-वयोवचन-शक्तिषु चानश् ३ । २ । १२९ ॥

अमी जुह्वानः[2] । कवचं बिभ्राणः[3] । शत्रुं निघ्नानः[4] ।

१२२४ आक्वेस्तच्छील तद्धर्म तत्साधुकारिषु ३ । २ । १३४ ॥

क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।

१२२५ तृन्[5] ३ । २ । १३५ ॥

कर्ता कटान् ।

'सान्तमहत' इति दीर्घः, संयोगान्तत्वेन सलोपः विद्वान्, विद्वांसौ, शसि वसोः संप्रसारणे पूर्वरूपे, विदुषः । भ्यामादौ 'वसुस्रंस्वि' ति दत्वम्, विद्वद्भ्याम् । पक्षे (शत्रन्तत्वे) विदन्, विदन्तौ इत्यादि, उगित्वान्नुम्, तकारस्य संयोगान्तलोपः ।

१—करिष्यतीति तम् = करिष्यन्त, करिष्यमाणम्, कृञ उभयपदित्वेन शतृशानचावुभावपि भवतः-इति । २—हु दानादनयोः, इत्यस्मात् चानश् प्रत्यये, (शचावितौ) चानशः शित्वेन शपः श्लुः, 'श्लौ' इति द्वित्वं कुहोश्चुरिति चुत्वम्, जुहु + आन (:) इको यणिति यण्, जुह्वानः = हवनशील इत्यर्थः । ३—डुभृञ् धारणपोषणयोः, इत्यस्मात् चानशि रूपम् । बिभर्त्ति तच्छील इति विग्रहः, सिद्धिः पूर्ववत् बिभ्राणः । वयस्युदाहरणमिदम्, यौवनबलात् कवचं बिभ्राण इत्यर्थः । ४—चानशो लादेशत्वाऽभावान्नात्मनेपदत्वम्, तेन परस्मैपदिभ्योऽपि धातुभ्यो भवति चानश् तथोदाहरति—निघ्नानः (नि-हन् + चानश्) शचावितौ, अदादित्वेन शपो लुक्, सार्वधातुकमपिदिति ङित्वेन गमहनेत्युपधालोपे, हो हन्तेरिति हस्य घत्वे रूपम् । 'आन' इत्यस्याऽतः परत्वाऽभावान्न मुक्, शक्त इत्यर्थः । ५—धातोः तृन् प्रत्ययः स्यात्तच्छीलादिषु कर्तृषु—इत्यर्थः । करोति

१२२१—शतृ और शानच् की 'सत्' संज्ञा होती है ।

१२२२—लृट् को शतृ और शानच् आदेश होता है विकल्प से ।

१२२३—ताच्छील्य वयोवचन और शक्ति अर्थ में धातु से कर्ता में 'चानश्' प्रत्यय होता है ।

१२२४—क्विप् पर्यन्त जो प्रत्यय कहे गये हैं वे तच्छीलादि कर्ता में होते हैं ।

१२२५—धातु से 'तृन्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२२६ स्पृहि-गृहि-पति-दयि निद्रा-तन्द्रा-श्रद्धाभ्य-आलुच् ३।२।१५८॥

आद्यास्त्रयश्चुरादावदन्ताः । स्पृहयालुः[1] । (शीङो वाच्यः) शयालुः ।

१२२७ अलंकृञ्-निराकृञ्-प्रजनोत्पचोत्पतोन्मद-रुच्यपत्रप-वृतु-वृधु-सह-चर इष्णुच्[2] ३ । २ । १३६ ॥

अलङ्करिष्णुः ।

१२२८ ग्ला-जि-स्थश्च ग्स्नुः ३ । २ । १३६ ॥

गिदयं नतु कित् । तेन[3] स्य ईत्वं न । ग्लास्नुः । गित्वान्न[4] गुणः । जिष्णुः । स्थास्नुः । चाद्भुवः । श्र्युकः कितीत्यत्र गकारप्रश्लेषान्नेट्[5] । भूष्णुः ।

१२२९ त्रसि गृधि-धृषि क्षिपेः क्नुः ३ । २ । १४० ॥

त्रस्नुः[6] । गृध्नुः । धृष्णुः । क्षिप्नुः ।

१२३० शमित्यष्टाभ्यो[7] घिनुण् ३ । २ । १४१ ॥

तच्छीलः कर्ता । 'कटान्' इति कर्म, तत्र 'कर्तृकर्मणो'रिति प्राप्ता षष्ठी 'न लोका-व्यये'ति निषिद्धयते । साधु करोति, इत्यपि विग्रहः ।

१—स्पृहधातोः चुरादिण्यन्तादालुच्, स्पृह इ + आलु (:), अतो लोपः, स्पृहि + आलु (:) अयामन्ताल्वित्ति णेरयादेशः स्पृहयालुः । अल्लोपस्य स्थानि-वत्त्वान्नोपधागुणः, एवं गृहयालुरित्यादि । २—सूत्रोक्तेभ्यः तच्छीलादिषु कर्तृषु इष्णुच् स्यादित्यर्थः । अलङ्करोति तच्छील इति विग्रहः, एवमग्रेऽपि । ३—स्था-स्नुरित्यत्र कित्वलक्षणं घुमास्थेति—ईत्वं नेत्यर्थः ४—क्ङिति चेति सूत्रे गकारोऽपि प्रश्लिष्यत इति भावः । तेन गित्यपि गुणनिषेधः । ५—ननु भूष्णुरित्यत्र 'इट्' स्यात्, श्र्युकः किति, इति कित एव इण्निषेधात्, तत्रोच्यते—श्र्युकः कितीत्यत्रेति, तेन गित्यपि भवति इण्निषेध इति । ६—त्रस्नुरित्यत्र 'नेड् वशीति' इणः निषेधः । 'गृध्नुः' इत्यादौ कित्वाद् नोपधागुणः । ७—इतिशब्दोऽत्र आदि-शब्दपर्यायः, शमादयो दिवादौ स्थिताः । तेभ्योऽष्टाभ्यो घिनुण् स्यात्तच्छीलादिषु

१२२६—स्पृहि गृहि आदि धातुओं से तच्छीलादि अर्थ में 'आलुच्' प्रत्यय होता है ।

१२२७—अलंकृञ् आदि से 'इष्णुच्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२२८—ग्ला आदि धातुओं से 'ग्स्नु' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२२९—त्रस् आदि धातुओं से 'क्नु' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२३०—शम् आदि धातुओंसे 'घिनुण्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

उकार उच्चारणार्थ इति काशिका। अनुबन्ध इति भाष्यम्। तेने शमिनितरा शमिनीतरेत्यत्र उगितश्चेति ह्रस्वविकल्पः। नन्वेवं शमी शमिनावित्यादौ नुम्प्रसङ्गः। झल्ग्रहणमपकृष्य झलन्तानामेव तद्विधानात्। नोदात्तोपदेशस्येति वृद्धिनिषेधः। शमी। तमीत्यादि।

१२३१ सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यस-परिसृ-संसृज-परिदेव-संज्वर-परिक्षिप-परिरट-परिवद-परिदह-परिमुह-दुष-द्विष-द्रुह दुह-युजाक्रीड-विविच-त्यज-रज भजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च ३। २। १४२॥

घिनुण् स्यात्। संपर्कीत्यादि।

१२३२ वौ कष-लस-कत्थ-स्रम्भः ३। २। १४३॥

कर्तृषु, इति भावः। 'घिनुण्' इत्यस्य 'इन्' इत्यवशिष्यते।

१—तेनेति—भाष्यमतेऽनुबन्धत्वेन उगित्वात् शमिनितरेति ह्रस्वः, काशिकामते उच्चारणार्थत्वेन उगित्वाऽभावात् न ह्रस्वः–शमिनीतरा, इति। एवं मतद्वयेन 'उगित'श्चेति ह्रस्वप्रवृत्त्यप्रवृत्तिभ्या विकल्पः सिद्ध्यति। (घिनुणन्तात् शमिन् शब्दात् स्त्रियां ऋन्नेभ्य इति ङीप्, ततस्तरप्प्रत्ययः, ततष्टाप्, उगितश्चेति मतभेदेन ह्रस्वविकल्पः)। २–ननु भाष्यरीत्या उगित्वाऽभ्युपगमे शमी शमिनौ इत्यादौ उगिद्चामिति नुम् स्यात्तत्राह–झलग्रहणामिति 'उगिद्चाम्' इति सूत्रे 'नपुंसकस्य झलचः' इत्युत्तरसूत्रात् झल्ग्रहणमपकृष्य, झलन्तस्य नुम् भवतीति व्याख्यानान्न नुम् इत्यर्थः। इदं युवोरिति सूत्रभाष्ये स्पष्टम्। ३—घिनुण्प्रत्ययस्य णित्वात् शमादीनामुपधावृद्धिः स्यादित्यत आह—नोदात्तोपदेशेति। ४—संपृच, अनुरुध, आङ्यम–आङ्यस, परिसृ, संसृज, परिदेवि, संज्वर, परिक्षिप्, परिरट, परिवद, परिदह, परिमुह, दुष, द्विष, द्रुह, दुह, युज, आ-क्रीड, वि-विच, त्यज, रज, भज, अति-चर, अप-चर, आमुष, अभ्याहन्, इत्येतेषां सप्तविंशतेः द्वन्द्वः। ५—सं-पृच्+(घिनुण्) इन्। पुगन्तेति गुणः 'चजोः' इति कुत्वम्। सम्पर्की। सम्पृक्ते तच्छील इत्यादिविग्रहाः। एवम् अनुरोधी, आयामी, (अत उपधाया वृद्धिः), आयासी, परिसारी, संसर्गी, परिदेवी, संज्वारी, परिक्षेपी, परिराटी, परिवादी, परिदाही, परिमोही, दोषी, द्वेषी, द्रोही, दोही, योगी, आक्रीडी, विवेकी, त्यागी, रागी, भागी, अतिचारी, अपचारी, आमोषी, अभ्याघाती (हो हन्तेरिति घत्वम्, हनस्त इति नस्य तकारः, उपधावृद्धिः)। ६—विपूर्वेभ्यः सूत्रोक्तेभ्यो घिनुण् स्यात्तच्छी-

---

१२३१—संपृच् आदि धातुओंसे 'घिनुण्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में।

१२३२—विपूर्वक कष् लस् कत्थ और स्रम्भ् धातु से 'घिनुण्' होता है

विकाषी ।

१२३३ अपे च लषः ३ । २ । १४४ ॥

चादौ । अपलाषी । विलाषी ।

१२३४ चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच् ३ । २ । १४८ ॥

चलनार्थाच्छब्दार्थाच्च (अकर्मकात्) युच् स्यात् । चलनः । चोपनः । कम्पनः । शब्दनः । रवणः । अकर्मकात्किम् । पठिता विद्याम् ।

१२३५ अनुदात्तेतश्च हलादेः ३ । २ । १४९ ॥

अकर्मकाद्युच् । वर्तनः । वर्धनः । अनुदात्तेतः किम्—भविता । हलादेः किम्—एधिता । अकर्मकात्किम्—वसिता वस्त्रम् ।

१२३६ निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाश-परिक्षिप-परिरट-परिवादि-व्याभाषासूयो वुञ् ३ । २ । १४६ ॥

एभ्यो वुञ् । निन्दकः । हिंसक इत्यादि ।

लादिकर्तृष्वित्यर्थः ।

१—अपपूर्वात् विपूर्वाच्च लषेर्घिनुण् । २—चल कम्पने (अकर्मकः) इत्यस्मात् 'युच्', अनादेशः, चलन. = कम्पनशील इत्यर्थः । ३—चुप् मन्दाया गतौ, चोपति तच्छील:, चोपनः । कपि सचलने, कम्पते तच्छीलः कम्पनः । शब्द शब्दने चुरादिः, शब्दयतीति शब्दनः । रु शब्दे रौति-इति रवणः । ४—हलादेरनुदात्तेतोऽकर्मकाद् युच् स्यात्ताच्छील्यादिषु-इत्यर्थः । ५—भूधातोः अनुदात्तेत्वाऽभावान्न युच् किन्तु तृन्, इटि भविता । ६—विनाशेति विपूर्वस्य नशेर्ण्यन्तस्य भाविना णिलोपेन निर्देशः-निन्द, हिंस, क्लिश, खाद, विनाश, परिक्षिप, परिरट, परिवादि,

---

तच्छीलादि कर्ता मे ।

१२३३—अप और वि पूर्व रहते लष धातु से 'घिनुण्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता मे ।

१२३४—चलनार्थक और शब्दार्थक तथा अकर्मक धातुओ से 'युच्' प्रत्यय होता है ताच्छील्यादि अर्थों में ।

१२३५—अनुदात्तेत् हलादि अकर्मक धातु से 'युच्' होता है ताच्छील्यादि अर्थों मे ।

१२३६—निन्द हिंस् आदि धातुओं से 'वुञ्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२३७ देविक्रुशोश्चोपसर्गे ३ । २ । १४७ ॥

आदेवकः । आक्रोशकः । उपसर्गे किम्—देवयिता । क्रोष्टा ।

१२३८ लष-पत-पद-स्था-भू-वृष-हन-कम-गम-शृभ्य उकञ् ३ । २ । १५४ ॥

लाषुकः[2] । पातुकः ।

१२३९ जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः षाकन् ३ । २ । १५५ ॥

जल्पाकः[3] ।

१२४० सनाऽऽशंस-भिक्ष उः ३ । २ । १६८ ॥

चिकीर्षुः[4] । आशंसुः । भिक्षुः ।

१२४१ स्थेश-भास-पिस-कसो वरच् ३ । २ । १६८ ॥

व्याभाष, असूय, इत्येतेषां दशानां द्वन्द्वः । वुञो ञित्वेन यथाप्राप्तं गुणवृद्ध्यादिकम् । क्लेशकः, खादकः, विनाशकः, परिक्षेपकः, परिराटकः, व्याभाषकः, असूयकः । निन्दति तच्छील इत्यादिविग्रहः ।

१—वुञ् स्यादिति शेषः । २—लषतेरुकञ्, लषति तच्छीलो लाषुकः, अत उपधाया वृद्धिः । एवम्—पातुकः, पादुकः, स्थायुकः (आतो युक्), भावुकः, वर्षुकः, घातुकः (वृद्धिः, हस्य घत्वम्, नस्य तः), कामुकः, गामुकः, शारुकः । ३—जल्पति तच्छीलः = जल्पाकः, एवम्—भिक्षाकः, कुट्टाकः, लुण्टाकः, वराकः । षाकनः षित्वात् स्त्रियाँ, 'षिद्गौरादिभ्य' इति ङीष्, जल्पाकी—इत्यादि । ४—चिकीर्षतीति तच्छीलः–चिकीर्षु । सन्नन्तात् कृधातोः उप्रत्ययः, चिकीर्ष + उ (:), अतो लोप इति 'अ'–लोपः ।

१२३७—उपसर्ग पूर्व दिव और क्रुश् धातु से 'वुञ्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२३८—लष् पत् पद् आदि धातुओं से 'उकञ्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२३९—जल्प आदि धातुओं से 'षाकन्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२४०—सन्नन्त आङ् पूर्वक शंस् और भिक्ष धातु से 'उ' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२४१—स्था ईश् आदि धातुओंसे 'वरच्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्तामें ।

स्थावरः[1] । भास्वरः-इत्यादि ।

१२४२ यश्च यङः ३ । २ । १७६ ॥

यातेर्यङन्ताद्वरच् । अतो लोपः । तस्याचः परस्मिन्निति स्थानिवद्भावे प्राप्ते ।

१२४३ न पदान्त-द्विर्वचन-वरेयलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्चर्विधिषु १ । १ । ५८ ॥

पदस्य चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत् । इति यलोपं प्रति स्थानिवत्त्वनिषेधाल्लोपो व्योर्वलीति यलोपः । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वमाश्रित्याऽऽलोपे प्राप्ते (वरे लुप्तं न स्थानिवत्) यायावरः ।

१२४४ भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप् ३।२।१७७॥

विभ्राट् । भाः । धूः । विद्युत् । ऊर्क् । पूः । दृशिग्रहणस्यापकर्षणाज्जवतेर्दीर्घः । जूः ।

१—सूत्रे 'स्था-ईश' इति छेदः, तिष्ठति तच्छीलः = **स्थावरः** । एवम् ईष्टे—**ईश्वरः** भासते—**भास्वरः**, पेसति—**पेस्वरः** कसति—**कस्वरः** । २—याधातोः 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' इति यङन्तात् (द्वित्वेऽभ्यासह्रस्वे, 'दीर्घोऽकितः' इति पुनरभ्यासदीर्घे,) वरच्, यायाय + वर (:) इति स्थिते 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे । **तस्य** = अल्लोपस्य स्थानिवद्भावे प्राप्ते तन्निषेधे च सति लोपो व्योर्वलीति यलोपे, यायावर इति सिद्ध्यति । ननु अतो लोप, इत्यनेन कृतस्य अल्लोपस्य स्थानिवद्भावेनाश्रयणात् 'आतो लोप' इति-आलोपः स्यादित्यत्रोत्तरम्—**वरे लुप्तं न स्थानिवत्**, वरच् प्रत्यये यल्लुप्तं तन्न स्थानिवदिति निषेधेन अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाऽभावाद् आलोपो नेति भावः । यायायते = कुटिलं गच्छति तच्छीलः—**यायावर** । ३—भासते तच्छीलः—**भाः**, क्विपः सर्वापहारे रुत्वविसर्गौ । धूर्वति तच्छीलः—**धूः** 'राल्लोपः' इति वलोपः, धुर् शब्दः, र्वोरिति दीर्घे 'धूः' धुरौ धुरः । एवम्—विद्योतते-**विद्युत्** । ऊर्जयति—**ऊर्क्** । पिपर्ति—**पूः** क्विप्-उदोष्ठ्येति ऋत उत्त्वे रपरत्वे च 'पुर्' शब्दः, र्वोरिति दीर्घः, पूः पुरौ पुरः । ४—'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' ३ । २ । १७८ । इति सूत्रे दृशिग्रहणस्य (दृश्यते इत्यस्य)

१२४२—यङन्त या धातु से 'वरच्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता में ।

१२४३—पदान्त कार्य अथवा द्विर्वचनादि कार्य कर्तव्य हो तो परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं होता । (वरच् प्रत्यय परे रहते जिसका लोप हुआ हो वह स्थानिवत् नहीं होता) ।

१२४४—भ्राज् भास् आदि धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि

प्रावस्तुत् । (क्विब्वचि-प्रच्छ्यायतस्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणं च) वक्तीति वाक् । पृच्छतीति प्राट् । आयतं स्तौतीति आयतस्तूः । कटं प्रवते कटप्रूः । जूरुक्तः । श्रयति हरिं श्रीः । (ध्यायतेः सम्प्रसारणं) धीः ।

१२४५ दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे ३ । २ । १८२ ॥

दावादेः ष्ट्रन् करणेऽर्थे । दान्त्यनेन दात्रम् । नेत्रम् ।

१२४६ ति-तु-त्र त-थ-सि-सु-सर-क सेषु च ७ । २ । ९ ॥

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण्न । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । दंष्ट्रा । नद्ध्री ।

विध्यन्तरविशेषसमर्पकत्वनभिमतं विद्यते, इहापि तदपकर्षाद् विध्यन्तरसिद्धेर्दीर्घः, इति भावः । 'जु' इति सौत्रो धातुः, क्विपि दीर्घे, जूः, जुवौ जुवः इत्यादि । प्रावस्तुत्, क्विप्, तुक् ।

१—क्विप्प्रत्यये, प्राप्तं च सम्प्रसारणं निषिध्यते । उणादिरूपमिदं वार्त्तिकञ्च । कटप्रूः कटप्रुवौ, इत्यादि (उवङ्) । २—क्विपि दीर्घः, प्राञ्चस्तु अयन्त्येनामिति कर्मणि क्विपमुदाहरन्ति, तत्र—कर्तरि कृदिति शास्त्रविरोधोऽपरिहार्यः । ३—चात् क्विप्, ध्यैधातोः क्विपि सम्प्रसारणम्, 'हल' इति दीर्घः, धीः । ४—दाप्—नी, इति छेदः, पकारस्याऽनुनासिको मकारः । ५—दा (प्) लवने धातुः, स्त्रियाँ षित्वाद् ङीष्, दात्री नेत्रीत्यादयः । ६—ति = क्तिन्-क्तिच् (१) तु = तुन् (२) । त्र = ष्ट्रन् (३) । त = तन् (४) । थ = क्थन् (५) । सि = क्सि (६) । सु (७) । सर = सरन् (८) । क = कन् (९) । स (१०) इति दश । ७—दाप् दात्रम् । नी—नेत्रम् । शस् शस्त्रम् । यु—योत्रम् । युज्—योक्त्रम् । स्तु—स्तोत्रम् । तुद्—तोत्त्रम् । सि—सेत्रम् । सिच्—सेक्त्रम् । ८—मिह्—मेढ्रम् । (ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपाः) । पत्—पत्त्रम् । ९—दंश्—दंष्ट्रा, अत्र न ङीष् । अनित्यः षितां ङीष्, मातामहीशब्दस्य गौरादिषु पाठात्, मातरि षिच्चेति ङीषः सिद्धेः । १०—नह्—नद्ध्री (अत्र नहो धः) । इति क्रमेणोदाहरणानि ।

कर्ता में । (वच् आदि धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय होता है और अच् को दीर्घ होता है तथा सम्प्रसारण नहीं होता) (ध्यै धातु से 'क्विप्' होता है और सम्प्रसारण भी होता है) ।

१२४५—दाप् आदि धातुओं से करण कारक में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है ।

१२४६—ति, तु आदि दश कृत्प्रत्ययों को इट् नहीं होता ।

१२४७ हलसूकरयोः पुवः ३ । २ । १८३ ॥

पूङ्पूञोः करणे ष्ट्रन् । तच्चेत्करणं हलसूकरयोरवयवः । हलस्य सूकरस्य वा पोत्रं मुखमित्यर्थः ।

१२४८ अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः ३ । २ । १८४ ॥

अरित्रम् । लवित्रम् । धवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

१२४९ पुवः संज्ञायाम् ३ । २ । १८५ ॥

पवित्रम् । इति पूर्वकृदन्ताः ॥

अथोणादयः ।

१ कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण् ।

करोतीति कारुः । वायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौषधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यमिति साधुः । अश्नुते-आशु शीघ्रम् ।

१—ऋ-अरित्रम्, लू-लवित्रम, धू-धवित्रम्, खन्-खनित्रम्, सह-सहित्रम्, चर-चरित्रम । २—पूयतेऽनेनाज्यमिति, पू-पवित्रम् ।

इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ॥

अथोणादयः ।

३—कारुः = शिल्पी. णित्वाद् वृद्धिः । वातीति वायुः आतो युगिति युक् । एवम् पायुः । जयत्यभिभवति रोगम् इति जायुः = औषधम्, इकारस्य वृद्धौ—आयादेशः । (डुमिञ् प्रक्षेपणे) मिनोति = प्रक्षिपति देहे उष्माणमिति मायुः = पित्तम् । (स्वदते = रोचते इति स्वादुः-सितास्वण्डः । साधुः = परोपकारी । अश्नुते—आशु = शीघ्रम् ।)

१२४७—पूङ् और पूञ् धातु से करण में 'ष्ट्रन्' होता है, वह करण यदि हल तथा सूकर का अवयव हो ।

१२४८—अर्ति लू आदि धातुओं से करण कारक में 'इत्र' प्रत्यय होता है ।

१२४९—पूङ् और पूञ् धातु से इत्र प्रत्यय होता है संज्ञा में ।

इति पूर्वकृदन्ताः ॥

अथ उणादिप्रकरणम् ।

१—कृञ् आदि धातुओं से 'उण्' प्रत्यय होता है ।

२ हरिमितयोर्द्रुवः ।

द्रु गतौ-इत्यस्मात् हरिमितयोरुपपदयोः कुः स च कित् । हरिमिद्र्यते हरिद्रुर्वृक्षः । मितं द्रवतीति मितद्रुः-समुद्रः ।

३ शते च ।

शतधा द्रवतीति शतद्रुर्नदीभेदः ।

अन्दू-दृन्भू-जम्बू-कफेलू-कर्कन्धू-दिधिषूः ।[3]

एते कूप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

५ शमेर्ढः ।

बाहुलकात् इत्संज्ञा ढस्य एयादेश इट् च न भवति । 'शण्ढः स्यात्पुंसि गोपतौ' ।

६ कमेरठः ।

'कमठः कच्छपे पुंसि भाण्डभेदे नपुंसकम्' इति मेदिनी ।

१—कुप्रत्यये डित्त्वात् टिलोपः । एवम् मितद्रुः । २—'सतलुज' इति भाषायाम् । ३—अदि बन्धने, इत्यस्मात् कूप्रत्यये अन्दूः = बन्धनम् । इदित्वान्नुम् । दृन्भूः, दृभी ग्रन्थे निपातनान्नुम् निपातनादनुस्वाराभावोऽपीत्येके दृन्भूरिति । जनी प्रादुर्भावे, कूप्रत्यये 'धुक्'-आगमः, नकारस्यानुस्वारपरसवर्णौ-जम्बूः=वृक्षविशेषः-(जामुन), जमु-अदने—इत्यस्य जम्बूरित्येके । बाहुलकाद् ह्रस्वोऽपि जम्बुः । कफं लाति—इति कफेलूः = श्लेष्मातकः = लसूढा इति भाषा । लाधातोः कूप्रत्ययः, पूर्वपदस्यैदन्तत्वं निपातनात् । कर्कं = बदरीफलं दधाति कर्कन्धूः = बदरी (वृक्षः), निपातनान्नुम् । कर्कपूर्वाद् धाधातोः कूप्रत्ययः । दिधिं = धैर्यं, स्यति = त्यजति दिधिषूः = पुनर्भूः । दिधिपूर्वकात् सोऽन्तकर्मणि, इत्यस्मात् कूप्रत्ययः । ४—शम्- धातोः ढप्रत्यये रूपम्-शण्ढः = गवेन्द्रः (सांढ, इति भाषायाम्), चुटू इति ढस्य इत्संज्ञा, आयनेयीति एयादेशः, इट् च बाहुलकान्न भवति, मकारस्यानुस्वारपरसवर्णौ ।

२—हरि और मित उपपद रहते द्रु धातु से 'कु' प्रत्यय होता है और वह कित् होता है ।

३—शत उपपद रहते भी द्रु से 'कु' प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

४—अन्दू आदि शब्द 'कू'-प्रत्ययान्त निपातित हैं ।

५—शम् धातु से 'ढ' प्रत्यय है । ढ को एय आदेश और इट् नहीं होता ।

६—कम् से 'अठ' प्रत्यय होता है ।

७ रमेर्वृद्धिः ।

रामठं = हिङ्गु ।

८ शमेः खः ।

शङ्खः ।

९ कणेष्ठः ।

कण्ठः ।

१० अमन्ताड्डः ।

अमिति प्रत्याहारः । 'दण्डोऽस्त्री लगुडेऽपि स्यात्' इत्यमरः । 'रण्डा मूषिकपर्ण्यां च विधवायां च योषिति' इति मेदिनी । 'खण्डोऽस्त्री शकले नेक्षुविकारमणिभेदयोः' इति मेदिनी । मन ज्ञाने । 'मण्डः पञ्चाङ्गुले शङ्कुभेदे क्लीबं तु वस्तुनि' । इति मेदिनी ।

११ पति-चण्डिभ्यामालञ् ।

'पातालं नागलोके स्याद्विवरे वडवानले' इति मेदिनी । चण्डालो = मातङ्गः । प्रज्ञादित्वादणि चाण्डालोऽपीत्युज्ज्वलदत्तः । तन्न । 'कुलाल-वरु-ड-कर्मार-निषाद-चण्डाल-मित्राऽमित्रेभ्यश्छन्दसि' इति चण्डालशब्दात्स्वार्थे ण्ं विदधता वार्तिकेन तद्भाष्येण च सह विरोधात् ।

१—रम्धातोः–अठप्रत्ययः, उपधावृद्धिश्चेत्यर्थः । रामठम् । २—शमु उपशमे इत्यस्मात् खप्रत्ययः, अनुस्वारपरसवर्णौ शङ्खः । ३—कण निमीलने इत्यस्मात् ठप्रत्यये, कण्ठः = गलः । ४—'अमङणनम्' इति 'अम्' प्रत्याहारः अमन्ताद् धातोः डः स्यादित्यर्थः, 'बाहुलकात् चुट्टू' इति डस्येत्वं न । दमु धातोः डप्रत्यये, अनुस्वारसवर्णौ, दण्डः = लगुडः, रमु धातोः—रण्डा । खनु अवदारणे इत्यस्य खण्डः । मनधातोः डप्रत्यये मण्डः । ५—पत् धातोः आलञ् प्रत्ययः, ञित्वादुपधावृद्धिः । पतन्त्यस्मिन्निति विग्रहः । ६—चडि कोपे—इत्यस्माद् आलञ्, इदित्वान्नुम् अदुपधत्वाभावान्न वृद्धिः चण्डालः ।

७—रम् से 'अठ' प्रत्यय और वृद्धि होती है ।

८—शम् से 'ख' प्रत्यय होता है ।

९—कण् से 'ठ' प्रत्यय होता है ।

१०—अमन्त धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ।

११—पत् और चण्ड् धातु से 'आलञ्' प्रत्यय होता है ।

१२ गन् गम्यद्योः ।

गङ्गा । अद्गः = पुरोडाशः ।

१३ भृञः कित् नुट् च ।

भृञो गन्कित्स्यात्तस्य नुट् च । 'भृङ्गाः षिड्गाऽलिधूम्याटाः' इति विश्वः ।

१४ शृणातेर्ह्रस्वश्च ।

शृङ्गम् ।

१५ अर्ति-स्तु-सु-हु-सृ-धृ-क्षि-क्षु-भा-या-वा-पदि-यक्षि-नीभ्यो मन् ।

एभ्यश्चतुर्दशभ्यो मन् । अर्मश्चक्षूरोगः । स्तोमः । सोमः, होमः । सर्मो = गमनम् । धर्मः । क्षेमं = कुशलम् । क्षोमम् । भामः = आदित्यः । यामः । वामः = शोभनदुष्टयोः । पद्मम् । यक्ष्मो = रोगराजः । नेमः ।

१६ अवतेष्टिलोपश्च ।

मन्प्रत्ययस्यायं टिलोपो नतु प्रकृतेः । अन्यथा डिदित्येव ब्रूयात् ।

१—गम्लृ गतौ, अद भक्षणे इत्याभ्यां 'गन्' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । गम्+गन्, नस्येत्वे मस्याऽनुस्वारपरसवर्णौ, स्त्रीत्वे टाप् गङ्गा = भागीरथी । अद्+गन्, अद्गः । २—भृञ् भरणे इत्यस्मात् गन्प्रत्ययः, तस्य कित्वाद् गुणाऽभावः, नुडागमे च, अनुस्वारपरसवर्णौ, बहुवचने भृङ्गाः । ३—शॄ हिंसायाम् इत्यस्मात् गन् प्रत्ययो भवति, धातोः ह्रस्वश्च, प्रत्ययस्य कित्वं नुट् चेत्यर्थः । शृङ्गम । ४—ऋ—अर्मः, मन् प्रत्यये गुणः । स्तु—स्तोमः, सु—सोमः, हु—होमः, सृ—सर्मः, क्षि—क्षेमः, क्षु—क्षोमम्—प्रज्ञाद्यण् क्षौमम् । भा—भामः, या—यामः, वा—वामः, पद्—पद्मम्, यक्ष—यक्ष्मः, नी—नेमः । ५—अव-रक्षणे इत्यस्मात् मन्-प्रत्ययः, मन्-प्रत्ययस्य टिलोपश्चेत्यर्थः ।

१२—गम् और अद् धातु से 'गन्' प्रत्यय होता है ।

१३—भृञ् से 'गन्' होता है, वह कित् होता है, और उसको नुट् होता है ।

१४—शॄ धातु से 'गन्' होता है धातु को ह्रस्व होता है ।

१५—ऋ आदि धातुओं से 'मन्' प्रत्यय होता है ।

१६—अव धातु से 'मन्' प्रत्यय होता है, और प्रत्यय की टि का लोप होता है ।

१७ ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च ६ । ४ । २० ॥

एषामुपधावकारयोरूठ् क्वौ झलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये । अत्र क्ङितीति नानुवर्तते । अवतेस्तुनि कृते ओतुरिति दर्शनात् । स्वरादिपाठादव्ययत्वम् । अवतीति—ओम् । ²

ग्रसेरा च ।

ग्रामः ।

१९ अवि-सिवि-शुषिभ्यः किन् ।

एभ्यो मन् । ऊमं = नगरम् । स्यूमो = रश्मिः । सिमः = सर्वः, शुष्ममग्निसमीरयोः । घर्मः । घृ धातोर्निपातोऽयम् । ग्रीष्म । ग्रसतेर्निपातोऽयम् ।

२० अशू प्रुष लटि कणि खटि-विशिभ्यः क्वन् ।

अश्वः । 'प्रुष्वः स्यादृतुसूर्ययोः' । लट्वा = पक्षिभेदः फलं च । कण्वं = पापम् । खट्वा । विश्वा ।

१—क्ङित्यनुवर्तने तु उपधावकारयोरूठोऽभावेन 'ओतुः' इति न स्यात् । २—अव् + म् (अन्) टिलोपे अव् + म् अकारसहितवकारस्य ऊठि गुणे, ओम् । अवतीति विग्रहः । ३—ग्रस धातोः-मन् प्रत्ययः अन्त्यस्य आकारादेशश्च । ४—सच कित् । अवतेर्मन प्रत्यये ज्वरत्वरेत्यूठि सवर्णदीर्घे रूपम्, ऊमम् । सिवु धातोः मनि, छ्वोरिति वस्योठि यणि रूपम्, स्यूमः । सिञ्धातोर्मनि, सिमः । शुष् धातोः मनि शुष्मम । ५—घृधातोर्मक् प्रत्ययः गुणश्च निपात्यते, एवं ग्रसतेर्मकि, ईत्वे, ग्रीष्म इति निपातः ।६—'अशू व्याप्तौ' धातोः क्वन् प्रत्यये क्वनावितौ, अश्वः । प्रुष धातोः-प्रुष्वः । 'लट बाल्ये' इत्यस्य = लट्वा 'लट्वा करञ्जभेदे स्यात् फले वाद्ये खगान्तरे' इति विश्वः । 'कण निमीलने' धातोः कण्वम् । 'खट काङ्क्षायाम्' इत्यस्मात् क्वनि खट्वा = मञ्चकः । विशधातोः-विश्वा अतिविषा (औषधभेदः) ।

१७—ज्वरादि धातुओं की उपधा और वकार को 'ऊठ्' होता है क्विप् और झलादि तथा अनुनासिकादि प्रत्यय परे रहते ।

१८—ग्रस् से 'मन्' त्यय और आकार अन्तादेश होता है ।

१९—अव् आदि धातुओं से 'मन्' प्रत्यय होता है और वह कित् होता है ।

घर्मः—घृ धातु से मन् होकर घर्म शब्द निपातित है ।

ग्रीष्म —ग्रस् से मन् प्रत्यय होकर 'ग्रीष्म' शब्द निपातित है ।

२०—अशू आदि धातुओं से 'क्वन्' प्रत्यय होता है ।

२१ कनिन् यु-वृषि-तक्षि-राजि-धन्वि-द्यु-प्रतिदिवः ।[1]

यौति—इति युवा । वृषा = इन्द्रः । तक्षा । राजा । धन्वा = मरुः । धन्व = शरासनम् । द्युवा = सूर्यः । प्रतिदीव्यन्त्यस्मिन्प्रतिदिवा = दिवसः ।

२२ उषि-कुषि-गार्तिभ्य स्थन् ।

ओष्ठः । कोष्ठः । गाथा । अर्थः-'अर्थोऽभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु' इत्यमरः ।

२३ पा-तृ-तुदि-वचि-रिचि-सिचिभ्यस्थक् ।[4]

'पीथो रविर्घृतं पीथम्' । 'तीर्थं शास्त्राऽध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु । अवतारर्षिजुष्टाम्भःस्त्रीरजःसु च विश्रुतम् ॥' इति विश्वः । तुत्थोऽग्निः । उक्थं सामभेदः । रिक्थम् । बाहुलकाद्रेचेरपि । 'रिक्थमृक्थं धनं वसु' । सिक्थम् ।

२४ ग्लानुदिभ्यां डौः ।[5]

ग्लौः । नौः ।

२५ च्विरव्ययम् ।[6]

१—यु मिश्रणे, वृषु सेचने, तक्षू तनूकरणे, राजृ दीप्तौ, धन्वि गतौ, द्यु अभिगमने, दिवु क्रीडादौ, इत्येतेभ्यः कनिन् प्रत्ययः । कनावितौ ('अन्' शिष्यते) । २—युधातोः कनिन् प्रत्यये, युवन् शब्दः सिद्ध्यति, प्रातिपदिकत्वे स्वादयः, उपधादीर्घः, नलोपः, युवा । एवम्—वृषन्-तक्षन्-राजन्-धन्वन्-द्युवन्-प्रतिदिवन्-शब्दानां सिद्धिः । ३—उष दाहे-धातोस्थन्प्रत्यये नस्योत्वे गुणे ष्टुत्वे ओष्ठः, कुष निष्कर्षे-धातोः कोष्ठः । गैशब्दे—गाथा 'आदेच' इत्यात्वम्, स्त्रीत्वे टाप् । ऋ गतौ—अर्थः । गुणः । ४—पा पाने, तॄ प्लवनसन्तरणयोः, तुद व्यथने, वच परिभाषणे, रिचिर् विरेचने, षिचिर् क्षरणे, इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्थक् प्रत्यय इत्यर्थः । पीथः पा+थ (क्) घुमास्थेतीत्वम्, पीथ. । तीर्थम् 'तॄ' धातोस्थकि 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वे रूपम् । एवम्—तुत्थः, वचेः—उक्थम् । ५—ग्लै हर्षक्षये, णुद प्रेरणे, इत्याभ्यां डौप्रत्ययः—इत्यर्थः । डित्त्वाट्टिलोपः । ग्लौः = चन्द्र , नौ = नौका । ६—डौप्रत्ययान्तं शब्दस्वरूपं च्व्यन्तं चेदव्यय-

---

२१—यु आदि धातुओं से 'कनिन्' प्रत्यय होता है ।

२२—उष् कुष् आदि धातुओं से 'स्थन्' प्रत्यय होता है ।

२३—पा आदि धातुओं से 'स्थक्' प्रत्यय होता है ।

२४—ग्ला और नुद् धातु से 'डौ' प्रत्यय होता है ।

२५—डौ प्रत्ययान्त शब्द यदि च्वि प्रत्ययान्त हो तो अव्यय संज्ञक होता है ।

ग्लौरित्येव । ग्लौकरोति । 'कृन्मेजन्तः' इति सिद्धे नियमार्थमिदम् । उणादि-प्रत्ययान्तश्च्व्यन्त एवेति ।

२६ गमेर्डोः[2] ।

'गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः ।
स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ तु सुरभावपि ।
नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु' । इति

बाहुलकात् द्युतेरपि डोः । 'द्यौः[3] स्त्रीस्वर्गान्तरिक्षयोः' ।

२७ रातेर्डैः ।

रैः ।

२८ भ्रमेश्च डूः ।

भ्रूः[5] । चाद्गमेः । अग्रेगूः ।

२९ उन्देर्नलोपश्च ।

चाद्युच् । ओदनः ।

३० गमेर्गश्च ।

सञ्ज्ञा स्यादित्यर्थः, अव्ययत्वफलं सुब्लुक् ।

१—च्व्यन्त एवाव्ययं स्यादित्यर्थः, तेन नौ-ग्लौशब्दयोरेजन्तत्वेऽपि च्व्यन्त-त्वाऽभावे नाव्ययत्वमिति । २—गम् धातोः-डोप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । गम्+डो, डित्वाट्टिलोपः, सौ रूपम्—गौः, (गावौ गावः) । ३—द्युत् धातोः, बाहुलकात् डोप्रत्यये टिलोपे द्योशब्दः । णिद्वद्भावे वृद्धौ द्यौः द्यावौ, द्यावः । ४—रा+डै, टिलोपे रैशब्दः, प्रथमायां राः, रायौ, रायः । डित्वात् सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम् रिकथम् ऋचेः—ऋकथम् (बाहुलकात्) । ५—भ्रम् धातोः डूप्रत्यये टिलोपे भ्रमतीति भ्रूः, भ्रुवौ, भ्रुवः । अग्रे गम्+डू-अग्रेगूः । ६—उन्दी क्लेदने-धातोः युच् स्यात् नकारस्य लोपश्चेत्यर्थः, 'यु' इत्यस्य अनादेशः, उपधागुणः, ओदनः । ७—गम् धातोः युच् प्रत्ययः, अन्त्यस्य (मकारस्य) गकारादेशश्च

२६—गम् धातु से 'डो' प्रत्यय होता है ।

२७—रा धातु से 'डै' प्रत्यय होता है ।

२८—भ्रम् से 'डू' प्रत्यय होता है ।

२९—उन्द् धातु से 'युच्' प्रत्यय होता है, और नकार का लोप होता है ।

३०—गम् से 'युच्' प्रत्यय होता है और गकार अन्तादेश होता है ।

चाद्युच् । गगनम् ।

३१ कॄ-पॄ-वृजि-मन्दि-निधाञ्भ्यः क्युः ।

किरणः । पुरणः = समुद्रः । वृजनमन्तरिक्षम् । मन्दनं = स्तोत्रम् । निधनं= कुलनाशयोः ।

३२ धृषेर्धिष् च संज्ञायाम् ।

धिषणो गुरुः । धिषणा = धीः ।

३३ तृन्-तृचौ शंसि-क्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ ।

शंसेः क्षदादिभ्यश्च क्रमात्तृन्तृचौ स्तस्तौ चाऽनिटौ । शंस्ता, शंस्तारौ, शंस्तारः । क्षदिः सौत्रो धातुः । 'क्षत्ता स्यात्सारथौ द्वाःस्थे वैश्यायामपि शूद्रजे' ।

३४ बहुलमन्यत्रापि ।

मन्-मन्ता । हन्-हन्ता । इत्यादि ।

३५ नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ होतृ पोतृ भ्रातृ जामातृ मातृ पितृ दुहितृ ।

एते तृजन्ता निपात्यन्ते । नप्ता इत्यादि ।

स्यादित्यर्थः । गम् + (युच्) अन (म्) गगनम् = आकाशम् ।

१—कॄ विक्षेपे, धातोः क्युप्रत्यये अनादेशे, ॠत इत्वे, णत्वम्—**किरणः** । पॄ—धातोः **पुरणः** । उदोष्ठ्यपूर्वस्येत्युत्वम् । एवम्—वृजी वर्जने—**वृजनम्** , मदि—**मन्दनम्** । निधाञ्—**निधनम्** (आतो लोपः) । २—ञिधृषा प्रागल्भ्ये—इत्यस्मात् क्युप्रत्ययः, धातोः धिषादेशश्च, धिषणः, धिषणा । ३—नप्त्रादिनियमादप्तृन्-तृचिति दीर्घो न । पितृवत् । ४—शकलीकरणे भक्षणे चार्थे । ५—तृन्तृचावित्यर्थः । ६—न पतन्त्यनेन पितरो नरके इति **नप्ता** = पौत्रो दौहित्रो वा, नञ्पूर्वकात् पत् धातोः तृच् प्रत्यये, नञः प्रकृतिभावः, पत् , इत्यस्मिन् 'अत्' इत्यस्य लोपश्च निपात्यते, नप्तृशब्दः । नयतेः तृचि षुक् गुणश्च निपात्यते **नेष्टा** । त्विष् धातो तृचि, इकारस्याऽत्वं निपात्यते । ष्टुत्वे **त्वष्टा** । हु—होता, पूञ् पोता,

---

३१—कॄ आदि धातुओं से 'क्यु' प्रत्यय होता है ।

३२—धृष् से 'क्यु' प्रत्यय और 'धिष्' आदेश होता है ।

३३—शस् और क्षदादि धातुओं से क्रमशः 'तृन्' और तृच् प्रत्यय होते हैं और वे अनिट् रहते हैं ।

३४—अन्य धातुओं से भी बहुलतया 'तृन्' 'तृच्' प्रत्यय होते हैं ।

३५—नप्तृ नेष्टृ आदि शब्द 'तृच्' प्रत्ययान्त निपातित हैं ।

३६ सावसेर्ऋन्[1]।

स्वसा।

३७ यतेर्वृद्धिश्च[2]।

'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्'।

३८ नञि च नन्देः[3]।

न नन्दतीति—ननान्दा। इह वृद्धिर्नानुवर्तत इत्येके। 'ननान्दा तु स्वसा पत्युर्ननन्दा नन्दिनी च सा' इति शब्दार्णवः।

३९ दिवेर्ऋः[4]।

देवा = देवरः। 'स्वामिनो देवृदेवरौ'।

४० नयतेर्डिच्च[5]।

ना। नरौ।

४१ अर्चि-शुचि-हु-सृपि-छादि-छर्दिभ्य इसिः।

'अर्चिः[6] शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः'। हविः। सर्पिः।

भ्राज्-भ्राता। जायां माति—जामाता 'या' लोपो निपात्यते। मान् पूजायाम्-माता। पा रक्षणे—पिता, आकारस्य-इत्वं निपातनात्। दुह्-दुहिता, इट् गुणाभावश्च निपात्यते।

१—सावुपपदे-असु क्षेपणे इत्यस्मात् ऋन् प्रत्यय इत्यर्थः। स्वसा-सु—अस्+ऋ(न्) यणादेशे, अप्तृन्निति दीर्घः। २—यती प्रयत्ने—धातोः ऋन् प्रत्ययो वृद्धिश्च इत्यर्थः। न नन्दतीति ननान्दा, 'वृद्धिर्नानुवर्तते' इति मते ननन्दा। ४—दिवु क्रीडादिषु-धातोः ऋप्रत्यय इत्यर्थः, नित्त्वाऽभावः स्वरभेदार्थः। देवृशब्दः, सौ गुणे देवा, पितृवत्। ५—णीञ् धातोः ऋप्रत्ययः स्यात्, स च डित् इत्यर्थः। डित्त्वात् टिलोपः। नृशब्दः स्वादौ ना नरौ नरः। ६—अर्च पूजायाम्—धातोः इसिप्रत्यये अर्चिः। सान्तोऽयम्। णयन्तादर्चेः, 'अर्च

३६—सु पूर्वक अस् धातु से ऋन् प्रत्यय होता है।

३७—यती (प्रयत्ने) धातु से 'ऋन्' प्रत्यय होता है और वृद्धि होती है।

३८—नञ् पूर्वक नन्द् धातु से 'ऋन्' प्रत्यय होता है और वृद्धि होती है।

३९—दिव् से 'ऋ' प्रत्यय होता है।

४०—णीञ् धातु से 'ऋ' प्रत्यय होता है और वह डित् होता है।

४१—अर्च् आदि धातुओं से 'इस्' प्रत्यय होता है।

४२ इस्मन्त्रन्क्विषु च ६ । ४ । ९७ ॥

छादेर्ह्रस्वः स्यात् । छदिः—पटलम् । छर्दिः ।

४३ बृंहेर्नलोपश्च ।

'बर्हिर्ना कुशशुष्मणोः' ।

४४ द्युतेरिसिन्नादेश्च जः ।

ज्योतिः ।

४५ जनेरुसि[3] ।

'जनुर्जननजन्मानि' इत्यमरः ।

४६ अर्ति-पृ-वपि-यजि-तनि-धनि तपिभ्यो नित् ।

अरुः । परुर्ग्रन्थिः । यजुः । वपुः । तनुः, तनुषी तनूंषि । धनुः । धनुरस्त्रियाम् । 'तपुः सूर्याग्निशत्रुषु' ।

४७ एतेर्णिच्च ।

आयुः । आयुषी ।

इरि, इति इप्रत्यये इदन्तोऽप्ययम् । शुच्-शोचिः, हु-हविः, सृप्-सर्पिः, उपधागुणः । छादि-छदिः । णिलोपे ह्रस्वः । छर्द्-छर्दिः = वमनम् ।

१—बृहि वृद्धौ इत्यस्मात् इसिप्रत्ययः नलोपश्च, बर्हिः, उपधागुणः । २—द्युत दीप्तौ इत्यस्मात् इसिन् प्रत्ययः, आदेर्दकारस्य जकारादेशश्चेत्यर्थः । ज्योतिः । ३—जनी प्रादुर्भावे इत्यस्मात् उ सप्रत्यय इत्यर्थः । जनुः = जन्म । ४—एतेभ्यः उसिप्रत्ययः सच नित् । स्वरार्थं नित्वम् । ऋ गतौ-अरुः = मर्म । पॄ-परुः । यज्-यजुः । वप्-वपुः = शरीरम् तन्-तनुः । धन धान्ये—धनुः = शरासनम् । तप्-तपुः । ५—इण् गतौ इत्यस्मादुसि प्रत्ययः, सच णित् । णित्वाद् वृद्धिः, आयुः ।

४२—इस् मन् त्रन् और 'क्विप्' प्रत्यय परे रहते छादि धातु की उपधा को ह्रस्व होता है ।

४३—बृंह् से 'इस्' प्रत्यय होता है और न का लोप होता है ।

४४—द्युत् से 'इसिन्' प्रत्यय और आदि को जकार आदेश होता है ।

४५—जन् से 'उसि' प्रत्यय होता है ।

४६—ऋ आदि धातुओं से 'उसि' प्रत्यय होता है और वह नित् होता है ।

४७—इण् से 'उसि' प्रत्यय णित् होता है ।

४८ चक्षेः शिच्च ।

चक्षुः ।

४९ मुहेः किच्च ।

मुहुः = पुनः, अव्ययम् ।

५० पा-नी-विषिभ्यः पः ।

पाति = रक्षत्यस्मादात्मानमिति—पापम् । तद्योगात्पापः । नेपः = पुरोहितः । वेष्पः = पानीयम् ।

५१ स्तुवो दीर्घश्च ।

स्तूपः = समुच्छ्रायः ।

५२ सुशृभ्यां निच्च ।

चात्कित् । सूपः । बाहुलकादूत्वम् । शूर्पः ।

५३ कुयुभ्यां च ।

कुवन्ति मण्डूका अस्मिन्निति कूपः । युवन्ति बध्नन्ति अस्मिन्निति यूपः ।

१—चक्षिङ् धातोः उसिप्रत्ययः शित्, इत्यर्थः । शित्त्वात्सार्वधातुकत्वेन ख्यादेशो न । चष्टे इति चक्षुः । २—मुह वैचित्त्ये-धातोः उसिप्रत्ययः किदित्यर्थः । कित्वाद् गुणाऽभावः, मुहुः = वारं वारम् । ३—पाधातोः पप्रत्यये पापम् । पापमस्याऽस्तीति पापः-पुरुषः, अर्श आद्यच् । नीधातोः पप्रत्यये गुणे नेपः, बाहुलकाद् गुणाऽभावे, नीपो = वृक्षविशेषः । विष्लृ व्याप्तौ धातोः पप्रत्यये वेष्पः । ४—स्तुधातोः पप्रत्ययो दीर्घश्च धातोरित्यर्थः । स्तूपः । ५—षुञ् अभिषवे, शॄ हिंसायाम् इत्याभ्यां पप्रत्ययः सच नित्, धातोर्दीर्घः सूपः । शॄधातोः शूर्पः । बाहुलकादूत्वं रपरत्वम् । ६—कु शब्दे, यु मिश्रणे, आभ्यां पप्रत्ययः, स नित्, धातोर्दीर्घश्चेत्यर्थः, कूपः यूपः ।

४८—चक्षिङ् से 'उसि' प्रत्यय शित् होता है ।

४९—मुह धातु से 'उस्' प्रत्यय होता है, और वह कित् होता है ।

५०—पा नी विष् धातु से 'प' प्रत्यय होता है ।

५१—स्तु से 'प' प्रत्यय और दीर्घ होता है ।

५२—सु और शॄ धातु से 'प' प्रत्यय होता है वह नित् होता है, धातु को दीर्घ भी होता है ।

५३—कु और यु धातु से भी 'प' प्रत्यय और धातु को दीर्घ होता है ।

५४ खष्प-शिल्प-शष्प-बाष्प-रूप-पर्प-तल्पाः ।[1]

सप्तैते प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

५५ स्तनि-हृषि-पुषि-गदि-मदिभ्यो णेरित्नुच् ।[2]

अयामन्तेति णेरय् । स्तनयित्नुः = मेघः । हर्षयित्नुः । पोषयित्नुः । गदयित्नुः = वावदूकः । मदयित्नुः = मदिरा ।

५६ अशेः सरः ।[3]

अक्षरम् ।

५७ वसेश्च ।[4]

वत्सरः ।

५८ संपूर्वाच्च ।[5]

संवत्सरः । परिवत्सरः ।

५९ कृ-शॄ-शलि-कलि-गर्दिभ्योऽभच् ।[6]

१—खनधातोः पप्रत्यये नकारस्य षत्वम् । खष्पः क्रोधः । शीलधातोः पः, ह्रस्वश्च, शिल्पम् = कौशलम् । शसु हिंसायां धातोः पप्रत्ययो निपातनात् षत्वम् शष्पम् = बालतृणम् । बाधतेः पप्रत्यये धकारस्य षत्वं निपातनात् । बाष्पः = नेत्रजलम् । बाष्पं च । रुधातोः पप्रत्यये दीर्घो निपातनात् रूपम् = सौन्दर्यम् । पृधातोः पः, गुणः पर्पम् = गृहं बालतृणं वा । चुरादिण्यन्तात् तलधातोः प्रतिष्ठार्थात् पप्रत्यये, णिचो लुक् तल्पम् = शय्या । २—एभ्यो ण्यन्तेभ्यः इत्नुच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः, इत्नुच् प्रत्यये सति 'अयामन्त' ति णेरयादेशो—स्तनयित्नुः, इत्यादि । ३—अशू व्याप्तौ इत्यस्मात् 'सर' प्रत्ययः । अश् + सर (म्) व्रश्चेति षत्वम्, षढोरिति कत्वम्, परस्य सस्य षत्वम् क-षसंयोगे क्षः, अक्षरम् । ४—वस् धातोः सरप्रत्ययः 'सः स्यार्धधातुके' इति धातोः सस्य तः । वत्सरः = वर्षम् । ५—सम्-इत्पूर्वपदाद् वसेरपि सरप्रत्यय इत्यर्थः । तेन—संवत्सरः, परिवत्सरः । ६—सूत्रोक्तेभ्योऽभच् प्रत्ययः इत्यर्थः । गर्देरभच् गर्दभः ।

५४—खष्प आदि सात शब्द 'प' प्रत्ययान्त निपातित हैं ।

५५—स्तन् आदि णयन्त धातुओं से 'इत्नुच्' प्रत्यय होता है ।

५६—अश् धातु से 'सर' प्रत्यय होता है ।

५७—वस् से भी 'सर' प्रत्यय होता है ।

५८—सम्पूर्वक वस् से भी 'सर' होता है ।

५९—कृ आदि धातुओं से 'अभच्' प्रत्यय होता है ।

करभः । शरभः । शलभः = करिशावकः । गर्दभः ।

६० ऋषि-वृषिभ्यां कित्[१] ।

ऋषभः । वृषभः ।

६१ रासिवल्लिभ्यां च[२] ।

रासभः । वल्लभः ।

६२ नियो मिः ।

नेमिः[३] ।

६३ अर्तेरूच ।

ऊर्मिः[४] ।

६४ भुवः कित्[५] ।

भूमिः ।

६५ अङ्गेर्निर्नलोपश्च[६] ।

अग्निः ।

६६ वह्नि श्रि-श्रु-यु-द्रु-ग्ला-हा त्वरिभ्यो नित्[७] ।

वह्निः । श्रेणिः । श्रोणिः । योनिः । द्रोणिः । ग्लानिः । हानिः । तूर्णिः ।

१—अभच् प्रत्ययः कित् इत्यर्थः । तेन गुणाऽभावः ऋषभः, वृषभः । २—अभच् प्रत्ययः । ३—मिप्रत्यये गुणः, नेमिः । ४—ऋधातोर्मिप्रत्ययः धातोः—ऊत्,—ऊर्मिः । ५—भूधातोर्मिप्रत्ययः स च कित्, कित्वाद् गुणो न भूमिः । ६—अगि गतौ इत्यस्मात् निप्रत्ययः, (इदित्वेन नुम्) तस्य धातोर्नकारस्य लोपश्चेत्यर्थः । अग्निः । ७—एभ्यो निप्रत्ययो नित् इत्यर्थः । नित्वं स्वरार्थम् । क्रमश उदाहरणानि—वह्निरित्यादयः । तूर्णिः = त्वरा, त्वर-धातोः निप्रत्यये

६०—ऋष् और वृष् धातु से 'अभच्' प्रत्यय कित् होता है ।

६१—रासि और वल्लि धातु से भी 'अभच्' प्रत्यय होता है ।

६२—नी धातु से मि प्रत्यय होता है ।

६३—ऋ धातु से 'मि' प्रत्यय होता है और धातु को 'ऊत्' होता है ।

६४—भू धातु से 'मि' प्रत्यय कित् होता है ।

६५—अगि गतौ धातु से 'नि' प्रत्यय होता है, धातु के नकार का लोप होता है ।

६६—वह् आदि धातुओं से 'नि' प्रत्यय होता है वह नित् होता है ।

६७ पातेर्डतिः[1] ।

पतिः ।

६८ सूङः क्रिः[2] ।

सूरिः ।

६९ अदि-शदि-भू-शुभिभ्यः क्रिन्[3] ।

अद्रिः । शद्रिः = शर्करा । भूरि = प्रचुरम् । शुभ्रिः = ब्रह्मा ।

७० वलि-मलि-तनिभ्यः कयन्[4] ।

वलयः । मलयः । तनयः ।

७१ मा-छा-ससिभ्यो यः[5] ।

माया । छाया । सस्यम् । बाहुलकात्सव्यं[6] दक्षिणवामयोः ।

७२ जनेर्यक्[7] ।

'ये विभाषा' । जन्यं = युद्धम् । जाया ।

७३ सर्वधातुभ्य इन् ।

पचिरग्निः । तुडिः । तुण्डिः । वलिः । वटिः । यजिः । काशत इति काशिः ।

'ज्वर त्वरे'ति-ऊठि, रषाभ्यामिति णत्वम् ।

१—पा रक्षणे इत्यस्मात् डतिप्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः, पातीति—पतिः । २—षूङ् प्राणिप्रसवे इत्यस्मात् क्रिप्रत्ययः । सूरिः = धीमान् , कित्वाद् गुणाऽभावः । ३—एभ्यः क्रिन् प्रत्ययः । कित्वाद् गुणाऽभावः । नित्वं स्वरार्थम् । ४—एभ्यः कयन् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः, कनावितौ, वलय. इत्यादि । ५—षस् स्वप्ने इत्यस्मात् यप्रत्यये सस्यम । ६—बाहुलकात् सुनोतेरपि यप्रत्ययः, गुणे 'वान्तोयी'ति—अवादेशः सव्यम् । ७—जन्धातोः यक् प्रत्यये 'ये विभाषे'ति नस्य आत्वविकल्पे जाया. जन्यम् ।

६७—पा धातु से 'डति' प्रत्यय होता है ।

६८—सूङ् धातु से 'क्रि' प्रत्यय होता है ।

६९—अद् आदि धातुओं से 'क्रिन्' प्रत्यय होता है ।

७०—वल् आदि धातुओं से 'कयन्' प्रत्यय होता है ।

७१—मा आदि धातुओं से 'य' प्रत्यय होता है ।

७२—जन् से 'यक्' प्रत्यय होता है ।

७३—सब धातुओं से 'इन्' प्रत्यय होता है ।

यतिः । मणिः । केलिः । 'मसी परिणामे'—मसिः । बोधिः । नन्दिः । कल्किः ।

'हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ ।
चन्द्रे कीले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्तितः' ॥ इति ।

७४ इगुपधात्कित्[1] ।

ऋषिः । शुचिः ।

७५ मनेरुच्च[2] ।

मुनिः ।

७६ जनिघसिभ्यामिण् ।

जनिर्जननम्[3] । घासिर्भक्ष्यमग्निश्च ।

७७ अच इः[4] ।

रविः । तरिः । पविः । कविः । अरिः ।

७८ कुण्डिकम्प्योर्नलोपश्च[5] ।

कुडिः । कपिः ।

७९ इषेः क्सुः ।

इक्षुः[6] ।

१—इगुपधाद् धातोः 'इन्' प्रत्ययः स च कित् इत्यर्थः । कित्वाद् गुणाऽभावः । ऋषि. शुचिः । २—मन् धातोः इन्प्रत्ययः धातोरकारस्य उकारादेशश्चेत्यर्थः । मन्यते मुनिः = पाणिन्यादिः । ३—जनिः, जनिवध्योश्चेति वृद्धिनिषेधः । घासिः, 'अत उपधायाः' वृद्धिः । ४—अजन्ताद् धातोः 'इ' प्रत्ययः इत्यर्थः । रु-रविः, तृ-तरिः, पू-इ व = वज्रम्, कु-कवि, ऋ-अरिः, गुणो रपरः । ५—इप्रत्ययो नलोपश्चेत्यर्थः । ६—इष् धातोः क्सुप्रत्ययः, क इत्, षस्य 'षढो'रिति कः, परस्य सस्य षत्वम्, क षसंयोगे क्षः—इक्षुः ।

७४—इगुपध धातु से 'इन्' प्रत्यय कित् होता है ।

७५—मन् से 'इन्' प्रत्यय और धातु के 'अ' को उत् होता है ।

७६—जन् और घस् में 'इण्' प्रत्यय होता है ।

७७—अजन्त धातु से 'इ' प्रत्यय होता है ।

७८—कुण्ड् और कम्प से 'इ' प्रत्यय और न का लोप होता है ।

७९—इष् से 'क्सु' प्रत्यय होता है ।

८० कृषेर्वर्णे ।

नक् स्यात् । कृष्णः ।

८१ दाभाभ्यां नुः ।

दानुः = दाता । भानुः = सूर्यः ।

८२ विषेः किच्च ।

विष्णुः ।

८३ सि-तनि-जनि-गमि-मसि-सच्यवि-धाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन् ।

सेतुः । तन्तुः । जन्तुः । गन्तुः । मस्तुर्दधिमण्डम् । सक्तुः । ओतुः । धातुः । क्रोष्टा ।

८४ अवि-तृ-स्तृ तन्त्रिभ्य ईः ।

अवीर्नारी रजस्वला । तरीः । स्तरीः । तन्त्रीः ।

८५ या-पोः किद् द्वे च ।

ययीः । 'पपीः स्यात्सोमसूर्ययोः' ।

८६ वातप्रमीः ।

१—नक्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः, कित्वान्नोपधागुणः, णत्वम्—कृष्णः । २—विष्लृ व्याप्तौ इत्यस्मात् णुप्रत्ययः स च कित्, कित्वान्नोपधागुणः—विष्णुः । ३—एभ्यस्तुन्प्रत्यय इत्यर्थः । सिनोतीति—सेतुः । तितुत्रेति नेट्,—तन्तुः । ओतु, 'ज्वरत्वरे' त्यूठ्, गुणः, ओतुः = विडालः । क्रुशधातोः तुन्प्रत्यये क्रोष्टुशब्दः सौ—तृज्वद्भावे क्रोष्टा । ४—अव्धातोः ईप्रत्यये अवीः, ङीबन्तत्वाऽभावात् हल्ङ्याविति सुलोपो न, एवमग्रेऽपि । ५—याधातोः पाधातोश्च ईप्रत्ययः कित् द्वित्वं च, कित्वाद् 'आतो लोपः' ययीः = मार्गः, पपी = सूर्यः ।

८०—कृष धातु से 'नक्' प्रत्यय होता है वर्ण अर्थ में ।

८१—दा और भा धातु से 'नु' प्रत्यय होता है ।

८२—विष् धातु से 'नु' प्रत्यय कित् होता है ।

८३—सि तनि आदि धातुओं से 'तुन्' प्रत्यय होता है ।

८४—अव् आदि धातुओं से 'ई' प्रत्यय होता है ।

८५—या और पा धातु से 'ई' प्रत्यय होता है और वह कित् होता है । और धातु को द्वित्व होता है ।

८६—वातप्रमी शब्द 'ई' प्रत्ययान्त निपातित है ।

निपातोऽयम्[1]।

८७ लक्षेर्मुट् च[2]।

लक्ष्मीः।

८८ सर्वधातुभ्यो मनिन्।

कर्म[3]। चर्म। भस्म। जन्म। शर्म। स्थाम।

८९ बृंहेर्नोऽच्च[4]।

नकारस्य अकारः। 'ब्रह्म तत्त्वं तपो वेदो ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः'।

९० नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन पाप्मन् धामन्।

सप्तैते निपात्यन्ते[5]।

९१ सोऽतिभ्यां मनिन्मनिणौ[6]।

साम। आत्मा।

९२ हनि-मसिभ्यां सिकन्[7]।

१—ईप्रत्ययान्तो निपात इत्यर्थः। २—लक्षधातोः ईप्रत्ययो मुडागमश्चेत्यर्थः। लक्ष्मीः। ३—कृ—कर्म, गुणः। चर्‌ चर्म। भस्—भस्म। जन्—जन्म। शॄ—शर्म। सर्वे नान्ता नपुंसकलिङ्गाः। ४—बृंहिधातोर्मन् प्रत्ययो नकारस्य—अकारादेशश्च। ब्रह्म, नान्तोऽयम्। ५—एते मनिन्नन्ता निपात्यन्त इत्यर्थः। म्ना अभ्यासे इत्यस्मात् मनिन, धातोर्नाभावो निपात्यते. म्नायतेऽनेनेति नाम। मिनोतेर्दीर्घः सीमा, सीमानौ। व्येञोऽन्त्यस्य ओत्व निपातनात् व्योम। रुधातोः रोम लू—लोम। पाधातोः मनिन्प्रत्यये पुगागमो निपात्यते पाप्मा = पापम्। धा धातोः—धाम। ६—षोऽन्तकर्मणि इत्यस्मात् मनिन्, अत सातत्यगमने, धातोश्च मनिण् स्यादित्यर्थः। साम 'आदेच' इत्यात्वम। आ-मा—मनिणो णित्वादुपधावृद्धिः। ७—हन हिंसागत्योः, मश शब्दे, इत्याभ्या सिकन् प्रत्ययः इत्यर्थः। हन् धातोः—हंसिका,

८७—लक्ष् से 'ई' प्रत्यय और 'मुट्' आगम होता है।

८८—सब धातुओं से मनिन् प्रत्यय होता है।

८९—बृंहि धातु से 'मनिन्' प्रत्यय और धातु के नकार को अकारादेश होता है।

९०—नामन् आदि सात शब्द 'मनिन्' प्रत्ययान्त निपातित हैं।

९१—सो और अत् धातु से क्रमशः 'मनिन्' और 'मनिण्' प्रत्यय होते हैं।

९२—'हन्' और 'मस्' धातु से सिकन् प्रत्यय ही होता है।

'हंसिका हंसयोषिति'। मक्षिका।

९३ गिर उडच्[1]।

गरुडः

९४ शॄ-दॄ-भसोऽदिः[2]।

शरत्। दरद्धृदयकूलयोः। भसज्जघनम्।

९५ त्यजि-तनि-यजिभ्यो डित्[3]।

त्यद् तद् यद्।

९६ एतेस्तुट् च[4]।

एतद्।

९७ युष्यसिभ्यां मदिक्[5]।

त्वम्। अहम्।

९८ इन्देः कमिन्नलोपश्च[6]।

इदम्।

९९ कायतेर्डिमिः[7]।

मश्—मक्षिका। व्रश्चेति षत्वे षढोःकःसीति कत्वम्, परस्य षत्वे क्ष।

१—गृधातोः उडच् प्रत्यये गुणे गरुड। २—एभ्यः अदिप्रत्ययः, इकार उच्चारणार्थः। शरत्, दरत्, भसत्। ३—एभ्यः-अदिप्रत्ययः स च डित्, डित्त्वाट्टिलोपः। त्यज्—त्यत्। तन्—तत्। यज्—यत्। ४—इण्धातोः अदिप्रत्ययः तुडागमश्च, गुणः—एतत्। ५—युष् इति सौत्रो धातुः, तस्मात्, असु क्षेपणे इत्यस्माच्च मदिक्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः, 'मद्' इति शिष्यते। 'युष्मद्' शब्दः 'अस्मद्' शब्दः सौ त्वम् अहम्। ६—इन्दिधातोः कमन् प्रत्ययो नलोपश्च भवतीत्यर्थः, 'अम्' इति शिष्यते, इदम्। ७—कैधातोः डिमि प्रत्यये, डित्त्वाट्टिलोपे किम्।

९३—गृ धातु से 'उडच्' प्रत्यय होता है।

९४—शॄ दॄ और 'भस्' धातु से 'अदि' प्रत्यय होता है।

९५—त्यज् आदि से 'अदि' प्रत्यय डित् होता है।

९६—इण् से 'अदि' प्रत्यय और तुट् आगम होता है।

९७—युष् और अस् धातु से 'मदिक्' प्रत्यय होता है।

९८—इन्दि धातु से 'कमिन्' प्रत्यय और धातु के नकार का लोप होता है।

९९—कै धातु से 'डिमि' प्रत्यय होता है।

किम् ।

१०० सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् ।

वस्त्रम् । अस्त्रम् । शास्त्रम् ।

१०१ अमि-चि-मिदि-शसिभ्यः क्त्रः ।

अन्त्रम् । चित्रम् । मित्रम् । शस्त्रम् ।

१०२ पुवो ह्रस्वः ।

पुत्रः ।

१०३ स्त्यायतेड्रट् ।

स्त्री ।

१०४ सूचेः स्मन् ।

सूक्ष्मम् ।

१०५ पातेर्डुम्सुन् ।

पुमान् ।

१०६ वसेस्तिः ।

'वस्तिर्नाभेरधो द्वयोः' ।

१०७ सावसेः ।

१—ष इत् 'त्र' इति शेषः, वस्—वस्त्रम् अस्—अस्त्रम् । शास्—शास्त्रम् । २—कित्वाद् गुणाभावः । चित्रम्, मित्रम् । ३—क्त्रप्रत्यये, पूधातोः ह्रस्वश्चेत्यर्थः । ४—स्त्यैधातोः 'ड्रट्' डित्वाट्टिलोपः 'स्त्री' । ५—सूचेः स्मनि चोः कुरिति कुत्वे परस्य षत्वं क्षः । सूक्ष्मम् । ६—पाधातोः डुम्सुन्, डित्वाट्टिलोपः 'पुम्स्' शब्दः सिद्ध्यति, स्वादौ पुंसोऽसुङिति, असुङादौ—पुमान् । ७—सुपूर्वादस्तेस्तिप्रत्यय इत्यर्थः । स्वस्ति—स्वरादिपाठादव्ययत्वम् ।

१००—समस्त धातुओं से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है ।

१०१—अम् आदि धातुओं से 'क्त्र' प्रत्यय होता है ।

१०२—पू धातु से 'क्त्र' प्रत्यय और धातु को ह्रस्व होता है ।

१०३—स्त्यै से 'ड्रट्' प्रत्यय होता है ।

१०४—सूच् धातु से 'स्मन्' प्रत्यय होता है ।

१०५—पा धातु से 'डुम्सुन्' प्रत्यय होता है ।

१०६—वस् से ति प्रत्यय होता है ।

१०७—सु पूर्वक अस् धातु से 'ति' प्रत्यय होता है ।

स्वस्ति ।

१०८ वौ तसेः ।

'वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः' इत्यमरः ।

१०९ सर्वधातुभ्योऽसुन् ।

चेतः । सरः । पयः, पयसी, इत्यादि ।

११० अशेर्देवने युट् च ।

देवने = स्तुतौ । यशः ।

१११ उब्जेर्बले बलोपश्च ।

ओजः ।

११२ श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च ।

श्रयतेः शिर आदेशोऽसुन्किच्च । शिरः ।

११३ अर्तेरुच्च ।

उरः ।

११४ भूरञ्जिभ्यां कित् ।

भुवः । रजः ।

१—चिती संज्ञाने–चेतः । सृ गतौ–सरः । पीङ् पाने—पयः (गुणोऽयादेशः) । २—अशधातोरसुन् स्याद्देवने = स्तुतौ । युडागमश्च, यशः = कीर्तिः । ३—उब्ज् + (असुन्) अस्, बलोपः ओजस्–सौ–ओजः । बलमर्थः । ४—ऋधातोरसुन् प्रत्ययः, धातोरुत्, रपरत्वम् उरः । ५—असुन्प्रत्ययः कित् स्यादित्यर्थः । तेन भुवः इत्यत्र न गुणः, किन्तु उवङ् । रजः इत्यत्र नलोपः ।

१०८—विपूर्वक तस् से 'ति' प्रत्यय होता है ।

१०९—सब धातुओं से 'असुन्' प्रत्यय होता है ।

११०—अश् धातु से स्तुति अर्थ में 'असुन्' प्रत्यय होता है, और युट् आगम होता है ।

१११—उब्ज् से बल अर्थ में 'असुन्' प्रत्यय और ब कार का लोप होता है ।

११२—श्रीञ् धातु से स्वाङ्ग अर्थ में 'असुन्' प्रत्यय और धातु को शिर आदेश होता है, प्रत्यय कित् होता है ।

११३—ऋ धातु से 'असुन्' प्रत्यय धातु को उत् आदेश होता है ।

११४—भू और रञ्ज् धातु से 'असुन्' प्रत्यय कित् होता है ।

११५ वसेर्णित्[1] ।

वासो = वस्त्रम् ।

११६ चन्देरादेश्च[2] छः ।

छन्दः ।

११७ पचि-वचिभ्यां सुट् च[3] ।

'पक्षसी तु स्मृतौ पक्षौ' । वक्षः ।

११८ नञि हन एह च[4] ।

अनेहा । अनेहसौ ।

११९ विधाञो वेध च[5] ।

वेधाः ।

१२० चन्द्रे मो डित्[6] ।

चन्द्रोपपदान्माङोऽसिः स च डित्[6] । चन्द्रमाः ।

१२१ उषः[7] कित् ।

१—असुन्प्रत्ययो णित्, णित्त्वाद् उपधावृद्धिः, वासः । २—चन्देरसुन्, धातोरादेश्च छत्वं स्यादित्यर्थः, छन्दः । ३—असुन् सुडागमश्चेत्यर्थः । कुत्वषत्वे, क्षः । पक्षः, वक्षः । ४—नञ्पूर्वात् हन्धातोरसुन् प्रत्ययः, हन एहादेशश्चेत्यर्थः । सौ ऋदुशनसेति-अनङ्, अनेहा = समयः । ५—विपूर्वाद् धाञ्धातोरसुन् प्रकृतेर्वेधादेशश्चेत्यर्थः । विदधातीति वेधाः । ६—डित्वाट्टिलोपे 'चन्द्रमस्' शब्दः, अत्वसन्तस्येति दीर्घः—चन्द्रमाः । ७—उष दाहे धातोः असिप्रत्ययः, सच

११५—वस् धातु से 'असुन्' प्रत्यय णित् होता है ।

११६—चन्द् धातु से 'असुन्' प्रत्यय और धातु के आदि को 'छ' आदेश होता है ।

११७—पच् और वच् से 'असुन्' प्रत्यय और सुट् आगम होता है ।

११८—नञ् पूर्वक हन् धातु से 'असुन्' प्रत्यय और 'एह' आदेश होता है ।

११९—विपूर्वक धाञ् धातु से 'असुन्' प्रत्यय और प्रकृति को वेध आदेश होता है ।

१२०—चन्द्र उपपद रहते मा धातु से 'असि' प्रत्यय होता है और वह डित् होता है ।

१२१—उष् धातु से 'असि' प्रत्यय कित् होता है ।

उषः ।

१२२ सर्तेरप्पूर्वादसिः ।

प्रायेणाऽयं भूम्नि । अप्सरसः ।

१२३ वशेः[2] कनसिः ।

उशना ।

१२४ अदि[3]भुवो डुतच् ।

अद्भुतम् ।

१२५ गुधेरूमः[4] ।

गोधूमः ।

१२६ तृहेः क्नो हलोपश्च ।

तृणम्[5] ।

१२७ उदि चेर्डसिः[6] ।

उच्चैः ।

कित्, कित्वाल्लोपधागुणः, उषः ।

१—भूम्नि = बहुवचने, अप्सरसः । २—वश कान्तौ इत्यस्मात् कनसिप्रत्ययः, 'अनस्' इति शिष्यते । कित्त्वात्सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम्, सौ 'ऋदुशनसि'ति 'अनङ्', नान्तत्वेन दीर्घः, नलोपः, उशना = भार्गवः । ३—अद् इत्यव्ययम्, आश्चर्ये 'अद्'—पूर्वात् भूधातोः डुतच् प्रत्ययः, डित्त्वाट्टिलोपः, अद्भुतम् = आश्चर्य्यम् । ४—गुध परिवेष्टने इत्यस्माद् 'ऊम' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । गुध्यते = परिवेष्ट्यते प्राणिभिरिति गोधूमः = अन्नम् उपधागुणः । ५—तृह् धातोः क्नप्रत्यये हलोपे 'तृन' इत्यत्र ऋवर्णान्नस्य णत्वमिति तृणम् । ६—उत्पूर्वाच् चिधातोः डैसिप्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः । स्तोश्चुरिति तकारस्य चत्वे—उच्चैः, इति ।

१२२—अप् पूर्वक सृ धातु से 'असि' प्रत्यय होता है ।

१२३—वश् धातु से 'कनसि' प्रत्यय होता है ।

१२४—अद् पूर्व रहते भू धातु से 'डुतच्' प्रत्यय होता है ।

१२५—गुध् धातु से 'ऊम' प्रत्यय होता है ।

१२६—तृह् धातु से 'क्न' प्रत्यय और ह का लोप होता है ।

१२७—उद् पूर्वक चि धातु से 'डैसि' प्रत्यय होता है ।

१२८ नौ दीर्घश्च ।

नीचैः ।

१२९ पूञो यण्णुग्घ्रस्वश्च ।

यत्प्रत्ययः । पुण्यम् ।

१३० उदि दृणातेरजलौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च ।

उदरम् ।

१३१ डित्खनेर्मुट् चोदात्तः ।

अजल् च डिद्धातोर्मुट् । मुखम् ।

१३२ अमेः सन् ।

अंसः ।

१३३ मुहेः खो मूर् च ।

मूर्खः ।

१३४ नहेर्हलोपश्च ।

नखः ।

१—निपूर्वात् चिधातोः डैसिप्रत्ययः, नीत्यस्य दीर्घः, **नीचैः** । २—पूञ्-धातोः, यत् प्रत्ययः, णुगागमश्च ह्रस्वश्चेत्यर्थः, **पुण्यम्** = सत्कर्म । ३—उदि-उपपदे, दॄ विदारणे इत्यस्मात् अच् प्रत्ययः, अल्प्रत्ययश्च स्यात् (अजलोः स्वरे भेदः), उदो दकारस्य लोपश्चेत्यर्थः । **उदरम्**, गुणः । ४—खनु अवदारणे इत्यस्मात् 'अच्' अल्, तौ च डितौ धातोर्मुडागमश्चेत्यर्थः । डित्वाट्टिलोपः । **मुखम्**, धातोरादिमुट्, तस्य ट एव इत् । ५—अम् गतौ—सन् प्रत्ययः, **अंसः** । ६—मुह् धातोः खप्रत्ययः, धातोः 'मूर' इत्यादेशः । ७—नह् + ख(:) हलोपे **नखः** ।

१२८—नि पूर्वक चि धातु से 'डैसि' प्रत्यय होता है और नि को दीर्घ होता है।

१२९—पूञ् से 'यत्' प्रत्यय और प्रकृति को ह्रस्व होता है।

१३०—उद् पूर्वक दॄ धातु से 'अच्' और 'अल्' प्रत्यय होते हैं, उद् के द का लोप भी होता है।

१३१—खन् से 'अच्' या 'अल्' प्रत्यय डित् होते हैं और धातु को मुट् आगम होता है।

१३२—अम् धातु से 'सन्' प्रत्यय होता है।

१३३—मुह् धातु से 'ख' प्रत्यय और धातु को मूर् आदेश होता है।

१३४—नह् से 'ख' प्रत्यय और ह का लोप होता है।

१३५ शीङो ह्रस्वश्च।

शिखा[1]।

१३६ माङ ऊखो मय च।

मयूखः[2]।

१३७ जनेष्टन्लोपश्च।

जटा[3]।

१३८ क्लिशेरन् ललोपश्च।

केशः[4]।

१३९ फलेरितजादेश्च पः।

पलितम्[5]।

१४० कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन्।

करकः[6]। कटकः। नरकः। 'नरको नारकोऽपि च' इति द्विरूपकोशः।

१४१ चीकयतेराद्यन्तविपर्ययश्च।

कीचकः[7]।

१—शीङ्धातोः खप्रत्यये ह्रस्वे शिखा, स्त्रीत्वे, टाप्। २—माङ्धातोः ऊखप्रत्ययः प्रकृतेर्मयादेशश्चेत्यर्थः, मयूखः = किरणः। ३—जन्धातोष्टन्प्रत्यये नलोपे जटा, स्त्रीत्वे टाप्। ४—क्लिश्धातोः अन् प्रत्यये, लकारलोपे च केशः। ५—फलधातोः इतच् प्रत्ययः फकारस्य पकारादेशः, पलितम्। ६—कृ-करकः = कमण्डलुः (वु-इत्यस्य अकादेशः, गुणः) कटे धातोः-कटकः। नॄ धातोः-नरकः। ७—चीक आमन्त्रणे इत्यस्मात् वुन् प्रत्ययः आद्यन्तविपर्ययश्चेत्यर्थः। कीचकः = वेणुः।

१३५—शीङ् धातु से 'ख' प्रत्यय और ह्रस्व होता है।

१३६—माङ् से 'ऊख' प्रत्यय और मय् आदेश होता है।

१३७—जन् से 'टन्' प्रत्यय और न का लोप होता है।

१३८—क्लिश से 'अन्' प्रत्यय और ल का लोप होता है।

१३९—फल् से इतच् प्रत्यय और आदि को प होता है।

१४०—कृआदि धातुओं से संज्ञा में 'वुन्' प्रत्यय होता है।

१४१—चीक् धातु से 'वुन्' प्रत्यय और आद्यन्त विपर्यय होता है।

१४२ जनेररष्ठ च ।

जठरम् ।

१४३ हर्यतेः कन्यन् हिर च ।

हिरण्यम् ।

१४४ कृञः पासः ।

कर्पासः । बिल्वादित्वात्कार्पासम् ।

१४५ ऊर्णोतेर्डः ।

ऊर्णा ।

१४६ दधातेर्यन् नुट् च ।

धान्यम् ।

१४७ चतेरुरन् ।

चत्वारः ।

१४८ प्राततेररन् ।

प्रातः ।

१—जन् धातोः 'अर' प्रत्ययः, धातोः ठकारश्चान्तादेशः, जठरम् = उदरम् । २—हर्य कान्तौ इत्यस्मात् कन्यन् प्रत्ययः, प्रकृतेर्हिरादेशश्चेत्यर्थः । हिरण्यम् । ३—कृञ्धातोः पासप्रत्यये कर्पास, गुणे रूपम् । ४—अणि, कार्पासम् = वस्त्रम् । ५—धाधातोर्यन्प्रत्यये नुडागमे धान्यम् । ६—चते याचने इत्यस्मात् उरन् प्रत्ययः, प्रत्यये अकार उच्चारणार्थः, नकार इत्, चतुर्शब्दः सिद्ध्यति, जसि—चतुरनडुहोरित्याम्—चत्वारः । ७—प्र-पूर्वाद् अत्-धातोः अरन् प्रत्ययः, प्रातः-स्वरादिपाठादव्ययत्वम् ।

१४२—जन् धातु से 'अर' प्रत्यय होता है, और धातु को ठकार अन्तादेश होता है ।

१४३—हर्य धातु से 'कन्यन्' प्रत्यय और हिर आदेश होता है ।

१४४—कृञ् से 'पास' प्रत्यय होता है ।

१४५—ऊर्णुञ् से 'ड' प्रत्यय होता है ।

१४६—धा धातु से 'यन्' प्रत्यय और नुट् आगम होता है ।

१४७—चत् धातु से उरन् प्रत्यय होता है ।

१४८—प्र पूर्वक अत् धातु से 'अरन्' प्रत्यय होता है ।

१४९ अमेस्तुट् च।

अन्तः[1]।

१५० दहेर्गोलोपो दश्च नः।

दहेर्गप्रत्ययो धातोरन्तस्य लोपो दस्य नः। नगः।

१५१ हन्तेरच्[2] घुर च।

घोरम्।

१५२ तरत्रेर्ड्रिः।

त्रयः[3]।

१५३ ग्रहेरणिः।

ग्रहणिः।

१५४ प्रथेरमच्।

प्रथमः।

१५५ चरेश्च[4]।

चरमः।

१५६ मङ्गेरलच्।

मङ्गलम्[5]। ॥ इत्युणादयः॥

१—अम् धातोः अरन् प्रत्यये तुडागमे रूपम्, अन्तः। २—हन्धातोः अच् प्रत्ययः घुरादेशश्च, गुणः, घोरम्। ३—तृधातोः ड्रिप्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपे त्रिशब्दः सिद्धयति, जसि गुणे अयादेशे त्रयः। ४—अमच् प्रत्यय इत्यर्थः। ५—मगिधातोः अलच्, इदित्वान्नुम्, मङ्गलम् ॥ इत्युणादयः॥

१४९—अम् धातु से 'अरन्' प्रत्यय और तुट् आगम होता है।

१५०—दह् धातु से 'ग' प्रत्यय होता है और धातु के अन्त का लोप तथा द को न होता है।

१५१—हन् से 'अच्' प्रत्यय और घुर आदेश होता है।

१५२—तृ धातु से 'ड्रि' प्रत्यय होता है।

१५३—ग्रह से 'अणि' प्रत्यय होता है।

१५४—प्रथ् से 'अमच्' प्रत्यय होता है।

१५५—चर् से भी 'अमच्' प्रत्यय होता है।

१५६—मगि धातु से 'अलच्' प्रत्यय होता है॥ इत्युणादयः॥

अथोत्तरकृदन्तम्।

१२५० उणादयो बहुलम् ३ । ३ । १॥

एते वर्तमाने संज्ञायां बहुलं स्युः । केचिदविहिता अप्यूह्याः ।

"सञ्ज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु" ॥

१२५१ दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने ३ । ४ । ७३ ॥

एतौ निपात्येते । दाशन्ति अस्मै दाशः । गां हन्ति अस्मै गोघ्नः = अतिथिः ।

अथोत्तरकृदन्तम् ।

१—'वर्तमाने लट्' इत्यतः वर्तमाने 'पुवः सञ्ज्ञायाम्' इत्यतः सञ्ज्ञायाम् इत्यनुवर्तते । २—बहुलग्रहणस्य प्रयोजनमाह—**केचिदविहिता अप्यूह्या** इति तेन शङ्केरविहितोऽपि ड्डुलज् भवति, शङ्कुला । ३—बाहुलकत्वमेव विशदयति—**सञ्ज्ञास्विति**, सञ्ज्ञासु = यदृच्छाशब्देषु वायु—दारु—गवादिशब्देषु डित्थडवित्थादिषु च, धातुरूपाणि = सम्भवन्तस्ते ते धातवः ऊहनीयाः = कल्पनीया इति शेषः । ततः = धातुभ्यश्च परे यथासम्भवं प्रत्ययाःउण् ञुण् डो—इत्यादयः कल्पनीयाः । तेषु च कार्यात् = कार्यानुरूपमित्यर्थः । गुणवृद्धिटिलोपसम्प्रसारणादिकार्यानुसारमिति यावत्, अनूबन्धम् = अनुबन्धम् ('उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये' इत्युपसर्गदीर्घः) णकार—ककार—डकारादिकं विद्यात् = जानीयात्, कल्पयेदिति यावत् । उणादिषु एतत् = पूर्वोक्तम् शास्त्रम्, शासितव्यमित्यर्थः । भाष्यस्थोऽयं श्लोकः । शाकटायनप्रणीतानि 'कृ—वा पा—जि'—इत्यादिसूत्राणि तु, अस्यैव बहुलग्रहणस्य प्रपञ्च इत्यर्थः । बहुलग्रहणेनैव पाणिनिना तानि सङ्गृहीतानीति भावः । ४—कप्रत्ययान्तौ सम्प्रदानेऽर्थे निपात्येते इत्यर्थः । दाश्टृ दाने, दाशः । गां = वाचम्, 'आगम्यताम्, आस्यताम्, स्वागतं वः' इत्यादिरूपां हन्ति = उच्चारयति गृहस्थोऽस्मै—इति गोघ्नः =

अथ उत्तरकृदन्ताः ।

१२५०—उणादि प्रत्यय वर्तमान काल में संज्ञा अर्थ में बहुलता से होते हैं ।

सञ्ज्ञासु इति—सञ्ज्ञा शब्दों में यथासम्भव धातुओं की कल्पना करो, और उनसे परे यथायोग्य प्रत्ययों की कल्पना करो, कार्य के अनुसार प्रत्ययों में अनुबन्धों की कल्पना करलो, उणादियों में यही शास्त्र = विधान है ।

१२५१—दाश और गोघ्न शब्द सम्प्रदान अर्थ में 'क' प्रत्ययान्त निपातित हैं ।

१२५२ तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३ । ३ । १० ॥

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यदर्थे धातोरेतौ स्तः । मान्तत्वादव्ययत्वम् । कृष्णं द्रष्टुं याति । कृष्णं दर्शको याति ।

१२५३ काल-समय-वेलासु तुमुन् ३ । ३ । १६७ ॥

कालः समयो वेला वा भोक्तुम् ।

१२५४ भावे ३ । ३ । १८ ॥

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् । पाकः ।

अतिथिः । 'हनिः' उच्चारणार्थः=शब्दार्थः–प्रसिद्ध एव, यथा 'भेर्य आहन्यन्ते' इति ।

१—क्रिया–अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था क्रिया, तस्याम् उपपदे, क्रियोद्देश्यीभूतक्रियावृत्तिधातौ–उपपदे इत्यर्थः । तुमुन्प्रत्यये नकार इत्, मकार उच्चारणार्थः, 'तुम्' इत्यवशिष्यते, अयं हि मकारान्तः कृत्प्रत्ययोऽतः 'कृन्मेजन्तः' इति सूत्रेणाऽव्ययसञ्ज्ञा, ततश्च—'अव्ययकृतो भावे' इति वचनात् तुमुन् भावे भवति । ण्वुल् तु कर्तरि, णलावितौ, 'वु' इत्यस्य अकादेशः । २—दृश् + तुम्, 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यम्, ऋकारस्य यण् रेफः, व्रश्चेति शस्य षत्वं, ष्टुत्वम् द्रष्टुम्, कृष्णकर्मकभविष्यद्दर्शनार्थं यानम् = गमनमित्यर्थः । अत्र यातीत्युपपदम् । 'न लोकाव्यये' ति षष्ठीनिषेधात् कर्मणि द्वितीया । एवं 'कृष्णं दर्शको याति' इत्यत्रापि स एवार्थः । कृष्णं द्रक्ष्यन् तदर्थं यातीत्यर्थः "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीनिषेधः । ३—कालसमयेति पर्यायग्रहणम् अर्थोपलक्षणार्थम्, तथा चायमर्थः–कालार्थेषूपपदेषु धातोः तुमुन्निति । ४—भावो = धात्वर्थः, स द्विविधः साध्यावस्थापन्नः सिद्धावस्थापन्नश्च, तत्र तिङ्वाच्यो लिङ्गसङ्ख्याद्यन्वयाऽयोग्यः साध्यावस्थापन्नः, कृद्वाच्यस्तु 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इति लिङ्गसङ्ख्याद्यन्वययोग्यः सिद्धावस्थापन्नः, तस्मिन् = सिद्धावस्थापन्ने भावे = धात्वर्थे वाच्ये घञ् स्यादिति भावः । पदरुजेति सूत्रात् घञनुवर्तते । ५—पच्धातोः घञि, उपधावृद्धिः । 'चजोः कुः' इति कुत्वे पाकः ।

१२५२—क्रियार्थक क्रिया उपपद रहते भविष्यदर्थ में धातु से तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होता है ।

१२५३—कालार्थक उपपद रहते धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है ।

१२५४—सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ वाच्य रहते धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ।

१२५५ अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् ३ । ३ । १९ ॥

कर्तृभिन्ने कारके घञ् ।

१२५६ घञि च भावकरणयोः ६ । ४ । २७ ॥

रञ्जेर्नलोपः । रागः[2] । अनयोः किम्—रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः[3] ।

१२५७ निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ३ । ३ । ४१ ॥

एषु चिनोतेर्घञादेश्च कः । उपसमाधानं = राशीकरणम् । निकायः । आकायः । कायः । गोमयनिकायः ।

१२५८ एरच् ३ । ३ । ५६ ॥

इवर्णान्तादच् । चयः ।

१२५९ ऋदोरप् ३ । ३ । ५७ ॥

ऋदन्तादुवर्णान्तादप् । करः । गरः । शरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः ।

१—रूढौ—इत्यर्थो व्याख्यानात् । २—रञ्जधातोः—घञि, नलोपे, उपधावृद्धौ, 'चजोरि'ति कुत्वे रागः = रञ्जनम्, रञ्जनसाधनं वा । ३—अत्राधिकरणे घञ्, तेन नकारलोपो न । ४—निवासे—निकायः (काशी), वृद्धिः, आयादेशः आदेश्चस्य कुत्वम् । चितौ यथा—आकायः = अग्न्याधारस्थलविशेषः, आचीयन्तेऽस्मिन्निष्टका इति विग्रहः, अधिकरणे घञ् । शरीरे यथा—कायः, चीयतेऽस्थ्यादिकमत्रेति विग्रहः । उपसमाधाने—गोमयनिकायः । ५—एः अच्, इति छेदः, धातोरित्यधिकारः, तद्विशेषणम् एरिति, विशेषणं तदन्तस्येति—तदन्तत्वं लभ्यते, तेन इवर्णान्ताद् धातोः अच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । चि—चयः 'सार्वधातुके'ति गुणेऽयादेशः । एवम्–जि–जयः, इ–अयः । ६—कॄ–करः, अप् प्रत्यये 'सार्वधातुके'ति गुणः, किरतीति विग्रहः । एवम्—गॄ–गरः शॄ–शरः । यु–युवः । लू–लवः । पू–पवः । स्तु–स्तवः ।

१२५५—घञन्त से संज्ञा गम्य रहते कर्तृभिन्न कारक में 'घञ्' होता है ।

१२५६—रञ्ज धातु के न का लोप होता है भाव और करण अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय परे रहते ।

१२५७—निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान अर्थों में चिञ् धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है, और आदि के च को क आदेश होता है ।

१२५८—इवर्णान्त धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है ।

१२५९—ऋवर्णान्त धातु और उवर्णान्त धातु से अप् प्रत्यय होता है ।

(घञर्थे कविधानम्) प्रस्थः । विघ्नः ।

१२६० ड्वितः क्त्रिः ३ । ३ । ८८ ॥

भावे स्वभावात् ।

१२६१ क्त्रेर्मम् नित्यम् ४ । ४ । २० ॥

क्त्रिप्रत्ययान्तान्मप्निर्वृत्तेऽर्थे । पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम् । डुवप्–उप्त्रिमम् ।

१२६२ ट्वितोऽथुच् ३ । ३ । ८९ ॥

अयमपि भावे । टुवेपृ कम्पने—वेपथुः । श्वयथुः ।

१२६३ यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् ३ । ३ । ९० ॥

यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ।

१२६४ स्वपो नन् ३ । ३ । ९१ ॥

१–यस्मिन्नर्थे घञ् भवति, तस्मिन्नर्थे कप्रत्ययोऽपि वक्तव्य इत्यर्थः । २–प्रस्था + (क) अ (ः) कित्वात् 'आतो लोपः' इत्यालोपः प्रस्थः, विघ्नः, गमहनेत्युपधा-लोपः, हो हन्तेरिति कुत्वम् । ३—यस्य धातोः 'डु' इत् स्यात्तस्माद् धातोः 'क्त्रि' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अयं स्वभावात् भावे । ४—'मप्' इति । 'यरोऽनुनासिके'ति मत्वम् । ५—कित्वाद् 'वचिस्वपि' इति सम्प्रसारणम् उप्त्रिमम् । एवम् डुलभष्–लब्ध्रिमम्, डुधाञ्—हित्रिमम् ('दधातेर्हिः' इति हित्वम्) । डुकृञ्—कृत्रिमम्, दत्त्रिमम् (दो दद्घोरिति दत्) । ६—'टु' इत्-यस्य स ट्वित्, तस्मात् (धातोः) भावे–अथुच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ७—टुओश्वि—श्वयथुः । टुभ्राजृ–भ्राजथुः । टुनदि–नन्दथुः । टुओस्फूर्जा–स्फूर्जथुः । ८—यज्ञः नस्य श्चुत्वेन ञः, जञोर्ज्ञः । ९—नस्य श्चुत्वेन ञः । १०—विच्छधातुः, "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इति शत्वम्, विश्नः = प्रतापः । ११—प्रच्छ + न (ङ्) (ः) नङो ङित्वेऽपि 'प्रश्ने चासन्नकाले' इति निर्देशात् "ग्रहिज्ये" ति सम्प्रसारणं न ।

(वा०–घञर्थ में क प्रत्यय होता है ।)

१२६०—डु जिसका इत् हो ऐसे धातु से 'क्त्रि' प्रत्यय होता है ।

१२६१—क्त्रि-प्रत्ययान्त धातु से 'मप्' प्रत्यय होता है निर्वृत्त अर्थ में ।

१२६२—टु जिसका इत् हो ऐसे धातु से 'अथुच्' प्रत्यय होता है भाव में ।

१२६३—यज-याच् यत्-विच्छ् प्रच्छ् रक्ष धातुओं से 'नङ्' प्रत्यय होता है ।

१२६४—स्वप् धातु से 'नन्' प्रत्यय होता है ।

स्वप्नः ।

१२६५ उपसर्गे घोः किः[1] ३ । ३ । ९२ ॥

प्रधिः । उपधिः[2] ।

१२६६ स्त्रियां क्तिन् ३ । ३ । ९४ ॥

स्त्रीलिङ्गे भावादौ क्तिन् । घञोऽपवादः । कृतिः[3] । स्तुतिः । (ॠल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वक्तव्यः) । तेन नत्वम् । कीर्णिः[4] । गीर्णिः । धूनिः । लूनिः । पूनिः[5] । (सम्पदादिभ्यः क्विप्) । सम्पत् । विपत् । आपत् । क्तिन्नपीष्यते । सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ।

१२६७ ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्तयश्च[6] ३ । ३ । ९७ ॥

१—उपसर्गपूर्वकात् 'घु' संज्ञकाद् धातोः किप्रत्ययः । अत्रेदं बोध्यम्—सर्वेऽपि किप्रत्ययान्ताः पुंलिङ्गा भवन्ति । २—एवम्—व्याधिः, आधिः, समाधिः, जलधिः, विधिः, सन्धिः, अभिसन्धिः, इत्याद्याः किप्रत्ययान्ताः पुंलिङ्गाः । सर्वत्र "आतो लोपः" इत्यालोपः । ३—कित्त्वान्न गुणः । ४—ॠकारान्ताद् ल्वादिभ्यश्च परः क्तिन्-प्रत्ययो निष्ठावद् भवति । निष्ठावद्भावे "रदाभ्याम्..." इति नत्वम्, णत्वम्, गॄ—गीर्णिः, सिद्धिः पूर्ववत् । धू—धूनिः, लू—लूनिः । ६—विनाशः । पवित्रता-यान्तु—पूतिः "पूञो विनाशे" इति विनाश एव नत्वविधानात् । ७—अवधातोः क्तिनि, ज्वरत्वरेति, उपधावकारयोरूठौ, उदात्तस्वरो निपातनप्रयोजनम्, ऊतिः = अवनम् । यूतिः, जूतिः, उभयत्र दीर्घनिपातनम् । सातिः (सोऽन्तकर्मणि) इत्य-स्य, अत्र 'द्यतिस्यति...' इत्वे प्राप्ते तदभावो निपात्यते, 'आदेच उपदेशे' इत्या-त्वम् । हेतिः—हन् धातोः क्तिन्, अनुदात्तेति नलोपः, अकारस्य एत्वं च निपा-त्यते । कीर्तिः— कॄ धातोः ण्यासश्रन्थेति युच् प्राप्तः, क्तिन् निपात्यते, 'उपधा-याश्च' इतीत्वे रपरत्वम् ।

१२६५—उपसर्ग उपपद रहते घुसंज्ञक धातु से कि प्रत्यय होता है भाव आदि में ।

१२६६—धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होता है स्त्रीलिंग भाव में ।

(वा०—(१) ॠकारान्त तथा ल्वादि धातु से किया गया क्तिन् प्रत्यय निष्ठा के सदृश होता है । (२) संपदादिओं से क्विप् प्रत्यय होता है । (३) संपदादिओं से 'क्तिन्' प्रत्यय भी होता है भाव में और कर्ता से भिन्न कारक में) ।

१२६७—ऊत्यादि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं ।

एते निपात्याः ।

१२६८ कृञः ३ । ३ । ९९ ॥

क्यप् । कृत्या[1] ।

१२६९ श च ३ । ३ । १०० ॥

कृञः शः । चात् क्तिन् । प्रकरणम् = प्रक्रिया[2] । कृतिः ।

१२७० इच्छा[3] ३ । ३ । १०१ ॥

इषेर्निपातोऽयम् ।

१२७१ अ प्रत्ययात् ३ । ३ । १०२ ॥

प्रत्ययान्तेभ्यः स्त्रियामकारप्रत्ययः । चिकीर्षा[4] । पुत्रकाम्या[5] ।

१२७२ गुरोश्च हलः ३ । ३ । १०३ ॥

गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियामप्रत्ययः । ईहा[6] । ऊहा ।

१२७३ षिद्भिदादिभ्योऽङ् ३ । ३ । १०४ ॥

१—पित्वेन ह्रस्वस्येति तुक्, कृत्या, कित्वाद् गुणाभावः । २—प्रकृञः शप्रत्यये, 'रिङ् शयग्लिङ्क्षि'ति, ऋकारस्य रिङ्—प्रक्रिया स्त्रीत्वे टाप् । क्तिनि—कृतिः । ३—इषु—इच्छायाम् इत्यस्य शप्रत्ययान्तोऽयं निपातः, स्त्रियाँ टाप् । ४—सन्नन्तात् कृञः ('चिकीर्ष' इत्यस्मात्) 'अ' प्रत्यये 'अतो लोपः' इत्यकारलोपः स्त्रियां टाप्—चिकीर्षा । ५—काम्यच्प्रत्ययान्तात् 'पुत्रकाम्य'—धातोः 'अ' प्रत्यये, 'अतो लोपः' स्त्रियां टाप्—पुत्रकाम्या । ६—ईह् चेष्टायाम्, ऊह वितर्के—इत्याभ्याम् 'अ' प्रत्यये स्त्रियां टापि ईहा, ऊहा । ७—षिद्भ्यो भिदादिभ्यश्च स्त्रियां भावे अङ् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । जॄष् वयोहानौ—धातोः अङि, क्त्विलक्षणं गुणनिषेधं बाधित्वा 'ऋदृशोऽङि' इति गुणः, जरा, स्त्रियां टाप् ।

१२६८—कृञ् से क्यप् प्रत्यय होता है भाव में ।

१२६९—कृञ् से भाव में 'श' प्रत्यय भी होता है, और 'क्तिन्' भी होता है ।

१२७०—इष् धातु से भाव में 'श' प्रत्यय होता है यक् का अभाव भी निपातन से होता है ।

१२७१—प्रत्ययान्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय होता है स्त्रीलिङ्ग में ।

१२७२—गुरुमान् हलन्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय होता है स्त्रीलिङ्ग में ।

१२७३—षित् धातु और भिदादि धातुओं से 'अङ्' प्रत्यय होता है ।

जृष् 'ऋदृशोऽङि गुणः' । जरा । त्रपूष् त्रपा । भिदा । विदारणे एवायम् । भित्तिरन्या[1] । छिदा[2] । मृजा । (कृपेः [3]सम्प्रसारणं च) । कृपा ।

१२७४ आतश्चोपसर्गे[4] ३ । ३ । १०६ ॥

अङ् स्यात् । उपदा । अन्तर्धा ।

१२७५ ण्यासश्रन्थो युच्[5] ३ । ३ । १०७ ॥

अस्यापवादः[6] । कारणा ।

१२७६ रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् ३ । ३ । १०८ ॥

प्रच्छर्दिका[7] । प्रवाहिका । विचर्चिका । क्वचिन्न[8] । शिरोर्तिः । (धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्वक्तव्यः ।) आसिका[9] । ([10]इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे ।) पचिः । पचतिः ।

त्रपूष्—त्रपा । भिदिर्—भिदा = भेदनम् । अङो ङित्वान्न गुणः ।

१—अन्यत्र क्तिन्नेवेति भावः । २—छिदिर् छिदा, मृजूष्—मृजा, ङित्वान्नोपधागुणः । ३—गणसूत्रमिदम्, कृपधातोः 'अङ्' प्रत्ययः सम्प्रसारणं च भवतीत्यर्थः, कृपा । ४—उपसर्गे उपपदे आदन्ताद् धातोः अङ्—प्रत्ययः स्यात्, भावेऽकर्तरि च कारक इत्यर्थः । उप—दा धातोः अङि, 'आतो लोपः' इत्यालोपः, टाप् उपदा । एवम्—अन्तर्—धा धातोः अङि, टाप्, अन्तर्धा । अदन्तरोरुपसर्गवद् वृत्तिः, इति 'अन्तर्' शब्दस्य उपसर्गत्वेन 'अङ्' । तथा च वार्तिकम् 'अन्तश्शब्दस्याङ्—किविधि—णत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्' इति । ५—ण्यन्ताद्—असधातोः श्रन्थेश्च युच् स्यादित्यर्थः । णयन्तात् यथा—कारणा (कारि = (यु) अन) णिलोपः, णत्वं स्त्रीत्वे टाप् । आस—आसना, श्रन्थ—श्रन्थना । ६—'अ'—प्रत्ययस्य,—अप्रत्ययादिति विहितस्येत्यर्थः । ७—प्रच्छर्द्—धातोः—ण्वुल्, वोरकः स्त्रीत्वे टापि, अत इत्वम् प्रच्छर्दिका = वमनरोगः । प्र—वह्—प्रवाहिका = ग्रहणी । विचर्च—विचर्चिका = पामा । ८—बहुलग्रहणादिति भावः । शिरोऽर्त्तिः = शिरःपीडा । अर्द् धातोः क्तिन् । तितुत्रेति नेट् । ९—आसधातोः ण्वुलि रूपम्, आसिका, आसनमित्यर्थः । एवम्—शायिका—इत्यादयः । १०—धातुस्वरूपे निर्देष्टव्ये इक्—श्तिपौ वक्तव्यावित्यर्थः । पचः—इक्प्रत्यये

१२७४—उपसर्ग पूर्वक आदन्त धातु से 'अङ्' प्रत्यय होता है ।

१२७५—ण्यन्त, आस्, श्रन्थ धातुओं से 'युच्' होता है ।

१२७६—रोगाख्या वाच्य हो तो धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय होता है बहुलता से । (धात्वर्थ निर्देश करना हो तो 'ण्वुल्' प्रत्यय होता है ऐसा कहना चाहिये) । (धातु का निर्देश करना हो तो 'इक्' और 'श्तिप्' प्रत्यय होते हैं)

(वर्णात्कारः[1]) निर्देश इत्येव । अकारः । ककारः । (रादिफः[2] ।) रेफः ।

१२७७ नपुंसके भावे क्तः ३ । ३ । ११४ ॥

१२७८ ल्युट् च ३ । ३ । ११५ ॥

हसितम् । हसनम् ।

१२७९ करणाधिकरणयोश्च ३ । ३ । ११७ ॥

ल्युट् । अनुमानः[3] । अनुमानी ।

१२८० पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३ । ३ । ११८ ॥

१२८१ छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य[5] ६ । ४ । ९६ ॥

द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे । दन्तच्छदः[6] । आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः ।

१२८२ अवे तॄस्त्रोर्घञ्[7] ३ । ३ । १२० ॥

पचिः, श्तिप्प्रत्यये पचतिः = पचधातुरित्यर्थः । श्तिपः शित्वात् सार्वधातुकत्वेन शबादिः ।

१—वर्णस्वरूपनिर्देशे कर्तव्ये वर्णानुकरणात् 'अ—इ—उ—, इत्यादिप्रातिपदिकात् कारप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । २—वक्तव्य इति शेषः । ३—कारप्रत्ययाऽपवादोऽयम्, वाऽसरूपन्यायेन कारप्रत्ययोऽपि, (न च स्त्रियां क्तिन्नित्युत्तरपठितत्वाद् अस्त्रियामिति निषेधात् वाऽसरूपन्यायस्य प्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम्, अत्र स्त्रियाम् इत्यस्याऽनुवृत्तेरनभ्युपगमात्) तेन 'रकारादीनि वर्णानि शृण्वतो मम पार्वति !' इत्यादि संगच्छते । ४—अनुमीयतेऽनेन वह्न्यादिः सोऽनुमानो धूमादिः, स्त्रियां ल्युटः टित्वात् ङीप्—अनुमानी । ५—करणाधिकरणयोरित्येव पूर्वसूत्रापवादः । ६—दन्ताः छाद्यन्तेऽनेन दन्तच्छदः = ओष्ठः । ७—'अव' इत्युपसर्गे उपपदे

(वर्ण से निर्देश अर्थ में 'कार' प्रत्यय होता है)। ('र' से निर्देश अर्थ में 'इफ' प्रत्यय होता है) ।

१२७७—धातु से क्त प्रत्यय होता है नपुंसकलिङ्ग भाव में ।

१२७८—धातु से ल्युट् प्रत्यय भी होता है नपुंसकलिङ्ग भाव में ।

१२७९—करण और अधिकरण अर्थ में धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय होता है ।

१२८०—धातु से 'घ' प्रत्यय होता है पुंलिङ्ग में, संज्ञा में, बहुलता से ।

१२८१—द्विप्रभृति उपसर्गरहित छादि धातु को ह्रस्व होता है 'घ' परे रहते ।

१२८२—अव उपपद रहते तॄ धातु और स्तॄ धातु से करण और अधिकरण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होता है संज्ञा में पुंलिङ्ग में ।

अवतारः । अवस्तारो = जवनिका ।

१२८३ हलश्च ३ । ३ । १२१ ॥

हलन्ताद्घञ् । घापवादः[1] । रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः[2] । अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिकमित्यपामार्गः[3] ।

१२८४ ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३ । ३ । १२६ ॥

एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल् । तयोरेवेति भावे कर्मणि च । कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता[4] । अकृच्छ्रे—ईषत्करः । सुकरः ।

१२८५ आतो युच् ३ । ३ । १२८ ॥

खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता । दुष्पानः । सुपानः ।

१२८६ आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः ३ । ३ । १७० ॥

अवश्यङ्कारी । शतंदायी ।

१२८७ कृत्याश्च ३ । ३ । १७१ ॥

'तृ—स्तृ' इत्याभ्यां घञ् पुंसि संज्ञायां प्रायेणेत्यर्थः । अवतारः, अवस्तारः ।

१—पुंसि संज्ञायामिति विहितस्य घप्रत्ययस्याऽपवादः इत्यर्थः । २—अधिकरणे घञ् रामः = परमात्मा तदवतारो दाशरथिश्च । ३—अप—मृज् धातोः—घञि, 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये' इत्युपसर्गस्य दीर्घः, मृजेर्वृद्धिः, 'चजोः कुः' इति कुत्वम्—अपामार्गः = औषधभेदः, (ऊंगा—पुठकंडा) । ४—न लोकाव्ययेति षष्ठीनिषेधात् कर्तरि तृतीया । ५—ईषदादिषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु आदन्ताद् धातोः युच् स्यादित्यर्थः । युचः—'यु' इत्यस्य अनादेशः । ईषत्पानः इत्यादि । ६—आवश्यके—आधमर्ण्ये च गम्ये धातोः कर्तरि णिनिः स्यादित्यर्थः ।

१२८३—हलन्त धातुओं से घञ् प्रत्यय होता है करण और अधिकरण अर्थ में ।

१२८४—दुःखार्थक और सुखार्थक ईषत्-दुस्-सु उपपद रहते कृच्छ्र और अकृच्छ्र अर्थ में धातु से खल् प्रत्यय होता है ।

१२८५—आदन्त धातु से युच् प्रत्यय होता है, ईषदादि उपपद रहते ।

१२८६—आवश्यक और आधमर्ण्य गम्य रहते धातु से कर्ता में 'णिनि' प्रत्यय होता है ।

१२८७—आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थ गम्य रहते धातु से कृत्य प्रत्यय तव्यत् आदि भी होते हैं ।

तथा[1] धातोः । अवश्यं सेव्यो हरिः । शतं देयम् ।

१२८८ क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् ३ । ३ । १७४ ॥

आशिषि । कातिः = वायुः । शिवो देयादेनं शिवदत्तः ।

१२८९ अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ३ । ४ । १८ ॥

प्राचामिति[2] पूजार्थम् । प्रतिषेधयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा । 'दो दद् घोः' । अलं दत्वा[3] । 'घुमास्थे' तीत्वम् । पीत्वा खलु । अलंखल्वोः किम्—मा कार्षीः । प्रतिषेधयोः किम्—अलङ्कारः[4] ।

१२९० समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३ । २ । २१ ॥

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा । 'अव्ययकृतो भावे'[5] । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम्[6] । स्नात्वा पीत्वा व्रजति ।

१२९१ न क्त्वा सेट् १ । २ । १८ ॥

१—आवश्यकाधमर्ण्ययोर्गम्ययोः धातोः कृत्यप्रत्ययाः=यत्-तव्यदादयः स्युरित्यर्थः। सेव्यम् इत्यत्र ण्यत् । देयम् इत्यत्र 'अचो यत्' 'ईद्यति' । २—'उदीचां माङो व्यतिहारे' इत्युत्तरसूत्रे उदीचां ग्रहणादस्य नित्यत्वावश्यकत्वात् प्राचां ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—प्राचां ग्रहणं पूजार्थमिति, आदरार्थमित्यर्थः, न तु विकल्पार्थम् इति भावः । ३—अलं-दा-धातोः क्त्वाप्रत्यये 'दद्' आदेशे, चर्त्वे, अलं दत्त्वा= दानेन किञ्चिदपि साध्यं नास्तीत्यर्थः । पाधातोः क्त्वाप्रत्यये ईत्वं पीत्वा खलु । ४—भूषणार्थोऽत्राऽलंशब्दः घञि रूपम् । ५—इत्यनेन भावे क्त्वाप्रत्यय इत्यर्थः। ६—सूत्रे समानकर्तृकयोरिति द्वित्वम् अविवक्षितम् इति भावः । तेन अधिकयोगेऽपि–पूर्वकाले विद्यमानेभ्यः सर्वेभ्योऽपि (द्वाभ्यां त्रिभ्यो वा) भवतीति यावत् । यथा—स्नात्वा भुक्त्वा–पीत्वा व्रजति । स्नानभोजनपानोत्तरकालिकं व्रजनमित्यर्थः।

१२८८—संज्ञा गम्य रहते धातु से 'क्तिच्' और 'क्त' प्रत्यय होते हैं आशीर्वाद में ।

१२८९—निषेधवाची अलं और खलु उपपद रहते, धातुओं से क्त्वा प्रत्यय होता है ।

१२९०—समानकर्तृक धात्वर्थों में पूर्वकालिक क्रिया में विद्यमान धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है ।

१२९१—सेट् क्त्वा कित् नहीं होता ।

सेट् क्त्वा किन्न । शयित्वा[1] । सेट् किम् । कृत्वा[2] ।

१२९२ रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च १ । २ । २६ ॥

इवर्णोवर्णोपधाद्धलादेरलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः । द्युतित्वा[3], द्योतित्वा । लिखित्वा, लेखित्वा । व्युपधात्किम्-वर्तित्वा[4] । रलः किम्-सेवित्वा[5] । हलादेः किम्-एषित्वा । सेट् किम्-भुक्त्वा ।

१२९३ उदितो वा ७ । २ । ५६ ॥

उदितः परस्य क्त्व इड् वा । शमित्वा, शान्त्वा[6] । देवित्वा, 'च्छ्वोः शूडनुनासिके चे'ति ऊठ्, द्यूत्वा[7] । दधातेर्हिः । हित्वा ।

१२९४ जहातेश्च क्त्वि ७ । ४ । ४३ ॥

हित्वा । हाङस्तु-हात्वा[8] ।

१२९५ समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७ । १ । ३७ ॥

अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः । तुक् । प्रकृत्य[10] । अनञ् किम्-अकृत्वा । अव्ययपूर्वपदात्किम्-परमकृत्वा ।

१—कित्वाभावाद् गुणनिषेधो न, किन्तु 'सार्वधातुके'ति भवति गुणः, अयादेशः, शयित्वा । २—कृञ् धातुर्हि-अनिट्, इति न कित्वनिषेधः, तेन गुणाभावः । ३—कित्त्वे गुणाभावः, अकित्त्वे गुणः, इति रूपद्वयं सिद्ध्यति । ४—वृत्धातुः ऋदुपधः, न इकारोकारोपधः । ५—सिव्धातुः रल्प्रत्याहारघटितवर्णान्तो नास्तीति न कित्वविकल्पः किन्तु 'न क्त्वा सेट्' इति कित्त्वाऽभावे उपधागुणे रूपं सेवित्वा । ६—शमुधातुः, इडभावे 'अनुनासिकस्य' इति दीर्घः । अनुस्वारपरसवर्णौ, शान्त्वा । ७—दिवुधातुः-इडभावे ऊठि रूपं द्यूत्वा । ८—ओहाक् त्यागे इत्यस्य क्त्वाप्रत्यये हिभावो भवतीत्यर्थः । ९—ओहाङ् गतौ इत्यस्य रूपम्-हात्वा । १०—प्र-कृञ् धातोः क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यपि, ल्यपः पित्वात् ह्रस्वस्येति तुक् प्रकृत्य ।

१२९२—इवर्णोपध उवर्णोपध हलादि रलन्त धातुओं से परे सेट् क्त्वा और सन् विकल्प से कित् होता है ।

१२९३—उदित् धातु से परे क्त्वा को इट् होता है विकल्प से ।

१२९४—ओहाक् धातु को हि आदेश होता है क्त्वा प्रत्यय परे रहते ।

१२९५—अव्यय पूर्व पद रहते नञ्भिन्न समास में क्त्वा को ल्यप् होता है ।

१२६६ वा ल्यपि ६ । ४ । ३१ ॥

अनुदात्तोपदेश–वनति–तनोत्यादीनामनुनासिकलोपः । स च[1] व्यवस्थितः । (मान्तानिटां वा) । (नान्तानिटां नित्यम्) । आगम्य, आगत्य । प्रहत्य । अदो जग्धिः । प्रजग्ध्य ।

१२६७ न ल्यपि ६ । ४ । ६६ ॥

घुमास्थेतीत्वम् । प्रदाय[3] । प्रमायेत्यादि ।

१२६८ आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ३ । ४ । २२ ॥

पौनःपुन्ये द्योत्ये क्त्वा–विषये णमुल् क्त्वा च ।

१२६९ नित्य–वीप्सयोः ८ । १ । ४ ॥

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्ण्ये तिङन्तेष्व-व्ययसंज्ञककृदन्तेषु च । पचैति पचति । स्मारं स्मारं नमति गुरुम् । स्मृत्वा स्मृत्वा । पायम् २ । भोजम् २ । श्रावम् २ ।

१–सः=लोपो व्यवस्थितः, व्यवस्थितविभाषेयमित्यर्थः । तेन=व्यवस्थितविभाषात्वेन, मान्तानिटां वा, नान्तानिटां वनादीनां च नित्यम्–आगम्य, आगत्य, वाऽनुनासिकलोपः । प्रहत्य, नित्यं लोपः । २—ल्यपि परे घुमास्थादेरीत्वं नेति सूत्रार्थः । ३—प्र–दा धातोः क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यपि 'घुमास्था' इति ईत्वस्य न ल्यपीति निषेधः =प्रदाय एवं प्रधाय, प्रमाय । ४—तिङन्ते द्वित्वोदाहरणमिदम् । ५–स्मृधातोः–आभीक्ष्ण्ये णमुलि, णित्वाद् वृद्धिः, द्वित्वम्—स्मारं स्मारम् । पक्षे क्त्वा स्मृत्वा स्मृत्वा । पाधातोः णमुल्, (आतो युक्) पायम् २ । भुज् धातोः भोजम् भोजम्, लघूपध-गुणः । श्रुधातोः-श्रावं श्रावम्, वृद्धिः ।

१२६६—ल्यप् परे रहते अनुदात्तोपदेश वनति तनोत्यादियों के अनुनासिक का लोप विकल्प से होता है । (यह विभाषा व्यवस्थित है)

(मान्त अनिट् धातुओं के नकार का लोप विकल्प से होता है) । (नान्त अनिट् धातुओं के नकार का लोप नित्य होता है) ।

१२६७—ल्यप् परे रहते ईत्व नहीं होता ।

१२६८—आभीक्ष्ण्य और वीप्सा अर्थ द्योत्य होने पर क्त्वा के विषय में णमुल् होता है ।

१२६९—आभीक्ष्ण्य और वीप्सा अर्थ द्योत्य होने पर पद को द्वित्व होता है ।

१३०० अन्यथैवं-कथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ३।४।२७॥

एषु कृञो णमुल्स्यात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत्कृञ्। व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्हं इत्यर्थः। अन्यथाकारम्-एवङ्कारम्-कथङ्कारम्-इत्थङ्कारं भुङ्क्ते। इत्थं भुङ्क्ते इत्यर्थः। सिद्धेति किम्-शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते।

१३०१ यावति विन्दजीवोः ३।४।३०॥

यावद्वेदं भुङ्क्ते। यावल्लभते तावदित्यर्थः। यावज्जीवमधीते।

१३०२ निमूलसमूलयोः कषः ३।४।३४॥

कर्मण्युपपदे।

१३०३ कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ३।४।४६॥

यस्माण्णमुलुक्तः स एवानुप्रयोक्तव्यः। निमूलकाषं कषति। समूलकाषं कषति। निमूलं-समूलं कषतीत्यर्थः।

१३०४ शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः ३।४।३५॥

१—अन्यथादिशब्दानां योऽर्थस्तस्माद् विशिष्टोऽर्थः कृञो न स्यादिति भावः। अर्थस्याविवक्षितत्वेऽपि णमुल्प्रत्ययसाधुत्वार्थं तत्प्रयोगः (कृञ्प्रयोगः) इति बोध्यम्। २—अत्र न कृञः प्रयोगोऽन्यथासिद्धः, किन्तु—आवश्यकः। अतो न णमुल्। ३—यावत्-शब्दे उपपदे विन्दतेः जीवतेश्च णमुलित्यर्थः। यावद्-विद्धातोः—णमुल् लघूपधगुणः, यावद् वेदम् मान्तत्वादव्ययत्वम्। ४—यावद् जीवति तावदधीते इत्यर्थः। ५—निमूले समूले च कर्मण्युपपदे कषधातोः णमुलित्यर्थः। ६—निर्गतं मूलमस्येति निमूलम्, सह मूलेनेति समूलम्, निमूलसमूल-

१३००—अन्यथा, एवं, कथम्, इत्थम् उपपद रहते कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, कृञ् का प्रयोग व्यर्थ होने पर।

१३०१—'यावत्' शब्द उपपद रहते विन्द् और जीव् धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है।

१३०२—निमूल समूल कर्म उपपद रहते कष् धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है।

१३०३—णमुल् होने पर कषादियों में उसी धातु का अनुप्रयोग होता है जिससे णमुल् हुआ है।

१३०४—शुष्क चूर्ण रूक्ष शब्द कर्म वाचक होकर उपपद हो तो पिष् धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है।

एषु कर्मसु पिषेर्णमुल् । शुष्कपेषं पिनष्टि । शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः । चूर्णपेषम् । रूक्षपेषम् ।

१३०५ समूलाकृत-जीवेषु हन्कृञ्ग्रहः ३ । ४ । ३६ ॥[1]

कर्मणीत्येव । समूलाघातं हन्ति । अकृतकारं करोति । जीवग्राहं गृह्णाति । जीवन्तं गृह्णातीत्यर्थः ।

१३०६ करणे हनः ३ । ४ । ३७ ॥[2]

पादघातं हन्ति । पादेन हन्तीत्यर्थः ।

१३०७ स्नेहने पिषः ३ । ४ । ३८ ॥

स्निह्यते येन तस्मिन्करणे पिषेर्णमुल् । उदपेषं पिनष्टि । उदकेन पिनष्टीत्यर्थः ।[3]

१३०८ हस्ते वर्ति-ग्रहोः ३ । ४ । ३९ ॥

हस्तार्थे करणे । हस्तवर्तं वर्तयति । करवर्तम् । हस्तेन गुलिकां करोतीत्यर्थः ।[4] हस्तग्राहं गृह्णाति । करग्राहम् । पाणिग्राहम् ।[5]

१३०९ स्वे पुषः ३ । ४ । ४० ॥

करण इत्येव । स्व इत्यर्थग्रहणम् । तेन स्वरूपे पर्याये विशेषेषु च णमुल् ।[6]

कषणाभिन्नं कषणमित्यर्थः ।

१—समूलादिषु कर्मसूपपदेषु हन्-कृञ्-ग्रहधातुभ्यो णमुल् इत्यर्थः । समूलघातम् । णमुलि वृद्धिः, होहन्तेरिति घत्वं, हनस्त इति तत्वम् । २—णमुलिति शेषः । ३—'उदकस्योदः' इत्यनुवृत्तौ 'पेषं-वास-वाहन-धिषु च' इति सूत्रेणोदकस्योदादेशः । ४—हस्तार्थे करणे उपपदे वर्तिग्रहोर्णमुल् स्यादित्यर्थः । ५—हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । ६—स्वरूपे = (स्वशब्दे) पर्याये = (धनादिशब्दे) विशेषेषु स्वविशेष-(धनविशेष)-गवादिशब्देषु उपपदेषु पुषधातोर्णमुल् इत्यर्थः ।

१३०५—कर्म संज्ञक समूल, कृत, जीव शब्द उपपद हो तो हन् कृञ् और ग्रह् धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।

१३०६—करण उपपद रहते हन् से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।

१३०७—गीला करने वाला करण उपपद हो तो पिष् धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।

१३०८—हस्त वाचक करण उपपद रहते वर्त् और ग्रह् धातु से 'णमुल्' होता है ।

१३०९—स्व वाचक या स्व विशेष वाचक करण उपपद रहते पुष् धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।

स्वपोषं पुष्णाति। धनपोषम्। गोपोषम्।

१३१० समासत्तौ ३।४।५०॥

तृतीयासप्तम्योर्णमुल् सन्निकर्षे। केशग्राहं युध्यन्ते। हस्तग्राहं युध्यन्ते।

१३११ स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः ३।४।६१॥

क्त्वाणमुलौ स्तः। मुखतःकृत्य। मुखतःकृत्वा। मुखतःकारम्। मुखतोभूय। मुखतोभूत्वा। मुखतोभावम्॥ इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता॥

अथ विभक्त्यर्थाः।

१३१२ प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा २।३।४६॥

१—धनेन पुष्णातीत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। २—सन्निकर्षोऽव्यवधानेन संयोगः। केशग्राहं युध्यन्ते, केशेषु ग्रहणं भवतु मा वा भवतु सन्निकर्षप्रतिपादनपरमेतत्। अत्यन्तं सन्निहिता युध्यन्ते इत्यर्थः। एवं-हस्तग्राहं युध्यन्ते। ३—तस् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीहिः, तस्प्रत्ययान्ते स्वाङ्गे उपपदे कृञो भुवश्च क्त्वा। णमुल् चेत्यर्थः। इह यथासङ्ख्य न व्याख्यानात्। ४—'क्त्वा च' इति सूत्रेण समासपक्षे क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यपि, तुकि रूपम्, मुखतःकृत्य। असमासपक्षे ल्यपोऽभावे मुखतः कृत्वा। णमुलि मुखतः कारम्, एवमग्रेऽपि। इति श्रीप्रभाकरीविवृतौ मध्यकौमुदी-टीकायां कृदन्तप्रकरणं सम्पूर्णम्।

अथ विभक्त्यर्थाः।

५—"ङ्याप्प्रातिपदिका" दित्यधिकृत्य "स्वौजसमौ" डित्यादिना ङ्याप्प्रातिपदिकेभ्यः स्वादिप्रत्ययाः (प्रथमादिसप्तम्यन्ताः सप्तविभक्तयः) सप्रपञ्चं निरूपिताः। अथेदानीं सप्तानामपि विभक्तीनामर्थविशेषव्यवस्थार्थं विभक्त्यर्थप्रकरणमारभ्यते। प्रायः कारकाधिकारात्कारकप्रकरणमपीदमेव। ६—प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गञ्च परिमाणञ्चेति द्वन्द्वः, मात्रशब्दस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात्प्रत्येकमभिसम्बन्धः। मात्रशब्दार्थ-

---

१३१०—अव्यवहित संयोग गम्य हो तो तृतीयान्त और सप्तम्यन्त उपपद रहते णमुल् प्रत्यय होता है।

१३११—तस् प्रत्ययान्तस्वाङ्ग उपपद रहते कृञ् और भू धातु से 'त्वा' और 'णमुल्' प्रत्यय होता है। इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता।

अथ विभक्त्यर्थाः।

१३१२—प्रातिपदिकार्थ मात्र में लिङ्ग मात्राधिक्य में परिमाण मात्र में और संख्या मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः । प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राधिक्ये सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा । प्रातिपदिकार्थमात्रे–उच्चैः । नीचैः । कृष्णः । श्रीः । ज्ञानम् । लिङ्गमात्रे–तटः । तटी । तटम् । परिमाणमात्रे–द्रोणो व्रीहिः । वचनं = सङ्ख्या । एकः । द्वौ । बहवः ।

श्चावधारणम् । तेन प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रम्–इत्यस्वपदविग्रहः । अर्थो वृत्तौ स्पष्ट. ।

१—स्वार्थो द्रव्यञ्च लिङ्गञ्च सङ्ख्या कारकमेव च ।
अमी पञ्चैव नामार्थास्त्रयः केषाञ्चिदग्रिमाः ॥

इति प्रातिपदिकार्थपञ्चकसिद्धान्ते त्रिकसिद्धान्ते चापि लिङ्गस्य नामार्थत्वात् = प्रातिपदिकार्थत्वात् पृथग्ग्रहणं व्यर्थमेवेत्याशङ्क्य प्रकृते विवक्षितं प्रातिपदिकार्थं निरूपयति—नियतेति । यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः सोऽत्र प्रातिपदिकार्थो विवक्षित इत्यर्थः । २—अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्रस्योदाहरणानि । उच्चैः, नीचैरादयोऽलिङ्गाः । कृष्णादयो नियतलिङ्गाः । ३—अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राद्याधिक्यकस्योदाहरणानि यथा इत्यादि । ४—न चेह प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्येव प्रथमास्त्विति वाच्यम् । तथा सति द्रोणरूपपरिमाणस्य व्रीहेश्च द्वयोरपि प्रातिपदिकार्थत्वेन = नामार्थत्वेन 'नामार्थयोरभेदेनान्वय' इति न्यायाद् द्रोणाभिन्नो व्रीहिरित्यनिष्टार्थलाभे द्रोणरूपपरिमाणस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावविधयाऽन्वयो न स्यात् । परिमाणार्थे पृथक् प्रथमाविधाने तु प्रत्ययार्थे परिमाणसामान्ये प्रकृत्यर्थो = द्रोणशब्दार्थो विशेषपरिमाणमभेदेन संसर्गेण विशेषणम् । द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणमित्यर्थः । तस्य च परिच्छेद्य-परिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणतयाऽन्वयस्तथा चायमर्थः–द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति ।

चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः प्रस्थाश्चत्वार आढकः ।
आढकैस्तैश्चतुर्भिस्तु द्रोण इत्यभिधीयते ॥

५—ननु एको द्वौ बहव इत्यत्रैकत्व-द्वित्व-बहुत्वानां नियमेनोपस्थित्या 'प्रातिपदिकार्थे'—इत्येव सिद्धे सूत्रे वचनग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, प्रकृतिभिरेवैकत्वादीनामुक्तत्वादुक्तार्थानामप्रयोग इति न्यायेन प्रथमाविभक्तेरप्राप्तौ तदर्थं सूत्रे वचनग्रहणं न्याय्यमेवेति । तथा च विभक्तिरिहाऽनुवादिका शब्दसाधुत्वार्थं प्रयोज्या 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि प्रत्ययः' इति न्यायात् । अत एवोक्तं भाष्ये 'उक्तेष्वप्येकत्वादिषु प्रथमेति' ।

१३१३ संबोधने च २ । ३ । ४७ ॥

प्रथमा स्यात् । हे राम !

१३१४ कर्तुरीप्सिततमं कर्म १ । ४ । ४९ ॥

कर्तुः क्रिययाप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

१३१५ कर्मणि द्वितीया २ । ३ । २ ॥

अनुक्ते । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमैव । अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः । हरिः सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितो हरिः । शतेन क्रीतः शत्यः अश्वः । प्राप्तानन्दश्चैत्रः । क्वचिन्निपातेनाभिधानम् । 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः'।

१—सम्बोधनेऽधिके गम्येऽपि प्रथमा स्यादित्यर्थः । सम्बोधनञ्च अभिमुखीकृत्य ज्ञापनम् । हे राम इति । मां पाहीति शेषः । २—कारके—इत्यधिकारादिदं लभ्यते । कारकत्वञ्च क्रियाजनकत्वम् । करोति = क्रियां निर्वर्त्तयतीति भाष्ये व्युत्पत्तिदर्शनात् । कारकाणि च षट् :—

कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च ।
अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट् ॥

ब्राह्मणस्य पुत्रं पश्यतीत्यत्र ब्राह्मणस्याऽन्यथासिद्धत्वात् क्रियाम्प्रति जनकत्वाभावेन न कारकत्वम् । अत एव षष्ठी कारकत्वेन न व्यवह्रियते । ३—अनभिहिते—इत्यधिकारादिदं लभ्यते । अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यादित्यर्थः । ४—अभिहिते = उक्ते तु प्रातिपदिकार्थमात्र इति प्रथमैव । ५—अभिधानम् = बोधनम् । तथा च तिङा = तिङ्प्रत्ययेनाभिधानम् = बोधनं भवति कृता = कृत्प्रत्ययेन चाभिधानम् = बोधनं भवति तथा तद्धितेन समासेन च । 'हरिः सेव्यते' तिङन्तेनाभिहितत्वाद् हरेः कर्मणो न द्वितीया । 'लक्ष्म्या सेवितो हरि' रित्यत्र कृदन्तेनाभिहितं कर्म हरिस्तेन प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा । तद्धितोदाहरणं 'शतेन क्रीतः' शत्य. = अश्वः । समासोदाहरणञ्च 'प्राप्तानन्दः' । ६—प्रायेणेत्यस्य फलं दर्शयति—क्वचिन्निपातेनेति । क्रमादमुमित्यत्र इतिशब्दरूपेण निपातेन नारदनिष्ठं कर्मत्वमभिहितमिति न द्वितीया, किन्तु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमैव ।

१३१३—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

१३१४—कर्ता को क्रिया के द्वारा प्राप्त करने के लिये इष्टतम कारक की कर्म संज्ञा होती है ।

१३१५—अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१२१६ अकथितं च १ । ४ । ५१ ॥

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं[1] कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

"दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शासु-जि-मन्थ-मुषाम्[2] ।

कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नी-हृ-कृष्वहाम्" ॥

गां दोग्धि पयः[3] । बलिं[4] याचते वसुधाम् । तण्डुलान्[5] ओदनं पचति । गर्गान्[6] शतं दण्डयति । व्रजम्[7] अवरुणद्धि गाम् । माणवकं[8] पन्थानं पृच्छति । वृक्षम्[9] अवचिनोति फलानि । माणवकं[10] धर्मं ब्रूते, शास्ति वा । शतं[11] जयति देवदत्तम् । सुधां

१—अकथितशब्दं व्याचक्षाण आह—अपादानादिविशेषैः । अर्थात् अपादानसम्प्रदानाधिकरणादिकं यदाऽपादानत्वादिविशेषरूपेण न विवक्षितं किन्तु सम्बन्धसामान्यात्मनैव विवक्षितं तदा तत्कारकं कर्मसञ्ज्ञकमित्यर्थः । २—ननु—नटस्य शृणोतीत्यत्र नटसम्बन्धिश्रवणमित्यर्थके (वाक्ये) नटस्यापि कर्मत्वं स्यात्तस्य क्रियान्वयित्वेन कारकत्वात् वस्तुतोऽपादानस्य सम्बन्धित्वेन विवक्षितत्वाच्चे-त्याशङ्क्य परिगणयति—दुह्याजिति । दुह्यादीनां द्वादशधातूनां तथा नीहृकृष्वहां चतुर्णां मुख्यकर्मणा यद् युज्यते (अपादानादि) तदेवाऽकथितं कर्मेति परिगणनार्थः । तेन च एत एव धातवो द्विकर्मका इति सिद्धम् । ३—पयःकर्मकं गोसम्बन्धि दोहनमर्थः । पयोऽत्र मुख्यं कर्म कर्तुरीप्सिततमत्वाद्, गोश्चावधित्वेन प्राप्तस्याऽपादानत्वस्याऽविवक्षणादकथितकर्मत्वम् = गौणकर्मत्वम् । ४—प्रार्थनार्थस्य याचेर्वसुधा मुख्यं कर्म, तेन युक्तो बलिर्वस्तुतोऽवधिरपि (अपादानमपि) तदविवक्षायामकथितं कर्म । ५—निर्वर्त्तनार्थस्य पचेरोदनो मुख्यं कर्म, तण्डुलास्तु करणत्वाऽविवक्षायामकथितं कर्म । ६—ग्रहणार्थस्य दण्डधातोः शतं मुख्यं कर्म गर्गास्त्वपादानत्वाविवक्षायां गौणं कर्म । ७—अत्र गौर्मुख्यं कर्म व्रजोऽधिकरणत्वाविवक्षायामकथितं कर्म । ८—अत्र पन्था मुख्यं कर्म माणवकस्य करणत्वाऽविवक्षायां गौणकर्मत्वे द्वितीया । माणवकेन पन्थानं ज्ञातुमिच्छतीत्यर्थः । ९—फलानि मुख्यं कर्म वृक्षश्चापादानत्वाऽविवक्षायां गौणं कर्म । वृक्षात्प्रच्याव्य फलान्यादत्ते—इत्यर्थः । १०—अत्र धर्मो मुख्यं कर्म बोधनानुकूलव्यापारो ब्रूञोऽर्थो बोधविषयेण कर्मणाऽभिप्रेयमाणत्वाद् माणवकः सम्प्रदानं सम्प्रदानत्वाविवक्षायां तस्य गौणकर्मत्वे द्वितीया । माणवकाय धर्मं बोधयतीत्यर्थः । ११—ग्रहणानुकूलताड-

---

१२१६—अपादानादि से अविवक्षित कारक की कर्म संज्ञा होती है ।

दुह्याच इति—दुह् याच् आदि षोडश धातुओं के कर्म से युक्त कारक की ही 'अकथितं' सूत्र से कर्म संज्ञा होती है ।

क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति हरति कर्षति वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं 'धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्ती'त्यादि। (अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्) कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते। क्रोशमास्ते।

दिव्यापारो 'जि' धातोरर्थः, शतं प्रधानं कर्म देवदत्तस्त्वपादानत्वाऽविवक्षायां गौणं कर्म। देवदत्तात्ताडनादिना सुवर्णशतं गृह्णातीत्यर्थः।

१—सुधा प्रधानं कर्म क्षीरनिधिस्तु सुधोद्भवप्रत्यपादनत्त्वाऽविवक्षायां गौणं कर्म। क्षीरनिधेः सकाशात्सुधां मन्थनदण्डभ्रामणेनोद्भावयतीत्यर्थः। २—शतं मुख्यं कर्म परस्वामिकद्रव्यस्य स्वामिनः सकाशादपनीयाऽऽदानानुकूलो व्यापारो 'मुष्' धातोरर्थः,अपनयनावधित्वाद् देवदत्तोऽपादानम् अपादानत्वाऽविवक्षायां तस्य गौण-कर्मत्वम्। अपश्यति देवदत्ते तदीयं सुवर्णशतं तस्मादपनीयाऽऽदत्ते—इत्यर्थः। ३—अत्राऽजा प्रधानं कर्म, ग्रामस्य चाऽधिकरणत्वाऽविवक्षायां गौणकर्मत्वम्। अजां ग्रामे प्रापयतीत्यर्थः। ४—अयम्भावः—परिगणितानां धातूनां यो योऽर्थस्त-त्तदर्थकधातुयोगेऽकथितकर्मत्वमिति। तथा चैतदर्थकधात्वन्तरसंयोगेऽपि द्विकर्मकत्वं लभ्यते, कैयटादिभिरपीत्थमेव व्याख्यातम्। ५—ननु 'कुरून् स्वपिति देवदत्तः' 'मासमास्ते' इत्यादौ कुर्वादेरनुद्देश्यत्वा 'त्कर्तुरीप्सिततम' मिति कर्मत्वं न सम्भवति। कर्तुरेव स्वापादिक्रियाश्रयत्वात्, 'तथा युक्त' मित्यपि न कर्मत्वमित्यत आह—अकर्मकधातुभिरिति। इह देशशब्देन कुरुपाञ्चालादिरूप एव देशो गृह्यते नतु ग्रामादिरपि। अन्यथा—"अधितिष्ठति वैकुण्ठ" मित्यत्रानेनैव कर्मत्वे सिद्धे "अधिशीङ्स्थासां कर्म" इत्यस्य वैयर्थ्यं स्यात्। अत्रोक्तं हरिणा—

कालभावाऽध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः।
सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते ॥

६—स्वपितीत्यकर्मकधातुना योगे देशः कर्मसञ्ज्ञः, जनपदवाचिनां स्वभावाद् बहुवचनान्तता। कुरुषु निद्रां करोतीत्यर्थः। ७—अकर्मकेणाऽऽस्धातुना योगे कालविशेषस्य मासस्य कर्मत्वम्, इहाऽधिकरणसञ्ज्ञां बाधित्वा कर्मसञ्ज्ञा। ८—दोहनम्=दोहः। भावे घञ्, गवां दोहः=गोदोहो गोदहनकाले लाक्षणिकः। नच तथा सति कालत्वादेव "कालाध्वनो" रिति सिद्धिः स्यादिति वाच्यम्, लोके कालत्वेन प्रसिद्धस्याहोरात्रसमूहस्य मासादेरेव तत्र ग्रहणात्। ९—गन्तव्याऽध्वो-

---

अर्थ निबन्धनेयमिति—यह कर्म संज्ञा दुहादि के अर्थ के योग में होती है।

१३१७ गति बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ १ । ४ । ५२ ॥

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मकाणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात् ।

"शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद्विधिम् ।
आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः" ।

(नीवह्योर्न) नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन । (नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः) ।

दाहरणमिदम्—क्रोशमास्ते—इति ।

१—गतिः = गमनम्, बुद्धिः = ज्ञानम्, प्रत्यवसानम् = भक्षणम्, अर्थो येषाम्, शब्दः कर्म येषामिति बहुव्रीहिः । अविद्यमानं कर्म येषां तेऽकर्मकास्तेषाम् । तथैवाह वृत्तौ गत्याद्यर्थान'मित्यादि । २—शत्रूनगमयदिति । स श्रीहरिर्मे = मम गतिः = संरक्षको भूयात्, यः शत्रून् स्वर्गमगमयत् = शत्रवः स्वर्गमगच्छन् श्रीहरिस्तान् प्रैरयत्—इति श्रीहरिः शत्रून् स्वर्गमगमयत्, अण्यन्तावस्थायां कर्त्तारः शत्रवः ण्यन्तावस्थायां कर्मीभूताः सन्तीति द्वितीयाविभक्तिः, गत्यर्थोदाहरणमिदम् । बुद्ध्यर्थोदाहरणमाह—वेदार्थमिति स्वे = स्वकीया वेदार्थमविदुः श्रीहरिस्तानवेदयदिति । प्रत्यवसानार्थोदाहरणं ब्रूते—आशयच्चामृतमिति । देवा—अमृतमाश्नन् श्रीहरिर्देवानमृतमाशयत् = अभोजयदिति । शब्दकर्मोदाहरणमाह—वेदमध्यापयदिति । विधिः = ब्रह्मा वेदमध्यैत, श्रीहरिर्विधिं वेदमध्यापयत् = अपाठयदिति । अकर्मकोदाहरणमाह—आसयत् सलिले इति । सलिले = जले पृथ्वी-आस्त श्रीहरिः पृथ्वीमासयत् = उपावेशयदिति । ३—प्रापणमपि गत्यन्तर्गतमिति गत्यर्थत्वेन पूर्वसूत्रप्राप्तं कर्मत्वमनेन निषिध्यते । ण्यन्तयोरनयोः प्रयोज्यकर्तुर्न कर्मत्वमित्यर्थः । कर्मत्वाभावे प्रयोज्यकर्तुरनुक्तत्वात्तृतीया । ४—नियन्तृकर्तृकस्य च वहेर्न

अकर्मकेति—अकर्मक धातुओं के योग में देश काल भाव और गन्तव्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है, ऐसा कहना चाहिये ।

१३१७—गमनार्थक ज्ञानार्थक भक्षणार्थक तथा शब्दकर्मक और अकर्मक धातुओं के अण्यन्तावस्थीय कर्ता की ण्यन्त में कर्मसंज्ञा हो जाती है ।

शत्रूनगमयादिति—वह श्रीहरि भगवान् हमारे रक्षक हों जिन्होंने शत्रुओं को स्वर्ग पहुँचाया, अपने भक्तों को वेदार्थ जनाया, देवताओं को अमृत भोजन कराया, ब्रह्माको वेद पढ़ाया और जलों पर पृथिवी को ठहराया था ।

वाहयति रथं वाहान्[1] सूतः। (आदिखाद्योर्न[2])। आदयति खादयति वा अन्नं बटुना। (भक्षेरहिंसार्थस्य न[3]) भक्षयत्यन्नं बटुना। अहिंसार्थस्य किम्—भक्षयति बली-वर्दान् सस्यम्[4]। (जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम्[5])। जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः। (दृशेश्च[6])। दर्शयति हरिं भक्तान्। (शब्दायतेर्न[7])। शब्दा-ययति देवदत्तेन।

१३१८ हृक्रोरन्यतरस्याम् १ । ४ । ५३ ॥

हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात्। हारयति कारयति भृत्येन[9] भृत्यं

निषेधः। प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वं भवत्येवेत्यर्थः।

१—वाहा रथं वहन्ति सूतस्तान् प्रेरयति–इति वाहयति रथं वाहान् सूतः। २—प्रत्यवसानार्थत्वात्कर्मत्वे प्राप्ते निषेधमाह–अदिखाद्योर्नेति। अत्ति खादति वाऽन्नं बटुस्तं प्रेरयतीति आदयति खादयति वाऽन्नं बटुना। ३—अहिंसार्थस्य 'भक्ष' धातोः प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वं नेत्यर्थः। चुरादिण्यन्ताद् भक्षधातोर्हेतुमण्णिचि भवत्युदाहरणम्—भक्षयत्यन्नं बटुना इति। ४—क्षेत्रे प्ररूढं हरितमलूनं सस्यमित्युच्यते, तस्यामवस्थायां तस्य चेतनत्वात् तद्भक्षणं हिंसैवेति भावः। तथाच भवति प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वम्। ५—एतेषामणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः। ६—दृशिर् प्रेक्षणे–इत्यस्यापि–अणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यादिति वक्तव्यम्। भक्ता हरिं पश्यन्ति तान् प्रेरयति गुरुरित्युदाहरणार्थः। ७—धात्वर्थसङ्गृहीतकर्मकत्वेनाऽकर्मकत्वाद् "गतिबुद्धी"ति प्राप्तं कर्मत्वमनेन निषिध्यते। शब्दाययतीत्यत्र शब्दं करोतीत्यर्थे 'शब्दवैरकलहे' त्यादिना क्यङ्, ततो हेतुमण्णिच् शब्दायते देवदत्तस्तं यज्ञदत्तः प्रेरयतीत्यर्थः। ८—हृ च कृ च हृकरौ, तयोरिति विग्रहः। ९—पक्षेऽनुक्तत्वात्प्रयोज्यकर्तरि तृतीया।

(नी और वह् धातु का कर्ता पूर्वोक्त रूप में कर्म संज्ञक नहीं होता)। (किन्तु नियन्तृकर्तृक वह् का निषेध नहीं है)

(आदि और खादि का पूर्वकर्ता णयन्तावस्था में कर्मसंज्ञक नहीं होता)। (अहिंसार्थक भक्ष् धातु का पूर्वकर्ता णयन्त में कर्म संज्ञक नहीं होता)। (जल्प् आदि धातुओं का पूर्वकर्ता णयन्त में कर्म संज्ञक होता है)। (दृश् धातु का पूर्वकर्ता कर्म संज्ञक होता है)। (क्यङ् प्रत्ययान्त शब्दायति का पूर्वकर्ता णयन्त में कर्म संज्ञक नहीं होता)।

१३१८—हृ और कृ धातु का पूर्वकर्ता णयन्त में कर्म संज्ञक विकल्प से होता है।

वा कटम् । (अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्) । अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तेन भक्तं वा ।

१३१९ अधिशीङ्स्थासां कर्म १ । ४ । ४६ ॥

अधिपूर्वाणामेषामाधारः[2] कर्म स्यात् । अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ।

१३२० अभिनिविशश्च १ । ४ । ४७ ॥

अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात् । अभिनिविशते सन्मार्गम् । क्वचिन्न[3] । पापेऽभिनिवेशः ।

१३२१ उपान्वध्याङ्वसः[4] १ । ४ । ४८ ॥

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति अधिवसति

१—हेतुमण्ण्यन्तस्याऽभिपूर्वक 'वद्' धातोर्ण्यन्तस्य 'दृश्' धातोश्च—आत्मनेपदिनोऽणौ कर्त्ता णौ कर्म वा । २—अधिकरणसञ्ज्ञापवादोऽयम् । ३—"परिक्रयणे सम्प्रदान" मिति सूत्रात् मण्डूकप्लुत्याऽन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणादाह—क्वचिन्नेति । समर्थसूत्रे-'एष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्' इति भाष्यप्रयोगोऽत्र मानम् । वस्तुतस्तु क्वचिन्नेति चिन्त्यम्, अभिनिविशश्चेति सूत्रे अभि-नि-विश-इत्येतेषामविकृतरूपग्रहणेन प्रकृते='पापेऽभिनिवेशः' इत्यत्र प्रकृतसूत्रस्य प्राप्तिरेव नास्ति, अकारस्य पूर्वरूपेण विकृतत्वात् । न च 'अर्थेष्वभिनिविष्टानाम्' इति भाष्यप्रयोगः कथं सङ्गच्छेतेति वाच्यम्, अत्रापि 'विश' इत्यस्य 'अष्टे'ति षत्वेन विकृतत्वान्नास्ति तावत्क्वचिद्विप्रतिपत्तिरिति । ४—उप-अनु-अधि-आङ् इत्येतेषां द्वन्द्वः, 'उपान्वध्याङ्पूर्वो वस्' इति विग्रहे शाकपार्थिवत्वात्समासः ।

(आत्मनेपद में अभिवादि और दृश् धातु का पूर्वकर्ता णयन्त में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है) ।

१३१९—अधिपूर्वक शीङ् स्था और आस् धातु का आधार कर्म संज्ञक होता है ।

१३२०—अभिनि पूर्वक विश् धातु का आधार कर्म संज्ञक होता है ।

१३२१—उप, अनु, अधि आङ् पूर्वक वस् धातु का आधार कर्म संज्ञक होता है ।

(पूर्वोक्त उपसर्ग पूर्व रहते भोजनाभावार्थक वस् का आधार कर्मसंज्ञक

आवसति वा वैकुण्ठं हरिः। (अभुक्त्यर्थस्य तु न)। वने उपवसति।

'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते'॥

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाऽभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोऽधो लोकम्। ऋते कृष्णम्। (अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रति-योगेऽपि) अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाऽभक्तम्। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

१३२२ अन्तरान्तरेण युक्ते २।३।४॥

१—उपेत्युपसर्गपूर्वस्य वसतेर्भोजनाभावोऽर्थस्तत्र न भवति कर्मत्वमिति भावः। 'वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेध'इति वार्तिकमत्र मूलम्। २—अथोपपदविभक्तिं द्वितीयां श्लोकवार्तिकेन सङ्गृह्णाति, उभसर्वतसोरिति, अस्यायमर्थः—उभशब्दस्य तसन्तस्य प्रयोगे सर्वशब्दस्य च तसन्तस्य प्रयोगे द्वितीया कार्य्या, यथा 'उभयतः कृष्णं गोपाः' 'सर्वतः कृष्णं गोपाः'। धिक्शब्दप्रयोगे द्वितीया कार्या, यथा 'धिक् कृष्णाऽभक्तम्' तथाऽऽम्रेडितान्तेषु उपर्यादिषु त्रिषु द्वितीया कार्या, 'द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितं' तदन्तेषु कृतद्विर्वचनष्विति यावत् (उपर्यादिषु त्रिष्वित्यत्र 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' इतिसूत्रोपात्तानि—उपरि—अधि—अधः—इति त्रीण्यव्ययानि गृह्यन्ते) उदाहरणत्रयं मूले स्पष्टम्। ततोऽन्यत्रापि दृश्यते उक्तप्रदेशेभ्योऽन्यत्रापि द्वितीया दृश्यत इत्यर्थः। तदुदाहरणञ्च 'ऋते कृष्णम्'इति। ३—यद्यपि—ऋते योगे 'अन्याराद्इतरर्ते' इति पञ्चमी प्राप्ता, तथापि ततोऽन्यत्रापीति वार्तिकोक्तेः भवति क्वचिद् द्वितीयापि। एतेन—'फलति पुरुषाराधनमृते' इति महिम्नःस्तोत्रपाठोऽपि व्याख्यातः। ४—समया = समीपे। निकषेत्यस्याप्ययमेवार्थः। हा कृष्णभक्तमित्यत्र तस्य शोच्यता इत्यर्थः। बुभुक्षितं न प्रतिभातीत्यस्य क्षुधार्तं न किञ्चिदपि परिस्फुरतीत्यर्थः।

नहीं होता)।

उभसर्वतसोरिति—तस् प्रत्ययान्त उभ तथा सर्वशब्द के प्रयोग में द्वितीया होती है। धिक् शब्द के योग में द्वितीया होती है। आम्रेडितान्त अर्थात् कृत द्विर्वचन उपरि अधि और अधस् शब्द के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है। प्रयोग से ज्ञात होता है कि इनसे अन्यत्र भी द्वितीया हो जाती है।

(अभितः आदि छे शब्दों के योग में भी द्वितीया होती है।)

१३२२—अन्तरा और अन्तरेण शब्द के योग में द्वितीया होती है।

द्वितीया । अन्तरा त्वां मां वा हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ।

१३२३ कर्मप्रवचनीयाः १ । ४ । ८३ ॥

इत्यधिकृत्य ।

१३२४ अनुर्लक्षणे १ । ४ । ८४ ॥

लक्षणे द्योत्ये अनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

१३२५ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २ । ३ । ८ ॥

जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः ।

१३२६ तृतीयार्थे १ । ४ । ८५ ॥

अनुरुक्तसंज्ञः । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः ।

१३२७ हीने १ । ४ । ८६ ॥

अनुरुक्तसंज्ञः । अनु हरिं सुराः । हरेर्हीना इत्यर्थः ।

१३२८ उपोऽधिके च १ । ४ । ८७ ॥

अधिके हीने च उपेत्यव्ययं प्राग्वत् । अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने—उप हरिं सुराः ।

१३२९ लक्षणेत्थम्भूताख्यान-भाग-वीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९०॥

१—अन्वर्थेयं सञ्ज्ञा कर्म = क्रियां प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः । अधिकारसूत्रमिदम् । २—तेन क्रियायोग एव कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञेति संसूच्यते । ३—हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः । कदा पर्जन्योऽवर्षदिति प्रश्ने—उत्तरमिदम् । जपो लक्षणं वर्षणं लक्ष्यम् । ४—तृतीयार्थे = साहित्ये–इत्यर्थः । ५—हीनेऽर्थे द्योत्ये 'अनुः' कर्मप्रवचनीय–सञ्ज्ञ इत्यर्थः । ६—कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञमित्यर्थः । ७—उत्कृष्टादेव द्वितीया शब्दशक्तिस्वभावात् । ८—लक्षणम् = ज्ञापकम्, अयं-प्रकारः = इत्थम्, तम्प्राप्त इत्थम्भूतः तस्याऽऽख्यानमित्थम्भूताख्यानम् । भागः =

१३२३—यह अधिकार सूत्र है ।

१३२४—लक्षण द्योत्य रहते 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

१३२५—कर्म प्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१३२६—तृतीयार्थ = सह अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

१३२७—हीन अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

१३२८—अधिक और हीन अर्थ में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

१३२९—लक्षणादि चार अर्थों में 'प्रति' 'परि' और 'अनु' की कर्मप्रवच-

उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे—वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थम्भूताख्याने—भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा। भागे—लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्यनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति। एषु किम्—परिषिञ्चति।

१३३० अभिरभागे १।४।९१॥

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिमभिवर्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देवमभि सिञ्चति। अभागे किम्। यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्।

१३३१ सुः पूजायाम् १।४।९१॥

सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुपसर्गत्वान्न षः। पूजायां किम्—सुषिक्तं किं तवात्र। क्षेपोऽयम्।

१३३२ अतिरतिक्रमणे च १।४।९५॥

चात्पूजायामतिरुक्तसंज्ञः। अति देवान्कृष्णः।

स्वीकार्योऽशः प्रकृते च तत्स्वामी विवक्षितः। वीप्सा = व्याप्तुं कार्त्स्न्येन सम्बद्धुमिच्छा, द्वन्द्वाद् विषयसप्तमी, एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रतिपर्यनवः कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञका इत्यर्थः।

१—'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम्, द्विर्वचनेनैव च वीप्सा द्योत्यते। २—लक्षणाद्यभावात्कर्मप्रवचनीयत्वाभावे उपसर्गात्सुनोतीति षत्वम्। ३—कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञ इत्यर्थः। ४—जयः क? इति प्रश्ने—उत्तरमिदम्। हरिलक्ष्यो जय इत्यर्थः। लक्षणेऽभेः कर्मप्रवचनीयता। ५—इत्थम्भूताख्याने—उदाहरणमिदम्। हरिविषयभक्तिमानित्यर्थः। ६—अत्र वीप्सायामभेः कर्मप्रवचनीयत्वेन द्वितीया। ७—अत्राऽभिर्भागद्योतकः। मम भागः स्यादित्यर्थः। अभागे—इति कर्मप्रवचनीयनिषेधादुपसर्गप्रादुर्भ्यामिति षत्वम्। ८—पूजार्थकः सुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञ इत्यर्थः। ९—कर्मप्रवचनीयसंज्ञयोपसर्गसंज्ञाभावात् "उपसर्गात्सुनोती"ति षत्वन्न। सुसिक्तं, सुस्तुतम्। १०—अत्र निन्दा गम्यते नतु पूजा, तेन कर्मप्रवचनीयत्वाभावे उपसर्गत्वात् 'उपसर्गात्सुनोती'ति षत्वम्। ११—संसार-संरक्षणविषये देवानतिक्रम्य

नीय संज्ञा होती है।

१३३०—भाग अर्थ को छोड़कर शेष लक्षणादि अर्थों में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

१३३१—पूजा अर्थ में 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

१३३२—अतिक्रमण अर्थ में 'अति' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है।

१३३३ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २ । ३ । ५ ॥[1]

इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी[2] । मासमधीते । मासं गुडधानाः । क्रोशं[3] कुटिला नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम्—मासस्य द्विरधीते[4] । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः । स्वतन्त्रः कर्तेति कर्तृसंज्ञा ।

१३३४ साधकतमं करणम् १ । ४ । ४२ ॥

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं[5] करणसंज्ञं स्यात् ।

१३३५ कर्तृ-करणयोस्तृतीया २ । ३ । १८ ॥

अनभिहिते[6] कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण[7] बाणेन हतो वाली । (प्रकृत्यादिभ्यं उपसंख्यानम्)[8] प्रकृत्या[9] चारुः । प्रायेण[10] याज्ञिकः । गोत्रेण[11] गार्ग्यः । समेनैति[12] । विषमेणैति । द्विद्रोणेन[13] धान्यं क्रीणाति । पञ्चकेन पशून्गृह्णाति । सुखेन[14] दुःखेन वा यातीत्यादि ।

१३३६ दिवः कर्म[15] च १ । ४ । ४३ ॥

वर्तने कृष्ण इत्यर्थः । देवानामपि पूज्य इति वार्थः ।

१—निरन्तर-संयोगः = अत्यन्तसंयोगः । गुणक्रियाद्रव्यैः कालाध्वनोरविच्छिन्नसंयोगे गम्ये द्वितीया स्यादित्यर्थः । २—मासेऽविच्छिन्नमङ्गलवतीत्यर्थः । एवं मासमधीत इत्यादि । ३—अध्वसंयोगोदाहरणमिदम् । एवं क्रोशमधीते—इत्यादि । ४—त्रिंशद्दिनात्मके मासे द्वयोर्दिनयोः प्रतिदिनमेकवारमेवाधीते—इत्यर्थः । ५—यद्व्यापारानन्तरं क्रियानिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टोपकारकम् । ६—अनभिहिते—इत्यधिकारः । अनुक्ते-इत्यर्थः । ७—हत इति-हन् धातोः कर्मणि क्तः, तेन कर्त्ता (रामः) करणं (बाणः) अनभिहितमित्युभयत्रापि तृतीया कर्मणो वालीत्यस्योक्तत्वात् प्रातिपदिकार्थे प्रथमा नतु द्वितीया । ८—प्रकृत्यादिगणपठितेभ्यस्तृतीया वक्तव्येत्यर्थः । ९—स्वभावसम्बन्धिचारुत्ववानित्यर्थः । १०—बहुलाचारसम्बन्धियाज्ञिकत्ववानित्यर्थः । ११—गोत्रमस्य गार्ग्य इत्यर्थः । १२—समं विषमञ्च गमनं करोतीत्यर्थः । १३—द्वयोर्द्रोणयोः समाहारो द्विद्रोणम्,—द्विद्रोणसम्बन्धि धान्यमित्यर्थः । १४—सुखजनकं दुःखजनकं वा यानं करोतीत्यर्थः । १५—दिवुधात्वर्थं प्रति साधकतममित्यर्थः ।

१३३३—काल और अध्वा के अत्यन्त संयोग हो तो द्वितीया होती है ।

१३३४—क्रिया सिद्धि में साधकतम कारक की 'करण' संज्ञा होती है ।

१३३५—अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है । (प्रकृत्यादि शब्दों से तृतीया होती है) ।

१३३६—दिव् धातु का साधकतम कारक कर्म संज्ञक और करण संज्ञक होता है ।

दिवः साधकतमं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञं च । अक्षैरक्षान्वा दीव्यति ।

१३३७ सहयुक्तेऽप्रधाने २ । ३ । १९ ॥

सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया । पुत्रेण[1] सहागतः पिता । एवं साकं-सार्धं-समं-योगेऽपि । विनापि तद्योगं तृतीया । वृद्धो यूनेति निर्देशात् ।

१३३८ येनाङ्गविकारः[3] २ । ३ । २० ॥

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते तत तृतीया । अक्ष्णा काणः । अक्षि-संबन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः ।

१३३९ अपवर्गे तृतीया २ । ३ ६ ॥

अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वानुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम्—मासमधीतो नायातः ।

१३४० हेतौ २ । ३ २१ ॥

तृतीया । दण्डेन घटः ।

१—पितुरागमनसम्बन्धः शाब्द इति तस्य प्राधान्यम्, पुत्रस्य तु—आर्थिक इति तस्याप्राधान्यमिति ततस्तृतीया । २—ननु पुत्रेणागतः पितेत्यत्र सहादिशब्दाभावात्कथं तृतीया-इत्यत आह—'विनापि तद्योग'मिति । 'वृद्धो यूना' इति सूत्रे सहशब्दाऽयोगेऽपि तृतीयानिर्देशात् । ३—अङ्गान्यस्य सन्तीत्यङ्गम्= शरीरम्, "अर्श आद्यच्" अङ्गस्य विकार इति विग्रहः । येनेत्यनेनाङ्गं परामृश्यते । अर्थो वृत्तौ स्पष्टः । ४—काणशब्दः काणत्ववति वर्तते । स अन्वयस्तृतीयार्थः, स च काणत्वेऽन्वेति, तदाह—अक्षिसम्बन्धि ति । ५—अहनि क्रोशे वा निरन्तरमध्ययनेनानुवाको गृहीत इत्यर्थः । ६—नायातो = न गृहीतः । निरन्तराध्ययनेऽपि फलप्राप्तिर्नाभूदिति न तृतीया, किन्तु 'कालाध्वनो' रिति द्वितीयैव । ७—हेतौ = कारणे तृतीया स्यादित्यर्थः । ८—अत्र दण्डो घटम्प्रति हेतुः = कारणम् ।

१३३७—सहार्थक शब्दों के योग में अप्रधान से तृतीया होती है ।

१३३८—जिस अङ्ग के विकृत होने से अङ्गी विकृत लगता हो उस अङ्ग वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ।

१३३९—फलप्राप्ति द्योत्य हो तो काल और अध्वा के अत्यन्त योग में तृतीया होती है ।

१३४०—हेतु में तृतीया होती है ।

१३४१ इत्थंभूतलक्षणे २ । ३ । २१ ॥

तृतीया । जटाभिस्तापसः । जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः ।

१३४२ संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि २ । ३ । २२ ॥

संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा । पित्रा पितरं वा संजानीते ।

१३४३ कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम् १ । ४ । ३२ ॥

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः ।

१३४४ चतुर्थी संप्रदाने २ । ३ । १३ ॥

अनुक्ते । विप्राय गां ददाति ।(क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि संप्रदानम्) पत्ये शेते ।

१—अयम्प्रकारः—इत्थं तं प्राप्त इत्थम्भूतस्तस्य लक्षणे = ज्ञापके, प्रकार-विशेषं प्राप्तस्य ज्ञापके तृतीया स्यादित्यर्थः । २—ज्ञा- अवबोधने, इत्ययमेव गृह्यते नतु-'जनि'-प्रादुर्भाव इति, तस्याऽकर्मकत्वात् । द्वितीयापवादोऽयं तृतीयाविकल्पः । ३—अन्वर्थेयं सञ्ज्ञा । सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै तत्सम्प्रदानमिति। अत एवाह—दानस्येति—अर्थात् दानक्रियाकर्मणा कर्ता यमभिप्रैति = संबध्नाति सम्बद्धमीप्सति वा तत्कारकं सम्प्रदानमिति । तेन हस्तं निदधाति वृक्षे, इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । दानञ्चाऽपुनर्ग्रहणाय स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनम् । अत एव रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यत्र सम्प्रदानत्वन्न भवति । अत्र हि—अधीनीकरणेऽर्थे ददातिप्रयोगो भाक्त इति वृत्तिकाराः । भाष्यकारास्तु—अन्वर्थतायामाग्रहं निराकुर्वन्तः खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददातीति प्रयुञ्जते । तेन दानातिरिक्त—क्रियाकर्मणापि सम्बद्धुमिष्टस्य सम्प्रदानत्वं भवत्येव । रजकस्य वस्त्रं ददातीति प्रयोगस्तु सम्प्रदानस्य शेषत्वाविवक्षायां भविष्यति । ४—अनभिहिते सम्प्रदाने चतुर्थी स्यादित्यर्थः । ५—क्रियायाः कृत्रिमकर्मत्वाभावात् (कर्मसञ्ज्ञाभावात्) तयाऽभिप्रेयमाणस्य सूत्रेण सञ्ज्ञा न प्राप्नोति—इति वार्तिकमिदमारभ्यते । ६—शयनक्रियया पतिं सम्बद्धुमीप्सतीत्यर्थः । कर्मान्तरव्यापृतः पतिर्मदीयं शयनं दृष्ट्वा सोऽपि शयीतेत्यभिप्रायेण शयनं करोतीति भावः ।

१३४१—इत्थंभूत के ज्ञापक से तृतीया होती है ।

१३४२—संपूर्वकज्ञा-धातु के कर्म में तृतीया विकल्प से होती है ।

१३४३—कर्ता जिसको दान के कर्म से सम्बन्ध करना चाहता है (अर्थात् जिस को कुछ देना चाहता है) उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

१३४४—अनुक्त संप्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है । (क्रिया से जिस को संबद्ध करना चाहते हैं उसकी भी संप्रदान संज्ञा होती है)

१३४५ परिक्रयणे संप्रदानमन्यतरस्याम् १ । ४ । ४४ ॥

नियतकालं भृत्यास्वीकरणं = परिक्रयणं तस्मिन्साधकतमं कारकं संप्रदानं वा स्यात् । शतेन शताय वा परिक्रीतः । (तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या) मुक्तये हरिं भजति । (उत्पातेन ज्ञापिते च) । वाताय कपिला विद्युत् ।

१३४६ नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्योगाच्च २ । ३ । १६ ॥

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । (अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्) तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि ।

१३४७ ध्रुवमपायेऽपादानम् १ । ४ । २४ ॥

अपायो विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतमपादानम् ।

१—सुवर्णादि यत्किञ्चिद् द्रव्यशतेनेत्यर्थः । २—'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति सूत्रे वार्तिकमिदम् । तस्मा इदं तदर्थं तस्य भावः तादर्थ्यम्, तेनोपकार्य्योपकारकभावसम्बन्धो विवक्षितः । तत्र—उपकार्यादेव चतुर्थी । ३—मुक्त्यर्थमित्यर्थः । एवं यूपाय दारु, कुण्डलाय हिरण्यम् इति । ४—अशुभसूचक आकस्मिको भूतविकार उत्पातः । तेन सूचितेऽर्थे विद्यमानाच्चतुर्थीत्यर्थः । ५—महावातस्य सूचिकेत्यर्थः । अत्रायं समग्रः श्लोकः—

वाताय कपिला विद्युदातपायाऽतिलोहिता ।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥

६—अलमित्यनेन पर्याप्त्यर्थकशब्दानां ग्रहणमित्यर्थः । ७—प्रकृतधात्वर्थानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वं ध्रुवत्वम् । ८—अपायशब्दस्यार्थो विश्लेषः = वियोगः । ध्रुवशब्दस्याऽर्थमाह—**अवधिभूतमिति** । ध्रुवशब्दस्य स्थिरार्थत्वे तु धावतोऽश्वात्पततीत्यत्रापादानत्वं न स्यादश्वस्य स्थिरत्वाभावात् ।

१३४५—परिक्रयण (अर्थात् नियतसमय के लिये वेतनादिस्वीकरण) में साधकतम कारक की सम्प्रदान संज्ञा विकल्प से होती है ।

(तादर्थ्य में चतुर्थी होती है ऐसा कहना चाहिये) । (उत्पात से ज्ञापित अर्थ में चतुर्थी होती है ।)

१३४६—नमः स्वस्ति आदि शब्दों के योग में चतुर्थी होती है । ('अलम्' से प्रर्याप्त अर्थ लेना)

१३४७—विभाग साध्य रहते अवधिभूत कारक की अपादान संज्ञा होती है ।

१३४८ अपादाने पञ्चमी २ । ३ । २८ ॥

ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पतति इत्यादि ।

१३४९ जनिकर्तुः प्रकृतिः १ । ४ । ३० ॥

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते । (ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च)। प्रासादात्प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः ।

१३५० विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् २ । ३ । २५ ॥

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् । जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः । गुणे किम्—धनेन कुलम् । अस्त्रियां किम्—बुद्धया मुक्तः । विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित् । धूमादग्निमान् । नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ।

१३५१ पृथग्विना-नानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम् २ । ३ । ३२ ॥

एभिर्योगे तृतीया स्यात् पञ्चमीद्वितीये च । पृथग् ग्रामेण ग्रामाद् ग्रामं वा । एवं विना नाना ।

१—प्रकृतिरित्यस्य हेतुरर्थः । तदाह वृत्तौ जायमानस्येति । २—हिरण्यगर्भादित्यर्थः । ३—ल्यबन्तस्य लोपे = अदर्शनेऽप्रयोगे वा सति गम्यमानतदर्थम्प्रति कर्मणि-अधिकरणे च पञ्चमी वाच्येत्यर्थः । ४—धनं न गुणः किन्तु द्रव्यम् । तेन हेतौ तृतीयैव । ५—ननु धूमादग्निमान् इत्यादौ कथं पञ्चमी, धूमादेरगुणत्वादित्यत आह—विभाषेतियोगविभागात्. हेतौ वा पञ्चमी स्यादिति योगविभागार्थः । ६—अगुणेऽपि योगविभागात्पञ्चमी । ७—स्त्रियामपि योगविभागात्पञ्चमी । ८—विना रामेण रामाद् रामं वा, एवं नाना रामेण रामाद् रामं वा । रामस्य वर्जने सुखं नास्तीत्यर्थः । नानाशब्दस्य वर्जनमर्थः, "पृथग् विनान्तरेणर्ते हिरुङ् नाना च वर्जने" इत्यमरात् ।

१३४८—अपादान में पञ्चमी होती है ।

१३४९—उत्पद्यमान पदार्थ का कारणीभूत कारक अपादान संज्ञक होता है। (ल्यबन्त के लोप = अप्रयोग में ल्यबन्तार्थ के प्रति कर्म अथवा अधिकरण में पञ्चमी होती है) ।

१३५०—अस्त्रीलिङ्ग हेतु भूत गुण में पञ्चमी विकल्प से होती है ।

१३५१—पृथक् आदि शब्दों के योग में तृतीया होती है, पञ्चमी और द्वितीया भी होती है ।

१३५२ अन्यारादितरर्ते-दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २ । ३ । २९ ॥

अन्य इत्यर्थग्रहणम् । इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् । आरात् वनात् । ऋते कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः, तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात् । आच्, दक्षिणा ग्रामात् । आहि, दक्षिणाहि ग्रामात् ।

१३५३ अप-परी वर्जने १ । ४ । ८८ ॥

एतौ वर्जनार्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञौ स्तः ।

१३५४ आङ् मर्यादावचने १ । ४ । ८९ ॥

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः । वचनग्रहणादभिविधावपि ।

१३५५ पञ्चम्यप ङ्परिभिः २ । ३ । १० ॥

एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी । अप हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने= साहचर्यात् । लक्षणादौ तु हरिं परि । आ मुक्तेः संसारः । आसकलाद् ब्रह्म ।

१—अन्य–आरात्–इतर–ऋते–दिक्शब्द–अञ्चूत्तरपद-आच्–आहि–एतैरष्टभि-र्योगे पञ्चमी स्यादित्यर्थः । २—अन्यशब्दस्याऽन्यार्थकशब्दग्रहणोपलक्षणार्थत्वक-थनस्य प्रयोजनकथनार्थमिति यावत् । ३—वनस्य दूरं समीपं वेत्यर्थः । ४—कृष्णस्य वर्जने सुखं नास्तीत्यर्थः । क्वचिद् ऋतेशब्दयोगे 'फलति पुरुषाराधनमृते' इत्यादौ द्वितीयोपपत्तौ–आर्षत्वं शरणम् । ततोऽन्यत्रापि दृश्यत इति वा द्वितीया । चान्द्रास्तु "ऋते द्वितीया चेति" द्वितीयामपि साक्षादेव विदधति । ५—कदाचिद् दिग्वाचकानामिदानीं दिग्वाचकत्वाभावेऽपि भवति पञ्चमीत्यर्थः । ६—आच् प्रत्ययः, तदन्तयोगे पञ्चमी–उदाह्रियते । ७—आहि–इत्यपि प्रत्ययस्त-दन्तयोगे पञ्चमी । एतयोर्योगे दिक्शब्दत्वादेव पञ्चमीसिद्धौ चिन्त्यप्रयोजनम्–'आच्–आहि'–ग्रहणमिति तत्त्वबोधिनी । ८—कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञेत्यर्थः । ९—लक्षणेत्थम्भूतेत्यादिसूत्रप्रतिपादितेऽर्थे तु द्वितीयैव । १०—मुक्तेः प्रागित्यर्थः । मुक्तिपर्यन्तमिति भावः । ११—सकलमभिव्याप्य ब्रह्म वर्त्तत–इत्यर्थः ।

१३५२—अन्य आरात् इत्यादि के योग में पञ्चमी होती है ।

१३५३—'अप' और 'परि' की वर्जन अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

१३५४—आङ् की मर्यादा वचन में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

१३५५—कर्मप्रवचनीय संज्ञक अप आङ् और परि के योग में पञ्चमी होती है ।

१३५६ प्रतिः प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः १ । ४ । ९२ ॥

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात्[1] ।

१३५७ प्रतिनिधि-प्रतिदाने च यस्मात् २ । ३ । ११ ॥

अत्र कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति[3] । तिलेभ्यः[4] प्रतियच्छति माषान् ।

१३५८ षष्ठी शेषे[5] २ । ३ । ५० ॥

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः[6] शेषस्तत्र षष्ठी । राज्ञः[7] पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम्[9] । सर्पिषो[10] जानीते । मातुः स्मरति । एधोदकस्योपस्कुरुते[12] । भजे शम्भोश्चरणयोः[13] । फलानां

१—कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञक इत्यर्थः। २—मुख्यस्याभावे तत्सदृशो य उपादीयते स प्रतिनिधिः, दत्तस्य प्रतिनिर्यातनं प्रतिदानम्। एतदर्थविषये-इत्यर्थः । ३—कृष्णप्रतिनिधिः प्रद्युम्न इत्यर्थः । ४—तिलग्रहणपूर्वकं तत्समानमूल्यकमाषप्रत्यर्पणमिति बोधः। ५—उक्तादन्यः शेषः, कारकप्रातिपदिकार्थायुक्तौ, तद्व्यतिरिक्तः सम्बन्धस्तत्र षष्ठी स्यात् । ६—आदिशब्देन जन्यजनकभावोऽवयवावयविभावः पाठ्यपाठकभावादिसंबन्धश्च गृह्यते । ७—प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थम्प्रति प्राधान्याद-प्रधानादेव षष्ठी । प्रत्ययार्थस्त्विह पुरुषविशेषणमेतदभिप्रेत्येदमुच्यते-"द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्" । ८—सतां गतमित्यादौ कर्तृतृतीयादिकमाशङ्क्याऽऽह-कर्मादीनामपि । कर्मत्वकर्तृत्वादीनामपि सम्बन्धत्वसामान्यात्मना विवक्षायां षष्ठ्येव नतु कारकविभक्तय इत्यर्थः। ९—सत्सम्बन्धिगमनमित्यर्थः । कर्तृत्वाविवक्षायामिह षष्ठी। १०—सर्पिषोपायेन प्रवर्त्तते-इत्यर्थः । करणत्वस्य सम्बन्धत्वविवक्षायां षष्ठी । ११-मातृसम्बन्धिस्मरणमित्यर्थः । कर्मत्वस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी । १२—एधांश्च दकानि चेति द्वन्द्वात् षष्ठी कर्मत्वस्य शेषत्वविवक्षायाम्, एधोदकसम्बन्ध्युपस्करणमिति बोधः। १३—शम्भुचरणसम्बन्धिभजनमित्यर्थः । 'चरणयोः' कर्मत्वस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी ।

१३५६—प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

१३५७—कर्मप्रवचनीय 'प्रति' के योग में पञ्चमी होती है।

१३५८—शेष (अर्थात् कारक और प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त स्वस्वामिभावादि संबन्ध) में षष्ठी विभक्ति होती है।

तृप्तः[1]।

१३५९ कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५॥

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी। कृष्णस्य कृतिः[3]। जगतः[4] कर्ता कृष्णः (गुणकर्मणि वेष्यते[5])। नेताश्वस्य[6] स्रुघ्नं स्रुघ्नस्य वा। कृति किम्—तद्धिते मा भूत्। कृतपूर्वी कटम्।

१३६० उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।६६॥

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन्कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

१—फलसम्बन्धिनी तृप्तिरिति बोधः, करणत्वस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। २—कृद्योगे = कृदन्तशब्दप्रयोगेऽनभिहिते कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यादित्यर्थः। ३—करणम् = कृतिः, स्त्रियां क्तिन् भावे, कृष्णः कर्त्ताऽनुक्तः, तस्मिन् षष्ठी। ४—कर्मण्युदाहरणमिदम्। कर्त्तरि तृच्। अनुक्ते कर्मणि षष्ठी। कर्त्तुस्तृचाऽभिहितत्वात्ततो न षष्ठी। ५—कृदन्तद्विकर्मकधातुयोगे गुणकर्मणि = अप्रधानकर्मणि षष्ठीविकल्प इष्यत इत्यर्थः। प्रधानकर्मणि तु नित्यैव षष्ठी। ६—अत्राऽश्वः प्रधानं कर्म, स्रुघ्नस्तु कर्मत्वाऽविवक्षायाम् "अकथितञ्चे"ति गौणं कर्म, तत्र वा षष्ठी। पक्षे कर्मणि द्वितीया। ७—नन्विह कर्तृकर्मभ्यां क्रियाऽऽक्षिप्यते तद्वाची तु धातुरेव धातोश्च द्विविधाः प्रत्ययास्तिङः कृतश्च। तत्र तिङ्योगे 'कटं करोती' त्यादौ 'न लोकाव्यये'ति षष्ठीनिषेधः स्यादेव, ततश्च परिशेषात् कृद्योग एव षष्ठी भविष्यति तत्किं कृद्ग्रहणेनेति पृच्छति—कृति किमिति तत्रोत्तरम्—तद्धिते मा भूत् कृतपूर्वी कटमिति। तद्धितान्तशक्तिग्रहमात्रप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियायाः कर्त्तरि कर्मणि च माभूदित्यर्थः। कृतपूर्वी कटमित्यत्र कटः पूर्वं कृतोऽनेनेति लौकिकविग्रहः 'सुप्सुपे'ति समासः। 'सपूर्वाच्च' इतीनिप्रत्ययस्तद्धितस्तत्र करोतिक्रियापेक्षया कटस्य कर्मत्वादनेन षष्ठीप्राप्ता—तद्धितयोगान्न भवति। इति कृद्ग्रहणस्य सप्रयोजनत्वं सुस्पष्टमेव। ८—भावे कृत्प्रत्यये कर्त्तुः कर्मणश्चोभयोरप्यनुक्तत्वादुभयत्र षष्ठीप्राप्तौ नियमोऽयं कर्मण्येव नतु कर्त्तरि। ९—दोह इत्यत्र भावे घञ्, गवामिति कर्मणि षष्ठी, 'अगोपेने'ति कर्त्तरि तृतीया। अगोपकर्तृको

१३५९—कृत् के योग में अनुक्त कर्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। (गौण कर्म में उक्त षष्ठी विकल्प से होती है यह इष्टि है)

१३६०—जिस कृत्प्रत्यय के योग में कर्ता और कर्म दोनों में (अनुक्त होने से) षष्ठी की प्राप्ति हो वहाँ केवल कर्म में ही षष्ठी होती है ऐसा नियम है।

१३६१ कृत्यानां कर्तरि वा २ । ३ । ७१ ॥

षष्ठी । मया मम वा सेव्यो हरिः ।

१३६२ क्तस्य च वर्तमाने २ । ३ । ६७ ॥

वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी । न लोकेति वक्ष्यमाणनिषेधस्यापवादः । राज्ञां मतः बुद्धः पूजितो वा ।

१३६३ अधिकरणवाचिनश्च २ । ३ । ६८ ॥

क्तस्य योगे षष्ठी । इदमेषां शयितम् ।

१३६४ न लोकाव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनाम् २ । ३ । ६९ ॥

एषां योगे षष्ठी न । लादेशः—कुर्वन् कुर्वाणः सृष्टिं हरिः । उः—हरिं दिदृक्षुः,

---

गोकर्मको यो दोहः सोऽद्भुत इत्यर्थः ।

१—कृत्यानामपि कृत्सञ्ज्ञत्वात्कर्तृकर्मणोरिति नित्यप्राप्तौ विकल्पोऽयम् । कृत्यप्रत्ययान्तयोगे कर्तरि षष्ठी वा स्यादित्यर्थः । यथा–मया मम वा सेव्यो हरिः । सेव्य इत्यत्र "ऋहलोर्ण्यद्" इति कर्मणि ण्यत्प्रत्ययः, अस्मच्छब्दार्थस्य कर्तुरनभिहितत्वाद्वा षष्ठी, पक्षे तृतीया । २—"न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृना" मिति सूत्रे निष्ठासंज्ञत्वेन क्तयोगे षष्ठी निषिध्यते वर्त्तमानार्थकक्तयोगे तन्निषेधापवादोऽयमित्यर्थः । राज्ञां मत इत्यादौ "मतिबुद्धिपूजार्थे"ति वर्त्तमाने क्तः । ३—अधिकरणवाचिनः क्तस्य योगे षष्ठी स्यादित्यर्थः । इदमपि 'न लोके'ति निषेधापवादः । ४—शेतेऽस्मिन्निति शयितम् । शीङ् धातोः "क्तोऽधिकरणे चे"ति अधिकरणे क्तप्रत्ययः, एषामिति कर्त्तरि षष्ठी । ५—लश्च–उश्च–उकश्च–अव्ययञ्च निष्ठा च खलर्थश्च तृन् चेति तेषाम् । ल इति लडादीनां सामान्येन ग्रहणम् । तेषाञ्च साक्षात्प्रयोगाभावात्तदाऽऽदेशाः शत्रादयः कृत्प्रत्यया गृह्यन्ते । 'कर्तृकर्मणो' रिति प्राप्तायाः षष्ठ्या निषेधोऽयम् । ६—"लटः शतृशानचौ" इह कर्मणि षष्ठीनिषेधाद् द्वितीया । ७–दृशेः सन्नन्तात् "सनाशंसभिक्ष उ" रित्युप्रत्ययः, षष्ठीनिषेधात् कर्मणि द्वितीया ।

१३६१—कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्ता में विकल्प से षष्ठी होती है ।

१३६२—वर्तमानार्थक क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी होती है ।

१३६३—अधिकरणार्थक क्त के योग में भी षष्ठी होती है ।

११६४—लादेश, उक, अव्यय, निष्ठा (क्त क्तवतु), खलर्थ, और तृन् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी नहीं होती ।

अलङ्करिष्णुर्वा[1]। उकः-दैत्यान् घातुको[2] हरिः। (कमेरनिषेधः)[3]। लक्ष्म्याः कामुकः। अव्ययम्-जगत्सृष्ट्वा[4]। निष्ठा-दैत्यान् हतवान्[6] विष्णुः। विष्णुना हता[7] दैत्याः। खलर्थः-ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा[8]। तृन्निति[9] प्रत्याहारः। शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्य तृनो नकारात्। शानन्[10]-सोमं पवमानः। चानश्-आत्मानं मण्डयमानः। शतृ-वेदमधीयन्। तृन्-कर्ता लोकान् (द्विषः[11] शतुर्वा) मुरस्य मुरं वा द्विषन्। सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः, शेषे[12] षष्ठी तु स्यादेव, ब्राह्मणस्य कुर्वन्[13]। नरकस्य जिष्णुः[14]।

१-अत्र हरिमित्यनुषज्यते। "अलं कृञ्" इत्यादिना-इष्णुच्प्रत्यय उकारान्तः। २-"लष पते"ति हन्धातोरुकञ्प्रत्यये-उपधावृद्धौ 'हो हन्ते'रिति घत्वे'हनस्तोऽचिण्णलो'रिति तकारे घातुक इति सिद्ध्यति। ३-उकान्त-कमेर्योगे षष्ठ्या निषेधो नास्तीत्यर्थः। ४-हरिरास्ते-इति शेषः। समानकर्तृकयोरिति क्त्वाप्रत्ययः। 'क्त्वातोऽसुन्कसुन' इत्यव्ययत्वम्। ५-"क्तक्तवतू निष्ठा" तावुदाह्रियेते इत्यर्थः। ६-भूते कर्त्तरि क्तवतुः। कर्मणि षष्ठीनिषेधाद् द्वितीया। ७-अत्र "भूते" इति कर्मणि क्तः। कर्त्तरि षष्ठीनिषेधात्तृतीया। ८-खलर्थोदाहरणमिदम्। "ईषद्दुस्सु" इति कर्मणि खल्। अर्थग्रहणेन "आतो युच्" इत्यादयोऽपि खलर्था गृह्यन्ते। तेन ईषत्पानः सोमो भवता। ९-तृन्निति न केवलः प्रत्ययो गृह्यते किन्तु तृशब्दादारभ्य तृनो नकारपर्यन्तं प्रत्याहारः। १०-तृन् प्रत्याहारे शानन्-चानश्-शतृ-तृनां ग्रहणम्। ते च क्रमेणोदाह्रियन्ते। पवमान इत्यत्र 'पूङ्यजोः शानन्'। मण्डयमान इत्यत्र 'ताच्छील्यवयोवचने' इति चानश्। अधीयन्निति 'इङ्धार्य्यो' रिति शतृप्रत्ययः। कर्त्ता लोकानिति। "तृन्" इति सूत्रेण तृन् प्रत्ययः। ११-शत्रन्तद्विष्धातुयोगे षष्ठीनिषेधो वा वक्तव्य इत्यर्थः। द्विषन्निति 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः। १२-अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वेति न्यायेन कारकषष्ठ्या एव प्रतिषेधो नतु शेषषष्ठ्याः। शाब्दबोधे प्रकारवैलक्षण्यमेव फलम्। १३-हरिरिति शेषः। लटः शत्रादेशः। मुख्यतो ब्राह्मणसंबन्धिसृष्ट्यनुकूलव्यापारवानित्यर्थः। कर्मत्वाऽविवक्षायां शेषषष्ठी। कर्मत्वविवक्षायांतु द्वितीयैव स्यात्। १४-"ग्लाजिस्थश्च" इति जिधातोः ग्स्नुप्रत्ययः। नरकासुरसंबन्धिजयवानित्यर्थः। अत्रापि पूर्ववदेव शेषषष्ठी।

(उक प्रत्ययान्त कम धातु के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता)

(शतृ प्रत्ययान्त द्विष् के योग में षष्ठी निषेध विकल्पसे होता है)। (यह सब कारक षष्ठी का ही निषेध है)।

१३६५ अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः २ । ३ । ७० ॥

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न । सतः पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी । (निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्तीनांप्रायदर्शनम्) । किंनिमित्तं वसति । केन निमित्तेन । कस्मै निमित्तायेत्यादि । एवं किं कारणं, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ।

१३६६ षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २ । ३ । ३० ॥

ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि उपरिष्टात् ।

१—अकश्च–इन् च तयोरकेनोः । भविष्यच्च आधमर्ण्यञ्च तयोरिति द्वन्द्वः । यथासङ्ख्यं नेष्यते तथा व्याख्यानात् । आधमर्ण्यमकेन नान्वेत्यसंभवात् । इनेस्तूभयोरन्यः संभवात् । तदेवाह वृत्तौ–भविष्यत्यकस्येति । २—सज्जनान् पालयिष्यन् हरिः प्रादुर्भवतीत्यर्थः । 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थाया' मिति भविष्यति ण्वुल् । 'वु' इत्यस्य अकः । ३—गोष्ठं गमिष्यन्नित्यर्थः । ४—ऋणत्वेन गृहीतं शतं प्रत्यर्पयतीत्यर्थः । गामीत्यत्र 'भविष्यति गम्यादयः' इत्युक्तेरिनिप्रत्ययो बाहुलकाद्, वृद्धिः । दायीत्यत्र 'आवश्यकाधमर्ण्ययो'रिति णिनिप्रत्ययः । ५—निमित्तपर्यायाणां प्रयोगे तेभ्यस्तत्समानाधिकरणेभ्यश्च सर्वासा विभक्तीना प्रयोगो भवति प्रायेणेत्यर्थः । ६–प्रायग्रहणप्रयोजनमाह–प्रायग्रहणादिति असर्वनाम्नः=सर्वनामभिन्नात् । ७—'दक्षिणोत्तराभ्याम्' इति विहितो योऽतसुच् प्रत्ययस्तस्यार्थो दिग्देशकालरूपः, स एवार्थो यस्य सोऽतसर्थप्रत्ययस्तद्योगे षष्ठी स्यादित्यर्थः । ८—दक्षिणोत्तराभ्यामित्यतसुच्प्रत्ययः । ९—पुर इत्यत्र पूर्वशब्दादस्तात्यर्थे 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' इत्यसिप्रत्ययः पूर्वशब्दस्य पुरादेशश्च । पुरस्तादित्यत्र पूर्वशब्दादस्तातिप्रत्यये "अस्ताति चे"ति पूर्वशब्दस्य पुरादेशः । अर्थः समानः । १०— 'उपर्युपरिष्टाद्' इति सूत्रेण—ऊर्ध्वशब्दाद् रिल्प्रत्यये रिष्टातिल्प्रत्यये च प्रकृतेरुपादेशो निपात्यते, उपरि—उपरिष्टात् ।

१३६५—भविष्यदर्थक अक और भविष्यत् तथा आधमर्ण्यार्थक 'इनि' के योग में षष्ठी नहीं होती ।

(निमित्त के पर्यायवाची शब्दो के योग में प्रायः सभी विभक्तियां होती देखी जाती हैं))

१३६६—अतसर्थक प्रत्यय के योग में षष्ठी होती है ।

१३६७ एनपा द्वितीया २ । ३ । ३१ ॥

एनपेति[1] योगविभागात्षष्ठ्यपि[2] । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

१३६८ दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् २ । ३ । ३४ ॥

एतैर्योगे षष्ठी पञ्चमी[3] च । दूरं निकटं वा ग्रामस्य, ग्रामाद्वा ।

१३६९ दिवस्तदर्थस्य २ । ३ । ५८ ॥

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी । शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम्—ब्राह्मणं दीव्यति । स्तौतीत्यर्थः ।

१३७० विभाषोपसर्गे[6] २ । ३ । ५९ ॥

शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ।

१३७१ आधारोऽधिकरणम् १ । ४ । ४५ ॥

१—एनप् प्रत्ययान्तेन योगे द्वितीया स्यादित्यर्थः । २—षष्ठ्यतसर्थेति षष्ठ्या नित्यप्राप्तौ–आह–योगविभागादिति । एनपेति पृथक् सूत्रम् । तत्र षष्ठीत्यनुवर्त्तते —एनप्प्रत्ययान्तेन योगे षष्ठी स्यादित्यर्थः । ततो 'द्वितीयेति' सूत्रम् । एनबन्तेन योगे द्वितीया च स्यादित्यर्थः । ३—'एनबन्यतरस्यामदूरे पञ्चम्याः' इति सूत्रेणैनप् । ४—षष्ठ्यभावेऽपादाने पञ्चमीत्यतोऽनुवृत्ता पञ्चमीति भावः । द्वितीयातृतीये च सन्निहिते अपि न समुच्चीयेते व्याख्यानात् । ५—तच्छब्देन पूर्वसूत्रनिर्दिष्टौ व्यवहृ-पणौ परामृश्येते । तयोर्व्यवहृपणोरर्थ एवार्थो यस्येति विग्रहः । तदेवाह वृत्तौ–द्यूतार्थस्येति । ६—उपसर्गे सति व्यवहृपणार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी वा स्यादित्यर्थः ।

१३६७—एनप् प्रत्यय के योग में द्वितीया होती है, और (योग विभाग करने से) षष्ठी भी होती है ।

१३६८—दूरार्थक और समीपार्थक शब्दों के योग में षष्ठी विकल्प से होती है, पक्ष में पञ्चमी होती है ।

१३६९—द्यूतार्थ तथा क्रय विक्रयार्थक दिव् धातु के कर्म में षष्ठी होती है ।

१३७०—पूर्वोक्तार्थक सोपसर्ग दिव् धातु के कर्म में षष्ठी विकल्प से होती है ।

१३७१—कर्म और कर्ता द्वारा कर्म और कर्तृ निष्ठ क्रिया का आधार भूत कारक अधिकरण संज्ञक होता है ।

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञं स्यात् ।

१३७२ सप्तम्यधिकरणे च २ । ३ । ३६ ॥

चाद्दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको[2] वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्[5] आत्मास्ति । वनस्य दूरेऽन्तिके वा । (क्तस्येन्विषयस्य[6] कर्मण्युपसंख्यानम्) । अधीती[7] व्याकरणे । (साध्वसाधुप्रयोगे च[8]) साधुः[9] कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले । (निमित्तात्कर्मयोगे[10]) ।

> 'चर्मणि[11] द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
> केशेषु चमरी हन्ति, सीम्नि पुष्कलको हतः' ॥

१—तन्निष्ठक्रियायाः = कर्तृकर्मनिष्ठक्रियाया इत्यर्थः । २—उपश्लेषः = संयोगादिसम्बन्धः, तत्प्रयोज्य आधार औपश्लेषिकः । विषयतासम्बन्धकृत आधारो वैषयिकः । सकलावयवव्याप्तिकृत आधारोऽभिव्यापकः । ३—कर्तृद्वारकमौपश्लेषिकाधारमुदाहरति 'कटे-आस्ते' इति । कर्मद्वारकौपश्लेषिकाधारोदाहरणमिदम्, स्थाल्यां पचतीति । ४—वैषयिकाधारोदाहरणमिदम् । मोक्षस्य विषयतासम्बन्धेनाधारत्वम् । ५—अभिव्यापकाधारमुदाहरति—सर्वस्मिन्निति । ६—इन् प्रत्ययान्तो यः क्तप्रत्ययान्तस्तस्य कर्मणि सप्तमी वाच्येत्यर्थः । ७—क्तप्रत्ययान्तादिष्टादिभ्यश्चेति कर्त्तरीनिः । तत्र कर्मविशेषजिज्ञासायां व्याकरणमध्ययने कर्मत्वेनान्वेति । अधीतीत्यस्य—अधीतवानित्यर्थः पर्य्यवस्यति । कृतपूर्वी कटमितिवद् द्वितीयायां प्राप्तायामनेन सप्तमी । ८—साध्वसाधुशब्दयोगे सप्तमी वक्तव्येत्यर्थः । ९—साधुः = हितकारी । असाधुः = अहितकारी । उभयत्र शेषषष्ठ्यपवादोऽयम् । 'साधुनिपुणाभ्यामर्चायां' मित्येव सिद्धे—इह साधुग्रहणमनर्चार्थम् । १०—कर्मयोगे हेतुवाचकात्सप्तमी वाच्येत्यर्थः । निमित्तशब्देनेह फलं गृह्यते । इष्टसाधनताज्ञानप्रवर्त्तकतया फलस्यापि हेतुत्वात् । योगश्च संयोगः समवाय एव वा ग्राह्यः । ११—चर्मणीति चर्मरूपफलप्राप्त्यर्थं व्याघ्रं हन्तीत्यर्थः, चर्मद्वीपिनोः समवायः संबन्धः । दन्तयोः=

१३७२—अधिकरणकारक में सप्तमी विभक्ति होती है, दूरार्थक और समीपार्थकों से भी सप्तमी होती है ।

(इन् विषय क्त के योग में कर्म से सप्तमी होती है) । (साधु तथा -असाधु शब्द के प्रयोग में भी सप्तमी होती है) । (कर्म के साथ फल का योग हो तो निमित्त अर्थात् फल वाचक शब्द से सप्तमी होती है) ।

१३७३ यस्य च भावेन[1] भावलक्षणम् २ । ३ । ३७ ॥

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी । गोषु दुह्यमानासु गतः[2] ।

१३७४ षष्ठी चानादरे[3] २ । ३ । ३८ ॥

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्[4] । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ।

१३७५ स्वामीश्वराधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैश्च २ । ३ । ३९ ॥

एभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । गवां गोषु वा स्वामी ।

१३७६ आयुक्त-कुशलाभ्यां चासेवायाम्[5] २ । ३ । ४० ॥

दन्तार्थं कुञ्जरम् = हस्तिनं हन्तीति, अत्रापि समवाय एव, दन्तयोरवयवत्वात् । चमरीम् = तदाख्यमृगविशेषं केशेषु = केशार्थं हन्ति, सीम्नि = अण्डकोशप्राप्त्यर्थं (तत्र कस्तूरिकासत्त्वात्) पुष्कलकः = गंधमृगो हतः । यद्वा-सीम्नि = सीमा-वाप्त्यर्थं पुष्कलकः = ग्राममुख्यो हतः ।

१—सूत्रे भावशब्दौ क्रियापर्यायौ तथैवाह वृत्तौ । २—देवदत्तः कदा गत इति प्रश्ने-उत्तरमिदम् । गवां दोहनक्रियया गमनक्रिया लक्ष्यते, इति गोशब्दात्सप्तमी तद्विशेषणत्वेन दुह्यमानशब्दादपि सप्तमी । ३—भावलक्षणे-इत्यस्य क्रियया क्रिया-न्तरलक्षणे इत्यर्थः । अनादरे गम्यमाने सति यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः षष्ठी सप्तमी चेत्यर्थः । ४—कदा संन्यस्तवानिति प्रश्ने-उत्तरमिदम् । अनादरवि-शिष्टं-प्रव्रजनं धात्वर्थः । वाक्यार्थबोधमाह-रुदन्तं पुत्रादिकमिति । ५—आसेवा-यामित्यस्य तात्पर्यमर्थः औत्सुक्यमिति भावः । 'तत्परे प्रसितासक्ताविष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः ।

१३७३—जिसकी क्रिया से किसी अन्य क्रिया की प्रतीति हो उससे सप्तमी होती है ।

१३७४—अनादराधिक्य गम्य हो तो भावलक्षण अर्थ में षष्ठी और सप्तमी होती है ।

१३७५—स्वामी आदि शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी होती है ।

१३७६—आयुक्त और कुशल शब्द के योग में षष्ठी और सप्तमी होती है आसेवा गम्य रहते ।

आभ्यां योगे षष्ठी सप्तम्यौ स्तः। आयुक्तो = व्यापारितः[1]। आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा। आसेवायां किम्। आयुक्तो नौः शकटे। ईषद्युक्त इत्यर्थः।

१३७७ यतश्च निर्धारणम् २। ३। ४१॥

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं यतस्ततः[2] षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः[3]। गवां गोषु वा कृष्णा[4] गौर्बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन्[5] शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः[6] पटुः।

१३७८ पञ्चमी विभक्ते[7] २। ३। ४२॥

विभागो = विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी। माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः।

१३७९ साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः[8] २। ३। ४३॥

मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम्—निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्। (अप्रत्यादिभिरिति[9] वक्तव्यम्)। साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा।

१३८० अधिरीश्वरे १। ४। ९७॥

१—आयुक्तः = व्यापारितः प्रवर्तित इत्यर्थः। २—जात्या गुणेन क्रियया सञ्ज्ञया वा पृथक्करणे—इत्यर्थः। ३—जात्या पृथक्करणमुदाहरति। अत्र ब्राह्मणत्वेन जात्या पृथक्करणम्। ४—अत्र कृष्णवर्णेन गुणेन पृथक्करणम्। ५—अत्र धावनक्रियया पृथक्करणम्। ६—अत्र मैत्रसञ्ज्ञया पृथक्करणम्। ७—विभक्ते—इत्यत्र भावे क्तप्रत्ययः, यतश्च निर्धारणमित्यनुवर्त्तते। यत्र निर्धारणावधेर्निर्धार्यमाणस्य च भेदः स्यात् नतु केनाप्युपात्तरूपेणाभेदस्तत्रैवास्य प्रवृत्तिरित्यर्थः। ८—शेषषष्ठ्यपवादोऽयम्। ९—प्रति-परि-अनु-एतैर्योगे सति साधुनिपुणाभ्यां योगेऽपि न सप्तमीति भावः।

१३७७—जाति गुण क्रिया और संज्ञा द्वारा पृथक्करण करने में षष्ठी और सप्तमी होती है।

१३७८—निर्धार्यमाण का जहां भेद ही हो वहां पञ्चमी होती है।

१३७९—साधु और निपुण शब्द के योग में पूजा गम्य रहते सप्तमी होती है, प्रति शब्द का साथ प्रयोग न हो तो। (प्रति परि अनु इन के प्रयोग में सप्तमी नहीं होती ऐसा कहना चाहिये)

१३८०—स्वस्वामि सम्बन्ध में 'अधि' कर्मप्रवचनीय संज्ञक होता है।

स्वस्वामिसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयः[1]।

१३८१ यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २ । ३ । ६ ॥

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी। उपपरार्धे हरेर्गुणाः परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधिभुवि रामः। अधिरामे भूः।

॥ इति विभक्त्यर्थाः (कारकाणि) ॥

अथ समासप्रकरणम् ।

समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः। स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः[6] प्रथमः। प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः। प्रायेण-

१—कर्मप्रवचनीया इत्यधिकारः। ईश्वरशब्दः स्वामिवाचकः। ततो लभ्यते इदम्। २—अधिकार्थे च कर्मप्रवचनीययोगे सप्तमी। ३—अन्यतरस्मादुत्पन्नयैव सप्तम्या तदितरनिष्ठसम्बन्धस्याप्युक्तत्वाद् युगपदुभाभ्यां न सप्तमीति भावः।

४—अत्रायं सप्त-विभक्ति प्रयोग-सङ्ग्रहश्लोकः—

कृष्णो रक्षतु नो जगत्त्रयगुरुः कृष्णं नमस्याम्यहम्
कृष्णेनाऽमरशत्रवो विनिहताः कृष्णाय तस्मै नमः ॥
कृष्णादेव समुत्थितं जगदिदं कृष्णस्य दासोऽस्म्यहम्
कृष्णे तिष्ठति सर्वमेतदखिलं हे कृष्ण ! रक्षस्व माम् ॥ १ ॥

[कुलशेखरस्य]

इति श्रीप्रभाकरीविवृतौ मध्यकौमुदीटीकायां विभक्त्यर्थाः (कारकाणि)।

अथ समासप्रकरणम् ।

५—अनेकपदानाम् एकीभवनमित्यर्थः। ६—यथा—भूतपूर्वः। ७—यथा—अधिहरि। ८—यथा—राजपुरुषः। ९—यथा—नीलोत्पलम्। १०—यथा—पञ्चगवम्।

१३८१—अधि कार्य और ऐश्वर्यार्थक कर्म प्रवचनीय के योग में सप्तमी होती है। इति विभक्त्यर्थाः।

अथ समासाः।

समास पाँच प्रकार का होता है। अनेक पदों के एकपदीभाव को समास कहते हैं। (१) विशेष संज्ञारहित केवल समास होता है। (२) प्रायः पूर्वपदार्थ प्रधान अव्ययीभाव होता है। (३) प्रायः उत्तरपदार्थ प्रधान तत्पुरुष होता है।

न्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः । प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः ।

१३८२ समर्थः पदविधिः २ । १ । १ ॥

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः ।

१३८३ प्राक्कडारात् समासः २ । १ । ३ ॥

कडाराः कर्मधारये इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ।

१३८४ सह सुपा २ । १ । ४ ॥

सुप् सुपा सह वा समस्यते । समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुपो लुक् । परार्थाभिधानं = वृत्तिः । कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं = विग्रहः । स च लौकिकोऽलौकिकश्च द्विधा । तत्र पूर्वं भूत इति लौकिकः । पूर्व अम् भूत सु इत्यलौकिकः । भूतपूर्वः । भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात्पूर्वनिपातः । (इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च) । वागर्थौ इव वागर्थाविव । इति केवलसमासः ।

१—यथा—लम्बकर्णः, पीताम्बरः । २—यथा—रामलक्ष्मणौ, धवखदिरौ । ३—सामर्थ्यं द्विविधम्, व्यपेक्षारूपं, एकार्थीभावरूपं च, तत्र—आकाङ्क्षादिवशात् पदानां परस्परसंबन्धो व्यपेक्षा, तद्रूपं सामर्थ्यं वाक्य एव भवति यथा—'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ । अपृथगुपस्थितिविषयत्वमेकार्थीभावत्वम् = (एकार्थीभावरूपं सामर्थ्यम्) । तच्च समासादिवृत्तावेव भवतीति बोध्यम् । ४—प्राक्कडारादिति—'प्राक्कडारात्'इत्येव 'प्राग्' इति सिद्धे प्राग्ग्रहणमेकसञ्ज्ञाधिकारेऽपि—अव्ययीभावादिसञ्ज्ञासमुच्चयार्थमिति भाष्ये स्पष्टम् । सम्पूर्वकस्य—अस्यतेरेकीकरणात्मकः संक्षेपोऽर्थः । समस्यतेऽनेकं पदमिति समासः । "अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्" इति कर्मणि घञ् । अत एव मूले समस्यते इति वक्ष्यते । तथा च—अन्वर्थेयं संज्ञा । ५—"सुबामन्त्रिते" इत्यतः सुबित्यनुवर्त्तते । सुबन्तेन सहोच्चारितं समाससंज्ञं भवतीति फलति । ६—प्रयोगयोग्यो लौकिकस्तद्भिन्नोऽलौकिकः । ७—"हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन् ! मातेव हितकारिणीम्" इति तु समासेऽसमासेऽपि च—उपमानोपमेय-

---

(तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय है) (४) अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि होता है । (५) प्रायः उभय पदार्थ प्रधान द्वन्द्व होता है ।

१३८२—पद संबन्धी विधि को समर्थाश्रित जानना चाहिए ।

१३८३—"कडाराः कर्मधारये" सूत्र के पहले 'समास' का अधिकार है ।

१३८४ सुबन्तों का सुबन्तों के साथ समास होता है विकल्प से ।

(वा०—इव के साथ समास होता है और विभक्ति का लोप नहीं होता) ।

अथाव्ययीभावसमासः ।

१३८५ अव्ययीभावः २ । १ । ५ ॥

अधिकारोऽयं प्राक्तत्पुरुषात् ।

१३८६ अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथानुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-संपत्ति-साकल्यान्तवचनेषु २ । १ । ६ ॥

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन नित्यं समस्यते । प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणास्वपदविग्रहो वा । विभक्तौ–हरि ङि अधि इति स्थिते ।

१३८७ प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् । १ । २ । ४३ ॥

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनं स्यात् ।

१३८८ उपसर्जनं पूर्वम् २ । २ । ३० ॥

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम् । इत्यधेः प्राक् प्रयोगः । सुपो लुक् । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः । अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक् । अधिहरि ।

योर्भिन्नविभक्तिकत्वाद् असाध्वेव । मातरमिवेति भवितव्यम् ।

१—न स्वपदैर्विग्रहो यत्र । २—ननु समासे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनमिति व्याख्यानमयुक्तम्, समासे सति "सुपो धातु" इति प्रथमाया लुप्तत्वात् । समासे चिकीर्षिते प्रथमानिर्दिष्टमिति व्याख्याने तु कृष्णं श्रितः 'कृष्णश्रितः' इत्यत्र विग्रहे कृष्णशब्दस्य द्वितीयानिर्दिष्टत्वाद् उपसर्जनत्वं न स्यात् । अतो व्याचष्टे—समासशास्त्रे इति । समासपदं समासविधायकशास्त्रपरमिति भावः ।

३—'अधि' इत्युपसर्गस्य । ४—'सुपोधातु' इति सूत्रेण । ५—सप्तम्यर्थस्यैवात्र द्योतकोऽधिः । हरौ इत्यधिहरि 'अव्ययीभावश्चे' ति अव्ययत्वात्सुपो लुक् । अदन्तत्वाभावान्नाम्भावः । विभक्तावुदाहरणमिदम् ।

अथ अव्ययीभावः

१३८५—'अव्ययीभाव' इसका तत्पुरुष तक अधिकार है ।

१३८६—विभक्त्यादि अर्थों में अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास होता है वह अव्ययीभाव कहलाता है ।

१३८७—समास शास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट की उपसर्जन संज्ञा होती है ।

१३८८—समास में उपसर्जन का पूर्वनिपात होता है ।

१३८९ अव्ययीभावश्च २ । ४ । १८ ॥

नपुंसकं स्यात् । गाः पातीति गोपाः तस्मिन्नित्यधिगोपम् ।

१३९० नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः २ । ४ । ८३ ॥

अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम्[२] ।

१३९१ तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २ । ४ । ८४ ॥

अदन्तादव्ययीभावात् तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः । उपकृष्णेन उपकृष्णम् । बहुलग्रहणात्, सुमद्रमुन्मत्तगङ्गमित्यादौ नित्यमम्भावः । मद्राणां समृद्धिः = संमद्रम्[३] । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम्[४] । मक्षिकाणामभावो = निर्मक्षिकम्[५] । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम्[६] । निद्रा संप्रति न युज्यतेऽतिनिद्रम्[७] । हरिशब्दस्य प्रकाशः इतिहरि[८] । विष्णोः पश्चादनुविष्णु[९] । योग्यता–वीप्सा-पदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः[१०] । रूपस्य योग्यमनुरूपम्[११] । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्[१२] । शक्तिमनतिक्रम्य

१—विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासे सुब्लुकि नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वे सति । "नाव्ययीभावाद्" इत्यमि पूर्वरूपमिति भावः । २—समीपोदाहरणमिदम् । एतत्सूत्रविहितसमासस्य नित्यतयाऽस्वपदविग्रहः, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । अत्र समस्यमानस्य–उपशब्दस्य स्थाने समीपमिति प्रयुक्तम् । ३—'सम्' इत्यव्ययपर्यायः समृद्धिशब्दो विग्रहवाक्ये बोध्यः । ४—विगता ऋद्धिः = व्यृद्धिः "दुर्" शब्दार्थकोऽत्र व्यृद्धिशब्दः । ५—विग्रहे 'निर्' शब्दसमानार्थकमभावपदमिति भावः । ६—अत्ययः = ध्वंसः । 'अति'–इत्यव्ययपर्यायोऽत्ययशब्दो विग्रहे ज्ञेयः । ७—'अति' इत्यव्ययस्याऽसम्प्रत्यर्थकस्य स्थाने 'सम्प्रति न युज्यते' इति विग्रहवाक्यं बोध्यम् । ८—'इति' इत्यव्ययं शब्दप्रकाशे वर्त्तते । तस्य हरिशब्देन स्वरूपपरेण षष्ठ्यन्तेन समास इति भावः । ९—'अनु' इत्यव्ययं पश्चादर्थे वर्तते इत्यर्थः । १०—'यथा' शब्दस्यार्था इत्यर्थः । ११—अत्र 'अनु' इत्यव्ययं योग्यतायां वर्त्तते । अतो यथार्थ इति भावः । १२—अत्र (विग्रहे) वीप्सायां द्विर्वचनम् । "लक्षणे-

---

१३८९—अव्ययीभाव समास नपुंसकलिंग में होता है ।

१३९०—अदन्त अव्ययीभाव से परे सुप् का लुक् नहीं होता, किन्तु उसको अमादेश हो जाता है पञ्चमी विभक्ति को छोड़ कर ।

१०९१—अदन्त अव्ययीभाव से तृतीया और सप्तमी को बहुलता से अम्भाव होता है ।

यथाशक्ति ।

१३९२ अव्ययीभावे चाकाले ६ । ३ । ८१ ॥

सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहरि[३] । काले तु सहपूर्वाह्णम्[२] । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम्[४] । चक्रेण युगपत् सचक्रम्[६] । सदृशः सख्या ससखि[७] । क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम्[८] । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणम् अत्ति, साकल्येनेत्यर्थः[९] । अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि[१०] ।

१३९३ यथाऽसादृश्ये २ । १ । ७ ॥

असादृश्ये एव यथाशब्दः समस्यते । नेह—यथा हरिस्तथा हरः ।

१३९४ यावदवधारणे[११] २ । १ । ८ ॥

त्थम्भूताख्यान" इति वीप्सायां द्योत्यायां प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया (विग्रहे)। समासे तु द्विर्वचनन्न, समासेन वीप्साया द्योतितत्वात् ।

१—अत्र 'यथा' इत्यव्ययं पदार्थानतिक्रमे वर्त्तते–इत्यर्थः । अव्ययत्वात्सुपो लुक् । २–कालवाचके परे सहस्य सो नेत्यर्थः । ३—अत्र 'सह' इत्यव्ययं सादृश्ये वर्त्तते–इति भावः । ४–अत्र सामीप्यादावव्ययीभावः । ५–कार्यं कृतमिति शेषः । ६—युगपत्पर्यायस्य सहशब्दस्य चक्रेण–इत्यनेन समासः । ७—'सह' इत्यव्ययं सदृशार्थकमिति भावः । ८—क्षत्रियाणामनुरूपं कर्मेत्यर्थः । 'सह' इत्यव्ययमत्र सम्पत्तौ वर्त्तते–इति भावः । ननु सम्पत्तिसमृद्धिशब्दयोः को भेदः ? इति चेच्छृणु–ऋद्धेः = धनधान्यादेराधिक्यं = समृद्धिः । अनुरूपः = योग्यः आत्मभावः = स्वोचितं कर्म सम्पत्तिरिति भेदः । ९—तृणशब्दोऽत्राऽपरिवर्जने वर्त्तते । नतु तृणसहभावेऽपीति भावः । नन्वेवं सति साकल्ये कथमिदमुदाहरणं स्यादित्यत आह—साकल्येनेत्यर्थ इति । पात्रे परिविष्टं सकलं भक्षयतीति यावत् । १०—अन्ते,—उदाहरणमिदम् । सूत्रेऽन्तशब्देन अन्तावयवसाहित्यं विवक्षितमित्यभिप्रेत्योदाहरति–अग्निग्रन्थपर्यन्तेति । अत्र कृत्स्नस्यानध्येतव्यत्वाद् अग्निग्रन्थपर्यन्ताध्ययने तत्कात्स्न्याभावमात्साकल्यात्पृथगुक्तिः । ११—इयत्तापरिच्छेदे गम्ये 'यावत्' इत्यव्ययं समस्यते सोऽव्ययीभाव इति सूत्रार्थः । अवधारणे किम् ? यावद्दत्तं तावद्भुक्तम् । इयद्भुक्तमिति नावधारयतीत्यर्थः ।

१३९२—सह को स आदेश होता है अव्ययीभाव में काल को छोड़ कर ।

१३९३—'यथा' शब्द सादृश्यभिन्न अर्थ में ही समास को प्राप्त होता है ।

१३९४—अवधारण अर्थ में ही यावत् शब्द का समास होता है ।

यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा इति—यावच्छ्लोकम्।

१३९५ सुप्प्रतिना मात्रार्थे २।१।९॥

शाकस्य लेशः शाकप्रति।

१३९६ विभाषा २।१।११॥

अधिकारोऽयम्।

१३९७ अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या २।१।१२॥

अप विष्णु संसारः। अप विष्णोः। परि विष्णु। परि विष्णोः। बहिर्वनम्। बहिर्वनात्। प्राग्वनम्। प्राग्वनात्।

१३९८ तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च २।१।१७॥

एतानि निपात्यन्ते। तिष्ठन्त्यो गावो यस्मिन्काले स तिष्ठद्गु दोहनकालः।

१३९९ पारे मध्ये षष्ठ्या वा २।१।१८॥

पारमध्येशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते। एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते। पारेगङ्गम्। गङ्गापारम्। मध्यगङ्गम्। गङ्गामध्यम्। महाविभाषया वाक्यमपि।

१—सुपितिच्छेदः। मात्रा=लेशः। तस्मिन्नर्थे विद्यमानेन प्रतिना सुबन्तं समस्यत इत्यर्थः। २—अत्र 'अप' इत्यव्ययं वर्जने। विष्णुं वर्जयित्वा संसरणमित्यर्थः। 'अपपरी वर्जने' इति–अपेत्यव्ययस्य कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी। तदन्तेन अपेत्यस्याऽव्ययीभावसमासः, सुब्लुक्। अपेत्यव्ययस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात्पूर्वनिपातः। समासात्सुबुत्पत्तिः "अव्ययादाप्सुपः" इति लुक्। एवं यथायथमग्रेऽपि ज्ञेयम्। परिविष्णु अत्रापि परिर्वर्जने। पञ्चम्यादि पूर्ववत्। ३—अस्मादेव ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी। इतरत्पूर्ववत्। अदन्तत्वादम्भावः। ४—अञ्चूत्तरपदयोगे पञ्चमी। ५—इह शत्रादेशः 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत् 'तिष्ठद्गो' शब्दस्य गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः।

१३९५—मात्रा अर्थ में विद्यमान प्रति शब्द के साथ सुबन्त का समास होता है।

१३९६—'विभाषा' यह अधिकार सूत्र है।

१३९७—अप-परि आदि का पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प से समास होता है।

१३९८—तिष्ठद्गु आदि शब्द समस्त निपातित हैं।

१३९९—पार और मध्य शब्द का षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और दोनों शब्द एदन्त निपातित हैं।

१४०० संख्या वंश्येन २ । १ । १९ ॥

वंशो[1] द्विधा विद्यया जन्मना च । तत्र भवो वंश्यः, तद्वाचिना सह संख्या समस्यते । द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि । व्याकरणस्य त्रिमुनि । विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां तु त्रिमुनि = व्याकरणम् । एकविंशति भारद्वाजम्[2] ।

१४०१ नदीभिश्च २ । १ । २० ।

नदीभिः संख्या वा समस्यते । (समाहारे चायमिष्यते) । पञ्चगङ्गम्[3] द्वियमुनम्[4] ।

१४०२ अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् २ । १ । २१ ॥

अन्यपदार्थे सुबन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते संज्ञायाम् । विभाषाधिकारेऽपि वाक्येन संज्ञानवगमादिह[5] नित्यसमासः । उन्मत्तगङ्गं नाम देशः । लोहितगङ्गम् ।

१४०३ तद्धिताः ४ । १ । ७६ ॥

आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् ।

१४०४ अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५ । ४ । १०७ ॥

शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपमुपशरदम्[6] । प्रति-

---

१—वंशः = सन्ततिः । २—अथ जन्मना वंशमुदाहरति—एकविंशतीति । एकविंशतिर्भारद्वाजा इति कर्मधारयं बाधित्वाऽव्ययीभावः । ३—पञ्चानां गङ्गानां समाहार इति विग्रहे "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इति द्विगुसमासं बाधित्वाऽव्ययीभावसमासः । ४—द्वयोर्यमुनयोः समाहार इति विग्रहः । अत्र नदीशब्देन नदीशब्दविशेषस्य नदीवाचकनाम्नश्च ग्रहणमिति संख्यासञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । तेन पञ्चनदम्, सप्तगोदावरम्, इत्यादि सिद्ध्यति । ५—सम्यग् ज्ञायते-इति सञ्ज्ञा । उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्निति वाक्येन देशविशेषस्यानवगमादिह नित्यसमास इत्यर्थः । ६—'अव्ययं विभक्ति...' इत्यादिना समीपार्थकस्य उपेत्यव्ययस्य 'शरदः' इति

१४००संख्या वाचक शब्द का वंश्य शब्द के साथ समास होता है ।

१४०१—संख्या वाचक शब्दों का नदी वाचक शब्दों के साथ समास होता है । (यह समास समाहार में ही इष्ट है)

१४०२—अन्य पदार्थ प्रधान रहते सुबन्त का नदी वाचकों से नित्य समास होता है संज्ञा गम्य हो तो ।

१४०३—'तद्धिताः' पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक अधिकार है ।

१४०४—शरदादि शब्दों से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है अव्ययीभाव में ।

विपाशम् । शरत् । विपाश् । अनस् । मनस् । उपानह् । दिव् । हिमवत् । अन-डुह् । दिश् । दृश् । विश् । चेतस् । चतुर् । त्यद् । तद् । यद् । कियत् । 'जराया जरस् च' (ग. सू.) उपजरसम् ।

१४०५ अनश्च ५ । ४ । १०८ ॥

अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच् ।

१४०६ नस्तद्धिते ६ । ४ । १४४ ॥

नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् ।

१४०७ नपुंसकादन्यतरस्याम् ५ । ४ । १०९ ॥

अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट्टच् वा स्यात् । उपचर्मम् । उपचर्म ।

१४०८ झयः ५ । ४ । १११ ॥

झयन्तादव्ययीभावाट्टच् वा स्यात् । उपसमित् । उपसमिधम् ।

१४०९ नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ५ । ४ । ११० ॥

षष्ठयन्तेनाऽव्ययीभावः, टच्, टचः समासावयवत्वेन तदन्तस्याऽव्ययीभावसमा-सत्वात् 'नाव्ययीभावाद्' इत्यम् । अत्र झयन्तानां 'झयः' इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थो गणपाठः ।

१—जरायाः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये उपेत्यव्ययस्य जराया इति षष्ठयन्ते-नाऽव्ययीभावसमासे कृते टच्, सुब्लुक्, उपेत्यस्य पूर्वनिपातः । टचो विभ-क्तित्वाभावात्तस्मिन् परे अप्राप्ते जरसि—अनेन (गण-सूत्रेण) जरस् । टजन्ताद् यथायथं सुपोऽम्भावः । २—राज्ञः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये—उपेत्यव्ययस्याऽव्ययी-भावः । "अनश्चेति" टच्, सुब्लुक्, टिलोपः, उपराज—शब्दाद् यथायथं सुप्, अम्भावः । ३—आत्मनीत्यर्थः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शेषं पूर्ववत् । ४—सामीप्ये—चर्मणः समीपमित्यर्थः । उपेत्यव्ययस्याऽव्ययीभावः । टचि, टिलोपः, अम्भावः । टजभावे—उपचर्मेति रूपम् ।

१४०५—अन्नत अव्ययीभाव से 'टच्' प्रत्यय होता है ।

१४०६—नान्त भसंज्ञक की टि का लोप होता है तद्धित परे रहते ।

१४०७—अन्नन्त जो क्लीब, तदन्त अव्ययीभाव से 'टच्' होता है विकल्प से ।

१४०८—झयन्त अव्ययीभाव से 'टच्' होता है ।

१४०९—नदी आदि शब्दों से समासान्त 'टच्' प्रत्यय विकल्प से होता है ।

वा टच् स्यात् । उपनदम्[1] । यस्येति चेति इलोपः । उपनदि[2] ।

१४१० गिरेश्च सेनकस्य ५ । ४ । ११२ ॥

टच् वा स्यात् उपगिरम्[3] । उपगिरि । (प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः)। टच् स्यात् । अक्ष्णोऽभिमुखं प्रत्यक्षम्[4] । अक्ष्णः परं परोक्षम्[5] । अर्ते एव समासः । परोक्षे लिडिति निपातनात्परस्यौकार इत्यादि । इत्यव्ययीभावः ॥

अथ तत्पुरुषसमासः

१४११ तत्पुरुषः २ । १ । २२ ।

अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः ।

१४१२ द्विगुश्च २ । १ । २३ ।

तत्पुरुषसंज्ञः ।

१४१३ द्वितीया-श्रितातीत-पतित-गतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः २ । १ । २४ ।

१—नद्याः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये-उपेत्यव्ययस्याव्ययीभावसमासः, टच् , 'यस्येति च' इतीकारलोपः । उपनदशब्दात् सुप् , अम्भावः । २—टजभावे उपनदि इति रूपम् , नपुंसकह्रस्वः । 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुक् । ३—सेनको नामाचार्यः । गिरेः समीपमित्यर्थः । टचि, यस्येति चेतीकारलोपेऽम्भावः । ४—अक्षिणी प्रतीति विग्रहः । अक्ष्णोरभिमुखमित्यर्थः । 'लक्षणेत्थं...' कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया । 'लक्षणेनाभिप्रती' इत्यव्ययीभावः, टच् , सुब्लुक् , यस्येति चेतीकारलोपः । प्रत्यक्षशब्दाद् यथायथं सुबुत्पत्तिः, अम्भावः । ५—अक्ष्णः परमिति विग्रहे परमित्यस्य अक्षीत्यनेनाऽव्ययीभावसमासः टच् , सुब्लुक् । परशब्दस्य ओकारोऽन्तादेशः पूर्वरूपम् । परोक्षाद् यथायथं सुबम्भावः । ६—समासान्तविधानसामर्थ्यादेव । ॥ इत्यव्ययीभावः ॥

१४१०—गिरिशब्द से समासान्त 'टच् ' प्रत्यय विकल्प से होता है ।

(प्रति, पर, सम् , और अनु पूर्वक अक्षि शब्द से समासान्त 'टच् ' प्रत्यय होता है)' इत्यव्ययीभावः । अथ तत्पुरुषः

१४११—'शेषो बहुव्रीहिः' सूत्र से पूर्व तक 'तत्पुरुषः' का अधिकार जाता है ।

१४१२—द्विगु की भी तत्पुरुष संज्ञा होती है ।

१४१३—द्वितीयान्त का श्रितादि प्रकृतिक सुबन्त समर्थ के साथ विकल्प से समास होता है और वह समास तत्पुरुष संज्ञक होता है ।

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते । कृष्णं श्रितः, कृष्णश्रितः । इत्यादि ।

१४१४ तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २ । १ । ३० ।

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थेन च सह प्राग्वत् । शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः । धान्येनार्थो धान्यार्थः । तत्कृतेति किम्—अक्ष्णा काणः ।

१४१५ पूर्व-सदृश-समोनार्थ-कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्णैः २।१।३१॥

तृतीयान्तमेतैः प्राग्वत् । मासपूर्वः । मातृसदृशः । पितृसमः । ऊनार्थे माषोनं = कार्षापणम् । माषविकलम् । वाक्कलहः । आचारनिपुणः । गुडमिश्रः । आचारश्लक्ष्णः । (अवरस्योपसंख्यानम्) । मासावरः ।

१—द्वितीया हि प्रत्ययरूपा, 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' तदाह द्वितीयान्तम् । २—दुःखमतीतः, दुःखातीतः । गर्तं पतितः, गर्तपतितः । ग्रामं गतः, ग्रामगतः । ग्राममत्यस्तः = अतिक्रान्तः, ग्रामात्यस्तः । ग्रामं प्राप्तः, ग्रामप्राप्तः । संशयमापन्नः—संशयापन्नः । ३—'तत्कृत' इति लुप्ततृतीयाकम् । ४—देवदत्त इति शेषः । शङ्कुलयेति करणे तृतीया । शङ्कुलाकृतखण्डनक्रियावानित्यर्थः । ५—अर्थशब्दो धनपरः । हेतौ तृतीया । धान्यहेतुकं धनमित्यर्थः । अत्र धनस्य धान्यहेतुकत्वेऽपि तत्करणकत्वाभावादप्राप्तौ पृथगुक्तिः । 'धान्येन' इति प्रकृत्यादित्वात्तृतीया । ६—न ह्यक्ष्णा काणत्वं कृतं, किन्तु रोगादिनेति भावः । 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीया । गुणवचनेति किम् ? 'गोभिर्वपावान्' गोसम्बन्धिक्षीरादिभोजनेन (देवदत्तस्य) वपावत्त्वमित्यस्ति तत्कृतत्वम् । किन्तु न गुणवचनोऽसौ । ७—मासेन पूर्व इति विग्रहः । मासात् प्रागुत्पन्न इत्यर्थः । एवम्—मात्रा सदृशः । पित्रा समः, तुल्यार्थैरिति तृतीया । ऊनार्थे उदाहरणसूचनमिदम् । माषेणोनम् । अर्थग्रहणञ्च—ऊनेनैव सम्बध्यते, नतु पूर्वादिभिरपि, समसदृशयोः पृथगुपादानात् । अर्थग्रहणस्य प्रयोजनमाह—माषविकलमिति माषेण विकलमिति विग्रहः, हीनमित्यर्थः । वाचा कलहः । आचारेण निपुणः । गुडेन मिश्रः । आचारेण श्लक्ष्णः । ८—मासेन पूर्व इत्यर्थः, न्यून इत्यर्थे—ऊनार्थकत्वादेव सिद्धम् ।

१४१४—तृतीयान्त का तृतीयान्तार्थ से किए गुण वचन के साथ और अर्थ शब्द के साथ समास होता है विकल्प से ।

१४१५—तृतीयान्त का पूर्व सदृश आदि शब्दों के साथ समास होता है विकल्प से ।

१४१६ अन्नेन व्यञ्जनम् २ । १ । ३४ ॥

संस्कारकद्रव्यवाचकं तृतीयान्तमन्नेन सह प्राग्वत् । दध्ना उपसिक्तमोदनं दध्योदनम् ।

१४१७ भक्ष्येण मिश्रीकरणम्[1] २ । १ । ३५ ॥

गुडेन मिश्रा धाना गुडधानाः ।

१४१८ कर्तृकरणे कृता बहुलम्[2] २ । १ । ३२ ॥

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः । नखभिन्नः[3] ।

❀ कृद्ग्रहणे गति-कारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ❀

नखनिर्भिन्नः[4] ।

१४१९ चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित सुख रक्षितैः २ । १ । ३६ ॥

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिनार्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं प्राग्वत् । यूपाय दारु यूपदारु । तदर्थेन प्रकृतिविकारभाव एवेष्टः । तेनेह न—रन्धनाय स्थाली[5] । अश्व-

---

१—मिश्रीक्रियते खाद्यं द्रव्यमनेनेति मिश्रीकरणं गुडादि । तद्वाचकं तृतीयान्तं भक्ष्यवाचकेन सह समस्यते—इत्यर्थः । कठिनद्रव्यं खाद्यम् । २—बहुलग्रहणं सर्वोपाधिव्यभिचारार्थम् । तेन 'दात्रेण लूनवान्' इत्यादौ न । ३—नखैर्भिन्न इति विग्रहः । ४—इदं गतिपूर्वस्योदाहरणम् । कारकपूर्वस्य तु 'अवतप्ते नकुलस्थितम्' इति बोध्यम् । ५—नात्र स्थाल्या विकृतिभावः (विपरिणामः) ।

१४१६—व्यञ्जन वाचक तृतीयान्त का अन्न वाचक सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है ।

१४१७—मिश्रीकरण गुडादि वाचक तृतीयान्त का भक्षणीय वाचक सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है ।

१४१८—कर्तृतृतीयान्त और करण तृतीयान्त का समर्थ कृदन्त सुबन्त के साथ बहुलता से समास होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है ।

(वा०—कृत् के ग्रहण में गति-कारकपूर्वक शब्दों का भी ग्रहण होता है ।)

१४१९—चतुर्थ्यन्तार्थ के लिये जो पदार्थ, तद्वाचक शब्द के साथ और अर्थादियों के साथ चतुर्थ्यन्त का समास होता है विकल्प से ।

(वा०—(१) तदर्थ से प्रकृति-विकृति भाव ही लिया जाता है । (२) अर्थ

घासादयस्तु षष्ठीतत्पुरुषाः । (अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्) । द्विजायायं द्विजार्थः सूपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् ।

१४२० पञ्चमी भयेन २ । १ । ३७ ॥

चोराद्भयं चोरभयम् ।

१४२१ स्तोकान्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि क्तेन २ । १ । ३९ ॥

१४२२ पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६ । ३ । २ ॥

अलुगुत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्याशादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्रादागतः ।

१४२३ षष्ठी २ । २ । ८ ॥

१—अन्यथा विभाषाधिकारात् पक्षे द्विजायार्थ इत्यपि प्रयोगः स्यादिति भावः। अर्थशब्दस्य नित्यपुंल्लिङ्गत्वेऽपि "परवल्लिङ्गं..." इति पुंलिङ्गं बाधित्वाऽनेन विशेष्यलिङ्गानुसारेण स्त्रीलिङ्गता नपुंसकता च । द्विजायेयमिति द्विजार्था, द्विजायेदमिति द्विजार्थमिति विग्रहौ । २—भूतेभ्यो बलिरिति विग्रहः । तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तस्य बलिशब्देन समासः । एवम्—गोभ्यो हितम्, गोभ्यः सुखम्, गोभ्यो रक्षितम्, तृणादिकमिति शेषः । ३—पञ्चम्यन्तं भयशब्देन सुबन्तेन समस्यत इत्यर्थः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति—अपादानत्वात्पञ्चमी । ४—स्तोक, अन्तिक, दूर-एतदर्थकानि कृच्छ्र एतानि, पञ्चम्यन्तानि क्तप्रत्ययान्तेन समस्यन्त इत्यर्थः । अर्थग्रहणं स्तोकान्तिकदूरेषु सम्बध्यते । ५—स्तोकादिशब्देभ्यः पञ्चम्या अलुग् उत्तरपदे परतः । 'उत्तरपद' शब्दो हि समासस्य चरमावयवे रूढः । ६—इदं स्तोकपर्यायस्योदाहरणम् । ७—इदम् अन्तिकपर्यायस्योदाहरणम् । ८—इदं दूरशब्दपर्यायस्योदाहरणम् । ९—षष्ठ्यन्तं सुबन्तेन समस्यते, स तत्पुरुष इत्यर्थः । राजपुरुष

शब्द के साथ नित्य समास होता है और विशेष्यलिङ्गता भी होती है ।

१४२०—पञ्चम्यन्त भयवाचक शब्द सुबन्त समर्थ के साथ समस्त होते हैं विकल्प से ।

१४२१—स्तोकाद्यर्थक और कृच्छ्रप्रकृतिक पञ्चम्यन्त क्तान्तप्रकृतिक के साथ समस्त होते हैं विकल्प से ।

१४२२—स्तोकादिक से परे पञ्चमी का अलुक् होता है उत्तरपद परे रहते ।

१४२३—षष्ठ्यन्त का प्रातिपदिक सुबन्त के साथ समास होता है विकल्प से ।

सुबन्तेन प्राग्वत्। राज्ञः पुरुषः। राजपुरुषः।

१४२४ याजकादिभिश्च २। २। ९॥

षष्ठ्यन्तं समस्यते। वक्ष्यमाणस्यापवादः। ब्राह्मणयाजकः, देवपूजकः, (याजक, पूजक, परिचारक, परिवेषक, स्नातक, अध्यापक, उत्सादक, उद्वर्तक, होतृ, पोतृ, भर्तृ, रथगणक, पत्तिगणक, इति याजकादिः)। (गुणात्तरेण तरलोपश्च)। तरबन्तं यद् गुणवाचि तेन समासः। सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः। सर्वेषां महत्तरः सर्वमहान्।

१४४५ न निर्धारणे २। २। १०॥

षष्ठी न समस्यते। नृणां द्विजः श्रेष्ठः।

१४२६ पूरण-गुण-सुहितार्थ-सदव्यय-तव्य-समानाधिकरणेन २।२।११॥

पूरणाद्यर्थैः सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते। पूरणे—सतां षष्ठः। गुणे काकस्य कार्ष्ण्यम्। सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः फलानां सुहितः। सत्—द्विजस्य कुर्वन्कुर्वाणो वा। अव्ययम्—ब्राह्मणस्य कृत्वा। पूर्वोत्तरसाहचर्यात् कृदव्ययमेव गृह्यते। तेन तदुपरीत्यादि सिद्धम्। तव्यः—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्। समानाधिकरणे—तक्षकस्य सर्पस्य।

१४२७ क्तेन च पूजायाम् २। २। १२॥

इत्यत्र अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य नकारलोपः। न च लुका लुप्तत्वान्न प्रत्ययलक्षणमिति वाच्यम्, पदत्वस्य सुबन्तघटितसमुदायधर्मत्वेन तस्याऽङ्गकार्य्यत्वाभावादिति भावः, अङ्गकार्ये एव 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधः।

१—"तृजकाभ्यां कर्त्तरि" इत्यस्य। २—ब्राह्मणस्य याजक इति विग्रहः। "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्मणि षष्ठी। एवं देवानां पूजक इति विग्रहः। ३—गुणवाचकाद् विहितो यस्तरप् तदन्तेन षष्ठी वा समस्यते तरपो लोपश्चेत्यर्थः। ४—"यतश्च निर्धारणम्" इति षष्ठी। ५—तव्यता तु भवत्येव समासः स्वकर्तव्यमिति। स्वरे भेदः।

१४२४—षष्ठ्यन्त का याजकादि सुबन्तों के साथ समास होता है। (षष्ठ्यन्त का गुणवाचक तरबन्त के साथ समास होता है और तरप् का लोप होता है)।

१४२५—निर्धारणार्थक षष्ठी का समास नहीं होता।

१४२६—पूरणाद्यर्थक और सदादि शब्दों के साथ षष्ठी समास नहीं होता।

१४२७—मति बुद्धि इत्यादि सूत्र से पूजा अर्थ में विहित क्त प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी का समास नहीं होता।

मतिबुद्धिसूत्रेण विहितो यः क्तस्तदन्तेन षष्ठी न समस्यते । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ।

१४२८ अधिकरणवाचिना च २ । २ । १३ ॥

क्तेन षष्ठी न समस्यते । इदमेषामासितं गतं भुक्तं वा ।

१४२९ कर्मणि च २ । २ । १४ ।

उभयप्राप्तौ कर्मणीति या षष्ठी सा न समस्यते । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ।

१४३० तृजकाभ्यां कर्तरि २ । ३ । १५ ॥

कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः । अपां स्रष्टा । वज्रस्य भर्ता । ओदनस्य पाचकः ।

१४३१ कर्तरि च २ । २ । १६ ॥

कर्तरि षष्ठया अकेन न समासः । भवतः शायिका ।

१४३२ पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २ । २ । १ ॥

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी । षष्ठी-

---

१—"मतिबुद्धि..." इति वर्त्तमाने क्तः, 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति षष्ठी । 'राजपूजितः' इत्यादौ तु भूते क्तान्तेन सह तृतीयान्तस्य समासः ।
२—'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगति...' इति अधिकरणे क्तः, 'अधिकरणवाचिनश्चे'ति षष्ठी । ३—'ण्वुल्तृचौ' इति कर्त्तरि तृच्, "कर्त्तृकर्मणोः" इति कर्मणि षष्ठी । एवम् ओदनस्य पाचक इतिः पचेः कर्त्तरि ण्वुल्, अकादेश इति विशेषः । ४—"स्त्रियां क्तिन्" इत्यधिकारे धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्, अकादेशः, टाप्, 'कर्त्तृकर्मणोः कृती'ति षष्ठी । अत्राऽकस्य कर्त्रर्थकत्वाभावात् "तृजकाभ्याम्" इत्यस्य न प्राप्तिः । ५—अवयववाचकाः शब्दा इत्यर्थः ।

१४२८—अधिकरण अर्थ में विहित क्त प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी का समास नहीं होता ।

१४२९—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से कर्म में विहित षष्ठी का समास नहीं होता ।

१४३०—कर्त्रर्थ 'तृच्' और 'अक' प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी का समास नहीं होता ।

१४३१—कर्ता में विहित षष्ठी का 'अक' प्रत्ययान्त के साथ समास नहीं होता ।

१४३२—अवयवी के साथ पूर्वादि शब्द समस्त होते हैं यदि वह अवयवी एकत्व संख्या विशिष्ट हो तो ।

समासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकदेशिना किम्। पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरणे किम्। पूर्वश्छात्राणाम्।

१४३३ अर्धं नपुंसकम् २। २। २॥

समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्या अर्धपिप्पली। (एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्) इत्युपसर्जनसंज्ञाबाधाद्ध्रस्वो न। क्लीबे किम्—ग्रामार्धः। द्रव्यैक्य एव। अर्धं पिप्पलीनाम्।

१४३४ द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ तुर्याण्यन्यतरस्याम् २। २। ३॥

एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा। द्वितीयं भिक्षायाः-द्वितीयभिक्षा, एकदेशिना

१—अत्र पूर्वकायः, इत्यादौ "षष्ठी"ति समासप्राप्तावपि सूत्रान्तरविधानं पूर्वादिशब्दस्य पूर्वनिपातार्थम्। अन्यथा "षष्ठी"ति समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वेन षष्ठ्यन्तस्य (कायादिशब्दस्य) पूर्वनिपातः स्यादिति भावः। २—अत्र पूर्वस्य अंशस्य नाभिरवधिरेव नत्ववयवी। अतो नाभिशब्देन पूर्वशब्दस्य समासो न भवतीत्यर्थः। ३—छात्राणां बहुत्वेन नात्राधिकरणैकत्वमिति न समासः। ४—अर्धमिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशादेव नपुंसकत्वे लब्धे पुनर्नपुंसकग्रहणं नित्यनपुंसकलिङ्गस्य ग्रहणार्थमित्यभिप्रेत्याह—समांशवाच्यर्धशब्द इति। ५—ननु-अर्धं पिप्पल्याः, अर्धपिप्पली। अर्धेन पिप्पल्याः, अर्धपिप्पल्या। अर्धाय पिप्पल्याः, अर्धपिप्पल्यै। अर्धात्-अर्धस्य वा पिप्पल्याः, अर्धपिप्पल्याः। अर्धे पिप्पल्याः, अर्धपिप्पल्याम्। इति विग्रहेषु पिप्पलीशब्दस्य नियतविभक्तितया 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्युपसर्जनत्वात् "गोस्त्रियो" रिति ह्रस्वः स्यादित्यत आह—एकविभक्ताविति 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इति सूत्रे 'अषष्ठ्यन्तम्' इति वक्तव्यमित्यर्थः। पिप्पलीशब्दस्य च षष्ठ्यन्तत्वान्नोपसर्जनत्वमिति न ह्रस्वः। ६—अत्र नायं समासः किन्तु षष्ठीसमासः। अर्धशब्दस्य समांशवाचित्वाभावेन नित्यनपुंसकत्वाभावात्। ७—अत्र द्रव्यैक्याभावान्न समासः। ८—"परवल्लिङ्ग" मित्यादिना स्त्रीत्वम्।

१४३३—नपुंसकलिंग में नित्य वर्तमान समांशवाची अर्ध शब्द अवयवीवाचक समर्थ सुबन्त के साथ समस्त होता है विकल्प से।

('एक विभक्तौ चापूर्वनिपाते' इस सूत्र में अषष्ठ्यन्त ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् नियत विभक्त्यन्त षष्ठ्यन्त की उपसर्जन संज्ञा नहीं होती)।

१४३४—द्वितीय आदि शब्दों का एकदेशी के साथ समास होता है।

किम्-द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य[1] । अन्यतरस्यांग्रहणसामर्थ्यात्पूरणगुणेति निषेधं बाधित्वा पक्षे षष्ठीसमासः । भिक्षाद्वितीयम् ।

१४३५ प्राप्तापन्ने च[3] द्वितीयया २ । २ । ४ ॥

पक्षे द्वितीयाश्रितेति समासः । प्राप्तो जीवनं-प्राप्तजीवनः । जीवनप्राप्तः । आपन्नजीवनः । जीवनापन्नः । इह सूत्रे द्वितीयया अ इति छित्वा अकारोऽपि विधीयते । तेन[4] जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका । आपन्नजीविका ।

१४३६ कालाः परिमाणिना २ । २ । ५ ॥

परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन सह कालाः समस्यन्ते । मासो जातस्य यस्य स मासजातः ।

१४३७ सप्तमी शौण्डैः २ । १ । ४० ॥

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत् । अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः[5] । शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, प्रवीण, संवीत, अन्तर, अधिप, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण, इति शौण्डादिः । द्वितीया तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि द्वितीयादीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः ।

१—अत्र द्वितीयमित्यस्य भिक्षुकस्येत्यनेन समासो न भवति । द्वितीयम्प्रति भिक्षुकस्यैकदेशित्वाभावात् । २—ननु विभाषाधिकारेण विकल्पे सिद्धेऽन्यतरस्यांग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—अन्यतरस्यामिति । अन्यथा षष्ठ्यपवादभूतेनाऽनेन समासेन मुक्ते विषये-उत्सर्गः प्रवर्तेत, विभाषाधिकारे अपवादेन मुक्ते उत्सर्गो न प्रवर्त्तते, इति 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा', इति वाग्रहणेन ज्ञापितत्वात् । ३—प्राप्त-आपन्न, एतौ शब्दौ द्वितीयान्तेन समस्येते इत्यर्थः । (तयोरकारोऽन्तादेशश्च) । ४—तेन = प्राप्तापन्नयोराकारस्य-अन्तस्य स्थानेऽकारविधानेन । ५—अक्षविषयकक्रीडाकुशल इत्यर्थः ।

१४३५—प्राप्त और आपन्न शब्द का द्वितीयान्त के साथ समास होता है विकल्प से ।

१४३६—परिच्छेदवाची सुबन्त के साथ कालवाचक शब्दों का समास होता है ।

१४३७—सप्तम्यन्त शब्द शौण्डादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ समस्त होते हैं ।

१४३८ दिक्संख्ये संज्ञायाम् २ । १ । ५० ॥

विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्येव सिद्धे संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वे-षुकामशमी[2]। सप्तर्षयः[3]। तेनेह[4] न उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

१४३९ तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २ । १ । ५१ ॥

तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः पूर्वशाला इति समासे जाते। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वं पुंवत्—

१४४० दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ४ । २ । १०७ ॥

अस्माद्भवाद्यर्थे ञः स्यादसंज्ञायाम्।

१४४१ तद्धितेष्वचामादेः ७ । २ । ११७ ॥

ञिति णिति च तद्धिते अचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। 'यस्येति च'[5]। पौर्वशालः[6]। पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषः। तेन शालाशब्दे आकार उदात्तः। पूर्वशालाप्रियः[7]। दिक्षु समाहारो नास्त्यनभिधानात्[8]। संख्यायास्तद्धितार्थे[9]—षण्णां मातॄणामपत्यं षाण्मातुरः।

१—नियमाकारश्चायम्—तत्पुरुषे दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायामेव समस्येते इति। २—पूर्वः + इषुकामशमी, इति विग्रहः। ग्रामविशेषस्येयं सञ्ज्ञा। ३—मरीच्यत्रि-प्रभृतीनां सप्तानामृषीणां सञ्ज्ञेयम्। ४—सत्त्वेऽपि दिक्सङ्ख्ययोः सञ्ज्ञाया अभावादिति भावः। ५—इत्याकारलोपः। ६—तद्धितार्थे दिक्समासोदाहरण-मिदम्। ७—उत्तरपदे परतो दिक्समासोदाहरणमिदम्। ८—समाहारे दिक्पूर्वपद-समासो नास्तीति भावः। ९—समासे उदाह्रियत—इत्यर्थः। षाण्मातुर इति।

१४३८—दिग्वाचक और संख्यावाचक शब्दों का केवल संज्ञा में ही तत्पुरुष समास होता है।

१४३९—तद्धितार्थ के विषय में उत्तरपद परे रहते और समाहार के वाच्य होने पर दिग्वाचक और संख्यावाचक शब्द समर्थ सुबन्त के साथ समस्त होते हैं।

१४४०—दिक्पूर्व समास से भवार्थ में 'ञ' प्रत्यय होता है असंज्ञा में।

१४४१—ञित्, णित् तद्धित परे रहते अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है।

(वा०—उत्तरपद परे रहते द्वन्द्व और तत्पुरुष समास नित्य होते हैं।)

'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' इति वक्ष्यमाणोऽण् (प्रकृतेरुकारादेश आदिवृद्धिश्च)। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ अवान्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्ते। (द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्)।

१४४२ गोरतद्धितलुकि ५ । ४ । ९२ ॥

गोन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात्समासान्तो न तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ।

१४४३ संख्यापूर्वो द्विगुः २ । १ । ५२ ॥

तद्धितार्थेत्यत्रोक्तः संख्यापूर्वो द्विगुः ।

१४४४ द्विगुरेकवचनम् २ । ४ । १ ॥

द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात् ।

१४४५ स नपुंसकम् २ । ४ । १७ ॥

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् ।

१४४६ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २ । १ । ५७ ॥

भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं—नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात्कचिन्नित्यम् । कृष्णसर्पः । कचिन्न । रामो जामदग्न्यः । (अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः) । अपरश्चासावर्धश्च पश्चार्धः ।

१—उत्तरपदे परतो विहितस्येत्यर्थः । २—महाविभाषाधिकारादिति शेषः । ३—उत्तरपदे परतो यौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ तयोर्नित्यत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । ४—(सङ्ख्यायाः) उत्तरपदे परत उदाहरणमिदम् । त्रिपदबहुव्रीहौ कृते सति धनशब्दे उत्तरपदे परे पूर्वयोस्तत्पुरुषे टचि, अवादेश इति भावः । अत्र द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति वार्तिके द्वन्द्वस्योदाहरणन्तु वाक् च त्वक् च प्रिया यस्य स 'वाक्त्वचप्रियः' इत्यादि बोध्यम् । ५—त्रिविधः । अर्थात्—तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये, इत्येवं त्रिप्रकारो यः सङ्ख्यापूर्वः समास उक्तः स द्विगुरिति ।

१४४२—गोशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है, तद्धित के लुक् में नहीं ।

१४४३—संख्यापूर्व तत्पुरुष की द्विगु संज्ञा होती है ।

१४४४—द्विग्वर्थ समाहार एकवत् होता है ।

१४४५—समाहार में द्विगु और द्वन्द्व नपुंसक होते हैं ।

१४४६—भेदक (विशेषण) समानाधिकरण भेद्य (विशेष्य के साथ बाहुल्य से समस्त होता है ।

(अपर को पश्च आदेश निपातन से होता है) ।

१४४७ सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः २ । १ । ६१ ॥

समानाधिकरणैः सह समस्यन्ते । सद्वैद्यः ।

१४४८ आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६ । ३ । ४६ ॥

महावैयाकरणः ।

१४४९ तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १ । २ । ४२ ॥

१४५० पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६ । ३ । ४२ ॥

कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो भाषितपुंस्कात्पर ऊङभावो यस्मिन्तथाभूतं पूर्वं पुंवत् । पूरण्यां प्रियादिष्वप्राप्तः पुंवद्भावो विधीयते । महानवमी । कृष्णचतुर्दशी । महाप्रिया । पूज्यमानैः किम्—उत्कृष्टो गौः । पङ्कादुद्धृत इत्यर्थः ।

१४५१ उपमानानि सामान्यवचनैः २ । १ । ५५ ॥

घनश्यामः ।

१—महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे इत्यर्थः । २—समानाधिकरणानेकपदावयवकस्तत्पुरुषः कर्मधारयसञ्ज्ञको भवतीत्यर्थः । ३—महती चासौ नवमी चेति विग्रहः । "सन्महत्" इत्यादिना समासः, नवानां पूरणी नवमी । 'तस्य पूरणे डट्' 'नान्तादसङ्ख्यादेर्मट्' टित्वात् ङीप् । एवम्—कृष्णा चासौ चतुर्दशी चेति विग्रहः । चतुर्दशानां पूरणी चतुर्दशी । डट्, "नस्तद्धिते" इति टिलोपः, टित्वात् ङीप् । महती चासौ प्रिया चेति कर्मधारयः । ४—उपमानवाचकानि समानधर्मवाचकैः समस्यन्त इत्यर्थः । घन इव श्याम इति विग्रहः, इवशब्दोपादानं विग्रहे स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम् ।

१४४७—सत् आदि सुबन्तों का पूज्यमान समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है ।

१४४८—महत् शब्द को आकार अन्तादेश होता है समानाधिकरण उत्तरपद रहते और जातीय शब्द परे रहते ।

१४४९—समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होती है ।

१४५०—कर्मधारय समास में और जातीयर् तथा देशीयर् प्रत्यय परे परे रहते ऊङ् रहित भाषित पुंस्क पूर्वपद को पुंवद्भाव होता है ।

१४५१—उपमान वाचक शब्दों का समान धर्मवाचक शब्दों के साथ समास होता है ।

१४५२ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २ । १ । ५६ ॥

पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । सामान्याप्रयोगे किम् । पुरुषो व्याघ्र इव शूरः । (शाकपार्थिवादीनां सिद्धये—उत्तरपदलोपश्च) शाकप्रियः[2] पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवब्राह्मणः ।

१४५३ कडाराः कर्मधारये २ । २ । ३८ ॥

कडारादयः शब्दाः कर्मधारये वा पूर्वं प्रयोज्याः । कडारजैमिनिः[3] । जैमिनिकडारः ।

१४५४ मयूरव्यंसकादयश्च २ । १ । ७२ ॥

एते निपात्यन्ते । मयूरो व्यंसको मयूरव्यंसकः, व्यंसको = धूर्तः । उदक् च अवाक् च उच्चावचम्[4] । निश्चितं च प्रचितं च निश्चप्रचम्[5] । नास्ति किञ्चन यस्य सोऽकिञ्चनः[6] । (आख्यातमाख्यातेन[7] क्रियासातत्ये) । अश्नीतपिबतेत्येवं सततं यत्रा-

---

१—उपमेयं व्याघ्रादिभिः प्राग्वत्साधारणधर्म-याऽप्रयोगे सतीत्यर्थः । २—शाकपार्थिवः, शाकः प्रियो यस्य स शाकप्रियः, शाकप्रियश्चासौ पार्थिव इति बहुव्रीहिगर्भो विशेषणसमासः । उत्तरपदस्य प्रियशब्दस्य लोपः । एवम्—देवाः प्रिया यस्य स देवप्रियः, स चासौ ब्राह्मणश्चेति विग्रहः, देवपूजको ब्राह्मणो वेति विग्रहः । ३—'कडाराः' इति बहुवचननिर्देशात्तदादिग्रहणम् । तदाह मूले कडारादय इति । कडारश्चासौ जैमिनिश्चेति विग्रहः । ४—उदक्शब्दस्य 'उच्च' इत्यादेशः । अवाक्शब्दस्य 'अवच' आदेशश्च । 'उच्चावचं नैकभेद' मित्यमरः । ५—निश्चित-शब्दस्य निश्चाऽऽदेशः । प्रचितशब्दस्य प्रचादेशः । ६—'चन' इत्यव्ययमप्यर्थे । नास्ति किमपि यस्येत्यर्थे बहुव्रीह्यपवादस्त्रिपदस्तत्पुरुषः, नञो नकारस्य लोपश्च निपात्यते । ७—आख्यातम् = तिङन्तम्, क्रियासातत्ये गम्ये तिङन्तं तिङन्तेन समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । 'अश्नीतपिबता' इत्यत्र क्रियारूपस्याऽन्यपदार्थस्य

१४५२—उपमेय का व्याघ्रादि सुबन्तों के साथ समास होता है यदि समान धर्मवाचक शब्द का प्रयोग न हो ।

(शाक पार्थिव आदि शब्दों की सिद्धि के लिये उत्तरपद का लोप भी होता है)

१४५३—कर्मधारय समास में कडारादि शब्दों का पूर्व प्रयोग विकल्प से होता है ।

१४५४—मयूरव्यंसक आदि शब्द निपातित हैं । क्रियासातत्य गम्य रहते तिङन्त का तिङन्त के साथ समास होता है, और वह तत्पुरुष संज्ञक होता है ।

भिधीयते सा अश्नीतपिबता । पचतभृज्जता । खादतमोदता । नास्ति कुतो भयं यस्य सः-अकुतोभयः । अन्यो राजा *राजान्तरम् । चिदेव ‡चिन्मात्रम्

१४५५ नञ् २ । २ । ६ ॥

सुपा प्राग्वत् ।

१४५६ नलोपो नञः ६ । ३ । ७३ ॥

नञो नस्य लोप उत्तरपदे । अब्राह्मणः ।

१४५७ तस्मान्नुडचि ६ । ३ । ७४ ॥

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुट् । अनश्वः । नैकधेत्यादौ तु नशब्देन सह सुप्सुपेति समासः ।

१४५८ कु-गति-प्रादयः २ । २ । १८ ॥

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः ।

१४५९ ऊर्यादि च्वि-डाचश्च १ । ४ । ६१ ॥

प्राधान्यात् स्त्रीत्वाट्टाप् । एवं 'पचतभृज्जता' इत्यादावपि ।

१—अत्र बहुव्रीहेरपवादस्तत्पुरुषः । २—'न' इति लुप्तषष्ठीकं पदं तदाह—नञो नस्येति । ३—न अश्वः, इत्यत्र नञो नकारस्य लोपे तत्परिशिष्टाऽकारात्परस्य नुट्, टकार इत्, उकार उच्चारणार्थः, टित्वादाद्यवयव इति । ४—ननु—नैकधेत्यत्र नञ् समासे नकारलोपे 'तस्मान्नुडचि' इति नुटि, अनेकधेत्येव स्यादित्यत आह—नैकधेत्यादौ त्विति । एतदर्थमत्र 'नञ्' इति सूत्रे 'नलोपो नञः' इति सूत्रे च ञकारानुबन्धग्रहणमिति ।

१४५५—'नञ्' समर्थ सुबन्त के साथ समस्त होता है विकल्प से ।

१४५६—नञ् के न का लोप होता है उत्तरपद परे रहते ।

१४५७—लुप्तनकार नञ् से उत्तर अजादि शब्द को नुट् का आगम होता है ।

१४५८—कु और गतिसंज्ञक प्रादि समर्थ सुबन्त के साथ समस्त होते हैं ।

१४५९—ऊर्यादि च्व्यन्त और डाजन्त की गति संज्ञा होती है क्रिया के योग में ।

---

* 'अन्यो राजा, इति नित्यसमास सूचनाय—अस्वपदविग्रहः । अन्तर शब्दोऽन्यपर्यायः, अन्तरशब्दस्य परनिपातो निपातनात् ।

‡ नायं मात्रच् प्रत्ययः, अपितु—अवधारणार्थको मात्र शब्दः, नित्य समासत्वसूचनायाऽस्वपदविग्रहः । निपातनान्नित्यमनुनासिकः ।

ऊर्यादयश्च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । ऊरीकृत्य । शुक्लीकृत्य[2] । पटपटीकृत्य[3] । (कारिकाशब्दस्योपसंख्यानम्) । कारिका = क्रिया, कारिकाकृत्य ।

१४६० अनुकरणं चानितिपरम् १ । ४ । ६२ ॥

खाट्कृत्य । अनितिपरं किम् । खाडितिकृत्वा निरष्ठीवत् ।

१४६१ आदरानादरयोः सदसती १ । ४ । ६३ ॥

सत्कृत्य । असत्कृत्य ।

१४६२ भूषणेऽलम् १ । ४ । ६४ ॥

अलङ्कृत्य । भूषणे किम्—अलङ्कृत्वौदनं गतः । पर्याप्तमित्यर्थः । अनुकरणमित्यादि त्रिसूत्री स्वभावात्कृञ्विषया ।

१४६३ अन्तरपरिग्रहे १ । ४ । ६५ ॥

अन्तर्हत्य । मध्ये हत्वेत्यर्थः । अपरिग्रहे किम्—अन्तर्हत्वा गतः, हतं परिगृह्य गत इत्यर्थः ।

१—गतिसञ्ज्ञाया "कुगतिप्रादयः" इति समासे "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इति ल्यप् । २—अशुक्लं शुक्लं कृत्वेत्यर्थः । "कृभ्वस्तियोगे" इत्यभूततद्भावे च्विः । गतिसमासे सति क्त्वो ल्यप् । "वेरपृक्तस्ये"ति वलोपः । 'अस्य च्वौ' इति—ईत्वम् । ३—पटपटा इति शब्द कृत्वेत्यर्थः । 'अव्यक्तानुकरणाद्' इति डाच् 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति द्वित्वम्, टिलोपः "नित्यमाम्रेडिते डाचि" इति तकारपकारयोः पकार एकादेशः, गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । ४—अनुकरणं गतिसंज्ञं स्यात्—इतिपरं वर्जयित्वेत्यर्थः । ५—सदिति, असदिति च अव्यये आदरानादरयोः क्रमेण विद्यमाने गतिसंज्ञके स्त इत्यर्थः । ६—भूषणे विद्यमानमलमित्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः । ७—कृञ्योगे एव भवतीत्यर्थः । ८—अपरिग्रहे विद्यमानम् अन्तरित्यव्ययं गतिसज्ञकं स्यादित्यर्थः ।

(कारिका शब्द की भी गति संज्ञा होती है) ।

१४६०—अनुकरण की भी गति संज्ञा होती है यदि इति शब्द परे न हो ।

१४६१—आदर और अनादर अर्थ में प्रयुज्यमान सत् और असत् शब्द की गति संज्ञा होती है ।

१४६२—भूषण अर्थ में 'अलम्' की गति संज्ञा होती है ।

१४६३—अपरिग्रह अर्थ में 'अन्तर्' की गति संज्ञा होती है ।

१४६४ कणे-मनसी श्रद्धाप्रतीघाते १ । ४ । ६६ ॥

कणेहत्य पयः पिबति । मनोहत्य । कणे-शब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातोऽभिलाषाऽतिशये वर्तते । मनस्-शब्दोऽप्यत्रैव ।

१४६५ पुरोऽव्ययम् १ । ४ । ६७ ॥

पुरस्कृत्य ।

१४६६ अस्तं च १ । ४ । ६८ ॥

अस्तमिति मान्तमव्ययं गतिसंज्ञं स्यात् । अस्तंगत्य ।

१४६७ अच्छ-गत्यर्थवदेषु[3] १ । ४ । ६९ ॥

अव्ययमित्येव । अच्छगत्य । अच्छोद्य । अभिमुखं गत्वा, उक्त्वा चेत्यर्थः । अव्ययं किम् । जलमच्छं गच्छति ।

१४६८ अदोऽनुपदेशे १ । ४ । ७० ॥

अदःकृत्यादःकृतम् । परं प्रत्युपदेशे प्रत्युदाहरणम् । अदः कृत्वा-अदः कुरु ।

१४६९ तिरोऽन्तर्धौ १ । ४ । ७१ ॥

तिरोभूय ।

१—कणेशब्दो मनःशब्दश्च श्रद्धाप्रतिघाते=अत्यन्ताभिलाषनिवृत्तौ गतिसंज्ञकौ स्त इत्यर्थः । कणेहत्य पिबति पयः, अत्यन्तमभिलष्य तन्निवृत्तिपर्यन्तं पयः पिबतीत्यर्थः । २—पुर इत्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । अव्ययं किम् ? (पुरम्, पुरौ,) 'पुरः कृत्वा गतः' । ३—गत्यर्थधातुषु वदधातौ च प्रयुज्यमाने 'अच्छ' इत्यव्ययं गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः । ४—वदधातोः क्त्वा, सम्प्रसारणम् । ५—अदश्शब्दोऽनुपदेशे गतिसंज्ञः स्यादित्यर्थः । ६—अन्तर्धिः = व्यवधानम् । तत्र तिरस् इत्यव्ययं गतिसञ्ज्ञकं स्यादित्यर्थः ।

१४६४—'कणे' शब्द और 'मनसि' शब्द की 'सर्वथा अभिलाषा निवृत्ति' अर्थ में गति संज्ञा होती है ।

१४६५—पुरस् अव्यय की गति सञ्ज्ञा होती है ।

१४६६—मान्त अव्यय 'अस्तम्' शब्द की गति संज्ञा होती है ।

१४६७—गत्यर्थक तथा वद धातु के प्रयोग में अव्यय 'अच्छ' शब्द की गति सञ्ज्ञा होती है ।

१४६८—अदस् शब्द की अनुपदेश में गति सञ्ज्ञा होती है ।

—तिरस् शब्द की व्यवहित होने अर्थ में गति सञ्ज्ञा होती है ।

१४७० विभाषा कृञि १।४।७०॥

१४७१ तिरसोऽन्यतरस्याम् ८।३।४२॥

तिरसः सकारो वा स्यात्कुप्वोः। तिरःकृत्य। तिरस्कृत्य। तिरःकृत्वा।

१४७२ उपाजेऽन्वाजे १।४।७३॥

एतौ कृञि वा गतिसंज्ञौ। उपाजेकृत्य। अन्वाजेकृत्य[2]। उपाजे कृत्वा। अन्वाजे कृत्वा। दुर्बलस्य बलमाधायेत्यर्थः।

१४७३ साक्षात्प्रभृतीनि च १।४।७४॥

कृञि वा गतिसंज्ञानि स्युः। (च्व्यर्थ इति वक्तव्यम्)। साक्षात्कृत्य[3]। साक्षात्कृत्वा। लवणंकृत्य। लवणं कृत्वा। मा तत्त्वं निपातनात्।

१४७४ अनत्याधान उरसिमनसी १।४।७५॥

उरसिकृत्य। उरसि कृत्वा। अभ्युपगम्येत्यर्थः। मनसिकृत्य। मनसि कृत्वा। निश्चित्येत्यर्थः। अत्याधानमुपश्लेषस्तत्र न। उरसि कृत्वा पाणिं शेते।

१४७५ मध्ये पदे निवचने च १।४।७६॥

एते कृञि गतिसंज्ञा वा स्युरनत्याधाने। मध्येकृत्य। मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य। पदे कृत्वा। निवचनेकृत्य। निवचने कृत्वा। वाचं नियम्येत्यर्थः।

१—कृञि प्रयुज्यमाने तिरस् इत्यव्ययं गतिसंज्ञं वा स्यादित्यर्थः। २—उपाजे, अन्वाजे, इत्यव्यये दुर्बलस्य बलाधाने वर्तेते। गतिसमासे क्त्वो ल्यप्। ३—अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं कृत्वेत्यर्थः। गतिपक्षे क्त्वो ल्यप्। ४—अनत्याधाने = अनुपश्लेषे 'उरसि' 'मनसि' इति विभक्तिप्रतिरूपके अव्यये गतिसंज्ञे त इत्यर्थः।

१४७०—कृञ् के प्रयोग में तिरस् की गति सञ्ज्ञा विकल्प से होती है।

१४७१—तिरस् के विसर्ग को 'स' होता है विकल्प से कवर्ग पवर्ग परे रहते।

१४७२—'उपाजे' 'अन्वाजे' दोनों की कृञ् के योग में गति सञ्ज्ञा होती है विकल्प से।

१४७३—साक्षात् आदि शब्दो की गति सञ्ज्ञा होती है कृञ् के योग में विकल्प से। (च्व्यर्थ में ही होती है ऐसा कहना चाहिये)

१४७४—'उरसि' 'मनसि' दोनों विभक्ति प्रतिरूपक अव्ययों की कृञ् के योग में गति सञ्ज्ञा होती है अनुपश्लेष अर्थ में।

१४७५—'मध्ये' 'पदे' 'निवचने' इनकी कृञ् के योग में विकल्प से गति संज्ञा होती है अनुपश्लेष अर्थ में।

१४७६ नित्यं हस्ते पाणावुपयमने १ । ४ । ७७ ॥

कृञि । उपयमनं = विवाहः । स्वीकारमात्रमित्यन्ये । हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य ।

१४७७ प्राध्वं बन्धने १ । ४ । ७८ ॥

प्राध्वमित्यव्ययम् । प्राध्वंकृत्य = बन्धनेनानुकूलं कृत्वेत्यर्थः । प्रार्थनादिना त्वानुकूल्यकरणे–प्राध्वं कृत्वा ।

१४७८ जीविकोपनिषदावौपम्ये १ । ४ । ७९ ॥

जीविकामिव कृत्वा—जीविकाकृत्य । उपनिषदमिव कृत्वा उपनिषत्कृत्य । औपम्ये किम्—जीविकां कृत्वा । प्रादिग्रहणमगत्यर्थम् । सुपुरुषः । (प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया) । प्रगत आचार्यः प्राचार्यः । (अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया) । अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे—

१४७९ एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १ । २ । ४४ ॥

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनं न तु तस्य पूर्वनिपातः ।

१४८० गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १ । २ । ४८ ॥

१—'हस्ते' इति 'पाणौ' इति च शब्दौ कृञि नित्यं गतिसंज्ञौ भवतः उपयमने इत्यर्थः । उपयमने किम् ? 'हस्ते कृत्वा सुवर्णं गतः' । अन्यदीयमिति बुद्धया दातुं परावृत्त इत्यर्थः । २—प्राध्वमित्यव्ययं ननु द्वितीयान्तम् । बन्धने गम्ये प्राध्वमित्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः । ३—उपमैव = औपम्यम् । तस्मिन् विषये जीविकाशब्दः, उपनिषच्छब्दश्च कृञा योगे गतिसंज्ञौ स्त इत्यर्थः ।

१४७६—'हस्ते' और 'पाणौ' शब्द की विवाह अर्थ में नित्य गति संज्ञा होती है कृञ् का योग हो तो ।

१४७७—बन्धन गम्य रहते 'प्राध्वम्' अव्यय की गति संज्ञा होती है ।

१४७८—औपम्य में 'जीविका' और 'उपनिषत्' शब्द की गति संज्ञा नित्य होती है कृञ् का योग रहने ।

(प्रादिओं का गत आदि अर्थ में प्रथमान्त के साथ समास होता है) । (अत्यादि शब्दों का क्रान्त आदि अर्थों में द्वितीयान्त के साथ समास होता है)

१४७९—विग्रह में नियतविभक्तिक की उपसर्जन संज्ञा होती है पर उसका पूर्वनिपात नहीं होता ।

१४८०—उपसर्जन जो गोशब्द और स्त्रीप्रत्ययान्त, तदन्तप्रातिपदिक को ह्रस्व होता है ।

उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः। अतिमालः। (अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया) अवक्रुष्टः कोकिलयाऽवकोकिलः। (पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या) परिग्लानोऽध्ययनाय-पर्यध्ययनः। (निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या) निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः।

१४८१ तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३। १। ९२॥

१४८२ उपपदमतिङ् २। २। १९॥

उपपदं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। अतिङ् किम्। माभवान्भूत्। माङि लुङिति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम्। (गतिकारकोपपदानां कृद्भिः समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः)। व्याघ्री। कच्छपी। अश्वक्रीतीत्यादि।

१४८३ अमैवाव्ययेन २। २। २०॥

१—'एकविभक्ति चा' इति मालाशब्दस्योपसर्जनत्वाद् 'गोस्त्रियो' रिति ह्रस्वः। २—उपसर्जनत्वात् 'गोस्त्रियो' रिति ह्रस्वः। ३—सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत्कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपदसञ्ज्ञं स्यात्तस्मिंश्च सत्येव वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः। ४—व्याजिघ्रतीति व्याघ्री "आतश्चोपसर्गे" इति कप्रत्ययः। व्याङः (सुबुत्पत्तेः प्राक्) घ्रशब्देन गतिसमासः, ततः स्त्रियां जातिलक्षणे ङीष्। अन्यथा (सुबन्तेन समासे तु) केवलस्य 'घ्र' शब्दस्य जातिवाचकत्वाऽभावात् जातिलक्षणे ङीष् न स्यात्; किन्तु टाप् स्यात्। ५—कच्छेन पिवतीति कच्छपी, 'क' प्रत्ययः, जातिलक्षणे ङीष्, व्याघ्रीवत्। ६—अश्वेन क्रीता, इति विग्रहः "क्रीतात्करणपूर्वात्" इति ङीष्। अत्रापि सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासः। सुबन्तेन समासे तु टाप् स्यात्; नतु ङीष्।

(अव आदिओं का क्रुष्ट आदि अर्थों में तृतीयान्त के साथ समास होता है)। (परि आदि शब्दों का ग्लान आदि अर्थों में चतुर्थ्यन्त के साथ समास होता है)। (निर् आदि शब्दों का क्रान्त आदि अर्थों में पञ्चम्यन्त के साथ समास होता है)

१४८१—सप्तम्यन्त पद "कर्मणि" इत्यादि में वाच्यत्व रूप से स्थित कुम्भादि पद की उपपद संज्ञा होती है।

१४८२—उपपद सुबन्त का अतिङन्त समर्थ के साथ नित्य समास होता है।

(गति, कारक, उपपद इनका कृदन्तों के साथ सुबुत्पत्ति से पहले ही समास हो जाता है)

अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन सह समस्यते । स्वादुङ्कारम्[1] । 'स्वादुमि णमुल्' इति णमुल् । नेह । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' । कालः समयो वेला वा भोक्तुम् । अमैवेति किम् । अग्रे भोजम् । अग्रे भुक्त्वा । विभाषाग्रे प्रथमपूर्वेष्विति क्त्वाणमुलौ । अमा चान्येन च तुल्यविधानमेतत् ।

१४८४ तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् २ । २ । २१ ॥

उपदंशस्तृतीयायामित्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकोपदंशम् । उपदंशस्तृतीयायामिति णमुल् ।

१४८५ क्त्वा च २ । २ । २२ ॥

तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वान्तेन सह वा समस्यन्ते । उच्चैःकृत्य । उच्चैःकृत्वा ।

१४८६ अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वा-णमुलौ ३ । ४ । ५९ ॥

१४८७ तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः ५ । ४ । ८६ ॥

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमा-

---

१—स्वादुशब्दस्य मान्तत्वं निपातनात्, 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वम् । २—उपपदसमास इति शेषः । यद्यपि 'कालसमयवेलासु' इति सप्तमीनिर्देशात्कालसमयवेलानामुपपदत्वम्, तथापि कालादीनामुपपदसञ्ज्ञा तुमुना तुल्यविधानैव, नत्वमा । अतस्तेषामुपपदत्वेऽपि न समास इत्यर्थः । ३—अम् प्रत्ययेन क्त्वाप्रत्ययेन च सहोपपदसञ्ज्ञाऽग्रे-प्रथम-पूर्वशब्दानां विहिता, ततश्चोपपदत्वस्याऽमैव तुल्यविधानत्वान्न समास इति भावः ।

१४८३—अम् के साथ तुल्य विधान उपपद ही अव्यय के साथ समस्त होता है ।

१४८४—तृतीया प्रभृति उपपदों का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प से समास होता है ।

१४८५—तृतीया प्रभृति उपपदों का क्त्वा प्रत्ययान्त के साथ विकल्प से समास होता है ।

१४८६—अव्यय पूर्व रहते कृञ् से 'क्त्वा' और 'णमुल्' प्रत्यय होते है अयथार्थाभिप्रेताख्यान में ।

१४८७—संख्या तथा अव्यय है आदि में जिसके और अङ्गुली शब्द है अन्त में जिसके ऐसे तत्पुरुष से समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है ।

समस्य—द्व्यङ्गुलम् । निरङ्गुलम् ।

१४८८ अहःसर्वैकदेश-संख्यात पुण्याच्च-रात्रेः । ५ । ४ । ८७ ॥

एभ्यो रात्रेरच् स्यात् । चात्संख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।

१४८९ रात्राह्नाहाः पुंसि २ । ४ । २९ ॥

एते पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः । सर्वरात्रः । पूर्वरात्रः । संख्यातरात्रः । (संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्) । द्विरात्रम् । अतिरात्रः ।

१४९० राजाहःसखिभ्यष्टच् ५ । ४ । ९१ ॥

एतदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् । परमराजः । कृष्णसखः ।

१—"तद्धितार्थे" इति द्विगुः, "प्रमाणे ल......"इति लुक् । द्व्यङ्गुलिशब्दादचि तस्य तद्धितत्वात्तस्मिन् परे 'यस्येति च' इतीकारलोपः । २—'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः, अच्, इलोपः । ३–'अह्नो रात्रिः' इति षष्ठीतत्पुरुषस्याऽसम्भवादिति । ४–द्वन्द्वाद् अच्, इलोपः, 'जातिरप्राणिना' मित्येकवत्त्वम् । 'स नपुंसक'मिति बाधित्वा 'रात्राह्नाहाः' इति पुंस्त्वम् । ५–सर्वा रात्रिरिति विग्रहे 'पूर्वकालैक' इति कर्मधारयः, अच्, इकारलोपः । ६—सूत्रे 'एकदेश' इत्यर्थग्रहणम् । इदं तस्योदाहरणम् । पूर्वं रात्रेरिति विग्रहे 'पूर्वापराधरोत्तरम्' इत्येकदेशिसमासः । अच्, इलोपः, 'रात्राह्नाहाः' इति पुंस्त्वम् । ७—सङ्ख्यातरात्रः, सङ्ख्याता रात्रिरिति विग्रहे कर्मधारयः । 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वम् । एवं पुण्यरात्रः । ८—तद्धितार्थे इति द्विगुः । सङ्ख्यादित्वादच्, इलोपः 'सङ्ख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' इति नपुंसकत्वम् । ९—'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः । अव्ययादित्वादच्, इलोपः, 'रात्राह्नाहाः' इति पुंस्त्वम । १०—परमश्चासौ राजा चेति विग्रहः । समासान्तष्टच् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । एवं महाराजः, धर्मराजः, भोजराजः, इति । ११—कृष्णस्य सखेति विग्रहः । समासान्तष्टच् । यस्य चेति इकारलोपः ।

१४८८—अहः सर्व आदि पूर्वक रात्रि शब्द से समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है ।

१४८९ रात्र, अह्न, अह, एतदन्त तत्पुरुष और द्वन्द्व पुल्लिङ्ग होते हैं ।

(संख्यापूर्वक रात्र शब्द नपुंसक लिङ्ग होता है)

१४९०—राजन्, अहन् और सखि शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय होता है ।

१४९१ अह्नष्टखोरेव ६ । ४ । १४५ ॥[1]

टिलोपः । परमाहः ।

१४९२ अह्नोऽह्न एतेभ्यः ५ । ४ । ८८ ॥

सर्वादिभ्योऽहन्शब्दस्याह्नादेशः समासान्ते परे ।

१४९३ अह्नोऽदन्तात् ८ । ४ । ७ ॥

अदन्तपूर्वपदस्थान्निमित्तादह्नो नस्य णः । सर्वाह्णः[2] ।

१४९४ न संख्यादेः समाहारे ५ । ४ । ८९ ॥[3]

अह्नोऽह्नादेशो न । द्व्यहः[4] ।

१४९५ उत्तमैकाभ्यां च ५ । ४ । ९० ॥

अह्नोऽह्नादेशो न । उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः पुण्यशब्दमाह[5] । (पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्टा) । पुण्याहम्[6] । सुदिनाहम्[7] । एकाहः[8] ।

१—एतयोरेव परतोऽह्नष्टिलोपः स्यान्नान्यत्र । टप्रत्यये उदाहरणम् 'परमाहः' इति । परमश्च तदहश्चेति विशेषणसमासः 'राजाह...' इति टच्, प्रकृतसूत्रेण टिलोपः 'रात्राह्ना' इति पुंस्त्वम् 'खे' उदाहरणन्तु 'द्व्यहीनः' (क्रतुः) इति । २—सर्वमहरिति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासे 'राजाहःसखि' इति टच्, अह्नादेशः, णत्वं, पुंस्त्वञ्चेति । ३—समाहारे वर्त्तमानस्य सङ्ख्यादेरह्नादेशो न स्यादित्यर्थः । ४—समाहारे द्विगुः, टच्, 'रात्राह्नाहाः' इति पुंस्त्वम् । सङ्ख्यादित्वात्प्राप्तस्याऽह्नादेशस्य निषेधः । ५—अन्त्यत्वं च पुण्यशब्दस्य "१४८८ अहः सर्वैकदेश..." इति सूत्रनिर्दिष्टं बोध्यम् । ६—पुण्यमहरिति विग्रहे विशेषणसमासः, टच् टिलोपः, 'पुण्यसुदिनाभ्याम्' इति नपुंसकत्वम् । ७—पुण्याहवत् सिद्धिः । ८—एकमहरिति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासः । टच्, टिलोपः ।

१४९१—'ट' 'ख' परे रहते ही अहन् की टि का लोप होता है ।

१४९२—समासान्त प्रत्यय परे रहते सर्वादि पूर्वक अहन् शब्द को अह्न आदेश होता है ।

१४९३—अदन्त पूर्वपद में स्थित निमित्त से परे अह्न शब्द के नकार को णकार होता है ।

१४९४—समाहार में संख्यापूर्वक अहन् शब्द को अह्न आदेश नहीं होता ।

१४९५—उत्तम और एक शब्द से परे स्थित अहन् को भी अह्न आदेश नहीं होता । (पुण्य और सुदिन शब्द पूर्व रहते अहन् शब्द को नपुंसक लिङ्ग होता है ऐसी इष्टि है)

१४९६ अग्राख्यायामुरसः ५ । ४ । ९३ ॥

टच् । अश्वानामुर इव अश्वोरसम् । मुख्योऽश्व इत्यर्थः ।

१४९७ ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ५ । ४ । ९५ ॥

ग्रामतक्षः । कौटतक्षः ।

१४९८ अतेः शुनः ५ । ४ । ९६ ॥

अतिश्वो—वराहः ।

१४९९ उपमानादप्राणिषु ५ । ४ । ९७ ॥

अप्राणिविषयोपमानवाचिनः शुनष्टच् । आकर्षः श्वेव आकर्षश्वः ।

१५०० उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ५ । ४ । ९८ ॥

चादुपमानात् । उत्तरसक्थम् । मृगसक्थम् । पूर्वसक्थम् । फलकमिव सक्थि–

१—अग्राख्यायाम् = मुख्ये । अग्रे भवमग्र्यम् = मुख्यम् । २—उरश्शब्देन मुख्यवाचिना षष्ठीसमासः, टच्, "परवल्लिङ्गम्" इति नपुंसकत्वम् । अग्राख्यायां किम् ? देवदत्तोरः । ३—ग्रामकौटाभ्यां परो यस्तक्षन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः । ४—साधारण इत्यर्थः । ग्रामे यावन्तो जनाः सन्ति तावतां विधेय इति भावः । टचि टिलोपः । ५—स्वतन्त्र इत्यर्थः । कुटीमेकां सम्पाद्य तत्र वसति नतु परकीयभूमिप्रदेशे । टचि टिलोपः । ६—अतीत्यव्ययात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टजित्यर्थः । ७—श्वानमतिक्रान्त इति विग्रहः । "अत्यादय" इति समासः, टचि टिलोपः । श्वापेक्षयाधिकवेगवान् वराह इत्यर्थः । ८—आकृष्यते कुसूलादि गतधान्यमनेनेत्याकर्षः = पञ्चाङ्गुलो दारुविशेषः "उपमितं व्याघ्रादिभि" रिति समासः, टच्, टिलोपः । ९—उत्तर–मृगपूर्व, एभ्य उपमानाच्च

१४९६—मुख्यता गम्य हो तो 'उरस्' शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय होता है ।

१४९७—ग्राम और कौट शब्द पूर्व हों तो 'तक्षन्' शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय होता है ।

१४९८—अति पूर्वक श्वन् शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय होता है ।

१४९९—अप्राणिविषयक उपमानवाची श्वन् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है ।

१५००—उत्तर मृग पूर्व इन शब्दों से परे और उपमान से परे सक्थि शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय होता है ।

फलकसक्थम् ।

१५०१ नावो द्विगोः ५ । ४ । ९९ ॥

द्विनावम् । त्रिनावम् ।

१५०२ अर्धाच्च ५ । ४ । १०० ॥

अर्धनावम् ।

१५०३ खार्याः प्राचाम् ५ । ४ । १०१ ॥

द्विगोरर्धाच्च खार्याष्टज्वा । द्विखारम् । द्विखारि । अर्धखारम् । अर्धखारि ।

१५०४ द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ५ । ४ । १०२ ॥

द्व्यञ्जलम् । द्व्यञ्जलि ।

१५०५ ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ५ । ४ । १०४ ॥

परो यः सक्थिशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः । उत्तरं सक्थीति विग्रहः । पूर्वं सक्थीति विग्रहे 'पूर्वकाले'ति समासः । फलकसक्थमित्यत्र मयूरव्यंसकादित्वात्समासः (सर्वत्र) टच्, टिलोपः ।

१—नौशब्दाद् द्विगोष्टच् स्यान्न तु तद्धितलुकि—इत्यर्थः । २—द्वयोर्नावोः समाहार इति विग्रहे द्विगुः, टच्, अवादेशः, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम् । एवं त्रिनावम् । ३—अर्धशब्दात्परो यो नौशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टजित्यर्थः । ४—'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः, टच्, अवादेशः, क्लीबत्वं लोकात् । ५—द्वयोः खार्योः समाहारः इति विग्रहे द्विगुः, टच्, यस्येतिचेतीकारलोपः "स नपुंसक"मिति नपुंसकत्वम् । टजभावपक्षे नपुंसकह्रस्वः । ६—खार्या अर्धमिति विग्रहः । "अर्धं नपुंसक"मिति समासः टच्, यस्येति च, क्लीबत्वं लोकात् । टजभावपक्षे नपुंसकह्रस्वः । ७—टज् वा स्याद् द्विगौ । ८—द्वयोरञ्जल्योः समाहार इति विग्रहे द्विगुः, टच्, 'यस्येति च', 'स नपुंसकम्' । टजभावे नपुंसकह्रस्वत्वम्, द्व्यञ्जलि ।

१५०१—नौशब्दान्त द्विगु से टच् प्रत्यय होता है ।

१५०२—अर्ध शब्द से परे 'नौ' शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है ।

१५०३—द्विगु समास में खारी शब्द से और अर्ध शब्द से पर खारी शब्दान्त तत्पुरुष से टच् विकल्प से होता है ।

१५०४—द्वित्रिपूर्वक अञ्जलि शब्दान्त द्विगु से टच् विकल्प से होता है ।

१५०५—ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् होता है जनपद-विशेषवासी गम्य रहते ।

ब्रह्मान्तात्तत्पुरुषाट्टच् । सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः ।

१५०६ कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ५ । ४ । १०५ ॥

कुब्रह्मः । कुब्रह्मा । महाब्रह्मः । महाब्रह्मा । 'प्रकारवचने जातीयर्' । महाप्रकारो महाजातीयः ।

१५०७ द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६ । ३ । ४७ ॥

आत्स्यात् । द्वादश । अष्टादश । अबहुव्रीह्यशीत्योः किम्—द्वित्राः । द्व्यशीतिः (प्राक्शताद्वक्तव्यम्) । नेह—द्विशतम् ।

१५०८ त्रेस्त्रयः ६ । ३ । ४८ ॥

त्रिशब्दस्य त्रयसादेशः स्यात्पूर्वविषये । त्रयोदश । त्रयोविंशतिः ।

१५०९ विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ६ । ३ । ४९ ॥

१—सप्तमीति योगविभागात्समासः । टच्, टिलोपः, "परवल्लिङ्गम्" इति । पुंस्त्वम् । जानपदेति किम् ? देवब्रह्मा (नारदः) । २–आभ्यां ब्रह्मणो वा टच् स्यात्तत्पुरुषे इत्यर्थः । ३—टचि रूपम्, टिलोपः । ४—महांश्चासौ ब्रह्मा चेति विग्रहः । 'सन्महत्...' इत्यादिना समासः 'आन्महतः' इत्यात्वम्, सवर्णदीर्घः, टच्, टिलोपः, 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वम् । ५—द्विशब्दस्य, अष्टन्शब्दस्य च सङ्ख्यावाचके उत्तरपदे परे आत्स्यात् न तु बहुव्रीह्यशीत्योरित्यर्थः । ६—अष्टौ च दश चेति द्वन्द्वः । अष्टाधिका दशेति वा । ७—द्वौ वा त्रयो वेति विग्रहः । 'सङ्ख्याव्यय' इति बहुव्रीहिः 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये' इति डच् । बहुव्रीहित्वादत्र द्विशब्दस्याऽऽत्वन्न । ८—द्वौ चाशीतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः । स्त्रीत्वं लोकात् । द्व्यधिकाशीतिरीति वा । अशीतिपरकत्वाद् द्विशब्दस्याऽऽत्वन्न । ९—त्रयश्च दश चेति, त्र्यधिका दशेति वा विग्रहः । सुब्लुकि त्रिशब्दस्य त्रयस्, रुत्वम्, उत्वम्,

---

१५०६—कु और महत् से परे ब्रह्मन् से समासान्त टच् प्रत्यय होता है तत्पुरुष में विकल्प से ।

१५०७—द्वि और अष्टन् शब्द को आत्व होता है संख्या वाचक उत्तरपद रहते । किन्तु बहुव्रीहि में और अशीति शब्द परे हो तो आत्व नहीं होता । (शत से पूर्व ही होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

१५०८—त्रि शब्द को 'त्रय' आदेश होता है पूर्व विषय में ।

१५०९—चत्वारिंशत् आदि शब्द परे रहते प्रागुक्त कार्य विकल्प से होते हैं ।

द्व्यष्टनस्त्रेश्च प्रागुक्तं वा चत्वारिंशदादौ परे। द्विचत्वारिंशत्। द्वाचत्वारिंशत्। अष्टचत्वारिंशत्। अष्टाचत्वारिंशत्। त्रिचत्वारिंशत्। त्रयश्चत्वारिंशत्। एवं पञ्चाशत्–षष्टि–सप्तति–नवतिषु।

१५१० परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः[1] २। ४। २६॥

कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरीकुक्कुटाविमौ। अर्धपिप्पली। (द्विगुप्राप्तापन्नालं-पूर्वगतिसमासेषु न[2])। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः[3] = पुरोडाशः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः[4]। आपन्नजीविकः। अलंकुमारिः[5]। अत एव ज्ञापकात् समासः। निष्कौशाम्बिः[6]।

१५११ पूर्ववदश्ववडवौ २। ४। २७॥*

द्वित्वमतन्त्रम्। अश्ववडवौ। अश्ववडवान्।

१५१२ अपथं नपुंसकम्[7] २। ४। ३०॥

तत्पुरुष इत्येव। अन्यत्र तु अपथो देशः। कृतसमासान्तग्रहणान्नेह।

आदगुणः। एवं त्रयोविंशतिरिति।

१—एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात्। २—द्विगु, प्राप्त, आपन्न, अलंपूर्व, गतिसमास एतेषु परवल्लिङ्गस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः। ३—उत्तरपदस्य नपुंसकत्वात्समासस्य नपुंसकत्वं प्राप्तं न भवति। ४—अत्रोत्तरपदस्य जीविकाशब्दस्य यल्लिङ्गं तत्समासस्य न भवति। एवम् आपन्नजीविकः। ५—अत्रोत्तरपदकुमारीलिङ्गं समासस्य न भवति। ६—अत्र कौशाम्बीशब्दलिङ्गं समासस्य न भवति। ७—न पंथा इति विग्रहे नञ् समासे नञो नस्य लोपे 'ऋक्पू'रिति 'अ'—प्रत्यये टिलोपे 'अपथ शब्दः' सनपुंसकमित्यर्थः। परवल्लिङ्गतापवादः।

१५१०—द्वन्द्व और तत्पुरुष में परवत् लिङ्ग होता है।

(द्विगुसमास और प्राप्त आपन्न अलंपूर्व समास तथा गति समास में परवल्लिङ्गता नहीं होती)

१५११—अश्व और वडवा के समास में पूर्ववल्लिङ्ग होता है।

१५१२—'अपथ' शब्द समास में नपुंसक होता है। (अकारान्त शब्द है उत्तरपद जिसमें ऐसा द्विगु स्त्रीलिङ्ग में इष्ट है) (आबन्तोत्तरपद द्विगु विकल्प से स्त्रीलिङ्ग होता है) (पात्रादिशब्दान्त द्विगु को स्त्रीलिङ्गता नहीं होती)

---

* अश्व–वडवाशब्दयोर्द्वन्द्वे पूर्ववल्लिङ्गं स्यादित्यर्थः। परवल्लिङ्गापवादोऽयम्।

अपन्थाः । (अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः) पञ्चमूली[1] । (आबन्तो वा) । पञ्चखट्वम्[2] । पञ्चखट्वी । (पात्राद्यन्तस्य न) । पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् । चतुर्युगम् ।

१५१३ छाया बाहुल्ये २ । ४ । २२ ॥

छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् पूर्वपदार्थबाहुल्ये । इक्षूणां छाया-इक्षुच्छायम् ।

१५१४ सभा-राजाऽमनुष्यपूर्वा २ । ४ । २३ ॥

राजपर्यायपूर्वोऽमनुष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् । इनसभम्[3] । ईश्वरसभम् । अमनुष्यशब्दो रूढया रक्षःपिशाचादीनाह । रक्षःसभम् । पिशाचसभम् ।

१५१५ विभाषा सेना-सुराच्छाया-शाला-निशानाम् २ । ४ । २५ ॥

एतदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं वा । ब्राह्मणसेनम् । ब्राह्मणसेना । इत्यादि ।

१५१६ अशाला च २ । ४ । २४ ॥

सङ्घातार्था या सभा तदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात् । स्त्रीसभम् । स्त्रीसङ्घात इत्यर्थः । अशाला किम् । धर्मसभा । धर्मशालेत्यर्थः ।

१५१७ अर्धर्चाः पुंसि च २ । ४ । ३१ ॥

अर्धर्चादयः पुंसि क्लीबे च स्युः । अर्धर्चः[4] । अर्धर्चम् । एवं ध्वज-तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप-देहाङ्कुश-कलश-सूत्र-पात्रादयः । (सामान्ये नपुंसकम्) । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् । इति तत्पुरुषः ।

१—समाहारद्विगुः, स्त्रीत्वम्, 'द्विगो' रिति ङीप् । २—समाहारद्विगुः, नपुंसकत्वे ह्रस्वः । उपसर्जनह्रस्वत्वेऽदन्तत्वाद् 'द्विगो'रिति ङीप् । ३—इनेश्वरशब्दौ राजपर्यायाविति भावः । ४—ऋचोऽर्धमिति विग्रहे 'अर्धं नपुंसकमिति समासः । 'ऋक्पू...' इत्यच् परवल्लिङ्गं स्त्रीत्वं बाधित्वा पुंनपुंसकत्वविकल्पः ।

॥ इति तत्पुरुषः ॥

१५१३—छायान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है, पूर्वपदार्थ के बहुत्व रहने पर ।

१५१४—राजपर्यायपूर्वक और अमनुष्य पूर्वक सभा शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है ।

१५१५—सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा शब्दान्त तत्पुरुष विकल्प से नपुंसक होता है ।

१५१६—सङ्घातार्थक-सभा शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है ।

१५१७—अर्धर्चादि शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग होते हैं । (सामान्य नपुंसकलिङ्ग होता है)

अथ बहुव्रीहिसमासः ।

१५१८ शेषो[1] बहुव्रीहिः २ । २ । २३ ॥

अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात् ।

१५१९ अनेकमन्यपदार्थे २ । २ । २४ ॥

अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स बहुव्रीहिः ।

१५२० सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ २ । २ । ३५ ॥

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् ।

१५२१ हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६ । ३ । ९ ॥

हलन्तादद्न्ताच्च सप्तम्या अलुक् । कण्ठेकालः । अत एव[2] ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः ॥ प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको = ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् । उपहृतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना = स्थाली । पीताम्बरो = हरिः । वीरपुरुषको = ग्रामः (प्रादिभ्यो धातुजस्य[3] वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः[4]) प्रपतितपर्णः प्रपर्णः ।

अथबहुव्रीसमासः ।

१—उक्तादन्यः शेषः, द्वितीया श्रितेत्यादिना (शास्त्रेण) यस्य त्रिकस्य (विभक्तेः) विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः = प्रथमान्तः इत्यर्थः । २—प्रथमान्तानामेव बहुव्रीहिरिति सप्तम्यन्तस्य तत्र सम्भव एव नास्तीति सप्तम्यन्तस्य 'सप्तमीविशेषणे ......' इति सूत्रे पूर्वनिपातविधानं व्यर्थं सद् ज्ञापयति 'भवति व्यधिकरणपदोऽपि बहुव्रीहिः क्वचिदि'ति । यथा—कण्ठेकालः । शरेभ्यो जन्म यस्य स **शरजन्मा** = कार्त्तिकेयः । ३—ऊढो रथो येन । उपहृतः पशुर्यस्मै । उद्धृत ओदनो यस्याः । पीतानि अम्बराणि यस्य । वीराः पुरुषा यस्मिन्, इति विग्रहाः । ४—प्रादिभ्यः परं यद् धातुजमप्रकृतिकं प्रथमान्तं तस्याऽन्येन प्रथमान्तेन बहुव्रीहिर्वाच्यः । तत्र बहुव्रीहौ

अथ बहुव्रीहिः

१५१८—"चार्थे द्वंद्वः" सूत्र तक बहुव्रीहि का अधिकार जाता है ।

१५१९—अनेक प्रथमान्त अन्य पद के अर्थ में वर्तमान विकल्प से समस्त होते हैं, वह समास बहुव्रीहि कहलाता है ।

१५२०—सप्तम्यन्त और विशेषण का बहुव्रीहि में पूर्वनिपात होता है ।

१५२१—हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् होता है ।

(वा०—(१) प्रादि से परे धातुज का अन्य पद के साथ समास होता है

(नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः) अविद्यमानपुत्रोऽपुत्रः।

१५२२ स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी-प्रियादिषु ६। ३। ३४॥

उक्तपुंस्कात्पर ऊङभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङः किम्? वामोरूभार्यः। पूरण्यां तु—

१५२३ अप्पूरणीप्रमाण्योः ५। ४। ११६॥

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमाः = रात्रयः। स्त्री प्रमाणी

प्रादिभ्यः परस्य उत्तरपदस्य धातुजस्य लोपश्च विकल्पेन वाच्य इत्यर्थः। प्रकृष्टं पतितं प्रपतितं प्रादिसमासः। प्रपतितं पर्णं यस्मादिति विग्रहः। 'प्रपतित' इति पूर्वपदे धातुजस्योत्तरपदस्य लोपे रूपं प्रपर्ण इति।

१—नञः परेषामस्त्यर्थवाचिनां सुबन्तानां बहुव्रीहिर्वाच्यः। तत्राऽस्त्यर्थवाचिनामुत्तरपदभूतानां लोपश्च वा वक्तव्य इत्यर्थः। अस्त्यर्थकस्य विद्यमानशब्दस्य लोपे रूपम्, अपुत्र इति। २—चित्राशब्दस्य पुंवत्वमिति भावः। चित्रा गावो यस्येति विग्रहः। ३—रूपवती भार्या यस्येति विग्रहः। उपसर्जनह्रस्वः, रूपवतीशब्दस्य पुंवत्त्वम्। ४—वामौ = सुन्दरौ ऊरू यस्या इति बहुव्रीहिः। 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' इत्यूङ्। पुंवत्वनिषेधः। अन्यथा 'वामोरुभार्य' इति स्यात्। ५—पुंवत्त्वनिषेधोदाहरणे विशेषो वक्ष्यत इति शेषः। ६—इह बहुव्रीहौ कृते पञ्चमीशब्दे पूरणार्थप्रत्ययान्ते परे कल्याणीशब्दस्य पुंवत्त्वनिषेधः। अप्, यस्येति चेतीकारलोपः।

और उत्तरपद का लोप होता है विकल्प से ((२) नञ् से परे अस्त्यर्थवाचक शब्द का अन्य पद के साथ समास होता है और उत्तरपद का लोप होता है विकल्प से।)

१५२२—प्रवृत्तिनिमित्त एक होने पर भाषितपुंस्क से परे ऊङ् के अभाव वाले स्त्रीवाचक शब्द के पुंवाचक के समान रूप होते हैं, समानाधिकरण स्त्रीलिंग उत्तरपद परे रहते। पूरणीप्रियादि परे रहते नहीं।

१५२३—पूरणार्थक प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिंग, तदन्त से और प्रमाण्यन्त बहुव्रीहि से अप् प्रत्यय होता है।

यस्य स स्त्रीप्रमाणः। पुंवद्भावनिषेधोऽप्प्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव। रात्री पूरणी-वाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्या। अन्यत्र तु—

१५२४ नद्यृतश्च ५।४।१५३॥

नद्युत्तरपदादृदन्तोत्तरपदाच्च बहुव्रीहेः कप्। पुंवद्भावः।

१५२५ केऽणः ७।४।१३॥

के परेऽणो ह्रस्वः। इति प्राप्ते।

१५२६ न कपि ७।४।१४॥

ह्रस्वः। कल्याणपञ्चमीकः = पक्षः। अत्र तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्य-पदार्थतया रात्रिरप्रधानम्। बहुकर्तृकः। अप्रियादिषु किम्—कल्याणीप्रियः। प्रिया। मनोज्ञा। कल्याणी। सुभगा। दुर्भगा। भक्तिः। सचिवा। स्वसा। कान्ता। क्षान्ता। समा। चपला। दुहिता। वामा। अबला। तनया। (इति प्रियादयः) (सामान्ये नपुंसकम्)। दृढं भक्तिर्यस्य स दृढभक्तिः।

१५२७ तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ६।३।३५॥

तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु स्त्रियाः पुंवत्। परिगणनं कर्तव्यम्। त्र—तसौ

१—अप्प्रत्यये 'यस्येति चे'ति इकारलोपः। २—स्त्रियाः पुंवत्" इति सूत्रे 'अप्पूरणी' इति सूत्रे च प्रधानपूरणीग्रहणं कर्तव्यमिति भावः। ३—ननु कल्याणीपञ्चमा रात्रय इत्यत्र पञ्चम्या रात्रेः समस्यमानपदार्थत्वात् कथं प्राधान्यं, बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वादित्यत आह—रात्रिः पूरणी वाच्येति। उक्तोदाहरणे पञ्चानां पूरणी रात्रिः समस्यमानपञ्चमीपदार्थत्वेऽपि अन्यपदार्थसमुदायघटकतया बहुव्रीहिसमासवाच्यापि भवतीति कृत्वा मुख्या भवति इत्यर्थः। ४—कल्याणपञ्चमीकः (पक्षः) इत्यत्रेत्यर्थः। ५—रात्रेस्तत्प्रदेशाभावाद् अप्राधान्यमिति भावः। ६—बहवः कर्तारो यस्येति विग्रहः। ७—कल्याणी प्रिया यस्येति विग्रहः। ८—इत्याश्रित्येति शेषः। ९—"पञ्चम्यास्तसिल्" इत्यारभ्य "सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्" इत्येतत्पर्यन्तसूत्रविहितेष्वित्यर्थः। उत्तरपदपरकत्वाभावात्

१५२४—नद्युत्तर पद और ऋदन्तोत्तरपद बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय होता है।

१५२५—क परे रहते अण् को ह्रस्व होता है।

१५२६—कप् परे हो तो ह्रस्व नहीं होता।

१५२७—कृत्वसुच् तक तसिलादि प्रत्यय परे रहते स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होता है।

तरसमपौ। चरट्—जातीयरौ। कल्पप्—देशीयरौ। रूपप्—पाशपौ। थाल्। तिल-थ्यनौ। एषु परेषु स्त्रियाः पुंवत्। बह्वीषु इति बहुत्र। बहुत इत्यादि। (त्वतलो-र्गुणवचनस्य) शुक्लत्वम्। शुक्लता। (भस्याढे तद्धिते) हस्तिनीनां समूहो हास्ति-कम्। अढे किम्। रौहिणेयः। (कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु) कुक्कुटाण्डम्। मृगपदम्। मृगक्षीरम्। काकशावः।

१५२८ क्यङ्मानिनोश्च ६। ३। ३६॥

पुंवत्। एनीवाचरति एतायते[10]। श्येनीवाचरति श्येतायते[11]। दर्शनीयां स्त्रियं (स्वभिन्नां काञ्चित्) मन्यते दर्शनीयमानिनी[12]।

"स्त्रियाः पुंवत्" इत्यप्राप्तौ वचनमिदम्।

१—'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रल्। पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तिः। २—'पञ्चम्यास्त-सिल्'। इति तसिल्। पुंवत्त्वात् ङीषो निवृत्तिरिति भावः। ३—त्वप्रत्यये तल् प्रत्यये च परे गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनः पुंवत्त्वं वक्तव्यमित्यर्थः। ४—ढभिन्ने तद्धिते परे स्त्रियाः पुंवत्त्वं वक्तव्यमित्यर्थः। परिगणितेष्वनन्तर्भावाद्वचनमिदम्। ५—"अचित्तहस्तिधेनोः" इति ठक्, ठस्येकः 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। पुंवत्त्वाभा-न्तलक्षणो ङीब्नेति भावः। ६—'वर्णादनुदात्तात्' इति रोहितशब्दान् ङीप् तका-रस्य नकारश्च। रोहिण्या अपत्यमित्यर्थे 'स्त्रीभ्यो ढक्' एयादेशः। पुंवत्त्वे तु ङीब्नकारयोर्निवृत्तिः स्यादिति भावः। ७—पुंवत्त्वं वक्तव्यमिति शेषः। ८—कुक्कुट्या अण्डमिति विग्रहः। पुंवत्त्वेन जातिलक्षणङीषो-निवृत्तिरिति भावः। एवम्—अग्रेऽपि। ९—क्यङि मानिनि च उत्तरपदे परत एतयोः पुंवत्त्वं स्यादि-त्यर्थः। १०—एता = चित्रवर्णा। "वर्णादनुदात्तात्" इति ङीप् नकारश्च। उपमानादाचारे 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' इत्येनीशब्दात्क्यङि 'अकृत्सार्वधातुकयो' रिति दीर्घः। ११—श्येतः = श्वेतः। क्यङादि पूर्ववत्। १२—'मनश्च' इति णिनिप्रत्ययः। उपपदसमासः। 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीप्।

(त्व प्रत्यय और तल् प्रत्यय परे रहते गुणोपसर्जन द्रव्यवाचक शब्द को पुंवद्भाव होता है)। (ढभिन्न तद्धित परे रहते भसञ्ज्ञक स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होता है ऐसा कहना चाहिये)। (अण्डादि शब्द उत्तरपद हो तो कुकुटी आदि शब्दों को पुंवद्भाव वक्तव्य है)।

१५२८—क्यङ् और मानिन् परे रहते स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होता है।

१५२९ न कोपधायाः ६ । ३ । ३७ ॥

स्त्रियाः न पुंवत् । पाचिकाभार्यः[1] । रसिकाभार्यः[2] । मद्रिकायते[3] । मद्रिकामानिनी[4] । (कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणम्[5] । नेह[6] । पाकभार्यः ।

१५३० संज्ञापूरण्योश्च ६ । ३ । ३८ ॥

अनयोर्न पुंवत् । दत्ताभार्यः[7] । पञ्चमीभार्यः[8] ।

१५३१ वृद्धिनिमित्तस्य तद्धितस्यारक्तविकारे ६ । ३ । ३९ ॥

वृद्धिशब्देन विहिता या वृद्धिस्तद्धेतुर्यस्तद्धितोऽरक्तविकारार्थस्तदन्ता स्त्री न पुंवत् । स्रौघ्नीभार्यः[9] । रक्ते तु काषायकन्थः । विकारे तु[10] हैममुद्रिकः ।

१—पाचिका भार्या यस्येति विग्रहः । पचो ण्वुल् , अकादेशः, टाप् , इत्वञ्च । पुंवत्त्वे टाबित्वयोर्निवृत्तिः स्यादिति भावः । २—रसोऽस्या अस्तीति रसिका सा भार्या यस्येति विग्रहः । 'अत इनि–ठनौ' इति ठन् , ठस्येकः, टाप् , पुंवत्त्वनिषेधः । पुंवत्त्वे तु टापो निवृत्तिः स्यादिति भावः । ३—मद्राख्ये देशविशेषे भवा मद्रिका 'मद्रवृज्योः कन्' टाप् , इत्वम् । मद्रिकेवाचरतीत्यर्थः । ४—मद्रिकां मन्यत इत्यर्थे 'मनश्च' इति णिनिः । उपपदसमासः । ५—तद्धितसम्बन्धी वुसम्बन्धी च यः ककारस्तदुपधायाः स्त्रिया न पुंवत्त्वमिति भावः । मद्रिकायते इति तद्धितकोपधोदाहरणम् । पाचिकाभार्य इति वु-सम्बन्धिकोपधोदाहरणम् । ६—नायं ककारस्तद्धितस्य वुप्रत्ययस्य वा किन्तु–उणादिकप्रत्ययो निपातितः 'अर्भकपृथुकपाका वयसि' इति सूत्रेण । ७—इयं सञ्ज्ञा । ८—इदं पूरण्या उदाहरणम् । पञ्चमी भार्या यस्येति विग्रहः । 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तमत्र निषिध्यते । ९—स्रुघ्नो देशः । तत्र भव इत्यण् । यस्येति चेत्यकारलोपः । णित्वादादिवृद्धिः 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् स्रौघ्नी भार्या यस्येति विग्रहः । १०—विकारार्थे विद्यमानस्य तद्धितस्य न पुंवत्त्वनिषेध इत्यर्थः । 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञ् , टिलोपः, आदिवृद्धिः, 'टिड्ढा...' इति ङीप् , हैमीतिरूपम् । हेम्नः = स्वर्णस्य विकारभूते-

---

१५२९—ककारोपध स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता । (कोपध प्रतिषेध में तद्धित सम्बन्धी और 'वु' सम्बन्धी कोपध का ही ग्रहण होता है)।

१५३०—सञ्ज्ञावाचक और पूरण प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता ।

१५३१—वृद्धि शब्द से विहित वृद्धि का हेतुभूत जो रक्त-विकारार्थ भिन्न तद्धित तदन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों को पुंवद्भाव नहीं होता ।

१५३२ स्वाङ्गाच्चेतः ६ । ३ । ४० ॥

स्वाङ्गाद्य ईकारस्तदन्तात्स्त्री न पुंवत् । सुकेशीभार्यः । स्वाङ्गात्किम् । पटुभार्यः । ईतः किम् । अकेशभार्यः । (अमानिनीति वक्तव्यम्) सुकेशमानिनी ।

१५३३ जातेश्च ६ । ३ । ४१ ॥

न पुंवत् । ब्राह्मणीभार्यः । शूद्राभार्यः ।

१५३४ संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये २ । २ । २५ ॥

संख्येयार्थया संख्ययाऽव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः ।

१५३५ बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् ५ । ४ । ७३ ॥

संख्येये यो बहुव्रीहिस्तस्माड्डच् समासान्तः । दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः । अबहुगणात् किम् । उपबहवः । उपगणाः ।

त्यर्थः । हैमी मुद्रिका यस्येति विग्रहः ।

१—ईत इतिच्छेदः । २—सु = शोभनाः केशा यस्याः सा सुकेशी 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' इति ङीष्, 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तस्य निषेधः । ३—पटुत्वस्य स्वाङ्गत्वाभावान्न पुंवत्त्वनिषेधः । ४—अविद्यमानाः केशा यस्याः सा अकेशा 'नञोऽस्त्यर्थाना' मिति बहुव्रीहिः । विद्यमानशब्दस्य लोपश्च । स्वाङ्गत्वेऽपि न ङीष् 'सह नञ् विद्यमान' इति निषेधात् । अकेशा भार्या यस्येति विग्रहः । ५—स्वाङ्गाच्चेति निषधो मानिन् शब्दे परतो न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः । ६—सुकेशी मन्यते इत्यर्थे 'मनश्च' इति णिनिः, उपधावृद्धिः, उपपदसमासः, सुपो लुक् । पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तिरिति भावः । ७—जातेः परो यः स्त्रीप्रत्ययस्तदन्तं न पुंवदित्यर्थः । ८—नवैकादश वेत्यर्थः । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । ९—बहूनां समीपे ये सन्ति, गणानां समीपे ये सन्ति, इति विग्रहौ । 'बहुगणवतुडति

१५३२—स्वाङ्गवाचक से जो ई प्रत्यय तदन्त स्त्रीवाचक शब्द को पुंवत् नहीं होता ।

('स्वाङ्गाच्चितः') यह निषेध मानिन् शब्द परे रहते प्रवृत्त नहीं होता)।

१५३३—जातिवाची स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवत् नहीं होता ।

१५३४—संख्येयार्थक संख्यावाचक शब्द से अव्ययादियों का समास होता है । वह बहुव्रीहि होता है ।

१५३५—संख्येय अर्थ में हुए बहुव्रीहि से समासान्त डच् प्रत्यय होता है, बहु शब्दान्त और गण शब्दान्त को छोड़कर ।

१५३६ ति विंशतेर्डिति ६ । ४ । १४२ ॥

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति । आसन्नविंशाः । विंशतेरासन्ना इत्यर्थः । अदूरविंशाः । अधिकचत्वारिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा–द्वित्राः ।

१५३७ दिङ्नामान्यन्तराले २ । २ । २६ ॥

दिशो नामान्यन्तराले वाच्ये प्राग्वत् । दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशो यदन्तरालं–दक्षिणपूर्वा ।

१५३८ तत्र तेनेदमिति सरूपे २ । २ । २७ ॥

सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपोपपदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे ।

१५३९ इच् कर्मव्यतिहारे ५ । ४ । १२७ ॥

१५४० अन्येषामपि दृश्यते ६ । ३ । १३७ ॥

दीर्घः । केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं–केशाकेशि । दण्डैश्च दण्डैश्च

सङ्ख्या' इति सङ्ख्यात्वात्समासः ।

१—विंशतिसङ्ख्यासन्नसङ्ख्यावन्त इत्यर्थः । २–त्रिंशतोऽदूरा इति विग्रहः । डचि टिलोपः । ३–'द्व्यष्टनः सङ्ख्यायाम्' इति सूत्रादधस्तादस्य सिद्धिर्द्रष्टव्या । ४–समस्यन्ते, स च बहुव्रीहिरित्यर्थः । ५–स्त्रीत्वं लोकात् । यद्वा–अन्तरालमिह दिगेव गृह्यते 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवत्त्वम्' इति भाष्यम् । यद्यपि–उपसर्जनत्वान्न सर्वनामत्वम् । तथापि भूतपूर्वगत्या सर्वनामत्वमादाय पुंवत्त्वं भवति दक्षिणाशब्दस्य । ६—गृह्यतेऽस्मिन्निति ग्रहणं = केशादि, अधिकरणे ल्युट्, तद्विषयो वाच्यं ययोस्ते, ग्रहणविषये = ग्रहणवाचके–इति यावत् । ७—प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणं = दण्डादि, तद्विषयो वाच्यं ययोस्ते, प्रहरणविषये = प्रहरणवाचके इति यावत् । ८—अव्ययत्वात् सुपो लुगिति भावः । एवमग्रेऽपि ।

१५३६—भसंज्ञक विंशति शब्द के 'ति' का लोप होता है डित् प्रत्यय परे रहते ।

१५३७—दिग्वाचक शब्दों का समास होता है अन्तराल वाच्य रहते ।

१५३८—सप्तम्यन्त और तृतीयान्त ग्रहण विषय सरूप पदों का 'इदं युद्धं प्रवृत्तम्' अर्थ में समास होता है, कर्मव्यतिहार में ।

१५३९—कर्म व्यतिहार में कृत बहुव्रीहि से समासान्त 'इच्' प्रत्यय होता है ।

१५४०—कर्मव्यतिहार विषयक बहुव्रीहि समास में पूर्वपद को अन्त को

प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तं दण्डादण्डि। मुष्टीमुष्टि।

१५४१ तेन सहेति तुल्ययोगे २।२।२८॥

तुल्ययोगे वर्तमानं सहेत्येतत् तृतीयान्तेन प्राग्वत्।

१५४२ वोपसर्जनस्य ६।३।८२॥

बहुव्रीहेरवयवस्य सहस्य सः स्याद्वा। पुत्रेण सह—सपुत्रः सहपुत्रो वागतः।

१५४३ प्रकृत्याशिषि ६।३।८३॥

सहशब्दः[1]। स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय सहामात्याय। (अगोवत्सहलेष्विति वक्तव्यम्)। सगवे। सवत्साय। सहलाय।

१५४४ बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ५।४।११३॥

स्वाङ्गवाचिनः सक्थ्यक्ष्यन्ताद्बहुव्रीहेः षच्[2]। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी[3]। स्वाङ्गात्किम्—दीर्घसक्थि[4] = शकटम्। स्थूलाक्षा[5] = वेणुयष्टिः। अक्ष्णोर्दर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच्।

१५४५ द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ५।४।११५॥

१—सहशब्दः प्रकृत्या स्यादाशिषि इत्यर्थः। २—षच् प्रत्ययः 'यस्येति च' इतीकारलोपः। ३—जलजे इवाऽक्षिणी यस्या इति विग्रहः। समासे षचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः, षित्वात् ङीष्। षित्वं ङीषर्थमिति भावः। ४—दीर्घे सक्थिनी (सक्थिसदृशौ ईषादण्डौ) यस्येति विग्रहः। प्राणिस्थस्यैवाङ्गसञ्ज्ञेति न षच्। ५—स्थूलानि अक्षाणि = पर्वग्रन्थयो यस्या इति विग्रहः। अस्वाङ्गत्वादिह न षच् इति भावः।

दीर्घ होता है इच् परे रहते।

१५४१—तुल्य योग में वर्तमान सह शब्द का तृतीयान्त के साथ समास होता है।

१५४२—बहुव्रीहि के अवयव सह शब्द को 'स' आदि श होता है विकल्प से।

१५४३—आशीर्वाद में सह शब्द को 'स' आदेश नहीं होता, प्रकृतिभाव होता है। (गोवत्स, हल परे रहते 'सह' स आदेश हो जाता है—प्रकृति भाव नहीं होता।)

१५४४—स्वाङ्गवाची सक्थि और अक्षि शब्दान्त बहुव्रीहि से 'षच्' प्रत्यय होता है।

१५४५—बहुव्रीहि में द्वित्रि शब्दपूर्वक मूर्धन् से 'ष' प्रत्यय होता है।

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद्बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः।[1]

१५४६ अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ५। ४। ११७॥

अप् स्यात्। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।[2]

१५४७ पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५। ४। १३८॥

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादस्य लोपः। व्याघ्रस्येव पादौ यस्य व्याघ्रपात्[3]। अहस्त्यादिभ्यः किम्—हस्तिन इव पादौ यस्य हस्तिपादः। कुसूलपादः।

१५४८ संख्यासुपूर्वस्य ५। ४। १४०॥

पादशब्दस्य लोपः। द्विपात्। सुपात्।[4]

१५४९ उद्विभ्यां काकुदस्य ५। ४। १४८॥

लोपः। उत्काकुत्[5]। विकाकुत्।

१५५० पूर्णाद्विभाषा ५। ४। १४९॥[6]

पूर्णकाकुत्। पूर्णकाकुदः।

१५५१ सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः[7] ५। ४। १५०॥

१—द्वौ मूर्धानौ यस्य, त्रयो मूर्धानो यस्येति विग्रहौ। 'नस्तद्धिते इति टिलोपः।
२—अन्तः लोमानि यस्येति विग्रहः। अप् प्रत्ययेः टिलोपः। एवं बहिर्लोमः।
३—व्याघ्रपादाविव पादावस्येति विग्रहः। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्ये'ति समासः।
४—द्वौ पादावस्येति, शोभनौ पादावस्येति विग्रहौ। ५—उद्, विभ्यां परस्य काकुदस्य लोपो वा स्याद्बहुव्रीहावित्यर्थः। उन्नतं काकुदं=तालु यस्येति विग्रहः।
६—पूर्णात्परस्य काकुदस्य लोपो वा स्यादित्यर्थः। पूर्णं काकुदं यस्येति विग्रहः।
७—सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। शोभनं हृदयं यस्येति विग्रहः।

१५४६—अन्तर् और बहिर् शब्द से परे लोमन् शब्दान्त बहुव्रीहि से 'अप्' प्रत्यय होता है।

१५४७—हस्त्यादिवर्जित उपमान से परे पाद के अन्त का लोता है बहुव्रीहि में।

१५४८—'संख्या' और 'सु' पूर्व रहते भी पाद के अन्त का लोप होता है।

१५४९—'उद्' और 'वि' पूर्व रहते काकुद के अन्त का लोप होता है।

१५५०—पूर्ण शब्द पूर्व रहते काकुद के अन्त का लोप विकल्प से होता है।

१५५१—मित्र और अमित्र अर्थ में क्रमशः 'सुहृद्' और 'दुर्हृद्' ये दोनों

सुहृन्मित्रम्। दुर्हृदमित्रः। (नेतुर्नक्षत्रे अब्वक्तव्यः)[1]। मृगो नेता यासां रात्रीणां ताः मृगनेत्रा = रात्रयः।

१५५२ अच् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ५। ४। ११८॥

नासिकान्ताद्बहुव्रीहेरच् नासिकाशब्दश्च नसं प्राप्नोति न तु स्थूलपूर्वात्।

१५५३ पूर्वपदात्संज्ञायामगः ८। ४। ३॥

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य णो न तु गकारव्यवधाने। द्रुरिव नासिका यस्य द्रुणसः[2]। (खुरखराभ्यां वा नस्)[3]। खुरणाः। खरणाः। पक्षे अजपीष्यते। खुरणसः। खरणसः।

१५५४ उपसर्गाच्च ५। ४। ११९॥

उन्नसः[4]। (वेर्ग्रो वक्तव्यः)[5]। विगत नासिकाऽस्य—विग्रः। (ख्यश्च)*। विख्यः।

१—नक्षत्रे विद्यमानो यो नेतृशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरप्—वक्तव्य इत्यर्थः। मृगः = मृगशीर्षम्। नेता = नायकः। मृगनेतृशब्दादप्, यण्, टाप्। २—बहुव्रीहेरच्, नासिकाशब्दस्य नसादेशः, णत्वम्। द्रुरिव = वृक्ष इव। ३—खुरखराभ्यां परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ सञ्ज्ञायां नसादेशो वा वक्तव्य इत्यर्थः। खुराविव नासिके यस्येति विग्रहः। नसादेशः, पूर्वपदादिति णत्वम्, "अत्वसन्तस्य" इति दीर्घः। खररूपा नासिका यस्येति विग्रहः, खुरणाः, खरणाः। ४—प्रादेर्यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरच्, नासिकाया नसादेशश्च उन्नताः नासिका यस्येति विग्रहः, उन्नसः। ५—वेः परो यो नासिकाशब्दः स ग्रादेशम्प्राप्नोतीति भावः। विगता नासिका यस्येति विग्रहः, विग्रः।

निपातित हैं। (नक्षत्र अर्थ में नेतृ शब्द से 'अप्' प्रत्यय होता है)

१५५२—नासिकान्त बहुव्रीहि से अच् प्रत्यय होता है और नासिका को नस् आदेश होता है, किन्तु स्थूल शब्द पूर्व रहते नहीं होता।

१५५३—पूर्वपदस्थ निमित्त से परे नकार को णकार होता है, गकार के व्यवधान में नहीं होता। (खुर और खर शब्द से परे नासिका को 'नस्' आदेश विकल्प से होता है)।

१५५४—उपसर्ग से परे नासिका का 'नस्' होता है। (वि से परे नासिका को 'ग्र' आदेश होता है)। ('ख्य' आदेश भी होता है)।

---

*—नासिकायाः ख्यादेशश्च भवतीत्यर्थः।

१५५५ नञ्-दुः-सुभ्यो हलि-सक्थ्योरन्यतरस्याम् ५ । ४ । १२१ ॥

अच् वा स्यात् । अहलः । अहलिः । असक्थः । असक्थिः । एवं दुःसुभ्याम् । शक्तयोरिति पाठान्तरम् । अशक्तः । अशक्तिः ।

१५५६ नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ५ । ४ । १२२ ॥

नञ्दुःसुभ्य एव । अप्रजाः । अमेधाः । दुर्मेधाः । सुमेधाः ।

१५५७ धर्मादनिच् केवलात् ५ । ४ । १२४ ॥

केवलपूर्वपदाद्यो धर्मशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरनिच् । कल्याणधर्मा । केवलात् किम्—परमः स्वो धर्मो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ मा भूत् । परमस्वधर्मः । १५३६ इच्कर्मव्यतिहारे—केशाकेशि । मुसलामुसलि ।

१५५८ प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः ५ । ४ । १२९ ॥

प्रज्ञुः । संज्ञुः ।

१—अविद्यमानो हलिर्यस्येति विग्रहः, अहलः । अचि, यस्येति चेतोकारलोपः, एवमग्रेऽपि । २—एतेभ्यः पराभ्यां प्रजामेधाशब्दाभ्यां नित्यमसिच् समासान्तः स्यात् स तद्धित इत्यर्थः । असिचः चकार इत्, इकार उच्चारणार्थः । ३—अविद्यमाना प्रजा यस्येति सः—अप्रजाः । 'नञोऽस्त्यर्थाना'मिति समासः । असिचि यस्येति चेत्याकारलोपः 'अप्रजस्' शब्दः । तस्मात्सौ 'अत्वसन्तस्ये'ति दीर्घः, 'हल्ङ्याप्' इति सुलोपः । एवं प्रायोऽग्रेऽपि । ४—कल्याणो धर्मो यस्येति विग्रहः । अनिचि "यस्येति च" इत्यकारस्य लोपः । सौ 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घः, कल्याणधर्मा । ५—आभ्यां परयोर्जानुशब्दयोर्ज्ञुरादेशः स्याद्बहुव्रीहावित्यर्थः । प्रगते जानुनी यस्य, संगते जानुनी यस्येति विग्रहौ 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति समासः, प्रज्ञुः, सञ्ज्ञुः,

---

१५५५—नञ् दुस् और सु से परे हलि और सक्थि शब्दान्त बहुव्रीहि से 'अच्' प्रत्यय विकल्प से होता है । (सक्थि के स्थान में कहीं शक्ति शब्द का पाठ है)

१५५६—नञ् दुस् और सु से परे प्रजा और मेधा शब्दान्त बहुव्रीहि से 'असिच्' प्रत्यय नित्य होता है ।

१५५७—किसी एक पूर्वपद से परे जो धर्मशब्द तदन्त बहुव्रीहि से 'अनिच्' प्रत्यय होता है ।

१५५८—प्र और सम् से परे जानु शब्द को 'ज्ञु' आदेश होता है बहुव्रीहि में ।

१५५९ ऊर्ध्वाद्विभाषा ५। ४। १३० ॥

ऊर्ध्वज्ञुः। ऊर्ध्वजानुः।

१५६० ऊधसोऽनङ् ५। ४। १३१ ॥

कुण्डोध्नी।

१५६१ धनुषश्च ५। ४। १३२ ॥

धनुरन्ताद्बहुव्रीहेरनङादेशः। शार्ङ्गधन्वा[3]।

१५६२ वा संज्ञायाम् ५। ४। १३३ ॥

शतधन्वा। शतधनुः।

१५६३ जायाया निङ् ५। ४। १३४ ॥

जायान्तस्य बहुव्रीहेर्निङादेशः।

१५६४ लोपो व्योर्वलि ६। १। ६६ ॥

युवतिर्जाया यस्य युवजानिः।

१५६५ गन्धस्येदुत्-पूति-सु-सुरभिभ्यः[6] ५। ४। १३५ ॥

१—ऊर्ध्वशब्दात्परो यो जानुशब्दः तस्य ज्ञुरादेशो वा स्याद्बहुव्रीहौ इत्यर्थः। ऊर्ध्वे जानुनी यस्येति विग्रहः, ऊर्ध्वज्ञुः। २—ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात्स्त्रियाम्। कुण्डमिव ऊधो यस्या इति विग्रहः। अनङि कृते 'बहुव्रीहेरूधसः' इति ङीषि "अल्लोपोऽनः" इति भ वः, कुण्डोध्नी। ३—शार्ङ्गधनुश्शब्दे सकारस्यानङ्, ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थः। उकारस्य यण्, दीर्घो नलोपश्चेति भावः, शार्ङ्गधन्वा। ४—'धनुषश्च' इत्युक्तोऽनङ् सञ्ज्ञायां वा स्यादित्यर्थः, शतधन्वा = राजविशेषः (स्यमन्तकोपाख्याने प्रसिद्धः)। ५—युवजानिः—युवतिशब्दस्य पुंवत्वात् तिप्रत्ययस्य निवृत्तिः, नलोपः। ६—उत्, पूति, सु, सुरभि, एतेभ्यो गन्धस्येकारोऽन्तादेशः स्यादित्यर्थः।

१५५९—उर्ध्व शब्द से जानु को 'ज्ञु' आदेश विकल्प से होता है।

१५६०—ऊधोऽन्त बहुव्रीहि को समासान्त अनङ् आदेश होता है स्त्रीलिङ्ग में।

१५६१—धनुरन्त बहुव्रीहि को अनङ् आदेश होता है।

१५६२—संज्ञा में पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होता है।

१५६३—जायान्त बहुव्रीहि को 'निङ्' आदेश होता है।

१५६४—वल् प्रत्याहार परे रहते वकार और यकार का लोप होता है।

१५६५—उत्, पूति, सु, सुरभि शब्दों से परे गन्धान्त बहुव्रीहि को समा-

उद्गन्धिः[1] । पूतिगन्धिः । सुगन्धिः ।

१५६६ उपमानाच्च ५ । ४ । १३७ ॥

पद्मस्येव गन्धोऽस्य-पद्मगन्धिः ।

१५६७ वयसि दन्तस्य दतृ ५ । ४ । १४१ ॥

संख्यासुपूर्वस्येत्येव । द्विदन् । चतुर्दन् ।

१५६८ अग्रान्त-शुद्ध-शुभ्र-वृष-वराहेभ्यश्च ५ । ४ । १४५ ॥

एभ्यो दन्तस्य दतृ वा । कुड्मलाग्रदन्तः । कुड्मलाग्रदन् ।

१५६९ उरःप्रभृतिभ्यः कप् ५ । ४ । १५१ ॥

व्यूढोरस्कः । प्रियसर्पिष्कः । (अर्थान्नञः) अनर्थकम् । नञः किम् । अपार्थम् ।

१—उद्गतो गन्धो यस्य, स उद्गन्धिः । पूतिः=असुरभिर्गन्धो=यस्य, सः = पूतिगन्धि. । शोभनो गन्धो यस्य सः = सुगन्धिः । सर्वत्र 'वायुः' इति विशेष्यम् । २—उपमानवाचिपूर्वपदात्परस्यापि गन्धशब्दस्य इकारोऽन्तादेशः स्याद्बहुव्रीहावित्यर्थः । सप्तम्युपमानपूर्वपदस्येति समासः । ३—सङ्ख्यासुपूर्वस्य दन्तस्य दतृ-इत्यादेशः स्याद्वयसि-इत्यर्थः । ४—द्वौ दन्तौ यस्येति द्विदन् । शिशुत्वं गम्यते । दन्तस्य दत्रादेशः । ऋकार इत्, उगित्वान्नुम्, सुलोपः, संयोगान्तलोपः, तस्यासिद्धत्वाद्दार्घो न । चत्वारो दन्ता यस्येति चतुर्दन् । शेषं पूर्ववत् । ५—कुड्मलानाम्=मुकुलानाम् अग्राणीव दन्ता यस्येति कुड्मलाग्रदन् । ६—व्यूढम्=विशालम् उरः=वक्षो यस्येति व्यूढोरस्कः । कप्, 'सोऽपदादौ' इति सत्वम् । ७—प्रियं सर्पिर्यस्येति प्रियसर्पिष्कः । कप्, 'इणः षः' इति षत्वम् । ८—नञः परो योऽर्थशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेः कप् स्यादित्यर्थः । अविद्यमानोऽर्थो यस्येति-अनर्थकम् ।

सान्त इत् आदेश होता है ।

१५६६—उपमान वाचक से परे गन्धान्त बहुव्रीहि को इत् आदेश होता है ।

१५६७—संख्या और सु पूर्व रहते दन्त शब्द को दतृ आदेश होता है बहुव्रीहि में अवस्था गम्य रहते ।

१५६८—अग्रादि शब्दों से परे दन्त को दतृ आदेश विकल्प से होता है ।

१५६९—'उर' आदि शब्दान्त बहुव्रीहि से 'कप्' प्रत्यय होता है ।

(नञ् से परे अर्थान्त बहुव्रीहि से 'कप्' प्रत्यय होता है)

१५७० इनः स्त्रियाम् ५ । ४ । १५२ ॥

इन्नन्ताद्बहुव्रीहेः कप् । बहुदण्डिका[1] = नगरी । (अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति) बहुवाग्मिका[2] ।

१५७१ शेषाद्विभाषा ५ । ४ । १५४ ॥

अनुक्तसमासान्ताद्बहुव्रीहेः कब्वा । महायशाः[3] । महायशस्कः । अनुक्तेत्यादि किम्—व्याघ्रपाद्[4] ।

१५७२ आपोऽन्यतरस्याम् ७ । ४ । १५ ॥

कपि ह्रस्वः[5] । बहुमालकः । बहुमालाकः[6] । बहुमालः ।

१५७३ न संज्ञायाम् ५ । ४ । १५५ ॥

शेषादिति प्राप्तः कब् न । विश्वेदेवा अस्य–विश्वेदेवः ।

१५७४ ईयसश्च ५ । ४ । १५६ ॥

ईयसन्तोत्तरपदान्न कप् । बहवः श्रेयांसोऽस्य–बहुश्रेयान् । गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे

१—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी "अत इनिठनौ" इति इनिः । बहवो दण्डिनो यस्यामिति बहुदण्डिका । २—वागस्यास्तीति वाग्मी 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः, नकारादिकार उच्चारणार्थः । तद्धितत्वाद् गकारस्य नेत्सञ्ज्ञा । चकारस्य कुत्वं जस्त्वं वाग्मीति रूपम् । बहवो वाग्मिनो यस्यामिति विग्रहः । ३—महद् यशो यस्येति विग्रहः । "आन्महत" इत्यात्वम् । 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । महायशा । कप्पक्षे 'सोऽपदादौ' इति सत्वम् । ४—"पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः" इत्युक्तसमासान्तोऽयम् । स्थानिद्वारा लोपस्यापि समासान्तत्वात् । ५—कपि आबन्तस्य ह्रस्वो वा स्यादित्यर्थः । ६—बह्व्यो माला यस्येति विग्रहः । सर्वत्र 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वम् ।

१५७०—इन्नन्त बहुव्रीहि से 'कप्' होता है ।

(जहाँ अन् इन् अस् मन् ग्रहण हो वहाँ अर्थवान् अथवा अनर्थक दोनों से तदन्त विधि हो जाती है) ।

१५७१—अनुक्त समासान्त से विकल्प करके 'कप् प्रत्यय होता है ।

१५७२—कप् परे रहते आबन्त को विकल्प से ह्रस्व होता है ।

१५७३—संज्ञा से 'शेषात्' सूत्र से प्राप्त कप् नहीं होता ।

१५७४—ईयसुन् प्रत्ययान्तोत्तरपद बहुव्रीहि से कप् नहीं होता । (ईयसन्त

प्राप्ते । (ईयसो बहुव्रीहेर्न[1]) । बहुश्रेयसी* । बहुव्रीहेः किम्—अतिश्रेयसिः[2] ।

१५७५ वन्दिते भ्रातुः ५ । ४ । १५७ ॥

पूजार्थभ्रात्रन्तान्न कप् । प्रशस्तो भ्राताऽस्य प्रशस्तभ्राता । सुभ्राता । वन्दिते किम्—मूर्खभ्रातृकः । नद्यृतश्चेति कप् । (सर्वनाम-संख्ययोर्बहुव्रीहौ पूर्वनिपातः) । सर्वश्वेतः । द्विशुक्लः । (संख्याया अल्पीयस्याः[3]) । द्वित्राः । (द्वन्द्वेऽपि[4]) द्वादश । (वा) प्रियस्य[5] । गुडप्रियः । प्रियगुडः । (गड्वादेः परा सप्तमी[6]) । गडुकण्ठः । क्वचिन्न । वहेगडुः ।

१५७६ निष्ठा २ । २ । ३६ ॥

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । कृतकृत्यः[7] । (जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या) । सारङ्गजग्धी[8] । मासजाता । सुखजाता ।

१—ईयसन्ताद्बहुव्रीहेः परस्य स्त्रीप्रत्ययस्य ह्रस्वो नेति वाच्यमित्यर्थः । २—श्रेयसीमतिक्रान्त इति तत्पुरुषोऽयम् इति भावः । अत्र ह्रस्वः स्यादेव । ३—न्यूनाधिकसङ्ख्यावाचकशब्दानां समासे न्यूनसङ्ख्यायाः पूर्वप्रयोग इति वक्तव्यमित्यर्थः । ४—इदं वार्तिकं द्वन्द्वेऽद्वन्द्वेऽपि प्रवर्त्तते इत्यर्थः । ५—बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोगो वक्तव्य इत्यर्थः । ६—बहुव्रीहौ प्रयोज्येति वक्तव्यमिति शेषः । ७—कृतं कृत्यं येनेति विग्रहः । ८—सारङ्गो जग्धो = भक्षितो यस्येति विग्रहः । 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इति ङीष् । इदं जातिपूर्वस्योदाहरणम् । कालपूर्वस्योदाहरणम्:-मासो जातो यस्या इति मासजाता । सुखपूर्वस्योदाहरणम्-सुखं जातं यस्या इति ।

बहुव्रीहि से परे स्त्रीप्रत्यय को ह्रस्व नहीं होता) ।

१५७५—पूजार्थक भ्रातृ शब्दान्त बहुव्रीहि से कप् नहीं होता ।

(सर्वनाम और संख्यावाचक का बहुव्रीहि में पूर्व निपात होता है ।)

(अपेक्षाकृत अल्प संख्यावाचक का पूर्व निपात होता है बहुव्रीहि में) द्वन्द्व में भी) (प्रिय शब्द का बहुव्रीहि में विकल्प से पूर्वनिपात होता है) । (बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त का पर प्रयोग होता है) (कहीं नहीं भी) ।

१५७६—बहुव्रीहि में निष्ठान्त का पूर्व निपात होता है ।

---

* अत्र 'नद्यृतश्च, इति नित्यं कप् प्राप्तः, स 'ईयसश्च, इति सूत्रेण प्रतिषिध्यते, ईयसन्त ग्रहणे लिङ्ग विशिष्ट परिभाषया-अस्यापि ग्रहणात् ।

१५७७ वाहिताग्न्यादिषु २ । २ । ३७ ॥

आहिताग्निः । अग्न्याहितः । आकृतिगणोऽयम् । इति बहुव्रीहिः ।

अथ द्वन्द्वसमासः

१५७८ चार्थे द्वन्द्वः २ । २ । २९ ॥

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्रेश्वरं गुरुं च भजस्वेति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः = समुच्चयः । भिक्षामट गां चानयेति अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः। अनयोरसामर्थ्याद् समासो न । धवखदिरौ छिन्धीति मिलितानामन्वयः = इतरेतरयोगः । संज्ञापरिभाषमिति[4] समूहः = समाहारः ।

१—निष्ठायाः पूर्वं प्रयोग इति शेषः । आहिताः = आधानेन संस्कृता अग्नयो येनेति विग्रहः । ॥ इति बहुव्रीहिः ॥

अथ द्वन्द्वसमासः

२—तत्र = तेषु चार्थेषु समुच्चयेऽन्वाचये च न द्वन्द्वसमास इत्यन्वयः । ३—धवश्च खदिरश्चेति विग्रहः, इतरेतरद्वन्द्वोदाहरणमिदम् । ४—सञ्ज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहार इति विग्रहः । समाहारोदाहरणमिदम् ।

१५७७—आहिताग्नि आदि शब्दों में निष्ठा का पूर्व प्रयोग विकल्प से होता है । इति बहुव्रीहिः ।

अथ द्वन्द्वसमासः

१५७८—चकार के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का समास विकल्प से होता है, और उसकी 'द्वन्द्व' संज्ञा होती है ।

'च' के ४ अर्थ होते हैं—(१) समुच्चय (२) अन्वाचय (३) इतरेतरयोग, (४) समाहार ।

परस्पर निरपेक्ष अनेकों का एक में अन्वय समुच्चय कहलाता है यथा—"ईश्वरं गुरुं च भजस्व" १ । एक का आनुषङ्गिक अन्वय अन्वाचय कहलाता है यथा—"भिक्षामट गां चानय" २ । इन दोनों में सामर्थ्य न होने से समास नहीं होता ।

मिलितों का अन्वय समुच्चय कहलाता है यथा—"धवखदिरौ छिन्धि" ३ । समूह को समाहार कहते हैं यथा—"संज्ञापरिभाषम्" ४ (इन दोनों में समास होता है)।

१५७९ राजदन्तादिषु परम् २ । २ । ३१ ॥

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः[1] । (धर्मादिष्वनियमः) । अर्थधर्मौ । धर्मार्थौ । दम्पती । जम्पती । जायापती । (जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च वा निपात्यते) । आकृतिगणोऽयम् ।

१५८० द्वन्द्वे घि २ । २ । ३२ ॥

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिहरौ[3] ।

१५८१ अजाद्यदन्तम्[2] २ । २ । ३३ ॥

ईशकृष्णौ[4] ।

१५८२ अल्पाच्तरम्[5] २ । २ । ३४ ॥

शिवकेशवौ । (ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण[6]) । हेमन्तशिशिर-वसन्ताः । कृत्तिकारोहिण्यौ । समाक्षराणां किम्-ग्रीष्मवसन्तौ[7] । (लघ्वक्षरं

१—दन्तशब्दस्य षष्ठीतत्पुरुषेऽप्रधानतयोपसर्जनत्वेऽपि परनिपातः । २—अजाद्य-दन्तशब्दस्य पूर्वनिपातनियमे प्राप्ते तदनियमो वक्तव्य इत्यर्थः । ३—हरिश्च हरश्च 'हरिहरौ' हरिशब्दस्य घित्वात्पूर्वनिपातः । ४—अत्र कृष्णस्याऽदन्तत्वेऽपि-अजादि-त्वाभावान्न पूर्वनिपातः । ५—अल्पसङ्ख्याच्कं पदं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थः । ६—समानसङ्ख्याच्कानाम् ऋतूनां नक्षत्राणाञ्च द्वन्द्वे आनुपूर्व्येण = क्रमेण निपातो वक्तव्य इत्यर्थः । ७—विषमाक्षरत्वाद्वसन्तस्य न पूर्वनिपातः, किन्तु-अल्पाच्त्वाद् ग्रीष्मस्य पूर्वनिपातः । ८—लघु अक्षरम् = अच् यस्य तत् द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोज्य-मित्यर्थः ।

१५७९—राजदन्तादि शब्दों में पूर्व प्रयोगार्ह का पर निपात होता है । (धर्मादि शब्दों में यह नियम नहीं है) ।

(जाया शब्द को द्वन्द्व समास में "दं" भाव और "जं" भाव निपातित होता है) ।

१५८०—द्वन्द्व में घि सञ्ज्ञक का पूर्व निपात होता है ।

१५८१—जो शब्द अजादि है और अदन्त है उसका द्वन्द्व में पूर्व निपात होता है ।

१५८२—द्वन्द्व में अल्पाच्तर का पूर्व निपात होता है । (ऋतु और नक्षत्र वाचक समान अक्षरों वाले शब्दों का आनुपूर्वी क्रम से पूर्व पर निपात होता है) । (लघु अक्षर वाले शब्द का द्वन्द्व में पूर्व निपात होता है) । (अभ्यर्हित = श्रेष्ठ का

पूर्वम्)। कुशकाशम्। (अभ्यर्हितं च)। तापसपर्वतौ। (वर्णानामानुपूर्व्येण)। ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः। (भ्रातुर्ज्यायसः)। युधिष्ठिरार्जुनौ।

१५८३ द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् २। ४। २॥

एषां द्वन्द्व एकवत्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्।

१५८४ अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् २। ४। ५॥

अध्ययनेन प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां द्वन्द्व एकवत्। पदक-क्रमकम्।

१५८५ जातिरप्राणिनाम् २। ४। ६॥

प्राणिवर्ज्जजातिवाचिनां द्वन्द्व एकवत्। धानाशष्कुलि। प्राणिनां तु विट्शूद्राः।

१५८६ विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः २। ४। ७॥

१—श्रेष्ठः पूर्वं प्रयोज्य इति वक्तव्यमित्यर्थः। पर्वतस्य स्थावरजन्मतया तापसस्य तदपेक्षयाऽभ्यर्हितत्वं बोध्यम्। २—पाण्योः पादयोश्च समाहार इति विग्रहः। समाहारे एकवत्वं नपुंसकत्वञ्च प्राण्यङ्गोदाहरणमिदम्, पाणिपादम्। ३—मृदङ्गवेणुशब्दौ वाद्यविशेषपरौ। मार्दङ्गिकवैणविकयोः समाहार इति विग्रहः। तूर्याङ्गोदाहरणमिदम्, मार्दङ्गिकवैणविकम्। ४—रथेन चरन्तीति रथिकाः। "पर्पादिभ्यष्ठन्"। रथिकानामश्वारोहाणाञ्च समाहार इति विग्रहः। सेनाङ्गोदाहरणमिदम्, रथिकाश्वारोहम्। ५—पदान्यधीयते पदकाः। क्रमान् अधीयते क्रमकाः। "क्रमादिभ्यो वुन्" पदकानां क्रमकाणाञ्च समाहार इति विग्रहः। ६—धानाश्च शष्कुल्यश्च तासां समाहार इति विग्रहः। जातिवाचित्वादेकवत्वम्। नपुंसकत्वाद् ह्रस्व इति भावः। ७—विशश्च शूद्राश्चेति विग्रहः।

का पूर्व निपात होता है द्वन्द्व में)। (वर्ण वाचक शब्दों का आनुपूर्वी क्रम से निपात होता है)। (ज्येष्ठ भ्रातृ बोधक शब्द का द्वन्द्व में पूर्व निपात होता है)।

१५८३—प्राण्यङ्ग तूर्याङ्ग तथा सेनाङ्ग वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है।

१५८४—जिनकी संज्ञा अध्ययन से निकट पड़ती हो उनका द्वन्द्व एकवत् होता है।

१५८५—प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है।

१५८६—ग्रामवर्ज भिन्नलिङ्गवाले नदी और देश वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है।

ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां भिन्नलिङ्गानां द्वन्द्व एकवत्। उध्यश्च इरावती च उध्येरावति। गङ्गाशोणम्[1]। कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम्।

१५८७ क्षुद्रजन्तवः २।४।८॥

एषां द्वन्द्व एकवत्। यूकालिक्षम्[2]। आनकुलात्क्षुद्रजन्तवः।

१५८८ येषां च विरोधः शाश्वतिकः २।४।९॥

प्राग्वत्। अहिनकुलम्[3]। गोव्याघ्रम्। काकोलूकमित्यादौ परत्वाद्विभाषा वृक्षेति प्राप्तं चकारेण बाध्यते।

१५८९ शूद्राणामनिरवसितानाम् २।४।१०॥

अबहिष्कृतानां शूद्राणां द्वन्द्वः प्राग्वत्। तक्षायस्कारम्[4]। पात्राद्बहिष्कृतानां तु चण्डाल-मृतपाः।

१५९० गवाश्वप्रभृतीनि च २।४।११॥

यथोच्चारितानि तथैव साधूनि। गवाश्वम्। दासीदासमित्यादि[5]।

१५९१ विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुन्यश्व-वडव-पूर्वापराधरोत्तराणाम् २।४।१२॥

वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्वोऽश्ववडवेत्यादि द्वन्द्वत्रयं च प्राग्वद्वा। वृक्षादौ[6] विशे-

---

१—गङ्गा च शोणश्च = गङ्गाशोणम्। २—यूकाश्च लिक्षाश्चेति विग्रहः। केशबहुले शिरःप्रदेशे स्वेदजा-जन्तुविशेषाः = यूकाः। लिक्षाश्च प्रसिद्धाः। एकवत्त्वं नपुंसकह्रस्वत्वञ्च। ३—अहिनकुलम्। अहयो नकुलाश्चेति विग्रहः। अनयोः स्वाभाविको विरोधः प्रसिद्धः। विरोधः = वैरम्। नतु सहानवस्थितिः। तेन 'छायातपौ' इत्यत्र न भवति। 'देवासुराः' इत्यत्र तु नायमेकवद्भावः, तद्विरोधस्य कादाचित्कत्वात्। ४—तक्षाणश्च अयस्काराश्चेति विग्रहः। ५—अत्रैकवत्वनियमः, "पुमान् स्त्रिया" इत्येकशेषस्तु निपातान्न। ६—"स्वं रूपं" इति सूत्रे भाष्यवार्तिकयोस्तथोक्तत्वादिति भावः।

१५८७—क्षुद्र जन्तु वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है।

१५८८—जिनका सहज विरोध है उनका द्वन्द्व एकवत् होता है।

१५८९—पात्र से अबहिष्कृत शूद्रों का द्वन्द्व एकवत् होता है।

१५९०—गवाश्वादि शब्द द्वन्द्व में यथोच्चारित साधु हैं।

१५९१—वृक्षादि सातों के द्वन्द्व और अश्ववडव आदि तीनों द्वन्द्व विकल्प से

धान्यामेव ग्रहणम् । प्लक्षन्यग्रोधम्[1], प्लक्षन्यग्रोधाः । रुरुपृषतम्[2], रुरुपृषताः । कुशकाशम्[3], कुशकाशाः । व्रीहियवम्[4], व्रीहियवाः । दधिघृतम्[5], दधिघृते । गोमहिषम्[6], गोमहिषाः । शुकबकम्[7], शुकबकाः[8] । अश्ववडवम्, अश्ववडवौ[9] । पूर्वापरम्, पूर्वापरे । अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे । (फल-सेनाङ्ग वनस्पति-मृग-शकुनि-क्षुद्रजन्तु-धान्य-तृणानां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवदिति वाच्यम्)[10] बदराणि चामलकानि च बदरामलकम् । नेह[11]—बदरामलके । रथिकाश्वारोहावित्यादि ।

१५९२ न दधि-पय-आदीनि[12] २ । ४ । १४ ॥

न एकवत्स्युः । दधिपयसी । इध्माबर्हिषी, निपातनाद्दीर्घः । ऋक्सामे[14] वाङ्मनसे ।

१५९३ आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ६ । ३ । २५ ॥

विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनां ऋदन्तानां द्वन्द्वे आनङ् स्यादुत्तरपदे । [15]होतापोतारौ । मातापितरौ । पुत्रे इत्यनुवृत्तेः—पितापुत्रौ ।

१—प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्चेति विग्रहः, वृक्षद्वन्द्वोदाहरणमिदम् । २—रुरवश्च पृषताश्चेति विग्रहः, इदं मृगद्वन्द्वोदाहरणम् । ३—कुशाश्च काशाश्चेति विग्रहः । तृणद्वन्द्वोदाहरणमिदम् । ४—व्रीहयश्च यवाश्चेति विग्रहः, धान्यद्वन्द्वोदाहरणमिदम् । ५—दधि च घृतञ्चेति विग्रहः, इदं व्यञ्जनद्वन्द्वोदाहरणम् । ६—गावश्च महिषाश्चेति विग्रहः, इदं पशुद्वन्द्वोदाहरणम् । ७—शुकाश्च बकाश्चेति विग्रहः, इदं शकुनिद्वन्द्वोदाहरणम् । ८—शुकाश्च बकाश्चेति विग्रहः । ९—'पूर्ववदश्ववडवौ' इति पूर्वपदवत्पुंलिङ्गता । १०—'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवत्त्वम्, बहुवचनान्तावयवकद्वन्द्वात् । ११—बहुवचनान्तावयवकद्वन्द्वाभावान्न 'जातिरप्राणिना'-मित्येकवत्त्वम् । १२—एषां समाहारद्वन्द्वो नास्तीत्यर्थः। १३—दधि च पयश्चेति विग्रहः । इध्मम् = समित् च बर्हिश्चेति विग्रहः । इध्मशब्दस्य निपातनाद्दीर्घः । १४—ऋक् च साम चेति विग्रहः । वाक् च मनश्चेति विग्रहः । उभयत्रापि "अचतुर..." इत्यादिनाऽच् समासान्तः । १५—होता च पोता चेति विग्रहः, इदं विद्यासम्बन्धोदाहरणम् । एवम्—माता च पिता

एकवत् होते हैं । (बहुवचनान्त फल सेनादिकों का ही द्वन्द्व एकवत् होता है) ।

१५९२—दधिपय आदि द्वन्द्व एकवत् नहीं होता ।

१५९३—विद्यायोनि सम्बन्धवाची ऋदन्तों को द्वन्द्व में आनङ् होता है उत्तरपद परे रहते ।

१५९४ देवताद्वन्द्वे च ६ । ३ । २६ ॥

इहोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङ् । मित्रावरुणौ । (वायोः प्रयोगे प्रतिषेधः)[1] अग्नि-वायू । वाय्वग्नी ।

१५९५ ईदग्नेः सोमवरुणयोः ६ । ३ । २७ ॥

देवताद्वन्द्व इत्येव ।

१५९६ अग्नेः स्तुत्-स्तोम-सोमाः ८ । ३ । ८२ ॥

अग्नेः परेषामेषां सस्य षः समासे । अग्निष्टुत्[2] । अग्निष्टोमः । अग्नीषोमौ । अग्नीवरुणौ ।

१५९७ इद् वृद्धौ ६ । ३ । २८ ॥

वृद्धिमत्युत्तरपदे अग्नेरिदादेशो देवताद्वन्द्वे । अग्नामरुतौ देवते अस्य आग्नि-मारुतं कर्म । अग्नीवरुणौ देवते अस्य आग्निवारुणम्, देवताद्वन्द्वे चेत्युभयपद-वृद्धिः । (विष्णौ न[3]) । आग्नावैष्णवम् ।

१५९८ दिवो द्यावा ६ । ३ । २९ ॥

देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे । द्यावाभूमी[4] ।

१५९९ मातरपितरावुदीचाम् ६ । ३ । ३२ ॥

च इदं योनिसम्बन्धोदाहरणम् ।

१—वायुशब्दस्य पूर्वपदत्वेनोत्तरपदत्वेन वा प्रयोगे सति आनङः प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । २—अग्निष्टुत् = क्रतुविशेषः । अग्निष्टोमः = स्तोत्रविशेषस्य संस्थाविशेषस्य च नाम । अग्नीवरुणौ—अग्निश्च वरुणश्चेति विग्रहः । ईत्वम् । ३—विष्णुशब्दे परेऽग्नेरिकारो नेति वक्तव्यमित्यर्थः, आग्नावैष्णवम् इत्वाभावे पूर्वपदस्याऽऽनङ् । ४—द्यौश्च भूमिश्चेति विग्रहः ।

१५९४—देवता द्वन्द्व में भी पूर्वपद को आनङ् होता है ।

१५९५—अग्नि शब्द को 'ईत्' होता है सोम और वरुण शब्द परे रहते ।

१५९६—अग्नि से परे स्तुत् स्तोम और सोम शब्द के स को ष होता है ।

१५९७—वृद्धिमान् उत्तरपद परे रहते अग्नि को इत् होता है देवता द्वन्द्व में । (विष्णु शब्द परे रहते नहीं होता)

१५९८—देवता द्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते दिव् को 'द्यावा' आदेश होता है ।

१५९९—मातृ और पितृ शब्द के द्वन्द्व में उदीच्य आचार्यों के मत से मातृ शब्द को अरङ् आदेश होता है ।

उदीचां किम्—मातापितरौ।

१६०० द्वन्द्वाच्चु-द-ष-हान्तात्समाहारे ५। ४। १०६॥

चवर्गान्ताद्द-ष-हान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् समाहारे। वाक्त्वचम्। त्वक्स्रजम्। शमीदृषदम्। वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम्—प्रावृट्शरदौ।

॥ इति द्वन्द्वसमासः॥

अथैकशेषः

(विरूपाणामपि समानार्थानाम्) । वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च वक्रदण्डौ। कुटिलदण्डौ।

१६०१ वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः १। २। ६५॥

यूना सहोक्तौ गोत्रं शिष्यते गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेत्तयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात्। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। वृद्धः किम्। गर्गगार्ग्यायणौ। यूना किम्। गर्गगार्ग्यौ। कृत्स्नं किम्। गार्ग्यवात्स्यायनौ।

१—उदीचां मतेऽरङादेशः। तदभावे 'आनङ् ऋत' इत्यानङ्। २—वाक् च त्वक् चेति समाहारद्वन्द्वः। क्रमेणोदाहरणानि। विग्रहास्तु स्पष्टा एव। ३—प्रावृट् च शरच्चेति विग्रहः। इतरेतरयोगद्वन्द्वान्न टजिति भावः।

॥ इति द्वन्द्वसमासः॥

अथैकशेषः।

४—एकार्थकत्वे विरूपाणामप्येकशेषो वक्तव्य इत्यर्थः। ५—अत्र गार्ग्यशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य च गोत्रयुवप्रत्ययकृतमेव वैरूप्यमिति गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः शिष्यते—इति भावः। ६—अत्र गर्गशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य च युवप्रत्ययमात्रकृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तत्वाभावान्नैकशेष इति भावः। ७—अत्र गर्गशब्दस्य गार्ग्यशब्दस्य च गोत्रप्रत्ययमात्रकृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दो न शिष्यते, यूना सहोक्त्या अभावादिति भावः। ८—अत्र गार्ग्यशब्दस्य वात्स्यायनशब्दस्य च न

१६००—चवर्गान्त दकारान्त षकारान्त और हकारान्त द्वन्द्व से टच् प्रत्यय होता है समाहार में। इति द्वन्द्वः।

अथैकशेषः

(समानार्थक विरूपों का भी एक शेष होता है ऐसा कहना चाहिये)

१६०१—युव संज्ञक के साथ गोत्र संज्ञक की उक्ति हो तो गोत्रसंज्ञक ही शेष रहता है यदि दोनों में गोत्र प्रत्यय और युव प्रत्यय मात्र ही विशेष हो।

१६०२ स्त्रीपुंवच्च १ । २ । ६६ ।

यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यते तदर्थश्च पुंवत्। गार्गी च गार्ग्यायणौ च गार्ग्यौ[2]।

१६०३ पुमान्स्त्रिया १ । २ । ६७ ॥

स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। हंसी च हंसश्च हंसौ।

१६०४ भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् १ । २ । ६८ ॥

भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ।

१६०५ नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् १ । २ । ६९ ॥

अक्लीबेन सहोक्तौ क्लीबं शिष्यते तच्च वा एकवत् स्यात्तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम्, तदिदं शुक्लम्। तानीमानि शुक्लानि।

गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं वैरूप्यम्, प्रकृतिवैरूप्यस्य गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतत्वाभावात् अतो गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दो न शिष्यत इति भावः।

१—तस्य = शिष्यमाणस्य स्त्रीवाचकगोत्रप्रत्ययान्तस्याऽर्थः पुमानिव स्यादित्यर्थः। २—गर्गस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः। गर्गादियञन्तात् 'यञश्च' इति ङीप्। गर्गाद्यञन्ताद् यून्यपत्ये 'यञिञोश्चेति' फक्, आयन्। अत्र स्त्रीत्वकृतवैरूप्याधिक्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तः स्त्रीवाचको गार्गीशब्दः शिष्यते, स पुंवत्, यञो लुक्। ३—स्वसृदुहितृभ्यां सहोक्तौ क्रमाद् भ्रातृपुत्रौ शिष्येते—इत्यर्थः। ४—नपुंसकत्वानपुंसकत्वमात्रकृतवैरूप्यञ्चेदित्यर्थः।

१६०२—युव प्रत्ययान्त के साथ वृद्धा स्त्री की उक्ति हो तो वृद्धा स्त्री शेष रहती है। और पुंवद् भाव होता है।

१६०३—स्त्री के साथ पुरुष की उक्ति में पुरुष शेष रहता है, तावन्मात्र ही यदि विशेष हो।

१६०४—भ्राता के साथ स्वसा की उक्ति हो तो भ्राता शेष रहता है और पुत्र के साथ दुहिता की उक्ति हो तो पुत्र शेष रहता है।

१६०५—अनपुंसक के साथ नपुंसक की उक्ति हो तो नपुंसक शेष रहता है। और विकल्प से एकवद् भाव होता है, यदि दोनों में नपुंसकत्व और अनपुंसकत्व मात्र विशेष हो।

१६०६ पिता मात्रा १ । २ । ७० ॥

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ, मातापितरौ ।

१६०७ श्वशुरः श्वश्र्वा १ । २ । ७१ ॥

सहोक्तौ वा शिष्यते । श्वशुरौ । श्वश्रूश्वशुरौ ।

१६०८ त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् १ । २ । ७२ ॥

सर्वैः सहोक्तौ त्यदादीनि शिष्यन्ते । स च देवदत्तश्च तौ । (त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते) । स च यश्च यौ । (पूर्वशेषोऽपि दृश्यते) इति भाष्यम् । स च यश्च तौ । (त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि) । सा च देवदत्तश्च तौ । तच्च देवदत्ता च यज्ञदत्तश्च तानि ।

१६०९ ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री १ । २ । ७३ ॥

पशु सह विवक्षायां स्त्री शिष्यते । गाव इमाः । ग्राम्येति किम् । रुरव इमे । पशुग्रहणं किम् । ब्राह्मणाः । सङ्घेषु किम् । एतौ गावौ । अतरुणेषु किम् ।

१—"पुमान् स्त्रिया" इत्यत्र स्वरूपाणामित्यनुवृत्तेरप्राप्तौ वचनमिदं विकल्पार्थञ्च । २—त्यदादिगणे यत्परं पठितं तच्छिष्यत इत्यर्थः । शब्दपरविप्रतिषेधाश्रयणादिति भावः । ३—परशब्दस्येष्टवाचित्वात्क्वचित्पूर्वमपि शिष्यत इति भाव. । ४—त्यदादीनां स्त्रीशेषेऽपि सह विवक्षितेषु यः पुमान् यच्च नपुंसकं तद्वशेन लिङ्गप्रतिपादकानि भवन्तीत्यर्थः । ५—'पुमान् स्त्रिया' इत्येतद् बाधित्वा स्त्री शिष्यत इति भावः । ननु स्त्रीशेषे पुंशेषे न कोऽपि रूपभेद इत्यत आह—इमा इति । ६—रुरुः = कृष्णाख्यो मृगः । अग्राम्यपशुत्वान्न स्त्री शिष्यते । ७—अपशुत्वान्न स्त्री शिष्यते । ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्चेति विग्रहः। ८—असङ्घत्वान्न स्त्री

१६०६—माता के साथ पिता की उक्ति में पिता शेष रहता है विकल्प से ।

१६०७—श्वश्रू के साथ श्वशुर की उक्ति में विकल्प से श्वसुर शेष रहता है ।

१६०८—इतर सबके साथ त्यदादियों की उक्ति हो तो नित्य त्यदादि ही शेष रहते हैं । (त्यदादियों की परस्पर सहोक्ति हो तो पर शेष रहता है)

(त्यदादियों में स्त्री शेष रहे तोभी लिङ्ग और वचन पुंलिङ्ग और नपुंसक के ही होंगे)

१६०९—अतरुण ग्राम्य पशुओं के सङ्घ की सहोक्ति में स्त्रीवाचक शेष रहता है । (किन्तु यह अनेक शफों के लिये ही है) इत्येकशेषः ।

वत्सौ इमे । (अनेकशफेष्विति वाच्यम्) अश्वा इमे । इत्येकशेषः ।

अथ समासान्ताः ।

१६१० ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ५ । ४ । ७४ ॥

ऋगाद्यन्तस्य³ समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः, अक्षे या धूस्तदन्तस्य न । अर्धर्चः⁴ । (अनृचबह्वृचावध्येतर्येव) । नेह अनृक्⁵ = साम । बह्वृक्⁶ = सूक्तम् । विष्णुपुरम् । विमलापं = सरः ।

१६११ द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्⁸ ६ । ३ । ९७ ॥

द्वीपम्⁹ । अन्तरीपम् । प्रतीपम् । समीपम् । (अवर्णान्ताद्वा¹⁰) । प्रेपम् । प्रापम् ।

शिष्यते ।

१—तरुणत्वान्न स्त्री शिष्यते । २—एकशफत्वान्न स्त्री शिष्यते ।

॥ इत्येकशेषः ॥

अथ समासान्ताः

३—ऋक्, पुर्, अप्, धुर्, पथिन्, एतदन्तस्येत्यर्थः । ४—ऋचोऽर्धमिति विग्रहः । 'अर्धं नपुंसक' मिति समासः, अकारः समासान्तः, 'अर्धर्चाः पुंसि च' इति पुंस्त्वम् । ५—अविद्यमाना ऋचो यस्येति विग्रहः । अनृचः = केवलयजुरध्येता । बह्व ऋचो यस्येति बह्वृचः = ऋक्शाखी । इत्युदाहरणम् । ६—अविद्यमान ऋचो अस्मिन्निति विग्रहः ऋच्यनध्यूढं प्रजापतेर्हृदयं साम । ७—बह्व ऋचो यस्मिन्निति विग्रहः । ८—द्वि–अन्तर्–उपसर्ग–एतेभ्यः परस्यऽपशब्दस्याऽप्रत्ययान्तस्याऽकारस्य ईत्स्यादित्यर्थः । 'आदेः परस्य' । ९—द्वयोः पार्श्वयोर्गता आपो यस्मिन्निति विग्रहः । अन्तर्गता आपो यत्र, प्रतिकूला आपो यस्मिन्, सङ्गता आपो यत्र, इति विग्रहाः । १०—अवर्णान्तादुपसर्गात्परस्याऽ-

---

अथ समासान्ताः ।

१६१०—ऋगाद्यन्त समास का अन्तावयव 'अ' प्रत्यय होता है, अक्ष सम्बन्धी धुर वाचक धूः शब्दान्त समास में नहीं होता । ('अनृच्' बह्वृच्' से अध्येता अर्थ में ही 'अ' प्रत्यय होता है)

१६११—द्वि, अन्तर् और उपसर्ग से परे कृत समासान्त अप् शब्द के अकार को 'ईत्' होता है ।

१६१२ ऊदनोर्देशे ६ । ३ । ९८ ॥

अनूपो = देशः । राजधुरा । अक्षे तु—अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथः । रम्यपथो = देशः ।

१६१३ अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः ५ । ४ । ७५ ॥

प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अवलोमम् । (कृष्णोदक्पाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिष्यते) कृष्णभूमः । उदग्भूमः । पाण्डुभूमः । द्विभूमः । त्रिभूमः = प्रासादः । (संख्याया नदीगोदावरीभ्यां च) पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् । अजिति योगविभागादन्यत्रापि—पद्मनाभः । ।

१६१४ अक्ष्णोऽदर्शनात् ५ । ४ । ७६ ॥

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात् । गवामक्षीव गवाक्षः ।

पस्य (अप्रत्ययान्तस्य) ईत्वं वा वक्तव्यमित्यर्थः । परागता आपो यस्येति विग्रहः ।

१—अनोः परस्याऽपस्य ऊत्स्याद्देशे । ईत्वस्यापवादः । २—अनुकूला आपो यस्मिन्निति विग्रहः । ३—एतत्पूर्वात्सामलोमान्तात्समासादच् स्यादित्यर्थः । ४—प्रतिगतं साम, अनुगतं साम, अपकृष्टं साम, प्रतिगतं लोम, अनुगतं लोम, इति विग्रहाः, सर्वत्र—अच् प्रत्ययः, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । ५—कृष्णा भूमिर्यस्य, उदीची भूमिर्यस्य, पाण्डुर्भूमिर्यस्य, द्वे भूमी यस्य, तिस्रो भूमयो यस्येति विग्रहाः । ६—सङ्ख्यायाः परो यो नदीशब्दो गोदावरीशब्दश्च ताभ्यामजिष्यते—इत्यर्थः । ७—पञ्चानां नदीनां समाहारः, सप्तानां गोदावरीणां समाहारः, इति विग्रहौ । "नदीभिश्च" इत्यव्ययीभावः । अचि, यस्येति च ईकारलोपः । 'नाव्ययीभावात्' इत्यम् । ८—पद्मं नाभौ यस्येति विग्रहः । वस्तुतस्तु योगविभागस्य भाष्येऽदर्शनात्पृषोदरादित्वमेवोचितमिति ।

(अवर्णान्त से परे अप् के अकार को ईत् विकल्प से होता है) ।

१६१२—अनु से परे अप् के अकार को 'ऊत्' होता है देश वाच्य रहते ।

१६१३—प्रति, अनु, और अव पूर्वक साम और लोमान्त समास से 'अच्' प्रत्यय होता है । (कृष्णादिपूर्वक भूमिशब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होना चाहिये) । (संख्या पूर्वक नदी और गोदावरी शब्द से समासान्त 'अच्' होता है) । ("अच्" ऐसा योग विभाग करने से यह भी सूचित होता है कि इनसे अन्यत्र भी होता है) ।

१६१४—अचक्षुपर्याय अक्षि शब्दान्त समास से 'अच्' प्रत्यय होता है ।

१६१५ अचतुर-विचतुर-सुचतुर-स्त्रीपुंस-धेन्वनडुहर्क्-साम-वाङ्मनसाक्षिभ्रुव-दारगवोर्वष्ठीव-पदष्ठीव-नक्तन्दिव-रात्रिन्दिवाहर्दिव-सरजस-निःश्रेयस-पुरुषायुष-द्व्यायुष-त्र्यायुषर्ग्यजुष-जातोक्ष-महोक्ष-वृद्धोक्षोपशुन-गोष्ठश्वाः ५ । ४ । ७७ ॥

एते पञ्चविंशतिरजन्ता निपात्यन्ते । आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः । अविद्यमानानि चत्वार्यस्य-अचतुरः । विगतानि चत्वार्यस्य-विचतुरः । सुचतुरः । (त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते) त्रिचतुराः । चतुर्णां समीपे-उपचतुराः । तत एकादश द्वन्द्वाः । स्त्रीपुंसौ । धेन्वनडुहौ । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । अक्षिणी च भ्रुवौ च-अक्षिभ्रुवम्[1] । दाराश्च गावश्च-दारगवम् । ऊरू च अष्ठीवन्तौ च—ऊर्वष्ठीवम्[2], निपातनाट्टिलोपः । पदष्ठीवम्, निपातनात्पादशब्दस्य पद्भावः । नक्तं च दिवा च-नक्तन्दिवम् । रात्रौ च दिवा च-रात्रिन्दिवम्, रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते । अहनि च दिवा-च अहर्दिवम्, वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते, अहन्यहनीत्यर्थः । सरजसमिति साकल्येऽव्ययीभावः । बहुव्रीहौ तु सरजः[3] = पङ्कजम् । निश्चितं श्रेयो-निःश्रेयसम् । तत्पुरुष एव । नेह निःश्रेयान्पुरुषः[4] । पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् । ततो द्विगू । द्व्यायुषम् । त्र्यायुषम् । ततो द्वन्द्वः । ऋग्यजुषम् । ततस्त्रयः कर्मधारयाः । जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । शुनः समीपम् उपशुनम् । टिलोपाभावः सम्प्रसारणं च निपात्यते । गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः ।

१६१६ ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ५ । ४ । ७८ ॥

अच् । ब्रह्मवर्चसम्[5] । हस्तिवर्चसम् । (पल्यराजभ्यां च[6]) पल्यवर्चसम्[7] ।

१—प्राण्यङ्गत्वादेकवत्त्वम् । २—ऊरू = सक्थिनी, अष्ठीवन्तौ = जानुनी । प्राण्यङ्गत्वादेकवत्त्वम् । एवं पादौ चाष्ठीवन्तौ चेति द्वन्द्वः । विग्रहास्तु सुकरा एव । ३—रजोभिः = परागैः सहेति विग्रहः, 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'वोपसर्जनस्ये'ति सहस्य सः । बहुव्रीहित्वान्नाच् । ४—निश्चितं श्रेयो यस्येति बहुव्रीहित्वान्नाजिति भावः । ५—ब्रह्मणो वर्च इति, हस्तिनो वर्च इति च विग्रहः । ६—आभ्यां परो यो वर्चश्शब्दः तस्मादपि अजिति वक्तव्यमित्यर्थः । ७—पलम् =

१६१५—अचतुर विचतुर इत्यादि पच्चीस शब्द 'अच्'-प्रत्ययान्त निपातित हैं । (त्रि और उपसे परे 'चतुर' शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है) ।

१६१६—ब्रह्म और हस्ति शब्द परे वर्चस् शब्दान्त समास से 'अच्' प्रत्यय होता है । (पल्य और राज शब्द से परे भी अच् होता है) ।

राजवर्चसम् ।

१६१७ अव-समन्धेभ्यस्तमसः ५ । ४ । ७९ ॥

अवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् ।

१६१८ अन्ववतप्ताद्रहसः ५ । ४ । ८१ ॥

अनुरहसम् । अवरहसम् । तप्तरहसम् ।

१६१९ प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ५ । ४ । ८२ ॥

उरसीति प्रत्युरसम् ।

१६२० अनुगवमायामे ५ । ४ । ८३ ॥

एतन्निपात्यते दीर्घत्वे । अनुगवं = यानम् । यस्य चायाम इति समासः ।

१६२१ उपसर्गादध्वनः ५ । ४ । ८५ ॥

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः ।

मांसं तदर्हति पल्यः = मांसभोजीत्यर्थः, तस्य वर्च इति विग्रहः । राज्ञो वर्च इति विग्रहः ।

१—अव–सम्–अन्ध–एभ्यः परो यस्तमश्शब्दस्तस्मादच् स्यादित्यर्थः । २—अवहीनं तमः, सन्ततं तमः, इति विग्रहौ, प्रादिसमासः । अन्धं तम इति विग्रहः । ३—अनु–अव–तप्त–एभ्यः परो यो रहश्शब्दस्तस्मादच् स्यादित्यर्थः । ४—अनुगतं रहो यस्मिन्निति बहुव्रीहिः, तत्पुरुषो वा । अवहीनं रहः, तप्तं रह इति विग्रहौ ।

परेष्वानभिगम्यं हि यद्रहो वह्नितप्तवत् ।
तप्तञ्च तद्रहश्चेति तत्तप्तरहसं विदुः ॥ (पाणिनीयमतदर्पणे)

५—सप्तम्यर्थद्योतकात्प्रतेः परो य उरश्शब्दस्तस्मादच् स्यादित्यर्थः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । ६—अनुना दीर्घत्वे द्योत्येऽच् प्रत्ययान्तो निपात्यत इत्यर्थः । आयामशब्दो दीर्घपर इति भावः । ७—उपसर्गात्परो योऽध्वन्शब्दस्तस्मादच् स्या-

---

१६१७—अव, सम्, और अन्ध शब्द से परे तमः शब्दान्त समास से 'अच्' प्रत्यय होता है ।

१६१८—अनु अव तप्त से परे 'रहस्' शब्दान्त समास से 'अच्' होता है ।

१६१९—सप्तम्यर्थद्योतक प्रति शब्द से परे जो उरस् शब्द तदन्त समास से 'अच्' होता है ।

१६२०—दीर्घत्व गम्य रहते 'अनुगव' शब्द निपातित है ।

१६२१—उपसर्ग पूर्वक अध्वन् शब्द से 'अच्' होता है समास में ।

१६२२ नपूजनात् ५ । ४ । ६६ ॥

पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः । सुराजा । अतिराजा । (स्वतिभ्यामेव)। नेह परमराजः ।

१६२३ किमः क्षेपे ५ । ४ । ७० ॥

समासान्तो नेत्यर्थः, कुत्सितो राजा किंराजा । किंसखा । किंगौः ।

१६२४ नञस्तत्पुरुषात् ५ । ४ । ७१ ॥

अराजा । तत्पुरुषात्किम्—अधुरं = शकटम् ।

१६२५ पथो विभाषा ५ । ४ । ७२ ॥

अपथम् । अपन्थाः । तत्पुरुषादित्येव । अपंथो = देशः । इति समासान्तः ॥

अथालुक्समासः ।

१६२६ अलुगुत्तरपदे ६ । ३ । १ ॥

इत्यधिकृत्य ।

दित्यर्थः । 'अत्यादयः' इति समासः । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः ।

१—'कि क्षेपे' इति समासः । २—नञ् पूर्वपदात्तत्पुरुषात्समासान्तो नेत्यर्थः । ३—अविद्यमाना धूर्यस्येति बहुव्रीहिः । नञ्पूर्वपदत्वेऽप्यतत्पुरुषत्वात् "ऋक्पूः" इति समासान्तस्य न निषेधः । ४—न पन्था इति विग्रहे नञ्तत्पुरुषः । "ऋक्पू" रित्यप्रत्यये सति 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । "पथः सङ्ख्यादेः" इति नपुंसकत्वम् । ५—अविद्यमानः पन्था यस्येति बहुव्रीहिः । ॥ इति समासान्ताः ॥

अथालुक्समासः ।

६—नायं विधिः, 'राजपुरुषः' इत्यादावतिप्रसङ्गात्, 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः'

१६२२—पूजनार्थकों से परे समासान्त नहीं होते (सु और अति शब्द से परे ही यह नियम है) ।

१६२३—निन्दार्थक किम् शब्द पूर्व हो तो समासान्त नहीं होते ।

१६२४—नञ् पूर्वक तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय नहीं होते ।

१६२५—नञ् पूर्वक पथि शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय विकल्प करके होते हैं । (यह नियम तत्पुरुष में ही है) । इति समासान्ताः ।

अथ अलुक् समासः

१६२६—यह अधिकार सूत्र है ।

१६२७ ओजः सहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः ६ । ३ । ३ ॥

ओजसा कृतमित्यादि । (अञ्जस उपसंख्यानम्) । अञ्जसाकृतम् ।

१६२८ आत्मनश्च ६ । ३ । ६ ॥

तृतीयाया अलुक् । (पूरणे इति वक्तव्यम्) । पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः । आत्मनापञ्चमः ।

१६२९ वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ६ । ३ । ७ ॥

आत्मन इत्येव । आत्मनेपदम् । आत्मनेभाषा ।

१६३० परस्य च ६ । ३ । ८ ॥

परस्मैपदम् । परस्मैभाषा । १५२१ हलदन्तादिति ङेरलुक्, त्वचिसारः ।

१६३१ गवियुधिभ्यां स्थिरः ८ । ३ । ९५ ॥

आभ्यां स्थिरस्य सस्य षः । गविष्ठिरः । युधिष्ठिरः । अरण्येतिलकाः । अत्र

इत्याद्यारम्भसामर्थ्याच्च । किन्तु पदद्वयमधिक्रियते ।

१—ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस्, एभ्यः परस्यास्तृतीयाया अलुक् स्यादुत्तरपदे इत्यर्थः । २—"कर्तृकरणे कृता" इति समासः । एवं सहसाकृतम्, अम्भसाकृतम्, तमसाकृतम् । ३—अञ्जश्शब्दात्तृतीयाया अलुक उपसङ्ख्यानमित्यर्थः । अञ्जश्शब्द आर्जवे वर्त्तते । ४—आत्मा पञ्चम इत्यर्थः । प्रकृत्यादित्वात्प्रथमार्थे तृतीया । अथवा–आत्मकृतपञ्चमत्ववानित्यर्थः, करणे तृतीया । इदं पक्षद्वयमपि भाष्ये स्थितमिति । ५—वैयाकरणाख्यायां परशब्दस्यापि चतुर्थ्या अलुगित्यर्थः ।

१६२७—ओजस् आदि शब्दों से तृतीया का लुक् नहीं होता उत्तरपद परे रहते । (अञ्जस् शब्द से भी तृतीया का अलुक् होता है ।)

१६२८—आत्मन् शब्द से तृतीया का अलुक् होता है । (पूरण प्रत्ययान्त उत्तरपद परे रहते ऐसा कहना चाहिये) ।

१६२९—आत्मन् शब्द से चतुर्थी का अलुक् होता है वैयाकरणों की संज्ञा विशेष गम्य हो तो ।

१६३०—पर शब्द से भी चतुर्थी का लुक् नहीं होता पूर्व विषय में ।

१६३१—'गवि' और 'युधि' से परे स्थिर शब्द के 'स' को 'ष' होता है ।

संज्ञायामिति सप्तमीसमासः। (हृद्द्युभ्यां च)। हृदिस्पृक्। दिविस्पृक्।

१६३२ मध्याद्गुरौ ६। ३। ११॥

मध्येगुरुः। (अन्ताच्च)—अन्तेगुरुः।

१६३३ अमूर्ध-मस्तकात्स्वाङ्गादकामे ६। ३। १२॥

कण्ठेकालः। उरसिलोमा। अमूर्धमस्तकात्किम्—मूर्धशिखः अकामे किम्—मुखे कामोऽस्य मुखकामः।

१६३४ तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६। ३। १४॥

स्तम्बेरमः। कर्णेजपः।

१६३५ शय-वास-वासिष्वकालात् ६। ३। १८॥

वा लुक्। खेशयः, खशयः। ग्रामेवासः, ग्रामवासः। ग्रामेवासी, ग्रामवासी।

१—हृच्छब्दाद् दिवुशब्दाच्च सप्तम्या अलुग् वक्तव्य इत्यर्थः। असञ्ज्ञार्थमिदम्। २—'पद्दन्...'इति कौ हृदयस्य हृदादेशः। हृदयं स्पृशतीत्यर्थः। दिवं स्पृशतीत्यर्थः। इहोभयत्रापि 'अमूर्धमस्तकात्' इत्यनेन न अलुक् तत्र सञ्ज्ञायामित्यनुवृत्ते। ३—गुरुशब्दे परे मध्यशब्दात्सप्तम्या अलुक् स्यादित्यर्थः ४—सप्तम्या अलुक् स्याद्गुरौ परे—इत्यर्थः। ५—मूर्धमस्तकवर्जितात् स्वाङ्गवाचकात् सप्तम्या अलुक् स्यान्नतु कामशब्दे उत्तरपदे—इत्यर्थः। ६—तत्पुरुषे सञ्ज्ञायां बहुलमलुक् स्यात्सप्तम्याः कृदन्ते उत्तरपदे इत्यर्थः। ७—स्तम्बः = तृणसमूहः, तस्मिन् रमते इति स्तम्बेरमः = हस्ती। ८—कर्णे जपति = परदोषमुपांशु (एकान्ते) आविष्करोतीति कर्णेजपः = पिशुनः। 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' इत्यच्, उपपदसमासः। ९—शय-वास-वासिन्-एतेषु परेषु कालभिन्नात्सप्तम्या अलुक् स्यादित्यर्थः।

हृद् और द्यु शब्द से सप्तमी का अलुक् होता है।

१६३२—मध्य शब्द से सप्तमी का अलुक् होता है गुरु शब्द उत्तरपद हो तो। (अन्त शब्द से भी सप्तमी का अलुक् होता है)

१६३३—मूर्ध और मस्तक से भिन्न स्वाङ्गवाचक शब्द से परे सप्तमी का अलुक् होता है काम शब्द भिन्न उत्तरपद परे रहते।

१६३४—कृदन्त उत्तरपद परे रहते तत्पुरुष में सप्तमी का अलुक् होता है बहुलता से संज्ञा में।

१६३५—शय, वास् और वासिन् शब्द उत्तर पद रहते काल भिन्न से परे सप्तमी का अलुक् होता है।

१६३६ षष्ठ्या आक्रोशे ६। ३। २१॥

चोरस्य कुलम्। आक्रोशे किम्—ब्राह्मणकुलम्। (वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्ति-दण्ड-हरेषु)। वाचोयुक्तिः। दिशोदण्डः। पश्यतोहरः। (आमुष्यायणामुष्य-पुत्रिकामुष्यकुलिकेति च)। (देवानांप्रिय इति च मूर्खे)। अन्यत्र देवप्रियः। (शेप-पुच्छ-लाङ्गूलेषु शुनः) शुनःशेपः। शुनःपुच्छः। शुनोलाङ्गूलः। (दिवश्च दासे)। दिवोदासः।

१६३७ ऋतो विद्या-योनिसम्बन्धेभ्यः ६। ३। २३॥

होतुरन्तेवासी।

१६३८ विभाषा स्वसृ-पत्योः ६। ३। २४॥

१—आक्रोशे = निन्दायाम्। २—वाक्-दिक्-पश्यत्-एतेभ्यः परस्याः षष्ठ्या अलुक् स्यात् युक्ति-दण्ड-हर-एतेषु क्रमादुत्तरपदेष्वित्यर्थः। ३—वाचो-युक्तिः = शब्दप्रयोगः। पश्यतोहरः = स्वर्णकारः, पश्यन्तमनादृत्य हरतीत्यर्थः, 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। ४—अमुष्यापत्यमामुष्यायणः। नडादित्वात् फक्। अमुष्य पुत्रस्य भावः आमुष्यपुत्रिका, मनोज्ञादित्वाद्वुञ्। एवम् आमुष्यकुलिका। ५—(दिवु-क्रीडायाम्) देवाः = क्रीडासक्ता मूर्खास्तेषां प्रियोऽपि मूर्ख एव, मूर्ख-प्रियस्यावश्यं मूर्खत्वात्—इति 'अजेर्वी' इत्यत्र कैयटः। ६—एता ऋषिविशेषाणां संज्ञाः। ७—कश्चिद्राजर्षिरयम्। ८—विद्यासम्बन्धयोनिसम्बन्धवाचिनः ऋदन्तात् षष्ठ्या अलुक् स्यादित्यर्थः। ९—इदं विद्यासम्बन्धवाचिनः—उदाहरणम्। योनि-सम्बन्धवाचिनस्तु—'पितुरन्तेवासी' इति बोध्यम्।　　॥ इत्यलुक्समासः॥

१६३६—आक्रोश गम्य हो तो षष्ठी का अलुक् होता है उत्तरपद परे रहते।

(वाक्, दिक्, तथा पश्यत् शब्द से परे षष्ठी का अलुक् होता है क्रमशः युक्ति, दण्ड तथा हर शब्द परे रहते)। (आमुष्यायणादि तीनों शब्द षष्ठी के अलुक् में निपातित है) (मूर्ख अर्थ में 'देवानां प्रियः' यह निपातित है)। (श्वन् शब्द से परे षष्ठी का अलुक् होता है शेप आदि शब्द परे रहते)। (दिव से षष्ठी का अलुक् होता है 'दास' उत्तर पर रहते)।

१६३७—विद्या सम्बन्ध वाचक तथा योनि सम्बन्धवाचक ऋदन्त से षष्ठी का अलुक् होता है उत्तरपद परे रहते।

१६३८—स्वसृ और पति शब्द उत्तरपद रहते ऋदन्त से षष्ठी का अलुक् विकल्प करके होता है।

ऋदन्तात्षष्ठ्या वाऽलुक् स्वसृपत्योः परयोः ।

१६३९ मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ८ । ३ । ८५ ॥

स्वसुः सस्य षः समासे । मातुःष्वसा । मातुःस्वसा । पितुःष्वसा । पितुःस्वसा । लुक्पक्षे तु—

१६४० मातृपितृभ्यां स्वसा ८ । ३ । ८४ ॥

स्वसुः सस्य षः समासे । मातृष्वसा । पितृष्वसा । असमासे तु । मातुः स्वसा । पितुः स्वसा । ॥ इत्यलुक्समासः ॥

अथ समासाश्रयविधयः ।

१६४१ घ-रूप-कल्प-चेलड् ब्रुव-गोत्र-मत-हतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ३ । ४ । ४३ ॥

भाषितपुंस्काद्यो ङी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्यात् , घरूपकल्पप्रत्यये चेलडादिषु चोत्तरपदेषु । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमा । ब्राह्मणिरूपा । ब्राह्मणिकल्पा । ब्राह्मणिचेली । ब्राह्मणिब्रुवा । ब्राह्मणिगोत्रेत्यर्थाद । ब्रुवः पचाद्यचि वच्यादेशगुणयोरभावो निपात्यते । ङ्यः किम्—दत्तातरा । भाषितपुंस्कात्किम्—आमलकीतरा । कुवलीतरा ।

अथ समासाश्रयविधयः ।

१—'तसिलादिषु' इति पुंवद्भावस्तु न, 'जातेश्चे'ति निषेधात् । २—आमलकीकुवलीशब्दयोर्वृक्षवाचित्वे नित्यस्त्रीलिङ्गत्वाद् भाषितपुंस्कत्वाभावेन न ह्रस्व इति भावः ।

१६३९—मातुः पितुः शब्द से परे स्वसृ शब्द के सकार को षत्व विकल्प से होता है ।

१६४०—मातृ पितृ से परे स्वसृ के स को षत्व होता है समास में । इत्यलुक् समासः ।

अथ समासाश्रयविधयः ।

१६४१—भाषित पुंस्क से जो 'ङी' तदन्त अनेकाच् को ह्रस्व होता है घ= (तरप्, तमप्), रूपप्, और कल्पप् प्रत्यय परे रहते तथा चेलडादि उत्तरपद परे रहते ।

१६४२ नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ६। ३। ४४॥

अङ्यन्तनद्याः ङ्यन्तैकाचश्च घादिषु ह्रस्वो वा। ब्रह्मबन्धुतरा। ब्रह्मबन्धूतरा। स्त्रितरा। स्त्रीतरा। (कृन्नद्यो न)[1]। लक्ष्मीतरा।

१६४३ उगितश्च ६। ३। ४५॥

उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात्। विदुषितरा[2]। ह्रस्वाभावपक्षे पुंवत्[3]। विद्वत्तरा।

१६४४ पादस्य पदाऽऽज्यातिगोपहतेषु ६। ३। ५२॥

एषूत्तरपदेषु पादस्य पद इत्यदन्तादेशः स्यात्। पादाभ्याम् अजतीति पदाजिः। पदातिः। 'अज्यतिभ्यां पादे च' इतीण् प्रत्ययः। पदगः। पदोपहतः।

१६४५ पद्-यत्यतदर्थे ६। ३। ५३॥

पादस्य पत्स्यादतदर्थे यति। पादौ विध्यन्ति पद्याः = शर्कराः। विध्यत्यधनुषि यत्। अतदर्थे किम्। पादार्थमुदकं = पाद्यम्। पादार्घाभ्यामिति यत्।

१६४६ उदकस्योदः संज्ञायाम् ६। ३। ५७॥[4]

उत्तरपदे। उदमेघः। (उत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम्)[5]। क्षीरोदः।

१—कृदन्ता या नदी तस्या ह्रस्वो नेति वक्तव्यमित्यर्थः। 'लक्षेर्मुट् च' इत्यौणादिके ईप्रत्यये मुडागमे च लक्ष्मीशब्दः कृदन्त इति भावः। २—"विदेः शतुर्वसुः" इति वसुप्रत्ययः, उगिदन्तत्वात् 'उगितश्चेति' ङीप्, वसोः सम्प्रसारणम्। ३—'तसिलादिषु' इत्यनेन। ४—उदकशब्दस्य 'उद' इत्यादेशः स्यादुत्तरपदे संज्ञायामित्यर्थः। ५—उत्तरपदस्य उदकशब्दस्य 'उद' इत्यादेशः स्यात् संज्ञायामित्यर्थः।

१६४२—अङ्यन्त नदी और ङ्यन्त एकाच् को ह्रस्व विकल्प से होता है पूर्व विषय में। (कृदन्त नदी संज्ञक को ह्रस्व नहीं होता)

१६४२—उगित् से परे जो नदी तदन्त को घादि प्रत्यय परे रहते विकल्प से ह्रस्व होता है।

१६३४—पाद को अकारान्त 'पद' आदेश होता है आजि, आति, ग, और उपहत उत्तरपद परे रहते।

१६४५—पाद को 'पद्' आदेश होता है अतदर्थ 'यत्' प्रत्यय परे रहते।

१६४६—उदक को 'उद' आदेश होता है संज्ञा में उत्तर पद परे रहते। (उत्तर पद में स्थित उदक को भी 'उद' आदेश होता है)

१६४७ पेषं-वास-वाहन-धिषु च[1] ६ । ३ । ५८ ॥

उदपेषं पिनष्टि । उदवासः । उदवाहनः । उदधिर्घटः ।

१६४८ एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्[3] ६ । ३ । ५९ ॥

उदकुम्भः । उदककुम्भः । एकेति किम्—उदकस्थाली । पूरयितव्येति किम्—उदकपर्वतः ।

१६४९ मन्थौदन-सक्तु-बिन्दु-वज्र-भार-हार-वीवध-गाहेषु च[4] ६ । ३ । ६० ॥

उदमन्थः[5] । उदकमन्थः । उदौदनः । उदकौदनः ।

१६५० इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ६ । ३ । ६१ ॥

इगन्तस्याङ्यन्तस्य ह्रस्वो वा उत्तरपदे । ग्रामणिपुत्रः । ग्रामणीपुत्रः[6] । इकः किम्—रमापतिः । अङ्यः किम्—गौरीपतिः ।

१६५१ ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६ । १ । १३ ॥

१—पेषमिति णमुलन्तमव्ययम् । तस्मिन् वासवाहनधिषु च परत उदकशब्दस्य उदः स्यादित्यर्थः । २—उदकेन पिनष्टीत्यर्थः । **उदवासः**, उदकस्य वास इति विग्रहः । **उदवाहनः**, उदकस्य वाहक इत्यर्थः । करणे ल्युट् । ३—हल्त्वस्य एकैकवर्णधर्मत्वादेव सिद्धे एकग्रहणादसंयुक्तत्वं लभ्यते । पूरयितव्यम् = पूरणार्हम् (कुम्भादि) । असंयुक्तहलादौ पूरयितव्यवाचके–उत्तरपदे परे–उदकस्य–'उद'–इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । ४—उदकस्य–उदादेशो वेति शेषः । ५—उदकमिश्रो मन्थ इति विग्रहः । द्रवद्रव्यसम्पृक्ताः सक्तवः = मन्थः । भर्जितयवपिष्टानि सक्तवः । ६—'नी' धातोरीकारोऽयं नतु ङीप्रत्यय इति भावः ।

१६४७—उदक को 'उद' आदेश होता है पेषम्, वास, वाहन, और धिप्रत्ययान्त उत्तर पद परे रहते ।

१६४८—असंयुक्त हलादि पूरयितव्यपात्र वाचक शब्द उत्तर पद परे हो तो उदक को 'उद' आदेश विकल्प से होता है ।

१६४९—मन्थादि उत्तर पद परे रहते उदक को 'उद' आदेश विकल्प से होता है ।

१६५०—अङ्यन्त इगन्त को ह्रस्व विकल्प से होता है उत्तर पद परे रहते ।

१६५१—ष्यङन्त पूर्व पद को सम्प्रसारण होता है पुत्र और पति शब्द उत्तर पद परे रहते ।

ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्य सम्प्रसारणं स्यात् पुत्रपत्योः परतः ।

१६५२ सम्प्रसारणस्य ६ । ३ । १३९ ॥

दीर्घः स्यादुत्तरपदे । कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः—कौमुदगन्धीपुत्रः । कौमुदगन्धीपतिः ।

१६५३ इष्टकेषीकामालानां चित-तूल-भारिषु ६ । ३ । ६५ ॥

इष्टकादीनां तदन्तानां च चितादिषु ह्रस्वः स्यात् । इष्टकचितम् । पक्वेष्टकचितम् । इषीकतूलम् । मुञ्जेषीकतूलम् । मालभारि । उत्पलमालभारि ।

१६५४ ज्योतिर्जनपद-रात्रि-नाभि-नाम-गोत्र-रूप-स्थान-वर्ण-वयो-वचन-बन्धुषु ६ । ३ । ८५ ॥

समानस्य सः । सज्योतिः[1] ।

१६५५ चरणे ब्रह्मचारिणि ६ । ३ । ८६ ॥

ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य सश्चरणे समानत्वेन गम्यमाने । चरणः = शाखा । ब्रह्म = वेदः तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीति = ब्रह्मचारी । सब्रह्मचारी, इत्यादि ।

१६५६ तीर्थे ये ६ । ३ । ८७ ॥

यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः । सतीर्थ्यः = एकगुरुकः । समानतीर्थेवासीति यत्प्रत्ययः ।

१—समानं ज्योतिर्यस्येति विग्रहः । एवं सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः, इति ।

१६५२—सम्प्रसारण को दीर्घ होता है उत्तर पद परे रहते ।

१६५३—इष्टकादि शब्दों को तथा तदन्तों का ह्रस्व होता है चित तूल और भारि शब्द उत्तर पद परे रहते ।

१६५४—ज्योतिरादि द्वादश शब्द उत्तर पद हों तो समान शब्द को 'स' आदेश होता है ।

१६५५—ब्रह्मचारि शब्द उत्तर पद हो तो समान को 'स' आदेश होता है वेदशाखा की समानता गम्य रहते ।

१६५६—यादि प्रत्यय विवक्षित हो तो तीर्थ शब्द उत्तर पद रहते समान को 'स' आदेश होता है ।

१६५७ विभाषोदरे ६ । ३ । ८८ ॥

सोदर्यः । समानोदर्यः ।

१६५८ दृग्-दृश-वतुषु ६ । ३ । ८९ ॥

सदृक् । सदृशः । (दृक्षे चे) सदृक्षः ।

१६५९ इदंकिमोरीश्की ६ । ३ । ९० ॥

दृग्दृशवतुषु । ईदृक् । ईदृशः । कीदृक् । कीदृशः । (दृक्षे चे) ईदृक्षः । कीदृक्षः ।

१६६० अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोति-कारक-रागच्छेषु ६ । ३ । ९९ ॥

अन्यशब्दस्य दुगागमः स्यादाशीरादिषु परेषु । अन्यदाशीः । अन्यदाशा । अन्यदास्था । अन्यदास्थितः । अन्यदुत्सुकः । अन्यदूतिः । अन्यद्रागः । अषष्ठीत्यादि किम् । अन्यस्यान्येन वाशीः अन्याशीः (कारके छे च नायं निषेधः) ।

१—उदरशब्दे परे समानस्य सभावो वा स्याद् यादौ प्रत्यये विवक्षिते इत्येव इत्यर्थः । २—समानस्य स इति शेषः । ३—समानो दृश्यते इत्यर्थे 'समानान्ययोश्चे' ति दृशेः क्विन् कञ् च । ४—समानस्य सत्वमिति शेषः । 'क्सोपि वाच्यः' इति दृशेः क्सः । ५—दृग्दृशवतुषु इदम ईश् किमः की स्यादित्यर्थः । ६—इदमिव दृश्यते इत्यर्थे त्यदादिषु दृशेः क्विन्-कञौ । ईशः शित्त्वं सर्वादेशार्थम् । वतूदाहरणन्तु 'इयान्' इति बोध्यम् । ७—इदं किमोरीश्की वक्तव्यौ—इति शेषः । ८—भाष्योक्तमिदम् ।

१६५७—उदर शब्द उत्तर पद हो तो विकल्प से समान को 'स' आदेश होता है, यादि प्रत्यय विवक्षित रहते ।

१६५८—दृक्, दृश, वतु परे रहते समान को 'स' आदेश होता है । (दृक्ष परे रहते भी समान को 'स' होता है) ।

१६५९—इदम् को 'ईश्' और किम् को 'की' आदेश होता है दृक्, दृश्, वतु, परे रहते । (दृक्ष परे रहते भी ये आदेश होते हैं) ।

१६६०—षष्ठ्यंत और तृतीयान्त से भिन्न अन्य शब्द को 'दुक्' आगम होता है "आशीः" आदि परे रहते । । (कारक परे रहते और छ प्रत्यय परे रहते 'अषष्ठ्यन्त' और 'अतृतीयान्त' यह निषेध नहीं होता)

अन्यस्य कारकोऽन्यत्कारकः। अन्यस्यायमन्यदीयः।

१६६१ अर्थे विभाषा[1] ६। ३। १००॥

अन्यदर्थः। अन्यार्थः।

१६६२ कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ६। ३। १०१॥

अजादावुत्तरपदे। कुत्सितोऽश्वः कदश्वः। कदन्नम्। तत्पुरुषे किम्—कूष्ट्रो[2]=राजा। (त्रौ च[3])। कत्त्रयः।

१६६३ रथ-वदयोश्च[4] ६। ३। १०२॥

कद्रथः। कद्वदः।

१६६४ तृणे च जातौ[5] ६। ३। १०३॥

कत्तृणम्।

१६६५ का पथ्यक्षयोः[6] ६। ३। १०४॥

कापथम्[7]। काक्षः[8]।

१६६६ ईषदर्थे[9] ६। ३। १०५॥

१—अन्यस्य दुगिति शेषः। २—कुत्सित उष्ट्रो यस्येति बहुव्रीहित्वान्न कदादेशः। ३—त्रिशब्दे परे कदादेशो वक्तव्य इत्यर्थः। ४—कोः कत् तत्पुरुषे—इति शेषः। ५—तृणशब्दे कोः कत्स्याज्जातौ वाच्यायाम्। ६—पथिन्-अक्ष-अनयोः परतः कोः 'का' इत्यादेशः स्यादित्यर्थः। ७—कुत्सितः पन्था इति विग्रहः। 'कुगति' इति समासः। 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययः। 'पथः सङ्ख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम्। ८—कुत्सितमक्षम्=इन्द्रियमिति विग्रहे 'कुगति' इति तत्पुरुषसमासः। कुत्सिते अक्षिणी यस्येति विग्रहे 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इति षच्। ९—ईषदर्थे विद्यमानस्य कोः 'का' इत्यादेशः स्यादित्यर्थः।

१६६१—अर्थ शब्द परे रहते अन्य को दुक् आगम विकल्पसे होता है।

१६६२—अजादि उत्तर पद रहते तत्पुरुष में कु शब्द को 'कत्' आदेश होता है। (त्रि शब्द परे रहते भी 'कु'को 'कत्' आदेश होता है)।

१६६३—रथ और वद शब्द परे रहते 'कु' को 'कत्' आदेश होता है।

१६६४—जाति वाच्य रहते तृण शब्द परे हो तो 'कु' को 'कत्' आदेश होता है।

१६६५—पथिन् और अक्ष शब्द परे रहते 'कु' को 'का' आदेश होता है।

१६६६—ईषदर्थ में विद्यमान 'कु' को 'का' आदेश होता है।

ईषज्जलं–काजलम् ।

१६६७ विभाषा पुरुषे ६ । ३ । १०६ ॥

कुपुरुषः । कापुरुषः ।

१६६८ कवं चोष्णे ६ । ३ । १०७ ॥

उष्णशब्दे उत्तरपदे कवं का च वा स्यात् । कोष्णम् । कवोष्णम् । कदुष्णम् ।

१६६९ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ६ । ३ । १०९ ॥

पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि । पृषत उदरं पृषोदरम्, तलोपः । वारिवाहको बलाहकः, पूर्वपदस्य बः, उत्तरपदादेश्च लत्वम् ।

> 'भवेद्वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात् ।
> गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम् ॥'

१६७० मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ६ । ३ । ११९ ॥

दीर्घः स्यात् । अमरावती । अनजिरादीनां किम्–अजिरवती । बह्वचः किम्–

१—कोः का–इत्यादेश इति शेषः । २—**भवेद् वर्णागमा**दिति, हन् धातोः पचाद्यचि सगागमे, नस्य 'नश्चापदान्तस्ये'ति–अनुस्वारः, **हंसः**—इति रूपम् । वर्णविपर्ययात्–सिहः, हिंसि हिंसायाम्, इत्यतः पचाद्यचि, इदित्वान्नुम्, नश्चेत्यनुस्वारः, हकार–सकारयोर्विपर्यये **सिंह** इति रूपमित्यर्थः । 'गूढ आत्मा' इति विग्रहे उत्तरपदादेरकारस्य उकारे पूर्वपरयोः 'आद्गुणः' इति गुणे—**गूढोत्मा** इति रूपम्, तदुक्तम्–गूढोत्मा वर्णविकृतेरिति । पृषत उदरम् इत्यत्र तकारलोपे, आद्गुणे **पृषोदरम्** इति, तदुक्तं–**वर्णनाशात्पृषोदरम्** इति । ३—मतुप् प्रत्यये

१६६७—पुरुष शब्द परे रहते 'कु' को 'का' आदेश विकल्प से होता है ।

१६६८—उष्ण शब्द परे रहते 'कु' को 'कव' आदेश होता है पक्ष में 'का' और 'कत्' आदेश भी होता है ।

१६६९—पृषोदरादि शब्द शिष्ट पुरुषों ने जैसे उच्चारण कर दिये हैं वैसे ही साधु हैं ।

भवेद् वर्णागमादिति—वर्ण के आगम से 'हंस' बन जाता है । वर्ण के विपर्यय से 'सिंह' बनता है । वर्ण विकार से (गूढात्मा से उकार होकर) गूढोत्मा बनता है । वर्ण लोप से 'पृषोदर' बनता है ।

१६७०—मतुप् परे रहते बह्वच् शब्द को दीर्घ होता है अजिरादि को छोड़कर संज्ञा में ।

व्रीहिमती, संज्ञायामित्येव। नेह—वलयवती।

१६७१ शरादीनां च[1] ६। ३। १२०॥

शरावती।

१६७२ उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्[2] ६। ३। १२२॥

परीपाकः, परिपाकः। अमनुष्ये किम्—निषादः[3]।

१६७३ नरे संज्ञायाम्[4] ६। ३। १२६॥

विश्वानरः।

१६७४ मित्रे चर्षौ[5] ६। ३। १३०॥

विश्वामित्रः। (शुनो दन्त-दंष्ट्रा-कर्ण-कुन्द-वराह-पुच्छ-पदेषु दीर्घो वाच्यः)। श्वादन्तः।

१६७५ प्रनिरन्तः-शरेक्षु-प्लक्षाम्र-कार्ष्य-खदिर-पीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि ८। ४। ५॥

एभ्यः परस्य वनस्य नस्य णत्वम्। प्रवणम्[6]।

१६७६ विभाषौषधि-वनस्पतिभ्यः[7] ८। ४। ६॥

परे बह्वचो दीर्घः स्यात्संज्ञायां नतु-अजिरादीनामित्यर्थः।

१—मतौ दीर्घः संज्ञायामिति शेषः। २—उपसर्गस्य बहुलं दीर्घः स्याद् घञन्ते परे नतु मनुष्ये। ३—पुलिन्दो नाम मनुष्यजातिविशेषः, निषीदत्यस्मिन् पापमिति निषादः। 'हलश्च' त्यधिकरणे घञ्। ४—विश्वस्य दीर्घ इति शेषः। ५—मित्रशब्दे परे विश्वस्य दीर्घः स्याद् ऋषौ वाच्य-इत्यर्थः। ६—प्रकृष्टं वनमिति विग्रहः। प्रादिसमासः। ७—एभ्यो वनस्य णत्वं वा स्याद् इत्यर्थः।

१६७१—मतुप् परे रहते शर आदियों को भी दीर्घ होता है संज्ञा में।

१६७२—मनुष्य भिन्न वाच्य रहते बहुलता से उपसर्ग को दीर्घ होता है घञन्त उत्तरपद हो तो।

१६७३—नर शब्द परे रहते विश्व को दीर्घ होता है संज्ञा में।

१६७४ मित्र शब्द परे रहते विश्व को दीर्घ होता है ऋषि वाच्य हो तो।

(श्वन् शब्द को दीर्घ होता है दन्तादि शब्द परे हों तो)

१६७५—प्र, निर् आदि शब्दों से परे वन शब्द के नकार को णत्व होता है असंज्ञा में भी।

१६७६—ओषधी और वनस्पति वाचक शब्दों से परे (निमित्त रहते) वन शब्द के 'न' को णत्व होता है विकल्प से।

दूर्वावणम्, दूर्वावनम्। शिरीषवणम, शिरीषवनम्। (द्व्यच्त्र्यच्भ्यामेव[1])। नेह, देवदारुवनम्। (इरिकादिभ्यो न[2]) इरिकावनम्। गिरिकावनम्।

१६७७ वाहनमाहितात् ८। ४। ८॥

आरोप्य यदुह्यते तद्वाचिस्थान्निमित्ताद्वाहनस्य नस्य णत्वम्। इक्षुवाहणम्। आहितात्किम्—इन्द्रवाहनम्[3]।

१६७८ पानं देशे ८। ४। ९॥

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य पानस्य नस्य णः। क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणाः = उशीनराः। सुरापाणाः = प्राच्याः।

१६७९ वा भावकरणयोः ८। ४। १०॥

क्षीरपानम्, क्षीरपाणम्[4]।

१६८० प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ८। ४। ११[5]॥

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा। माषवापिणौ। व्रीहिवापाणि। माषवापेण। पक्षे माषवापिनावित्यादि।

१—परस्य वनस्य णत्वं वाच्यमिति शेषः। २—वनस्य णत्वमिति शेषः। ३—ऐरावतादौ—इन्द्रस्य स्वयमेवारोहणान्नाहितत्वमिति भावः। ४—भावे करणे च यः पानशब्दस्तस्योक्तविषये णो वा स्यादित्यर्थः। क्षीरस्य पानमिति विग्रहः। भावे करणे वा ल्युट्। पानक्रिया पानपात्रं वेत्यर्थः। ५—प्रातिपदिकान्त-नुम्—विभक्तीनां क्रमेणोदाहरणानि।

(द्व्यच्क और त्र्यच्क शब्दों से ही होता है)। (इरिकादि शब्दों से परे णत्व नहीं होता)।

१६७७—जिसे उठाकर लेजाया जाता है तद्वाचक शब्द में स्थित निमित्त से परे वाहन शब्द के 'न' को णत्व होता है।

१६७८—देश विशेष गम्य हो तो पूर्व पदस्थ निमित्त से परे पान शब्द के 'न' को णत्व होता है।

१६७९—भाव ल्युडन्त अथवा करण ल्युडन्त पान शब्द के नकार को पूर्व पदस्थ निमित्त से परे णत्व विकल्प से होता है।

१६८०—पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्ति में स्थित नकार को णत्व विकल्प से होता है।

१६८१ कुमति च ८। ४। १३॥

कवर्गवत्युत्तरपदे प्राग्वत्[1]। हरिकामिणौ। हरिकामाणि। हरिकामेण।

१६८२ पदव्यवायेऽपि ८। ४। ३८॥

णत्वं न[2]। माषकुम्भवापेन। (अतद्धित इति वक्तव्यम्[3])। आर्द्रगोमयेण। शुष्कगोमयेण।

१६८३ पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ६। १। १५७॥

एतानि ससुट्कानि निपात्यन्ते। पारस्करः[4]। किष्किन्धा[5]। (तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च)। तात्पूर्वं चत्वेंन दकारोऽपि बोध्यः। तद्बृहतोर्दकारतकारौ लुप्येते करपत्योस्तु सुट्। चौरदेवतयोरिति समुदायोपाधिः। तस्करः[6]। बृहस्पतिः[7]। (प्रायस्य चित्तिचित्तयोः) प्रायश्चित्तिः। प्रायश्चित्तम्[8]। वनस्पतिरित्यादि। आकृतिगणोऽयम्[9]। इति समासाश्रयविधयः।

१—नस्य नित्यं णत्वं स्यादित्यर्थः। २—'न भाभूपूकमिगमि...' इत्यतो नेत्यनुवर्तते। पदेन व्यवधानेऽपि णत्वं न स्यादित्यर्थः। ३—अतद्धिते परे यत्पदं तेन व्यवधानेऽयं निषेधो न तु तद्धितपरकपदेनेत्यर्थः। ४—पारं करोतीति विग्रहः। ५—किं = किमपि वानरसैन्यं धत्ते–इति किष्किन्धा। "आतोऽनुपसर्गे कः" टाप्, निपातनाद् द्वित्वम्, मलोपः सुट्, षत्वञ्च। ६—तत् = चौर्यं करोतीति विग्रहः। "कृञो हेतुताच्छील्ये" इति टः। ७—बृहती = वाक् तस्याः पतिरिति विग्रहः। 'कुकुस्यादीनामण्डादिष्वि'ति पुंवत्त्वम्, तलोपः, सुट्। ८—प्रायस्य चित्तिश्चित्तं वेति विग्रहः।

"प्रायं पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम्" इति स्मृतिः।

९—तेन–शतात्पराणि परश्शतानीति सिद्धम्। इति समासाश्रयविधयः।

इति श्रीमध्यकौमुदीटीकायां प्रभाकरीविवृतौ समासप्रकरणं सम्पूर्णम्।

१६८१—कवर्गवान् उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ निमित्त से परे णत्व होता है पूर्व विषय में।

१६८२—पद का व्यवधान हो तो पूर्व विषय में णत्व नहीं होता।

१६८३—संज्ञा में पारस्कर आदि शब्द सुट् सहित निपातित हैं। (तत् और बृहत् शब्द से क्रमशः 'कर' और 'पति' शब्द को सुट् होता है और तद् बृहत् के दकार तकार का लोप होता है, चोर और देवता वाच्य हो तो)। (प्राय शब्द से परे चित्त और चित्ति शब्द को सुट् होता है)। इति समासाश्रयविधयः।

अथ तद्धितप्रकरणम् ।

१६८४ समर्थानां प्रथमाद्वा ४ । १ । ८२ ॥

इदं पदत्रयमधिक्रियते प्राग्दिश इति यावत् ।

१६८५ प्राग्दीव्यतोऽण् ४ । १ । ८३ ॥

तेन दीव्यतीत्यतः प्रागणधिक्रियते ।

१६८६ अश्वपत्यादिभ्यश्च ४ । १ । ८४ ॥

एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादाश्वपतम्[3] । गाणपतम् ।

१६८७ दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४ । १ । ८५ ॥

प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अणोऽपवादः । दितेरपत्यादि दैत्यः[6] । अदितेरादित्यस्य वा (अपत्यम्) आदित्यः । (यणो मयो द्वे वाच्ये) । मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठीति पक्षे यस्य द्वित्वम् ।

अथ तद्धितप्रकरणम् ।

१—समर्थानां मध्ये यः प्रथमः तस्मात् ; अर्थात् सूत्रे प्रथमोच्चारितशब्दबोध्यात् प्रत्ययो वा स्यादिति सूत्रार्थः । २—अपत्यादिषु । ३—तद्धितेष्वचामादेः इत्यादिवृद्धिः 'यस्येति च' इकारलोपः । ४—दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च ण्यः स्यादित्यर्थः । ५—"प्राग्दीव्यतोऽण्" इति सामान्यप्राप्तस्याऽणः "अश्वपत्यादिभ्यश्च" इति प्राप्तस्य चाऽणोऽपवाद इत्यर्थः । ६—षष्ठ्यन्तात्–दितिशब्दात् ण्यः प्रत्ययः, 'चुटू' इति णकार इत्, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपः = ङसो लुक्, (एवं सर्वत्रैव तद्धितेषु–सुब्लुग् बोध्यः) आदिवृद्धिः, 'यस्येति चे'ति इकारलोपः ।

अथ तद्धिताः

१६८४—ये तीनों पद अधिकृत हैं 'प्रागदिश' तक ।

१६८५—'तेन दीव्यति' से पूर्व अण् का अधिकार है ।

१६८६—अश्वपत्यादि शब्दों से 'अण्' प्रत्यय होता है प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विकल्प करके ।

१६८७—दिति अदिति आदित्य और पत्युत्तर पद शब्दों से 'ण्य' प्रत्यय होता है प्रागदीव्यतीय अर्थों में । (यण् से परे मय् को और मय् से परे यण् को द्वित्व होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

१६८८ हलो यमां यमि लोपः ८। ४। ३४॥

वा स्यात्[1]। इत्यसति लोपे द्वित्वे च सति त्रियं रूपम्। असति लोपे द्वित्व-लोपयोर्वा द्वियम्। द्वित्वाभावे लोपे च सति–एकयम्। प्राजापत्यः[2]। (देवाद्यञञौ)[3] दैव्यम्[4]। दैवम्। (बहिषष्टिलोपो यञ्च)। बाह्यः[5]। (ईकक्[6] च)।

१६८९ किति च ७। २। ११८॥

किति तद्धितेऽचामादेरचो वृद्धिः। बाहीकः (गोरजादिप्रसङ्गे[7] यत्) गोर-पत्यादि–गव्यम्[8]।

१६९० उत्सादिभ्योऽञ्[9] ४। १। ८६॥

औत्सः। (इत्यपत्यादिविकारान्तार्थाः प्रत्ययाः।

१६९१ स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४। १। ८७॥

धान्यानां भवन इत्यतः प्रागर्थेष्वाभ्यामेतौ स्तः। स्त्रैणः[10] पौंस्नः[11]।

१—हलः परस्य यमो लोपः स्याद् वा यमीत्यर्थः। २—प्रजापतेरपत्यं पुमान् प्राजापत्यः। आदिवृद्धिः, 'यस्येति च'। ३—यञ् च अञ् च वक्तव्यावित्यर्थः। ४—देवस्यापत्यादीति विग्रहः। आदिवृद्धिः, यस्येति चेति लोपः। ५—बहिर्भवो बाह्यः बाहीकः, इति च। ६—बहिष ईकक् च स्यात्प्रकृतेष्टिलोपश्चेति वक्तव्यमि-त्यर्थः। ७—'अच्' आदिर्यस्य सः–अजादिः प्रत्ययः = अणादिः, तत्प्राप्तौ गोश-ब्दाद् यत् स्यादित्यर्थः। ८—'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यव्। ९—उत्स–महानस–पृथ्वी–इत्यादयः–उत्सादयः। १०—स्त्रिया अपत्यम् पुमान्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूह इति वा विग्रहः, नञ्प्रत्ययो णत्वम्, आदिवृद्धिश्च स्त्रैणः। ११—विग्रहः स्त्रैणवत्, स्नञ्प्रत्यये स्वादिष्विति पदत्वात्, संयोगान्तस्येति सलोपः। आदि-

---

१६८८—हल् से परे यम् का लोप विकल्प से होता है यम् परे रहते। (देव शब्द से 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय होते हैं)। (बहिस् शब्द से 'यञ्' प्रत्यय होता है और 'टि' का लोप होता है)। (बहिस् से 'ईकक्' प्रत्यय भी होता है)।

१६८९—कित् तद्धित परे रहते अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है। (गो शब्द से अजादि प्रत्यय के प्रसङ्ग में 'यत्' प्रत्यय होता है।

१६९०—उत्सादि शब्दों से 'अञ्' प्रत्यय होता है प्राग्दीव्यतीय अर्थों में।

१६९१—स्त्री और पुमस् शब्द से क्रमशः 'नञ्' और 'स्नञ्' प्रत्यय होता है 'धान्यानां भवने' इससे प्राक् अर्थों में।

१६९२ तस्यापत्यम् ४ । १ । ९२ ॥

षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ।

१६९३ ओर्गुणः ६ । ४ । १४६ ॥

उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । ओरोदिति वक्तव्ये गुणोक्तिः संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति ज्ञापयितुम् । तेन स्वायंभुवमित्यादि सिद्धम् । उपगोरपत्यमौपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

१६९४ अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४ । १ । १६२ ॥

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ।

१६९५ एको गोत्रे ४ । १ । ९३ ॥

गोत्रे एक एव अपत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यम्-औपगवः ।

१६९६ गर्गादिभ्यो यञ् ४ । १ । १०५ ॥

गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः ।

वृद्धिश्च 'पौंस्नः' ।

१—'अत इञ्' इत्याद्या वैशेषिका इत्यर्थः । २—ननु उकारस्थाने भवन् गुणः स्थानसाम्यादोकार एव भवतीति लाघवाद् "ओरोत्" इत्येव सिद्धे 'गुण' इति गुरुनिर्देशो व्यर्थ इत्यत आह-ओरोदिति । गुणशब्दोपादानेऽस्य विधेः संज्ञा-पूर्वकत्वेनाऽनित्यत्वं सिध्यतीत्यर्थः । तेन "स्वयंभुवोऽपत्यादि"-इति विग्रहेऽण् प्रत्यये **स्वायम्भुवम्**, इत्यत्र गुणाऽभावः, उवङ् । ३—अण् प्रत्यये आदिवृद्धिः । ४—अत्र उपगुशब्द एव प्रत्ययं लभते नतु पुनः 'औपगव' शब्दः, अर्थात् गोत्रापत्येऽण् एव भवति नतु तदन्तात्पुनः 'इञ्' । ५—आदिवृद्धिः, यस्येति च,

---

१६९२—षष्ठ्यन्त कृतसन्धि समर्थ से अपत्य अर्थ में पूर्वोक्त और वक्ष्य-माण प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।

१६९३—उवर्णान्त भसंज्ञक को गुण होता है तद्धित परे रहते । (ओरोत् कह सकते थे तथापि गुण शब्द का प्रयोग किया इसलिये कि 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' यह परिभाषा ज्ञापित हो) ।

१६९४—अपत्यत्वेन विवक्षित पौत्रादि की 'गोत्र' संज्ञा होती है ।

१६९५—गोत्र में एक ही अपत्य प्रत्यय होता है ।

१६९६—गर्गादि शब्दों से 'यञ्' प्रत्यय होता है गोत्रापत्य अर्थ में ।

१६६७ यञञोश्च २ । ४ । ६४ ॥

गोत्रे यञन्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक्[1] तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ।

१६६८ गोत्रेऽलुगचि ४ । १ । ८६ ॥

अजादौ प्राग्दीव्यतीये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययस्यालुक् स्यात् । गर्गाणां छात्राः । वक्ष्यमाणो वृद्धाच्छः,

१६६९ आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ६ । १ । १५१ ॥

हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपस्तद्धिते नत्वाकारे । गार्गीयाः[2] । अनाति किम्—गार्ग्यायणः[3] । प्राग्दीव्यतीये[4] किम्—गर्गेभ्यो हित गर्गीयम्[5] । अचि किम्—गर्गेभ्यः आगतं—गर्गरूप्यम्[6] ।

१७०० जीवति तु वंश्ये युवा ४ । १ । १६५ ॥

वंश्ये[7] पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव स्यान्न तु गोत्रसंज्ञम् ।

इत्यलोपः । एवं 'वात्स्य' इत्यत्रापि ।

१—तेन वृद्ध्यभावः । २—गार्ग्यशब्दाच्छप्रत्यये यञोऽलुकि न वृद्ध्यभावः, यकारस्य लोपे, छस्य-इय्, गार्गीयाः । ३—यञन्ताद् युवापत्येऽर्थे यञिञोश्चेति फक्, फस्य 'आयन्' आकारपरत्वात् यकारस्य न लोपः, गार्ग्यायणः । ४—'गोत्रेऽलुगचि' इति सूत्रे इति शेषः । ५—अत्र तस्मै हितमिति गार्ग्यशब्दाच्छः, तस्य प्रागदीव्यतीयत्वाऽभावेन तस्मिन् परे यञञोश्चेति लुग् भवत्येव । तथा चादिवृद्ध्यभावः । ६—अत्र "हेतुमनुष्येभ्यः" इति रूप्यप् प्रत्ययः । तस्याजादित्वाभावाद् यञो नाऽलुक् । ७—वंशः=उत्पादकपित्रादिपरम्परा, तत्र भवो वंश्यः, दिगादित्वाद् यत् ।

१६६७—गोत्रार्थक यञन्त और अञन्त के अवयव यञ् और अञ् का लुक् होता है तत्कृत बहुत गम्य रहते । किन्तु स्त्री लिङ्ग में लुक् नहीं होता ।

१६६८—अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय विवक्षित रहते गोत्र प्रत्यय का लुक् नहीं होता ।

१६६९—हल् से परे अपत्यार्थक यकार का लोप होता है तद्धित परे रहते, आकार परे न हो तो ।

१७००—वंशगत पिता आदि के जीवित रहते पौत्रादि का अपत्य जो चतुर्थादि उसकी 'युव' संज्ञा ही होती है, गोत्र संज्ञा नहीं ।

१७०१ गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४ । १ । ९४ ॥

यून्यपत्ये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ।

१७०२ यञिञोश्च ४ । १ । १०१ ॥

गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात्फक् ।

१७०३ आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम् ७ । १ । २ ॥

प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः । गर्गस्य[1] युवापत्यं—गार्ग्यायणः । दाक्षायणः[2] ।

१७०४ अत[3] इञ् ४ । १ । ९५ ॥

अपत्येऽर्थे । दाक्षिः[4] ।

१७०५ बाह्वादिभ्यश्च ४ । १ । ९६ ॥

बाहविः । औडुलोमिः[5] । औडुलोमी । (लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः) । बाह्वादेरपवादः । उडुलोमाः । आकृतिगणोऽयम् ।

१७०६ अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् ४ । १ । १०४ ॥

१—यञन्ताद् 'गर्ग' शब्दात् (गार्ग्यात्) युवापत्ये फकि रूपम् । २—इञन्ताद् 'दक्ष' शब्दात् (दाक्षेः) फक् । ३—'अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तत्प्रकृतिकात्षष्ठयन्तादिञ् स्यादपत्येऽर्थे' इत्यर्थः । ४—इञ् स्यादित्यर्थः । ५—'ओर्गुणः' इति गुणेऽवादेशः, आदिवृद्धिश्च । ६—उडूनीव (= नक्षत्राणीव) लोमानि यस्य स 'उडुलोमा' उडुलोम्नोऽपत्यं पुमान् औडुलोमिः । "नस्तद्धिते" इति टिलोपः । ७—बहुवचनेषु । ८—औडुलोमिः, औडुलोमी, उडुलोमाः । औडुलोमिम्,

---

१७०१—युवापत्य विवक्षित रहते गोत्र प्रत्ययान्त से ही अन्य प्रत्यय होता है, स्त्रीलिङ्ग में 'युव' संज्ञा होती ही नही ।

१७०२—गोत्र में जो यञ् और इञ् तदन्त से 'फक्' प्रत्यय होता है ।

१७०३—प्रत्यय के आदि 'फ' को आयन्, 'ढ' को एय्, 'ख' को ईन्, 'छ' को ईय् और 'घ' को इय्, आदेश होता है ।

१७०४—अपत्य अर्थ में अदन्त से 'इञ्' प्रत्यय होता है ।

१७०५—बाह्वादि शब्दों से इञ् प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में । (लोमन् शब्दान्त से बहुत्व विशिष्ट अपत्य अर्थ में 'अ' प्रत्यय होता है) ।

१७०६—विदादि शब्दों से 'अञ्' प्रत्यय होता है, इनमें ऋषिओं से गोत्र अर्थ में ऋषिभिन्नों से अपत्य अर्थ में (अञ् होगा) ।

ये त्वत्रानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे। बिदस्य गोत्रं बैदः। बैदौ। बिदाः। पुत्रस्यापत्यं पौत्रः, पौत्रौ। यञञोश्चेति सूत्रे प्रवराध्यायप्रसिद्धं गोत्रम्। तेनेह न-पौत्राः[२]। एवं दौहित्रादयः।

१७०७ शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२॥

अपत्ये। शैवः। गाङ्गः।

१७०८ ऋष्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च[३] ४।१।११४।

ऋषिभ्यः—वासिष्ठः, वैश्वामित्रः। अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः। वृष्णिभ्यः—वासुदेवः। कुरुभ्यः—नाकुलः, साहदेवः।

१७०९ मातुरुत्संख्या-सं-भद्रपूर्वायाः ४।१।११५॥

संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादण् प्रत्ययश्च। द्वैमातुरः[४]। षाण्मातुरः। भाद्रमातुरः।

१७१० स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०॥

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक्। वैनतेयः[५]।

१७११ कन्यायाः कनीन[६] च ४।१।११६॥

उडुलोमान्, इत्यादि।

१—बहुवचने 'यञञोश्च' इति 'अञ्'प्रत्ययस्य लुक्। २—नात्र गोत्रे प्रत्ययः, इति न-अञो लुक्। ३—अण् स्यादित्यर्थः। ४—द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान्—द्वैमातुरः, एवं षाण्मातुरः, इत्यादि। ५—विनताया अपत्यम्, ढस्य-एय्, किति चेत्यादिवृद्धिः, वैनतेयः = गरुडः। ६—कन्याशब्दस्याऽपत्यार्थे 'कनीन' इत्यादेशो भवति 'अण्' प्रत्ययश्चेत्यर्थः।

१७०७—शिवादि शब्दों से 'अण्' प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में विकल्प से।

१७०८—ऋषियों से, अन्धकों से, वृष्णिओं से और कुरुओं से 'अण्' प्रत्यय होता है।

१७०९—संख्या, सं, भद्रपूर्वक मातृ शब्द को 'उत्' आदेश होता है और 'अण्' प्रत्यय होता है।

१७१०—स्त्री प्रत्ययान्तों से 'ढक्' प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में।

१७११—कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है और कन्या शब्द को 'कनीन' आदेश होता है।

चादण् । कानीनो = व्यासः, कर्णश्च ।

१७१२ राजश्वशुराद्यत् ४ । १ । १३७ ॥

(राज्ञो जातावेव) ।

१७१३ ये चाभावकर्मणोः ६ । ४ । १६८ ॥

यादौ तद्धिते अन् प्रकृत्या स्यान्न तु भावकर्मणोः । राजन्यः[1] । श्वशुर्यः[2] । जातावेवेति किम्—

१७१४ अन् ६ । ४ । १६७ ॥

प्रकृत्याणि परे । राजनः[3] ।

१७१५ क्षत्राद्घः ४ । १ । १३८ ॥

क्षत्रियः[4] । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यः[5] ।

१७१६ रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४ । १ । १४६ ॥

१७१७ ठस्येकः ७ । ३ । ५० ॥

अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः । रैवतिकः[6] ।

१७१८ गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४ । १ । ९८ ॥

१—राजन् शब्दात् यति प्रकृतिभावात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न, राजन्यः = क्षत्रियः । २—श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्य = श्यालः । "यस्येति च" इति 'अ'लोपः । ३—जात्यतिरिक्तेऽर्थे, राज्ञोऽपत्यं पुमान्–राजनः । अण् प्रत्यये प्रकृतिभावः । ४—'आयने...' इति सूत्रेण घस्य 'इय्' । ५—अजातावित्युक्तेः न घः, किन्तु इञ् प्रत्ययः । क्षात्रिः । ६–'किति च' इति आदिवृद्धिः । 'यस्येति च' ईलोपः । रेवत्या अपत्यं पुमान् इत्यादि विग्रहः ।

१७१२—राजन् और श्वशुर शब्द से यत् प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में । (राजन् शब्द से जातिवाच्य रहते ही 'यत्' होता है) ।

१७१३—भाव और कर्मार्थक भिन्न यादि तद्धित परे रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव होता है (अर्थात् लोप नहीं होता) ।

१७१४—अण् प्रत्यय परे रहते अन् को प्रकृतिभाव होता है ।

१७१५—क्षत्र शब्द से जात्यपत्य अर्थ में 'घ' प्रत्यय होता है ।

१७१६—रेवत्यादि शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में ।

१७१७—अङ्ग से परे 'ठ' को 'इक' आदेश होता है ।

१७१८—गोत्र अर्थ में कुञ्जादि शब्दों से 'च्फञ्' प्रत्यय होता है ।

१७१९ व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ५ । ३ । ११३ ॥

व्रातवाचिभ्यश्च्फञन्तेभ्यश्च स्वार्थे ञ्यप्रत्ययः स्यात् । कौञ्जायन्यः[1] । कौञ्जायन्यौ । बहुत्वे लुग्वक्ष्यते[2] । ब्राध्नायन्यः[3] ।

१७२० नडादिभ्यः फक् ४ । १ । ९९ ॥

गोत्र इत्येव । नाडायनः[4] । चारायणः । अनन्तरो नाडिः[5] ।

१७२१ अश्वादिभ्यः फञ् ४ । १ । ११० ॥

गोत्रे । आश्वायनः ।

१७२२ इतश्चानिञः ४ । १ । १२२ ॥

इकारान्ताद् द्व्यचोऽपत्ये ढक् न त्विञन्तात् । दौलेयः[6] । नैधेयः । आत्रेयः आत्रेयौ ।

१७२३ अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतमाङ्गिरोभ्यश्च २ । ४ । ६५ ॥

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तत्कृतबहुत्वे न तु स्त्रियाम् । अत्रयः । भृगवः[7] ।

१—कुञ्जशब्दात् च्फञ् प्रत्यये फस्य आयन्, आदिवृद्धिः, ततः कौञ्जायनशब्दात् ञ्यप्रत्यये कौञ्जायन्यः । २—तद्राजत्वात् 'तद्राजस्य बहुषु' इत्यनेन । ३—ब्रध्नशब्दात् षष्ठ्यन्तात् च्फञ्, सुब्लुक्, फस्य आयन्, आदिवृद्धिः, ततो ञ्यप्रत्यये साधुः । ४—इञोऽपवादोऽयं फक् । नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः । फस्य आयन्, आदिवृद्धिः, एवं चरस्य गोत्राऽपत्यं चारायणः । ५—अनन्तरापत्यस्य गोत्रत्वाऽभावात् फकोऽभावे 'अत इञि'ति इञेव । नडस्याऽनन्तरापत्यम् (पुत्रः) नाडिः । ६—दुलेरपत्यं पुमान् दौलेयः, ढक्, ढस्य एयादेशः किति चेत्यादिवृद्धिः । एवं निधेरपत्यं नैधेयः, अत्रेरपत्यम् आत्रेयः । बहुवचने ढको लुकि सति—अत्रयः । ७—एकवचने द्विवचने च, भार्गवः, भार्गवौ

१७१९—व्रात वाचक से और च्फञ् प्रत्ययान्त से स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है ।

१७२०—नडादि शब्दों से फक् प्रत्यय होता है गोत्र अर्थ में ।

१७२१—अश्वादि शब्दों से गोत्र अर्थ में फञ् प्रत्यय होता है ।

१७२२—इकारान्त द्व्यच्क शब्द से अपत्य अर्थ में 'ढक' प्रत्यय होता है, इञन्त से नहीं होता ।

१७२३—अत्रि आदि शब्दों से गोत्र प्रत्यय का लुक् होता है तत्कृत बहुत्व में । स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता ।

कुत्साः। वसिष्ठाः। गोतमाः। अङ्गिरसः।

१७२४ शुभ्रादिभ्यश्च ४।१।१२३॥

शौभ्रेयः।

१७२५ कल्याण्यादीनामिनङ् ४।१।१२६॥

एषामिनङादेशः स्यात् ढक् च। काल्याणिनेयः। बान्धकिनेयः।

१७२६ कुलटाया वा ४।१।१२७॥

इनङ्मात्रं विकल्प्यते ढक् तु नित्यः पूर्वेणैव। कौलटेयः। कौलटिनेयः। सती भिक्षुक्यत्र कुलटा।

१७२७ चटकाया ऐरक् ४।१।१२८॥

(चटकादिति वाच्यम्)। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिध्यति। चटकस्य चटकाया वा अपत्यं चाटकैरः। (स्त्रियामपत्ये लुग् वक्तव्यः) तयोरेव स्त्र्यपत्यं-चटका।

वासिष्ठः, वासिष्ठौ। कौत्सः, कौत्सौ। गौतमः, गौतमौ। आङ्गिरसः, आङ्गिरसौ।

१—ढक् स्यादित्यर्थः। शुभ्रस्यापत्यं—शौभ्रेयः, ढक्, ढस्य एयादेशः, आदिवृद्धिश्च। २—कल्याण्या अपत्यं पुमान् इति विग्रहे ईकारस्य इनङादेशे कल्याणिन्-शब्दात् ढकि एयादेशे आदिवृद्धौ—काल्याणिनेयः। एवं बन्धक्या अपत्यं—बान्धकिनेयः। ३—'स्त्रीभ्यो ढक्' इत्यनेनैवेत्यर्थः। कुलटाया अपत्यं—कौलटेयः, कौलटिनेयः, नित्यत्वादनङि तदभावे च ढक्। ४—तेन 'चटक' इत्यस्मादपि स्यादेव, स्त्रीलिङ्गात्तु प्रातिपदिकग्रहणपरिभाषया सिद्धयतीत्यर्थः। ५—चटकस्य चटकाया वेत्यर्थः। चटकाशब्दस्य जातित्वेऽपि अजादिगणपठितत्वात् टाप्।

१७२४—शुभ्रादि शब्दों से ढक् होता है अपत्य अर्थ में।

१७२५—कल्याण्यादि शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है और इनङ् आदेश होता है।

१७२६—कुलटा शब्द को 'इनङ्' विकल्प से होता है।

१७२७—चटका से 'ऐरक्' प्रत्यय होता है। (चटक से कहना चाहिये था) [लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा बलात् चटका से भी हो जाता]। (स्त्री अपत्य में 'ऐरक्' का लुक् होता है)।

१७२८ गोधाया ढ्रक् ४। १। १२९॥

गौधेरः[1]। शुभ्रादित्वात्पक्षे ढक्। गौधेयः।

१७२९ क्षुद्राभ्यो वा ४। १। १३१॥

अङ्गहीनाः शीलहीनाश्च क्षुद्रास्ताभ्यो ढ्रक् वा। पक्षे ढक्। काणेरः[2]। काणेयः। दासेरः। दासेयः।

१७३० पितृष्वसुश्छण् ४। १। १३२॥

अणोऽपवादः। पैतृष्वस्रीयः[3]।

१७३१ ढकि लोपः ४। १। १३३॥

पितृष्वसुरन्त्यस्य लोपः स्यात्—ढकि। अत एव ज्ञापकात् ढगपि। पैतृष्वसेयः।

१७३२ मातृष्वसुश्च ४। १। १३४॥

पितृष्वसुर्यदुक्तं तदस्यापि स्यात्। मातृष्वस्रीयः। मातृष्वसेयः।

१७३३ कुलात्खः[5] ४। १। १३९॥

कुलीनः। तदन्तादपि, उत्तरसूत्रे अपूर्वपदादिति लिङ्गात्। आढ्यकुलीनः।

१७३४ अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ ४। १। १४०॥

१—गोधाया अपत्यं पुमान्—गौधेरः। ढ्रक् ढस्य एयादेशः, लोपो व्योरिति यलोपः, आदिवृद्धिश्चेति। ढक्—पक्षे गौधेयः। २—काणाया अपत्यम्—काणेरः, काणेयः। दास्या अपत्य दासेरः, दासेय.। ३—पितृष्वसुरपत्यं पैतृष्वस्रीयः, छण्, छस्य ईयादेशः, णित्वादादिवृद्धिः। सकारात्परस्य ऋकारस्य यण्। ४—मातृष्वसुरपत्यम् इति विग्रहे, छण्प्रत्यये मातृष्वस्रीय', ढकि तु मातृष्वसेयः। ५—अपत्ये इति शेषः। कुलस्यापत्यं कुलीनः, खस्य ईनादेशः।

१७२८—गोधा से 'ढ्रक्' प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में।

१७२९—अङ्गहीना और शीलहीना क्षुद्रा कहलाती है। उनसे 'ढ्रक्' विकल्प से होता है।

१७३०—पितृष्वसृ शब्द से अपत्य अर्थ में 'छण्' प्रत्यय होता है।

१७३१—पितृष्वसृ शब्द के अन्त्य का लोप होता है 'ढक्' परे रहते।

१७३२—जो कार्य पितृष्वसृ शब्द को कहे हैं वे सब कार्य मातृष्वसृ को भी होते हैं।

१७३३—कुल शब्द से 'ख' प्रत्यय होता है। (तदन्त से भी 'ख' होता है)

१७३४—पूर्वपद रहित कुल शब्द से विकल्प करके 'यत्' और 'ढकञ्' प्रत्यय होते हैं।

कुलादित्येव। पक्षे खः। कुल्यः। कौलेयकः। कुलीनः।

१७३५ महाकुलादञ्-खञौ ४।४।१४१॥

अन्यतरस्याम् इत्यनुवर्तते, पक्षे खः। माहाकुलः। माहाकुलीनः। महाकुलीनः।

१७३६ दुष्कुलाड्ढक् ४।१।१४२॥

वा। पक्षे खः। दौष्कुलेयः। दुष्कुलीनः।

१७३७ स्वसुश्छः ४।१।१४३॥

स्वस्रीयः।

१७३८ भ्रातुर्व्यच्च ४।१।१४४॥

चाच्छः। भ्रातृव्यः। भ्रात्रीयः।

१७३९ मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ४।१।१६१॥

समुदायार्थो जातिः। मानुषः। मनुष्यः। (तद्धणोऽणुपसंख्यानम्)

१७४० षपूर्वहन्-धृत-राज्ञामणि ६।४।१३५॥

१—स्वसुरपत्यं पुमान् स्वस्रीयः। छस्य ईयादेशः, ऋकारस्य यण्। २—भ्रातृशब्दादपत्येऽर्थे व्यत्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः। छप्रत्यये भ्रात्रीयः। छस्य ईयादेशः, ऋकारस्य यण्-रेफः। ३—मनुशब्दात् 'अञ्' 'यत्' एतौ प्रत्ययौ स्तः, तयोश्च मनुशब्दस्य षुगागमः स्यात् प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन जातौ गम्यायामित्यर्थः। ४—नात्रापत्यग्रहणं सम्बध्यते इति भावः। अन्यथा मानुषा इति बहुवचने 'यञञोश्चे'ति अञो लुक् स्यादिति बोध्यम्। जातिभिन्ने च औत्सर्गिकेऽणि मानवः इति।

१७३५—महाकुल शब्द से 'अञ्' और 'खञ्' प्रत्यय होता है विकल्प से।

१७३६—दुष्कुल शब्द से 'ढक्' प्रत्यय विकल्प करके होता है।

१७३७—स्वसृ शब्द से 'छ' प्रत्यय होता है।

१७३८—भ्रातृ शब्द से 'व्यत्' प्रत्यय होता है, और 'छ' प्रत्यय भी।

१७३९—मनु शब्द से 'अञ्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं और उनके परे रहते मनु शब्द को 'षुक्' आगम होता है, प्रकृति प्रत्यय समुदाय से यदि जाति गम्य हो। (तद्धन् शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है)।

१७४०—षपूर्वक जो अन् उसके और हनादिओं के भ संज्ञक अन् के अकार का लोप होता है 'अण्' परे रहते।

षपूर्वो योऽन् तस्य इनादेश्च भस्यातो लोपोऽणि। ताक्ष्णः[1]।

१७४१ तिकादिभ्यः फिञ् ४।१।१५४॥

तैकायनिः।

१७४२ वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७३॥

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद्वृद्धसंज्ञं स्यात्[2]।

१७४३ उदीचां वृद्धादगोत्रात्[3] ४।१।१५७॥

आम्रगुप्तायनिः[4]। प्राचां तु—आम्रगुप्तिः।

१७४४ प्राचामवृद्धात्फिन्बहुलम्[5] ४।१।१६०॥

ग्लुचुकायनिः।

१७४५ जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् ४।१।१६८॥

जनपद—क्षत्रिययोर्वाचकादञ् अपत्ये। पाञ्चालः[6]। 'क्षत्रियसमानशब्द[7]-

---

१—तक्ष्णोऽपत्यं पुमान्—ताक्ष्णः, अण् प्रत्यये, तक्षन् इत्यस्याऽकारलोपे णत्वे रूपम्। आदिवृद्धिः। २—वृद्धिः=आ—ऐ—औकाररूपा। यथा शाला, इत्यादि। ३—वृद्धसंज्ञकाद् गोत्रप्रत्ययान्तात् फिञ् स्यात्, उदीचां मते इत्यर्थः। ४—आम्रगुप्तस्यापत्यम् आम्रगुप्तायनिः। फिञ्, फस्य आयन्। प्राचां मते तु 'अत इञ्' आम्रगुप्तिः। ५—अवृद्धसंज्ञकादपत्ये बहुलं फिन् स्यादित्यर्थः। बहुलग्रहणेनैव विकल्पे सिद्धे प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्। ग्लुचकस्यापत्यम्—ग्लुचकायनिः। ६—पाञ्चालो देशः, राजा च, जनपदवाचित्वे सति क्षत्रियावाचकत्वात्, तस्मादञ्। पाञ्चालस्य (राज्ञः) अपत्यं पाञ्चालः। ७—क्षत्रियवाचकशब्देन समानशब्दो यो जनपदवाचकः शब्दस्तस्मात् षष्ठ्यन्ताद् राजन्यर्थेऽपत्यवत्प्रत्यया भवन्तीत्यर्थः।

१७४१—तिकादि शब्दों से 'फिञ्' प्रत्यय होता है।

१७४२—जिस शब्द के अचों में आदि अच् वृद्धि रूप हो उस शब्द की वृद्ध संज्ञा होती है।

१७४३—उदीच्य आचार्यों के मत में गोत्रभिन्न वृद्ध संज्ञक शब्द से अपत्य अर्थ में 'फिञ्' प्रत्यय होता है।

१७४४—प्राच्य आचार्यों के मत में गोत्रभिन्न अवृद्ध शब्द से 'फिञ्' प्रत्यय होता है, बहुलता करके।

१७४५—जनपद और क्षत्रियों के वाचक शब्द से 'अञ्' प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में। (समान रूप से जनपद और क्षत्रियवाची शब्द से राजा अर्थ में भी अपत्यवत् प्रत्यय होंगे)।

जनपदात् तस्य राजन्यपत्यवत्'। पञ्चालानां राजा-पाञ्चालः।(पूरोरण्) पौरवः।

१७४६ द्व्यञ्-मगध-कलिङ्ग-सूरमसादण् ४। १। १७०॥

द्व्यच्। आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। (पाण्डोर्ड्यण्) पाण्ड्यः[3]।

१७४७ वृद्धेत्कोशलाजादाञ्ञ्यङ् ४। १। १७१॥

वृद्धात्—आम्बष्ठ्यः। इत्—आवन्त्यः[6]। कौशल्यः। अजादस्यापत्यम् आजाद्यः।

१७४८ कुरुनादिभ्यो ण्यः ४। १। १७२॥

कौरव्यः। नैषध्यः।

१७४९ ते तद्राजाः ४। १। १७४॥

अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः।

१—पूरुशब्दस्य जनपदवाचित्वाभावात् प्राग्दीव्यतीयेऽणि सिद्धे तद्राजार्थं वचनम्। पूरोर्गोत्रापत्यं पौरवः। २—अङ्गस्यापत्यमिति विग्रहः। अङ्गदेशस्य राजा वा। एवमग्रेऽपि। ३—पाण्डोरपत्यं पाण्डुदेशस्य राजा वा—पाण्ड्यः। ४—जनपदक्षत्रियोभयवाचकाद् इदन्तात् कोसलाद् अजादाच्चापत्ये ञ्यङ् इत्यर्थः। ५—आम्बष्ठस्यापत्यम्, तदाख्यदेशस्य राजा वा-आम्बष्ठ्यः। ६—अवन्तेरपत्यम्, तदाख्यदेशस्य राजा वा आवन्त्यः। एवं कौसल्यः। ७—देशवाचकत्वे तु अजादानां राजेति विग्रहः। ८—कुरुशब्दान् नकारादिभ्यश्च जनपदक्षत्रियवाचकेभ्योऽपत्ये राजनि चार्थे ण्यप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। कुरोरपत्यं कुरूणां राजा वा-कौरव्यः। निषधस्यापत्यं निषधानां राजा वा—नैषध्यः। "नैषधः" इत्यत्र तु शैषिकोऽण् प्रत्ययः।

(पूरु शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है)

१७४६—द्व्यच्क और मगधादि जो जनपद क्षत्रियवाची शब्द उनसे अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है।

१७४७—जनपदक्षत्रियोभयवाचक वृद्ध संज्ञक से इदन्त से कोशल से और अजाद शब्द से 'ञ्यङ्' प्रत्यय होता है।

१७४८—जनपदक्षत्रियोभयवाचक कुरु शब्द और नकारादि शब्दों से 'ण्य' प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में।

१७४९—पूर्व विहित अञादि प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है।

१७५० तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २।४।६२॥

बहुष्वर्थेषु[1] तद्राजस्य लुक् तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम्। पञ्चाला[2] इत्यादि।

१७५१ [3]कम्बोजाल्लुक् ४।१।१७५॥

तद्राजस्य। कम्बोजः[4], कम्बोजौ। (कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्)। चोलः। शकः। केरलः। यवनः।

१७५२ अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ४।१।७८॥

त्र्यादीनामन्त्यमुत्तमं तस्य समीपमुपोत्तमम्, गोत्रे यावणिञौ विहितौ अनार्षौ तदन्तयोर्गुरूपोत्तमयोः प्रातिपदिकयोः स्त्रियां ष्यङादेशः। 'यङश्चाप्' कुमुदगन्धेर्गोत्रापत्यं स्त्री कौमुदगन्ध्या[5]। वाराह्या[6]। अनार्षयोः किम्—वाँसिष्ठी[7]। गुरूपोत्तमयोः

१—तद्राजस्य = तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्येत्यर्थः। २—तद्राजप्रत्ययस्याञो बहुवचने लुकि, आदिवृद्ध्यभावः। एवमन्यत्रापि। ३—कम्बोजात्परस्य तद्राजप्रत्ययस्य लुक् स्यादित्यर्थः। अबहुवचनार्थं सूत्रम्। ४—जनपदशब्दादिति विहितस्य अञो लुक्। कम्बोजस्यापत्यं कम्बोजानां राजा वा—कम्बोजः। एवं चोलस्यापत्यं चोलानां राजा वा चोल इत्यादि। ५—कुमुदगन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहे 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्य उत्तरपदलोपश्चे'ति बहुव्रीहिः, पूर्वखण्डे उत्तरपदस्य गन्धशब्दस्य लोपश्च। 'उपमानाच्च' इति इत्वम्। कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्रीति विग्रहेऽण 'यस्येति च' इतीकारलोपे आदिवृद्धौ कौमुदगन्धशब्दः। तत्र धकारादणोऽकार उत्तमः। तत्समीपवर्ती गुरुः गकारादकारः, 'संयोगे गुरु' इत्युक्तेः। एवं च गुरूपोत्तमं कौमुदगन्धेत्यणन्तम्, तदवयवस्याणः ष्यङादेशे स्त्रियां 'यङश्चाप्' इति चाप् प्रत्यये कौमुदगन्ध्या। ६—इञन्तोदाहरणमिदम्। वराहस्यापत्यं स्त्रीति विग्रहः 'अत इञ्', अकारलोपः, वाराहिशब्दः। तत्र इकारः उत्तमः, रेफादाकारः उत्तमसमीपवर्ती गुरुः। इञ इकारस्य ष्यङादेशः, ततश्चाप् प्रत्ययः, वाराह्या। ७—अत्र ऋष्यण्।

१७५०—बहुत्व अर्थ में तद्राज प्रत्यय का लुक् होता है, बहुत्व यदि तत्कृत हो। स्त्री लिङ्ग में लुक् नहीं होता।

१७५१—कम्बोज शब्द से तद्राज प्रत्यय का लुक् होता है। (कम्बोजादिओं से तद्राज का लुक् होता है ऐसा कहना चाहिये)

१७५२—गोत्र अर्थ में विहित जो अनार्ष 'अण्' और 'इञ्' तदन्त गुरूपोत्तम शब्द को स्त्रीलिङ्ग में ष्यङ् आदेश होता है। इत्यपत्याधिकारः।

किम्—औपगवी[1]। गोत्रे किम्—अहिच्छत्रे जाता आहिच्छत्री[2]।

॥ इत्यपत्याधिकारः ॥

अथ रक्ताद्यर्थकाः।

१७५३ तेन[3] रक्तं रागात् ४। २। १॥

कषायेण रक्तं वस्त्रं—काषायम्। माञ्जिष्ठम्। रागात्किम्—देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्।

१७५४ लाक्षा-रोचनाट्ठक् ४। २। २॥

लाक्षिकः। रौचनिकः। (शकलकर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्)। शाकलिकः। कार्दमिकः। (नील्या अन्)। नील्या रक्तं वस्त्रं—नीलम्। (पीतात्कन्)। पीत-

---

१—अण्णन्तत्वेऽपि गुरूपोत्तमत्वाभावान्न ष्यङादेशः। २—जातार्थेऽयमण् नतु गोत्रे इति न ष्यङ्। ॥ इत्यपत्याधिकारः ॥

अथ रक्ताद्यर्थकाः।

३—तेन नाम तृतीयान्तात् रागवाचकात् शब्दात् रक्तमित्यस्मिन्नर्थे अण् स्यादित्यर्थः। एवं सर्वत्रैवंविधेषु स्थलेषु-अर्थाः कल्पनीयाः। ४—रागः = रक्तपीतकषायादिवर्ण इत्यर्थः। ५—अणोऽपवादोऽयम्। लाक्षया रक्तः पट इति विग्रहः। एवं रोचनया रक्तः पटः, रौचनिकः। ६—आभ्यां ठक् वाच्य इत्यर्थः। शकलं = रागद्रव्यविशेषः। शकलेन रक्तः पटः—शाकलिकः। एवं कर्दमेन रक्तः पटः—कार्दमिकः। ७—नील्या अन् प्रत्ययो वक्तव्य इत्यर्थः। नीली = औषधविशेषः, 'नील' इति प्रसिद्धः। ८—पीतेन = हरितालकादिद्रव्येण रक्तं वस्त्रम्—पीतकम्। अणोऽपवादः, कन्।

अथ रक्ताद्यर्थकाः

१७५३—रागवाचक तृतीयान्त शब्द से 'रक्तम्' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१७५४—लाक्षा और रोचना शब्द से पूर्व विषय में 'ठक्' प्रत्यय होता है। (शकल और कर्दम शब्द से भी 'रक्तम्' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है)। (तृतीयान्त नीली शब्द से अन् प्रत्यय होता है 'रक्तम्' अर्थ में)। (पीतशब्द से 'कन्' प्रत्यय होता है)। (हरिद्रा और महारजन शब्द से 'अञ्' प्रत्यय होता है)।

कम्। (हरिद्रामहारजनाभ्यामञ्[1]) हारिद्रम्। महाराजनम्।

१७५५ नक्षत्रेण युक्तः कालः[2] ४।२।३॥

१७५६ तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि[3] यलोपः ४।२।३॥

पुष्येण युक्तं पौषमहः[4]।

१७५७ लुबविशेषे ४।२।४॥

पूर्वेण विहितस्य लुप्, षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते। अद्य[5] पुष्यः।

१७५८ दृष्टं साम[6] ४।२।७॥

तेनेत्येव। वसिष्ठेन दृष्टं—[7]वासिष्ठं साम।

१७५९ [8]वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ४।२।९॥

वामदेवेन दृष्टं—वामदेव्यम्।

१७६० परिवृतो[9] रथः ४।२।१०॥

१—अणोऽपवादोऽयम् अञ्, स्वरे भेदः। हरिद्रा प्रसिद्धा। महारजनम्=कुसुम्भम्। २—नक्षत्रेण युक्तः काल इत्यर्थे नक्षत्रवाचकात् शब्दात् प्राग्दीव्यतीयाः प्रत्यया यथायथं स्युरित्यर्थः। ३—नक्षत्राणि=नक्षत्रवाचकाद् विहितेऽणि प्रत्यये तिष्य-पुष्यशब्दयोर्यकारस्य लोप इत्यर्थः। ४—अहः दिनम्। ५—अद्य (अहोरात्रः) पुष्यः=पुष्येण युक्तः इत्यर्थः। पूर्वेण विहितस्याणो लुप्। ६—तेन दृष्टं सामेत्यर्थेऽण् स्यादित्यर्थः। ७—अण् आदिवृद्धिः। ८—ड्यत्—ड्यौ प्रत्ययौ, अणोऽपवादौ। तकारः स्वरभेदार्थः। ९—अस्मिन्नर्थेऽण् स्यादित्यर्थः।

१७५५—तृतीयान्त नक्षत्रवाचक शब्द से तद्युक्तकाल अर्थ में यथाविहित अणादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय होते हैं।

१७५६—नक्षत्र सम्बन्धी अण् प्रत्यय परे रहते तिष्य और पुष्य के यकार का लोप होता है।

१७५७—साठ घड़ी काल का अवान्तर विशेष गम्य न हो तो पूर्वविहित प्रत्यय का लुप् होता है।

१७५८—तृतीयान्त से 'दृष्टं साम' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं।

१७५९—तृतीयान्त वामदेव शब्द से 'दृष्टं साम' अर्थ में 'ड्यत्' और 'ड्य' प्रत्यय होते हैं।

१७६०—तृतीयान्त समर्थ से 'परिवृतो रथः' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं।

वस्त्रेण परिवृतो—वास्त्रो रथः ।

१७६१ तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ४ । २ । १४ ॥[1]

शरावे उद्धृतः—शाराव ओदनः ।

१७६२ संस्कृतं भक्षाः ४ । २ । १६ ॥[2]

सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृता-भ्राष्ट्रा भक्षाः ।

१७६३ शूलोखाद्यत् ४ । २ । १७ ॥

अणोऽपवादः । शूले संस्कृतं-शूल्यं मांसम् । उख्यम्[3] ।

१७६४ दध्नष्ठक् ४ । २ । १८ ॥

दध्नि संस्कृतं-दाधिकम् ।

१७६५ सास्मिन्पौर्णमासीति ४ । २ । २१ ॥[4]

इतिशब्दात्संज्ञायामिति लभ्यते । पौषी पौर्णमासी अस्मिन्पौषो[5] मासः ।

१७६६ साऽस्य देवता ४ । २ । २४ ॥[6]

१—पात्रवाचकशब्देभ्यः तत्रोद्धृतमित्यर्थेऽण् स्यादित्यर्थः । २—भक्ष्यन्ते इति भक्षाः कर्मणि घञ् (बाहुलकात्), भक्ष्यभूता इत्यर्थः । ३—उखा=पात्रविशेषः, तत्र संस्कृतम्—उख्यम् । ४—अस्मिन्नर्थेऽण् स्यादित्यर्थः । ५—पौषीशब्दादणि 'यस्येति च' इति ईकारलोपः । पौषो मासः । एवं माघी पौर्णमासी—अस्मिन्निति माघो मास इत्यादि । ६—प्रथमान्ताद् देवतावाचकात् शब्दात्

१७६१—सप्तम्यन्त पात्रवाचक शब्दों से 'उद्धृतम्' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१७६२—सप्तम्यन्त समर्थ से 'संस्कृतम्' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं, वह संस्कृत यदि भक्ष=भक्ष्य हो तो ।

१७६३—सप्तम्यन्त शूल और उखा शब्द से संस्कृतं अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है ।

१७६४—सप्तम्यन्त दधि शब्द से संस्कृतं अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१७६५—प्रथमान्त समर्थ पौर्णमासी वाचक से 'अस्मिन्' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं संज्ञा में ।

१७६६—प्रथमान्त देवतावाची शब्द से 'अस्य' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।

इन्द्रो देवताऽस्यैन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पतम् । त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्य-विशेषो देवता मन्त्रस्तुत्या च । ऐन्द्रो मन्त्रः ।

१७६७ कस्येत् ४ । २ । २५ ॥

कशब्दस्य इकारादेशः स्यात्प्रत्ययसंनियोगेन । यस्येति लोपात्परत्वादादिवृद्धिः । को=ब्रह्मा देवताऽस्य—कायं हविः । श्रीर्देवताऽस्य—श्रायम् ।

१७६८ शुक्राद्घन् ४ । २ । २६ ॥

शुक्रियम् ।

१७६९ सोमाट्ट्यण् ४ । २ । ३० ॥

सौम्यम् ।

१७७० वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४ । २ । ३१ ॥

वायव्यम् । ऋतव्यम् ।

१७७१ रीङ् ऋतः ७ । ४ । २७ ॥

अकृद्यकारेऽसार्वधातुक-यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः । 'यस्येति च' । पित्र्यम् । उषस्यम् ।

अस्येत्यर्थेऽण् स्यादित्यर्थः । पशुपतिर्देवताऽस्य, बृहस्पतिर्देवताऽस्येति विग्रहौ, अणि, आदिवृद्धिः ।

१—क+अ (ण्) इकारादेशे 'की+अ' आदिवृद्धौ, आयादेशे कायम् । २—अण्, आदिवृद्धौ, आयादेशः, श्रायम् । ३—शुक्रो देवताऽस्येति-शुक्रियम् =हविः, घस्य 'इय्' । नित्त्वं स्वरार्थम्=(स्वरितार्थम्) । ४—सोमो देवताऽस्येति विग्रहः । ५—'साऽस्य देवता' इत्यर्थे इति शेषः । ६—वायुर्देवताऽस्येति विग्रहः, ओर्गुणः, 'वान्तो यि'इत्यवादेशः । एवं ऋतुर्देवताऽस्येति—ऋतव्यम् । ७—पितरो देवता अस्येति विग्रहः, पित्र्यम् । उषा देवताऽस्येति

१७६७—'क' शब्द को इकारादेश होता है प्रत्यय सन्नियोग में ।

१७६८—प्रथमान्त शुक्रशब्द से 'अस्य' अर्थ में 'घन्' प्रत्यय होता है ।

१७६९—सोम से अस्य अर्थ में 'ट्यण्' प्रत्यय होता है ।

१७७०—देवता वाचक वायु आदि शब्दों से अस्य अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

१७७१—अकृद् यकार, असार्वधातुक यकार और च्वि परे रहते ऋदन्त अङ्ग को 'रीङ्' आदेश होता है ।

१७७२ द्यावापृथिवी-शुनासीर-मरुत्वदग्नीषोम-वास्तोष्पति-गृहमेधाच्छ च ४ । २ । ३२ ॥

चाद्यत् । द्यावापृथिवीयम्, द्यावापृथिव्यम्[1] । शुनासीरीयम्, शुनासीर्यम् ।

१७७३ महाराज-प्रोष्ठपदाट्ठञ् ४ । २ । ३५ ॥

माहाराजिकम्[2] । प्रौष्ठपदिकम् ।

१७७४ देवताद्वन्द्वे च ७ । ३ । २१ ॥

अत्र पूर्वोत्तरपदयोराद्यचोः वृद्धिर्ञिति णिति किति च । आग्निमारुतम्[3] ।

१७७५ नेन्द्रस्य परस्य ७ । ३ । २२ ॥

सौमेन्द्रः । परस्य किम्—ऐन्द्राग्नः ।

१७७६ दीर्घाच्च वरुणस्य ७ । ३ । २३ ॥

न वृद्धिः । ऐन्द्रावरुणम्[4] । दीर्घात्किम्-आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत ।

१७७७ पितृव्य[5]-मातुल-मातामह-पितामहाः ४ । २ । ३६ ॥

'उषस्यं' हविः ।

१—द्यावापृथिव्यौ देवते अस्येति विग्रहः । एवं शुनासीरो देवताऽस्येत्यादिविग्रहः । २—महाराजो = वैश्रवणः (कुबेरः) स देवताऽस्येति विग्रहः । एवं प्रोष्ठपदो देवताऽस्येति विग्रहः । ठञ्, ठस्येकः । आदिवृद्धिः । ३—अग्नामरुतौ देवते अस्येति विग्रहः, अण्, उभयपदवृद्धिः । ६—तेन पूर्वस्य स्यादेवेति । ४—देवताद्वन्द्वे चेत्यानङ् दीर्घात्परत्वाद् वरुणस्य न वृद्धिः । ५—'पितुर्भ्रातरि व्यत्' पितृव्यः । 'मातुः (भ्रातरि) डुलच्' मातुलः । 'मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्' इति डामहच्, डिति टिलोपः, मातामहः, पितामहः ।

१७७२—द्यावापृथिवी आदि प्रथमान्त शब्दों से 'अस्य देवता' अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है और 'यत्' प्रत्यय भी होता है ।

१७७३—महाराज और प्रोष्ठपद शब्द से अस्य देवता अर्थ में 'ठञ्' प्रयय होता है ।

१७७४—देवता द्वन्द्व में पूर्वपद और उत्तरपद पद के आदि अच् की वृद्धि होती है ञित् णित् और कित् परे रहते ।

१७७५—पर पदार्थ इन्द्र शब्द को वृद्धि नहीं होती ।

१७७६—दीर्घ से परे वरुण को वृद्धि नहीं होती ।

१७७७—पितृव्य आदि शब्द निपातित हैं ।

एते निपात्यन्ते। पितुर्भ्राता—पितृव्यः। मातुर्भ्राता—मातुलः। मातुः पिता—मातामहः। पितुः पिता—पितामहः।

१७७८ तस्य समूहः ४। २। ३७॥

काकानां समूहः—काकम्। बकानां समूहः—बाकम्।

१७७९ भिक्षादिभ्योऽण् ४। २। ३८॥

भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहो—गार्भिणम्। इह 'भस्याढ' इति पुंवद्भावे कृते—

१७८० इनण्यनपत्ये ६। ४। १६४॥

अनपत्यार्थेऽणि इन्प्रकृत्या। तेन नस्तद्धिते इति टिलोपो न। युवतीनां समूहो—यौवतम्।

१७८१ गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्र-राज-राजन्य-राजपुत्र-वत्स-मनुष्याजाद्वुञ् ४। २। ३९॥

ग्लुचुकायनीनां समूहो—ग्लौचुकायनकम्। औक्षकमित्यादि। आपत्यस्य चेति यलोपे प्राप्ते। (प्रकृत्या अके राजन्य-मनुष्य-युवानः)। राजन्य

१—षष्ठ्यन्तात् 'समूहः' इत्यर्थेऽण्। २—वार्तिकमिदम्, भसंज्ञाप्रयोजके ढभिन्ने तद्धिते पुंवद्भाव इत्यर्थः। ३—'यूनस्ति' इति तिप्रत्ययान्तात् युवतिशब्दात् समूहेऽर्थेऽण्प्रत्यये पुंवद्भावे च 'अन्' इति सूत्रेण प्रकृतिभावे 'यौवनम्' इति सिद्ध्यति। शत्रन्तादुगितश्चेति ङीप्प्रत्यये अनुदात्तादेर्युवतीति दीर्घान्तात् समूहेऽणि तु "यौवतम्"। ४—ग्लुचकशब्दादपत्ये प्राचामवृद्धादिति फिन्, तत "इतो मनुष्यजातेः" इति स्त्रियां ङीष्, ततः समूहे वुञ्, "युवोरनाकौ" इत्यकादेशः आदिवृद्धिः, यस्येति चेतीकारलोपः, ग्लौचुकायनकम्। ५—राजन्य-मनुष्य-युवन् शब्दा अके परतः प्रकृत्या = प्रकृतिभावेन भवन्तीत्यर्थः। तेन राजन्यमनुष्ययोर्यलोपो, युवन्शब्दस्य टिलोपश्च नेति भावः।

१७७८—षष्ठ्यन्त समर्थ से 'समूहः' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं।

१७७९—भिक्षादि शब्दो से समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१७८०—अनपत्यार्थ अण् परे रहते 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है।

१७८१—षष्ठ्यन्त गोत्र से और उक्ष आदि शब्दों से 'वुञ्' प्रत्यय होता है समूह अर्थ में। ('अक' परे रहते राजन्यादि को प्रकृति भाव होता है।) (षष्ठ्यन्त वृद्ध शब्द से भी 'वुञ् प्रत्यय होता है)।

कम्[1]। मानुष्यकम्। (वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्)। वार्द्धकम्[2]।

१७८२ केदाराद्यञ्च ४। २। ४०॥

चाद्वुञ्। कैदार्यम्[3]। कैदारकम्। (गणिकाया यञ् वक्तव्यः)। गाणिक्यम्[4]।

१७८३ ठञ् कवचिनश्च ४। २। ४१॥

चात्केदारादपि। कवचिनां समूहः—कावचिकम्। कैदारिकम्[5]।

१७८४ ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल्[6] ४। २। ४३॥

ग्रामता[7]। जनता। बन्धुता। तलन्तं स्त्रियाम्। (गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्) गजता[8]। सहायता। (अह्नः खः क्रतौ[9])। अहीनः क्रतुः।

१७८५ अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्[10] ४। २। ४७॥

१७८६ इसुसुक्तान्तात्कः ७। ३। ५१॥

१—राजन्यानां समूहः। मनुष्याणां समूह इत्यर्थः। २—वृद्धानां समूह इति विग्रहः, वुञ्, अकादेशः, आदिवृद्धिः। ३—केदाराणां समूह इति विग्रहः। ४—गणिकानां समूहः। ५—ठस्येकादेशः, कित्वादादिवृद्धिः। ६—समूहेऽर्थे इति शेषः। ७—ग्रामाणां समूह इत्यादिविग्रहाः। ८—गजानां समूहो गजता। सहायानां समूहः सहायता। ९—'अहन्' शब्दात् समूहेऽर्थे 'ख' प्रत्ययः स्याद् यज्ञे वाच्ये इत्यर्थः। खस्य 'ईन्'। नस्तद्धिते इति टिलोपः। अहीनः=अनेकदिनसाध्यः क्रतुविशेषः। १०—षष्ठ्यन्तात् अचित्तात् (चित्तरहितवाचकात्) तथा

१७८२—षष्ठ्यन्त केदार शब्द से समूह अर्थ में 'यञ्' होता है, 'वुञ्' भी होता है। (गणिका शब्द से समूह अर्थ में 'यञ्' होता है)

१७८३—षष्ठ्यन्त कवचिन् शब्द से 'ठञ्' प्रत्यय होता है। चात् केदार शब्द से भी।

१७८४—ग्राम जन और बन्धु शब्द से समूह अर्थ में 'तल्' प्रत्यय होता है। (गज और सहाय शब्द से भी 'तल्' वक्तव्य है)। (अहन् शब्द से समूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है यज्ञ वाच्य रहते)।

१७८५—षष्ठ्यन्त अचित्तवाचक तथा हस्ती और धेनु शब्द से समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

१७८६—इस् उस् उक् त ये जिसके अन्त में हों उससे परे 'ठ' को क आदेश होता है।

इस् उस् उक् त एतदन्तात्परस्य ठस्य [1]कः । साक्तुकम्[2] । हास्तिकम्[3] । धैनुकम् ।

१७८७ केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् ४ । २ । ४८ ॥

पक्षे ठगणौ । कैश्यम्, कैशिकम् । अश्वीयम्, आश्वम् ।

१७८८ पाशादिभ्यो यः[4] ४ । २ । ४९ ॥

पाश्या । तृण्या । धूम्या । वन्या । वात्या ।

१७८९ खल-गो-रथात्[5] ४ । २ । ५० ॥

खल्या । गव्या । रथ्या ।

१७९० इनित्रकट्यचश्च ४ । २ । ५१ ॥

खलादिभ्यः[6] क्रमात्स्युः । खलिनी । गोत्रा । रथकट्या । (खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः) । डाकिनी । कुटुम्बिनी । आकृतिगणोऽयम् ।

१७९१ तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः[7] ४ । २ । ५७ ॥

हस्तिशब्दात् धेनुशब्दाच्च समूहेऽर्थे ठक् स्यादिति सूत्रार्थः ।

१—इकादेशापवादोऽयम् । २—सक्तूनां समूहः साक्तुकम् । ३—हस्तिनां समूहो हास्तिकम् (ठस्य–इकः, टिलोप आदिवृद्धिः) । हस्तिनीनां समूह इति विग्रहेऽपि (भस्याऽढे) इति पुंवद्भावे तदेव रूपम् । एवं धेनूना धैनुकम्, ठक्, ठस्य कः, आदिवृद्धिः । ४—समूहे इत्येव । पाशानां समूह इत्यादिविग्रहः । ५—समूहे यप्रत्यय इति शेषः । ६—खलात् इनिः, गोशब्दात् त्रः, रथात् कट्यच् समूह एव । स्त्रीत्वं लोकात् । खलानां समूहः खलिनी । गवा समूहो गोत्रा । रथानां समूहो रथकट्या । ७—तदस्या क्रीडाया प्रहरणमित्यर्थे प्रथमान्तात्

१७८७—केश और अश्व शब्द से विकल्प से 'यञ्' और 'छ' प्रत्यय होते हैं ।

१७८८—पाशादि शब्दों से समूह अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है ।

१७८९—खल आदि शब्दों से समूह अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है ।

१७९०—समूह अर्थ में खल् से 'इनि' । गो से 'त्र' । और रथ से 'कट्यच्' प्रत्यय भी होते हैं । (खलादि सभी से 'इनि' वक्तव्य है) ।

१७९१—प्रहरणवाचक प्रथमान्त समर्थ से 'अस्या क्रीडायां' अर्थ में 'ण' प्रत्यय होता है ।

इस् उस् च औणादिकौ प्रत्ययौ ग्राह्येने, प्रतिपदोक्तत्वात्, तदुदाहरणम्—सार्पिष्कः, धानुष्कः । उक् प्रत्याहारः, तेन पैतृकम् इत्यादि सिद्ध्यति ।

दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां-दाण्डा । मौष्टा ।

१७९२ घञः सास्यां क्रियेति ञः ४ । २ । ५८ ॥

घञन्तात् क्रियावाचिनः प्रथमान्तादस्यामित्यर्थे स्त्रीलिङ्गे ञप्रत्ययः ।

१७९३ श्येनतिलस्य पाते ञे ६ । ३ । ७१ ॥

अनयोर्मुम् स्यात् ञप्रत्यये परे पातशब्दे उत्तरपदे । श्यैनम्पाता मृगया । तैलम्पाता स्वधा । श्येनतिलस्य किम्—दण्डपातोऽस्यां दाण्डपाता तिथिः ।

१७९४ तदधीते तद्वेद ४ । २ । ५९ ॥

१७९५ न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ७ । ३ । ३ ॥

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्याचो न वृद्धिः, किन्तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्तः । व्याकरणमधीते वेत्ति वा—वैयाकरणः ।

१७९६ क्रमादिभ्यो वुन् ४ । २ । ६१ ॥

प्रहरणवाचकाद् णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

१—मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडायामिति विग्रहः । णे, आदिवृद्धिः । २—श्येनपातोऽस्यां वर्तते इति श्यैनम्पाता । तैलपातोऽस्यां वर्तते इति तैलम्पाता, ञप्रत्यये, आदिवृद्धिः, पूर्वपदयोर्मुम् । ४—दण्डपातोऽस्यामिति विग्रहः, नात्र मुम् । ३—द्वितीयान्ताद् ; एतस्मिन्नर्थेऽणादयः प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । ५—यकारात् पूर्वम् 'ऐ', वकारात्पूर्वम् 'औ' इत्यर्थः । ६—व्याकरणशब्दादण् प्रत्ययः, वृद्ध्यभावे, यकारात्पूर्वम्-ऐकारागमः,वैयाकरणः । ७—तदधीते तद् वेदेत्यर्थे क्रमादिभ्यो वुन् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः, 'वु' इत्यस्य अकादेशः ।

१७९२—घञन्त क्रियावाची प्रथमान्त से 'अस्याम्' अर्थ में 'ञ' प्रत्यय होता है स्त्रीलिङ्ग में ।

१७९३—श्येन और तिल शब्द को मुम् आगम होता है 'ञ' प्रत्यय परे रहते, पातशब्द उत्तरपद हो तो ।

१७९४—द्वितीयान्त समर्थ से 'अधीते' और 'वेद' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१७९५—पदान्त यकार वकार से परे स्थित अक् को वृद्धि नहीं होती, किन्तु उनसे पूर्व क्रमशः ऐ और औ आगम होते हैं ।

१७९६—द्वितीयान्त क्रमादि शब्दों से 'वुन्' प्रत्यय होता है 'अधीते' 'वेद' अर्थ में ।

क्रमकः[1] । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ।

१७९७ क्रतूक्थादि-सूत्रान्ताट्ठक्[2] ४ । २ । ६० ॥

क्रतुविशेषवाचिनामेव ग्रहणम् । तेभ्यो[3] मुख्यार्थेभ्यो वेदितरि, तत्प्रतिपादक-ग्रन्थपरेभ्यस्त्वध्येतरि । आग्निष्टोमिकः[4] । वाजपेयिकः । उक्थं सामविशेषः, तल्लक्षणपरो ग्रन्थविशेषो लक्षणयोक्थम् । तदधीते[5] वेद वा औक्थिकः । (मुख्यार्थात्[6]क्थ-शब्दाट्ठगणौ नेष्येते) नैयायिकः[7] । वार्तिकः । लौकायतिकः[8] । (सूत्रान्तात्तु अकल्पा-देरेवेष्यते[9]) । सांग्रहसूत्रिकः[10] । अकल्पादेः किम्—काल्पसूत्रः[11] । (विद्यालक्षण-

---

१—क्रमम् अधीते वेद वा = क्रमकः । एवं पदम् अधीते वेद वा = पदकः । शिक्षाम् अधीते वेद वा = शिक्षकः । मीमांसाम् अधीते वेद वा = मीमांसकः । २—तदधीते तद्वेदेत्यर्थयोः क्रतु-उक्थादि-सूत्रान्तशब्देभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः । ३—ननु क्रतुविशेषाणां कथमध्ययनम्, तेषाम् अक्षरात्मकत्वा-भावादित्यत आह—तेभ्य इति अग्निष्टोमादिशब्दाः क्रतुविशेषेषु मुख्याः, तत्प्रति-पादकग्रन्थेषु तु गौणाः । तत्र क्रतुविशेषात्मकमुख्यार्थकेभ्यः-अग्निष्टोमादिशब्देभ्यो वेदितरि प्रत्ययाः अग्निष्टोमादिक्रतुप्रतिपादकग्रन्थेषु लक्षणया विद्यमानेभ्यस्तु तेभ्योऽ-ध्येतरि प्रत्यया इत्यर्थः । ४—अग्निष्टोमं क्रतुं वेदेति विग्रहः, अग्निष्टोमं = तत्प्रति-पादकग्रन्थम् अधीते, इति वा विग्रहः । ठक्, ठस्येकः, आदिवृद्धिः आग्निष्टो-मिकः । ५—तत् = उक्थम्=सामविशेषलक्षणपरग्रन्थम् इत्यर्थः, औक्थिकः । ६—सामवाचिनः उक्थशब्दात्तु न ठक्, तस्मिन्निषिद्धे 'तदधीते' इत्यण् च न भवतीत्यर्थः । ७—न्यायम् अधीते वेद वा = नैयायिकः । ठकि, ठस्येकादेशे, यकारात्पूर्वम् ऐकारादेशः । एवम्—वृत्तिम् अधीते वेद वा वार्त्तिकः ठक्, ठस्ये-कादेशः, आदिवृद्धिः । रपरत्वम् । ८—लोके आयतं = विस्तीर्णमिव यत्प्रसिद्धम् प्रत्यक्षप्रमाणं तद् लोकायतं, तत्प्रतिपादकं चार्वाकशास्त्रमपि (लक्षणया) लोका-यतम्, तदधीते वेद वा = लौकायतिकः । ठक्, ठस्येकः, आदिवृद्धिः । ९—कल्पभिन्नादेरेवेत्यर्थः । १०—सङ्ग्रहाख्यं सूत्रम् अधीते वेद वा = साङ्ग्रहसूत्रिकः । ११—कल्पसूत्रम् अधीते वेद वा = काल्पसूत्रः । 'तदधीते' तद् वेदेत्यण् । १२—विद्या-लक्षण-कल्पान्ताच्चापिशब्दात् ठक् स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः ।

१७९७—तदधीते और तद्वेद अर्थ में क्रतूक्थादि और सूत्रादि शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय होता है । (मुख्यार्थक उक्थ शब्द से ठक् और अण् प्रत्यय इष्ट नहीं है) । (सूत्रान्त से विहित ठक् अकल्पादि से ही इष्ट है) । (विद्या लक्षण

कल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम्) वायसविद्यिकः[1]। गौलक्षणिकः। पाराशरकल्पिकः। (अङ्ग-क्षत्र-धर्म-त्रिपूर्वाद् विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम्)[2]। आङ्गविद्यः[3]। क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। त्रिविधा विद्या = त्रिविद्या, तामधीते वेत्ति वा त्रैविद्यः[4]।

॥ इति रक्ताद्यर्थकाः ॥

अथ चातुरर्थिकाः।

१७९८ तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि[5] ४। २। ६७॥

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन्देशे—औदुम्बरो[6] देशः।

१७९९ तेन निर्वृत्तम्[7] ४। २। ६८॥

कुशाम्बेन[8] निर्वृत्ता—कौशाम्बी नगरी।

१८०० तस्य निवासः[9] ४। २। ६९॥

१—वायसविद्याम् अधीते वेद वेति विग्रहः। एवं गोलक्षणम् (गवां लक्षणप्रतिपादकं ग्रन्थम्) अधीते वेद वा गौलक्षणिकः। पराशरकल्पम् अधीते वेद वा—पाराशरकल्पिकः। २—अङ्ग-क्षत्र-धर्म-त्रिशब्दपूर्वकाद् विद्यान्तात् समासात् ठक् नेत्यर्थः, ततश्चाणेवेति। ३—अङ्गविद्याम् अधीते वेद वा = आङ्गविद्यः, अण् आदिवृद्धिः। एवम् क्षत्रविद्याम् अधीते वेद वा=क्षात्रविद्यः। धर्मविद्याम् अधीते वेदवा=धार्मविद्यः। ४—शाकपार्थिवादित्वाद् विधाशब्दस्य लोपः। इति रक्ताद्यर्थकाः।

अथ चातुरर्थिकाः।

५—तदस्मिन्नस्तीत्यर्थे प्रथमान्तादणादयः प्रत्ययाः स्युः, प्रत्ययान्तेन तन्नामके देशे गम्ये इति सूत्रार्थः। ६—अण्, आदिवृद्धिः। ७—तृतीयान्ताद् निर्वृत्तमित्यर्थेऽणादयः स्युरित्यर्थः। ८—कुशाम्बो नाम कश्चिद्राजा तेन निर्वृत्ता = निर्मिता, कौशाम्बी, अण्, आदिवृद्धिः, स्त्रियां टिड्ढेति ङीप्। ९—तस्य निवास इत्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयः स्युः तन्नाम्नि देशे गम्ये इत्यर्थः।

और कल्प है अन्त में जिनके उनसे भी ठक् होता है)। (अङ्गादिपूर्वक विद्यान्त से 'ठक्' नहीं होता)। ॥ इति रक्ताद्यर्थकाः ॥

अथ चातुरर्थिकाः।

१७९८—प्रथमान्तसे "तदस्मिन्नस्ति" (वह इसमें है) अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं, प्रत्ययान्त से यदि तन्नामक देश गम्य हो।

१७९९—तृतीयान्त से 'उसने बनाया' अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

१८००—षष्ठ्यन्त से निवास अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

शिबीनां निवासो देशः—शैबः।

१८०१ अदूरभवश्च ४।२।७०॥

विदिशाया अदूरभवं—वैदिशम्।

१८०२ वुञ्-छण्-क-ठजिल-सेनि-र-ढञ्-ण्य-य-फक्-फिञ्-इञ्-ञ्य-कक्-ठकोऽरीहण-कृशाश्वर्श्य-कुमुद-काश-तृण-प्रेक्षाश्म-सखि-संकाश-बल-पक्ष-कर्ण-सुतंगम-प्रगदिन्-वराह-कुमुदादिभ्यः४।२।८०॥

सप्तदशभ्यः सप्तदश क्रमात्स्युश्चातुरर्थ्याम्। अरीहणादिभ्यो वुञ्—अरीहणेन निर्वृत्तमारीहणकम्। कृशाश्वादिभ्यश्छण्—कार्शाश्वीयः। ऋश्यादिभ्यः कः—ऋश्यकम्। कुमुदादिभ्यष्ठच्—कुमुदिकम्। काशादिभ्य इलः—काशिलः। तृणादिभ्यः सः—तृणसम्। प्रेक्षादिभ्य इनिः—प्रेक्षी। अश्मादिभ्यो रः—अश्मरः। सख्यादिभ्यो ढञ्—साखेयम्। संकाशादिभ्यो ण्यः—सांकाश्यम्। बलादिभ्यो यः—बल्यम्। पक्षादिभ्यः फक्—पाक्षायणः। (पथः पन्थ च)। पान्थायनः। कर्णादिभ्यः फिञ्—कार्णायनिः। सुतंगमादिभ्यः इञ्—सौतंगमिः। प्रगदिनादिभ्यो ञ्यः—प्रागद्यः। वराहादिभ्यः कक्—वाराहकः। कुमुदादिभ्यष्ठक्—कौमुदिकः।

१—शिबयः = क्षत्रियविशेषाः। शैब। अण्, आदिवृद्धिः। २—तस्येति तन्नाम्नि देशे इति चानुवर्तते। तस्य अदूरभव इत्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयः स्युस्तन्नाम्नि देशे इत्यर्थः। ३—विदिशा नाम नगरी, वैदिशम्, अण्, आदिवृद्धिः। ४—चतुर्णाम् अर्थानां समाहारः—चातुरर्थी तस्यामित्यर्थः। 'तदस्मिन्नस्ति देशे' 'तेन निर्वृत्तम्' 'तस्य निवासः' 'अदूरभवश्च' इति चतुर्ष्वर्थेषु प्रथमोच्चारिततत्तद्विभक्त्यन्ताद् यथायोगं वुञादयः प्रत्ययाः स्युरिति समस्तसूत्रार्थः। ५—कृशाश्वेन निर्वृत्तः इति विग्रहः। ६—ऋश्यकेन निर्वृत्तम् इत्यर्थः। ७—कुमुदैर्निर्वृत्तम् = कुमुदिकम्। ठस्येकः। एवमग्रेऽपि यथायोगमर्था बोध्याः। ८—पथोऽदूरभव इत्यर्थः। पक्षादित्वात्फक्, फस्यायन्, पथः पन्थादेशश्च।

१८०१—षष्ठ्यन्त से अदूरभव अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं, प्रत्ययान्त देश गम्य रहते।

१८०२—पूर्वोक्त चार अर्थों में प्रथमा तृतीया तथा षष्ठी विभक्त्यन्त अरीहण-आदि १७ शब्द गणों से क्रमशः वुञ् छण् आदि १७ प्रत्यय होते हैं। (जैसे अरीहणादिकों से वुञ् इत्यादि)।

१८०३ जनपदे लुप् ४ । २ । ८१ ॥

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य[1] लुप्[2] ।

१८०४ लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने १ । २ । ५१ ॥

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः-पञ्चालाः[3] । कुरवः । अङ्गाः । कलिङ्गाः ।

१८०५ वरणादिभ्यश्च ४ । २ । ८२ ॥

अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं-वरणाः[4] ।

१८०६ शर्कराया वा ४ । २ । ८३ ॥

अस्माच्चातुरर्थिकस्य लुप्स्याद् वा ।

१—चतुरर्थ्यां भवश्चातुरर्थिकः, अध्यात्मादित्वात् ठञ्, तस्य लुबित्यर्थः । पूर्वोक्तेषु चतुर्ष्वर्थेषु विहितस्य प्रत्ययस्य लुबिति भावः । २—लुपः प्रवृत्तेः प्राक् प्रत्यय-प्रकृतेर्यल्लिङ्गं यद्वचनं च, ते एव लुपि सत्यपि भवतः, न तु प्रत्ययार्थविशेष्यमनुसृत्येत्यर्थः । ३—'तस्य निवासः' इति विहितस्याणो लुपि प्रकृतिवल्लिङ्गवचने (पञ्चालानां निवास इति विग्रहे वाक्येऽण्प्रकृतौ 'पञ्चालानाम्' इत्यत्र यथा पुंलिङ्गो बहुवचनं च तथाऽत्रापीति) एवमन्यत्र-कुरूणां निवासो जनपदः कुरवः । अङ्गानां निवासो जनपदः अङ्गाः । वङ्गानां निवासो जनपदो वङ्गाः । कलिङ्गानां निवासो जनपदः कलिङ्गाः । प्रत्ययलुपि देशवाचकेषु सर्वत्रापि बहुवचनं प्रयोक्तव्यमिति सिद्ध्यति । ४—वरणादिभ्यः परस्य चातुरर्थिकप्रत्ययस्य लुप् स्यादित्यर्थः । पूर्वेणैव सिद्धे किमर्थोऽयमारम्भ इत्यत आह-अजनपदार्थ इति । ५—वरणा नाम नदी काश्या उत्तरतः प्रसिद्धा, अवयवाभिप्रायं पूजार्थं वा बहुवचनं वरणानाम् इति, वरणाः, अत्र लुप्तप्रत्ययान्तस्य वरणाशब्दस्य नगरे

१८०३—जनपद वाच्य रहते पूर्वोक्त चार अर्थों में विहित प्रत्यय का लुप् होता है ।

१८०४—प्रत्यय का लुप् होने पर प्रकृतिवत् लिङ्ग वचन होते हैं, अर्थात् प्रत्यय करने से पहले जो लिङ्ग और वचन उस शब्द के थे वे ही रहते हैं ।

१८०५—वरणादि शब्दों से परे विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है । (जहाँ जनपद अर्थ नहीं है वहाँ के लिये इस सूत्र का आरम्भ है) ।

१८०६—शर्करा शब्द से विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है विकल्प से ।

१८०७ ठक्छौ च ४ । २ । ८४ ॥

शर्कराया एतौ स्तः । कुमुदादौ वराहादौ च पाठसामर्थ्यात्पक्षे ठच्-ककौ चाग्रहणसामर्थ्यात्पक्षे औत्सर्गिकोऽण्, तस्य लुब्विकल्पः । षड् रूपाणि । शर्करा । शार्करिकम् । शार्करम् । शर्करीयम् । शर्करिकम् । शार्करकम् ।

१८०८ नद्यां मतुप् ४ । २ । ८५ ॥

चातुरर्थिकः । इक्षुमती ।

१८०९ कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुप् ४ । २ । ८७ ॥

१८१० झयः ८ । २ । १० ॥

मतोर्मस्य वः । कुमुद्वान् । नड्वान् ।

१८११ मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८ । २ । ९ ॥

मवर्णावर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधायाश्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः । वेतस्वान् ।

वाच्ये प्रकृतिवत्स्त्रीलिंगं बहुवचनञ्च ।

१—अणो लुपि युक्तवद्भावे रूपम्–शर्करा । अणि रूपम्–शार्करम् । ठकि रूपम्–शार्करिकम् । छे रूपम्–शर्करीयम् । ठचि रूपम्–शर्करिकम् । ककि रूपम्–शार्करकम् । सर्वत्र शर्कराः सन्त्यस्मिन्निति–शर्कराभिर्निर्वृत्तमिति वा विग्रहः । २—नद्यां वाच्यायां चातुरर्थिको मतुप् स्यादित्यर्थः । ३—इक्षवः सन्त्यस्यामिति विग्रहः । उगितश्चेति ङीप् । ४—एभ्यो 'ड्मतुप्' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अयमपि चातुरर्थिकः । डित्त्वं टिलोपार्थम् । ५—झयन्तान्मतोर्मस्य वः स्यादित्यर्थः । ६—कुमुदाः सन्त्यस्मिन्निति—कुमुद्वान्, डित्वाट्टिलोपे मस्य वत्वम् । एवं नडाः सन्त्यस्मिन्निति–नड्वान् । ७—वेतसाः सन्त्यत्रेति–वेतस्वान् ।

१८०७—शर्करा शब्द से 'ठक्' और 'छ' प्रत्यय भी होते हैं । (पक्ष में औत्सर्गिक अण् भी होगा) ।

१८०८—नदी वाच्य रहते चातुरर्थिक मतुप् प्रत्यय होता है ।

१८०९—कुमुद नड वेतस इन तीन शब्दों से 'ड्मतुप्' प्रत्यय होता है । (यह भी चातुरर्थिक है) ।

१८१०—झयन्त से मतुप् के 'म' को 'व' होता है ।

१८११—यवादि शब्दों को छोड़कर मकारान्त तथा अकारान्त और मकारोपध तथा अकारोपध शब्दों से मतुप् के 'म' को 'व' होता है ।

१८१२ नड-शादाद् ड्वलच् ४ । २ । ८८ ॥

नड्वलः । शाद्वलः ।

१८१३ शिखाया वलच् ४ । २ । ८९ ॥

शिखावलः ।

१८१४ उत्करादिभ्यश्छः ४ । २ । ९० ॥

उत्करीयः ।

१८१५ नडादीनां कुक् च ४ । २ । ९१ ॥

नडकीयम् । (कुञ्चा ह्रस्वत्वं च) । कुञ्चकीयः । (तक्षन्नलोपश्च) तक्षकीयः ।

॥ इति चातुरर्थिकाः ॥

१—नडाः सन्त्यत्रेति-**नड्वलः**, डित्वाट्टिलोपः । एवं शादाः = घासाः सन्त्यस्मिन्निति स देशः **शाद्वलः** । २ – शिखाऽस्त्यस्मिन्निति-**शिखावलो** = मयूरः । ३—चातुरर्थिक इति शेषः । उत्कराः सन्त्यस्मिन् देशे इति विग्रहे, उत्करेण निर्वृत्तमिति विग्रहे वा, **उत्करीयः** = देशविशेषः । ४—नडादिभ्यः छः स्याच्चातुरर्थिकः, प्रकृतेः कुक् चेत्यर्थः । नडाः सन्त्यत्रेति -**नडकीयम्** । छस्य-ईय् । ५—नडादिगणसूत्रमिदम् , कुञ्चाशब्दाच्छः प्रकृतेः कुक् , आकारस्य ह्रस्वश्चेत्यर्थः । कुञ्चाः सन्त्यस्मिन्निति-**कुञ्चकीयः** । ६—इदमपि गणसूत्रम् । तक्षन् शब्दाच्छः, कुक् , नकारस्य लोपश्चेत्यर्थः । तक्षाणः सन्त्यस्मिन्निति **तक्षकीयः** । इति चातुरर्थिकाः ।

१८१२—नड और शाद शब्द से ड्वलच् प्रत्यय होता है मतुबर्थ में ।

१८१३—शिखा शब्द से वलच् प्रत्यय होता है मतुबर्थ में ।

१८१४—उत्करादि शब्दों से चातुरर्थिक छ प्रत्यय होता है ।

१८१५—नडादि शब्दों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय होता है और प्रकृति को कुक् आगम होता है । (नडादि गण पठित कुञ्चा शब्द को ह्रस्व भी होता है) । (तक्षन् शब्द के नकार का लोप भी होता है) । ये दोनों गण सूत्र हैं ।

इति चातुरर्थिकाः ।

अथ शैषिकाः।

१८१६ शेषे ४।२।९२॥

अपत्यादिचातुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राणादयः स्युः। चक्षुषा गृह्यते-चाक्षुषं रूपम्। श्रावणः शब्दः। औपनिषदः पुरुषः। दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः। उलूखले क्षुण्ण-औलूखलो यावकः। अश्वैरुह्यते-आश्वो रथः। चतुर्भिरुह्यते—चातुरं शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते—चातुर्दशं रक्षः। तस्य विकार इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः।

१८१७ राष्ट्रावारपाराद्घ-खौ ४।२।९३॥

आभ्यां घ-खौ स्तः। राष्ट्रे जातादि-राष्ट्रियः। अवारपारीणः। (अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्) अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते। तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते।

अथ शैषिकाः।

१-अण्, आदिवृद्धिः। एवं श्रवणेन=कर्णेन गृह्यते श्रावणः=शब्दः। २-उपनिषद्भिः प्रतिपादितः-औपनिषदः, अण् आदिवृद्धिः। ३—दृषदि=शिलायामित्यर्थः। ४—कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ रक्षांसि दृश्यन्ते इत्यागमप्रसिद्धम्। ५—राष्ट्राद् घप्रत्ययः, अवारपारात् खप्रत्यय इत्यर्थः। ६-राष्ट्रे जातो भवो वा=राष्ट्रियः, घप्रत्यये,घस्य इय्, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। ७-अवारपारे जातोऽवारपारीणः, खप्रत्ययः, खस्य ईनादेशः, णत्वम्। ८—विगृहीतात्=पृथग्भूतात्, अवारशब्दात्, पारशब्दाच्चापि पृथक् पृथक् प्रत्यय इत्यर्थः। विपरीतात्=पारावारशब्दादपीत्यर्थः। ९—अवारे जातः=अवारीणः। पारे जातः=पारीणः। पारावारे जातः=पारावारीणः। तत्र भव इति वा।

अथ शैषिकाः

१८१६—शेष अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। अपत्य से लेकर चातुरर्थिकों तक कहे गये अर्थों से अन्य-अन्य अर्थों की शेष संज्ञा है।

१८१७—राष्ट्र और अवारपार शब्द से क्रमशः 'घ' और 'ख' प्रत्यय होते हैं। (विगृहीत अर्थात् पृथक्कृत अवार और पार शब्द से भी 'ख' प्रत्यय होता है)।

१८१८ ग्रामाद्य-खञौ ४ । २ । ९४ ॥

ग्राम्यः । ग्रामीणः ।

१८१९ नद्यादिभ्यो ढक् ४ । २ । ९७ ॥

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

१८२० दक्षिणा पश्चात्-पुरसस्त्यक् ४ । २ । ९८ ॥

दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

१८२१ द्यु प्रागपागुदक्-प्रतीचो यत् ४ । २ । १०१ ॥

दिव्यम् । प्राच्यम् । अवाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

१८२२ अव्ययात्त्यप् ४ । २ । १०४ ॥

१—ग्रामे जातो भवो वा=ग्राम्यः, यप्रत्यये 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। ग्रामीणः, खप्रत्यये ईनादेशः, णत्वम् । २—नदी मही वाराणसी श्रावस्ती-इत्यादि (नद्यादिगणः) । ३-नद्यां जातं भवमित्यादिरर्थः । ढस्य 'एय्', आदिवृद्धिश्च, नादेयम् । ४—मह्यां जातम्, भवं वा माहेयम् । वाराणस्यां जातं भवं वा वाराणसेयम् । ढक् प्रत्यये ढस्य 'एय्' 'किति च' इत्यादिवृद्धिः । 'यस्येति च' इति-ईकारलोपः । ५—दक्षिणा = दक्षिणस्यां भवो जात इति वा दाक्षिणात्यः । त्यक् प्रत्ययः 'किति च' इत्यादिवृद्धिः । एवं पश्चात्-जातो भवो वा-पाश्चात्यः । पुरः-भवो जातो वा पौरस्त्यः । ६—भावार्थेऽयं यत् । ७—दिवि भवम्-दिव्यम्, प्राचि भवं-प्राच्यम्, अवाचि भवम्—अवाच्यम्, उदीचि भवम्, प्रतीचि भवमित्यादिविग्रहाः ।

१८१८—ग्राम शब्द से 'य' और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं ।

१८१९—नद्यादिगण पठित शब्द से ढक् प्रत्यय होता है ।

१८२०—दक्षिणा पश्चात् और पुरस् शब्द से त्यक् प्रत्यय होता है ।

१८२१ —भव आदि शैषिक अर्थों में दिव् प्राच् अवाच् उदच् और प्रतीच् शब्दों से यत् प्रत्यय होता है ।

१८२२—अव्यय से भव आदि अर्थों में त्यप् प्रत्यय होता है । (अमा. इह. क. तसन्त और त्रान्त अव्ययों से ही त्यप् होता है—यह परिगणन है) । ('नि' अव्यय से ध्रुव अर्थ में त्यप् प्रत्यय होता है) । ('निस्' अव्यय से त्यप् प्रत्यय होता है 'गत' अर्थ गम्य रहते) ।

(अमेहं-क-तसि-त्रेभ्य एव)। अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः। (त्यब् नेर्ध्रुव इति वाच्यम्)। नित्यः। (निसो गते)।

१८२३ ह्रस्वात्तादौ तद्धिते ८।३।१०१॥

ह्रस्वादिणः सस्य षस्तादौ तद्धिते। निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ट्यश्चाण्डालादिः। (अरण्याण्णः)। आरण्याः सुमनसः। (दूरादेत्यः)। दूरेत्यः। (उत्तरादाहञ्) औत्तराहः।

१८२४ ऐषमो-ह्यः-श्वसोऽन्यतरस्याम् ४।२।१०५॥

एभ्यस्त्यब्वा। पक्षे वक्ष्यमाणौ ट्यु-ट्युलौ। ऐषमस्त्यम्। ऐषमस्तनम्। ह्यस्त्यम्। ह्यस्तनम्। श्वस्तनम्, पक्षे शौवस्तिकं वक्ष्यते।

१—अमा-इह-क्व-तसि-त्र इत्येभ्य एव अव्ययेभ्यः त्यप् प्रत्यय इति परिगणनवार्तिकमिदम्। २—अमा—सह समीपे वा भवतीति—अमात्य =(मन्त्री)। इह जातो भवो वा = इहत्यः। क्व भवः = क्वत्यः। ततो भवो जातो वा = ततस्त्यः। तत्र जातो भवो वा = तत्रत्यः। ३—'नि' इत्यस्मात् ध्रुवेऽर्थे 'त्यप्' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। ४—नियतं भवो=नित्यः। ५—'निस्'—इत्यव्ययात् 'त्यप्' वक्तव्यो गते= गम्ये-इत्यर्थः। निस्+त्य इति स्थिते सकारस्य पदान्तत्वादादेशप्रत्ययावयवत्वाऽभावाच्च षत्वेऽप्राप्ते आह—ह्रस्वात्तादाविति। ६—निष्ट्यः, त्यप्, सस्य षत्वम्, तकारस्य ष्टुत्वेन टः। ७—अरण्ये भवाः = आरण्याः णप्रत्ययः, आदिवृद्धिः। सुमनसः=पुष्पाणि। ८—दूरादागतो दूरे भवो वा दूरेत्यः, 'दूरात्' शब्दादव्ययात् एत्यप्रत्ययः 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इति टिलोपः, ('आत्' इत्यस्य लोपः)। ९—उत्तरस्मादागतः, उत्तरस्मिन् भवो वा = औत्तराहः, आहञ् प्रत्ययः, आदिवृद्धिः। १०—ऐषमस्—ह्यस्—श्वस् इत्येतेभ्य इत्यर्थः। ११—ऐषमस् इत्यव्ययम्, वर्तमाने संवत्सरेऽर्थे वर्तते, तत्र भवं जातं वा—ऐषमस्त्यम्। त्यप्—प्रत्ययाभावे ट्युप्रत्ययः, ट्युल् प्रत्ययो वा उभयत्र टकार इत्, लित्वं लित्स्वरितमिति :स्वरभेदार्थम्। 'यु' इत्यस्य "युवोरनाकौ" इत्यनादेशः तस्य तुडागमश्चेति—ऐषमस्तनम्। एवम्—ह्यो जातं भवं वा ह्यस्त्यं, ह्यस्तनम्। श्वो भवं जातं वा श्वस्त्यम्, श्वस्तनम्। १२—पक्षे 'श्वसस्तुट् च' इति ठञि तस्य इकादेशे तुडागमे 'द्वारादीनां च' इत्यैजागमे च सति शौवस्तिकम्

१८२३—ह्रस्व इण् से स को ष होता है तकारादि तद्धित परे रहते।

१८२४—ऐषमस् ह्यस् और श्वस् से त्यप् प्रत्यय विकल्प से होता है।

१८२५ वृद्धाच्छः ४ । २ । ११४ ॥

शालीयः ।

१८२६ त्यदादीनि च १ । १ । ७४ ॥

वृद्धसंज्ञानि स्युः । तदीयः । (वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा) । देवदत्तीयः, दैवदत्तः ।

१८२७ भवतष्ठक्छसौ ४ । २ । ११५ ॥

वृद्धाद् भवत एतौ स्तः भावत्कः । (सिति च) सिति तद्धिते पूर्वं पदं स्यात् । जश्त्वम् । भवदीयः । वृद्धादित्यनुवृत्तेः शत्रन्तादणेव—भावतः ।

१८२८ काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४ । २ । ११६ ॥

इकार उच्चारणार्थः । काशिकी, काशिका । वैदिकी, वैदिका । (आपदादि-

---

इति रूपम् ।

१—वृद्धसंज्ञकात् छप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । २—शालायां भवो जातो वा शालीयः, छप्रत्ययः, छस्य ईय् । एवं मालीयः । ३—तस्यायं तदीयः, तद् शब्दात् छः, छस्य ईयादेशः । ४—देवदत्तशब्दस्य नामधेयत्वाद् वृद्धसंज्ञा, ततश्छप्रत्ययः, छस्य ईयादेशः, देवदत्तस्यायं देवदत्तीयः । वृद्धसंज्ञाऽभावपक्षेऽण् , आदिवृद्धिः, दैवदत्तः । ५—भातेर्डवतुप्रत्ययं निष्पन्नस्य "भवत्"—शब्दस्य त्यदादित्वात्, वृद्धसंज्ञायां छप्रत्यये प्राप्ते ठक्छसौ तदपवादौ विधीयेते । तत्र भवतोऽयम् भावत्कः, ठक् प्रत्ययः, ठस्य 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति कादेशः, कित्त्वादादिवृद्धिः । ६—छस् प्रत्यये, 'सिति चे'ति पदत्वात् जश्त्वम्=तकारस्य दकारः, छस्य ईय् , भवदीयः । ७—भूधातोः शतृप्रत्यये निष्पन्नस्य 'भवत्'–शब्दस्य त्यदादित्वाभावाद् न वृद्धसंज्ञा, 'भवतष्ठक्छसावि'ति सूत्रे च वृद्धादित्यनुवृत्तेर्न ठक्छसौ, किन्तु अण् एव इति भावतः । ८—ठञ् ञिठ् च प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ञिठ इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः । ९—काश्या जाता भवा वा=काशिकी, ठञन्तात् ङीप् । ञिठ्प्रत्यये ठस्य इकादेशे टाप् काशिका । १०—वेदिः=देशविशेषः, वेद्यां

१८२५—वृद्ध संज्ञक से 'छ' प्रत्यय होता है।

१८२६—त्यदादि शब्दों की भी वृद्ध संज्ञा होती है । (नामधेय को विकल्प से वृद्ध संज्ञा होती है) ।

१८२७—वृद्ध संज्ञक भवत् शब्द से ठक् और छस् प्रत्यय होते हैं ।

१८२८—काश्यादिगण पठित शब्दों से ठञ् और ञिठ् प्रत्यय होते हैं । (आपदादि पूर्वपद कालान्त शब्दों से ठञ् और ञिठ् प्रत्यय होते हैं) ।

पूर्वपदात्कालान्तात्)। आपदादिराकृतिगणः। आपत्कालिकी, आपत्कालिका।

१८२९ धन्व-योपधाद्वुञ् ४।२।१२१॥

धन्वविशेषवाचिनो यकारोपधाच्च देशवाचिनो वृद्धाद्वुञ् स्यात्। ऐरावतं धन्व—ऐरावतकः। साङ्काश्य-काम्पिल्यशब्दौ वुञ्छणादिसूत्रेण ण्यन्तौ। साङ्काश्यकः। काम्पिल्यकः।

१८३० नगरात्कुत्सन-प्रावीण्ययोः ४।२।१२८॥

कुत्सिते प्रावीण्ये च नगरशब्दाद्वुञ् स्यात्। नागरकश्चौरः शिल्पी वा। एतयोः किम्—नागरा ब्राह्मणाः।

१८३१ अरण्यान्मनुष्ये ४।२।१२९॥

वुञ् स्यात्। औपसंख्यानिक-णस्यापवादः। (पथ्यध्याय-न्याय-विहार-मनुष्य-हस्तिष्विति वाच्यम्)। आरण्यकः पन्थाः, अध्यायो, न्यायो, विहारो, मनुष्यो, हस्ती वा।

भवा जाता वा = वैदिकी, वैदिका। आदिवृद्धिः। पूर्ववत् ङीप्टापौ।

१—ठञ्-ञिठौ स्याताम् इति शेषः। २—आपत्काले भवा जाता वेति विग्रहः। ३—ऐरावताख्यं धन्वेत्यर्थः, धन्व=मरुप्रदेशः, आष्टकं नाम धन्वेति भाष्यान्नपुंसकत्वमपि 'धन्वन्' शब्दस्येति बोध्यम्। ऐरावताख्ये मरुप्रदेशे भवम्—ऐरावतकम्, वुञ् प्रत्ययः, 'वु' इत्यस्य अकादेशः, ञित्वादादिवृद्धिः। ४—साङ्काश्ये भवः=साङ्काश्यकः, काम्पिल्ये भवः = काम्पिल्यकः, ण्यप्रत्ययान्ताभ्यां योपधत्वाद् वुञ् प्रत्ययः, 'वु' इत्यस्य अकादेशः। ५—नगरे कुत्सितः प्रवीणो वा नागरकः, वुञ्, अकादेश आदिवृद्धिः। ६—नगरे भवा जाता वा इत्यर्थः। अण् प्रत्ययः, आदिवृद्धिः। ७—'अरण्याण्णः' इति विहितस्य णस्येत्यर्थः। ८—अरण्ये भवो जातो वा = आरण्यकः, वुञ्, अकादेशः आदिवृद्धिः।

१८२९—धन्व-विशेषवाची और यकारोपध देशवाची वृद्ध संज्ञक शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है। (धन्व, मरुप्रदेश को कहते हैं)।

१८३०—कुत्सित और प्रावीण्य अर्थ गम्य रहते नगर शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है।

१८३१—अरण्य शब्द से वुञ् होता है मनुष्य वाच्य रहते। (पन्था, अध्याय, न्याय, विहार, मनुष्य और हस्ती गम्य रहते वुञ् होता है ऐसा कहना चाहिये)।

१८३२ गर्तोत्तरपदाच्छः ४ । २ । १३७॥

देश इत्येव । वृकगर्तीयम् ।

१८३३ गहादिभ्यश्च ४ । २ । १३८ ॥

गहीयः ।

१८३४ युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ४ । ३ । १ ॥

चाच्छः । पक्षेऽण् । युवयोर्युष्माकं वायं युष्मदीयः । अस्मदीयः ।

१८३५ तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४ । ३ । २ ॥

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः ।

१—वृकगर्तो नाम देशः, वृकगर्ते भवं जातं वा = वृकगर्तीयम् छः, छस्य ईय् । २—छः स्यादिति शेषः । गहो देशविशेषः, गहे भवो—गहीयः । ३—युष्मच्छब्दादस्मच्छब्दाच्च जाताद्यर्थे खञ् स्यादित्यर्थः । चात्छप्रत्ययोऽपि, पक्षेऽण्, अन्यतरस्या ग्रहणसामर्थ्यादिति भावः । ४—युष्मदीयः, अस्मदीयः, द्विवचनान्ताद् बहुवचनान्ताच्च छः, ईयादेशः, 'सुपो धातु इति सुब्लुकि युवावादेशयोर्निवृत्तिः, तयोर्विभक्तौ परतो विधानात् । एकवचनान्ताभ्यां छादिप्रत्यये तु प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति त्वमादेशौ वक्ष्येते, तत्र त्वदीयः, मदीयः इति स्यात् । ५—अथ खञ्प्रत्ययेऽण्प्रत्यये च विशेषमाह—तस्मिन्नित्यादि, इह तच्छब्देन पूर्वसूत्रनिर्दिष्टः खञ् परामृश्यते, तदाह वृत्तौ-खञि अणि चेति । ६—युवयोर्युष्माकं वाऽयम् = यौष्माकीणः, आवयोरस्माकं वाऽयम् = आस्माकीनः, खञ्, ईनादेशः खस्य, युष्माकास्माकादेशौ, आदिवृद्धिः, पूर्वत्र णत्वं, अण् प्रत्यये च युष्माकास्माकादेशयोः सतोरादिवृद्धौ यौष्माकः, आस्माकः ।

१८३२—गर्तोत्तरपद शब्द से 'छ' प्रत्यय होता है देश गम्य रहते ।

१८३३—गहादिगण पठित शब्दों से 'छ' प्रत्यय होता है ।

१८३४—युष्मद् और अस्मद् शब्द से शेष अर्थों में खञ् प्रत्यय होता है, और 'छ' प्रत्यय भी होता है ।

१८३५—खञ् और अण् परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द को क्रमशः युष्माक और अस्माक आदेश होते हैं ।

१८३६ तवक-ममकावेकवचने ४ । ३ । ३ ॥

एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवक-ममकौ स्तः खञि अणि च[2] । तावकीनः, तावकः । मामकीनः, मामकः । छे तु[3]—

१८३७ प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७ । २ । ९८ ॥

मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्व-मौ स्तः प्रत्यये, उत्तरपदे[4] च । त्वदीयः[5] । मदीयः । त्वत्पुत्रः[6] । मत्पुत्रः ।

१८३८ मध्यान्मः ४ । ३ । ८ ॥

मध्यमः[7] ।

१८३९ अ सांप्रतिके ४ । ३ । ९ ॥

१—सूत्रे 'एकवचने' इति युष्मदस्मदोः प्रकृत्योर्विशेषणम्, एकस्य वचनम् = उक्तिः, = एकवचनम्, एकवचने = एकस्योक्तौ व्याप्रियमाणयोर्युष्मदस्मदोरित्यर्थः । तदेवोक्तं वृत्तौ—एकार्थवाचिनोरिति । २—तवायं = तावकीनः, ममायं = मामकीनः खञि, खस्य—ईनादेशे, प्रकृत्योः तवकममकादेशयोः सतोरादिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । अणि प्रत्यये च तावकः, मामकः । ३—छप्रत्यये तु, इत्यर्थः । ४—उत्तरपदशब्दः समासस्य चरमावयवे रूढः, तस्मिंश्च परे—इत्यर्थः । ५—तवायं = त्वदीयः, ममायं = मदीयः । छप्रत्ययः, छस्य ईयादेशः, सुब्-लुकि प्रकृत्योर्युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तयोस्त्वमादेशौ । ६—उदाहरणद्वयमिदम्-उत्तरपदे परतस्त्वमादेशयोः, तव पुत्रः = त्वत्पुत्रः, मम पुत्रः = मत्पुत्रः । ७—मध्ये भवो जातो वा मध्यमः । ८—'अ' इति लुप्तप्रथमाकम् । मध्यादित्यनुवर्तते । सम्प्रतिशब्दोऽव्ययम् उत्कर्षापकर्षहीनत्वात्मकसाम्येऽर्थे वर्तते । स्वार्थे ठञि 'साम्प्रतिकम्' इति, तस्मिन् साम्प्रतिके = साम्ये गम्यमाने मध्यशब्दात् 'अ' प्रत्ययः स्याद् इत्यर्थः ।

१८३६—एकार्थवाची युष्मद् और अस्मद् को क्रमशः तवक और ममक आदेश होते हैं खञ् और अण् परे रहते ।

१८३७—एकार्थवाची युष्मद् और अस्मद् को क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं प्रत्यय अथवा उत्तरपद परे रहते ।

१८३८—मध्य शब्द से 'म' प्रत्यय होता है ।

१८३९—साम्प्रतिक अर्थात् साम्य गम्यमान होने पर मध्य शब्द से 'अ' प्रत्यय होता है ।

मध्यशब्दादप्रत्ययः सांप्रतिकेऽर्थे । उत्कर्षापकर्षहीनो मध्यो वैयाकरणः । मध्यं दारु—नातिह्रस्वं नातिदीर्घमित्यर्थः ।

१८४० द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ४ । ३ । १० ॥

समुद्रसमीपे यो द्वीपस्तद्विषयाद् द्वीपशब्दाद्यञ् स्यात् द्वैप्यम्[2], द्वैप्या ।

१८४१ कालाट्ठञ्[3] ४ । ३ । ११ ॥

कालिकम्[4] । मासिकम् । सावत्सरिकम् । (अव्ययानां भमात्रे टिलोपः) सायंप्रातिकः[5] । पौनःपुनिकः । कथं तर्हि 'शार्वरस्य[6] तमसो निषिद्धये' इति कालिदासः । 'अनुदितौषसरागः[7]' इति भारविः । समानकालीन प्राक्कालीनमित्यादि च[8] । अपभ्रंशा एव[9] इति प्रामाणिकाः । तत्र जातं[10] इति यावत्कालाधिकारः ।

१८४२ श्राद्धे[11] शरदः ४ । ३ । १२ ॥

१—मध्ये भवः (समः)=मध्यः नोत्कृष्टो-नाप्यपकृष्ट इत्यर्थः 'अ' प्रत्यये 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । एवं नपुंसके मध्यं दारु । स्त्रियाम् मध्या कौमुदी, नातिमहती, नातिलघ्वी । २—द्वीपे भव जात वा = द्वैप्यम् , यञि, आदिवृद्धिः, यस्येति चेत्यलोपः । स्त्रिया टापि द्वैप्या । ३—न केवल कालशब्दस्य ग्रहणम् , किन्तु कालशब्दस्य कालविशेषवाचकाना च ग्रहणम् इति भाष्ये स्पष्टम् । तथा च कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यादित्यर्थः । ४—काले भव जातं वा = कालिकम् , संवत्सरे भवं=सांवत्सरिकम् इत्यादि । ५—सायम्प्रातर्भवः = सायम्प्रातिकः, पुनः पुनर्भवः = पौनःपुनिकः, ठञि, ठस्य इकादेशे, टिलोपः । ६—शर्वरीशब्दस्यापि कालवाचकत्वात् शार्वरिकस्येति भाव्यमिति भावः, कथमण्प्रत्यये शार्वरस्येति प्रश्नः । ७—'उषस्' शब्दस्यापि कालवाचित्वेन ठञि प्रत्यये औषसिकेति भाव्यमिति प्रश्नाशयः । ८—सामानकालिकम् , प्राक्कालिकम् इति भाव्यम् इति भावः । ९—अपशब्दा इत्यर्थः । तादृशसिद्धौ प्रमाणाभावादिति तदाशयः । केचित्तु—"अमुकः पुरतः परेद्युरित्यादिवद् एतेऽपि शब्दा अव्युत्पन्नाः, पृषोदरादयो वा साधव" इत्याहुः, इति बालमनोरमा । १०—व्याख्यानादिति भावः । ११—शरदि भवं श्राद्धम् इत्यर्थे

१८४०—समुद्र समीपवर्ती द्वीप विषयक = वाचक द्वीप शब्द से यञ् प्रत्यय होता है ।

१८४१—कालवाचक शब्दों से ठञ् प्रत्यय होता है । (भ सञ्ज्ञक अव्ययों की टि का लोप होता है)

१८४२—श्राद्ध अर्थ वाच्य रहते शरद् शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है । (यह ऋत्वण् का अपवाद है) ।

ठञ् स्यात्। ऋत्वणोऽपवादः। शरदि भवं—शारदिकं[1] श्राद्धम्[2]।

१८४३ विभाषा रोगातपयोः[3] ४। ३। १३॥

शारदिकः शारदो वा, रोग आतपो वा।

१८४४ निशा-प्रदोषाभ्यां च ४। ३। १४॥

ठञ् वा। नैशिकम्[6], नैशम्। प्रादोषिकम्, प्रादोषम्।

१८४५ श्वसस्तुट् च ४। ३। १५॥

श्वसष्ठञ् वा तुट् च।

१८४६ द्वारादीनां[7] च ७। ३। ४॥

एषां न वृद्धिरैजागमश्च। शौवस्तिकम्[1]।

'शरद्' शब्दात् 'कालाट्ठञ्' इत्यस्य बाधकः 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽणि'ति-अण् प्राप्नोति, तद्बाधनाय ठञ्विधिरयम्। तदेवाह-ऋत्वणोऽपवाद इति।

१—ठञ्, ठस्येकः। २-श्रद्धया क्रियमाणं पित्र्यं कर्म=श्राद्धम् 'प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चादिभ्यो णः' इति मत्वर्थीये णप्रत्यये सिद्ध्यतीदम्। श्रद्धावान् पुरुषस्तु न गृह्यतेऽनभिधानात्। ३—रोगे आतपे च वाच्ये 'शरद्' शब्दाद् वा ठञ् स्यादित्यर्थः। पक्षे ऋत्वण्। ४—शरदि भवः=शारदिकः, ठञि, ठस्य इकादेशे आदिवृद्धिः, अणि—शारदः। ५—कालाट्ठञिति नित्यं प्राप्ते विकल्पोऽयम्। पक्षेऽण्। ६—निशायां भवम्=नैशिकम्, नैशम् तमः। प्रदोषे भवं=प्रादोषिकम्, प्रादोषम्। ७—अत्र "न य्वाभ्या" मिति सूत्रं पदान्ताभ्यामिति वर्जमनुवर्तते-मृजेर्वृद्धिरित्यतो वृद्धिरिति च, द्वार, स्वर, व्यल्कश, स्वस्ति, स्यकृत्, स्वादु, मृदु, श्वस्, श्वन्, स्व इति द्वारादयः। ८—वृद्धिर्न स्यात्, यकारवकाराभ्यां पूर्वक्रमेण ऐकारागमः, औकारागमश्च स्यादिति भावः। अत्र यकारवकारयोरपदान्तत्वाद् 'न य्वाभ्यामि'त्यप्राप्ते 'द्वारादीनां चे'ति सूत्रारम्भः। ९—श्वो भवं=शौवस्तिकम्। श्वस्—शब्दात् ठञ्, ठस्येकादेशः, तुडागमः, वकारात्पूर्वम् औकारागमः, आदि-

---

१८४३—रोग और आतप वाच्य रहते शरद् शब्द से विकल्प करके ठञ् प्रत्यय होता है।

१८४४—निशा और प्रदोष शब्द से भी ठञ् विकल्प करके होता है।

१८४५—श्वस् शब्द से ठञ् विकल्प से होता है और तुट् आगम होता है।

१८४६—द्वारादि गण पठित शब्दों को वृद्धि नहीं होती, यकार वकार से पूर्व क्रमशः 'ऐ' और 'औ' आगम होता है।

१८४७ सन्धिवेलाद्यृतु-नक्षत्रेभ्योऽण् ४ । ३ । १६ ॥

सन्धिवेलायां भवं—सान्धिवेलम् । ग्रैष्मम् । सन्धिवेला । सन्ध्या । अमावास्या । त्रयोदशी । चतुर्दशी । पौर्णमासी । प्रतिपद् ।

१८४८ प्रावृष एण्यः ४ । ३ । १७ ॥

प्रावृषेण्यः ।

१८४९ वर्षाभ्यष्ठक् ४ । ३ । १८ ॥

वर्षासु साधु—वार्षिकं वासः ।

१८५० सर्वत्राण् च तलोपश्च ४ । ३ । २२ ॥

हेमन्तादण् तलोपश्च वेदलोकयोः । चकारात्पक्षे ऋत्वण् । हेमन्ते भवं—हैमनम्, हैमन्तं वा वसनम् ।

१८५१ सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगे-ऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४ । ३ । २३ ॥

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः अव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तस्तयोस्तुट् च ।

वृद्ध्यभावः ।

१—'कालाट्ठञ्' इत्यस्यापवादोऽयमण् । २—ग्रीष्मे भवमित्यर्थः, अण्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यलोपः । ३—सन्धिवेलादिगणनिर्देशोऽयम्, तथा च सन्ध्यायां भवं सान्ध्यम्, आमावास्यम्, त्रायोदशम्, पौर्णमासम्, प्रातिपदम इत्यादि । ४—ऋत्वणोऽपवादोऽयम् । ५—प्रवर्षतीति प्रावृट् = वर्षर्तुः, 'नहिवृतीत्यादिना' दीर्घः, तत्र भवः = प्रावृषेण्यः । ६—ठक्, ठस्येकः, कित्त्वादादिवृद्धिः । वासः = वस्त्रम् । ७—सर्वत्रेति लोके वेदे च, हेमन्तादित्यनुवर्तते, तदाह—वृत्तौ—हेमन्तादित्यादि । ८—अण्, तलोप', 'अन्' इति सूत्रेण प्रकृतिभावान्न टिलोपः, **हैमनम्**, आदिवृद्धिः । ऋत्वणि तु न तलोपः, सन्नियोगशिष्टत्वात्—**हैमन्तम्** ।

१८४७—सन्धिवेलादि और ऋतुवाचक तथा नक्षत्रवाचक शब्दों से अण् प्रत्यय होता है ।

१८४८—प्रावृष् शब्द से एण्य प्रत्यय होता है । (यह ऋत्वण् का अपवाद है) ।

१८४९—वर्षा शब्द से शैषिक अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ।

१८५०—हेमन्त शब्द से अण् प्रत्यय होता है और तकार का लोप होता है । चकार पढ़ने से पक्ष में ऋत्वण् भी होगा ।

१८५१—सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे इन चार कालवाची अव्ययों से

सायं भवं—सायन्तनम्[1]। चिरन्तनम्। प्राह्णप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। दोषातनम्। दिवातनम्। (चिर-परुत्-परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः)। चिरत्नम्[2]। परुत्नम्। परारित्नम्। (अग्रादिपश्चाड्डिमच्)[3]। अग्रिमम्[4]। आदिमम्। पश्चिमम्। (अन्ताच्च)। अन्तिमम्[5]।

१८५२ विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् ४।३।२४॥

आभ्यां ट्युट्युलौ वा स्तस्तयोस्तुट् च। पक्षे ठञ्। पूर्वाह्णेतनम्[6], पौर्वाह्णिकम्। अपराह्णेतनम्, आपराह्णिकम्।

१८५३ तत्र जातः ४।३।२५॥

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः[7]। स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः[8]। औत्सः। राष्ट्रियः[9]। अवारपारीणः, इत्यादि।

१—सायम्-शब्दात् ट्युप्रत्यये ट्युल्प्रत्यये वा, (लित्वं स्वरभेदमात्रार्थम्) 'यु' इत्यस्य अनादेशे तुडागमे—सायन्तनम्। एवमग्रेऽपि। २—चिरं भवम्=चिरत्नम्। परुत्, परारि, इति चाव्ययं पूर्वस्मिन् पूर्वतरे च वत्सरे क्रमाद् वर्तेते (तथा च पञ्चनदभाषायामुच्यते 'परुँ, परार' इति)। ३—अग्र-आदि-पश्चात्-शब्देभ्यो डिमच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। ४—अग्रे भवम्=अग्रिमम्, डित्वाट्टिलोपे सिद्धम्। एवम् आदौ भवम्=आदिमम्, पश्चाद् भवम्=पश्चिमम्। ५—अन्ते भवम्=अन्तिमम्, डिमच्प्रत्ययः डचावितौ, टिलोपः। ६—पूर्वाह्णे भवं—पूर्वाह्णेतनम्, 'घ-काल-तनेषु' इति सप्तम्या अलुक्। पक्षे ठञ् ठस्येकः, आदिवृद्धिः पौर्वाह्णिकम्। एवमग्रेऽपि। ७—सप्तम्यन्तात्समर्थादित्यर्थः। ८—अण् आदिवृद्धिः। एवम् औत्सः, उत्सो देशविशेषः, तत्र जात इत्यर्थः। ९—राष्ट्रे जातः—राष्ट्रियः, घप्रत्ययः, घस्य—इयादेशः। अवारपारे जातः=अवारपारीणः,

---

'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय होते हैं और 'तुट्' आगम होता है। (चिर परुत् और परारि इन तीन कालवाची अव्ययों से पूर्वोक्त अर्थों में 'त्न' प्रत्यय होता है)। (अग्र, आदि और पश्चात् शब्द से भव आदि अर्थों में डिमच् प्रत्यय होता है)। ('अन्त' शब्द से भी डिमच् प्रत्यय होता है)।

१८५२—पूर्वाह्ण और अपराह्ण शब्द से 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय विकल्प करके होते हैं और तुट् आगम होता है। पक्ष में ठञ् होगा।

१८५३—सप्तम्यन्त समर्थ से 'जातः' अर्थ में अण् आदि और घ आदि प्रत्यय होते हैं।

१८५४ प्रावृषष्ठप् ४ । ३ । २६ ॥

एण्यस्यापवादः[1] । प्रावृषिकः[2] ।

१८५५ प्रायभवः ४ । ३ । ३९ ॥

तत्रेत्येव । स्रुघ्ने[3] प्रायेण बाहुल्येन भवति—स्रौघ्नः[4] ।

१८५६ संभूते ४ । ३ । ४१ ॥

स्रुघ्ने[5] संभवति—स्रौघ्नः[6] ।

१८५७ कोशाड्ढञ् ४ । ३ । ४२ ॥

कौशेयं[7] वस्त्रम् ।

१८५८ तत्र भवः[8] ४ । ३ । ५३ ॥

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः[9] । औत्सः । राष्ट्रियः[10] ।

१८५९ दिगादिभ्यो यत् ४ । ३ । ५४ ॥

दिश्यम्[11] । वर्ग्यम् ।

स्रप्रत्ययः स्रस्य ईनादेशः, णत्वम् ।

१—तत्र जात इत्यर्थे एण्यापवादः ठप् स्यादिति भावः । २—प्रावृषि जातः= प्रावृषिकः ठप्, ठस्येकः । ३—प्रायभव इत्यर्थे सप्तम्यन्तादणादयो घादयश्च स्युरित्यर्थः । ४—अण् प्रत्ययः । ५—सप्तम्यन्तात्सम्भूतेऽर्थेणादयो घादयश्च यथायथं स्युरित्यर्थः, सम्भवः = सम्भावना । ६—अत्राप्यणेव । ७— कृमि-कोशस्य विकारः = कौशेयम्, वस्त्रम् । "विकारे कोशाड्ढञ्" इति ढञ् प्रत्ययः, ढस्य एयादेशः, ञित्वादादिवृद्धिः । ८—सप्तम्यन्ताद्भव इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च यथायथं स्युरित्यर्थः । ९—अण्प्रत्ययः । एवम् औत्सः इत्यत्राप्यण् । १०—राष्ट्रे भवः = राष्ट्रियः घप्रत्ययः, घस्य इयादेशः, । ११—दिशि भवम् = **दिश्यम्**, वर्गे भवम् = **वर्ग्यम्** ।

१८५४—प्रावृष् शब्द से ठप् प्रत्यय होता है तत्र जातः अर्थ में, यह एण्य प्रत्यय का अपवाद है ।

१८५५—सप्तम्यन्त समर्थ से प्रायभव अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

१८५६—सप्तम्यन्त से सम्भूत अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

१८५७—कोश शब्द से विकार अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है ।

१८५८—सप्तम्यन्त समर्थसे भव अर्थमें अणादि और घादि प्रत्यय होते हैं ।

१८५९—दिगादिगण पठित शब्दों से भव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

१८६० शरीरावयवाच्च ४ । ३ । ५५ ॥

दन्त्यम्[2] । कण्ठयम् ।

१८६१ दृति-कुक्षि-कलशि-वस्त्यस्त्यहेर्ढञ् ४ । ३ । ५६ ॥

दार्तेयम्[4] । कलशिर्घटः, तत्र भवं—कालशेयम् ।

१८६२ ग्रीवाभ्योऽण् च ४ । ३ । ५७ ॥

चाड्ढञ्[5] । ग्रैवेयम्, ग्रैवम्[6] ।

१८६३ गम्भीराञ्ञ्यः ४ । ३ । ५८ ॥

गम्भीरे भवं—गाम्भीर्यम्[7] ।

१८६४ अव्ययीभावाच्च[8] ४ । ३ । ५९ ॥

परिमुखे भवं—पारिमुख्यम्[9] । (परिमुखादिभ्य एवेष्यते) । नेह—औपकूलः[10] ।

१—यत्स्यादिति शेषः। २—दन्तेषु भवम् = दन्त्यम्, कण्ठे भवम् = कण्ठ्यम् । ३—दृति-कुक्षि-कलशि-वस्ति-अस्ति-अहि—इत्येतेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो भव इत्यर्थे ढञ् स्यादित्यर्थः। ४—दृतौ = चर्मभस्त्रिकायां भवं = दार्तेयम् ढञ् सुब्लुक्, ढस्य एयादेशः, आदिवृद्धिः—रपरा। एवं कौक्षेयम्, कालशेयम्, वास्तेयम्, (वस्तिः = नाभेरधः स्थानम), आस्तेयम् (अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्, यथा—अस्तिमान् = धनवान् इति,) आहेयम् । ५—शरीरावयवाच्चेति यतोऽपवादोऽयम् । ग्रीवाशब्दोऽयं धमनीसङ्घे वर्तते, उद्भूतावयवभेदसङ्घविवक्षायां बहुवचनान्तात्प्रत्यय इति सूचयितुं बहुवचनम् । तिरोहितावयवभेदविवक्षायां तु एकवचनान्तादपि अण्—ढञौ स्यातामेव। ६—ग्रीवासु ग्रीवायां वा भवम् = ग्रैवेयम्, ढञ्, ढस्य एयादेशः, आदिवृद्धिः, पक्षेऽणि, आदिवृद्धौ, ग्रैवम् । ७—ञ्यप्रत्यये, ञित्वादादिवृद्धिः, यस्येति चेत्यकारलोपः, गाम्भीर्यम् । ८—ञ्य इति शेषः। ९—ञ्यप्रत्यये, आदिवृद्धिः, अकारलोपः, पारिमुख्यम् । १०—उपकूलं भवः = औपकूलः। अव्ययीभावत्वेऽपि परिमुखादिगणानन्तर्भावात् न ञ्यः, किन्तु-

---

१८६०—शरीरावयववाची शब्द से भी भव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

१८६१—सप्तम्यन्त दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति और अहि शब्द से भव अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है ।

१८६२—ग्रीवा शब्द से अण् प्रत्यय होता है और ढञ् प्रत्यय भी ।

१८६३—गम्भीर शब्द से भव अर्थ में ञ्य प्रत्यय होता है ।

१८६४—अव्ययीभाव से भव अर्थ में ञ्य प्रत्यय होता है । (परिमुखादि

१८६५ अन्तः पूर्वपदाट्ठञ् ४ । ३ । ६० ॥

अव्ययीभावादित्येव । वेश्मनि इति-अन्तर्वेश्मम्[1], तत्र भवम् आन्तर्वेश्मिकम् । आन्तर्गणिकम् । (अध्यात्मादेष्ठञिष्यते) । अध्यात्मं भवम् आध्यात्मिकम्[2] ।

१८६६ अनुशतिकादीनां च ७ । ३ । २० ॥

एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च । आधिदैविकम्[3] । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम्[4] ।

१८६७ जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४ । ३ । ६२ ॥

जिह्वामूलीयम्[6] । अङ्गुलीयम् ।

१८६८ वर्गान्ताच्च[7] ४ । ३ । ६३ ॥

कवर्गीयम्[8] ।

अण्, आदिवृद्धिः ।

१-अत्र अव्ययीभावसमासे जाते 'नपुसकादन्यतरस्याम्', इति समासान्तष्टच्, टिलोपे 'अन्तर्वेश्मम्' इति ततो भवार्थे ठञि ठस्येकादेशे, आदिवृद्धिः, **आन्तर्वेश्मिकम्** । एवम्-अन्तर्गणे भवम्—**आन्तर्गणिकम्** । २—आत्मनि इत्यध्यात्मम्, तत्र भवम्- **आध्यात्मिकम्**, ठञ्, इकः, आदिवृद्धिः । ३—देवेषु इत्याधिदेवम्, तत्र भवम् = **आधिदैविकम्** । अध्यात्मादित्वात् ठञि, इकादेशे, अनुशतिकादित्वाद् उभयपदवृद्धिः । एवम्-भूतेषु इत्यधिभूतम्, तत्र भवम् = **आधिभौतिकम्** । इह लोके भवम् = **ऐहलौकिकम्** । ४—अनुशतिकादिगण आकृतिगण इत्यर्थः । तेन पारलौकिकम् इत्यादावपि ठञि उभयपदवृद्धिः । ५—शरीरावयवाच्चेति यतोऽपवादोऽयम् । ६—जिह्वामूले भवम् = **जिह्वामूलीयम्**, छः, छस्य ईयादेशः । अङ्गुल्या भवम् = **अङ्गुलीयम्** । ७—छ इति शेषः । ८—कादिः—वर्गः कवर्गस्तत्र भवम् = **कवर्गीयम्**, एवम्-चवर्गीयम् इत्यादि ।

शब्दो से ही इष्ट है) ।

१८६५—अन्तः पूर्व पद अव्ययीभाव से भव अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । (अध्यात्मादि गण पठित शब्दो से ठञ् प्रत्यय होता है भव अर्थ में)

१८६६—ञित् णित् और कित् प्रत्यय परे रहते अनुशतिकादिगण पठित शब्दों में उभय पद वृद्धि होती है ।

१८६७—जिह्वामूल और अङ्गुलि शब्द से भव अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है ।

१८६८—वर्गान्त शब्दों से 'छ' प्रत्यय होता है ।

१८६९ तत आगतः[1] ४ । ३ । ७४ ॥

स्रुघ्नादागतः—स्रौघ्नः[2] ।

१८७० ठगायस्थानेभ्यः ४ । ३ । ७५ ॥

शौल्कशालिकः[3] ।

१८७१ विद्या-योनि-संबन्धेभ्यो वुञ्[4] ४ । ३ । ७७ ॥

औपाध्यायकः । पैतामहकः ।

१८७२ ऋतष्ठञ्[5] ४ । ३ । ७८ ॥

वुञोऽपवादः । हौतृकम्[6] । मातृकम् । भ्रातृकम् ।

१८७३[7] पितुर्यच्च ४ । ३ । ७९ ॥

चाट्ठञ् । रीङ्ऋतः । यस्येति लोपः । पित्र्यम् । पैतृकम् ।

१—तत आगत इत्यर्थे पञ्चम्यन्ताद् यथायथं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । २—अण्, आदिवृद्धिः । ३—शुल्कशालाया आगतः=**शौल्कशालिकः**, ठकि, कित्वादादिवृद्धिः । ४—तत आगत इत्यर्थे एव, उपाध्यायादागतः=**औपाध्यायकः**, पितामहादागतः=**पैतामहकः** । वुञ्, 'वु' इत्यस्य अकादेशः, आदिवृद्धिः । ५—ऋदन्ताद् विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनष्ठञ् स्यादित्यर्थः । ६—होतुरागतम् =**हौतृकम्**, आदिवृद्धिः । उकः परत्वात् "इसुसुक्तादि"ति सूत्रेण ठस्य कादेशः, एवं मातुरागतम्=**मातृकम्**, भ्रातुरागतम्=**भ्रातृकम्** । ७—पितुरागतम्=

१८६९—पञ्चम्यन्त समर्थ से (ततः) आगत अर्थ में अणादि प्रत्यय होता है ।

१८७०—आयस्थान वाची पञ्चम्यन्त समर्थ से आगत अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१८७१—विद्या और योनि सम्बन्धवाची पञ्चम्यन्त शब्दों से 'तत आगतः' इस अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है ।

१८७२—ऋकारान्त विद्या-योनि सम्बन्ध वाची शब्दों से ठञ् होता है । वुञ् का यह अपवाद है ।

१८७३—पितृ शब्द से आगत अर्थ में यत् प्रत्यय होता है और ठञ् प्रत्यय भी ।

१८७४ गोत्रादङ्कवत्[1] ४ । ३ । ८० ॥

बिदेभ्य आगतं—बैदम्[2] । गार्गम्[3] । दाक्षकम् । औपगवकम्[4] ।

१८७५ हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्य[5] ४ । ३ । ८१ ॥

समादागतं समरूप्यम् । पक्षे गहादित्वाच्छः, समीयम्[6] । देवदत्तीयम् । देवदत्तरूप्यम् ।

१८७६ मयट्[7] च ४ । ३ । ८२ ॥

सममयम् ।

१८७७ प्रभवति[8] ४ । ३ । ८३ ॥

हिमवतः प्रभवति हैमवती[9] गङ्गा ।

१८७८ विदूराञ्ञ्यः ४ । ३ । ८४ ॥

पित्र्यम्, यत्प्रत्ययः, ऋकारस्य रीङादेशः, पित्री + य (म्), इत्यत्र 'यस्येति च' इतीकारलोपः । पक्षे ठञि **पैतृकम्**, ठकः परत्वात् । ठस्य कादेशः ।

१—अङ्के ये प्रत्ययास्ते तत आगत इत्यर्थेऽपि भवन्तीत्यर्थः । २—अत्र यञञोश्चेति बहुत्वेऽञो लुकि 'विदेभ्य इति निर्देशः, (सङ्घाङ्क-इत्यादिविहितोऽणिहापि) बैदशब्दादञन्तादणि-बैदम् । ३—यञन्तादण्, गर्गेभ्य आगतम्=गार्गम् । एवं दाक्षम्,इञन्तादण् । ४—उपगोरपत्यम्=औपगवः, तस्मादागतम्=**औपगवकम्**, 'गोत्रचरणाद् वुञ्' । (अङ्के इह इतीहापवादाद् वुञ्) अकादेशः, आदिवृद्धिः । ५—मनुष्यग्रहणमहेत्वर्थम् । तत आगत इत्यर्थे एव । हेतुभ्य उदाहरति—**समरूप्यम्** । ६—छस्य ईयादेशः । मनुष्येभ्य उदाहरति—देवदत्तादागतम् **देवदत्तरूप्यम्**, **देवदत्तीयम्** । ७—ततः आगत इत्येव । ८—ततः प्रभवतीत्यर्थे-पञ्चम्यन्ताद् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । ९—अण् प्रत्ययः, स्त्रियाम्, 'टिड्ढेति'

१८७४—गोत्र संज्ञक शब्दों से अङ्क अर्थ के समान आगत अर्थ में भी अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१८७५—हेतुवाची और मनुष्यवाची शब्दों से 'तत आगतः' अर्थ में रूप्य प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष में यथाप्राप्त अन्य प्रत्यय भी होंगे ।

१८७६—उक्त विषय में मयट् प्रत्यय भी होता है ।

१८७७—'ततः प्रभवति' अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ से यथा-विहित अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१८७८—देशविशेषवाची विदूर शब्द से प्रभवति अर्थ में ञ्य प्रत्यय होता है ।

विदूरात्प्रभवति वैदूर्यो मणिः[1] ।

१८७९ तद्गच्छति पथिदूतयोः ४ । ३ । ८५ ॥

स्रुघ्नं गच्छति—स्रौघ्नः पन्था दूतो वा ॥

१८८० अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४ । ३ । ८६ ॥

स्रुघ्नमभिगच्छति—स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ॥

१८८१ अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४ । ३ । ८७ ॥

शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—शारीरकीयः । शारीरकं भाष्यमिति त्वभेदोपचारात्[8] ॥

१८८२ सोऽस्य निवासः[9] ४ । ३ । ८९ ॥

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः[10] ॥

ङीप्, आदिवृद्धिः ।

१–विदूरशब्दो देशविशेषवाचकः । ततो ञ्यप्रत्यये आदिवृद्धौ 'यस्येति च' त्यलोपे वैदूर्यः । २—द्वितीयान्ताद् गच्छतीत्यर्थे यथायथं प्रत्ययाः, स चेद् गन्ता पन्था दूतो वा स्यादित्यर्थः । ३–अण् । ४–अस्मिन्नर्थेऽणादयः स्युरित्यर्थः । ५—अण् प्रत्ययः । ६—अधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इत्यर्थेऽणादयः प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । ७—शरीरस्याऽयं शारीरः = जीवात्मा, स एव शारीरकः, तस्येदमित्यण्णन्तात्स्वार्थे कः, शारीरकम्–जीवत्मानम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः, 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः, छस्य ईयादेशः । ८—प्रतिपादके भाष्ये शारीरकस्य जीवात्मनः प्रतिपाद्यस्य अभेदोपचार इत्यर्थः । प्रतिपाद्यबोधकशब्देनैव प्रतिपादकप्रतिपादनमुपचारादिति भावः । ९—प्रथमान्तादस्य निवास इत्यर्थेऽणादयः प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । १०—अण् प्रत्ययः ।

१८७९—द्वितीयान्त समर्थ से 'गच्छति' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं यदि जाने वाला पन्था अथवा दूत हो ।

१८८०—द्वितीयान्त समर्थ से द्वारकर्ता रहते 'अभिनिष्क्रमति' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१८८१—'अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ से अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१८८२—प्रथमान्त समर्थ से 'सोऽस्य निवासः' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१८८३ तेन प्रोक्तम्[1] **४ । ३ । १०१ ॥**

पाणिनिना प्रोक्तं[2]—पाणिनीयम् ॥

१८८४ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४ । ३ । ११० ॥

णिनिः स्यात् । पाराशर्येण[3] प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते—पाराशरिणो भिक्षवः । शैलालिनो[4] नटाः ॥

१८८५ कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः[5] **४ । ३ । १११ ॥**

कर्मन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते—कर्मन्दिनो भिक्षवः । कृशाश्विनो नटाः ।

१८८६ उपज्ञाते[6] **४ । ३ । ११५ ॥**

पाणिनिना उपज्ञातं[7]—पाणिनीयम्[8] ।

१८८७ तस्येदम्[9] **४ । ३ । १२० ॥**

१—तृतीयान्तात् प्रोक्तेऽर्थेऽणादयो घादयश्च स्युरित्यर्थः । २—प्रोक्तम् = प्रथमं प्रकाशितम्, **पाणिनीयम्** = व्याकरणम्, छप्रत्ययो वृद्धत्वात्, छस्य ईयादेशः । ३—पराशरशब्दाद् गर्गादित्वाद् गोत्रे यञ्, पराशर्यः, तेन प्रोक्ते भिक्षु-सूत्रेऽर्थे णिनिः, ततोऽध्येतृप्रत्ययस्याणो लुक्, **पाराशरिणः**, (बहुवचनान्तम्) । ४—शिलालिन्शब्दात् नटसूत्रे प्रोक्ते णिनि-प्रत्यये टिलोपे शैलालिन्शब्दात्—अध्येतृप्रत्ययस्याणो लुकि, '**शैलालिनः**' इति जसि रूपम् । ५—कर्मन्दशब्दा-दिनिः, ततोऽध्येत्रणो लुक् **कर्मन्दिनः**, जसि रूपम् । एवम्—कृशाश्वेन प्रोक्तम-धीयते—**कृशाश्विनः** । ६—तेनोपज्ञातमित्यर्थे तृतीयान्ताद् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरि-त्यर्थः । ७—उपज्ञातम् = प्रथमज्ञातम् । "उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि" त्यमरः । उपदेशं विना ज्ञातम् = उपज्ञातम्, इति मनोरमा । ८—छः, छस्य ईयादेशः । ९—षष्ठ्यन्तादिदमित्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युरिति सूत्रार्थः ।

१८८३—तृतीयान्त समर्थ से 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में पूर्वोक्त अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१८८४—भिक्षु सूत्र और नट सूत्र वाच्य रहते, पाराशर्य और शैलालिन् शब्द से प्रोक्त अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है ।

१८८५—कर्मन्द और कृशाश्व शब्द से क्रमशः भिक्षुसूत्र और नटसूत्र वाच्य रहते इनि प्रत्यय होता है ।

१८८६—तृतीयान्त से उपज्ञात अर्थ में पूर्वोक्त अणादि प्रत्यय होते हैं । (उपज्ञात का अर्थ है प्रथम ज्ञात) ।

उपगोरिदमौपगवम्[1] । (समिधामाधाने षेण्यण्[2]) सामिधेन्यो[3] मन्त्रः ।

१८८८ रथाद्यत्[4] ४ । ३ । १२१ ॥

रथ्यं चक्रम् ।

१८८९ पत्त्रपूर्वादञ्[5] ४ । ३ । १२२ ॥

आश्वरथस्येदम्—आश्वरथम् ।

१८९० हल-सीराट्ठक्[6] ४ । ३ । १२४ ॥

हालिकम् । सैरिकम् ।

१८९१ गोत्रचरणाद्वुञ्[7] ४ । ३ । १२६ ॥

औपगवकम् । (चरणाद्धर्माम्नाययोरिति[8] वक्तव्यम्) काठकम्[9] ।

१८९२ संघाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्[10] ४ । ३ । १२७ ॥

१—अण्प्रत्ययः । २—आधीयतेऽनेनेत्याधानो मन्त्रः, आधानो मन्त्रः—इत्यर्थे समिध्-शब्दात् षेण्यण्प्रत्ययो वाच्य इत्यर्थः । ३—समिधाम् आधानो मन्त्रः = सामिधेन्यः, प्रत्ययस्य ष इत्, षित्त्वादादिवृद्धिः । ४—तस्येदमित्येव रथस्येदं = रथ्यम् । ५—पत्त्रं वाहन-पत्त्रयोः । ६—तस्येदमित्येव, हलस्येदं—हालिकम्, ठस्येकादेशः, आदिवृद्धिः । एवं—सीरस्येदं = सैरिकम् । ७—तस्येदमित्येव, उपगोरिदम् = औपगवकम्, वुञ्, 'वु' इत्यस्याकादेशः, आदिवृद्धिः, 'ओर्गुणः' अवादेशः । ८—चरणाद् यो वुञ् विहितः स धर्मे आम्नाये च वाच्ये भवति नान्यत्रेति वार्तिकार्थः । ९—कठेन प्रोक्तमधीयते इति-कठाः, तेषां धर्म आम्नायो वा = काठकः । आम्नायो = वेदाभ्यासः । १०—अञन्तात्-यञन्तात्-इञन्ताच्च-सङ्घे-अङ्के-लक्षणे च इदन्त्वेन विवक्षितेऽण् स्यादित्यर्थः ।

१८८८—षष्ठयन्त समर्थ से 'तस्येदम्' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१८८८—रथ शब्द से 'तस्येदम्' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

१८८९—वाहन पूर्वक शब्द से 'तस्येदम्' अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है ।

१८९०—हल और सीर शब्द से 'तस्येदम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१८९१—गोत्रवाची और चरणवाची शब्दों से 'तस्येदम्' अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है । (चरणवाची से धर्म और आम्नाय वाच्य रहते ही वुञ् होता है ऐसे कहना चाहिये) ।

१८९२—अञन्त यञन्त और इञन्त षष्ठयन्त समर्थ से 'तस्येदम्' अर्थ

(घोषग्रहणमपि कर्तव्यम्)। अञ्-बैदः=संघोऽङ्को घोषो वा। बैदं[3] लक्षणम्। यञ्-गार्गः, गार्गम्। इञ्-दाक्षः, दाक्षम्। परम्परासंबन्धोऽङ्कः[6], साक्षात्तु लक्षणम्। ॥ इति शैषिकाः ॥

अथ प्राग्दीव्यतीयाः।

१८९३ तस्य[7] विकारः ४। ३। १३४॥

(अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः) अश्मनो विकारः—आश्मः[8]।

१—घोषेऽपि इदन्त्वेन विवक्षितेऽणित्यर्थः। तथा च नात्र यथासङ्ख्यं समसङ्ख्यत्वाभावात्। २—अञन्तादणमुदाहरति—बैदस्याऽङ्कः सङ्घो घोषो वा = बैदः. बिदादिभ्योऽञित्यञन्तादण्। ३—बिदस्य लक्षणं = बैदम्। विशेष्यस्य क्लीबत्वेन बैदशब्दस्यापि क्लीबत्वम्। ४—'गर्गादिभ्यो यञि' ति यञन्तादण्, गार्ग्यस्य सङ्घः—अङ्कः—घोषो वा = गार्गः, 'आपत्यस्य'—इति यलोपः। लक्षणं चेद् विशेष्यं तदा गार्गम्। ५—'अत इञिति' इञन्तादण्, दाक्षेः सङ्घोऽङ्को घोषो वा = दाक्षः, लक्षणं चेद् दाक्षम्, 'यस्येति च' इति ईकारलोपः। 'घोष आभीरपल्ली स्यात्'। सङ्घः = समुदायः। ६—ननु अङ्कलक्षणशब्दयोः पर्यायत्वात् पृथग्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—परम्परेति, यथा गवादिनिष्ठस्तसमुद्राविशेषोऽङ्कः, तस्य हि गोद्वारा (परम्परया) स्वामिसम्बन्धः। विद्यादिविशेषस्तु देवदत्तादौ साक्षाद् विद्यमानत्वाद् लक्षणम्। ॥ इति शैषिकाः ॥

अथ प्राग्दीव्यतीयाः।

७—षष्ठ्यन्ताद् विकार इत्यर्थे प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। ८—अण्प्रत्ययः, टिलोपः। आदिवृद्धिः।

में अण् प्रत्यय होता है संघ अङ्क और लक्षण वाच्य रहते। (घोष ग्रहण भी करना चाहिये, अर्थात् घोष वाच्य रहते भी उक्त प्रत्यय होता है।) अङ्क और लक्षण का भेद यह है—जिसका परम्परया सम्बन्ध हो वह अङ्क कहलाता है और जिसका साक्षात्सम्बन्ध हो वह लक्षण कहलाता है (संस्कृत टीका में स्पष्ट देखिये।) इति शैषिकाः।

अथ प्राग्दीव्यतीयाः।

१८९३—षष्ठ्यन्त समर्थ से विकार अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं। (अश्मन् शब्द की 'टि' का लोप वक्तव्य है विकारार्थक प्रत्यय परे रहते)।

भास्मनः । मार्त्तिकः ॥

१८९४ अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४ । ३ । १३५ ॥

चाधिकारे । मयूरस्य विकारोऽवयवो वा = मायूरः । मौर्वम् = काण्डं भस्म वा । पैप्पलम् ।

१८९५ त्रपु जतुनोः षुक् ४ । ३ । १३८ ॥

आभ्यामण् एतयोः षुक् च । त्रापुषम् । जातुषम् ।

१८९६ ओरञ् ४ । ३ । १३९ ॥

दैवदारवम् ।

१८९७ अनुदात्तादेश्च ४ । ३ । १४० ॥

१—भस्मनो विकारः = भास्मनः, अण्प्रत्ययः, 'अन्' इति प्रकृतिभावाद् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न । मृत्तिकाया विकारः = मार्त्तिकः, अण्, आदिवृद्धिः, रपरत्वम् । २—मायूरः प्राण्युदाहरणमिदम्, अण् । ३—मूर्वाया अवयवो विकारो वा = मौर्वम् , मूर्वा = ओषधिविशेषः, ओषध्युदाहरणमिदम् । अण्प्रत्ययः, आदिवृद्धिः । ४—वृक्षस्योदाहरति–पिप्पलस्य = अश्वत्थस्यावयवो विकारो वा– पैप्पलम् । ५—त्रपुणः (रङ्गस्य) विकारः = त्रापुषम् , अण् , षुक् , आदिवृद्धिः । एवं जतुनः (लाक्षायाः) = जातुषम् । ६—उवर्णान्ताद् विकारेऽञ् स्यादित्यर्थः । प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे विकारे च, इतरेभ्यस्तु विकारे । ७—देवदारोरवयवो विकारो वा = दैवदारवम् , अञ् आदिवृद्धिः, 'ओर्गुणः' अवादेशः । देवदारुर्वृक्षविशेषः ।

१८९४—प्राणी ओषधी और वृक्ष वाचक षष्ठयन्त शब्दों से अवयव और विकार अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

१८९५—त्रपु और जतु शब्द से विकार अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और षुक् आगम होता है ।

१८९६—उकारान्त शब्द से विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है । (उकारान्त शब्द यदि प्राणी ओषधी वृक्ष वाचक हों तो विकार और अवयव दोनों अर्थों में होगा, इतरों से केवल विकार अर्थ में होगा) ।

१८९७—अनुदात्तादि शब्द से भी विकार अर्थ में प्राण्यादि वाचक हो तो अवयव अर्थ में भी अञ् प्रत्यय होता है ।

अञ्। कापित्थम्[1]।

१८६८ पलाशादिभ्यो वा ४। ३। १४१॥

अञ्। पालाशम्[2]। खादिरम्।

१८६६ शम्याः ष्लञ्[3] ४। ३। १४२॥

शामीलम्[4]।

१६०० मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः[5] ४। ३। १४३॥

प्रकृतिमात्रान्मयड्[6] वा स्याद्विकारावयवयोः। अश्ममयम्[7], आश्मनम्। अभक्ष्येत्यादि किम्—मौद्गः सूपः। कार्पासमाच्छादनम्।

१६०१ नित्यं वृद्धशरादिभ्यः[8] ४। ३। १४४॥

आम्रमयम्[9]। शरमयम्। [एकाचो नित्यम्—वाङ्मयम्[10]]।

१–कपित्थस्याऽवयवो विकारो वेत्यर्थः। २—पलाशस्यावयवो विकारो वा = **पालाशम्**, एवम्–खदिरस्यावयवो विकारो वा = **खादिरम्**, अञ्, आदिवृद्धिः। ३–अवयवे विकारे चेति शेषः। ४–शम्या विकारोऽवयवो वा=**शामीलम्**, ष्लञ्, ष इत् ञित्त्वादादिवृद्धिः। ५-एतयोः = विकारावयवयोरर्थयोरित्यर्थः। ६–सर्वस्याः प्रकृतेरित्यर्थः। ७–अश्मनो विकारोऽवयवो वा = **अश्ममयम्**, मयटि–अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वात्, 'न लोपः प्रतिपादिके'ति नलोपः। अश्मनोऽवयवः=**आश्मनम्**, अणि, 'अन्' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः। ८–'मयट्' इति शेषः। उक्तविकल्पापवादोऽयम्। ९—आम्रस्यावयवो विकारो वा = **आम्रमयम्**, वृद्धोदाहरणमिदम्, 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्'। एवम्–शरस्य विकारोऽवयवो वा = **शरमयम्**। १०—नित्यमिति योगविभागाल्लब्धमिदम्, वाचो विकारो = **वाङ्मयम्** = शास्त्रम्।

१८६८—पलाशादि गण पठित शब्दों से उक्त अर्थ में अञ् प्रत्यय विकल्प करके होता है।

१८६६—शमी शब्द से पूर्वोक्त अर्थों में ष्लञ् प्रत्यय होता है।

१६००—सभी शब्दो से विकार और अवयव अर्थ में विकल्प करके मयट् प्रत्यय होता है। (पक्ष में यथाप्राप्त अण् आदि प्रत्यय भी होते हैं)।

१६०१—वृद्ध संज्ञक और शरादिगण पठित शब्दों से नित्य मयट् प्रत्यय होता है। [एकाच् से नित्य मयट् होता है]

१६०२ गोश्च[1] पुरीषे ४। ३। १४५॥

गोमयम्।

१६०३ एण्या ढञ्[2] ४। ३। १५६॥

ऐणेयम्। एणस्य तु—ऐणम्।

१९०४ गोपयसोर्यत्[3] ४। ३। १६०॥

गव्यम्। पयस्यम्।

१९०५ फले[4] लुक् ४। ३। १६३॥

विकारावयवप्रत्ययस्य।

१९०६ लुक् तद्धितलुकि[5] ६। ५। ७॥

उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य। आमलक्याः फलम् = आमलकम्[6]।

१६०७ प्लक्षादिभ्योऽण् ४। ३। १६४॥

१—गोशब्दात् पुरीषेऽर्थे नित्यं मयट् इत्यर्थः। गोः पुरीषम् = **गोमयम्**। २—एणीशब्दात् ढञ् स्यादवयवे विकारे चार्थे। एण्या अवयवो विकारो वा = **ऐणेयम्**, ढस्य एयादेशः, ञित्वादादिवृद्धिः 'यस्येति च' इति ईकारलोपः। सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंलिङ्गे न ढञित्याह—एणस्य तु, ऐणमित्यत्र, अण्प्रत्ययः। ३—गोशब्दात्पयःशब्दाच्च यत् स्यादवयवे विकारे चार्थे। गोर्विकारोऽवयवो वा = **गव्यम्**, यति, 'वान्तो यी'ति अवादेशः, एवं पयसो विकारः = **पयस्यम्**। ४—वृक्षस्य विकारः फलं, तस्मिन् = फलरूपे विकारेऽवयवे वा वाच्ये प्रत्ययस्य लुगित्यर्थः। ५—तद्धितलुकि—उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य लुक् स्यादित्यर्थः। ६—विकारार्थस्य मयटो लुकि, उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य ङीषो लुक्।

१६०२—गो शब्द से पुरीष अर्थ में नित्य मयट् होता है।

१६०३—एणी शब्द से ढञ् नित्य होता है अवयव और विकार अर्थ में।

१६०४—गोशब्द और पयस् शब्द से विकार और अवयव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

१६०५—फल अर्थ में विकारार्थक और अवयवार्थक प्रत्यय का लुक् होता है।

१६०६—तद्धित प्रत्यय का लुक् होने पर उपसर्जन स्त्री प्रत्यय का लुक् होता है।

१६०७—प्लक्षादि गणपठित शब्दों से अण् होता है विकार और अवयव

विधानसामर्थ्यान्न लुक्। प्लाक्षम्[2]।

१६०८ न्यग्रोधस्य च केवलस्य ७।३।५॥

अस्य न वृद्धिरैजागमश्च। नैयग्रोधम्[3]।

१६०९ जम्ब्वा वा ४।३।१६५॥

अण् फले। जाम्बवम्[4]। पक्षे ओरञ्, तस्य लुक्[5]–जम्बु।

१६१० लुप् च ४।३।१६६॥

जम्ब्वाः फलप्रत्ययस्य लुब्वा स्यात्। लुपि[6] युक्तवत्–जम्बूः। (फलपाकशुषामुपसंख्यानम्[7]) व्रीहयः। मुद्गाः। (पुष्पमूलेषु बहुलम्[8])। मल्लिकायाः पुष्पं-

---

१—अन्यथा अण्विधानं व्यर्थं स्यात्। २—प्लक्षस्य फलम्=प्लाक्षम्। ३—न्यग्रोधस्य फलम्=नैयग्रोधम्। प्लक्षादित्वादण्, वृद्ध्यभावे, यकारात् पूर्वम् ऐकारागमः। ४—जम्ब्वाः फलम्=जाम्बवम्, अण्, ओर्गुणः, अवादेशः। ५—फले लुगिति सूत्रेणेत्यर्थः। अञो लुकि विशेष्यानुसारेण नपुंसकत्वाद् ह्रस्वे-जम्बु। ६—लुकैव सिद्धे लुब्विधेः फलं दर्शयति–लुपि युक्तवदिति, फलप्रत्ययस्य लुपि युक्तवत्त्वेन विशेष्यलिङ्गवचने बाधित्वा स्त्रीत्वमेकवचनं चेत्यर्थः, जम्बूः, जम्ब्वा फलानीति विग्रहेऽपि जम्बूरेव। ७—फलपाकेन शुष्यन्ति–इति फलपाकशुष ओषधयः, तद्वाचिभ्यः परस्य फलप्रत्ययस्य लुप उपसंख्यानमित्यर्थः। फले लुकोऽपवादोऽयम्। ८–व्रीहीणां फलानि व्रीहयः, मुद्गानां फलानि=मुद्गाः। बिल्वाद्यणो लुप्, 'लुपि युक्तवदि' ति युक्तवद्भावात् पुंस्त्वं बहुवचनं च। ९—विकारावयवप्रत्ययस्य लुप् स्यादिति शेषः। मल्लिकायाः पुष्पं=मल्लिका, अनुदात्तादेश्चेत्यञो लुप्। 'लुपि युक्तवदि'ति स्त्रीत्वम्। एवं जात्याः पुष्पं=जातिः। अत्राप्यञो लुप्, पूर्ववद् युक्तवद्भावेन स्त्रीत्वम्।

अर्थ में (विधानसामर्थ्यात् इसका लुक् नहीं होता)।

१६०८—पदान्तर रहित न्यग्रोध शब्द को वृद्धि नहीं होती, किन्तु ऐच् आगम होता है। (अर्थात् यकार से पूर्व 'ऐ' आगम होता है)।

१६०९—जम्बू शब्द से फल अर्थ में विकल्प करके अण् होता है, (पक्ष में अञ् होगा)।

१६१०—जम्बू शब्द से फलार्थक प्रत्यय का लुप् होता है। (लुपि युक्तवत् अर्थात् फलार्थक प्रत्यय का लुप् होने पर युक्तवत्वेन प्राप्त लिङ्ग वचन को बाधकर स्त्रीत्व और एकवचन होगा)।

मल्लिका। जात्याः पुष्पं-जातिः। विदार्या मूलं-विदारी[1]। बहुलग्रहणान्नेह—पाटलानि[2] पुष्पाणि। साल्वानि मूलानि। बाहुलकात्क्वचिल्लुक्। अशोकम्[3]। करवीरम्।

१६११ हरीतक्यादिभ्यश्च ४। ३। १६७॥

फलप्रत्ययस्य लुप्। (हरीतक्यादीनां लिङ्गमेव[4] प्रकृतिवत्)। हरीतक्याः फलानि-हरीतक्यः[5]। ॥ इति प्राग्दीव्यतीयाः॥

अथ ठगधिकारः।

१६१२ प्राग्वहतेष्ठक् ४। ४। १॥

तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते। (तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्[6])। माशब्दं कार्षीरिति य आह स-माशब्दिकः। (आहौ प्रभूतादिभ्यः)। प्रभूतमाह—

१—जातिङीषन्तमिदम्, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तम्, अनुदात्तादित्वादञ्, तस्यानेन लुप्, युक्तवत्त्वात् स्त्रीत्वम्। २—पाटलायाः पुष्पाणि = पाटलानि, बिल्वाद्यण्, तस्य न लुप्, एवम्—साल्वस्य मूलानि = साल्वानि। ३—अशोकस्य पुष्पम् = अशोकम्। करवीरस्य पुष्पम् = करवीरम्। इत्यत्रापि 'पुष्पमूलेषु बहुलमि'ति लुपि युक्तवत्त्वात् पुंस्त्वे, अशोकः पुष्पम्, इति स्यादित्यत उक्तम्—**बहुलग्रहणात्क्वचिल्लुक्**, इति तथा च युक्तवत्त्वस्याप्रवृत्तेः विशेष्यनिघ्नत्वमेव, (नपुंसकत्वमेव) ४—लुपि युक्तवदिति वचनेन लिङ्गवचनयोरुभयोः प्रकृतिवत्त्वे प्राप्ते, वचनातिदेशनिषेधार्थमिदं वार्त्तिकम्। ५—अनुदात्तादेश्चेति—अञ्, तस्य लुप्, युक्तवत्त्वात्स्त्रीत्वम्, बहुवचनविशेष्यानुरोधात्॥ इति प्राग्दीव्यतीयाः॥

अथ ठगधिकारः।

६—ठकः—इति शेषः। ७— ठक्, ठस्येकादेशः। ८—आहेत्यर्थे द्विती-

(फलपाकशुष् ओषधीवाची से विहित फलार्थक प्रत्यय का लुप् होता है)। (पुष्प और मूल अर्थ में विकारार्थक और अवयवार्थक प्रत्यय का प्रायः लुप् होता है।

१६११—हरीतक्यादि गणपठित शब्दों से फलार्थक प्रत्यय का लुप् होता है। (हरीतक्यादि का लिङ्ग ही प्रकृतिवत् होता है)। इति प्राग्दीव्यतीयाः।

१६१२—'प्राग्वहति' इससे पहले ठक् का अधिकार है। (तदाह अर्थ में माशब्दादि शब्दों से द्वितीयान्तों से ठक् प्रत्यय होता है) (आह अर्थ में द्वितीयान्त प्रभूतादि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है)। (पृच्छति अर्थ में द्वितीयान्त सुस्नातादि

प्राभृतिकः । पार्यासिकः[1] । (पृच्छतौ[2] सुस्नातादिभ्यः) सुस्नातं पृच्छति-सौस्नातिकः । सौखशायनिकः[3] । अनुशतिकादिः । (गच्छतौ[4] परदारादिभ्यः) । पारदारिकः[5] । गौरुतल्पिकः ।

१९१३ तेन दीव्यति खनति जयति जितम्[6] ४ । ४ । २ ॥

अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितं वा-आक्षिकः ।

१९१४ संस्कृतम्[7] ४ । ४ । ३ ॥

दध्ना संस्कृतं-दाधिकम् । मारीचिकम्[8] ।

१९१५ तरति[9] ४ । ४ । ५ ॥

उडुपेन तरति-औडुपिकः ।

१९१६ गोपुच्छाट्ठञ् ४ । ४ । ६ ॥

गौपुच्छिकः[10] ।

१९१७ नौद्व्यचष्ठन्[11] ४ । ४ । ७ ॥

यान्तेभ्यः प्रभूतादिभ्यष्ठग् वाच्य इत्यर्थः ।

१--पर्याप्तमाह = पार्याप्तिकः, ठक् , सुप्लुक् , ठस्येकः आदिवृद्धिः । २--पृच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः ठग् वाच्य इत्यर्थः । ३--सुखशयनं पृच्छति = **सौखशायनिकः**, ठक् , इकादेशः, अनुशतिकादित्यादुभयपदयोरादिवृद्धिरिति स्मारयति-**अनुशतिकादि**रिति । ४--गच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः परदारादिभ्यो ठगित्यर्थः । ५-परदारान् गच्छति-**पारदारिकः**, गुरुतल्पं गच्छति = **गौरुतल्पिकः**, गुरुतल्पो = गुरुस्त्री । ६--दीव्यतीत्याद्यर्थेषु (सूत्रोक्तेषु) तृतीयान्तात् ठगित्यर्थः । ७--संस्कृतमित्यर्थे तृतीयान्तात् ठक् स्यादित्यर्थः । ८--मरीचिभिः संस्कृतं = **मारीचिकम्**, ठकः कित्त्वादादिवृद्धिः । ९--तरतीत्यर्थे तृतीयान्तात् ठगित्यर्थः । १०--गोपुच्छेन तरति = **गौपुच्छिकः** । ञित्त्वात् स्वरे भेदः । ११--नौशब्दात् द्व्य-

---

शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है) । (गच्छति अर्थ में द्वितीयान्त परदारादि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है) ।

१९१३--तृतीयान्त शब्दों से दीव्यति, खनति, जयति और जितम् अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१९१४--तृतीयान्त से संस्कृतम् अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१९१५--तृतीयान्त से तरति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१९१६--तृतीयान्त गोपुच्छ शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है ।

१९१७--तृतीयान्त नौशब्द और द्व्यच्क शब्द से ठन् प्रत्यय होता है ।

नाविकः[1]। घटिकः।

१६१८ चरति[2] ४।४।८॥

हस्तिना चरति-हास्तिकः। शकटेन चरति-शाकटिकः। दध्ना चरति दाधिकः।

१६१६ पर्पादिभ्यः[5] ष्ठन् ४।४।१०॥

पर्पेण चरति पर्पिकः। येन पीठेन पङ्गवश्चरन्ति स पर्पः। अश्विकः[6]। रथिकः।

१६२० श्वगणाट्ठञ् च[7] ४।४।११॥

चात्ष्ठन्।

१६२१ श्वादेरिञि ७।३।८॥

ऐज् न। श्वाभस्त्रिः। (इकारादाविति वाच्यम्)। श्वगणेन चरति-श्वागणिकः,

---

चश्च तृतीयान्तात् ठनित्यर्थः।

१—नावा तरति = नाविकः, घटेन तरति = घटिकः। २—चरतीत्यर्थे तृतीयान्तात् ठगित्यर्थः,। ३—गच्छतीत्यर्थः। हास्तिकः, ठकि, इकादेशे, 'नस्त-द्धिते' इति टिलोपः, आदिवृद्धिः। ४—भक्षयतीत्यर्थः। चर-गतिभक्षणयोरिति प्रमाणाद्-उभयार्थता। ५—चरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्य इति शेषः। ष्ठन् प्रत्ययः, षित्, तत्फलं 'षिद्गौरादिभ्य' इति स्त्रियां ङीष्, पर्पिकी। ६—अश्वेन चरति = अश्विकः। रथेन चरति = रथिकः. ष्ठन् ठस्येकः। 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। ७—श्वगणशब्दात्तृतीयान्ताच्चरतीत्यर्थे ठञ्, ष्ठन् च स्यादित्यर्थः। ८—श्वन् शब्दस्य द्वारादित्वात्, ऐजागमे प्राप्ते-आह-श्वादेरिञि, श्वभस्त्रस्यापत्यम्= श्वाभस्त्रिः, अत इञ्, ऐजागमाभावे, आदिवृद्धिः। ९—इञि, इति परित्यज्य

१६१८—तृतीयान्त से चरति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

१६१६—तृतीयान्त से पर्पादि शब्दों से चरति अर्थ में ष्ठन् होता है। (जिस पीठ से पङ्गु लोग चलते हैं उसे पर्प कहते है)।

१६२०—तृतीयान्त श्वगण शब्द से चरति अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। पक्ष में ष्ठन् भी होता है।

१६२१—श्वादि शब्द को इञ् प्रत्यय परे रहते ऐच् आगम नहीं होता है। (श्वन् शब्द क्योंकि द्वारादिगण पठित था, अतः ऐच् की प्राप्ति थी, तद्वार-णार्थ यह सूत्र है)॥ (इञ् न कहकर "ईकारादि प्रत्यय परे रहते ऐच् नही होता" ऐसा कहना चाहिये)।

श्वगणिकः ।

१६२२ वेतनादिभ्यो जीवति ४ । ४ । १२ ॥

वेतनेन जीवति–वैतनिकः[1] । धानुष्कः[2] ।

१६२३ हरत्युत्सङ्गादिभ्यः ४ । ४ । १५ ॥

उत्सङ्गेन हरति–औत्सङ्गिकः[3][4] ।

१६२४ भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् ४ । ४ । १६ ॥

भस्त्रया हरति–भस्त्रिकः[5] । षित्वाद् भस्त्रिकी[6] ।

१६२५ विभाषा विवधात् ४ । ४ । १७ ॥

ष्ठन् । विवधेन हरति–विवधिकः[7] । पक्षे ठक् वैवधिकः[8] । एकदेशविकृतत्वाद्वीवधादपि–वीवधिकः, वैवधिकः । विवध–वीवधशब्दौ उभयतोबद्धशिक्ये स्कन्धवाह्ये काष्ठे[9] वर्तेते ।

१६२६ निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः ४ । ४ । १६ ॥

'इकारादौ' इति वाच्यमित्यर्थः, तेन 'श्वागणिकः' इत्यत्रापि न ऐजागमः, किन्तु–आदिवृद्धिः ठञ् प्रत्ययः, ठस्येकादेशः । ष्ठनि श्वगणिकः ।

१—तृतीयान्तेभ्यो वेतनादिभ्यो जीवतीत्यर्थे ठगित्यर्थः । २—धनुषा जीवति = धानुष्कः, ठञ्, ठस्य–"इसुसुक्तान्तादिति कादेशः" आदिवृद्धिः । ३—हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्य उत्सङ्गादिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः । ४—कित्वादादिवृद्धिः । ५—हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यो भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् स्यादित्यर्थः । ६—'षिद् गौरादिभ्य' इति स्त्रियां ङीष्, भस्त्रिकी । ७–तेन हरतीत्यर्थे तृतीयान्ताद् विवधशब्दात् ष्ठन् इत्यर्थः, विवधिकः, ठस्येकः, षित्वात् स्त्रियां ङीष् विवधिकी । ८–ठकि कित्वादादिवृद्धिः = वैवधिकः । ९—'वँहगी' इति पञ्चनदभाषाप्रसिद्ध इत्यर्थः । १०—निर्वृत्त-

---

१६२२—तृतीयान्त वेतनादि शब्दों से जीवति अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।

१६२३—तृतीयान्त उत्सङ्गादि शब्दों से हरति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१६२४—तृतीयान्त भस्त्रादि शब्दों से हरति अर्थ में ष्ठन् प्रत्यय होता है ।

१६२५—तृतीयान्त विवध शब्द से हरति अर्थ में विकल्प करके ष्ठन् प्रत्यय होता है, पक्ष में ठक् होगा । (वीवध शब्द से भी होगा, क्योंकि–एकदेशविकृतमनन्यवत्) दोनों ओर जिसके शिक्य बांधे रहते हैं ऐसे काष्ठ को विवध या वीवध कहते हैं । (पञ्जाब में इसे 'वहँगी' कहते हैं) ।

१६२६—तृतीयान्त अक्षद्यूतादि शब्दों से निर्वृत्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता

अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्[1]—आक्षद्यूतिकं वैरम्।

१९२७ संसृष्टे ४। ४। २२॥

दध्ना संसृष्टं[2]—दाधिकम्।

१९२८ लवणाल्लुक्[3] ४। ४। २४॥

लवणेन संसृष्टो—लवणः सूपः।

१९२९ मुद्गादण्[4] ४। ४। २५॥

मौद्ग ओदनः।

१९३० उञ्छति[5] ४। ४। ३२॥

बदराण्युञ्छति—बादरिकः।

१९३१ रक्षति[6] ४। ४। ३३॥

समाजं रक्षति—सामाजिकः।

१९३२ शब्ददर्दुरं करोति[7] ४। ४। ३४॥

मित्यर्थे तृतीयान्तेभ्योऽक्षद्यूतादिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः।

१—निर्वृत्तम् = जातं सम्पन्नं वा। ठकि–कित्वादादिवृद्धिः, ठस्येकादेशः, आक्षद्यूतिकम्। २—संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तात् ठगित्यर्थः, दाधिकम्। ३—पूर्वसूत्रविहितस्य ठक् इत्यर्थः। ४—तेन संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्ताद् मुद्गशब्दादण् स्यादिति। मुद्गैः संसृष्टः = मौद्गः, अणि–आदिवृद्धिः। ५—उञ्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठक् इत्यर्थः। भूम्यां निपतितस्य मीह्यादेः कणश आदानम् = उञ्छः। बदराणि = बदरीफलानि उञ्छति—बादरिकः ठक्, ठस्येकः, आदिवृद्धिः। ६—रक्षतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठक् स्यादित्यर्थः, सामाजिकः, सिद्धिः पूर्ववत्। ७—शब्दं करोतीति विग्रहे द्वितीयान्तात् ठक् = शाब्दिकः। दर्दुरं

है। (निर्वृत्त अर्थात् सम्पन्न)।

१९२७—तृतीयान्त से संसृष्ट अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

१९२८—लवण शब्द से पूर्व विहित ठक् प्रत्यय का लुक् होता है।

१९२९—तृतीयान्त मुद्ग शब्द से संसृष्ट अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१९३०—द्वितीयान्त से 'उञ्छति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। (उञ्छति = चुनता है)।

१९३१—द्वितीयान्त से रक्षति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

१९३२—द्वितीयान्त 'शब्द' शब्द से और दर्दुर शब्द से करोति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

शब्दं करोति—शाब्दिकः। दार्दुरिकः।

१६३३ पक्षिमत्स्यमृगान्[1] हन्ति ४।४।३५॥

स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणम्। मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव। पक्षिणो हन्ति—पाक्षिकः। शाकुनिकः। मायूरिकः। मात्स्यिकः। मैनिकः। शाकुलिकः। मार्गिकः। हारिणिकः। सारङ्गिकः।

१६३४ धर्मं चरति ४।४।४१॥

धार्मिकः। (अधर्माच्चेति वक्तव्यम्)। आधर्मिकः।

१६३५ तदस्य पण्यम् ४।४।५१॥

करोति=दार्दुरिकः। सिद्धिः पूर्ववत्।

१—हन्तीत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः पक्षि–मत्स्य–मृगेभ्यः ठक् स्यादिति। **स्वरूपस्येति**—पक्षि–मत्स्य–मृगशब्दैः तत्तत्सरूपाणां तत्तत्पर्यायाणां तत्तद्विशेषवाचिनां च ग्रहणमित्यर्थः, 'स्वं रूपम्' इति सूत्रभाष्ये तथैवोक्तेः। **मीनस्यैवेति**—मत्स्यपर्यायेषु मीनशब्दस्यैव ग्रहणं नत्वन्येषामिति। इदमपि तत्रत्यभाष्य उक्तम्। २—स्वरूपोदाहरणम्–पाक्षिकः, ठक्, आदिवृद्धिः, इकादेशः। पक्षिपर्यायोदाहरणम्–शकुनीन्–हन्तीति=शाकुनिकः, 'यस्येति च' इति इकारलोपः। सिद्धिः सरला। पक्षिविशेषोदाहरणम्—मयूरान् हन्ति=मायूरिकः। एवम्–मत्स्यान् हन्ति=मात्स्यिकः, मत्स्यस्य ङ्यामित्युक्तेर्न यलोपः। मीनान् हन्ति=मैनिकः। शाकुलान्=मत्स्यविशेषान् हन्ति=शाकुलिकः। मृगान् हन्ति=मार्गिकः, आदिवृद्धौ रपरत्वम्। हरिणान् हन्ति=हारिणिकः। सारङ्गान्=मृगविशेषान् हन्ति=सारङ्गिकः। ३—द्वितीयान्ताद् धर्मशब्दात् चरतीत्यर्थे ठक् स्यादिति, धार्मिकः। ४—'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति तदन्ताऽग्रहणादप्राप्ते वचनम्–अधर्माच्चेति, ठगिति शेषः। अधर्मं चरति=आधर्मिकः। ५—अस्य पण्यमित्यर्थे प्रथमान्तात् ठक् स्यादित्यर्थः। आपूपिकः, ठक्, ठस्येकः,

---

१६३३—द्वितीयान्त पक्षी मत्स्य और मृग शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। (इन शब्दों के पर्यायवाची तथा विशेषवाची शब्दों का भी ग्रहण होगा)। (मत्स्यका पर्याय केवल मीन शब्द लिया जायगा)।

१६३४—द्वितीयान्त धर्म शब्द से आचरण अर्थ में ठक् होता है। (अधर्म शब्द से भी ठक् होता है)।

१६३५—प्रथमान्त से 'अस्य पण्यम्' अर्थ में ठक् होता है।

अपूपाः पण्यमस्य—आपूपिकः।

१६३६ लवणाट्ठञ् ४। ४। ५२॥

लावणिकः।

१६३७ शिल्पम् ४। ४। ५५॥

मृदङ्गवादनं[3] शिल्पमस्य—मार्दङ्गिकः।

१६३८ प्रहरणम् ४। ४। ५७॥

असिः प्रहरणमस्य—आसिकः। धानुष्कः।

१६३९ शक्तियष्ट्योरीकक् ४। ४। ५९॥

शाक्तीकः। याष्टीकः।

१६४० अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ४। ४। ६०॥

अस्ति—परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स—आस्तिकः। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः। दिष्टमिति मतिर्यस्य स—दैष्टिकः।

आदिवृद्धिः।

१—अस्य पण्यमित्यर्थे प्रथमान्ताद् लवणशब्दात् ठञ् स्यादिति। लवणं पण्यम् अस्य = लावणिकः, स्त्रियां 'ठिड्ढे'ति ङीपि लावणिकी। २—अस्य शिल्पम् इत्यर्थे प्रथमान्तात् ठक् स्यादित्यर्थः। ३—मृदङ्गशब्दो लक्षणया मृदङ्गवादनार्थकः, तथा च मृदङ्गम् = मृदङ्गवादनं शिल्पम् अस्येति = मार्दङ्गिकः। ४—अस्य प्रहरणम् इत्यर्थः। प्रथमान्तात् ठक्—इत्यर्थः। आसिकः = खड्गायुधः। धनुः प्रहरणम् अस्य = धानुष्कः, ठक्, ठस्य 'इसुसुक्तान्तात्' इति कादेशः, आदिवृद्धिः। ५—प्रथमान्ताभ्यां शक्ति—यष्टिशब्दाभ्याम् अस्य प्रहरणमित्यर्थे ईकक् प्रत्ययः स्यात्, ठकोऽपवादोऽयम्, शक्तिः प्रहरणम् अस्य = शाक्तीकः, यष्टिः प्रहरणम् यस्य = याष्टीकः, ईककः कित्वादादिवृद्धिः, 'यस्येति च' इति—इकारलोपः। ६—इति मतिरस्यास्तीत्यर्थे—अस्ति—नास्ति—दिष्टशब्देभ्यः प्रथमान्तेभ्यः

१६३६—पूर्वोक्त अर्थ में लवण शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है।

१६३७—'अस्य शिल्पम्' अर्थ में प्रथमान्त से ठक् होता है।

१६३८—'अस्य प्रहरणम्' अर्थ में प्रथमान्त से ठक् होता है।

१६३९—उक्त अर्थ में शक्ति और यष्टि शब्द से ईकक् होता है।

१६४०—'इति मतिरस्य' इस अर्थ में प्रथमान्त अस्ति नास्ति और दिष्ट शब्द से ठक् प्रत्यय होता है।

१६४१ [1]शीलम् ४ । ४ । ६१ ॥

अपूपभक्षणं[2] शीलं यस्य स-आपूपिकः ।

१९४२ छत्रादिभ्यो[3] णः ४ । ४ । ६२ ॥

गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रं[4], तच्छीलमस्येति-छात्रः ।

१६४३ तत्र नियुक्तः[5] ४ । ४ । ६६ ॥

आकरे नियुक्तः-आकरिकः ।

१६४४ निकटे वसति[6] ४ । ४ । ७३ ॥

नैकटिको भिक्षुः । इति ठगधिकारः ।

अथ यदधिकारः

१६४५ प्राग्घिताद्यत् ४ । ४ । ७५ ॥

तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते ।

१६४६ तद्वहति[7] रथ-युग-प्रासङ्गम् ४ । ४ । ७६ ॥

ठक् स्यादित्यर्थः । अस्ति-नास्तिशब्दौ निपातौ । दिष्टम् = दैवम् । **आस्तिकः** । **नास्तिकः** = ईश्वरपरलोकाद्यस्वीकर्ता, **दैष्टिकः** = दैववादी ।

१—प्रथमान्तादस्य शीलमित्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः । २—अपूपशब्दोऽपूपभक्षणे लाक्षणिक इति भावः । **आपूपिकः** । ३—अस्य शीलमित्यर्थे प्रथमान्तेभ्यः छत्रादिभ्यो णप्रत्ययः स्यादिति । ठकोऽपवादोऽयम् । ४—छत्रशब्दो गुरोर्दोषावरणे लाक्षणिक इति भावः, **छात्रः** णप्रत्ययः, आदिवृद्धिः । ५—सप्तम्यन्ताद् नियुक्त इत्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः, **आकरिकः** । ६—सप्तम्यन्ताद् निकटशब्दाद् वसतीत्यर्थे ठक् स्यादिति । **नैकटिकः** । इति ठगधिकारः ।

अथ यदधिकारः ।

७—द्वितीयान्तेभ्यो रथ-युग प्रासङ्गशब्देभ्यो वहतीत्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः ।

१६४१—'अस्य शीलम्' अर्थ में प्रथमान्त से ठक् प्रत्यय हो ।

१६४२—'अस्य शीलम्' अर्थ में छत्रादि शब्दों से ण प्रत्यय होता है ।

१६४३—सप्तम्यन्त से नियुक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१६४४—सप्तम्यन्त निकट शब्द से वसति अर्थ में ठक् होता है ।

१६४५—'तस्मै हितम्' से पूर्व पूर्व यत् का अधिकार है ।

१६४६—द्वितीयान्त रथ, युग और प्रासङ्ग शब्द से वहति अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

रथं वहति—रथ्यः। युग्यः[1]। प्रासङ्ग्यः।

१६४७ धुरो यड्ढकौ ४। ४। ७७॥[2]

धुर्यः, धौरेयः।

१६४८ हलसीराट्ठक् ४। ४। ८१॥[3]

हलं वहति—हालिकः। सैरिकः।

१६४९ विध्यत्यधनुषा ४। ४। ८३॥

द्वितीयान्ताद्विध्यतीत्यर्थे यत्, न चेत्तत्र धनुष्करणम्[4]। पादौ विध्यन्ति पद्याः[5] शर्कराः।

१६५० नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्यानाम्य-सम-समित-संमितेषु ४। ४। ९१॥[6]

नावा तार्यं[7]—नाव्यं=जलम्। वयसा तुल्यो=वयस्यः[8]। धर्मेण प्राप्यं=

१—रथादिवहनकाले वृषादिस्कन्धेषु तिर्यग् यदीषत्प्रोतं काष्ठमासज्यते तद् युगम्, युगं वहति=युग्यः=वृषभोऽश्वो वा। प्रासङ्गं वहति=प्रासङ्ग्यः, अश्वादीनां रथादिवहने शिक्षितीकरणार्थं युगे यद् युगान्तरमासज्यते तत् प्रासङ्गम्। २—द्वितीयान्ताद् धुर्शब्दात्—वहतीत्यर्थे यत्—ढक् च स्यादित्यर्थः। यति—धुरं वहति=धुर्यः, हलि चेति दीर्घः प्राप्नोति, 'न भकुर्छुरामि'ति न भवति। ढकि—धौरेयः, ढस्य एयादेशः, आदिवृद्धिः। ३—वहतीत्यर्थे द्वितीयान्ताभ्यां हल—सीरशब्दाभ्यां ठक् इत्यर्थः, हालिकः। सीरं वहति=सैरिकः। ४—तत्र=वेधने धनुःकरणं न चेदित्यर्थः। ५—पद्याः, पादशब्दात् यत्प्रत्यये 'पद्यत्यतदर्थे' इति पदादेशः। अधनुषेति किम्? धनुषा चोरं विध्यति, नात्र चोरशब्दाद् यत्। ६—नावादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यः क्रमेण तार्यादिष्वर्थेषु यत्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। ७—तरीतुं शक्यम्=तार्यम्। नाव्यम् यति वान्तो यीति अवादेशः। ८—वयस्यः=मित्रम्।

१६४७—द्वितीयान्त धुर् शब्द से वहति अर्थ में यत् और ढक् प्रत्यय होते हैं।

१६४८—द्वितीयान्त हल और सीर शब्द से वहति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

१६४९—धनुष करणक वेध को छोड़कर द्वितीयान्त से विध्यति अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

१६५०—तृतीयान्त नौ आदि शब्दों से क्रमशः तार्य आदि अर्थों में यत् प्रत्यय होता है। (तार्य=तरने योग्य, तुल्य=समान, प्राप्य=प्रापणीय,

धर्म्यम्। विषेण वध्यो=विष्यः। मूलेन आनाम्यं=मूल्यम्। मूलेन समो=मूल्यः। सीतया समितं=सीत्यं-क्षेत्रम्। तुलया संमितं=तुल्यम्।

१६५१ तत्र साधुः ४। ४। ९८॥

अग्रे साधुः-अग्र्यः। सामसु साधुः सामन्यः। कर्मण्यः। शरण्यः।

१६५२ सभाया यः ४। ४। १०५॥

सभ्यः। ॥ इति यतोऽवधिः॥

अथ छयतोरधिकारः

१६५३ प्राक् क्रीताच्छः ५। १। १॥

तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते।

१६५४ उ-गवादिभ्यो यत् ५। १। २॥

प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात्। छस्यापवादः।

१—पटादेरुत्पत्त्यर्थं वणिग्भिर्विनियुक्तं द्रव्यं-मूलम्। तेन सह यदधिकं द्रव्यम् आनाम्यते=क्रेतुः संमतीकरणेन लभ्यते तत्-**मूल्यम्**, लोकास्तु क्रेतुर्लब्धं सर्वमपि द्रव्यं मूल्यमिति व्यवहरन्ति। तत्र लक्षणाया प्रयोगो ज्ञेयः। २—सीता=लाङ्गलपद्धतिः, तया समितं=सङ्गतमित्यर्थः, कृष्टमिति यावत्। ३—तुला=धटा, तया उन्मितमित्यर्थः। **तुल्यम्**। ४—सप्तम्यन्तात्साधुरित्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः। अग्रे साधुः=**अग्र्यः**, साधुः=प्रवीणः। **सामन्यः** 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः। एवं कर्मणि साधुः=**कर्मण्यः**। शरणे=रक्षणे साधुः=**शरण्यः**। ५—साधुरित्यर्थे सभाशब्दात् सप्तम्यन्ताद् यप्रत्ययः स्यान्न तु यत्, ययतोः स्वरे भेदः। सभायां साधुः=**सभ्यः**। "यस्येति च" इति आलोपः।

वध्य=मारणीय, आनाम्य=खरीदने योग्य, सम=तुल्य, समित=सङ्गत, संमित=मिना हुआ)।

१६५१—सप्तम्यन्त से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

१६५२—सप्तम्यन्त सभा शब्द से साधु अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है।

अथ छयतोरधिकारः।

१६५३—'तेन क्रीतम्' से पूर्व पूर्व 'छ' का अधिकार है।

१६५४—चतुर्थ्यन्त समर्थ उकारान्त और गवादि शब्दों से यत् प्रत्यय होता

(नाभि नभं ,च) [2]नभ्योऽक्षः । नभ्यमञ्जनम् । [3]रथनाभावेवेदम् । (शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वम्) । शून्यम्, शुन्यम् । (ऊधसोऽनङ् च) । ऊधन्यः ।

१६५५ कम्बलाच्च संज्ञायाम् ५ । १ । ३ ॥

यत् । कम्बल्यमूर्णापलशतम् । संज्ञायां किम् । कम्बलीया ऊर्णा ।

१६५६ विभाषा हविरपूपादिभ्यः ५ । १ । ४ ॥

अथ छयतोरधिकारः

१—नाभिशब्दो नभादेशं, यत्प्रत्ययं च प्राप्नोतीत्यर्थः । गवादिगणसूत्रमिदम् । २—यत्र अक्षदण्डः प्रवेश्यते तच्चक्रमध्यगतं छिद्रं नाभिरुच्यते, तस्मै हितोऽक्षदण्डो नभ्यः । स हि–अनुगुणत्वाद् नाभये हितः । नभ्यमञ्जनम्, अञ्जनं = तैलसेकः, नाभेरञ्जने कृते तत्र प्रोतं चक्रं सुपरिवर्त्तं भवति–इति परिवर्तनात्मककार्यक्षमताऽऽधायकत्वादञ्जन नाभये हितम् । ३—शरीरावयवविशेषवाचि–नाभिशब्दात्तु "शरीरावयवाद्यत्" इति यत् केवलो भवति न तु नभादेशः । ४—गवादिगणसूत्रमिदम्, श्वन्शब्दात् यत्स्यात्, प्रकृतेः सम्प्रसारणम्, तस्य = सम्प्रसारणस्य वा दीर्घ इत्यर्थः । शुने हितम् = शून्यम्, शुन्यम् । ५—ऊधस्–शब्दात् यत् स्यात्, प्रकृतेरनङादेशश्चेत्यर्थः । गवादिगणसूत्रमिदमपि । ऊधसे हितः = ऊधन्यः, ङित्त्वादन्तादेशोऽनङ्, ङकार इत्, नकारेऽकार उच्चारणार्थः । ६—कम्बलशब्दात् यत् प्राक् क्रीतीयेष्वर्थेषु । कम्बलाय हितम् = कम्बल्यम्, ऊर्णापलशतम् । ७—संज्ञातोऽन्यत्र, कम्बलाय हिता = कम्बलीया, छप्रत्ययः, छस्य ईयादेशः । ८—हविर्विशेषवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यत्प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः, पक्षे छः । आमिक्षायै हितम् = आमिक्ष्यम्, आमिक्षीयम् । तप्ते पयसि दध्नि निक्षिप्ते सति यद् घनीभूत निष्पद्यते सा 'आमिक्षा' इत्युच्यते ।

है । (नाभि शब्द को नभ आदेश भी होता है) । (श्वन् शब्द से यत् होता है और सम्प्रसारण भी होता है, और सम्प्रसारण को विकल्प से दीर्घ होता है) । (ऊधस् शब्द से यत् होता है और अनङ् आदेश होता है)

१६५५—चतुर्थ्यन्त कम्बल शब्द से हित आदि अर्थों में यत् प्रत्यय होता है संज्ञा हो तो ।

१६५६—चतुर्थ्यन्त हवि विशेषवाची अपूपादि शब्दों से हित आदि अर्थों में यत् प्रत्यय विकल्प करके होता है । (पक्ष में छ होता है) ।

आमिक्ष्यं दधि, आमिक्षीयम् । पुरोडाश्यास्तण्डुलाः, पुरोडाशीयाः[1] । अपूप्यम्, अपूपीयम् ।

१६५७ तस्मै हितम् ५ । १ । ५ ॥[2]

वत्सेभ्यो हितो-वत्सीयो गोधुक् । शङ्कव्यं[3] दारु । गव्यम् । हविष्यम् ।

१६५८ शरीरावयवाद्यत् ५ । १ । ६ ॥[4]

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् ।

१६५६ अजाविभ्यां थ्यन् ५ । १ । ८ ॥[5]

अजथ्या यूथिः । अविथ्या ।

१६६० आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्खः ५ । १ । ६ ॥[6]

१—पुरोडाशाय हिताः = पुरोडाश्याः, पुरोडाशीयाः । अपूपेभ्यो हितम् = अपूप्यम्, अपूपीयम् । २—चतुर्थ्यन्ताद् हितम् इत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । वत्सीयः, छप्रत्ययः, छस्य ईय्, गोधुक् = वत्सेभ्यः पयः परिशेष्य गवां दोग्धा । ३—शङ्कवे हितम् = शङ्कव्यम्, उवर्णान्तत्वात्, उगवादिभ्यः, इति यत्, 'ओर्गुणः' इति गुणे 'वान्तो यी' ति-अवादेशः । गोभ्यो हितम् = गव्यम् = तृणादिकम्, गवादित्वाद् यत्, वान्तो यीति-अव् । हविषे हितम् = हविष्यम्, 'हविष्' शब्दो गवादिरतो यत् । 'विभाषा हवि' रित्यत्र तु हविर्विशेषवाचिन एव ग्रहणं व्याख्यानात् । ४—चतुर्थ्यन्तात् शरीरावयववाचकाद् हितमित्यर्थे । दन्तेभ्यो हितम् दन्त्यम् = मञ्जनम्, कण्ठाय हितम् = कण्ठ्यम्, नासिकायै हितम् = नस्यम्, 'पद्दन्नोमासहृन्निशि' ति सूत्रे प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थत्वात्-यत्प्रत्ययेऽपि नासिकाया नसादेशः । ५—हितम् इत्यर्थेऽजशब्दात् अविशब्दाच्च थ्यन् । अजेभ्यो हिता = अजथ्या, अविभ्यो हिता = अविथ्या, लिङ्गविशिष्टपरिभाषया अजाशब्दादपि स्यात्, तसिलादिषु थ्यनः परिगणनात्पुंवद्भावे रूपं तुल्यम् । यूथिः = औषधभेदः । ६—चतुर्थ्यन्तेभ्यः आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तर-(मातृभोगादि)-

---

१६५७—चतुर्थ्यन्त से हित अर्थ में यथाविहित छ आदि प्रत्यय होते हैं ।

१६५८—चतुर्थ्यन्त शरीरावयव वाचक शब्द से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

१६५६—चतुर्थ्यन्त आत्मन् और अविशब्द से थ्यन् प्रत्यय होता है ।

१६६०—चतुर्थ्यन्त आत्मन् विश्वजन और भोगोत्तर (मातृभोगादि) शब्दों से हित अर्थ में ख प्रत्यय होता है ।

१९६१ आत्माध्वानौ खे ६ । ४ । १६९ ॥

प्रकृत्या[1] स्तः। आत्मने हितम्–आत्मनीनम्[2]। विश्वजनीनम्। कर्मधारयादे-वेष्यते[3]। अन्यत्र–विश्वजनीयम्। (पञ्चजनादुपसंख्यानम्[4]) । पञ्चजनीनम्[5]। 'कुमति च' इति णः। मातृभोगीणः[6]। (आचार्यादणत्वं च[7]) आचार्यभोगीनः।

॥ इति छयतोः पूर्णोऽवधिः ॥

अथ ठञधिकारः।

१९६२ प्राग्वतेष्ठञ् ५ । १ । १८ ॥

तेन तुल्यमित्यतः प्राक् ठञधिक्रियते।

१९६३ आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् ५ । १ । १९ ॥

तदर्हतीत्येतदभिव्याप्य ठञधिकारमध्ये। ठञोऽपवादष्ठगधिक्रियते गोपुच्छा-दीन्वर्जयित्वा।

शब्देभ्यो हितमित्यर्थे खप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

१—तेन "नस्तद्धिते" इति टिलोपो न। २—खस्य ईनादेशे, आत्मजनीनम्, विश्वस्मै जनाय हितम् = विश्वजनीनम्। ३—कर्मधारयाद् विश्वजनशब्दादेवेत्यर्थः, व्याख्यानमेवात्र प्रमाणम्। अन्यत्र तु विश्वजनीयम् विश्वस्य जनो विश्वजनः साधारणो वैद्यादिः, तस्मै हितम् इति विग्रहः। छप्रत्ययः। छस्य ईयादेशे रूपम्। ४—खस्येति शेषः। ५—ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्राश्चत्वारो वर्णा रथकारजातिश्चेति पञ्चजनाः, तेभ्यो हितम् = पञ्चजनीनम्। ६—मातृभोगाय हितः = मातृभोगीणः, खः, खस्य ईनादेशः, कुमति चेति नस्य णत्वम्। ७—आचार्यशब्दात्परस्मात् भोगशब्दात् खप्रत्ययः, नस्य णत्वाभावश्च वाच्य इत्यर्थः। आचार्यभोगाय हितः = आचार्यभोगीनः।

इति छयतोः पूर्णोऽवधिः।

१९६१—ख प्रत्यय परे रहते आत्मन् और अध्वन् शब्द को प्रकृतिभाव होता है। (पञ्चजन शब्द से भी ख प्रत्यय होता है)। (आचार्य शब्द पूर्वक भोग शब्द से ख प्रत्यय होता है और नकार को णत्व नहीं होता)।

अथ ठञधिकारः।

१९६२—'तेन तुल्यम्' सूत्र से पूर्व पूर्व ठञ् का अधिकार है।

१९६३—'तदर्हति' सूत्र तक ठञधिकार के मध्य में उसके अपवाद ठक् का अधिकार है गोपुच्छादि को छोड़कर (अर्थात् गोपुच्छादि में ठञ् ही होगा)।

१६६४ असमासे निष्कादिभ्यः ५ । १ । २० ॥

आर्हादित्येतत्तेन क्रीतमिति यावदनुवर्तते । निष्कादिभ्योऽसमासे ठगार्हीयेष्वर्थेषु । निष्केण क्रीतमिति–नैष्किकम्[1] । समासे तु ठञ् ।

१६६५ परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः ७ । ३ । १७ ॥

उत्तरपदवृद्धिर्ञिदादौ । परमनैष्किकम्[2] ।

१६६६ शताच्च ठन्-यतावशते ५ । १ । २१ ॥

शतिकम्, शत्यम्[3] । अशते किम्—

१६६७ संख्याया अतिशदन्तायाः कन् ५ । १ । २२ ॥

आर्हीयेऽर्थे[4] । शतं परिमाणमस्य–शतकः सङ्घः । बहुकः[5] । त्यन्तायास्तु[6] साप्ततिकः । शदन्तायाः–चात्वारिंशत्कः ।

१६६८ वतोरिड्वा ५ । १ । २३ ॥

१—ठक्, कित्वादादिवृद्धिः, ठस्येकादेशः । २—परमनिष्केण क्रीतम्= **परमनैष्किकम्**, समासत्वात् ठञ्, उत्तरपदादेर्वृद्धिः । ठक्-ठञोः स्वरे भेदः । ३—आर्हीयेष्वर्थेषु शतशब्दात् ठन्–यतौ स्तः, न तु शतेऽर्थे इत्यर्थः । शतेन क्रीतम्= **शतिकम्**, **शत्यम्** पूर्वत्र ठन्, उत्तरत्र यत् । ४—तिशदन्तभिन्नायाः सङ्ख्यायाः कन्प्रत्ययः स्यात्, इत्यर्थः । ५—बहुपरिमाणम्–अस्य बहुभिः क्रीतो वा= बहुकः । ६–ति–अन्ते यस्यास्तथाभूतायाः–इत्यर्थः । सप्ततिः परिमाणम् अस्य, सप्तत्या क्रीतो वा= साप्ततिकः, ठञ्, ठस्येकः, । शत्–अन्ते यस्यास्तस्याः शदन्तायाः–चत्वारिंशता क्रीतः= चात्वारिंशत्कः, ठञ्, ठस्य 'इसुसुक्तान्तात्' इति कादेशः ।

१६६४—('अर्हात्' यह 'तेन क्रीतम्' तक चलता है) तृतीयान्त निष्कादि शब्दों से अर्हीय अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ।

१६६५—परिमाणान्त शब्दों में उत्तरपद वृद्धि होती है ञिदादि परे रहते संज्ञा और शाण को छोड़कर ।

१६६६—आर्हीय अर्थों में शत शब्द से ठन् और यत् प्रत्यय होते हैं शत वाच्य न हो तो ।

१६६७—ति प्रत्ययान्त और शत् प्रत्ययान्त से भिन्न संख्यावाचक शब्द से आर्हीय अर्थ में कन् प्रत्यय होता ।

१६६८—वत्वन्त से परे कन् को इट् विकल्प से होता है ।

वत्वन्तात्कन इड् वा। [1]तावतिकः, तावत्कः।

११६९ कंसाट्टिठन्[2] ५। १। २५॥

कंसिकः। (अर्धाच्च)। अर्धिकः।

११७० अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम् ५। १। २८॥

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च परस्यार्हीयस्य लुक्। अध्यर्धकंसम्[3]। संज्ञायां तु—पाञ्चकलापिकम्[4]।

११७१ तेन क्रीतम्[5] ५। १। ३७॥

ठञ्। गोपुच्छेन क्रीतं—गौपुच्छिकम्। साप्ततिकम्[6]। ठक्—नैष्किकम्[7]।

११७२ तस्येश्वरः ५। १। ४२॥

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ स्तः[8]। अनुशतिकादीनां चेति वृद्धिः[9]। सर्व-

---

१—तावता क्रीतः = तावतिकः, तावत्कः, कन्, इट्। पूर्वत्र मत्वात्पदत्वाऽभावेन जश्त्वं न। २—टिठन्, टकारः टित्वात् स्त्रियां ङीबर्थः। इकार उच्चारणार्थः, 'ठन्' इत्येव शिष्यते। कंसेन क्रीतः = कंसिकः, अर्धेन क्रीतः = अर्धिकः। ३—अध्यारूढम् अर्धं यस्मिन् तदध्यर्धम् 'प्रादिभ्यो धातुजस्ये' ति बहुव्रीहौ पूर्वखण्डे उत्तरपदस्य लोपः। सार्धमित्यर्थः। अध्यर्धेन कंसेन क्रीतमिति विग्रहः, तद्धितार्थे द्विगुः। कंसाट्टिठन्, इति टिठन्, तस्यानेन लुक्,—अध्यर्धकंसम्। ४—पञ्चकलापाः परिमाणम् अस्येति विग्रहे 'तद्धितार्थे' इति द्विगुः, 'तदस्ये'ति ठञ्, ठस्येकादेशः, आदिवृद्धिः, पाञ्चकलापिकम्। ५—तृतीयान्तात् क्रीतेऽर्थे ठञादयः स्युरिति। ६—सप्तत्या क्रीतम् = साप्ततिकम्। प्रस्थेन क्रीतम् = प्रास्थिकम्, ठञ्, ठस्येकः, आदिवृद्धिः। ७—निष्केण क्रीतमित्यर्थः। ८—षष्ठ्यन्ताभ्याम् ईश्वर इत्यर्थे इति शेषः। ९—उभयपदादेर्वृद्धिरित्यर्थः।

११६९—तृतीयान्त कंस शब्द से क्रीत अर्थ में टिठन् प्रत्यय होता है। (अर्ध शब्द से भी टिठन् प्रत्यय होता है)

११७०—अध्यर्ध पूर्वक और द्विगु से परे आर्हीय प्रत्यय का लुक् होता है, संज्ञा में नहीं।

११७१—तृतीयान्त से क्रीत अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।

११७२—षष्ठ्यन्त सर्वभूमि और पृथिवी शब्द से ईश्वर अर्थ में अण् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं।

भूमेरीश्वरः—सार्वभौमः[1]। पार्थिवः[2]।

१६७३ तदस्य परिमाणम् ५ । १ । ५७ ॥

प्रस्थः परिमाणमस्य—प्रास्थिको राशिः। (स्तोमे डविधिः)। पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः। सप्तदशः। सोमयागेषु छन्दोगैः क्रियमाणा पृष्ठ्यादिसंज्ञिका स्तुतिः = स्तोमः।

१६७४ पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशच्चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम् ५ । १ । ५९ ॥

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते।

१—अण्प्रत्ययः। २—पृथिव्या ईश्वरः = पार्थिवः, अञ् प्रत्ययः। ३—अस्य परिमाणमित्यर्थे प्रथमान्ताद् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः। ४—प्रास्थिकः ठञ्, इकादेशः, आदिवृद्धिः। ५—पञ्चदशः = स्तोमः, डप्रत्यये टिलोपः (अन्-इत्यस्य टेर्लोप इत्यर्थः)। एवं सप्तदश मन्त्राः परिमाणमस्येति—सप्तदशः। ६—तदस्य परिमाणम् इत्यर्थं इति शेषः। पञ्च पादाः परिमाणमस्येत्यर्थे पञ्चन्शब्दात् तिप्रत्ययः, प्रकृतेष्टिलोपः, चकारस्य कुत्वम्, अनुस्वारपरसवर्णौ पङ्क्तिः = दशाक्षरपादविशिष्टश्छन्दोविशेषः। दशानां वर्गो दशत्, 'पञ्चदशतौ वर्गे' इत्युक्तेः, द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्ख्येति = विंशतिः, शतिच् प्रत्ययः, प्रकृतेर्विन्भावः, नस्यानुस्वारः। त्रयो दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्येति = त्रिंशत्, शत् प्रत्ययः, प्रकृतेः त्रिन्भावः। चत्वारो दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्येति = चत्वारिंशत्, शत् प्रत्ययः, प्रकृतेः चत्वारिन्भावः। पञ्च दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्येति = पञ्चाशत्, शत् प्रत्ययः, प्रकृतेः पञ्चादेशः। षड् दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्येति = षष्टिः, तिप्रत्ययः, प्रकृतेः षष्, जश्त्वाऽभावश्च। सप्त दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्येति = सप्ततिः, तिप्रत्ययः, प्रकृतेः सप्तादेशः। अष्टौ दशतः परिमाणमस्येति = अशीतिः, तिप्रत्ययः प्रकृतेः 'अशी' इत्यादेशः। नव दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्येति = नवतिः, तिप्रत्ययः, प्रकृतेर्नवादेशः। दश दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्येति = शतम् तप्रत्ययः, प्रकृतेः शादेशश्च।

१६७३—प्रथमान्त से 'अस्य परिमाणम्' अर्थ में यथाविहित ठञादि प्रत्यय होते हैं। (स्तोमवाच्य रहते ड प्रत्यय होता है)।

१६७४—पङ्क्ति आदि शब्द 'अस्य परिमाणम्' अर्थ में निपातित हैं। (टिप्पण में इनकी सिद्धि देखिये)।

१९७५ तदर्हति[1] ५। १। ६३॥

श्वेतच्छत्रमर्हति–श्वैतच्छत्रिकः।

१९७६ दण्डादिभ्यो यत् ५। १। ६६॥

[2]एभ्यो यत्। दण्डमर्हति–दण्ड्यः। [3]अर्घ्यः। वध्यः।

१९७७ तेन निर्वृत्तम् ५। १। ७९॥

अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम्। ॥ इति ठञ् ठकोरवधिः॥

अथ भावकर्मार्थाः।

१९७८ तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५। १। ११५॥

ब्राह्मणेन तुल्यं-ब्राह्मणवत् अधीते। क्रिया चेत् किं—गुणतुल्ये मा भूत्–पुत्रेण तुल्यः स्थूलः।

१९७९ तत्र तस्येव ५। १। ११६॥

मथुरायामिव = मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। चैत्रस्येव = चैत्रवत् मैत्रस्य गावः।

१—अर्हतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठञादयः स्युरित्यर्थः। श्वैतच्छत्रिकः, ठञ्प्रत्ययः। २–अर्हतीत्यर्थे इति शेषः। ३–अर्घम् अर्हति = अर्घ्यः, वधम् अर्हति = वध्यः। ४—तृतीयान्तान्निर्वृत्तमित्यर्थे ठञ् स्यादित्यर्थः। आह्निकम्, अह्नष्टखोरेवेति नियमान्न टिलोपः। ॥ इति ठञ् ठकोरवधिः॥

अथ भावकर्मार्थाः।

५—तृतीयान्तात्तुल्यमित्यर्थे वति-प्रत्ययः स्यात्, यत्तुल्यं सा चेत्क्रियेत्यर्थः। तुल्या क्रियेत्यर्थे वतिः स्यादिति यावत्। ६—ब्राह्मणवत्, इत्युदाहरणम्। ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनतुल्यं क्षत्रियकर्तृकाध्ययनमिति बोधः। ७—सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च-इवार्थे वतिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

१९७५—द्वितीयान्त से अर्हति अर्थ में ठक् ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं।

१९७६—द्वितीयान्त दण्डादि शब्दों से यत् होता है।

१९७७—तृतीयान्त से 'निर्वृत्तम्' अर्थ में ठञ् होता है।

अथ भावकर्मार्थाः।

१९७८—तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है, क्रिया तुल्य हो तो।

१९७९—सप्तम्यन्त से और षष्ठ्यन्त से इव अर्थ में वति होता है।

१६८० तस्य [1]भावस्त्वतलौ ५ । १ । ११६ ॥

प्रकृतिजन्यबोधे[2] प्रकारो भावः । गोर्भावः=गोत्वम्, गोता । त्वान्तं[3] क्लीबम् । तलन्तं स्त्रियाम् ।

१६८१ आ च त्वात् ५ । १ । १२० ॥

'ब्रह्मणस्त्व' इत्यतः प्राक् त्व-तलावधिक्रियेते । [4]अपवादैः सह समावेशार्थः । स्त्रिया भावः = स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता । पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता ।

१६८२ पृथ्वादिभ्य[5] इमनिज्वा ५ । १ । १२२ ॥

वा-वचनमणादिसमावेशार्थम्[6] ।

१६८३ र ऋतो हलादेर्लघोः ६ । ४ । १६१ ॥

इष्ठेमेयस्सु ।

१—षष्ठयन्ताद् भाव इत्यर्थे त्व-प्रत्ययः, तल्-प्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः । २—त्व-तल्-प्रकृतिभूत-गवादिशब्देभ्यो जायमाने गोव्यक्त्यादिबोधे प्रकारो = विशेषणं = जात्यादिकं भावः, भावशब्देन विवक्षित इत्यर्थः, यथा गोशब्दाद् व्यक्तिबोधे जायमाने गोत्वं (जातिः) विशेषणत्वेन भासमानं भावः । ३—लिङ्गानुशासनसूत्रसिद्धमिदं द्वयम् । ४—अनुवृत्त्यैव सिद्धे 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्' इत्यादिविहितैः इमनिजादिभिरपवादैरनयोर्बाधो मा भूदित्येवमर्थोऽधिकारः । तेन तैः सहास्य समुच्चयः सिद्ध्यति । प्रथिमा, पृथुत्वमिति । ५—षष्ठयन्तेभ्यः पृथ्वादिभ्यो भावेऽर्थे—इमनिच् प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः । ६—पृथु-मृदुप्रभृतिषु 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यणः, चण्ड-रवादिषु गुणवचनलक्षणस्य ष्यञः, बाल-वत्सादिषु वयोवचनलक्षणस्य-अञश्च औत्सर्गिकस्य समावेशार्थमित्यर्थः । अन्यथा 'विभाषावशादपवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गो न प्रवर्तते' इति 'पारे मध्ये षष्ठया वा' इति सूत्रभाष्ये सिद्धान्तितत्वादिमनिच्-त्व-तलाभावेऽणादीनां प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः । ७—हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यात्, इष्ठन्प्रत्यये इमनिच्प्रत्यये च परे इत्यर्थः । ८—इष्ठ-इम-ईयस् (सु)

१६८०—षष्ठयन्त से भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होता है ।

१६८१—"ब्रह्मणस्त्व" इससे पूर्व त्व और तल् का अधिकार है ।

१६८२—षष्ठयन्त पृथु आदि शब्दों से भाव अर्थ में इमनिच् प्रत्यय विकल्प करके होता है ।

१६८३—हलादि लघु ऋकार को 'र' आदेश होता है इष्ठन् इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे रहते ।

१९८४ टेः ६ । ४ । १४३ ॥

भस्य टेर्लोप इष्ठेमेयस्सु । पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढानामेव रत्वम् । पृथोर्भावः = प्रथिमा[1], पार्थवम् । म्रदिमा, मार्दवम् ।

१९८५ वर्ण-दृढादिभ्यः[2] ष्यञ् च ५ । १ । १२३ ॥

चादिमनिच् । शौक्ल्यम्[3], शुक्लिमा । दार्ढ्यम्, द्रढिमा ।

१९८६ गुणवचन[4] ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५ । १ । १२४ ॥

चाद्भावे । जडस्य भावः कर्म वा=जाड्यम् । ब्राह्मण्यम्[5] । आकृतिगणोऽयम् । (चतुर्वर्णादीनां[6] स्वार्थे उपसंख्यानम्) । चातुर्वर्ण्यम्[7] । चातुराश्रम्यम् त्रैवर्ण्यम् । षाड्गुण्यम् । सैन्यम् । सान्निध्यम् । औपम्यम् । त्रैलोक्यमित्यादि ।

इति च्छेदः ।

१—पृथुशब्दात्-इमनिच्प्रत्यये ऋकारस्य रेफादेशे टिलोपे प्रथिमन्-शब्दसिद्धौ पुंसि सौ उपधाया दीर्घे, नलोपे, **प्रथिमा**, इमनिजन्ताः सर्वे पुंलिङ्गा इति बोध्यम् । पक्षे 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यणि, 'ओर्गुणः'—आदिवृद्धिः **पार्थवम्** । एवं मृदोर्भावः = **म्रदिमा, मार्दवम्**, पृथुत्वं, पृथुता, मृदुत्वं, मृदुता-इत्यपि । २—षष्ठयन्तेभ्यो वर्णवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च भावे ष्यञ् च स्यादित्यर्थः ३—शुक्लस्य भावः = **शौक्ल्यम्**, ञित्वादादिवृद्धिः, इमनिचि—**शुक्लिमा** । एवं **दार्ढ्यम्, द्रढिमा**, इमनिच्, रादेशः । ४—षष्ठयन्तेभ्यो गुणवाचकेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च कर्मणि भावे चार्थे ष्यञ् स्यादित्यर्थः । ५—ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा = **ब्राह्मण्यम्** । ६—चतुर्वर्णादिगणपठितानां शब्दानां स्वार्थे ष्यञ् वक्तव्य इत्यर्थः । ७—चत्वारो वर्णाः = **चातुर्वर्ण्यम्**, ष्यञ् आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यलोपः । एवम्—चत्वार आश्रमाः=**चातुराश्रम्यम्**, त्रयो वर्णाः = **त्रैवर्ण्यम्** । षड् गुणाः = **षाड्गुण्यम्** । सेना-एव = **सैन्यम्** । सन्निधिरेव = **साान्निध्यम्** । उपमैव = **औपम्यम्** । त्रयो लोकाः = **त्रैलोक्यम्** ।

१९८४—भसंज्ञक टि का लोप होता है इष्ठ इम इयस् परे रहते ।

१९८५—षष्ठयन्त वर्ण वाचक शब्दों से और दृढादि शब्दों से भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है, और इमनिच् भी ।

१९८६—षष्ठयन्त गुणवाचक शब्दों से और ब्राह्मणादि शब्दों से कर्म और भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है । (चतुर्वर्णादि शब्दों से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है) ।

१९८७ स्तेनाद्यन्नलोपश्च ५ । १ । १२५ ॥

नेति संघातग्रहणम् । स्तेनस्य भावः कर्म वा = स्तेयम् ।

१९८८ सख्युर्यः ५ । १ । १२६ ॥

सख्यम् ।

१९८९ कपि-ज्ञात्योर्ढक् ५ । १ । १२७ ॥

कापेयम् । ज्ञातेयम् ।

१९९० पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५ । १ । १२८ ॥

सैनापत्यम् । पौरोहित्यम् । (राजाऽसे) । राजन्शब्दोऽसमासे यकं लभत इत्यर्थः । राज्ञो भावः कर्म वा—राज्यम् । समासे तु ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । आधिराज्यम् ।

१—स्तेनशब्दात् षष्ठ्यन्तात्कर्मणि भावे चार्थे यत्स्याद् नकारलोपश्चेत्यर्थः । २—नकाराऽकारसमुदायग्रहणमित्यर्थः । तेनाकारसहितो नकारो लुप्यते-इति भावः । ३—षष्ठ्यन्तात् सखिशब्दात् भावे कर्मणि चार्थे य-प्रत्ययः स्यादिति । सख्युर्भावः कर्म वा = सख्यम् । ४—षष्ठ्यन्ताभ्यां कपि-ज्ञाति-शब्दाभ्यां भावे कर्मणि चार्थे ढक् स्यादित्यर्थः । कपेर्भावः कर्म वा = कापेयम्, ढस्य—एय्, कित्त्वादादिवृद्धिः, एवम्-ज्ञातेर्भावः कर्म वा = ज्ञातेयम् । ५—षष्ठ्यन्तेभ्यः पत्यन्तशब्देभ्यः पुरोहितादिभ्यश्च यक् प्रत्ययः स्याद् भावे कर्मणि चार्थे इत्यर्थः । सेनापतेर्भावः कर्म वा = सैनापत्यम्, यकः कित्त्वादादिवृद्धिः । एवं पुरोहितस्य भावः कर्म वा = पौरोहित्यम् । ६—'स' इति समासस्य प्राचां संज्ञा, न सः = असः, तस्मिन्नसे, तदाह राजन्शब्दोऽसमासे—राज्यम्, यकि, टिलोपः । ७—अधिको राजा—अधिराजः, (प्रादिसमासे टचि रूपम्) अधिराजस्य भावः कर्म वा = आधिराज्यम् ।

१९८७—षष्ठ्यन्त स्तेन शब्द से कर्म और भाव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है और नकार का लोप होता है ।

१९८८—षष्ठ्यन्त सखि शब्द से भाव और कर्म अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है।

१९८९—षष्ठ्यन्त कपि और ज्ञाति शब्द से भाव और कर्म अर्थ में ढक् होता है ।

१९९०—षष्ठ्यन्त पत्यन्त शब्दों से और पुरोहितादि शब्दों से यक् होता है । (राजन् शब्द से यक् असमास में) ।

१६६१ प्राणभृज्जाति-वयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ५ । १ । १२६ ॥

प्राणभृज्जातिः—आश्वम्[2] । वयोवचनम्—कौमारम् । औद्गात्रम् । औन्नेत्रम् । सौष्ठवम् ।

१६६२ हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ५ । १ । १३० ॥

द्वैहायनम् । त्रैहायनम् । यौवनम् । स्थाविरम् । (श्रोत्रियस्य यलोपश्च) श्रौत्रम् । कुशल-निपुण-चपल-पिशुन-कुतूहल-क्षेत्रज्ञाः युवादिषु ब्राह्मणादिषु च पठ्यन्ते । कौशलम् , कौशल्यमित्यादि ।

१६६३ इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ५ । १ । १३१ ॥

१—प्राणिजातिवाचिभ्यो वयोविशेषवाचिभ्य उद्गात्रादिभ्यश्च षष्ठयन्तेभ्यो भावे कर्मणि चार्थेऽञ्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । २—अश्वस्य भावः कर्म वा = **आश्वम्** । एवं कुमारस्य भावः कर्म वा = **कौमारम्** । उद्गात्रस्य भावः कर्म वा=**औद्गात्रम्** । उन्नेतुर्भावः कर्म वा = **औन्नेत्रम्** , ऋकारस्य यण् रेफः । सुष्ठु—भावः कर्म वा = **सौष्ठवम्** । ३—हायनान्तेभ्यो युवादिभ्यश्च षष्ठयन्तेभ्यो भावे कर्मणि चार्थेऽण् स्यादित्यर्थः । द्विहायनस्य भावः कर्म वा = **द्वैहायनम्** , त्रिहायनस्य भावः कर्म वा = **त्रैहायनम्** , यूनो भावः कर्म वा = **यौवनम्** , 'अन्' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः । स्थविरस्य भावः कर्म वा = **स्थाविरम्** । ४—श्रोत्रियशब्दात् षष्ठयन्ताद् भावे कर्मणि चार्थेऽण् , प्रकृतेर्यलोपश्चेत्यर्थः । येति सङ्घातग्रहणम् , तेन अकारसहितस्य यकारस्य लोपः । श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा=**श्रौत्रम्** , अण्प्रत्ययः, आदिवृद्धिः, यकारलोपः, 'यस्येति च' इति इकारस्य लोपः । ५—तेन युवादित्वादण् , ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् च भवति । कुशलस्य भावः कर्म वा= **कौशलम्** , **कौशल्यम्** , एवं नैपुणम् , नैपुण्यम् , इत्यादि । ६—लघुपूर्वो य इक् तदन्तात्प्रातिपदिकात् षष्ठयन्ताद् भावे कर्मणि चार्थेऽण् स्यादित्यर्थः ।

१६६१—षष्ठयन्त प्राणधारि जातिवाचक शब्दों से अवस्थाविशेषवाची शब्दों से और उद्गात्रादि शब्दों से भाव और कर्म अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है।

१६६२—षष्ठयन्त हायनान्त और युवादि शब्दों से भाव और कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । (श्रोत्रिय शब्द से भाव का लोप होता है) ।

१६६३—लघु पूर्व इक् है अन्त में जिसके ऐसे षष्ठयन्त प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

शुचेर्भावः कर्म वा = शौचम्। मौनम्[1]।

१६६४ योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ् ५।१।१३२॥

रामणीयकम्। आभिधानीयकम्। (सहायाद्वा)। साहायकम्, साहाय्यम्।

१६६५ द्वन्द्व-मनोज्ञादिभ्यश्च ५।१।१३३॥

शैष्योपाध्यायिका। मानोज्ञकम्। ॥ इति नञ्स्नञोरवधिः॥

अथ पाञ्चमिकेषु भवनाद्यर्थकाः

१६६६ धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१॥

मुद्गानां भवनं क्षेत्रं = मौद्गीनम्।

१—मुनेर्भावः कर्म वा = **मौनम्**। २—योपधात् गुरूपोत्तमात्प्रातिपदिकात्षष्ठयन्ताद् भावे कर्मणि चार्थे वुञ् स्यादित्यर्थः। रमणीयस्य भावः कर्म वा = **रामणीयकम्**, वुञ् 'वु' इत्यस्य अकादेशः, आदिवृद्धिः। एवम्—अभिधानीयस्य भावः कर्म वा = **आभिधानीयकम्**। ३—वुञ् इति शेषः, पक्षे ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्, सहायस्य भावः कर्म वा = **साहायकम्**, वुञ्। **साहाय्यम्**, ष्यञ्-प्रत्ययः। ४—द्वन्द्वात्-मनोज्ञादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो वुञ् स्यादित्यर्थः। शिष्यश्चोपाध्यायश्चेति शिष्योपाध्यायौ, तयोर्भावः कर्म वा = **शैष्योपाध्यायिका**, वुञ्, अकादेशे आदिवृद्धौ, स्त्रिया टापि प्रत्ययस्थादिति इत्वम् (स्त्रीत्वं लोकात्)। मनोज्ञस्य भावः कर्म वा = **मानोज्ञकम्**। इति भावकर्मार्थाः। (इति नञ्स्नञोरवधिः)।

अथ पाञ्चमिकेषु भवनाद्यर्थकाः।

५—भवन्त्यस्मिन्निति भवनम् = उत्पत्तिस्थानम्। षष्ठयन्तात् धान्यवाचकात् शब्दाद्भवनं क्षेत्रमित्यर्थे खञ् स्यादिति सूत्रार्थः। ६—**मौद्गीनम्**, खञ्, खस्य ईनादेशः, आदिवृद्धिः।

१६६४—गुरूपोत्तम यकारोपध षष्ठयन्त शब्द से भाव और कर्म अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है। (सहाय शब्द से वुञ् विकल्प करके होता है)।

१६६५—षष्ठयन्त द्वन्द्व और मनोज्ञादि शब्दों से वुञ् प्रत्यय होता है।

अथ पाञ्चमिकेषु भवनाद्यर्थकाः।

१६६६—षष्ठयन्त धान्यवाचक शब्दों से 'भवनं क्षेत्रम्' अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है।

१९९७ व्रीहिशाल्योर्ढक्[1] ५। २। २॥

व्रैहेयम्। शालेयम्।

१९९८ यव-यवक-षष्टिकाद्यत्[2] ५। २। ३॥

यव्यम्। यवक्यम्। षष्टिक्यम्।

१९९९ विभाषा तिल-माषोमा-भङ्गाणुभ्यः[3] ५। २। ४॥

यत्। पक्षे खञ्। तिल्यम्, तैलीनम्। माष्यम्, माषीणम्। उम्यम्, औमीनम्। भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम्। अण्व्यम्, आणवीनम्।

२००० तत्सर्वादेः[4] पथ्यङ्ग-कर्म-पत्र-पात्रं व्याप्नोति ५। २। ७॥

सर्वादेः पथ्याद्यन्तात् द्वितीयान्तात्खः। सर्वपथान् व्याप्नोति = सर्वपथीनः[5]। सर्वाङ्गीणः। सर्वकर्मीणः। सर्वपत्रीणः। सर्वपात्रीणः।

१—खञोऽपवादोऽयम्। व्रीहि-शालिभ्यां षष्ठयन्ताभ्यां भवनं क्षेत्रमित्यर्थे ढक् स्यात्। व्रीहीणां भवनं क्षेत्रम् = **व्रैहेयम्**, शालीनां भवनं क्षेत्रम् = **शालेयम्**, ढक् ढस्य एय्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इति-इलोपः। २—एभ्यः षष्ठयन्तेभ्यो यत्स्याद्भवनं क्षेत्रमित्यर्थे। यवानां भवनं क्षेत्रम् = **यव्यम्**, यति, यस्येति चेति—अलोपः। एवम्-यवकाना भवनं क्षेत्रम् = **यवक्यम्**। षष्टिकानां भवनं क्षेत्रं = **षष्टिक्यम्**। ३—तिल-माष-उमा-भङ्ग-अणु-इत्येभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः षष्ठयन्तेभ्यो यत्प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः। उमा = अतसी (अलसी) भङ्गः, अणुश्च धान्यविशेषौ। तिलानां भवनं क्षेत्रम् = **तिल्यम्** **तैलीनम्**, पक्षे खञि, खस्य ईनादेशः, आदिवृद्धिः। एवम् = **माष्यम्**, **माषीण**मित्यादि। अणूनां भवनं क्षेत्रम् = **अण्व्यम्**, **आणवीनम्**, "ओर्गुणः" इति गुणेऽवादेशः। ४—तद् व्याप्नोतीत्यर्थे इति शेषः। ५—**सर्वपथीन**, खप्रत्यये,

---

१९९७—षष्ठयन्त व्रीहि और शालि शब्द से भवन क्षेत्र अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है।

१९९८—षष्ठयन्त यव यवक और षष्टिक शब्द से भवन क्षेत्र अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

१९९९—षष्ठयन्त तिल, माष, उमा, भङ्गा और अणु शब्द से भवन क्षेत्र अर्थ में यत् प्रत्यय विकल्प करके होता है। पक्ष में खञ् होगा।

२०००—सर्व है आदि में जिसके ऐसे पथ्याद्यन्त द्वितीयान्त शब्द से व्याप्नोति अर्थ में ख प्रत्यय होता है।

२००१ हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ५ । २ । २३ ॥

ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गुरादेशो विकारेऽर्थे खञ् प्रत्ययश्च निपात्यते संज्ञायामित्यर्थः। दुह्यते-इति दोहः = क्षीरम्, ह्योगोदोहस्य[1] विकारः-हैयङ्गवीनम् = नवनीतम्।

२००२ तस्य पाकमूले पील्वादि-कर्णादिभ्यः कुणब्-जाहचौ ५।२।२४॥

पीलूनां पाकः-पीलुकुणः। कर्णस्य मूलं-कर्णजाहम्।

२००३ पक्षात्तिः[3] ५ । २ । २५ ॥

मूले इत्यनुवर्तते। पक्षस्य मूलं-पक्षतिः।

२००४ तेन वित्तश्चुञ्चुप्-चणपौ ५ । २ । २६ ॥

यकारः प्रत्यययोरादौ लुप्तनिर्दिष्टः तेन चस्य नेत्वम्। विद्यया वित्तो = विद्याचुञ्चुः, विद्याचणः।

खस्य ईनादेशः, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। एवम्—सर्वाङ्गाणि व्याप्नोति = **सर्वाङ्गीणः**-इत्यादि।

१—'ह्यस्' इत्यव्ययम्, पूर्वेद्युरित्यर्थः तत्रोत्पन्नो गोदोहः = गोपयः—ह्योगोदोहः। स्पष्टमन्यत्, खञि ईनादेशे हियङ्गुशब्दस्य— 'ओर्गुणः' इति गुणेऽवादेशे, आदिवृद्धौ-**हैयङ्गवीनम्**। 'तत्तु हैयङ्गवीनं स्याद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्' इत्यमरः। २—षष्ठ्यन्तेभ्यः पील्वादिभ्यः पाकेऽर्थे 'कुणप्' प्रत्ययः, कर्णादिभ्यस्तु मूलेऽर्थे 'जाहच्' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। ३—षष्ठ्यन्तात्पक्षशब्दाद् मूलेऽर्थे 'ति' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। ४—तृतीयान्तात्समर्थात् वित्त इत्यर्थे चुञ्चुप्-चणपौ भवतः, इत्यर्थः। **वित्तः** = प्रसिद्धः। ५—ननु 'चुञ्चुप्'-प्रत्ययस्य, 'चणप्'-प्रत्ययस्य चादिश्चकारः 'चुटू' इति सूत्रेण इत्संज्ञः स्यादिति चेदत्रोच्यते-**यकारः प्रत्यययोरादौ**, इति, अयमर्थः-उभयत्रादौ यकारोऽस्तीति, 'य्चुञ्चु' 'य्चणप्'

२००१—विकार अर्थ में ह्योगोदोह शब्द को हियङ्गु आदेश और खञ् प्रत्यय होता है निपातन से संज्ञा में।

२००२—षष्ठ्यन्त पीलु आदि शब्दों से पाक अर्थ में कुणप् प्रत्यय होता है, कर्णादि शब्दों से मूल अर्थ में जाहच् प्रत्यय होता है।

२००३—षष्ठ्यन्त पक्ष शब्द से मूल अर्थ में 'ति' प्रत्यय होता है।

२००४—तृतीयान्त समर्थ से वित्त अर्थ में चुञ्चुप् और चणप् प्रत्यय होते हैं। (वित्त अर्थात् प्रसिद्ध)।

२००५ वेः शालच्छंकटचौ ५ । २ । २८ ॥

क्रियाविशिष्टसाधनवाचकात्स्वार्थे । (विस्तृतम्)–विशालम्, विशङ्कटम् ।

२००६ संप्रोदश्च कटच् ५ । २ । २९ ॥

सङ्कटम् । प्रकटम् । उत्कटम् । चाद् विकटम् । (अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो-रजस्युपसंख्यानम्) । अलाबूनां रजोऽलाबूकटम् । तिलकटम् । (गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः) गवां स्थानं = गोगोष्ठम् । (सङ्घाते कटच्) । अवीनां सङ्घातोऽविकटः । (विस्तारे पटच्) अविपटः । (द्वित्वे गोयुगच्) । द्वावुष्ट्रौ = उष्ट्रगोयुगम् । (षट्त्वे षड्गवच्) अश्वषड्गवम् । (स्नेहे तैलच्) तिलतैलम् । सर्षपतैलम् ।

प्रत्ययौ स्तः, यकारस्य च तस्य 'लोपो व्योर्वली'ति लोपो जातः । तेन चकारस्य प्रत्ययादित्वाभावान्नेत्यं लोपश्चेति ।

१—क्रियाविशिष्टकारकवाचकाद् विशिष्टात् शालच्–शङ्कटच्–प्रत्ययौ स्तः स्वार्थे । विस्तृतं क्रियासाधनम्= **विशालम्–विशङ्कटम्** । २—सम्–प्र–उद् इत्येतेभ्यः क्रियाविशिष्टसाधनवाचकेभ्यः स्वार्थे कटच् स्यादित्यर्थः । संहतं क्रियासाधनं = **सङ्कटम्** । प्रशातं क्रियासाधनं = **प्रकटम्** । उन्नतं साधनम्= **उत्कटम्** । ३—अलाबू–तिल–उमा–भङ्गा–इत्येतेभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो रजसि वाच्ये कटच्–वक्तव्यमित्यर्थः । ४—पशुवाचकेभ्यः स्थानादिष्वर्थेषु गोष्ठजादयः प्रत्यया वक्तव्या इत्यर्थः । ५—अवीनां = मेषीणां विस्तारः = **अविपटः** । ६—प्रकृत्यर्थगतं द्वित्वे वाच्ये 'गोयुगच्' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ७ – प्रकृत्यर्थगते षट्त्वे वाच्ये 'षड्गवच्' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । षट् अश्वाः = **अश्वषड्गवम्** । ८—स्नेहे

२००५—क्रिया विशिष्ट कारकवाची 'वि' शब्द से शालच् और शङ्कटच् प्रत्यय होता है ।

२००६—क्रिया विशिष्ट साधन वाचक सम्, प्र, उद् शब्दों से स्वार्थ में कटच् प्रत्यय होता है । (अलाबू, तिल, उमा और भङ्गा शब्द से 'रजस्' अर्थ में कटच् प्रत्यय होता है) । (षष्ठ्यन्त पशु वाचक शब्दों से स्थान आदि अर्थों में 'गोष्ठच्' आदि प्रत्यय होते हैं) । (सङ्घात अर्थ में कटच् होता है) । (विस्तार अर्थ में पटच् प्रत्यय होता है) । (द्वित्व वाच्य रहते पशुवाचक शब्दों से गोयुगच् प्रत्यय होता है) । (प्रकृत्यर्थगतषट् संख्या वाच्य रहते 'षड्गवच्' प्रत्यय होता है) । (स्नेह वाच्य रहते तैलच् प्रत्यय होता है) ।

२००७ अवात्कुटारच्च¹ ५ । २ । ३० ॥

चात्कटच् । अवकुटारः, अवकटः ।

२००८ नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटञ्भ्रटचः² ५ । २ । ३१॥

अवादित्येव । नतं = नमनम् । नासिकाया नतम्-अवटीटम्, अवनाटम्, अवभ्रटम् । तद्योगान्नासिकावटीटा³ । पुरुषोऽवटीटः ।

२००९ उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः⁴ ५ । २ । ३४ ॥

पर्वतस्यासन्नं स्थलम् = उपत्यका । आरूढं स्थलमधित्यका ।

२०१० कर्मणि घटोऽठच्⁵ ५ । २ । ३५ ॥

कर्मणि घटते⁶ = कर्मठः ।

२०११ तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्⁷ ५ । २ । ३६ ॥

वाच्ये 'तैलच्' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । तिलानां स्नेहः = **तिलतैलम्**, सर्षपाणां स्नेहः = **सर्षपतैलम्** ।

१—क्रियाविशिष्टसाधनवाचकाद् अवशब्दात् कुटारच् प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे, चकारात् कटच्प्रत्ययोऽपि । अवाचीन इति = **अवकुटारः, अवकटः** । २—अवशब्दाद् नासिकाया अवनने गम्ये टीटच्-नाटच्-भ्रटच्, इत्येते प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । ३—नतत्वयोगाद् गौण्या वृत्त्या नासिकापि तथोच्यते-**अवटीटा**, नतीभूतनासिकायोगात्परम्परया पुरुषोऽप्युच्यते-**अवटीटः** । ४—उप-अधिशब्दाभ्यां यथाक्रमम् आसन्ने आरूढे चार्थे वर्तमानाभ्यां स्वार्थे त्यकन्-प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । आसन्नम् = समीपम्, आरूढम्=उच्चम् । ५—सप्तम्यन्तात् कर्मन्-शब्दाद् घटे = घटमानेऽर्थे अठच्-प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ६— घटते = चेष्टते = व्याप्रियते । ७—प्रथमान्तेभ्यस्तारकादिभ्यः तदस्य सञ्जातमित्यर्थे इतच्-प्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

२००७—क्रिया विशिष्ट साधन वाचक अव शब्द से स्वार्थ में कुटारच् प्रत्यय होता है, च से कटच् भी होगा ।

२००८—नासिका के नमन अर्थ में अव शब्द से टीटच्, नाटच् और भ्रटच् प्रत्यय होता है ।

२००९—उप और अधि शब्द से क्रमशः आसन्न = समीप और आरूढ = उच्च अर्थ में त्यकन् प्रत्यय होता है ।

२०१०—सप्तम्यन्त कर्मन् शब्द से घटमान अर्थ में अठच् प्रत्यय होता है ।

२०११—प्रथमान्त तारकादि शब्दों से 'अस्य सञ्जातम्' इस अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है ।

तारकाः सञ्जाता अस्य = तारकितं नभः। पण्डितः[1]। आकृतिगणोऽयम्।

२०१२ प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः[2] ५।२।३७॥

ऊरू प्रमाणमस्य[3] = ऊरुद्वयसम्, ऊरुमात्रम्।

'प्रथमश्च[4] द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम।
ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः॥

२०१३ पुरुषहस्तिभ्यामण्[5] च ५।२।३८॥

पुरुषः प्रमाणमस्य = पौरुषम्, पुरुषद्वयसम्। हस्तिद्वयसम्।

२०१४ यत्तदेतेभ्यः परिमाणे[6] वतुप् ५।२।३९॥

१—सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा, सा सञ्जाता अस्येति = **पण्डितः**। २—प्रथमान्तादस्य प्रमाणमित्यर्थे द्वयसच्–दघ्नच् मात्रच् इति त्रयः प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। ३—ऊर्ध्वमानरूपं परिमाणमित्यर्थः। ४—विशेषं दर्शयितुमाह–**प्रथमश्चेति**, प्रथमः = द्वयसच्-प्रत्ययः, द्वितीयश्च = दघ्नच्–प्रत्ययश्चेति द्वौ प्रत्ययौ ऊर्ध्वमाने मतौ। तत्र किम् ऊर्ध्वमानमित्याह–ऊर्ध्वमानं किल उन्मानम् = ऊर्ध्वप्रमाणमित्यर्थः। सर्वतः प्रमाणं तु परिमाणम् उच्यते। आयामः = दैर्घ्यं तु प्रमाणम् उच्यते। सङ्ख्या तु सर्वपरिमाणेभ्यो बाह्या बोध्या, इत्यर्थः। सूत्रे प्रमाणशब्दस्तु परिच्छेदकमात्रपर इति ध्येयम्। ५—पुरुष-हस्तिशब्दाभ्यां प्रथमान्ताभ्यां तदस्य प्रमाणमित्यर्थे-अण् स्यात्, चात्-द्वयसजादयोऽपि। अणि **पौरुषम्, हास्तिनम्**, हस्ती प्रमाणमस्येति विग्रहः, 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः। ६—अस्य परिमाणमित्यर्थे परिमाणवाचिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः यद्-तद्-एतद्-इत्येतेभ्यः

२०१२—प्रथमान्त से 'अस्य प्रमाणम्' अर्थ में द्वयसच् दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय होता है।

प्रथमश्चेति—द्वयसच् और दघ्नच् ये दोनो प्रत्यय ऊर्ध्वमान में होते हैं, ऊपर की ओर मिनति को ऊर्ध्वमान कहते हैं। चारो ओर की मिनति को परिमाण कहते हैं। आयाम = दीर्घता (लम्बाई) को प्रमाण कहते हैं। किन्तु संख्या सब परिमाणों से बाहिर है = पृथक् है।

२०१३—प्रथमान्त पुरुष और हस्तिन् शब्द से 'अस्य परिमाणम्' अर्थ में अण् प्रत्यय भी होता है (पक्ष में द्वयसच् आदि भी होंगे)।

२०१४—प्रथमान्त यत् तत् और एतत् शब्द से परिमाण अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है।

यत्परिमाणमस्य—यावान् । तावान् । एतावान् ।

२०१५ किमिदंभ्यां[1] वो घः ५ । २ । ४० ॥

आभ्यां वतुब्वस्य च घः ।

२०१६ इदंकिमोरीश्[2]-की ६ । ३ । ९० ॥

दृग्दृशवतुषु । कियान्[3] । इयान् ।

२०१७ किमः संख्यापरिमाणे डति च ५ । २ । ४१ ॥

चाद्वतुप् तस्य च घः । का संख्या येषां ते—कति, कियन्तः ।

२०१८ संख्याया[6] अवयवे तयप् ५ । २ । ४२ ॥

वतुप् स्यादित्यर्थः । यावान्, वतुप्, उपाविते 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वम्, सौ-अत्वसन्तस्येति-उपधादीर्घे उगिदचामिति नुमि, संयोगान्तत्वेन तकारस्य लोपः । एवं-'तावान्' 'एतावान्' ।

१—प्रथमान्ताभ्यां किमिदम्-शब्दाभ्यामस्य परिमाणमित्यर्थे, वतुप्, वतुपो वस्य च घादेशः स्यादित्यर्थः । २—दृग्दृशवतुषु-इदम ईश्, किमः की स्यादित्यर्थः । ३—कियान्, किम्परिमाणमस्येति विग्रहः । वतुप्प्रत्यये वस्य घकारे घस्य 'इय्' आदेशे, किम + इयत् इति स्थिते किमः की -भात्र "यस्येति च" इतीकारलोपे—सौ विभक्तौ 'अत्वसन्तस्ये' ति दीर्घे 'उगिदचा' मिति नुमि रूपम् । इदम्परिमाणमस्य-'इयान' । अत्र सर्वस्य इदम ईशादेशे ईकारलोपे च "इयम" इति प्रत्ययमात्रमेवावशिष्यते सौ नुमादि पूर्ववत् । ४—का सङ्ख्यैषामित्येवं सङ्ख्यापरिच्छेदविषयकप्रश्ने विद्यमानात् किम्-शब्दात्प्रथमान्तात् डतिप्रत्ययाद् वतुप् च स्यात् । ५—"षड्भ्यो लुक्" इति जश्शसोर्लुक् । न द्व्येकयोः प्रश्नोऽस्तीति भाष्याद् नित्यबहुवचनान्तोऽयं = कतिशब्दः । ६—द्वित्र्यादिसङ्ख्याकाव-

२०१५—प्रथमान्त किम् और इदम् शब्द से परिमाण अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है उसके 'व' को 'घ' आदेश होता है ।

२०१६—दृग् दृश् और वतु परे रहने इदम् को ईश् और किम् को 'की' आदेश होता है ।

२०१७—प्रथमान्त किम् शब्द से संख्या विषयक प्रश्न में विद्यमान हो तो डति प्रत्यय होता है, वतुप् भी होता है ।

२०१८—प्रथमान्त अवयवार्थक संख्यावाचक शब्दों से अस्यावयविन इत्यर्थे 'तयप्' प्रत्यय होता है ।

पञ्च अवयवा अस्य-पञ्चतयम् ।

२०१९ द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ५ । २ । ४३ ॥

द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् ।

२०२० उभादुदात्तो नित्यम् ५ । २ । ४४ ॥

उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात् स चाद्युदात्तः । उभयम् ।

इति भवनाद्यर्थकाः ।

अथ मत्वर्थीयाः ।

२०२१ तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ५ । २ । ४५ ॥

एकादश अधिका अस्मिन्नेकादशम । (शतसहस्रयोरेवेष्यते) । नेह एकादशाऽधिका अस्यां विंशत्याम् । 'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समानजातीयत्व एवे-

---

यवा अस्यावयविन इति विग्रहे, अवयवीभूतसङ्ख्यावाचिनः प्रथमान्ताद् अस्याऽवयविन इत्यर्थे तयप् स्यादित्यर्थः । **पञ्चतयम्** = पञ्चावयवकः समुदाय इत्यर्थः ।

१—द्वित्रिभ्यां परस्य तयपोऽयच्-वा स्यादित्यर्थः । द्वौ अवयवौ अस्येति=**द्वयम्** । तयपोऽयचि यस्येति चेतीकारलोपः । पक्षे = **द्वितयम्** । एवम्—त्रयोऽवयवा यस्य= **त्रयम्**, **त्रितयम्** । २—उभौ अवयवौ अस्य = **उभयम्**, तयपोऽयचि अकारलोपः । ॥ इति भवनाद्यर्थकाः ॥

अथ मत्वर्थीयाः ।

३—तदधिकमस्मिन्निति विग्रहे प्रथमान्ताद् दशन्शब्दात् समासान्तादस्मिन्नित्यर्थे डः स्यादित्यर्थः । **एकादशम्**, डित्त्वाट्टिलोपः, एकादशाधिकं शतं सहस्रं वा । ४—शते सहस्रे एव विशेष्येऽयं डः प्रत्यय इष्यत इत्यर्थः । तेन विंशत्यां विशेष्यायां न ।

२०१९—द्वि और त्रि शब्द से परे तयप् को अयच् विकल्प करके होता है ।

२०२०—उभ शब्द से तयप् को अयच् नित्य होता है और यह उदात्त रहता है । ॥ इति भवनाद्यर्थकाः ॥

अथ मत्वर्थीयाः

२०२१—प्रथमान्त समासान्त दशन् शब्द से 'अस्मिन् अधिकम्' अर्थ में ड प्रत्यय होता है । (शत और सहस्रवाच्य रहते ही होता है) ।

ष्यते' । नेह एकादश माषा अधिका अस्मिन् सुवर्णशते ।

२०२२ शदन्तविंशतेश्च ५ । २ । ४६ ॥

डः स्यादुक्तेऽर्थे । त्रिशदधिका अस्मिन्–त्रिशम्[2] । विशम् ।

२०२३ तस्य[3] पूरणे डट् ५ । २ । ४८ ॥

संख्याया इत्येव । एकादशानां पूरणः = एकादशः ।

२०२४ नान्तादसंख्यादेर्मट् ५ । २ । ४९ ॥

डटो मडागमः पञ्चानां पूरणः–पञ्चमः । नान्तात्किम्–त्रिंशः । असंख्यादेः किम्—एकादशः ।

२०२५ षट्–कति–कतिपय–चतुरां थुक् ५ । २ । ५१ ॥

डटि । षण्णां पूरणः = षष्ठः । कतिथः । कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकात् डट् । कतिपयथः । चतुर्थः । (चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च) । तुरीयः, तुर्यः ।

१—डप्रत्यय इति शेषः । २—त्रिंशम त्रिंशदधिकं शतमित्यर्थः, विंशतिरधिकाऽस्मिन्निति = विंशम् '१५३६ ति विंशतेर्डिति' इति तिलोपः । विंशत्यधिकं शतमित्यर्थः । ३—सङ्ख्येयार्थकसङ्ख्यावाचिनः षष्ठ्यन्तात् प्रवृत्ति-निमित्तसङ्ख्यायाः पूरणे वाच्ये डट् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । डटः टित्वात्स्त्रियाम् एकादशी । ४—पञ्चमः, पञ्चन् शब्दात् डटि तस्य मडागमे नलोपे रूपम् । ५—डटि परतः—एषां थुगागमः स्यादित्यर्थः । ६—षष्शब्दात् डटि थुगागमे 'ष्टुना ष्टु' रिति थस्य ठकारः षष्ठः । ७—चतुर्शब्दात् षष्ठयन्तात्पूरणे छयतौ स्तः, आद्यक्षरलोपश्चेत्यर्थः । तुरीयः, छस्य इयादेशे चलोपः । यत्प्रत्यये तुर्यः ।

२०२२—प्रथमान्त शदन्त और विंशति शब्द से 'ड' प्रत्यय होता है 'अस्मिन्नधिकम्' अर्थ में ।

२०२३—संख्येयार्थक संख्यावाची षष्ठ्यन्त शब्द से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय होता है ।

२०२४—असंख्यादि नान्त सख्यावाची से विद्यमान डट् को मट् आगम होता है ।

२०२५—इन शब्दों को डट् परे रहते थुक् आगम होता है । (षष्ठ्यन्त चतुर् शब्द से पूरण अर्थ में छ और यत् प्रत्यय होते हैं और आदि अक्षर का लोप होता है)

२०२६ बहु-पूग-गण-सङ्घस्य तिथुक् ५ । २ । ५२ ॥

डटि । बहुतिथः ।

२०२७ वतोरिथुक्[२] ५ । २ । ५३ ॥

डटि । यावतिथः ।

२०२८ द्वेस्तीयः[३] ५ । २ । ५४ ॥

डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणो = द्वितीयः ।

२०२९ त्रेः संप्रसारणं च ५ । २ । ५५ ॥

तृतीयः । इह 'हलः'[५] इति दीर्घो न । तृतीयेति निर्देशात् ।

२०३० विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्[६] ५ । २ । ५६ ॥

डटः, विंशतितमः, विंशः । एकविंशतितमः, एकविंशः ।

२०३१ नित्यं शतादिमासार्धमास-संवत्सराच्च[७] ५ । २ । ५७ ॥

१—बहु-पूग-गण-सङ्घ-एषां डटि तिथुगागमः स्यादित्यर्थः । बहूनां पूरणो =बहुतिथः । २—वतुबन्तस्य इथुगागमः स्याड्डटि इत्यर्थः । यावतां पूरणो = यावतिथः । ३—षष्ठ्यन्ताद् द्विशब्दात्पूरणे तीयप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ४—त्रिशब्दात् तीय-प्रत्ययः स्यात्प्रकृतेः सम्प्रसारणञ्चेत्यर्थः, त्रयाणां पूरणः=तृतीयः । तीयप्रत्यये रेफस्य सम्प्रसारणम् ऋकारः । ५—'हलः' इति सूत्रेण 'तृतीय' इत्यत्र सम्प्रसारणस्य दीर्घो नेत्यर्थः । दीर्घाभावे प्रमाणं "विभाषा तृतीयादिभ्यचि" इति सूत्रे तृतीयेति-ग्रहणम् । ६—विंशत्यादिभ्यो डटस्तमडागमो वा स्यादित्यर्थः । ७—शतादिभ्यो मासादर्धमासात्संवत्सराच्च नित्यं तमडादेशः स्यादित्यर्थः ।

२०२५—बहु, पूग, और सङ्घ शब्द को डट् परे रहते तिथुक् आगम होता है ।

२०२७—वतुप् प्रत्ययान्त को डट् परे रहते इथुक् आगम होता है ।

२२२८—षष्ठ्यन्त द्विशब्द से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है ।

२०२९—त्रि शब्द से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है, और त्रि को सम्प्रसारण होता है ।

२०३०—विंशति आदि शब्दों से डट् को तमट् आगम होता है विकल्प करके ।

२०३१—शत आदि शब्दों से और मास, अर्ध मास, संवत्सर शब्द से पूरण अर्थ में डट् को तमट् आगम होता है ।

शतस्य पूरणः = शततमः । मासादेरत एव ज्ञापकात् । डट् । मासतमः ।

२०३२ षष्ठ्यादेश्चासंख्यादेः ५ । २ । ५८ ॥

षष्टितमः । संख्यादेस्तु विंशत्यादिभ्य इति विकल्प एव । एकषष्टः एकषष्टितमः ।

२०३३ मतौ च्छः सूक्तसाम्नोः ५ । २ । ५९ ॥

मत्वर्थे । अच्छावाक-शब्दोऽस्त्यस्मिन्नच्छावाकीयं = सूक्तम् । वारवन्तीयं = साम ।

२०३४ श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ५ । २ । ८४ ॥

श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेः छान्दसः ।

२०३५ श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ५ । २ । ८५ ॥

श्राद्धी, श्राद्धिकः ।

२०३६ पूर्वादिनिः ५ । २ । ८६ ॥

१—अन्यथा = डटोऽभावे कथं तमडादेशविधानं स्यात् । मासस्य पूरणो = **मासतमः** । अर्धमासस्य पूरणोऽर्धमासतमः । २— असंख्यापूर्वपदात् षष्ठ्यादेः परस्य डटो नित्यं तमडागमः स्यादित्यर्थः । ३—मतुशब्दो मत्वर्थे लाक्षणिकः, तथैवाह—**मत्वर्थे छः सूक्ते साम्नि च वाच्ये** । अच्छावाकशब्दात् छप्रत्यये रूपम् अच्छा-**वाकीयम्** । वारवन्तशब्दो विद्यतेऽस्मिन्निति=**वारवन्तीयं** = साम । ४—छन्दोऽधीते इति वाक्यार्थे—श्रोत्रियन् इति पदं निपात्यते इति भाष्यम् । द्वितीयान्ताच्छन्दश्शब्दादधीते इत्यर्थे घन् प्रकृतेः श्रोत्रादेशश्चेति सूत्रार्थः । घस्य 'इय्' । अध्येत्रणोऽपवादोऽयं घन् । अत्र 'वा' इत्यनुवर्त्तते, तेन पक्षे छन्दोऽधीते-**छान्दसः**, इत्यणपि । ५—श्राद्धं भुक्तमनेनेति प्रथमान्ताद् श्राद्धशब्दादिनि-ठनौ स्तः । श्राद्धशब्दः श्राद्धसाधनद्रव्ये लाक्षणिकः । ६—पूर्वशब्दात् कृतमने-

---

२०३२—असंख्यादि षष्टि आदि शब्दों से डट् को तमट् आगम नित्य होता है ।

२०३३—मत्वर्थ में छ प्रत्यय होता है सूक्त और साम वाच्य रहते ।

२०३४—द्वितीयान्त 'छन्दस्' शब्द से अधीते अर्थ में घन् प्रत्यय होता है और छन्दस् को श्रोत्र आदेश होता है ।

२०३५—प्रथमान्त श्राद्ध शब्द से 'अनेन भुक्तम्' अर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं ।

२०३६—पूर्व शब्द से 'कृतमनेन' अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

पूर्वं कृतमनेन = पूर्वी।

२०३७ सपूर्वाच्च[1] ५। २। ८७॥

कृतपूर्वी।

२०३८ इष्टादिभ्यश्च[2] ५। २। ८८॥

इष्टमनेन। इष्टी। अधीती।

२०३९ अनुपद्यन्वेष्टा[3] ५। २। ९०॥

अनुपदमन्वेष्टा=अनुपदी गवाम्।

२०४० साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्[4] ५। २। ९१॥

साक्षाद् द्रष्टा = साक्षी।

२०४१ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्[5] ५। २। ९४॥

गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति—गोमान्।

नेत्यर्थे इनि—प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

१—विद्यमानपूर्वात् पूर्वशब्दात्कृतमनेनेत्यर्थे इनिः स्यादित्यर्थः, कृतं पूर्वमनेनेति = कृतपूर्वी। २—प्रथमान्तेभ्य इष्टादिभ्योऽनेनेत्यर्थं इनिप्रत्ययः। इष्टमनेनेति = इष्टी, अधीतमनेनेति = अधीती। ३—अन्वेष्टर्यर्थे इनिप्रत्ययान्तोऽनुपदी इति निपात्यते। ४—'साक्षात्' इत्यव्ययात् द्रष्टर्यर्थे इनिः स्यात् सञ्ज्ञायाम्। क्रियमाणं कर्म यः पश्यति स साक्षी इत्युच्यते। 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः। ५—तदस्यास्तीति तदस्मिन्नस्तीति च विग्रहेऽस्तिसमानाधिकरणात् प्रथमान्तादस्याऽस्मिन्निति चार्थे मतुप् स्यादित्यर्थः। उपान्तितौ। इतिशब्दो विषयविशेषलाभार्थः, तदुक्तं श्लोकवार्तिके—

२०३७—सपूर्व पूर्व शब्द से भी इनि प्रत्यय होता है।

२०३८—प्रथमान्त इष्ट आदि शब्दों से 'अनेन' अर्थ में इनि प्रत्यय होता है।

२०३९—अन्वेष्टा (अन्वेषणकर्ता) अर्थ में अनुपद शब्द से इनि प्रत्यय निपातित है।

२०४०—द्रष्टा अर्थ में 'साक्षात्' शब्द से इनि प्रत्यय होता है संज्ञा वाच्य रहते।

२०४१—प्रथमान्त से 'अस्य' और 'अस्मिन्' अर्थ में मतुप् प्रत्यय होता है।

२०४२ तसौ मत्वर्थे १ । ४ । १९ ॥

तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। संप्रसारणम्। विदुष्मान्[1]। (गुणवचनेभ्यो[2] मतुपो लुगिष्टः) शुक्लो गुणोऽस्यास्ति = शुक्लः[3] पटः। कृष्णः।

२०४३ प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्[4] ५ । २ । ९६ ॥

चूडालः, चूडावान्। प्राणिस्थात्किम्—शिखावान्दीपः। (प्राण्यङ्गादेव)। नेह—मेधावान्[5]।

२०४४ सिध्मादिभ्यश्च ५ । २ । ९७ ॥

लज्वा[6]। सिध्मलः, सिध्मवान्। (वात–दन्त–बल–ललाटानामूङ् च[7]) वातूलः। दन्तूलः। बलूलः। ललाटूलः।

भूम–निन्दा–प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति–विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

भूमा = बहुत्वम्—यथा—गोमान्, यवमान्। निन्दायाम्—ककुदावर्तिनी कन्या। प्रशंसायाम्—रूपवान्। नित्ययोगे–क्षीरिणो वृक्षाः। अतिशायने—उदरिणी कन्या। संसर्गे–दण्डी, छत्री।

१—विद्वांसः सन्त्यस्मिन्निति = **विदुष्मान्** देशः। विद्वच्छब्दान्मतुपि भसञ्ज्ञायां "वसोः सम्प्रसारण" मिति सम्प्रसारणम्। २—गुणवाचकेभ्यो मतुप्प्रत्ययस्य लुग् भवतीत्यर्थः। ३—**शुक्लः** पटः, शुक्लगुणवानित्यर्थः। एवं कृष्णः कृष्णवानित्यर्थः। ४—अदन्तात्प्राणिस्थवाचिनः शब्दात्मत्वर्थे 'लच्' वा स्यादित्यर्थः। चूडाऽस्यास्तीति = **चूडालः**, पक्षे मतुपि = **चूडावान्**। 'मादुपधायाः' इति मस्य वः। ५—मेधा नहि प्राण्यङ्गम्। तस्मान्न लच्। ६—मत्वर्थे इति शेषः। ७—एभ्यो लच्प्रत्ययोऽन्तस्य ऊङादेशश्च। वातोऽस्यास्तीति = **वातूलः**। एवं दन्ता अस्य सन्तीति = **दन्तूल** इत्यादि।

२०४२—तकारान्त और सकारान्त की भ संज्ञा होती है मत्वर्थ प्रत्यय परे रहते। (गुण वाचकों से मतुप् का लुक् होता है)।

२०४३—प्राणिस्थ वाचक आकारान्त शब्द से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय होता है विकल्प करके। (प्राण्यङ्ग से ही होता है)।

२०४४—सिध्मादि गण पठित शब्दो से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय विकल्प करके होता है। (वात, दन्त, बल और ललाट शब्द से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय और अन्त को ऊङ् आदेश होता है)।

२०४५ वत्सांसाभ्यां कामबले ५ । २ । ९८ ॥

लच्या यथासंख्यं कामवति बलवति चार्थे । वत्सलः । अंसलः ।

२०४६ फेनादिलच्च ५ । २ । ९९ ॥

चाल्लच् । अन्यतरस्यांग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थमनुवर्तते । फेनिलः, फेनलः, फेनवान् ।

२०४७ लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः ५ । २ । १०० ॥

लोमादिभ्यः शः लोमशः, लोमवान् । रोमशः, रोमवान् । पामादिभ्यो नः । पामनः । (अङ्गात्कल्याणे) अङ्गना । (लक्ष्म्या अच्च) लक्ष्मणः । पिच्छादिभ्य इलच्-पिच्छिलः, पिच्छवान् । उरसिलः, उरस्वान् ।

२०४८ प्रज्ञा श्रद्धार्चाभ्यो णः ५ । २ । १०१ ॥

प्राज्ञो—व्याकरणे । प्राज्ञा । श्राद्धः । आर्चः । (वृत्तेश्च) वार्त्तः ।

१—वत्सोऽस्याऽस्तीति वत्सलः=वत्सकामः । अंसौ अस्य स्त इति अंसलः= बलवान् । २–फेनोऽस्याऽस्तीति = फेनिलः । पक्षे लचि = फेनलः । ३–लोमान्यस्य सन्तीति = लोमशः । ४—पामाऽस्यास्तीति = पामनः, पदत्वान्नलोपः । ५— अङ्गान्यस्याः सन्तीति = अङ्गना = कल्याणाङ्गा । ६—लक्ष्मीशब्दान्मत्वर्थे नप्रत्ययोऽकारोऽन्तादेशश्च । लक्ष्मीरस्यास्तीति = लक्ष्मणः, नप्रत्यये प्रकृतेरकाराऽन्तादेशो णत्वम् । ७—पिच्छान्यस्य सन्तीति = पिच्छिलः । ८—प्रज्ञा–श्रद्धाऽर्चाशब्देभ्यो णः स्याद् मत्वर्थे । प्रज्ञाऽस्यास्तीति = प्राज्ञः । श्राद्धः = श्रद्धावान् । आर्चः = अर्चावान् । ९—वृत्तिशब्दान्मत्वर्थे णप्रत्ययः । वृत्तिरस्यास्तीति = वार्त्तः, आदिवृद्धिः ।

२०४५—वत्स और अंस शब्द से मत्वर्थ में लच् होता है कामवान् और बलवान् अर्थ गम्य रहते ।

२०४६—फेन शब्द से मत्वर्थ में इलच होता है, (लच् भी) ।

२०४७—लोमादि शब्दों से मत्वर्थ में 'श' प्रत्यय होता है विकल्प करके । एवं पामादि शब्दों से 'न' प्रत्यय होता है । और पिच्छादि शब्दों से इलच् प्रत्यय होता है । (अङ्ग से कल्याण अर्थ में 'न' प्रत्यय होता है) । (लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में 'न' प्रत्यय होता है और अकार अन्तादेश होता है) ।

२०४८—प्रज्ञा श्रद्धा और अर्चा शब्द से मत्वर्थ में 'ण' प्रत्यय होता है । (वृत्ति शब्द से भी 'ण' प्रत्यय होता है) ।

२०४९ तपः-सहस्राभ्यां विनीनी ५ । २ । १०२ ॥[1]

विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थः[2] । तपस्वी । सहस्री ।

२०५० अण् च[3] ५ । २ । १०३ ॥

तापसः । साहस्रः । (ज्योत्स्नादिभ्य[4] उपसंख्यानम्) ज्यौत्स्नः । तामिस्रः ।

२०५१ सिकता-शर्कराभ्यां च[5] ५ । २ । १०४ ॥

सैकतो घटः । शार्करः ।

२०५२ देशे लुबिलचौ[6] च ५ । २ । १०५ ॥

चादण् मतुप् च । सिकताः सन्त्यस्मिन्देशे—सिकता, सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान् । एवं शर्करेत्यादि ।

२०५३ दन्त[7] उन्नत उरच् ५ । २ । १०६ ॥

उन्नता दन्ता अस्य-दन्तुरः ।

१—तपःसहस्रशब्दाभ्यां क्रमशो मत्वर्थे विनिप्रत्यय इनिप्रत्ययश्च भवति इत्यर्थः । २—अन्यथा 'हलन्त्य' मिति नकारस्येत्सञ्ज्ञालोपौ स्याताम् । तपोऽस्यास्तीति = **तपस्वी**, विनिप्रत्ययः । सहस्रमस्यास्तीति = **सहस्री**, इनिप्रत्यः । ३—तपःसहस्राभ्यां मत्वर्थे इति शेषः । ४—अण् इति शेषः । ज्योत्स्नाऽस्यास्तीति = **ज्यौत्स्नः** = शुक्लपक्षः । तमिस्रमस्यास्तीति = **तामिस्रः** = कृष्णपक्षः । तमःसमूहस्तमिस्रम् । ज्योत्स्नातमिस्रेति निपातनाद् रः । ५—मत्वर्थे अण् इति शेषः । सिकता अस्मिन् सन्ति इति = **सैकतः**, एवम्—**शार्करः** । ६—पूर्वसूत्रविहितस्याणो लुप् इलच् च स्यादित्यर्थः । लुपि = **सिकता** इति रूपम् । ७—दन्तशब्दान्मत्वर्थे उरच् स्याद् दन्तानामौन्नत्ये ।

२०४९—तपः शब्द से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है और सहस्र शब्द से इनि प्रत्यय होता है ।

२०५०—तपस् और सहस्र शब्द से मत्वर्थ में अण् प्रत्यय भी होता है । (ज्योत्स्ना आदि शब्दों से भी मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होता है) ।

२०५१—सिकता और शर्करा शब्द से मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

२०५२—सिकता और शर्करा शब्द से पूर्व विहित अण् का लुप् होता है, पक्ष में इलच् होता है । (चात्—पक्षे अण् और मतुप् भी होंगे) ।

२०५३—दन्त शब्द से मत्वर्थ में 'उरच्' प्रत्यय होता है दन्तौन्नत्य गम्य रहते ।

२०५४ ऊष-सुषि-मुष्क-मधो रः ५ । २ । १०७॥[1]

ऊषरः । मुष्कोऽण्डः । मुष्करः । (रप्रकरणे ख-मुख-कुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्) खरः[2] । मुखरः । कुञ्जो = हस्तिहनुः, कुञ्जरः । (नग-पांसु-पाण्डुभ्यश्च[3]) नगरम् । पांसुरः । पाण्डुरः । (कच्छ्वा[4] ह्रस्वत्वं च) कच्छुरः ।

२०५५ द्यु-द्रुभ्यां[5] म. ५ । २ । १०८॥

द्युमः । द्रुमः ।

२०५६ केशाद्वो[6]ऽन्यतरस्याम् ५ । २ । १०६ ॥

प्रकृतेनान्यतरस्यांग्रहणेन मतुपि सिद्धे पुनर्ग्रहणं इनि-ठनोः समावेशार्थम् । केशवः, केशी, केशिकः, केशवान् । ('अन्येभ्योऽपि[7] दृश्यते') । मणिवो = नागविशेषः । हिरण्यवो = निधिविशेषः । (अर्णसो[8] लोपश्च) अर्णवः ।

१—एभ्यो मत्वर्थे रप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ऊषः = क्षारमृत्तिकाविशेषोऽस्यास्तीति = **ऊषरः** । सुषिरस्यास्ती = सुषिरः । सुषिः = बिलम् । मुष्कः = अण्डकोशोऽस्यास्तीति = **मुष्करः** । मधु = माधुर्य्यमस्यास्तीति = **मधुरः** । २—खं = मुखबिलमस्यास्तीति खरः = गर्दभः । मुखरः=शब्दवान् । कुञ्जरः = हस्ती । ३—रप्रत्यय इति शेषः । नगाः = प्रासादा अत्र सन्ति इति = **नगरम्** । पांसुः = दोषः सोऽस्यास्तीति = **पांसुरः** । पाण्डुः = शुक्लवर्णः सोऽस्यास्तीति = **पाण्डुरः** । ४—कच्छूशब्दाद् रप्रत्ययः प्रकृतेर्ह्रस्वश्चान्तादेश इत्यर्थः । कच्छूः=शुनां त्वग्रोगः। ५—दिव्शब्दाद् द्रुशब्दाच्च मत्वर्थे मप्रत्ययः । द्युमः, द्रुमः, रूढशब्दावेतौ । ६—केशशब्दान्मत्वर्थे वप्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः । केशाः सन्त्यस्मिन्निति = **केशवः**, इनिप्रत्यये—केशी, ठनि—केशिकः, मतुपि—केशवान् । ७—वप्रत्ययः इति शेषः । मणयः सन्त्यस्येति=**मणिवः** । हिरण्यमस्यास्तीति = **हिरण्यवः** । ८—**अर्णस्** इत्यस्माद् वप्रत्ययोऽन्तलोपश्चेत्यर्थः । अर्णांसि = जलानि सन्त्यत्रेति=**अर्णवः** ।

२०५४—ऊष, सुषि, मुष्क और मधु शब्द से मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है । (ख, मुख और कुञ्ज शब्द से मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है) । (नग, पांसु और पाण्डु शब्द से भी मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है) । (कच्छू शब्द से 'र' प्रत्यय होता है और अन्त को ह्रस्व होता है) । (कुत्तों को जो त्वचा रोग होता है उसे कच्छू कहते हैं) ।

२०५५—दिव् और द्रु शब्द से मत्वर्थ में 'म' प्रत्यय होता है ।

२०५६—केश शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है विकल्प करके । (अन्य शब्दों से भी मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है और सकार का लोप होता है ।

२०५७ गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् ५ । २ । ११० ॥

ह्रस्वदीर्घयोर्यणा तन्त्रेण निर्देशः । गाण्डीवम्, गाण्डिवम् = अर्जुनस्य धनुः । अजगवं = पिनाकः ।

२०५८ काण्डाण्डादीरन्नीरचौ ५ । २ । १११ ॥

काण्डीरः । आण्डीरः ।

२०५९ रजः-कृष्यासुति-परिषदो वलच् ५ । २ । ११२ ॥

रजस्वला = स्त्री । कृषीवलः । 'वले' इति दीर्घः । आसुतीवलः = शौण्डिकः । परिषद्वलः । पर्षदिति पाठान्तरम् । पर्षद्वलः । (अन्येभ्योऽपि दृश्यते) । भ्रातृवलः । पुत्रवलः । शत्रुवलः ।

२०६० दन्त-शिखात्संज्ञायाम् ५ । २ । ११३ ॥

१—गाण्डिशब्दाद् गाण्डीशब्दाद् अजगशब्दाच्च मत्वर्थे वप्रत्ययः स्यात् सञ्ज्ञायाम् । २—गाण्डिशब्दस्य गाण्डीशब्दस्य च कृतयणोर्गाण्ड्य इति युगपन्निर्देशः । ३—शिवधनुरित्यर्थः । ४—काण्ड-आण्डशब्दाभ्याम् ईरन्-ईरच्प्रत्ययौ स्तो मत्वर्थे । ५—एभ्यो वलच् स्यान्मत्वर्थ-इत्यर्थः । रजोऽस्या अस्तीति=**रजस्वला,** कृषिरस्यास्तीति=**कृषीवलः** । ६—वलच् इति शेषः । भ्राताऽस्यास्तीति-**भ्रातृवल** 'दूलोपो...' इत्यतोऽण् इत्यनुवृत्तेः 'वले' इति न दीर्घः । पुत्रोऽस्यास्तीति = **पुत्रवलः** । शत्रुरस्यास्तीति = **शत्रुवलः** । 'वले' इत्यत्र सञ्ज्ञायामित्यनुवृत्तेर्नेह दीर्घः । ७—दन्तशब्दात् शिखाशब्दाच्च वलच् प्रत्ययः स्यात् सञ्ज्ञायां मत्वर्थे । दन्ता अस्य सन्तीति = **दन्तावल** = हस्ती । शिखाऽस्यास्तीति-**शिखावलः**=मयूरः । 'वले' इति दीर्घः ।

२०५७—गाण्डी शब्द से तथा ह्रस्व घटित गाण्डि शब्द से और अजग शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है संज्ञा गम्य रहते ।

२०५८—काण्ड और आण्ड शब्द से मत्वर्थ में ईरन् और ईरच् प्रत्यय होते हैं ।

२०५९—रजस् कृषि आसुति और परिषद् शब्द से मत्वर्थ में वलच् प्रत्यय होता है । (इनके अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी मत्वर्थ में वलच् होता है) ।

२०६०—दन्त शब्द से और शिखा शब्द से मत्वर्थ में वलच् होता है संज्ञा गम्य रहते ।

दन्तावलो = हस्ती। शिखावलः = केकी।

२०६१ अत इनि-ठनौ ५। २। ११५॥[1]

दण्डी, दण्डिकः।

२०६२ व्रीह्यादिभ्यश्च ५। २। ११६॥[2]

व्रीही, व्रीहिकः।

२०६३ तुन्दादिभ्य इलच्च ५। २। ११७॥[3]

चादिनिठनौ मतुप् च। तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान्। उदर, पिचण्ड, यव, व्रीहि इति तुन्दादिः।

२०६३ रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ५। २। १२०॥[4]

आहतं रूपमस्यास्तीति रूप्यः = कार्षापणः। प्रशस्तं रूपमस्यास्तीति रूप्यो = गौः। (अन्येभ्योऽपि दृश्यते)। हिम्याः—पार्वताः[5]। गुण्याः—ब्राह्मणाः।

२०६५ अस्मायामेधास्रजो विनिः ५। २। १२१॥[6]

यशस्वी, यशस्वान्। मायावी, मायावान्। व्रीह्यादिपाठान्मायी[7], मायिकः।

१—अदन्तान्मत्वर्थे इनि–ठनौ स्तः। दण्डोऽस्यास्तीति=दण्डी, इनिप्रत्ययः। ठन्प्रत्यये ठस्येकः, दण्डिकः। २—इनि–ठनौ मत्वर्थ–इति शेषः। ३—मतुबर्थे–इति शेषः। तुन्दम्=वृद्धा नाभिरस्यास्तीति=तुन्दिलः। ४—आहते प्रशंसायाञ्च गम्ये मतुबर्थे रूपशब्दाद् यप्। ५—आहतं हिमम् एषु इति = हिम्याः = पर्वताः। गुणाः सन्त्येषु इति = गुण्याः। ६—अस् = असन्तात् माया–मेधा–स्रज्–शब्देभ्यश्च विनिः स्यान्मतुबर्थे। अन्यतरस्यांग्रहणमिह सम्बध्यते 'यशस्वान्' इति भाष्योदाहरणात्। यशोऽस्यास्तीति "यशस्वी", यशस्वान् इति मतुप्, "तसौ मत्वर्थे" इति भत्वात्पदत्वाभावेन रुत्वञ्च। ७—इनि–ठनाविति शेषः।

२०६१—अदन्त शब्द से मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं।

२०६२—व्रीहि आदि शब्दों से मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं।

२०६३—तुन्दादि गणपठित शब्दों से मत्वर्थ में इलच् प्रत्यय होता है, इनि ठन् और मतुप् भी होते हैं।

२०६४—आहत और प्रशंसा गम्य रहते रूप शब्द से मत्वर्थ में यप् प्रत्यय होता है। (अन्य शब्दों से भी यप् प्रत्यय होता है)।

२०६५—असन्त शब्दों से तथा माया मेधा और स्रज् शब्दों से मत्वर्थ में

स्रग्वी । (शृङ्ग-वृन्दाभ्यामारकन्)[2] । शृङ्गारकः । वृन्दारकः । (फल-बर्हाभ्यामिनच्)[3] फलिनः । बर्हिणः । (हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्)[4] हृदयालुः, हृदयी, हृदयिकः, हृदयवान् (शीतोष्ण-तृप्रेभ्यस्तदसहने)[5] शीतं न सहते = शीतालुः । उष्णालुः । तृप्रः = पुरोडाशस्तन्न सहते = तृप्रालुः । (तप्पर्व-मरुद्भ्याम्)[6] पर्वतः । मरुत्तः ।

२०६६ ऊर्णाया युस् ५ । २ । १२३ ॥

ऊर्णायुः ।

२०६७ वाचो ग्मिनिः[8] ५ । २ । १२४ ॥

वाग्मी ।

२०६८ आलजाटचौ बहुभाषिणि[9] ५ । २ । १२५ ॥

(कुत्सित इति वक्तव्यम्) । कुत्सितं बहु भाषते = वाचालः, वाचाटः । यस्तु

१—स्रजोऽस्य सन्तीति—स्रग्वी । क्विन्नन्तत्वात् कुत्वम् । २—मतुबर्थे इति शेषः ।३—आभ्यां मतुबर्थे इनच् स्यात् । फलान्यस्य सन्तीति = फलिनो = वृक्षः । बर्हा अस्य सन्ति = बर्हिणः = मयूरः । ४—हृदयशब्दान्मतुबर्थे आलुप्रत्ययो वा स्यात्पक्षे मतुप्, चकारादिनिठनौ । हृदयमस्यास्तीति = हृदयालुः । ५—शीत-उष्ण-तृप्रशब्देभ्यो न सहते इत्यर्थे आलुप्रत्ययः स्यात् । ६—पर्व-मरुत् शब्दाभ्यां तप् प्रत्ययः स्यान्मत्वर्थे । पर्वाणि सन्त्यस्येति = पर्वतः । मरुतः सन्त्यस्य (आराध्याः) इति = मरुत्तो = नाम राजा । ७—मत्वर्थे इति शेषः । ऊर्णा अस्यास्येति = ऊर्णायुः । ८—मत्वर्थे इति शेषः । वाचः सन्त्यस्येति = वाग्मी । ९—वाक्शब्दाद् आलच्, आटच्, च बहुभाषित्वे गम्ये ।

विनि प्रत्यय होता है । (शृङ्ग और वृन्दारक शब्द से मत्वर्थ में आरकन् प्रत्यय होता है) । (फल और बर्ह शब्द से मत्वर्थ में इनच् प्रत्यय होता है) । (हृदय शब्द से मत्वर्थ में आलु प्रत्यय होता है विकल्प से, पक्ष में इनि, ठन्, मतुप् भी होंगे) ।

(शीत उष्ण और तृप्र शब्द से असहन अर्थ में आलु प्रत्यय होता है) । (पर्व और मरुत् शब्द से मत्वर्थ में तप् प्रत्यय होता है) ।

२०६६—ऊर्णा शब्द से मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होता है ।

२०६७—वाच् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि प्रत्यय होता है ।

२०६८—कुत्सित बहुभाषित्व गम्य रहते मत्वर्थ में वाच् शब्द से आलच् और आटच् प्रत्यय होते हैं ।

सम्यग्बहु वदति तत्र वाग्मीत्येव।

२०६९ स्वामिन्नैश्वर्ये ५।२।१२६॥

ऐश्वर्यवाचकात् स्वशब्दान्मत्वर्थे आमिनच् । स्वामी।

२०७० अर्शआदिभ्योऽच्[1] ५।२।१२७॥

अर्शांसि अस्य विद्यन्ते = अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्।

२०७१ वातातीसाराभ्यां कुक् च[2] ५।२।१२९॥

चादिनिः। वातकी। अतिसारकी। (पिशाचाच्च[3])। पिशाचकी।

२०७२ हस्ताज्जातौ ५।२।१३३॥

हस्ती।

२०७३ वर्णाद् ब्रह्मचारिणि[4][5] ५।२।१३४॥

वर्णी।

२०७४ कं-शंभ्यां ब-भ-युस्ति-तु-त-यसः[6] ५।२।१३८॥

१—मतुवर्थे इति शेषः। अर्शः = "बवासीर" इति प्रसिद्धो रोगः। २—वातातिसारशब्दाभ्याम् इनिप्रत्ययः कुगागमश्च। वातः = वातव्याधिरस्यास्तीति—वातकी। अतिसारोऽस्यास्तीति—अतिसारकी। ३—पिशाचशब्दाच्च इनिप्रत्ययः कुक् च स्यात्। पिशाचोऽस्यास्ति = पिशाचकी। ४—हस्ताद् मत्वर्थे इनिरेव समुदायेन जातौ गम्यायाम्। हस्ती = गजः। ५—वर्णशब्दान्मत्वर्थे इनिरेव ब्रह्मचारिणि गम्ये। वर्णी = ब्रह्मचारी। ६—कंशब्दात् शंशब्दाच्च ब-भ-युस्-ति-तु-त-यस्-एते सप्त प्रत्ययाः स्युर्मत्वर्थे। कम्बः, शम्बः, इत्याद्युदाहरणानि।

२०६९—ऐश्वर्य वाचक 'स्व' शब्द से मत्वर्थ में आमिनच् प्रत्यय होता है।

२०७०—अर्शस् गण पठित शब्दों से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय होता है।

२०७१—वात और अतिसार शब्द से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है और कुक् आगम होता है। (पिशाच शब्द से इनि प्रत्यय और कुक् आगम होता है)।

२०७२—जाति गम्य रहते हस्त शब्द से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है।

२०७३—वर्ण शब्द से ब्रह्मचारी गम्य रहते मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है।

२०७४—उदक और सुख वाचक 'कम्' शब्द से तथा सुख वाचक 'शम्' शब्द से मत्वर्थ में 'ब, भ, युस्, ति, तु, त और यस्' ये सात प्रत्यय होते हैं।

कमित्युदकसुखयोः, शमिति सुखे। आभ्यां सप्त प्रत्ययाः स्युः युस्तुसोः सकारः पदत्वार्थः। कम्बः, कम्भः, कंयुः, कन्तिः, कन्तुः, कन्तः, कंयः। एवं शम्ब इत्यादि।

२०७५ तुन्दि-वलि-वटेर्भः ५। २। १३९॥

तुन्दिभः। वलिभः। वटिभः।

२०७६ अहं-शुभमोर्युस् ५। २। १४०॥

अहंयुः = अहङ्कारवान्। शुभंयुः = शुभान्वितः॥ इति मत्वर्थीयाः॥

अथ प्राग्दिशीयाः।

२०७७ प्राग् दिशो विभक्तिः ५। ३। १॥

दिक्शब्देभ्यः,—इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञाः स्युः। अथ स्वार्थिकाः।

२०७८ किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ५। ३। २॥

अनुस्वारस्य वैकल्पिकः परसवर्णः, पदत्वात् 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने'।

१—तुन्दि-वलि-वटि-एभ्यो भप्रत्ययः स्यान्मत्वर्थे। वृद्धा नाभिः = तुन्दिः, साऽस्यास्ति-**तुन्दिभः**। वलिरस्यास्तीति = **वलिभः**। वट-(वेष्टने) वटनं = वटिः सास्यास्तीति = **वटिभः**। २—अहमिति मान्तमव्ययमहङ्कारे शुभमिति शुभे ताभ्यां मत्वर्थे युस् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। अहम्=अहङ्कारः सोऽस्यास्तीति=**अहंयु**। शुभमस्यास्तीति = **शुभंयुः**। ॥ इति मत्वर्थीयाः॥

अथ प्राग्दिशीयाः।

३—विभक्तिसंज्ञाफलं तु 'न विभक्तौ तुस्माः' इति निषेधः। त्यदाद्यत्वं चेत्यादि। ४—सर्वनामत्वेऽपि द्व्यादिनिषेधात् किमः पृथग् ग्रहणम्।

२०७५—तुन्दि वलि और वटि शब्द से मत्वर्थ में 'भ' प्रत्यय होता है।

२०७६—मकारान्त अहम् और शुभम् शब्द से मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होता है। ('अहम्' अहङ्कार अर्थ में 'शुभम्' यह शुभ अर्थ में अव्यय है)। इति मत्वर्थीयाः॥ अथ प्राग्दिशीयाः।

२०७७—'दिक्शब्देभ्यः…' इत्यादि सूत्र से पूर्व कहे जाने वाले प्रत्यय विभक्ति संज्ञक हैं।

२०७८—'दिक्शब्देभ्यः' से पूर्व पूर्व 'किमः' 'सर्वनाम्नः' 'बहुभ्यः' 'अद्व्यादिभ्यः' यह अधिकार है।

किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते।

२०७९ पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७॥

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल् वा।

२०८० कु तिहोः ७।२।१०४॥

किमः कुस्तादौ हादौ च विभक्तौ। कुतः[1] कस्मात्।

२०८१ इदम इश् ५।३।३॥

प्राग्दिशीये। इतः।[2]

२०८२ एतदोऽन् ५।३।५॥

एतदः प्राग्दिशीये। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। अतः[3]। अमुतः[4]। यतः। ततः। बहुतः। द्वयादेस्तु द्वाभ्याम्।

२०८३ पर्यभिभ्यां च ५।३।९॥

तसिल् (सर्वोभयार्थाभ्यामेव) परितः=सर्वत इत्यर्थः। अभितः=उभयत इत्यर्थः।

२०८४ सप्तम्यास्त्रल् ५।३।१०॥[5]

१—पञ्चम्यन्तात्किम्-शब्दात् वा तसिल्प्रत्यये 'सुपो धातु प्राति...' इति सुपो लुकि किमः 'कु' इत्यादेशे, कुतः। 'तसिलादयः प्राक् पाशपः' इत्युक्तेरव्ययत्वम्, पक्षे कस्मात्। २—शित्वात्सर्वादेशः। पञ्चम्यन्ताद् इदमः—तसिल्प्रत्यये सुब्लुकि, सर्वादेशे इशि, इतः। ३—एतद्-शब्दात्पञ्चम्यन्तात् तसिलि, सुब्लुक्, एतदोऽन् सर्वादेशः, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपः=अतः। पक्षे-एतस्मात्। ४—अदसस्तसिल् विभक्तित्वादुत्वमत्वे अमुतः। पक्षे अमुष्मात्। एवम्,—यद्-शब्दात्तसिल् त्यदाद्यत्वं यतः, तद्-शब्दात् तसिलि ततः, बहुशब्दात् बहुतः। ५—किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्योऽद्वयादिभ्यः त्रल्-प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

२०७९—पञ्चम्यन्त किमादि शब्दों से स्वार्थ में तसिल् प्रत्यय होता है विकल्प से।

२०८०—तकारादि और हकारादि विभक्ति संज्ञक प्रत्यय परे रहते 'किम्' को 'कु' आदेश होता है।

२०८१—प्रागदिशीय प्रत्यय परे रहते 'इदम्' को इश् आदेश होता है।

२०८२—प्रागदिशीय प्रत्यय परे रहते 'एतत्' को 'अन्' आदेश होता है।

२०८३—सर्वार्थक परिशब्द से और उभयार्थक अभिशब्द से तसिल् प्रत्यय होता है।

२०८४—सप्तम्यन्त किमादि से स्वार्थ में 'त्रल्' प्रत्यय होता है।

कुत्र[1] । यत्र । तत्र । बहुत्र ।

२०८५ इदमो हः[2] ५ । ३ । ११ ॥

त्रलोऽपवादः । इह ।

२९८६ किमोऽत्[3] ५ । ३ । १२ ॥

वा स्यात् ।

२०८७ काति[4] ७ । २ । १०५ ॥

किमः । क, कुत्र ।

२०८८ इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५ । ३ । १४ ॥

पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि[5] तसिलादयो दृश्यन्ते । (दृशिग्रहणाद्भवदादि-योग एव) । स भवान् , ततो भवान्[6], तत्र भवान् । तं भवन्तम् , ततो भवन्तम् , तत्र भवन्तम् । एवं–दीर्घायुः[7] । देवानांप्रियः । आयुष्मान् ।

२०८९ सर्वैकान्य-किं-यत्तदः काले दा ५ । ३ । १५ ॥

१—किमः त्रलि, 'कुति होः' इति 'कु' इत्यादेशे कुत्र । यत्र, तत्र–यत्तच्छब्दयोः रूपे, त्रलो विभक्तिसंज्ञात्वेन त्यदाद्यत्वम् । बहुशब्दात्त्रलि = बहुत्र । २–सप्तम्यन्ताद् इदम्–शब्दाद् ह–प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । 'इदम इश्' इति इश् सर्वादेशः = इह । ३—वाग्रहणमपकृष्यते, सप्तम्यन्तात् । किमोऽत्प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः । पक्षे त्रल् । ४—किमः 'क' आदेशः स्याद् अत्–प्रत्यये इत्यर्थः । क, कुत्र । ५—किमादि-प्रातिपदिकादिति शेषः । ६—स भवान् इत्यर्थे = ततो भवान् , तत्र भवान् इतीत्यर्थः । एवं 'तं भवन्तम्' इत्यर्थे = ततो भवन्तम् , तत्र भवन्तम् इति । ७—इत्यादियोगेऽपि तथेत्यर्थः । ततो दीर्घायुः, तत्र दीर्घायुः । ततो देवानां प्रियः, तत्र

२०८५—सप्तम्यन्त इदम् शब्द से 'ह' प्रत्यय होता है स्वार्थ में ।

२०८६—सप्तम्यन्त किम् शब्द से अत् प्रत्यय विकल्प से होता है । (पक्ष में त्रल् होगा) ।

२०८७—किम् को क आदेश होता है अत् प्रत्यय परे रहते ।

२०८८—पञ्चमी और सप्तमी से इतर विभक्ति अन्त में हो तो भी किम् आदि शब्दों से तसिल् आदि प्रत्यय होते हैं । (दृशि ग्रहण से भवदादि शब्दों के योग में ही होते हैं) ।

२०८९—कालवाचक सप्तम्यन्त सर्व, एक, अन्य, किम् , यत् और तत् शब्द से स्वार्थ में दा प्रत्यय होता है ।

सप्तम्यन्तेभ्य एभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् ।

२०९० सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५ । ३ । ६ ॥

दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा । सर्वस्मिन् काले—सदा । सर्वदा । एकदा[1] । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम्—सर्वत्र देशे ।

२०९१ इदमोर्हिल् ५ । ३ । १६ ॥

सप्तम्यन्तात् ।

२०९२ एतेतौ र-थोः ५ । ३ । ४ ॥

इदम 'एत[2]–इत्' एतौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे । अस्मिन् काले एतर्हि । काले किम्—इह देशे ।

२०९३ अधुना[3] ५ । ३ । १७ ॥

इदमो निपातोऽयम् ।

२०९४ दानीं च ५ । ३ । १८ ॥

देवानां प्रियः । स दीर्घायुः स देवानां प्रिय इत्यर्थः ।

१—एकस्मिन् काले—एकदा । अन्यस्मिन् काले—अन्यदा । कस्मिन् काले –कदा । यस्मिन् काले–यदा । तस्मिन् काले = तदा । २—रेफादौ एतः थादौ इत् इति विवेकः । ३—इदम्शब्दात्सप्तम्यन्तात्कालवाचकात् स्वार्थे 'अधुना' प्रत्ययः स्यात् । इदम इश्, यस्येति चेतीकारलोपः । प्रत्ययमात्रमवशिष्यत अस्मिन् (काले) = अधुना ।

२०९०—दकारादि प्रागदिशीय प्रत्यय परे रहते सर्व को स आदेश होता है विकल्प से ।

२०९१—सप्तम्यन्त इदम् शब्द से र्हिल् प्रत्यय होता है काल में ।

२०९२—इदम् शब्दको रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते क्रमशः एत और इत् आदेश होते हैं ।

२०९३—काल अर्थ में इदम् शब्द का 'अधुना' यह निपात है अर्थात् कालवाचक सप्तम्यन्त इदम् शब्द से अधुना प्रत्यय होता है । (इदम् को इश् होगा और इकार का लोप होगा प्रत्ययमात्र शेष रहेगा—अस्मिन् काले = अधुना) ।

२०९४—इदम् शब्द से काल अर्थ में दानीम् प्रत्यय होता है । (इदानीम् = अस्मिन् काले) ।

इदमो दानीं प्रत्ययः काले । इदानीम्[1] ।

२०६५ तदो दा च ५ । ३ । १९ ॥[2]

तदा, तदानीम् ।

२०६६ अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्[3] ५ । ३ । २१ ॥

कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ।

२०६७ एतदः ५ । ३ । ५ ॥

एतद्—शब्दस्य । एतस्मिन्काले—एतर्हि ।

२०६८ सद्यः[4]-परुत्-परार्यैषमः परेद्यव्यद्य-पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ५ । ३ । २२ ॥

१—अस्मिन् काले = इदानीम् । इदमो दानीम्प्रत्यये इशादेशः । २—तच्छब्दाद् दानीम्प्रत्ययो दाप्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः । तस्मिन् काले = तदा, तदानीम् । त्यदाद्यत्वम् । ३—अनद्यतनकालवृत्तिभ्यः किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो र्हिल्प्रत्ययो वा स्यात् पक्षे दाप्रत्ययश्च । कस्मिन् काले—कर्हि, कदा । विभक्तित्वात् किमः कादेशः । यस्मिन् काले—यर्हि, यदा । तस्मिन् काले तर्हि तदा । ४—सद्यः । समानस्य सभावो द्यस्प्रत्ययश्च । 'समानो द्यश्चाहनि' इति वार्तिकम् । पूर्वस्मिन् वत्सरे = परुत्, पूर्वतरे वत्सरे = परारि 'पूर्वपूर्वतरयोः परादेश उदारिच्-प्रत्ययौ संवत्सरे' । 'इदम इश् समसण्' इति वार्तिकेन ऐषमः = अस्मिन् संवत्सरे इत्यर्थः । 'परस्मादेद्यव्यहनि' इति वार्तिकेन = परेद्यवि । 'इदमोऽश्भावो द्यश्च' इति वार्तिकेन = अद्य, अस्मिन्नहनि इत्यर्थः । 'पूर्वान्यान्यतरेतरापराधरोभयोत्तरेभ्य एद्युस् च' इति वार्तिकेन एभ्य एद्युस्प्रत्यये एतेऽग्रिमाः सिद्ध्यन्ति । पूर्वस्मिन्नहनि = पूर्वेद्युः । इतरस्मिन्नहनि = अन्येद्युः । अन्यतरस्मिन्नहनि =

२०६५—कालवाचक तद् शब्द से दा और दानीम् प्रत्यय होते हैं ।

२०६६—अनद्यतन काल में सप्तम्यन्त किम् आदि शब्दों से र्हिल् प्रत्यय विकल्प से होता है (पक्ष में दा होगा) ।

२०६७—एतद् शब्द से काल अर्थ में र्हिल् होता है ।

२०६८—'सद्यः' 'परुत्' आदि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं । अर्थात्—समान को स आदेश और द्यस् प्रत्यय होकर 'अहनि' अर्थ में 'सद्य' सिद्ध होता है ।

पूर्व शब्द से उत्प्रत्यय (संवत्सर अर्थ में) होकर और पूर्व को पर आदेश

एते निपात्यन्ते । (द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः) उभयद्युः ।

२०९९ प्रकारवचने थाल् ५ । ३ । २३ ॥

प्रकारवृत्तिभ्यः[1] किमादिभ्यस्थाल् । तेन प्रकारेण—तथा । यथा ।

२१०० इदमस्थमुः[2] ५ । ३ । २४ ॥

थालोऽपवादः । (एतदोऽपि वाच्यः) अनेन एतेन वा प्रकारेण—इत्थम् ।

२१०१ किमश्च[3] ५ । ३ । २५ ॥

केन प्रकारेण—कथम् । ॥ इति प्राग्दिशीयाः ॥

अन्यतरेद्युः । इतरस्मिन्नहनि = इतरेद्युः । अपरस्मिन्नहनि = अपरेद्युः । अधरस्मिन्नहनि = अधरेद्युः । उभयोरह्नोः = उभयद्युः । उत्तरस्मिन्नहनि = उत्तरेद्युः ।

१—सामान्यस्य भेदको विशेषः = प्रकारस्तद्वृत्तिभ्य इत्यर्थः । तच्छब्दात् थाल्प्रत्यये त्यदाद्यत्वं = तथा । एवम्—यच्छब्दात् यथा = येन प्रकारेणेत्यर्थः । २—इदम्शब्दात्प्रकारवृत्तेस्थमुप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । उकार इत् । इदम्शब्दाद् एतच्छब्दाच्च थमुप्रत्यये = इत्थम् इति रूपम् । "एतेतोरथोः" इतीदम इदादेशः । एतद् इति योगविभागाद् एतच्छब्दस्यापीदादेशे तदेव रूपम् । ३—प्रकारवृत्तेस्थमुरिति शेषः । कथं थमुप्रत्यये, किमः कादेशः ।

॥ इति प्राग्दिशीयाः ॥

होकर 'परुत्' सिद्ध होता है । एवं पूर्वतर शब्द से आरि प्रत्यय और पर आदेश होकर परारि शब्द सिद्ध होता है, (परु = पूर्व संवत्, परारि = पूर्वतर संवत्) ।

ऐषमः = अस्मिन् संवत्सरे, इदम् शब्द से समसण् प्रत्यय और इदम् को इश् आदेश होकर 'ऐषमः' सिद्ध होता है ।

पर शब्द से 'अहनि' अर्थ में एद्यवि प्रत्यय होता है—परेद्यवि ।

इदम् शब्द से 'द्य' प्रत्यय और इदम् को अश् आदेश होकर 'अद्य' शब्द सिद्ध होता है । और पूर्वादि शब्दों से अहनि अर्थ में एद्युस् प्रत्यय होकर 'पूर्वेद्यु' इत्यादि आठ शब्द सिद्ध होते हैं । (उभय शब्द से 'द्युस्' प्रत्यय होकर 'उभयद्युः' भी सिद्ध होता है) ।

२०९९—प्रकार वाचक किमादि शब्दों से थाल् प्रत्यय होता है ।

२१००—प्रकार वचन इदम् शब्द से थमु प्रत्यय होता है । यह थाल् का अपवाद है । (एतद् शब्द से भी थाल् होता है) ।

२१०१—प्रकारवचन किम् शब्द से भी थमु प्रत्यय होता है ।

अथ प्रागिवीयाः ।

२१०२ दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ५ । ३ । २७ ॥

सप्तम्याद्यन्ते दिशि रूढेभ्यो दिग्देशकालवृत्तिभ्यः स्वार्थेऽस्तातिः ।

२१०३ पूर्वाधरावराणामसिपुरधवश्चैषाम् ५ । ३ । ३९ ॥

एभ्योऽस्तात्यर्थेऽसिस्तद्योगे चैषां पुर् अध् अव् इत्यादेशाः स्युः ।

२१०४ अस्ताति च ५ । ३ । ४० ॥

पूर्वादीनां पुरादयः स्युः । पूर्वस्याम् पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक्-पुरः, पुरस्तात् । अधः, अधस्तात् । अवः ।

२१०५ विभाषाऽवरस्य ५ । ३ । ४१ ॥

अस्तातौ अवूवा स्यात् । अवस्तात्, अवरस्तात् । एवं देशे काले च दिशि-रूढेभ्यः किम्—ऐन्द्र्यां[1] वसति । सप्तम्याद्यन्तेभ्यः किम्—पूर्वं ग्रामं गतः । दिगादिवृत्तिभ्यः किम्-पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । अस्ताति[2] चेति ज्ञापकादसिरस्तातिं न बाधते ।

अथ प्रागिवीयाः ।

१—ऐन्द्रीशब्दो न केवलं दिशि रूढः किन्तु इन्द्रदेवताके पदार्थे । २—ननु दिक्शब्देभ्य इति सामान्यविहितस्य परादिशब्देषु सावकाशस्य अस्तातेः पूर्वाधरावरशब्देषु असिना विशेषविहितेन बाधः स्यादित्य आह = अस्ताति चेति, अर्थात् अस्तातेर्बाधे तस्मिन् परे अस्ताति चेति पुराद्यादेशविधानं व्यर्थं स्यात्, तज्ज्ञापयति असिरस्तातिं न बाधते ।

अथ प्रागिवीयाः

२१०२—सप्तम्यन्त पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त जो दिशा अर्थ में रूढ दिग्वाचक शब्द वे यदि दिशा देश और काल अर्थ में वर्तमान हों तो उनसे स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय होता है ।

२१०३—पूर्व अधर और अवर शब्द से अस्ताति प्रत्यय के अर्थ में असि प्रत्यय होता है तथा पूर्व को पुर् अधर को अध् और अवर को अव् आदेश होता है असि प्रत्यय के योग में ।

२१०४—अस्ताति प्रत्यय के योग में भी पुर् अध् अव् आदेश होते हैं ।

२१०५—अस्ताति के योग में अवर् को अव् विकल्प से होता है ।

२१०६ दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ५ । ३ । २८ ॥

अस्तातेरपवादः । दक्षिणतः । उत्तरतः ।[1]

२१०७ विभाषा परावराभ्याम् ५ । ३ । २९ ॥[2]

परतः, परस्तात् । अवरतः, अवरस्तात् ।

२१०८ अञ्चेर्लुक् ५ । ३ । ३० ॥

अञ्चत्यन्ताद्दिक्शब्दादस्तातेर्लुक् स्यात् । प्राक् । उदक् ।[3]

२१०९ उपर्युपरिष्टात् ५ । ३ । ३१ ॥[4]

निपातावेतौ ।

२११० पश्चात् ५ । ३ । ३२ ॥[5]

तथा ।

२१११ उत्तराधरदक्षिणादातिः ५ । ३ । ३४ ॥[6]

१—दक्षिणतः = दक्षिणस्याम् । उत्तरतः = उत्तरस्यामित्यर्थः । २—अतसुजिति शेषः । पक्षेऽस्तातिः । ३—प्राक् = प्राच्या, प्राच्याः प्राची वेत्यर्थः । उदक् = उदीच्याम्, उदीच्याः, उदीची वा । ४—अस्तातेर्विषये ऊर्ध्वशब्दस्य उपादेशः स्यात्, रिल्, रिष्टातिल् च प्रत्ययौ स्याताम् । उपरि, उपरिष्टात् । ५—अवरस्य पश्चभाव आतिश्च प्रत्ययोऽस्तातेर्विषये । ६—आतिप्रत्ययोऽयम्

२१०६—अस्ताति के अर्थ में दक्षिण और उत्तर शब्द से अतसुच् प्रत्यय होता है । (यह अस्ताति का अपवाद है) ।

२१०७- पर और अवर शब्द से अतसुच् विकल्प से होता है । (पक्ष में अस्ताति होगा) ।

२१०८—अञ्चति जिसके अन्त में है ऐसे दिक् शब्द से अस्ताति का लुक् होता है ।

२१०९—उपरि और उपरिष्टात् निपातन से सिद्ध होते हैं । अर्थात्—अस्ताति के विषय में ऊर्ध्व शब्द से रिल् और रिष्टातिल् प्रत्यय होते हैं और ऊर्ध्व शब्द को उप आदेश होता है ।

२११०—अस्ताति के विषय में अवर शब्द से आति प्रत्यय और अवर को पश्च आदेश होकर पश्चात् सिद्ध होता है ।

२१११—उत्तर अधर और दक्षिण शब्द से आति प्रत्यय होता है । (यह अस्ताति का अपवाद है) ।

उत्तरात्। अधरात्। दक्षिणात्।

२११२ एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ५। ३। ३५॥

उत्तरादिभ्य एनब्वा स्यादवध्यवधिमतोः सामीप्ये। पञ्चम्यन्तात्तु न। उत्तरेण। अधरेण। दक्षिणेन। पक्षे-यथास्वं प्रत्ययाः। इह केचिद्दिक्शब्दमात्रादेनपमाहुः। पूर्वेण ग्रामम्।

२११३ दक्षिणादाच् ५। ३। ३६॥

अस्तातेर्विषये। दक्षिणा वसति। अपञ्चम्या इत्येव। दक्षिणादागतः।

२११४ आहि च[२] दूरे ५। ३। ३७॥

चादाच्। दक्षिणाहि, दक्षिणा।

२११५ उत्तराच्च ५। ३। ३८॥

उत्तराहि[३], उत्तरा।

२११६ संख्याया विधार्थे[४] धा ५। ३। ४२॥

क्रियाप्रकारे वर्तमानात् संख्याशब्दात्स्वार्थे धा स्यात्। चतुर्धा[५]।

अस्तातेरपवादः।

१—पञ्चम्यन्तान्नेत्यर्थः। २—दक्षिणाद् दूरेऽर्थे आहिप्रत्ययः स्याच्चादाच्। **दक्षिणाहि, दक्षिणा** = दक्षिणस्यां दिशि दूरे इत्यर्थः। ३—**उत्तराहि, उत्तरा**= उत्तरस्यां दिशि दूरे इत्यर्थः। ४—विधा = विधार्थः प्रकारः स चात्राभिधानस्वभावात् क्रियाविषयक एव गृह्यते। तदाह वृत्तौ = क्रियाप्रकारे इत्यादि। ५—गच्छतीति क्रियापदमध्याहार्य्यम्। चतुष्प्रकारा गमनादिक्रिया इत्यादिबोधः।

२११२—उत्तर आदि शब्दों से एनप् प्रत्यय विकल्प से होता है अवधि और अवधिमान् का सामीप्य गम्य हो तो। पञ्चम्यन्त से एनप् नहीं होता (पक्ष में पूर्व प्राप्त प्रत्यय होंगे)। (कोई आचार्य समस्त दिक् शब्दों से एनप् प्रत्यय मानते हैं)

२११३—अस्ताति के विषय में दक्षिण शब्द से आच् प्रत्यय होता है (पञ्चम्यन्त से यह भी नहीं होता)।

२११४—दक्षिण शब्द से दूर अर्थ में आहि प्रत्यय भी होता है।

२११५—उत्तर शब्द से भी आच् और आहि प्रत्यय होते हैं दूर अर्थ में।

२११६—क्रिया विषयक प्रकार अर्थ में वर्तमान संख्या वाचक शब्द से स्वार्थ में धा प्रत्यय होता है।

२११७ एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् ५ । ३ । ४४ ॥

ऐकध्यम्, एकधा ।

२११८ द्वित्र्योश्च धमुञ् ५ । ३ । ४५ ॥

आभ्यां धा इत्यस्य धमुञ् वा । द्वैधम्, द्विधा । त्रैधम्, त्रिधा ।

२११९ एधाच्च[2] ५ । ३ । ४६ ॥

द्वेधा । त्रेधा ।

२१२० याप्ये पाशप्[3] ५ । ३ । ४७ ॥

कुत्सितो भिषग्–भिषक्पाशः । (तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः) । द्वैतीयीकः, द्वितीयः । तार्तीयीकः, तृतीयः । (न विद्यायाः) द्वितीया विद्येत्येव ।

२१२१ एकादाकिनिच्चासहाये ५ । ३ । ५२ ॥

चात्कन्लुकौ । एकः, एकाकी, एककः ।

२१२२ भूतपूर्वे चरट् ५ । ३ । ५३ ॥

१—एकशब्दात्परस्य धाप्रत्ययस्य ध्यमुञादेशः स्याद्विकल्पेनेत्यर्थः । ञित्वादादिवृद्धिः = ऐकध्यम् । पक्षे–एकधा । २—द्वित्रिभ्यां परस्य धाप्रत्ययस्य "एधाच्" इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । ३—याप्यः = कुत्सितः । कुत्सिते विद्यमानात्स्वार्थे पाशप् स्यादित्यर्थः । ४—तीयप्रत्ययान्तात्स्वार्थे ईकक् वा स्यात् । पक्षे 'पूरणाद् भागे तीयादन्' इति अन्प्रत्ययः । द्वितीय एव = द्वैतीयीकः, कित्वादादिवृद्धिः । एवं = तार्तीयीकः । ५—विद्यावृत्तेस्तीयप्रत्ययान्तादीकक् नेत्यर्थः । ६—असहायवाचकादेकशब्दात्स्वार्थे आकिनिच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः, चकारात्पक्षे–कन् प्रत्ययः कनो लुक् च । ७—भूतपूर्वे वर्तमानात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे चरट् प्रत्ययः स्यात् ।

२११७—एक शब्द से परे विद्यमान धा को 'ध्यमुञ्' आदेश होता है विकल्प करके ।

२११८द्वि और त्रि शब्द से धा को धमुञ् आदेश होता है विकल्प करके ।

२११९—द्वि त्रि शब्द से धा को एधाच् आदेश भी होता है ।

२१२०—कुत्सित अर्थ में पाशप् प्रत्यय होता है । (तीय प्रत्ययान्त से स्वार्थ में ईकक् प्रत्यय होता है) । (विद्या अर्थ में वर्तमान तीयप्रत्ययान्त से ईकक् नहीं होता) ।

२१२१—असहाय अर्थ में वर्तमान एक शब्द से स्वार्थ में आकिनिच् प्रत्यय होता है, (चकार पढने से पक्ष में कन् का लुक् भी होगा) ।

२१२२—भूतपूर्व अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में चरट् प्रत्यय होता है ।

आढ्यो भूतपूर्वः—आढ्यचरः।

२१२३ षष्ठ्या रूप्य च ५। ३। ५४॥

षष्ठ्यन्ताद् भूतपूर्वे रूप्यः स्याच्चरट् च। कृष्णस्य भूतपूर्वो गौः = कृष्णरूप्यः, कृष्णचरः।

२१२४ अतिशायने तमबिष्ठनौ ५। ३। ५५॥

अतिशयविशिष्टार्थे एतौ स्तः। अयमेषामतिशयेनाढ्यः = आढ्यतमः। लघुतमो, लघिष्ठः[1]।

२१२५ तिङश्च ५। ३। ५६॥

तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात्।

२१२६ तरप्तमपौ घः १। १। २२॥

२१२७ किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५। ४। ११॥

किम् एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे। किन्तमाम्। प्राह्णेतमाम्। प्रगेतमाम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तमाम्। द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरुः।

२१२८ द्विवचन विभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५। ३। ५७॥

१—अतिशयेन लघुर्लघिष्ठः, इष्ठन्प्रत्यये ओगुणे प्राप्ते इष्ठेमेयस्सु—इत्यनुवृत्तौ टेरिति टिलोपः। २—एतौ घसंज्ञौ स्त इत्यर्थः।

२१२३—भूतपूर्व अर्थ में वर्तमान षष्ठ्यन्त से 'रूप्य' प्रत्यय होता है और चरट् भी।

२१२४—अतिशय विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में तमप् और इष्ठन् प्रत्यय होता है।

२१२५—तिङन्त से अतिशय द्योत्य रहते तमप् प्रत्यय होता है।

२१२६—तरप् और तमप् प्रत्यय की 'घ' संज्ञा होती है।

२१२७—तरप् और तमप् प्रत्ययान्त किम् शब्द से, एकारान्त शब्द से, और अव्यय से आमु प्रत्यय होता है। द्रव्यप्रकर्ष गम्य हो तो नहीं होता।

२१२८—दो में से एक का अतिशय द्योत्य हो अथवा विभक्तव्य उपपद हो तो सुबन्त और तिङन्त शब्दों से तरप् तथा ईयसुन् प्रत्यय होते हैं।

द्वयोरेकस्याऽतिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुतिङन्तादेतौ[1] स्तः । पूर्वयोरपवादः[2] । अयमनयोरतिशयेन लघुः—लघुतरो, लघीयान्[3] । उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटवः—पटुतराः, पटीयांसः[4] ।

२१२९ अजादी गुणवचनादेव ५ । ३ । ५८ ॥

इष्ठनीयसुनौ[5] । नेह । पाचकतरः, पाचकतमः ।

२१३० प्रशस्यस्य[6] श्रः ५ । ३ । ६० ॥

इष्ठेयसोः परतः ।

२१३१ प्रकृत्यैकाच् ६ । ४ । ६३ ॥

इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठः, श्रेयान् ।

२१३२ ज्य च ५ । ३ । ६१ ॥

प्रशस्यस्य ज्यादेश इष्ठेयसोः । ज्येष्ठः[7] ।

२१३३ ज्यादादीयसः[8] ६ । ४ । १६० ॥

१—एतौ=तरप्—ईयसुन्प्रत्ययावित्यर्थः । २—पूर्वयोः = तरप्—तमपोरित्यर्थः । ३—अतिशयेन लघुरिति=लघीयान् । ईयसुन्प्रत्यय उगित्वान्नुम्, सान्तेति दीर्घो हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ । ४—विभज्योपपदे उदाहरति—उदीच्याः प्राच्येभ्य इत्यादि । ५—तरप्—तमपौ—इष्ठनीयसुनाविति चत्वारः प्रत्यया अनुक्रान्ताः, तेषां मध्ये यौ अजादी इष्ठनीयसुनौ तौ गुणवाचकादेव स्त इत्यर्थः । ६—प्रशस्यशब्दस्य श्रादेशः । इष्ठ—ईयसुनि च परतः । अतिशयेन प्रशस्यः = श्रेष्ठः, श्रेयान् । टेरिति टिलोपे प्राप्ते 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावः । ७—अतिशयेन प्रशस्यो = ज्येष्ठः । ८—ज्यात् आत् इति च्छेदः । ज्यात्परस्य ईयस आकारादेशः स्यादित्यर्थः । अन्ता-

२१२९—(पूर्वोक्त तरप् तमप् इष्ठन् ईयसुन् इन चार प्रत्ययों में से अजादि प्रत्यय अर्थात्—) इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय केवल गुणवाचक शब्दों से ही होते है ।

२१३०—इष्ठन् और ईयसुन् परे रहते 'प्रशस्य' शब्द को 'श्र' आदेश होता है ।

२१३१—इष्ठन् आदि प्रत्यय परे रहते एकाच् को प्रकृतिभाव होता है ।

२१३२—'प्रशस्य' शब्द को 'ज्य' आदेश भी होता है इष्ठन् और ईयसुन् परे रहते ।

२१३३—'ज्य' से परे ईयस् को आकार आदेश होता है, ('आदेः परस्य' नियम से ईकार को होगा) ।

'आदेः परस्य'। ज्यायान्।

२१३४ वृद्धस्य च ५।३।६२॥

ज्यादेश अजाद्योः। ज्येष्ठः, ज्यायान्।

२१३५ अन्तिक-बाढयोर्नेद-साधौ ५।३।६३॥

अजाद्योरिष्ठेयसोः। नेदिष्ठः, नेदीयान्। साधिष्ठः, साधीयान्।

२१३६ स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ६।४।१५६॥

एषां यणादिपरं लुप्यते पूर्वस्य च गुण इष्ठादिषु। स्थविष्ठः। दविष्ठः। यविष्ठः। ह्रसिष्ठः। क्षेपिष्ठः। क्षोदिष्ठः। एवमीयसुन्। ह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां पृथ्वादित्वाद्-ह्रसिमा। क्षेपिमा। क्षोदिमा।

देशत्वे प्राप्ते-आह-आदेः परस्येति। अतिशयेन प्रशस्यो=ज्यायान्, ईयस ईकारस्याऽऽकारादेशः।

१—इष्ठेयसोरिति भावः। अतिशयेन वृद्धो=ज्येष्ठः, ज्यायान्। सिद्धिः पूर्ववत्। २—अन्तिकबाढशब्दयोः क्रमेण नेद-साध एतावादेशौ स्त इष्ठेयसोः परतः। अतिशयेन अन्तिको=नेदिष्ठः, नेदीयान्। अतिशयेन बाढः=भृशः=साधिष्ठः, साधीयान्। ३—यण् आदिर्यस्येति विग्रहः। परमिति यणादीत्यस्य विशेषणम्, परभूत यणादि इत्यर्थः। पूर्वस्येति, पूर्वत्वं यणपेक्षया बोद्धव्यम्। अतिशयेन स्थूलः=स्थविष्ठः। इष्ठनि ल इत्यस्य लोपे ऊकारस्य गुणावादेशौ। एवमग्रेऽपि। अतिशयेन दूरो=दविष्ठः। अतिशयितो युवा=यविष्ठः। अतिह्रस्वो=ह्रसिष्ठः। अतिक्षिप्रः=क्षेपिष्ठः, अतिक्षुद्रः=क्षोदिष्ठः। एवम्-ईयसुनि=स्थवीयान् इत्यादि। ४—'पृथ्वादिभ्य इमनिच्'-इति इमनिच्-प्रत्यये रूपाणि-ह्रसिमा। क्षेपिमा। क्षोदिमा। इमनिजित्यस्यापि 'स्थूलदूरेति' सूत्रेऽनुवृत्तेर्यणादिलोपो गुणश्च तत्रापि।

२१३४—'वृद्ध' शब्द को भी 'ज्य' आदेश होता है इष्ठन् और ईयसुन् परे रहते।

२१३५—इष्ठन् और ईयसुन् परे रहते अन्तिक और बाढ शब्द को नेद और साध आदेश होता है।

२१३६—इष्ठन् ईयसुन् और इमनिच् प्रत्यय परे रहते स्थूल आदि शब्दों में यणादि रूप पर भाग का लोप होता है और पूर्व भाग को गुण होता है।

२१३७ प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्बंहि-गर्वर्षि-त्रप-द्राघि-वृन्दाः ६ । ४ । १५७ ॥

प्रियादीनां प्रादयः स्युरिष्ठादिषु । प्रेष्ठः । स्थेष्ठः । स्फेष्ठः । वरिष्ठः । बंहिष्ठः । गरिष्ठः । वर्षिष्ठः । त्रपिष्ठः । द्राघिष्ठः । वृन्दिष्ठः । एवमीयसुन् । प्रियोरुबहुलगुरुदीर्घाणां पृथ्वादित्वात्प्रेमेत्यादि ।

२१३८ बहोर्लोपो भू च बहोः ६ । ४ । १५८ ॥

बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्याद्बहोश्च भूरादेशः । भूमा, भूयान् ।

२१३९ इष्ठस्य यिट् च ६ । ४ । १५९ ॥

बहोः परस्य इष्ठस्य लोपो यिडागमश्च । भूयिष्ठः ।

२१४० विन्मतोर्लुक् ५ । ३ । ६५ ॥

इष्ठेयसोः परतः । अतिशयेन स्रग्वी-स्रजिष्ठः । अतिशयेन त्वग्वान् त्वचिष्ठः, त्वचीयान् ।

१—प्रियस्य प्रः । स्थिरस्य स्थः । स्फिरस्य स्फः । उरोर्वर् । बहुलस्य बंहिः । गुरोर्गर् । वृद्धस्य वर्षिरादेश इकार उच्चारणार्थः । तृप्रस्य त्रप् । दीर्घस्य द्राघिः, इकार उच्चारणार्थः । वृन्दारकस्य वृन्दः, इति विवेकः । २—इमनिच्प्रत्यये प्रादेशे प्रेमा इत्यादिरूपाणि । ३—आदेः परस्येति प्रत्यययोरादिलोपः भूमा पृथ्वादित्वादिमनिच् प्रकृतेर्भूभावः प्रत्ययादेरिकारस्य लोपः बहुत्वमित्यर्थः । ईयसुनि = भूयान् । ४—बहुशब्दादिष्ठनि इलोपे यिडागमे भूरादेशे च भूयिष्ठः । ५—विनो मतुपश्च लुक् स्यादिष्ठेयसोः परतः । ६—स्रजिष्ठः इत्यत्र विनो

२१३७—इष्ठन् ईयसुन् और इमनिच् प्रत्यय परे रहते प्रिय को प्र, स्थिर को स्थ, स्फिर को स्फ, उरु को वर्, बहुल को बंह, गुरु को गर्, वृद्ध को वर्ष, त्रिप्र को त्रप्, दीर्घ को द्राघ और वृन्दारक को वृन्द् आदेश होता है । (प्रिय, उरु, बहुल, गुरु और दीर्घ क्योंकि पृथ्वादिगण पठित हैं, इसलिये इमनिच् प्रत्यय होकर प्रेमा आदिशब्द भी बनेंगे) ।

२१३८—बहु शब्द से परे इम और ईयस् का लोप होता है और बहु शब्द को 'भू' आदेश होता है । ('आदेः परस्य' नियम से आदि का लोप होगा) ।

२१३९—बहु से परे इष्ठ का लोप होता है और यिट् आगम होता है, और बहु को भू आदेश भी होता है ।

२१४०—इष्ठ और ईयस् परे रहते विन् और मतुप् का लुक् होता है ।

२१४१ प्रशंसायां रूपप् ५ । ३ । ६६ ॥

सुबन्तात्तिङन्ताच्च । प्रशस्तः पटुः—पटुरूपः । पचतिरूपम्[1] ।

२१४२ ईषदसमाप्तौ कल्पब्-देश्य-देशीयरः ५ । ३ । ६७ ॥

ईषदूनो विद्वान्—विद्वत्कल्पः, विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ।

२१४३ विभाषा[3] सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ५ । ३ । ६८ ॥

ईषदूनः पटुर्बहुपटुः, पटुकल्पः । सुपः किम्—यजतिकल्पम् ।

२१४४ प्रागिवात्कः ५ । ३ । ७० ॥

इवे प्रतिकृताविव्यतः प्राक्काधिकारः ।

२१४५ अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः[4] ५ । ३ । ७१ ॥

कापवादः । तिङश्चेत्यनुवर्तते ।

२१४६ कस्य च दः ५ । ३ । ७२ ॥

कान्ताव्ययस्य दादेशोऽकच्च ।

लोपः । त्वचिष्ठ इत्यत्र मतुपो लुक् ।

१—प्रशस्ता पाकक्रियेत्यर्थः । २—ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे विद्यमानात्सुबन्तात्तिङन्ताच्च स्वार्थे कल्पप्–देश्य–देशीयर् इत्येते प्रत्ययाः स्युः । पचतिकल्पम् = असम्पूर्णा पाकक्रियेत्यर्थः । ३—ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद् बहुच्प्रत्ययो वा स्यात् स च प्रागेव न तु परत इत्यर्थः । बहुपटुः, पटुशब्दात्सुबन्तात्प्राग् बहुचि कृते प्रातिपदिकावयवत्वात्सुपो लुकि समुदायात्पुनः सुबुत्पत्तिः । ४– अव्ययसर्वनाम्नां तिङन्ताच्च टेः प्रागकच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

२१४१—सुबन्त और तिङन्त से प्रशंसा में रूपप् प्रत्यय होता है ।

२१४२—किञ्चित् अपूर्णता अर्थ में विद्यमान सुबन्त और तिङन्त शब्द से कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय होते हैं ।

२१४३—किञ्चित् अपूर्णता अर्थ में विद्यमान सुबन्त शब्द से बहुच् प्रत्यय विकल्प करके होता है, यह बहुच् प्रत्यय प्रकृति से पूर्व होता है, न कि परे ।

२१४४—'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र से पूर्व पूर्व 'क' प्रत्यय का अधिकार है ।

२१४५—अव्यय, सर्वनाम और तिङन्त की 'टि' से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है ।

२१४६—ककारान्त अव्यय को दकार आदेश होता है और टि से पूर्व अकच् प्रत्यय भी होता है ।

२१४७ अज्ञाते[1] ५ । ३ । ७३ ॥

कस्यायमश्वोऽश्वकः । उच्चकैः । नीचकैः । सर्वके । पचतकि । धकित् ।

२१४८ कुत्सिते ५ । ३ । ७४ ॥

कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः ।

२१४९ अल्पे ५ । ३ । ८५ ॥

अल्पं तैलं-तैलकम् । ह्रस्वो वृक्षो-वृक्षकः । (अस्मिन् प्रकरणे हलादौ प्रत्यये द्वितीयादचः परस्य लोपो वा वाच्यः) । देवदत्तकः, देवकः, (लोपः पूर्वपदस्य च) दत्तकः । (विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वा वाच्यः) । सत्यभामा, भामा, सत्या ।

२१५० कुटी शमी-शुण्डाभ्यो[2] रः ५ । ३ । ८८ ॥

ह्रस्वा कुटी—कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः ।

२१५१ कुत्वा डुपच्[3] ५ । ३ । ८९ ॥

१—अज्ञातेऽर्थे विद्यमानात्सुबन्तात्स्वार्थे कप्रत्ययः स्याद् अव्ययसर्वनाम्नां तिङन्तानाञ्च टेः प्रागकच् । अश्वकः, इत्यत्र कप्रत्यः । अव्ययेभ्योऽकचमुदाहरति = उच्चकैः, नीचकैः सर्वके = सर्वे । तिङन्तादकचमुदाहरति = पचतकि = पचति । अव्ययादकचमुदाहरति—धकित् = धिक् । २—एभ्यो रप्रत्ययः स्याद् ह्रस्वार्थे । ३—ह्रस्वार्थे इति शेषः ।

२१४७—अज्ञात अर्थ में सुबन्त से 'क' प्रत्यय होता है और अव्यय सर्वनाम तथा तिङन्त से अकच् (टि से पूर्व) होता है ।

२१४८—कुत्सित अर्थ में क प्रत्यय होता है ।

२१४९—अल्प अर्थ में क प्रत्यय होता है । (इस प्रकरण में हलादि प्रत्यय परे रहते द्वितीय अच् से पर भाग का विकल्प करके लोप होता है—ऐसा कहना चाहिये) । (कहीं पर पूर्व पद का लोप होता है) । (क्वचित् प्रत्यय के विनाभी पूर्व अथवा पर पद का लोप होता है) ।

२१५०—अल्प (ह्रस्व) अर्थ में कुटी, शमी और शुण्डा शब्द से 'र' प्रत्यय होता है ।

२१५१—ह्रस्व अर्थ में कुतू शब्द से डुपच् प्रत्यय होता है । (चर्ममय स्नेहपात्र को कुतू कहते हैं) ।

ह्रस्वा कुतूः = कुतुपः । 'कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं ह्रस्वा सा कुतुपः पुमान्' ।

२१५२ कासू-गोणीभ्यां ष्टरच् ५ । ३ । ९० ॥

आयुधविशेषः कासूः । ह्रस्वा सा कासूतरी । गोणीतरी ।

२१५३ वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे ५ । ३ । ९१ ॥

वत्सतरः । उक्षतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः ।

२१५४ किं-यत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५ । ३ । ९२ ॥

अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः ।

२१५५ वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५ । ३ । ९३ ॥

जातिपरिप्रश्न इति प्रत्याख्यातमाकरे । कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणमकजर्थम् ।

२१५६ एकाच्च प्राचाम् ५ । ३ । ९४ ॥

डतरच् डतमच्च स्यात् । अनयोरेकतरो मैत्रः । एषामेकतमः ।

॥ इति प्राग्िवीयाः ॥

१—ह्रस्वार्थे इति शेषः । कासूतरी, ष्टरचः षित्त्वात् 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । २—ष्टरजिति शेषः । तनुर्वत्सो = वत्सतरः । तनुरुक्षा–उक्षतरः । एवम्–अश्वतरः । ऋषभतरः । ३—द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्ये निर्धार्यमाणवाचिभ्यः किमादिभ्यो डतरच् स्यादित्यर्थः । कतरः, डित्वाट्टिलोपः । एवम्–यत्–शब्दाद् = यतरः । तत्शब्दात् ततरः । ४—जातिश्च परिप्रश्नश्चेति समाहारद्वन्द्वः । जातौ परिप्रश्ने च गम्ये बहूनामेकस्य निर्धारणे निर्धार्यमाणवाचिभ्यो वा डतमजित्यर्थः । ५—क्षेपार्थस्य तु अनभिधानान्न ग्रहणमिति तदाशयः ॥ इति प्रागिवीयाः ॥

२१५२—ह्रस्व अर्थ में कासू और गोणी शब्द से ष्टरच् प्रत्यय होता है ।

२१५३—तनु अर्थ में वत्स, उक्षन्, अश्व और ऋषभ शब्द से ष्टरच् प्रत्यय होता है ।

२१५४—दो में से एक का निर्धारण करना हो तो किम् यत् और तत् शब्द से 'डतरच्' प्रत्यय होता है ।

२१५५—जाति अथवा परिप्रश्न गम्य हो तो बहुतों में से एक के निर्धारण में किम् यत् और तत् शब्द से 'डतमच्' प्रत्यय विकल्प से होता है । (पक्ष में अकच् होगा) ।

२१५६—प्राचीन आचार्यों के मत में एक शब्द से भी पूर्वोक्त अर्थों में

अथ स्वार्थिकाः ।

२१५७ इवे प्रतिकृतौ ५ । ३ । ९६ ॥

कन्स्यात् । अश्व इव प्रतिकृतिरश्वकः । (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्) अश्व एव अश्वकः ।

२१५८ शाखादिभ्यो यः ५ । ३ । १०३ ॥

शाखेव शाख्यः । मुख्यः । जघन्यः । अग्र्यः । शरण्यः ।

२१५९ कुशाग्राच्छः ५ । ३ । १०५ ॥

कुशाग्रीयः ।

२१६० तत्प्रकृतवचने मयट् ५ । ४ । २१ ॥

प्राचुर्येण प्रस्तुतं = प्रकृतं तस्य वचनं = प्रतिपादनम् । भावे अधिकरणे व ल्युट् । आद्ये-प्रकृतमन्नम् = अन्नमयम् । अपूपमयम् । द्वितीये-अन्नमयो यज्ञः ।

अथ स्वार्थिकाः ।

१—इवार्थे (सादृश्ये) वर्तमानात्प्रातिपदिकात् कन् स्यात्प्रतिकृतौ । मृदादिनिर्मिता प्रतिमा = प्रतिकृतिः । २— स्वार्थे इति शेषः । मुखमिव = मुख्यः । जघनमिव = जघन्यः । अग्रमिव = अग्र्यः । शरणमिव = शरण्यः । सर्वत्र यस्येति चेत्यकारलोपः । ३—कुशाग्रमिव = कुशाग्रीयः, छप्रत्यये छस्येय् । ४—भावार्थे ल्युटि । ५—प्रकृतम् अपूपम् = अपूपमयम् । ६— अधिकरणार्थे ल्युटि ।

डतरच् और डतमच् प्रत्यय होते है । ॥ इति प्रागिवीयाः ॥

अथ स्वार्थिकाः ।

२१५७—इवार्थ सादृश्यवान् अर्थात् उपमान अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय स्वार्थ में होता है यदि उपमेय प्रतिकृति अर्थात् चित्र अथवा मूर्ति हो । (सभी प्रतिपदिकों से स्वार्थ में कन् होता है) ।

२१५८—इवार्थ में विद्यमान शाखादिगण पठित शब्दों से स्वार्थ में य प्रत्यय होता है ।

२१५९—इवार्थ में विद्यमान कुशाग्र शब्द से छ प्रत्यय होता है ।

२१६०—प्राचुर्येण प्रस्तुत अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त समर्थ से स्वार्थ में मयट प्रत्यय होता हैं और प्रकृत वचन अर्थात् प्राचुर्येण प्रस्तुत के अधिकरण अर्थ में वर्तमान शब्द से भी मयट् होता है ।

अपूपमयं-पर्व ।

२१६१ संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५ । ४ । १७ ॥

अभ्यावृत्तिर्जन्म[1], क्रियाजन्मगणनवृत्तेः संख्यायाः स्वार्थे कृत्वसुच् । पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । संख्यायाः किम्-भूरिवारान्भुङ्क्ते ।

२१६२ द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५ । ४ । १८ ॥

कृत्वसुचोऽपवादः । द्विर्भुङ्क्ते । त्रिर्भुङ्क्ते । 'रात्सस्य' । चतुर्भुङ्क्ते ।

२१६३ एकस्य सकृच्च ५ । ४ । १९ ॥

सकृदादेशः चात्सुच् । सकृद्भुङ्क्ते ।

२१६४ देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् ५ । ४ । २४ ॥

तदर्थ एव तादर्थ्यम्, स्वार्थे ष्यञ् । अग्निदेवतायै इदमग्निदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ।

२१६५ पादार्घाभ्यां च ५ । ४ । २५ ॥

पादार्थमुदकं पाद्यम् । अर्घ्यम् ।

१—अभ्यावृत्तिशब्देन यदि द्वितीयादिप्रवृत्तिर्गृह्यते तदा चतुर्वारं पाकप्रवृत्तौ त्रिः पचतीति स्यात् । इत्यत आह-अभ्यावृत्तिः = जन्म = उत्पत्तिरिति यावत् । वृतुधातुरत्रोत्पत्त्यर्थक इति भावः । २—क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने इत्येव । चतुर्शब्दात्सुच्प्रत्यये रात्सस्येति सलोपः, तदाह मूले = रात्सस्येति । ३—देवतान्तात्प्रातिपदिकात् तादर्थ्ये यत्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ४—तादर्थ्यशब्दे स्वार्थे ष्यञ् । ५—तादर्थ्ये एव यत्स्यादिति शेषः ।

२१६१—क्रियोत्पत्ति के गणन अर्थ में वर्तमान संख्यावाचक शब्द से स्वार्थ में कृत्वसुच् प्रत्यय होता है ।

२१६२—क्रियोत्पत्ति अर्थ में वर्तमान द्वि, त्रि और चतुर शब्द से सुच् प्रत्यय होता है । यह पूर्वोक्त कृत्वसुच् का अपवाद है ।

२१६३—पूर्वोक्त विषय में एक शब्द से सुच् प्रत्यय होता है और एक को सकृत् आदेश होता है ।

२१६४—देवतान्त शब्द से तादर्थ्य में यत् प्रत्यय होता है ।

२१६५—पाद और अर्घ शब्द से तादर्थ्य में यत् होता है ।

२१६६ अतिथेर्ञ्यः[1] ५ । ४ । २६ ॥

अतिथये इदमातिथ्यम् । (नवस्य नू आदेशस्त्नप्तनप्खाश्च वक्तव्याः[2]) स्वार्थे । नूत्नम्, नूतनम्, नवीनम् । (भाग-रूप-नामभ्यो धेयः[3]) । भागधेयम् । रूपधेयम् । नामधेयम् (आग्नीध्र-साधारणादञ्[4]) । आग्नीध्रम् । साधारणम् ।

२१६७ देवात्तल्[5] ५ । ४ । २७ ॥

देव एव-देवता ।

२१६८ अवेः कः ५ । ४ । २८ ॥

अविरेव-अविकः ।

२१६९ यावादिभ्यः कन् ५ । ४ । २९ ॥

यवा एव-यावकः । मणिकः (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्) । बहुतरकम्[6] ।

२१७० मृदस्तिकन् ५ । ४ । ३९ ॥

मृदेव-मृत्तिका[7] ।

१-अतिथिशब्दात्तादर्थ्ये ञ्यः प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । २-नवशब्दात्स्वार्थे त्नप्, तनप्, खश्चेत्येते प्रत्ययाः स्युः । नवस्य 'नू' आदेशश्च । नवमेव नूत्नः, नूतनः, नवीनः । ३—स्वार्थे इत्येव । भाग एव = भागधेयम् । रूपमेव = रूपधेयम् । नामैव = नामधेयम् । ४—स्वार्थ इति शेषः । अग्नीध्रमेव-आग्नीध्रम् । ञित्त्वादादिवृद्धिः । साधारणमेव-साधारणम् । अञि स्वरे भेदः । अञन्तत्वात्स्त्रियां ङीप्, आग्नीध्री, साधारणी । ५—स्वार्थे । तलन्तं स्त्रियां-देवता । ६—बहुतरमेव-बहुतरकम् । ७—मृद्-शब्दात्स्वार्थे तिकन्प्रत्यये खरि चेति चर्त्वे स्त्रियां

२१६६—अतिथि शब्द से तादर्थ्य में ञ्य प्रत्यय होता है । (नव शब्द से स्वार्थ में त्नप् तनप् और ख प्रत्यय होते हैं तथा नव को नू आदेश होता है) (भाग, रूप और नाम शब्द से स्वार्थ में धेय प्रत्यय होता है) (अग्नीध्र और साधारण शब्द से स्वार्थ में अञ् प्रत्यय होता है) ।

२१६७—देव शब्द से स्वार्थ में तल् प्रत्यय होता है ।

२१६८—अवि शब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय होता है ।

२१६९—यवादि गण पठित शब्दो से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है । (सभी प्रातिपदिकों से स्वार्थ में कन् होता है) ।

२१७०—मृद् शब्द से स्वार्थ में तिकन् प्रत्यय होता है ।

२१७१ स-स्नौ प्रशंसायाम् ५ । ४ । ४० ॥

रूपपोऽपवादः । प्रशस्ता मृन्मृत्सा, मृत्स्ना ।[1]

२१७२ प्रज्ञादिभ्यश्च ५ । ४ । ३८ ॥

अण्[2] स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । दैवतः । बान्धवः ।

२१७३ पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्[3] ५ । ३ । ११२ ॥

स्वार्थे । नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः = पूगाः । लौहितध्वज्यः ।

२१७४ ञ्यादयस्तद्राजाः[4] ५ । ३ । ११९ ॥

"तद्राजस्ये" ति लुक् । लोहितध्वजाः । "व्राते"[5] कापोतपाक्यः । कपोतपाकाः । च्फञ्[6] । कौञ्जायना इत्यादि ।

टापि = मृत्तिका ।

१—मृदः प्रशंसायां सप्रत्ययः स्नप्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः । २—स्वार्थे एव । देवतैव-दैवतः । बन्धुरेव-बान्धवः । ओर्गुणः, अवादेश आदिवृद्धिः । ३—पूगवाचकात्स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययः स्यात् । ग्रामणीवाचकपूर्वावयवकात्तु न, पूगेति नस्वरूपग्रहणं व्याख्यानात् = लौहितध्वज्यः । लोहिता ध्वजाः यस्य पूगस्य स लोहितध्वजः, स एव लौहितध्वज्यः । ४—एते तद्राजसञ्ज्ञाः स्युरित्यर्थः । तेन बहुवचने ञ्यप्रत्ययस्य लुकि = लौहितध्वजाः । ५—उदाहरणसूचनमिदम् व्राते इति । कपोतपाक्यः-कपोतान् भक्षणाय पचति, इति कपोतपाकः, पचेः कर्तरि घञ् 'चजो' रिति कुत्वम् । व्रातवाचित्वेन स्वार्थे 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' इति ञ्यप्रत्यये कापोतपाक्यः, तद्राजत्वाद् बहुत्वे लुकि = कपोतपाकाः । ६—च्फञ्-इति, उदाहरणसूचनम् । कुञ्जशब्दात् "गोत्रे कुञ्जादिभ्यः" च्फञ्, फस्य-आयन्, ततः स्वार्थे ञ्यप्रत्यये कौञ्जायन्यः, बहुत्वे तद्राजत्वाल्लुकि = कौञ्जायनाः ।

२१७१—मृद् शब्द से प्रशंसा अर्थ में स और स्न प्रत्यय होते हैं ।

२१७२—प्रज्ञादि गण पठित शब्दों से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

२१७३—पूग वाचक शब्दों से स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है, ग्रामणी पूर्वक से नहीं होता । (नाना जाति अनियत वृत्तिवाले और अर्थ काम प्रधान पुरुषों के सङ्घ पूग कहलाते हैं) ।

२१७४—ञ्य-आदि प्रत्यय तद्राज संज्ञक होते हैं ।

२१७५ बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४२॥

बहूनि ददाति–बहुशः। अल्पशः। (बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गलवचनम्) नेह। बहु ददात्यनिष्टेषु। अल्पं ददात्याभ्युदयिकेषु।

२१७६ संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ५।४।४३॥

द्वौ द्वौ ददाति–द्विशः। माषं माषं ददाति–माषशः। परिमाणशब्दा वृत्तावेकार्था एव। संख्यैकवचनात्किम्—घटं घटं ददाति। वीप्सायां किम्–द्वौ ददाति। कारकादित्येव। द्वयोर्द्वयोः स्वामी।

२१७७ प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ५।४।४४॥

१—बह्वर्थात्–अल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः शब्दात्स्वार्थे शस्प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः। बहुशः, अव्ययमिदम्, 'शसप्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः' इत्युक्तेः। अल्पं ददाति = अल्पशः–ददाति। २—बह्वर्थात्–मङ्गले गम्ये एव, अल्पार्थाच्चापि—मङ्गले गम्ये एव शस् इति वार्तिकार्थः। इह—अमङ्गलग्रहणं व्यर्थमिति। ३—अनिष्टेषु बहुदानं न मङ्गलमिति न शस्। एवम्–आभ्युदयिकेषु–अल्पदानं न मङ्गलमिति न शस्। सूत्रेऽर्थग्रहणात्पर्यायेभ्योऽपि भूरिशः, स्तोकशः, इत्यादावपि शस्। ४—सङ्ख्यावाचकाद् अन्यस्माच्चैकत्वविशिष्टवाचकात् कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकाद् वीप्सायां शस् स्यादित्यर्थः। द्वौ द्वौ ददाति, 'नित्यवीप्सयो'रिति द्विर्वचनम्। द्विशः इत्यत्र तु न द्वित्वम्, शस्–प्रत्ययेनैव वीप्साया उक्तत्वात्। ५—एकार्थोदाहरणम् = माषशः, माषशब्दो परिमाणविशेषवाची, एकार्थत्वं कथमित्यत्राह–परिमाणशब्दाः इत्यादि। वृत्तौ = समासतद्धितादौ। ६—नात्र कारकाभिधायिनी सङ्ख्या, किन्तु सम्बन्धाभिधायिनी। अतो न शस्।

२१७५—बह्वर्थक और अल्पार्थक कारकाभिधायी शब्दों से विकल्प करके शस् प्रत्यय होता है। (बह्वर्थक से मंगल अर्थ में और अल्प शब्द से अमङ्गल अर्थ में ही शस् होता है)।

२१७६—संख्यावाचक तथा एकत्व विशिष्ट वाचक कारकाभिधायी प्रातिपदिक से वीप्सा में शस् होता है। परिमाण वाचक शब्द समास तद्धित आदि वृत्ति में एकार्थ ही होते हैं।

२१७७—कर्मप्रवचनीय प्रति के योग में विहित जो पञ्चमी तदन्त से तसि

प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्ताद्वा तसिः । प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति । (आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्) आदौ—आदितः । मध्यतः । पृष्ठतः । पार्श्वतः । आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण—स्वरतः । वर्णतः ।

२१७८ कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः ५ । ४ । ५० ॥

(अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्) । विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमाना-द्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे ।

२१७९ अस्य च्वौ ७ । ४ । ३२ ॥

ईत् । अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति—कृष्णीकरोति । ब्रह्मीभवति ।

१—'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदाने च' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां "प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्" इति सूत्रेण विहिता पञ्चमीति भावः । कृष्णतः प्रति, कृष्णादित्यर्थः, कृष्णः प्रतिनिधिरिति भावः । २—अयं सार्वविभक्तिकः तसिः । ३—सम्प-द्यकर्तरि,—सम्पदनं = सम्पद्यः, निपातनात् पद्धातोः शप्रत्यये रूपम् (मध्ये श्यन्) । सम्पद्यस्य कर्ता इति षष्ठीसमासः, सम्पद्यमाने वर्तमानादिति भावः । केन रूपेण कस्य सम्पद्यमानतेति चेत्, अभूत–तद्भावेति वार्तिकात् प्रकृतेर्विकाररूपेण सम्पद्यमानतां गृहाण, तथा च योऽर्थः फलति स वृत्तौ स्पष्टः । ४—अभूतेति, येन रूपेण प्रागभूतं यद्वस्तु, तस्य तद्रूपप्राप्तिः = अभूततद्भावः, तस्मिन् गम्ये च्विः स्यादित्यर्थः । ५—विकारवाचकशब्दस्य प्रकृतौ विद्यमानत्वं गौण्या वृत्त्या बोध्यम् । ६—डुकृञ् करणे, भू सत्तायाम्, अस भुवि–इति धातु-भिर्योगे इत्यर्थः । ७—अवर्णस्य ईत्स्यात् च्वौ–इत्यर्थः । ८—ब्रह्मीभवति=अब्रह्म ब्रह्म सम्पद्यमानं भवतीत्यर्थः । गङ्गीस्यात्=अगङ्गा गङ्गात्वेन सम्पद्यमाना स्यादि-त्यर्थः ।

प्रत्यय होता है । (आद्यादिगण पठित शब्दों से तसि प्रत्यय होता है) यह तसि सार्वविभक्तिक है ।

२१७८—विकारभाव को प्राप्त हो रही प्रकृति के अर्थ में वर्तमान विकार वाचक शब्द से स्वार्थ में च्वि प्रत्यय विकल्प करके होता है यदि कृ भू और अस् का योग हो । (यह च्वि प्रत्यय अभूत तद्भाव अर्थ गम्य रहते ही होता है ऐसा कहना चाहिये) । जो वस्तु पहले जिस रूप में नहीं थी बाद में वह उस रूप को प्राप्त हो इसे अभूततद्भाव कहते हैं ।

कीस्यात्। (अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्)। [1]दोषाभूतमहः। दिवा-भूता = रात्रिः।

२१८० क्यच्व्योश्च ६। ४। १५२॥

हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः क्ये च्वौ च परतः। गार्गीभवति[2]।

२१८१ च्वौ च[3] ७। ४। २६॥

दीर्घः। शुचीभवति। पटूस्यात्।

२१८२ अरुर्मनश्चक्षुश्चेतो-रहो-रजसां लोपश्च[4] ५। ४। ५१॥

चात् च्विः। अरूकरोति। उन्मनीकरोति। उच्चक्षूकरोति। विचेतीकरोति। विरहीकरोति। विरजीकरोति।

२१८३ विभाषा साति कार्त्स्न्ये ५। ४। ५२॥

१—अदोषा दोषा सम्पद्यमानमभूत्=दोषाभूतम्, दोषा—रात्र्यर्थेऽव्ययम्। एवम्—अदिवा दिवा सम्पद्यमानाऽभूत्=दिवाभूता, दिवा—दिनार्थेऽव्ययम्। २—अगार्ग्यो गार्ग्यः सम्पद्यमानो भवति=गार्गीभवति 'गर्गादिभ्यो यञि'ति यञन्तात् च्वौ, यकारलोपः। ३—च्वौ परे पूर्वस्य दीर्घ इत्यर्थः। अशुचिः शुचिः सम्पद्यमानो भवति=शुचीभवति, अपटुः पटुः सम्पद्यमानः स्यात्=पटूस्यात्। ४—अरुष्, मनस्, चक्षुष्, चेतस्, रहस्, रजस् इत्येतेषाम् अन्त्यस्य लोपः च्विप्रत्ययश्चेत्यर्थः। पूर्वेण सिद्धस्यैव च्वेः चकारेणानुवादः। अनरुः—अरुः सम्पद्यते तत्करोति=अरूकरोति, अन्त्यलोपे उकारस्य 'च्वौ' इति दीर्घः। एव-मग्रेऽपि, अनुन्मनाः—उन्मनाः सम्पद्यते तं करोति—उन्मनीकरोति, च्वौ अन्त्यलोपे अत ईत्वम्। एवं सर्वत्र विग्रहादिकं बोध्यम्।

२१७९—च्वि परे रहते अकार को ईत् होता है। (च्वि परे रहते अव्यय के आकार को ईत् नहीं होता)।

२१८०—हल् से परे अपत्यार्थक प्रत्यय के यकार का लोप होता है क्य और च्वि परे रहते।

२१८१—च्वि परे रहते पूर्व को दीर्घ होता है।

२१८२—अरुष्, मनस्, चक्षुष्, चेतस्, रहस्, और रजस् शब्द के अन्त्य वर्ण का लोप होता है तथा इनसे च्वि प्रत्यय होता है।

२१८३—साकल्य अर्थ गम्य हो तो च्वि के विषय में साति प्रत्यय होता है विकल्प करके।

च्वेर्विषये सातिर्वा स्यात्साकल्ये । 'सात्पदाद्योः'[1] । कृत्स्नं शस्त्रमग्निः सम्पद्यते-अग्निसाद्भवति, अग्नीभवति[2] । कार्त्स्न्ये किम्-एकदेशेन शुक्लीभवति पटः ।

२१८४ अभिविधौ संपदा च ५ । ४ । ५३ ॥

सम्पदा[3] कृभ्वस्तिभिश्च योगे सातिर्वा व्याप्तौ । पक्षे-कृभ्वस्तियोगे च्विः सम्पदा तु वाक्यमेव । अग्निसात्सम्पद्यते अग्निसाद्भवति शस्त्रम् । अग्नीभवति । जलसात्सम्पद्यते-जलीभवति[4] लवणम् ।

२१८५ तदधीनवचने ५ । ४ । ५४ ॥

सातिः, कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । राजसात्करोति । राजाधीनमित्यर्थः ।

२१८६ देये त्रा च ५ । ४ । ५५ ॥

तदधीने देये त्रा स्यात्सातिश्च क्रादियोगे[5] । विप्राधीनं देयं करोति-विप्रत्राकरोति । विप्रत्रासम्पद्यते । पक्षे-विप्रसात्करोति । देये किम्-राजसाद्भवति[6] राष्ट्रम् ।

२१८७ देव-मनुष्य पुरुष-पुरु-मर्त्येभ्यो द्वितीया-सप्तम्योर्बहुलम् ५ । ४ । ५६ ॥

एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यश्च त्रा स्यात् । देवत्रा[7] वन्दे रमे वा । बहुलोक्तेरन्यत्रापि[8] । बहुत्रा[9] जीवतो मनः ।

१—सूत्रेणानेन षत्वनिषेधः । २—पक्षे च्विः, अग्नीभवति 'च्वौ' इति दीर्घः । ३—सम्पदा = सम्पूर्वकपदधातुनेत्यर्थः । ४—सकलं जलमभिव्याप्नोतीति = जलीभवति । ५—क्रादियोगे = कृभ्वस्तियोगे । ६—नात्र देयमधीनं क्रियते-इति न त्रा, किन्तु सातिरेव । ७—देवान् वन्दे, देवेषु रमे इति वार्थः । एवं-मनुष्यान् गच्छति मनुष्यत्रा । पुरुषत्रा । पुरुर्बहुलपर्यायः । पुरुत्रा । मर्त्यत्रा । ८—अन्यत्रापि देवादिभ्योऽन्यत्रापीत्यर्थः । ९—बहुत्रा = जीवतो मनः = जीवतो जन्तोर्मनो बहुषु विषयेषु गच्छति । बहून् विषयान् वा व्याप्नोतीत्यर्थः ।

२१८४—अभिव्याप्ति अर्थ गम्य हो तो कृ भू अस् और सम्पूर्वक पद धातु के योग में च्वि के विषय में साति प्रत्यय विकल्प करके होता है ।

२१८५—तदधीनता बोध्य हो तो कृ-भू अस् और सम्पद् के योग में साति प्रत्यय होता है ।

२१८६—तदधीन देयता अर्थ बोध्य हो तो कृभूअस् और सम्पद् के योग में त्रा प्रत्यय होता है और साति प्रत्यय भी होता है ।

२१८७—द्वितीयान्त देवादि शब्दों से त्रा प्रत्यय बहुलता करके होता है ।

२१८८ अव्यक्तानुकरणाद्‌द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ५। ४। ५७॥

द्व्यच्–अवरं न्यूनं, न तु ततो न्यूनम्, अनेकाजिति यावत्। तादृशमर्धं यस्य तस्माद्[1] डाच् कृभ्वस्तिभिर्योगे। (डाचि बहुलं द्वे भवतः)। डाचि विवक्षिते द्वित्वम्। (नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्)। डाच्परं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति त–पयोः[2] पः। पटपटाकरोति[3]। अव्यक्तानुकरणात्किम्–ईषत्करोति। द्व्यजवरार्धात्किम्–श्रत्करोति। अवरेति किम्–खरटखरटाकरोति। अनितौ किम्–*पटिति करोति।

२१८९ कृञो द्वितीय-तृतीय-शंब-बीजात्कृषौ ५। ४। ५८॥

द्वितीयादिभ्यो डाच् कृञो योग एव कर्षणेऽर्थे। बहुलोक्तेरव्यक्तानुकरणादन्यस्य डाचि न द्वित्वम्। द्वितीयं तृतीयं कर्षणं करोति द्वितीयाकरोति, तृतीयाकरोति। शम्बाकरोति[4]। बीजाकरोति।

२१९० संख्यायाश्च गुणान्तायाः ५। ४। ५९॥

१—तस्माद् = अव्यक्तानुकरणादिति शेषः। २—तकारपकारयोः पकार इत्यर्थः। ३—पटपटाकरोति पटदित्यनुकरणाद् डाचि द्वित्वे पूर्वतकारस्य पररूपे डित्वात् टिलोपे रूपम्। ४—शम्बशब्दः प्रतिलोमे। अनुलोमं कृष्टं क्षेत्रं प्रतिलोमं कर्षति = शम्बाकरोति। बीजेन सह कर्षति = बीजाकरोति। ५—कृञो योगे कृषौ गुणान्तात्सङ्ख्यावाचकात् डाच् स्यादित्यर्थः। द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् = क्षेत्रकर्मकं द्विगुणं कर्षणं करोतीत्यर्थः।

२१८८—द्व्यजवरार्ध अर्थात् अनेकाच् अव्यक्तानुकरण (ध्वन्यनुकरण) शब्द से इति शब्द परे न हो तो कृ भू अस् के योग में डाच् होता है। (डाच् विवक्षित रहते पहले द्वित्व हो जाता है बहुलता करके)। डाच्परक आम्रेडित परे रहते पूर्व तथा पर वर्ण को पररूप हो जाता है)।

२१८९—कर्षण बोध्य हो तो कृञ् के योग में द्वितीय, तृतीय, शम्ब और बीज शब्द से डाच् प्रत्यय होता है।

२१९०—गुणशब्दान्त संख्या वाचक शब्द से कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है कृषि बोध्य रहते।

---

* पटत् + इति, इत्यत्र "अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ" इति सूत्रेण 'अत्' इत्यस्य पररूपम्।

द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् ।

२१६१ समयाच्च[1] यापनायाम् ५ । ४ । ६० ॥

कृञाविति निवृत्तम् । समयाकरोति = कालं यापयतीत्यर्थः ।

२१६२ सपत्र-निष्पत्रादतिव्यथने[2] ५ । ४ । ६१ ॥

सपत्राकरोति मृगम् = सपुङ्खशरप्रवेशनेन सपत्रं करोतीत्यर्थः । निष्पत्राकरोति = सपुङ्खस्य शरस्याऽपरपार्श्वे निर्गमनान्निष्पत्रं करोतीत्यर्थः । अतिव्यथने किम्- सपत्रं निष्पत्रं वा करोति भूतलम् ।

२१६३ निष्कुलान्निष्कोषणे[3] ५ । ४ । ६२ ॥

निष्कुलाकरोति दाडिमम् । निर्गतं कुलम् = अन्तरवयवानां समूहो यस्मादिति बहुव्रीहेर्डाच् ।

२१६४ सुख-प्रियादानुलोम्ये[4] ५ । ४ । ६३ ॥

सुखाकरोति, प्रियाकरोति गुरुम् = अनुकूलाचरणेनानन्दयतीत्यर्थः ।

२१६५ दुःखात्प्रातिलोम्ये[5] ५ । ४ । ६४ ॥

दुःखाकरोति स्वामिनम्, पीडयतीत्यर्थः ।

२१६६ शूलात्पाके[6] ५ । ४ । ६५ ॥

शूलाकरोति मांसम् = शूलेन पचतीत्यर्थः ।

१—समयशब्दाद् यापनायां गम्यमानायां डाच् स्यात्कृञो योगे ।

२—सपत्र-निष्पत्रशब्दाभ्यामतिव्यथने कृञो योगे डाच् स्यादित्यर्थः । ३—डाजिति शेषः । निष्कोषणम् = अन्तर्गताऽवयवानां बहिष्करणम् । ४—सुखशब्दात् प्रियशब्दाच्च डाच् स्यादानुलोम्ये कृञो योगे इत्यर्थः । ५—डाजिति शेषः । आराध्यप्रतिकूलाऽऽचरणम् = प्रातिलोम्यम् । ६—अत्र करोतिः पाकेऽर्थे वर्त्तते ।

२१६१—समय शब्द से यापना गम्य रहते कृञ् के योग में डाच् होता है ।

२१६२—अतिव्यथन अर्थ में वर्तमान सपत्र और निष्पत्र शब्द से डाच् होता है कृञ् के योग में ।

२१६३—निष्कोषण अर्थ में निष्कुल शब्द से कृञ् के योग में डाच् होता है ।

२१६४—आनुलोम्य अर्थ में सुख और प्रिय शब्द से डाच् होता है कृञ् के योग में ।

२१६५—प्रातिलोम्य अर्थ में दुःख शब्द से डाच् होता है कृञ् के योग में ।

२१६६—शूल शब्द से पाक अर्थ में कृञ् का योग हो तो डाच् होता है ।

२१९७ सत्यादशपथे ५। ४। ६६॥

सत्याकरोति भाण्डं वणिक्=क्रेतव्यमिति तथ्यं करोतीत्यर्थः। शपथे तु सत्यं करोति विप्रः।

२१९८ मद्रात्परिवापणे ५। ४। ६७॥

मद्रशब्दो मङ्गलार्थः। परिवापणं=मुण्डनम्। मद्राकरोति कुमारम्= माङ्गल्यमुण्डनेन संस्करोतीत्यर्थः। (भद्राच्चेति वक्तव्यम्) भद्राकरोति। अर्थः प्राग्वत्। परिवापणे किम्—मद्रं करोति, भद्रं करोति। इति तद्धितप्रक्रिया॥

अथ द्विरुक्तप्रक्रिया।

२१९९ सर्वस्य द्वे ८। १। १॥

इत्यधिकृत्य।

२२०० परेर्वर्जने ८। १। ५॥

परेर्वर्जनेऽर्थे द्वे स्तः। परि परि वङ्गेभ्यो वृष्टो देवः॥

२२०१ उपर्यध्यधसः सामीप्ये ८। १। ७॥

१—अत्र सत्यशब्दस्तथ्ये वर्तते। २—एतावतैव मूल्येन क्रेतव्यमिति नातोऽधिकमूल्येनेत्येवं यथाभूतार्थं वदतीत्यर्थः। ३—शपथं करोतीत्यर्थः। ४—डाच् स्यादिति शेषः। ५—भद्रशब्दाच्च डाजित्यर्थः। ६—माङ्गल्यमुण्डनेन (चौलेन) संस्करोतीत्यर्थः। भद्र-मद्रशब्दौ मङ्गलार्थौ पर्यायौ। ७—क्षेमं करोतीत्यर्थः। परिवापणस्य-(मुण्डनस्य)-अप्रतीतेर्न डाच्॥ इति तद्धितप्रक्रिया॥

अथ द्विरुक्तप्रक्रिया।

८—"अपपरी वर्जने" इति परीत्यस्य कर्मप्रवचनीयता, 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी। वङ्गान् परित्यज्य=(अन्यत्र) वृष्ट इत्यर्थः। ९—उपरि-अधि-

---

२१९७—सत्य शब्दसे शपथ से अन्य अर्थमें डाच् होता है कृञ् के योगमें।

२१९८—मुण्डन अर्थ में मद्र शब्द से कृञ् के योग में डाच् होता है। (मद्र के समान भद्र शब्द से भी डाच् होता है)।

अथ द्विरुक्तप्रक्रिया।

२१९९—यह अधिकार सूत्र है। (जहाँ इसका अधिकार जायगा वहाँ "सूत्रोक्त शब्द के समस्त भाग को द्वित्व होता है" इतना अर्थ यह सूत्र देगा)।

२२००—वर्जन अर्थ में परि शब्द को द्वित्व होता है।

२२०१—सामीप्य अर्थ में उपरि, अधि और अधस् शब्द को द्वित्व होता है।

उपर्युपरि ग्रामम्, ग्रामस्योपरिष्टात् समीपदेशे इत्यर्थः । अध्यधि-सुखम्, सुखस्योपरिष्टात्समीपकाले दुःखमित्यर्थः । अधोऽधो-लोकम्, लोकस्याधस्तात् समीपदेशे इत्यर्थः ।

२२०२ वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूया-सम्मति-कोप-कुत्सन-भर्त्सनेषु ८ । १ । ८ ॥

सुन्दर[3] ! सुन्दर !! वृथा ते सौन्दर्यम् । देव[4] ! देव !! वन्द्योऽसि । दुर्विनीत ! दुर्विनीत !! इदानीं ज्ञास्यसि । धानुष्क ! धानुष्क !! वृथा ते धनुः । चोर ! चोर !! घातयिष्यामि त्वाम् ।

२२०३ एकं बहुव्रीहिवत् ८ । १ । ६ ॥

द्विरुक्त एकशब्दो बहुव्रीहिवत् । तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ । एकैकमक्षरम् । इह द्वयोरपि सुपोर्लुकि सति बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वात्समुदायात्सुप् एकैकयाऽऽहुत्या ।

२२०४ आबाधे च ८ । १ । १० ॥

अधः, इत्येतेषां सामीप्ये (देशकृते कालकृते वा) गम्ये द्वे स्तः, इत्यर्थः ।

१—धिगुपर्यादिष्विति द्वितीया । एवमग्रेऽपि । २—सम्बोधनप्रथमान्तस्य 'साऽऽमन्त्रितम्' इत्यनेन—आमन्त्रितसञ्ज्ञा । वाक्यादौ प्रयुज्यमानस्य आमन्त्रितस्य असूया-सम्मति-कोप-कुत्सन-भर्त्सनेषु गम्येषु द्वे स्तः, इत्यर्थः । ३—असूयोदाहरणम् । ४—सम्मतौ देव देवेति । कोपे दुर्विनीतेत्यादि । कुत्सने-धानुष्केति । भर्त्सने-चोर चोरेति । ५—एकम्—इत्यस्य द्वित्वे-एकम् एकम् इति स्थिते 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो' रिति सुपो लुकि पुनः प्रातिपदिकत्वेन समुदायात् सुप् । एकैकम् । ६—कृत्तद्धितसमासाश्चेत्यनेन प्रातिपदिकत्वम् । सुब्लुक उदाहरणमेतत् । ७—पुंवद्भावोदाहरणमिदम्—'एकया' इत्यस्य द्वित्वे सति—'एकया एकया' इति स्थिते बहुव्रीहिवद्भावेन समुदायस्य प्रातिपदिकत्वात् द्वयोरपि सुपोर्लुकि पुंवद्भावे समुदायात् पुनस्तृतीयोत्पत्तौ रूपम्, एकैकया ।

२२०२—वाक्य के आदि में प्रयुज्यमान आमन्त्रित को द्वित्व होता है असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन और भर्त्सन गम्य रहते ।

२२०३—द्वित्व करने पर एक शब्द बहुव्रीहिवत् होता है ।

२२०४—पीडा गम्य हो तो द्वित्व होता है और बहुव्रीहिवद्भाव भी होता है ।

वीप्सायां द्वे स्तो बहुव्रीहिवच्च । गतगतः । गतगता ।

२२०५ प्रकारे गुणवचनस्य ८ । १ । १२ ॥

सादृश्ये द्योत्ये गुणवचनस्य द्वे स्तस्तच्च कर्मधारयवत्[2] । पटुपट्वी । पटुपटुः[3]= पटुसदृशः, ईषत्पटुरिति यावत् । (आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये) । मूले मूले स्थूलः[4] । (संभ्रमेण[5] प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः[6]) । सर्प २ बुध्यस्व २ । सर्प ३ बुध्यस्व ३ । (कर्मव्यतिहारे[7] सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये । समासवच्च बहुलम्) । बहुलग्रहणादन्यपरयोर्न[8] समासवत् । इतरशब्दस्य तु नित्यम्[9] । (असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः) । [10]अन्योन्यं विप्रा नमन्ति । अन्योन्यौ । अन्योन्येन

१—बहुव्रीहिवत्त्वेन सुपो लुक्=गतगतः, पुंवद्भावे-गतगता । २—तेन कर्मधारयवद्भावेन ('पट्वी पट्वी इति' द्वित्वे) पटुपट्वी, इत्यत्र पूर्वभागस्य 'पुंवत्कर्मधारय' इत्यनेन पुंवद्भावः । ३—पुंसि, ङीषभावे द्विवचने रूपं= पटुपटुः, कर्मधारयत्वफलं सुपो लुक् । ४—पूर्वपूर्वो भाग उत्तरोत्तरमूलभागापेक्षया स्थूल इत्यर्थः । ५—सम्भ्रमेण=(भयादिकृतया त्वरया) प्रवृत्तौ गम्यमानायां, यथेष्टम्—इच्छानुसारेण, अनेकधा=बहुवारं शब्दः प्रयोक्तव्यः, इति वक्तव्यमित्यर्थः । ६—न्यायसिद्ध इति, यावद्वारं प्रयोगे सति बोद्धा अर्थं प्रत्येति तावद्वारं प्रयोगः इत्यर्थः । न तु यथेष्टमित्युक्तेरसकृत्त्वेऽपि- एकस्य प्रयोगो विधेय इति भावः । ७—कर्मव्यतिहारः=क्रियाविनिमयः, तस्मिन् गम्ये सर्वनाम्नो द्वे स्तः, ते द्विरुक्ते पदे बहुलं समासवत् । ८—अन्यशब्द-परशब्दयोर्बहुलग्रहणात्समासवद्भावो नेत्यर्थः । ९—समासवद्भाव इति शेषः । १०—द्वितीयान्तस्य "अन्य" शब्दस्य द्वित्वे, 'अन्यम्-अन्यम्' इति बाहुलकत्वेन समासवत्त्वाऽभावे, 'असमासवद्...इति वार्तिकेन' पूर्वखण्डे द्वितीयैकवचनस्य 'अम्' इत्यस्य सुरादेशः, रुत्वम्, 'अतो रो' रिति उत्वे पूर्वरूपे, अन्योऽन्यम्, एवमग्रेऽपि ।

२२०५—सादृश्य द्योत्य हो तो गुणवाचक शब्द को द्वित्व होता है और वह द्विरुक्त शब्द कर्मधारयवत् होता है । (आनुपूर्व्य अर्थ गम्य हो तो द्वित्व होता है) (संभ्रम से प्रवृत्ति हो तो यथेष्ट अनेकधा प्रयोग न्यायसिद्ध है) । (क्रिया विनिमय द्योत्य हो तो सर्वनाम को द्वित्व होता है और वह द्विरुक्त शब्द समासवत् होता है बहुलता करके) । (जहाँ अन्य और पर शब्द को समासवद्भाव नहीं होता वहाँ पूर्वपदस्थ सुप् को (सभी विभक्तियों को) सु आदेश होता है) ।

कृतम् । अन्योन्यस्मै दत्तमित्यादि । (स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वाच्यः) । अन्योन्याम् । अन्योन्यम् । परस्पराम् , परस्परम् । इतरेतराम् , इतरेतरम्—वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः ।

दलद्वये टाबभावः क्लीबे चादड्विरहः स्वमोः ।
समासे सोरलुक् चेति सिद्धं बाहुलकात्त्रयम् ॥

अन्योन्यमित्यादौ दलद्वये टाप् । अद्ड्तरेत्यद्ड् च प्राप्तः । 'अन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्' । अन्योन्याश्रयः । परस्पराक्षिसादृश्यम् । अदृष्टपरस्परैरित्यादौ सोर्लुक् च प्राप्तः । सर्वं बाहुलकात्समाधेयम् । ॥ इति द्विरुक्तप्रक्रिया ॥

अथ स्त्रीप्रत्ययाः

२२०६ स्त्रियाम् ४ । १ । ३ ॥

अधिकारोऽयम् । समर्थानामिति यावत् ।

१—दलद्वये-इति । अयमर्थः—इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा अन्योऽन्यम् , परस्परं वा भोजयतः, इत्यत्र स्त्रियाम् अन्योऽन्यम् इत्यादौ 'टाप्' दलद्वये = खण्डद्वयेऽपि प्राप्तो बाहुलकान्न भवति । ततश्च द्वितीयैकवचने प्रथमखण्डस्थस्य—'अमः' स्वादेशे, उत्तरखण्डे च आम्-भावे अन्योऽन्याम् , आमभावपक्षे—अन्योऽन्यमिति । अथ क्लीबे-अद्ड्डतरादिभ्यश्चेति स्वमोरद्डादेशः प्राप्नोति, स चापि बाहुलकान्न भवति । ततश्च पूर्ववत् अन्योऽन्यम् अन्योऽन्याम् इति रूपद्वयम् । तथा च—'अन्योऽन्यसंसक्त' मित्यादौ 'परस्पराक्षिसादृश्य' मित्यादौ च समासे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो' रिति सुलुक् प्राप्तो बाहुलकान्न भवति । तदुक्तम्-सिद्धं बाहुलकात्त्रयम् इति । परस्परमित्यत्र कस्कादित्वाद्विसर्गस्य सत्वं बोध्यम् , आम्भावे परस्पराम् ।

इति श्रीप्रभाकरीविवृतौ म० कौ० टीकायां तद्धितप्रकरणं सम्पूर्णम् ।

(स्त्री और नपुंसक लिङ्ग में अन्य और पर शब्दकी उत्तर पदस्थ विभक्ति को आम् आदेश होता है बहुलता करके) दलद्वये इति स्त्रीलिङ्ग में पूर्वोत्तर दोनों दलों में टाप् का अभाव, नपुंसक में सु तथा अम् को अद्ड् का अभाव और समास में सु का अलुक् ये तीनों बहुल ग्रहण से सिद्ध होते हैं ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः

२२०६—"स्त्रियाम्" यह अधिकार सूत्र है । ("समर्थानां प्रथमाद् वा" इस सूत्र तक यह अधिकार जाता है) ।

२२०७ अजाद्यतष्टाप् ४ । १ । ४ ॥

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत्स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह—पञ्चाजी । अत्र हि समासार्थसमाहारनिष्ठं स्त्रीत्वं । अतः—खट्वा । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता । (सं–भस्त्राजिन–शण–पिण्डेभ्यः फलात्) । संफला । भस्त्र-फला, इत्यादि । (सदच्–काण्ड–प्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्) । सत्पुष्पा ।

१—'अज' आदिर्यस्य सोऽजादिर्गणः, अजादिश्च अच्चेति तयोः समाहारः = अजाद्यत्, तस्य अजाद्यतः, वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तस्मिन् = स्त्रीत्वे द्योत्ये अजादि-गणपठितात् अकारान्ताच्च प्रातिपदिकात् टाप् स्यादित्यर्थः । अजादिगणपठितानां अजादिशब्दानाम्, अदन्तत्वात्सिद्धेऽपि टापि–अजाद्युक्तिः बाला, वत्सा, इत्यादौ "वयसि प्रथमे" इति ङीषः, अजा, एडका इत्यादौ 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति ङीपश्च बाधनायेति । २—'अजाद्यत' इति षष्ठ्याश्रयणाद् अजादीनाम् अदन्तस्य च वाच्ये स्त्रीत्वे टाबित्येवम् अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणाद् इत्यर्थः । पञ्चा-जीति—पञ्चानामजानां समाहारः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः । 'अका-रान्तोत्तरपदे द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीत्वे 'द्विगो' रिति ङीप्, 'यस्येति चे'ति अकारलोपे, पञ्चाजी । नात्र अजशब्दवाच्यं स्त्रीत्वम्, किन्तु पञ्चाजशब्दे समा-सार्थभूतो यः समाहारः, तन्निष्ठं स्त्रीत्वम्, अतो न टाप्, तदेवाह–अत्र समा-सार्थेति । ३—अतः = अकारान्तात् टाप्–उदाह्रियते इत्यर्थः, खट्वेति । ४—अजादिगणाट्टाबुदाह्रियते, अजा, इत्यादि । ५—सम्भस्त्रादिपूर्वात् फलशब्दात् टाप् स्यान्न तु पाककर्णेति ङीष् इत्यर्थः । समृद्धानि फलानि यस्याः सा=सम्फला । भस्त्रेव फलानि यस्याः सा = भस्त्रफला, ङ्यापोरिति ह्रस्वः । ६—सदादिशब्दात् पुष्पशब्दात् टाप् स्यान्न तु पाक-कर्णेति ङीष्, इत्यर्थः । सत्पुष्पा, प्राञ्चि पुष्पाणि यस्याः = प्राक्पुष्पा, इत्यादि ।

२२०७—अजादिगणपठित शब्दों से और अदन्त शब्दों से तद्वाच्य स्त्रीत्व द्योत्य रहते टाप् प्रत्यय होता है ।

अजादिभिरिति, अजादि वाच्य स्त्रीत्व द्योत्य रहते टाप् होता है ऐसा कहनेसे 'पञ्चाजी' में टाप् नहीं हुआ, क्योंकि—यहाँ स्त्रीत्व अज शब्द वाच्य नहीं है, किन्तु समासार्थ समाहार से बोध्य है । (सम्, भस्त्रा, अजिन, शण और पिण्ड शब्द पूर्वक फल शब्द से टाप् होता है) । (सत्, प्राञ्च्, काण्ड, प्रान्त, शत और

प्राक्पुष्पा । प्रत्यक्पुष्पा । (शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः)[1] । पुंयोगे तु शूद्री । अमहत्पूर्वा किम्— महाशूद्री । कुञ्चा[2] । उष्णिहा । देवविशा । ज्येष्ठा । कनिष्ठा । मध्यमेति पुंयोगेऽपि[3] । कोकिला[4] जातावपि । (मूलान्नञः) । अमूला[5] ।

२२०८ उगितश्च[6] ४ । १ । ६ ॥

ङीप् । भवन्ती । पचन्ती ।

२२०९ वनो र च[7] ४ । १ । ७ ॥

वन्नन्तात्तदन्ताच्च ङीप् स्याद्रश्चान्तादेशः । सुत्वानमतिक्रान्ता अतिसुत्वरी । अतिधीवरी । (वनो न हश इति वक्तव्यम्[8]) । अवावा[9] ब्राह्मणी । राजयुध्वा ।

१—शूद्रा जातिर्वाच्या चेत् अमहत्पूर्वः शूद्रशब्दः स्त्रियां टापं लभते-इत्यर्थः, जातिलक्षणङीषोऽपवादः । शूद्रा=शूद्रजातीया स्त्रीत्यर्थः । पुंयोगे शूद्री । २—कुञ्चादीनाम् अजादित्वेन टाप् । ३—ज्येष्ठादिभ्यः 'पुंयोगादाख्यायाम्', इति प्राप्तो ङीषप्यनेन (अजाद्यत इत्यनेन) बाध्यते इत्यर्थः । ४—कोकिलशब्दस्य जातावपि जातिलक्षणङीषं बाधित्वा टाबर्थम् इह पाठ इत्यर्थः । ५—न विद्यमानं मूलं यस्या इति विग्रहः । ६—उगिदन्तात्प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यादित्यर्थः । भवन्ती पचन्ती दीव्यन्ती, इति शतृप्रत्ययान्तेभ्यो ङीप् । "शप्श्यनोर्नित्यम्" इति नुम्, (भा-धातोर्डवतुप्रत्यये भवत्शब्दाद् उगित्वेन ङीपि तु 'भवती' इति रूपम्) । ७—'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति सुधातोः ङ्वनिप्, तुक्, 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः, 'अतिसुत्वन्' शब्दात् ङीप्, नकारस्य रेफादेशे=अतिसुत्वरी, एवम्—धाधातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्वनिपि 'घुमास्थे'ति ईत्वे, समासे, अतिधीवन् इत्यतो ङीपि रेफादेशे—अतिधीवरी शॄधातोः-अन्येभ्योऽपीति वनिपि, गुणे शर्वन् शब्दात् ङीप्, रेफादेशे=शर्वरी । ८—हशन्ताद् धातोः विहितो यो 'वन्' तदन्तात्तदन्तान्ताच्च प्रातिपदिकात् ङीप् रश्च नेत्यर्थः । ९—ओणृ अपनयने इत्यस्मात्, अन्येभ्योऽपीति वनिप्, (ओण्+वन्) 'विड्वनोरनुनासिकस्ये'ति

एक शब्द पूर्व रहते पुष्प शब्द से टाप् होता है) । (जाति वाच्य हो और महत् शब्द पूर्व में न हो तो शूद्र शब्द से टाप् होता है स्त्रीत्व द्योत्य रहते) ।

(नञ्-पूर्वक मूल शब्द से टाप् होता है) ।

२२०८—उगित्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ।

२२०९—वन्नन्त और वन्नन्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है और न को रेफ आदेश होता है । (हशन्त धातु से विहित जो वन्

(बहुव्रीहौ वा) । बहुधीवा[2] । बहुधीवरी ।

२२१० पादोऽन्यतरस्याम् ४ । १ । ८ ॥[3]

द्विपदी । द्विपात् ।[4]

२२११ टाबृचि ४ । १ । ९ ॥[5]

द्विपदा ऋक् । एकपदा ।

२२१२ मनः ४ । १ । ११ ॥[6]

मन्नन्तान्न ङीप् । सीमानौ ।

२२१३ अनो बहुव्रीहेः ४ । १ । १२ ॥

अन्नन्ताद्बहुव्रीहेर्न ङीप् । बहुयज्वा[7], बहुयज्वानौ ।

२२१४ डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ४ । १ । १३ ॥

णकारस्याऽऽत्वे, ओकारस्य अवादेशे, अवावन्–शब्दात् 'वनो र चे'ति ङीपि प्राप्ते 'वनो न हश' इति निषेधे नान्तोपधादीर्घादौ, अवावा । एवं–राजयुध्वा 'राजनि युधि कृञ' इति क्वनिप् , ङीब्निषेधे उपधादीर्घादि, राजयुध्वा ।

१—ङीप् रश्चेति शेषः । २—बहवो धीवानो यस्यां नगर्य्याम् , इति विग्रहः । सिद्धिः पूर्ववत् । ३–पाद्–शब्दः कृतसमासान्तः–तदन्तात्प्रातिपदिकात् ङीब् वा स्यादित्यर्थः । ४—द्वौ पादौ यस्या इति बहुव्रीहौ 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' इति पादशब्दस्यान्तलोपः,ङीपि भत्वात् 'पादः पत्' इति पदादेशे द्विपदी, पक्षे-द्विपात् । ५—ऋचि वाच्यायां पादान्ताट्टाप् स्यादित्यर्थः–द्विपदा । ६—'न षट्' त्यतो नेत्यनुवर्तते, ऋन्नेभ्य इत्यतो ङीबिति चानुवर्तते । 'ऋन्नेभ्य' इति प्राप्तो ङीप् निषिध्यते, सीमा इति षिञ् बन्धने–इत्यस्माद् औणादिको मनिन् प्रत्ययः, प्रकृतेर्दीर्घश्च, सीमन्शब्दात् ङीपि निषिद्धे राजशब्दवद्, रूपाणि । ७—बहवो यज्वानो यस्यां नगर्यामिति

और तदन्तान्त को ङीप् और रेफादेश नहीं होता) । (बहुव्रीहि में पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होता है) ।

२२१०—कृत समासान्त पाद् शब्द से स्त्रीत्व योत्य रहते ङीप् विकल्प करके होता है ।

२२११—ऋचा वाच्य हो तो पद् शब्दान्त से टाप् होता है ।

२२१२—मन् प्रत्ययान्त से ङीप् नहीं होता ।

२२१३—अन्नन्त बहुव्रीहि से ङीप् नहीं होता ।

२२१४—मन्नन्त और अन्नन्तों से विकल्प करके डाप् प्रत्यय होता है ।

सूत्रद्वयोपात्ताभ्यां डाब् वा । सीमा । सीमे, सीमानौ । दामे, दामानौ ।

२२१५ अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ४ । १ । २८ ॥

अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनो वा ङीप् । पक्षे डाब्-निषेधौ । बहुराज्ञी । बहुराज्ञ्यौ । बहुराजा । बहुराजानौ ।

२२१६ प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७ । ३ । ४४ ॥

प्रत्ययस्थात् ककारात्पूर्वस्याऽकारस्येकारः स्यादापि परे स आप् सुपः परो न चेत् । सर्विका । कारिका । अतः किम्-नौका । प्रत्ययस्थात्किम्-शक्नोतीति शका । असुपः किम्-बहुपरिव्राजका नगरी । (मामक-नरकयोरुपसंख्यानम्)

विग्रहः । 'वनो र चे' ति प्राप्तो ङीप् निषिद्धयते ।

१—'मनः' 'अनो बहुव्रीहेः' इति सूत्रद्वयोक्ताभ्यामित्यर्थः । २—डाप्प्रत्यये डित्वाट्टिलोपे सीमा, सीमे, सीमाः, इत्यादि रमावत् । अन्यत्र पक्षे सीमानौ राजवत् । एवं दामा दामे, दामानौ । ३—बहवो राजानो यस्याम् इति बहुव्रीहौ बहुराजन्शब्दात् 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीब्निषेधे 'डाबुभाभ्याम् ' इति डापि च प्राप्ते—'अन उपधालोपिन' इति वैकल्पिको ङीप्, ततश्च-अल्लोपे श्चुत्वे सोर्हल्ङ्यादिति लोपे बहुराज्ञी, नदीवत्, पक्षे डापि रमावत्—बहुराजा, बहुराजे, ङीब्निषेधे च राजवत्—बहुराजा बहुराजानौ इत्यादि । ४—सर्वशब्दात् स्त्रियां टापि सवर्णदीर्घे, 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' इति टेः प्रागकच्, अकचः 'अक्' इत्यवशिष्यते, (सर्व् + अक् + आ) सर्वका-शब्दे ककारात्पूर्वस्य अकारस्य इत्वे 'सर्विका' इति रूपम् । एवं-कारिका, कृञो ण्वुल् अकादेशः, ऋकारस्य-'अचो ञ्णिति' वृद्धिः, रपरत्वं, कारक-शब्दात् स्त्रियां टापि सवर्णदीर्घे, कात्पूर्वस्य-अकारस्य इत्वम् । ५—नौशब्दात्स्वार्थे कः, ततः स्त्रियां टाप्, कात्पूर्वम् औकारो नत्वकार इति न इत्वम्, नौका । ६—शक्लृ-धातोः पचाद्यच्, ततः स्त्रियां टाप्, नात्र ककारः प्रत्ययस्थः, किन्तु प्रकृतिस्थः, अतो न इत्वम्, शका । ७—परिपूर्वात् व्रजधातोः ण्वुलि-'परिव्राजक' इति । बहवः परिव्राजका यस्याम् इति बहुव्रीहौ 'सुपो धातु' इति सुपो लुकि, बहुपरिव्राजक-शब्दात् टापि = बहुपरिव्राजका, अत्राऽकारस्य कात्पूर्वस्य इत्वं न समासे लुप्तस्य सुपः प्रत्ययलक्षणेनाश्रयणात्-आपः सुबपेक्षया परत्वात् । ८—अनयोः ककारा-

---

२२१५—उपधा लोपी अन्नन्त बहुव्रीहि से विकल्प करके ङीप् होता है ।

२२१६—प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती अकार को इकार होता है आप् परे रहते, यदि वह आप् सुप् से परे न हो । (मामक और नरक शब्द में ककारसे

मामिका[1]। नरिका। (त्यक्-त्यपोश्च[2])। दाक्षिणात्यिका[3]। इहत्यिका।

२२१७ न यासयोः ७। ३। ४५॥

यत्तदोरस्येत्[4]। यका[5]। सका। यकाम्[6]। तकाम्। (त्यकनश्च[7] निषेधः) उप-

---

त्पूर्वस्याऽकारस्य-इत्वं वक्तव्यम् इत्यर्थः। ककारस्य प्रत्ययस्थत्वाऽभावादप्राप्ते वचनम्।

१—ममेयम् इति विग्रहे, अस्मद्-शब्दात् 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्याम्' इति अण् प्रत्यये, "तवकममकावेकवचने" इति ममकादेशः, आदिवृद्धिः, टाप्, इत्वे मामिका। (अणन्तत्वात् 'टिड्ढे' ति ङीप् तु न केवलमामकेत्यत्र संज्ञाच्छन्दसोरेवेति नियमात्)। नरान् कायतीति नरिका 'कै शब्दे' इत्यस्मात्, (आदेच उपदेशे) इत्यात्वे 'आतोऽनुपसर्गे' इति क-प्रत्ययः, 'आतो लोप' इत्यालोपः, उपपदसमासः, सुपो लुक् टाप्। २—त्यगन्ते त्यबन्ते च प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्याऽकारस्य इत्वं वक्तव्यम् इत्यर्थः। 'उदीचामातः स्थाने' इति विकल्पापवादोऽयम्। ३—'दक्षिणस्यां दिशि अदूरे'—इति विग्रहे 'दक्षिणादाच्' इत्याच्प्रत्यये, दक्षिणाशब्दः, तस्य तद्धितश्चासर्वविभक्तिरित्यव्ययत्वम्। ततो भवार्थे—दक्षिणा भवा इति विग्रहे 'दक्षिणा-पश्चात् पुरसस्त्यक्' इति त्यक्। 'किति चे'ति—आदिवृद्धिः, टाप्,—दाक्षिणात्या—शब्दात् स्वार्थे कः, "केऽणः" इति ह्रस्वः, पुनः—दाक्षिणात्यक-शब्दात् टाप्, इत्वम्—दाक्षिणात्यिका इति सिद्ध्यति। एवम् "इह" इत्यव्ययात् 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यपि, टापि, स्वार्थिके के, अणो ह्रस्वे, पुनष्टापि इत्वे—इहत्यिका। ४—प्रत्ययस्थादिति प्राप्ते निषेधोऽयम्। यासेति यत्तदोरुपलक्षणम्, न तु प्रथमान्तानुकरणम्, तथात्वे—यकाम् इत्यत्र निषेधो न स्यात्। ५—यत्-तत्-शब्दयोः 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्' इति टेः प्रागकचि सौ त्यदाद्यत्वं, पररूपम्, टाप्, हल्ङ्याब्भ्य इति सुलोपः, तच्छब्दे 'तदोः सः' इति तकारस्य सत्वम्, प्रत्ययस्थादिति प्राप्तस्य इत्वस्य निषेधः, यका, सका। ६—सूत्रे यासेति प्रथमान्तानुकरणत्वाऽभावेन द्वितीयादावपीत्वनिषेधः—इति ध्वनयन् द्वितीयान्तमुदाहरति, यकाम्, तकाम्। ७—त्यकन् प्रत्ययान्तस्यापि प्रत्ययस्थादितीत्वप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः।

पूर्ववर्ती अकार को इत्व होता है)। (त्यक् और त्यप् प्रत्ययान्त शब्द में प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती अकार को इत्व होता है)।

२२१७—यत् और तत् शब्द के अकार को इत्व नहीं होता। (त्यकन्

त्यका । अधित्यका । (आशिषि वुनश्च न) । जीवका । भवका । (उत्तरपदलोपे न) । देवका । देवदत्तिका । (क्षिपकादीनां च) । क्षिपका । ध्रुवका । चटका । कन्यका । (तारका ज्योतिषि) । (वर्णका तान्तवे) । (वर्तका शकुनौ प्राचाम्) (अष्टका पितृदेवत्ये) । (सूतका-पुत्रिका-वृन्दारकाणां वेति वक्तव्यम्) । एषां

१—उप-अधि-शब्दाभ्याम्—'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्, टाप्, सुलोपे, इत्वनिषेधे—उपत्यका, अधित्यका । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । २—आशिषि यो वुन् तस्य योऽयमकादेशः तदकारस्य 'प्रत्ययस्थादि'ति-इत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । जीवतादिति-जीवका, भवतादिति-भवका । जीवधातोः, भूधातोश्च, 'आशिषि च' इति वुन् 'युवोरनाकौ' इत्यकादेशः । भूधातोः सार्वधातुकेति गुणः, अवादेशः, टाप् । ३—उत्तरपदलोपेऽपि इत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । ४—देवदत्तशब्दात् स्वार्थे कः, उत्तरपदलोपः, इत्वनिषेधे-देवका, 'देवदत्तिका' इति तु दत्तपदस्य लोपाभिव्यक्तये-उपन्यस्तम् । ५—इत्वं नेत्यर्थः । उदीचाम् इति प्राप्ते निषेधः । क्षिप् प्रेरणे-इत्यस्मात् 'इगुपधेति' कः, कित्वान्न गुणः, टाप्, क्षिपा-शब्दात् स्वार्थे कः,पुनष्टाप्, केऽणः इति ह्रस्वः, क्षिपका, इत्यादि । ६—ज्योतिषि वाच्ये तारका इत्यत्र इत्वं न भवतीति यावत् । अन्यत्र तारिका इति । ७—तान्तवे = तन्तुविकारे गम्ये-वर्णका इत्यत्र इत्वं न भवतीत्यर्थः । वर्णका = प्रावारविशेषः । अन्यत्र वर्णिका = ग्रन्थविशेषस्य व्याख्यायाः संज्ञेयम् । ८—शकुनौ वाच्ये-वर्तका इत्यत्र इत्वं न भवतीति यावत् । प्राचामित्युक्तेः, उदीचां वर्तिका इति नित्यमेवेत्वम् । ९-पितृदेवत्ये कर्मणि वाच्ये, अश्नन्ति पित्रर्थे ब्राह्मणा यस्याम्, इति विग्रहे अश-धातोः 'इष्यशिभ्यां तकन्'

प्रत्ययान्त में भी इत्व नहीं होता) । (आशीर्वाद अर्थ में जो वुन् प्रत्यय तदादेश अक के अकार को भी इत्व नहीं होता) । (उत्तरपद लोप में भी इत्व नहीं होता) (क्षिपकादि शब्दों में भी इत्व नहीं होता) ।

(ज्योति वाच्य हो तो 'तारका' ही बनता है अर्थात् इत्व नहीं होता) । (तन्तु विकार बोध्य हो तो वर्णका शब्द में इत्व नहीं होता) । (शकुनि वाच्य हो तो वर्तका शब्द में इत्व नहीं होता प्राच्यों के मत में) । (पितृदेवत्य कर्म वाच्य हो तो अष्टका शब्द से इत्व नहीं होता) (सूतका पुत्रिका और वृन्दारका शब्द में इत्व विकल्प करके होता है) ।

वा अकारो भवतीत्यर्थः । सूतिका, सूतकेत्यादि ।

२२१८ अर्थीषामातः स्थाने यकपूर्वायाः ७ । ३ । ४६ ॥

यकपूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्यातः स्थाने योऽत् तस्य कात्पूर्वस्येद्वाऽऽपि परे । केऽणः इति ह्रस्वः । आर्यिका[२] आर्यका, । चटकका, चटकिका । आतः किम्-साङ्काश्ये भवा=सांकाश्यिका[३] । यकेति किम्-अश्विका[४] । स्त्रीप्रत्ययस्य किम्—शुभंयिका[५] ।

२२१९ अभाषितपुंस्काच्च[६] ७ । ३ । ४८ ॥

इति तकन्प्रत्ययः, व्रश्चेति शस्य षत्वम्, तकारस्य ष्टुत्वेन टः, अष्टकशब्दाट्टापि, इत्वनिषेधे-अष्टका । अन्यत्र अष्टौ-अध्यायाः परिमाणम् अस्या इति-अष्टिका= अष्टाध्यायी ।

१—सूतकाशब्दे अकारस्याऽकारविधानम् इत्वबाधनार्थम्, पक्षे सूतिका । एवम्-वृन्दारका । पुत्रीशब्दे कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे, इकारस्याऽकारादेशो वा-पुत्रका, पुत्रिका । २—आर्या-शब्दात् कप्रत्यये, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनः आर्यकशब्दात् टापि, वैकल्पिके इत्वे-आर्यिका, आर्यका । एवम्—चटका-शब्दात् कप्रत्यये ह्रस्वे पुनष्टापि इत्वविकल्पः, चटकिका, चटकका । ३—सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरं साङ्काश्यम्, 'वुञ्छण्' इति ण्यप्रत्यये, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यलोपे, साङ्काश्यम् इति, तत्र भव इत्यर्थे तस्माद् 'धन्वयोपधे'ति वुञ्, अकादेशः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपो टाप्, प्रत्ययस्थेति नित्यमित्वे साङ्काश्यिका । इह यकारात् परस्याऽकारस्याऽऽकारस्थानिकत्वाऽभावाद् इत्वविकल्पो न भवतीति भावः । ४—अश्वैव—अश्विका । अश्वा—शब्दात् कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे पुनष्टापि रूपमिदम्, प्रत्ययस्थेति नित्यम् इत्वमिति । अत्राऽकारस्याऽऽकारस्थानिकत्वेऽपि यक-पूर्वकत्वाऽभावादित्वविकल्पो नेत्यर्थः । ५—शुभम्—इति मान्तेऽव्यये पूर्वपदे याधातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति विच्प्रत्यये, शुभंया—शब्दात् अज्ञातार्थे कः,'केऽणः' इति ह्रस्वः, टाप्, प्रत्ययस्थेति नित्यम् इत्वे शुभंयिका । अत्र यकारात्परस्याकारस्य धात्ववयवस्य स्त्रीवाचकत्वाऽभावादित्वविकल्पो नेत्यर्थः । ६—न भाषितः पुमान् येन सोऽभाषितपुंस्कः, उपलक्षणमेतत् । नपुंसकलिङ्गाऽभावस्या-

---

२२१८—यकार ककार पूर्वक स्त्री प्रत्यय के आकार के स्थान में हुआ जो अकार उसको यदि वह ककार से पूर्व हो तो इत्व विकल्प से होता है आप् परे रहते ।

२२१९—अभाषितपुंस्क शब्द से विहित आकारस्थानिक अकारको इत्व

एतस्मादिदित्स्यातः स्थानेऽत इद्वा । गङ्गका । गङ्गिका ।

२२२० आदाचार्याणाम् ७ । ३ । ४९ ॥

पूर्वविषये । गङ्गाका ।

२२२१ अनुपसर्जनात् ४ । १ । १४ ॥

अधिकारोऽयं यूनस्तिरित्यभिव्याप्य ।

२२२२ टिड्-ढाणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः ४ । १ । १५ ॥

अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं ततो ङीप् । कुरुचरी । उपसर्जनत्वान्नेह । बहुकुरुचरा । नदट्—नदी । देवट्—देवी । सौपर्णेयी । ऐन्द्री औत्सी । ऊरु-

---

पीति, तेन नित्यस्त्रीलिङ्गस्येति लभ्यते । अयक-पूर्वार्थं वचनम् ।

१—गङ्गाशब्दात् कप्रत्यये ह्रस्वे पुनष्टापि, इत्वविकल्पः । २—पूर्वसूत्र-विषये 'आद्' वा स्यादित्यर्थः । गङ्गाका । ३—न-उपसर्जनम् अनुपसर्जनम्, उपसर्जनत्वं च समासादौ गुणीभूतत्वम् । ४—टिड्ढादि = टित्-ढ-अण्-अञ्-द्वयसज्-दघ्नञादि, तदन्ताद् अकारान्तात् स्त्रियां ङीप् स्यादित्यर्थः । ५—कुरुषु चरतीति—कुरुचरी, 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः, तस्य टित्वात्तदन्तात् "कुरुचर" इत्यदन्तात् स्त्रियां ङीप् 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । ६—बहवः कुरुचरा यस्यां नगर्यां सा बहुकुरुचरा । बहुव्रीहिसमासोऽयम्, अन्यपदार्थ-प्रधानत्वात् टिदन्तस्य 'कुरुचर' इत्यस्य गुणीभूतत्वेनोपसर्जनत्वात् न ङीप्, इत्यर्थः । ७—पचादिषु टित एव पठिता इमे शब्दा अतः स्वत एव टित एते । ८—सुपर्ण्या अपत्यं स्त्रीति सौपर्णेयी, 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढक् प्रत्ययः, ढस्य-एय् 'किति चे'ति-आदिवृद्धिः, स्त्रियां सौपर्णेयशब्दात् ढान्तत्वेन ङीपि, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । इन्द्रस्येयम् इति-ऐन्द्री, 'तस्येदमि'ति अणि, आदि-वृद्धिः, अणन्ताद् ऐन्द्र-शब्दात् ङीपि, अकारलोपे रूपम् । उत्सस्येयमिति औत्सी,

---

विकल्प से होता है ।

२२२०—पूर्व सूत्र के विषय में आत्व होता है विकल्प करके ।

२२२१—यह सूत्र अधिकार है यूनस्ति सूत्र पर्यन्त ।

२२२२—अनुपसर्जन अर्थात् जो गौण नहीं हैं ऐसे जो टिदाद्यन्त अदन्त प्रातिपदिक, उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है ।

दयसी । ऊरुद्घ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । लावणिकी । यादृशी । इत्वरी । (नञ्-स्नञीकक्-ख्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम्) । [1]स्त्रैणी । पौंस्नी । शाक्तीकी । आढ्यंकरणी । तरुणी । तलुनी ।

२२२३ यञश्च ४ । १ । १६ ॥

'उत्सादिभ्योऽञ्' इत्यञ्, आदिवृद्धिः, अजन्ताद् औत्स-शब्दात् ङीपि, अकार-लोपः । उत्सस्याऽपत्यं स्त्रीति विग्रहे तु जातेरित्यनुवृत्तौ "शार्ङ्गरवाद्यञः" ङीन् भवति, स्वरे भेदः । ऊरू प्रमाणम् अस्याः, इति विग्रहे 'प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः' इति प्रत्ययत्रये ङीपि अकारलोपे ऊरुद्वयसी, ऊरुद्घ्नी, ऊरुमात्री = सरसी नदी वा । पञ्च अवयवा अस्या इति पञ्चतयी, 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' ङीप् । अक्षैर्दीव्यतीति विग्रहः, 'तेन दीव्यती'त्यादिसूत्रेण ठक्, ठस्येकः, आदि-वृद्धिः, ततो ङीप् आक्षिकी । लवणं पण्यम् अस्या इति विग्रहे 'लवणाट्ठञ्' इति ठञ्, आदिवृद्धिः, ठस्येकः, यस्येत्यकारलोपे, लावणिक-शब्दात् ङीपि, अकार-लोपे लावणिकी । 'यद्'-शब्दे उपपदे 'त्यादिषु दृशो' इति कञ् "आ सर्वनाम्न" इति दकारस्याऽऽत्वे ङीप्-अकारलोपः, यादृशी । एति तच्छीला इत्वरी, 'इण् गतौ' इत्यस्मात् 'इण्-नश्-जि-सर्तिभ्यः' इति क्वरप् प्रत्ययः, ह्रस्वस्येति तुक् 'इत्वर' शब्दात् ङीपि अकारलोपे इत्वरी ।

१—नञ्-स्नञ्-ईकक्-ख्युन्-इत्येतत्प्रत्ययान्तानां तरुण-तलुनशब्दयोश्च ङीपो विधिवचनं कर्तव्यमित्यर्थः । २—स्त्रिय इयं स्त्रैणी 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्-स्नञौ' इति नञ्प्रत्यये, आदिवृद्धौ, णत्वे, 'स्त्रैण' इत्यस्मात् ङीपि-अकारलोपे रूपमिदम् । एवं पुंस-शब्दात् स्नञि, आदिवृद्धिः, ङीप् अकारलोपः, पौंस्नी । शक्तिः प्रह-रणम् अस्या इति विग्रहे, "शक्तियष्ट्योरीकक्" इति ईककप्रत्यये, किति चेति वृद्धिः, ततो ङीप्, इ-लोपः, शाक्तीकी । अनाढ्यः आढ्यः क्रियतेऽनया इति विग्रहे 'आढ्यसुभगे'ति-ख्युन्प्रत्ययः, खनावितो, अनादेशः, 'अरुर्द्विषदिति' मुम्, आढ्य-पूर्वस्य कृञो गुणः, रपरत्वम्, णत्वम्, ततो ङीप्, अकारलोपः आढ्यङ्करणी ।

(नञ स्नञ् ईकक् और ख्युन् प्रत्ययान्त से तथा तरुण तलुन शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् प्रत्यय होता है ।

२२२३—यञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् प्रत्यय होता है ।

यञन्ताज्ज्यातिपदिकाद् ङीप् । अकारलोपे कृते ।

२२२४ हलस्तद्धितस्य ६ । ४ । १५० ॥

हल उत्तरस्योपधाभूतस्य तद्धितयकारस्य लोप इति । गार्गी ।

२२२५ प्राचां ष्फ तद्धितः ४ । १ । १७ ॥

यञन्तात्ष्फो वा ।

२२२६ षः प्रत्ययस्य १ । ३ । ६ ॥

प्रत्ययादिः ष इत्स्यात् । आयनेयीनीत्यायनादेशः । षित्त्वसामर्थ्यात्षिद्गौरेति ङीष् । गार्ग्यायणी ।

२२२७ वयसि प्रथमे ४ । १ । २० ॥

प्रथम-वयोवाचिनोऽदन्तात् ङीप् स्यात् । कुमारी । (वयस्यचरम इति वाच्यम्) । वधूटी । चिरण्टी ।

२२२८ द्विगोः ४ । १ । २१ ॥

अदन्तात् द्विगोर्ङीप् । त्रिलोकी । अजादित्वात्-त्रिफला, त्र्यनीका = सेना ।

तरुणी, तलुनी = युवतिरित्यर्थः । गौरादिपाठात् ङीषि प्राप्ते ङीबर्थमिह वचनम् । ङीष्-ङीपोः स्वरे विशेषः ।

१—गर्गादिभ्यो यञिति यञ् प्रत्ययान्ताद् गार्ग्य-शब्दात् ङीपि, 'यस्येति च' इति सूत्रेणाऽकारलोपे कृते यलोपे गार्गी, गर्गस्य गोत्राऽपत्यं स्त्रीति विग्रहः । २—गार्ग्य-शब्दात्, ष्फप्रत्यये, फस्याऽऽयन्, णत्वम्, षित्त्वाद् ङीष्, अकारलोपः, गार्ग्यायणी । ३—चरमम् = अन्तिमम्, तद्भिन्नम् अचरमम्, चरमवयोभिन्न-वयोवाचिनीत्यर्थः । 'प्रथम' इत्यपनीय, अचरम इति वक्तव्यमित्यर्थः । तेन यौवनवाचिन्यपि स्यादेव यथा—वधूटी, चिरण्टी । वधूटचिरण्टशब्दौ यौवनवाचिनौ । ४—त्रयाणां लोकानां समाहारः, इति विग्रहे 'तद्धितार्थो-त्तरपदसमाहारे च' इति द्विगुसमासः । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीत्वम्, टापोऽपवादो ङीप्, त्रिलोकी । ५—ननु त्रिलोकीवत् त्रिफला, त्र्यनीका,

---

२२२४—हल् से परवर्ती उपधा स्वरूप तद्धित यकार का लोप होता है ।

२२२५—यञन्त से ष्फ प्रत्यय (तद्धित) होता है विकल्प करके ।

२२२६—प्रत्यय का आदि षकार इत् होता है ।

२२२७—प्रथम अवस्था वाचक अदन्त शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है । (अन्तिम वय से भिन्न वयोवाची शब्द से ङीप् होता है ऐसा कहना चाहिये) ।

२२२८—अदन्त द्विगु से ङीप् होता है ।

२२२९ अपरिमाण-बिस्ताचित-कम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ४ । १ । २२ ॥

अपरिमाणान्ताद्विस्ताद्यन्ताच्च द्विगोर्न ङीप् तद्धितलुकि । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा आर्हीयष्ठक्, अध्यर्धेति लुक् । द्वौ बिस्तौ पचति द्विबिस्ता । द्व्याचिता । द्विकम्बल्या । परिमाणात्तु द्व्याढकी । तद्धितलुकि किम्—समाहारे-पञ्चाश्वी ।

२२३० काण्डान्तात्क्षेत्रे ४ । १ । २३ ॥

क्षेत्रे यः काण्डान्तो द्विगुस्ततो न ङीप् तद्धितलुकि । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा = क्षेत्रभक्तिः । मात्रचः-प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यमिति लुक् । क्षेत्रे किम्—द्विकाण्डी = रज्जुः ।

२२३१ पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ४ । १ । २४ ॥

इत्यत्रापि ङीप् स्यादित्यत आह—अजादित्वादिति, अजादिगणपाठादनयोः 'अजाद्यतष्टाप्' इति टाप्, तस्य ङीपोऽपवादत्वात् ।

१—'तद्धितार्थे'ति द्विगुः, आर्हादगोपुच्छेत्यधिकारे 'तेन क्रीत' मिति ठक् इत्यर्थः । 'अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' इति ठको लुक्, अत्र-अपरिमाणान्त-द्विगुत्वाद् द्विगोरिति प्राप्तस्य ङीपो निषेधः, टाप्, पञ्चाश्वा । २—तद्धितार्थेति द्विगुः 'सम्भवत्यवहरति पचती'त्यादिना ठक् तस्य अध्यर्धेति लुक्, द्विबिस्ता । एवम् अग्रेऽपि । ३—द्वौ आढकौ पचतीति विग्रहः, प्राग्वतीयष्ठञ्, तस्य 'अध्यर्धे'ति लुक् द्विगोरिति ङीप्, द्व्याढकी । ४—पञ्चानाम् अश्वानां समाहारः पञ्चाश्वी, नात्र तद्धितलुक्, इति न ङीब्निषेधः । ५—षोडशहस्तप्रमाणो दण्डः = काण्डम् । ६—द्वे काण्डे प्रमाणम् अस्या इति विग्रहे 'तद्धितार्थे'ति द्विगुसमासे, 'प्रमाणे द्वयसजिति' विहितस्य मात्रच्प्रत्ययस्य 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यमि'ति लुक्, द्विगोरिति प्राप्तस्य निषेधः, द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः = क्षेत्रभागः ।

२२२९—अपरिमाणान्त और बिस्ताद्यन्त द्विगु से ङीप् नहीं होता, तद्धित प्रत्यय का लुक् हुआ हो तो ।

२२३०—क्षेत्र के विषय में काण्ड शब्दान्त द्विगु से ङीप् नहीं होता, तद्धित का लुक् हुआ हो तो ।

२२३१—प्रमाण वाचक पुरुष शब्दान्त द्विगु से ङीप् विकल्प करके होता है तद्धित लुक् हुआ हो तो ।

प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्तात्[1] द्विगोर्ङीब्वा स्यात्तद्धितलुकि। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः[2] द्विपुरुषी, द्विपुरुषा वा परिखा।

२२३२ ऊधसोऽनङ् ५। ४। १३॥

ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङ् स्त्रियाम्।

२२३३ बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ४। १। २५॥

ऊधोऽन्ताद्बहुव्रीहेः। कुण्डोध्नी[3]। स्त्रियाम् किम्—कुण्डोधो धैनुकम्[4]।

२२३४ दामहायनान्ताच्च ४। १। २७॥

संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद्धायनान्ताच्च ङीप्। द्विदाम्नी[5]। द्विहायनी बाला। (त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्[6])। (वयो-वाचकहायनस्य ङीप् णत्वं चेष्यते) त्रिहायणी। चतुर्हायणी। वयसोऽन्यत्र—त्रिहायना[7]। चतुर्हायना शाला।

२२३५ अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्[8] ४। १। ३२॥

१—प्रमाणवाची 'पुरुष' शब्दः इत्यर्थः। २—द्वौ पुरुषौ प्रमाणम् अस्या इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुसमासः, प्रमाणे द्वयसजिति विहितस्य मात्रच्-प्रत्ययस्य प्रमाणे लो द्विगोरिति लुक्, ङीप् वा, द्विपुरुषी, द्विपुरुषा। ३—कुण्डमिव-ऊधो यस्या इति बहुव्रीहौ कुण्डोधस् शब्दस्याऽनङ्, कुण्डोधन्, इत्यस्मात् पूर्वसूत्रैर्डाब्-ङीब्-निषेधेषु प्राप्तेषु, 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीष्। 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे, कुण्डोध्नी धेनुः। ४—धेनूनां समूहो = धैनुकम्। कुण्डमिवोधो यस्य तत्, कुण्डोधः, स्त्रीलिङ्गाभावात् न-अनङ् इत्यर्थः। ५—द्वे दामनी यस्या इति विग्रहे द्विदामन्-शब्दात् ङीपि, अल्लोपोऽनः इत्यल्लोपः, द्विदाम्नी, एवं द्विहायनी। दामान्ते डाप्प्रतिषेधयोः, हायनान्ते टापि च प्राप्ते वचनम्—दामहायनेति। ६—त्रिहायणीत्यादौ भिन्नपदत्वाण्णत्वाऽप्राप्तौ वचनम्। त्रयो हायना (वयो) यस्येति विग्रहः, एवम् अग्रेऽपि। ७—(प्राणभृतो) जीवनकालो वयस्तेन त्रिहायना शाला इत्यादौ न ङीप् णत्वं चेति। ८—गर्भिण्याम्,

---

२२३२—स्त्री लिङ्ग में ऊधोऽन्त बहुव्रीहि को अनङ् होता है।

२२३३—ऊधोऽन्त बहुव्रीहि से ङीष् प्रत्यय होता है स्त्री लिङ्ग में।

२२३४—संख्यादि दामान्त और हायनान्त बहुव्रीहि से ङीप् प्रत्यय होता है। (त्रि और चतुर् शब्द से परे हायन के नकार को णत्व होता है)। (अवस्था वाचक हायन शब्द को ही णत्व और ङीप् होता है)

२२३५—गर्भिणी और जीवद्भर्तृका अर्थ में अन्तर्वत् और पतिवत् इन

नान्तत्वान्ङीप् । अन्तर्वत्नी । पतिवत्नी । गर्भभर्तृसंयोगे एवेष्यते । अन्यत्र तु अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः । पतिमती पृथिवी ।

२२३६ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ४ । १ । ३३ ॥

वसिष्ठस्य पत्नी ।

२२३७ विभाषा सपूर्वस्य ४ । १ । ३४ ॥

पतिशब्दान्तस्य नो वा । गृहपत्नी, गृहपतिः । दृढपत्नी, दृढपतिः ।

२२३८ नित्यं सपत्न्यादिषु ४ । १ । ३५ ॥

सपत्नी । एकपत्नी । वीरपत्नी ।

२२३९ पूतक्रतोरै च ४ । १ । ३६ ॥

जीवद्भर्तृकायां च—'अन्तर्वत्' 'पतिवत्' इति प्रकृतिभागौ निपात्येते, तयोश्च नुक् स्यादित्यर्थः । तत्रान्तरस्त्यस्यां गर्भ इति विग्रहेऽस्तिसामानाधिकरण्याऽभावेऽपि मतुप् निपात्यते वत्वे अन्तर्वत् इति । पतिरस्या अस्तीति पतिशब्दात् 'तदस्यास्त्यस्मिन्नि'ति मतुपि वत्वनिपातने, पतिवद् इति । नुकि सति-अन्तर्वत्न्-पतिवत्न् इति शब्दाभ्यां 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' अन्तर्वत्नी ।

१—गर्भसंयोगे एव—अन्तर्वत्नीति, भर्तृसंयोगे एव-पतिवत्नीति, इष्यते भाष्यकारेणेति भावः । तेन अन्तरस्त्यस्यां शालायां घट इति वाक्यमेव । पतिमती पृथिवीत्यत्र नुक् च न । २—पतिशब्दस्य नकारोऽन्तादेशः स्याद् यज्ञेन सम्बन्धे, इत्यर्थः । यज्ञसम्बन्धो = यज्ञेन सह स्वामितया सम्बन्धः, यज्ञफलभोक्तृत्वमिति यावत् । यथा-वसिष्ठस्य पत्नी वसिष्ठकर्तृकयज्ञफलभोक्त्रीत्यर्थः । नान्तादेशे 'ऋन्नेभ्यो' ङीपि पत्नीति रूपम् । ३—सपूर्वस्य विद्यमानपूर्वस्य तदेवाह-पतिशब्दान्तस्येति । ४—पूर्वविकल्पापवादः समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नी, समानस्य सभावो निपात्यते, एवम्-एकपत्नी, वीरपत्नी । ५—पूतक्रतुशब्दात् स्त्रियां ङीप् स्यात् प्रकृतेः

दोनों निपातित शब्दों को नुक् आगम होता है । (गर्भ संयोग और भर्तृ संयोग में ही होता है)

२२३६—यज्ञ संयोग में पति शब्द को नकार अन्तादेश होता है स्त्रीत्व द्योत्य रहते ।

२२३७—सपूर्व अर्थात् पति शब्दान्त को नकार अन्तादेश विकल्प से होता है ।

२२३८—सपत्न्यादि गण पठित शब्दों में नाकार अन्तादेश नित्य होता है ।

२२३९—पूत क्रतु शब्द के उकार को 'ऐ' आदेश होता है और ङीप्

पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी।

२२४० वृषाकप्यग्नि-कुसित-कुसिदानामुदात्तः ४ । १ । ३७ ॥

एषामुदात्त ऐ-आदेशो ङीप् च। वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी। अग्नायी। कुसितायी। कुसिदायी।

२२४१ मनोरौ वा ४ । १ । ३८ ॥

मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्तैकारश्च वा ङीप्। मनावी, मनायी, मनुः।

२२४२ वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ४ । १ । ३९ ॥

वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्ताद्वा ङीप् तकारस्य नः। एता, एनी। रोहिता, रोहिणी।

२२४३ षिद्गौरादिभ्यश्च ४ । १ । ४१ ॥

ऐकारादेशश्चान्तस्येत्यर्थः।

१—पूतः क्रतुर्येन स पूतक्रतुः तस्य स्त्रीति विग्रहे ङीपि, उकारस्य ऐकारः, पूतक्रतायी। २—'हरविष्णू वृषाकपी, वृषाकपायी श्रीगौर्योः' इत्यमरः। ३—अग्नेः स्त्रीति विग्रहः। इकारस्य-ऐकारः, ङीप् च। कुसित-कुसिदशब्दौ देवताविशेषस्य वाचकौ। ४—मनोः स्त्रीति विग्रहे ङीपि, ऐकारे-मनायी, औकारे-मनावी, ङीबभावे-मनुः। ५—एतशब्दः चित्रवर्णवाची, ङीप्सन्नियोगशिष्टो नकारो ङीबभावे न प्रवर्तते-एता। ङीपि नत्वे-एनी। एवम्-रोहिता, रोहिणी। ६—षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् स्यादित्यर्थः।

प्रत्यय होता है।

२२४०—वृषाकपि, अग्नि, कुसित और कुसिद शब्द को उदात्त ऐकार अन्तादेश होता है और ङीप् प्रत्यय होता है।

२२४१—मनु शब्द को स्त्री लिङ्ग में औकारादेश होता है। पक्ष में विकल्प करके उदात्त ऐकारादेश भी होता है। औ तथा ऐ आदेश के साथ ङीप् भी होता है।

२२४२—अनुदात्तान्त तकारोपध जो वर्णवाची शब्द तदन्त प्रातिपदिक से विकल्प करके ङीप् होता है। ङीप् के साथ तकारको नकार भी होता है।

२२४३—षित् तथा गौरादिगण पठित शब्दों से ङीष् होता है।

ङीष् । नर्तकी । गौरी । अनडुही, अनड्वाही । (पिप्पल्यादयश्च) । आकृतिगणोऽयम् । (मत्स्यस्य ङ्याम्) यलोपः—मत्सी ।

२२४४ जानपद-कुण्ड-गोण-स्थल-भाज-नाग-काल-नील-कुश-कामुक-कबराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमा-श्राणा-स्थौल्य-वर्णानाच्छादना-ऽयोविकार-मैथुनेच्छा-केशवेशेषु ४ । १ । ४२ ॥

एकादशभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष् । जानपदी वृत्तिश्चेत् । अन्या जानपदी, अणन्तत्वात् ङीप आद्युदात्तः । कुण्डी अमत्रं चेत् । कुण्डाऽन्या । गोणी आवपनं चेत् । गोणाऽन्या । स्थली अकृत्रिमा चेत् । स्थलाऽन्या । भाजी श्राणा चेत् । भाजाऽन्या । 'यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा' इत्यमरः । नागी स्थूला चेत् । नागाऽन्या । काली वर्णश्चेत् । कालाऽन्या । नीली

१—नृती गात्रविक्षेपे, 'शिल्पिनि ष्वुन्' षनावितौ, अकादेशः, लघूपधगुणः, रपरत्वम्, ङीष्—नर्तकी । गौरी, गौरादिगणोदाहरणमिदम् । २—गौरादिगणपठितत्वात् ङीषि, 'अनडुहः स्त्रियाम् आम् वा' इति वार्तिकेन विभाषया आम्, अनडुही, अनड्वाही । ३—पिप्पल्यादयश्च गौरादय इत्यर्थः । तेन पिप्पली हरीतकी इत्यादिसिद्धिः । ४—मत्स्य-शब्दात् गौरादित्वात् ङीषि, यलोपः, यस्येति चेति अलोपः, मत्सी । ५—कबरान्तेभ्य एकादशभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष् स्यादित्यर्थः । ६—वृत्तिः = जीविका, वर्ततेऽनयेति व्युत्पत्तेः । ७—अनुदात्तौ सुप्पिताविति सूत्रेणाद्युदात्तत्वम् । ङीषि तु प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वमिति भेदः । ८—अमत्रं=पात्रम् । 'पात्रामत्रे च भाजनम्'—इत्यमरः । ९—दहनीया, इत्यर्थः । १०—आवपनम्=धान्याद्याधानी, आ-उप्यते धान्याद्यनेति व्युत्पत्तेः । ११—यादृच्छिकेयं संज्ञा कस्याश्चित् । १२—कृत्रिमा—इत्यर्थः, इदानीन्तनपुरुषसंस्कृता भूमिरिति यावत् । १३—पक्वा-यवागूश्चेद् इत्यर्थः । १४—अपक्वयवागूर्भिन्ना । १५—गजवाची नागशब्दः स्थौल्यगुणयोगात् कस्याश्चित् स्थूलस्त्रियां वर्तमानः, ततो ङीष् नागी । १६—सर्पवाची नागशब्दो दैर्घ्यगुणयोगाद् दीर्घस्त्रियां वर्तते, ततो न ङीष्—नागा । १७—कृष्णवर्णयुक्ता-इत्यर्थः । १८—'क्रूरा' इत्यर्थः ।

(पिप्पल्यादि शब्द भी गौरादिगण में समझे जाएँ) । (मत्स्य शब्द से ङी परे रहते यकार का लोप होता है) ।

२२४४—स्त्रीलिङ्ग में जानपद आदि शब्दों से क्रमशः वृत्ति आदि अर्थों में ङीष् प्रत्यय होता है ।

अनाच्छादनं[1] चेत्। नीलाऽन्या, नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः। कुशी अयोविकार-श्चेत्[2]। कुशाऽन्या। कामुकी मैथुनेच्छावती चेत्। कामुकाऽन्या[4]। कबरी केशानां सन्निवेशविशेषश्चेत्[3]। कबराऽन्या[5]।

२२४५ शोणात्प्राचाम्[6] ४।१।४४॥

शोणी, शोणा।

२२४६ वोतो गुणवचनात् ४।१।४४॥

उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीष्। मृद्वी, मृदुः। उतः किम्-शुचिः[7]। गुणेति किम्-आखुः[8]। (खरु-संयोगोपधात्[9]) खरुः[10]। पाण्डुः।

२२४७ बह्वादिभ्यश्च[11] ४।१।४५॥

वा ङीष्। बह्वी, बहुः। (कृदिकारादक्तिनः[12]) रात्री, रात्रिः। ([13]सर्वतोऽ-

---

१—वस्त्रभिन्नं गवादिकम् इत्यर्थः। २—फाल इत्यर्थः। ३—यज्ञसाधनविशेषस्य संज्ञेयम्। ४—धनादीच्छावतीत्यर्थः। ५—चित्रवर्णा, इत्यर्थः। ६—शोणशब्दो वर्णवाची, 'अन्यतो ङीष्' इत्यनेन नित्यं ङीषि प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम्। ७—वर्णवाचित्वेऽपि-उदन्तत्वाऽभावात् न ङीष्। ८—उदन्तत्वेऽपि गुणवाचित्वाऽभावात् न ङीष्। ९—गुणवाचित्वेन पूर्वेण प्राप्ते निषेधोऽयम् १०—खरुः= पतिंवरा कन्या, पाण्डुः=श्वेता इत्यर्थः। ११—आकडारसूत्रभाष्यरीत्या सङ्ख्याशब्दानां गुणवाचित्वाऽनभ्युपगमाद् बहुशब्दग्रहणमिति बोध्यम्। १२—बह्वाद्यन्त-र्गणसूत्रमिदम्, कृत्प्रत्ययस्य य इकारः तदन्तात्प्रातिपदिकात् ङीप् वा स्यात्; न तु क्तिन्नन्तादित्यर्थः। 'राशदिभ्यां त्रिप्' इति रा-धातोः औणादिकत्रिप्प्रत्ययान्तात् ङीषि-रात्री। पक्षे ङीषभावे-रात्रिः। १३—इदमपि बह्वाद्यन्तर्गणसूत्रमेव, सर्वतः कृत्प्रत्ययेकारान्ताद् अकृत्प्रत्ययेकारान्ताच्च सर्वेभ्योऽपीकारान्तेभ्यः ङीषि-

---

२२४५—शोण शब्द से स्त्री लिङ्ग में ङीष् विकल्प करके होता है।

२२४६—गुणवाचक उदन्त शब्द से विकल्प करके ङीष् होता है। (खरु-शब्द और संयोगोपध से नहीं होता)।

२२४७—बह्वादिगण पठित शब्दों से ङीष् विकल्प करके होता है। (कृत्-प्रत्यय का जो इकार तदन्त से ङीष् विकल्प करके होता है, किन्तु क्तिन्नन्त से नहीं होता) (कोई यह मानते हैं कि क्तिन्नर्थ से भिन्न कृत् अथवा अकृत् जो इकार तदन्त से ङीष् विकल्प करके होता है)।

क्तिन्नर्थादित्येके)। शकटी, शकटिः ।

२२४८ पुंयोगादाख्यायाम् ४ । १ । ४८ ॥

या पुमाख्या पुंयोगात्स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् । गोपस्य स्त्री = गोपी । (पालकान्तान्न) गोपालिका । अश्वपालिका (सूर्याद्देवतायां चाप्) । सूर्यस्य स्त्री देवता = सूर्या । देवतायां किम्—सूरी कुन्ती, मानुषीयम् ।

२२४९ इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक् ४ । १ । ४९ ॥

ङीष् च । इन्द्राणी । (हिमारण्ययोर्महत्त्वे) । महद्धिमं = हिमानी । (यवाद्दोषे) । दुष्टो यवो-यवानी । (यवनाल्लिप्याम्) । यवनानां लिपिर्यवनानी । (मातुलोपाध्याययोरानुग्वा) मातुलानी, मातुली । उपाध्यायानी, उपाध्यायी । (आचार्यादणत्वं च) । आचार्यानी । (अर्य-क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे) । अर्याणी, अर्या । क्षत्रियाणी, क्षत्रिया । पुंयोगे तु—अर्यी । क्षत्रियी ।

त्यर्थः, क्तिन्नर्थान्तात्तु नेत्येके । शकटिशब्दस्याऽव्युत्पन्नप्रातिपदिकत्वेन कृदन्तत्वाऽभावात् पूर्वेणाऽप्राप्ते वचनम् ।

१—गोपालकस्य स्त्री, अश्वपालकस्य स्त्रीति विग्रहौ । २—पुंयोगादिति ङीषि, सूर्यतिष्येति यलोपः । ३—मनुष्यजातीया, इत्यर्थः । ४—एषाम् आनुगागमो ङीष् चेत्यर्थः । ५—इन्द्रस्य स्त्रीति विग्रहः, ङीष्, कित्वादन्त्यावयव आनुक् 'आन्' इत्यवशिष्यते, सवर्णदीर्घः, णत्वम्—इन्द्राणी । ६—आनुकि ङीषि च णत्वं न भवतीत्यर्थः । ७—आनुग्—ङीषाविति शेषः । अर्याणी, अर्या=स्वामिनी वैश्यजातीया वा । पुंयोगे तु ङीष् ।

२२४८—कोई भी पुरुष वाचक शब्द यदि प्रयोग से स्त्रीलिङ्ग में जाता है तो उससे ङीष् प्रत्यय होता है । (पालकान्त से प्रयोग में ङीष् नहीं होता) । (सूर्य शब्द से प्रयोग में देवता वाच्य रहते चाप् प्रत्यय होता है) ।

२२४९—इन्द्र आदि शब्दों को आनुक् आगम होता है और ङीष् प्रत्यय होता है पुंयोग में, (किन्तु हिम और अरण्य शब्द से महत्व अर्थ में आनुक् और ङीष् होता है) । (यव शब्द से दोष अर्थ में) (यवन शब्द से लिपि अर्थ में) । (मातुल और उपाध्याय शब्द से आनुक् विकल्प करके होता है) (आचार्य शब्द से ङीष् और आनुक् होने पर णत्व नहीं होता) । (अर्य और क्षत्रिय शब्द से स्वार्थ में ङीष् और आनुक् विकल्प करके होता है) ।

२२५० क्रीतात्करणपूर्वात् ४ । १ । ५० ॥

क्रीतान्ताददन्तात्करणादेर्ङीष् । वस्त्रक्रीती । क्वचिन्न-धनक्रीता ।

२२५१ बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ४ । १ । ५२ ॥

क्तान्ताद् ङीष् । ऊरुभिन्नी ।

२२५२ अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ४ । १ । ५३ ॥

पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सुरापीती, सुरापीता ।

२२५३ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४ । १ । ५४ ॥

असंयोगोपधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्ताद् वा ङीष् । अतिकेशी, अतिकेशा । चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा । संयोगोपधात्तु-सुगुल्फा ।

अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथा युतम् ॥

१-वस्त्रेण क्रीता इत्यर्थः । २-बहुव्रीहेः क्तान्तदन्तोदात्तादन्तात् स्त्रियां ङीष् स्यादित्यर्थः । ३—ऊरू भिन्नौ=असंयुक्तौ यस्याः सा ऊरुभिन्नी । 'जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या' इति वार्तिकात् न पूर्वनिपातो निष्ठायाः । ४—न स्वाङ्गम् =अस्वाङ्गम्, अस्वाङ्गं यत्पूर्वपदं तस्मात्परं यत् क्तान्तं, तदन्ताद् बहुव्रीहेः ङीष् वा स्यादिति सूत्रार्थः । ५—सुरा पीता यया सा सुरापीती, सुरापीता वा, निष्ठायाः 'निष्ठा' इति सूत्रेण पूर्वनिपातस्तु न, "जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या" इति वार्तिकात् । ६—केशानतिक्रान्ता इति विग्रहः, "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे" इति समासः, 'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते' इति केशशब्दस्योपसर्जनत्वम् । ७—चन्द्र इव मुखं यस्याः, इति विग्रहः । ८—सु=शोभनौ गुल्फौ=घुटिके यस्याः । सा=सुगुल्फा, अत्र गुल्फशब्दस्य संयोगोपधत्वात् न ङीष् । ९—भाष्ये त्रिधा

२२५०—करणादि क्रीतान्त अदन्त शब्द से ङीष् प्रत्यय होता है स्त्रीलिंग में ।

२२५१—अन्तोदात्तान्त क्तान्तान्त अदन्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिंग में ङीष् होता है ।

२२५२—स्वांग भिन्न पूर्व पद हो तो पूर्व विषय में ङीष् विकल्प करके होता है ।

२२५३—असंयोगोपध और उपसर्जन जो स्वांग वाचक शब्द तदन्त से स्त्रीलिंग में ङीष् होता है विकल्प करके ।

अद्रवमिति, (१) जो अद्रव है और मूर्तिमान् है, प्राणि में स्थित है किन्तु विकारजात नहीं है, वह स्वांग है (यथा—अतिकेशी बाला) ।

सुस्वेदा, द्रवत्वात् । सुज्ञाना, अमूर्तत्वात् । सुमुखा शाला, अप्राणिस्थत्वात् । सुशोफा, विकारजत्वात् । सुकेशी, सुकेशा वा रथ्या, अप्राणिस्थस्यापि प्राणिनि दृष्टत्वात् । सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा, प्राणिवत्प्राणिसदृशी स्थितत्वात् ।

२२५४ नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गाच्च ४ । १ । ५५ ॥

निरुक्तं परिभाषिकं स्वाङ्गमिह विवक्षितं दर्शयति-अद्रवम् इति, न विद्यते द्रवो यस्य तत्-अद्रवम्, मूर्त्तिः = अवयवसंयोगोऽस्यास्तीति, मूर्तिमत्, मूर्तं द्रव्यमिति भावः । किञ्च प्राणिस्थं = प्राणधारिजन्तौ विद्यमानम्, अविकारजम् = रोगादि-विकाराऽजन्यं द्रव्यं स्वाङ्गम् इति प्रथमं स्वाङ्गलक्षणम्, उदाहरणम्-अतिकेशी-त्यादि । अतत्स्थम् = अप्राणिस्थं तत्र = प्राणिनि दृष्टं यत् तदपि स्वाङ्गमिति द्वितीयं स्वाङ्गलक्षणम्, उदाहरणम् यथा—सुकेशी, सुकेशा वा रथ्या । इह केशानां सम्प्रत्यप्राणिस्थत्वेऽपि प्राणिनि दृष्टत्वमस्तीति स्वाङ्गत्वम् । तेन = प्राणि-स्थेन स्तनाद्यङ्गाकृतिकावयवविशेषेण, तत् = अप्राणिद्रव्यं प्रतिमादि, चेत् = यदि, तथा = प्राणिद्रव्यवत्, युतं = सम्बद्धं स्यात्, तदा तत् = स्तनाद्याकृतिकं वस्तु (अप्राणिनोऽपि) स्वाङ्गम्, इति तृतीयं स्वाङ्गलक्षणम् । उदाहरणं यथा—सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा ।

१—स्वाङ्गलक्षणस्य पदकृत्यं दर्शयति—सुस्वेदा इति, स्वेदो हि द्रवः, इति स्वाङ्गम् । सुज्ञाना ज्ञानं हि न मूर्तिमदिति न स्वाङ्गम् । सुमुखा शाला, इत्यत्र मुखं न प्राणिस्थम् इति न स्वाङ्गम् । सुशोफा, शोफस्य = शोथस्य, रोगादिविकार-जन्यत्वान्न स्वाङ्गत्वम् । २—द्वितीयलक्षणम् उदाहरणप्रदर्शनपूर्वकं सङ्गमयति—सुकेशी, सुकेशा वेति । ३—तृतीयलक्षणम् उदाहरणे सङ्गमय्य दर्शयति—सुस्तनी सुस्तना वेति । ४—आद्ययोः = नासिकोदरशब्दयोः बह्वच्कत्वात् 'न क्रोडादिबह्वचः' इति ङीप्निषेधः प्राप्तः, सोऽनेन ङीप्विकल्पेन 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति' न्यायाद् बाध्यते, सह नञ्-विद्यमानेति निषेधस्तु परत्वादस्य बाधकः । ओष्ठादिपञ्चानां तु, असंयोगोपधादिति पर्युदासे प्राप्तेऽ-त्र वचनम् । अतस्तेषामपि वा ङीप् स्यादेव ।

(२) जो इस समय यद्यपि प्राणि में स्थित नहीं है पर पहले कभी प्राणि में स्थित रहा है, वह स्वाङ्ग है (यथा—सुकेशी रथ्या) ।

(३) और वह भी स्वाङ्ग है जो प्राण्यङ्ग के समान आकृति वाला होकर अप्राणि को प्राणि के समान शोभित करता है (यथा—सुस्तनी प्रतिमा)

२२५४—नासिकाद्यन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में ङीष् विकल्प करके होता

वा ङीष्। तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका[1]। (पुच्छाच्च[2])। सुपुच्छी, सुपुच्छा। (कबर-मणि-विष-शरेभ्यो[3] नित्यम्) कबरपुच्छी। (उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च) उलूकपक्षी शाला। उलूकपुच्छी सेना।

२२५५ न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६॥

क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष्। कल्याणक्रोडा। आकृतिगणोऽयम्। सुजघना।

२२५६ सह-नञ्-विद्यमानपूर्वाच्च ४।१।५७॥

न ङीष्। सकेशा। अकेशा। विद्यमाननासिका।

२२५७ नख-मुखात् संज्ञायाम् ४।१।५८॥

ङीष् न। शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां किम्—ताम्रमुखी[12] कन्या।

१—तुङ्गा = उन्नता नासिका यस्या इति विग्रहः। एवं कृशोदरी, कृशोदरा। बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा। दीर्घजङ्घी, दीर्घजङ्घा—इत्यादयः। २—वा ङीष् इति शेषः। ३—कबरादिभ्यः परो यः पुच्छशब्दः, तदन्तान्नित्यं ङीषिति वक्तव्यम् इत्यर्थः। कबरं = चित्रं पुच्छं यस्याः सा = कबरपुच्छी, एवं मणिपुच्छी, विषपुच्छी = वृश्चिकी, शरपुच्छी। ४—उपमानवाचकात्परौ यौ पक्षपुच्छशब्दौ तदन्तादपि ङीष् इत्यर्थः। ५—उलूकस्य पक्षाविव पक्षौ यस्याः सा उलूकपक्षी = शाला। एवम्—उलूकपुच्छी। ६—क्रोडादिगणपठितादित्यर्थः। ७—कल्याणी क्रोडा = उरःस्थलं यस्याः सा = कल्याणक्रोडा वडवा, पूर्वपदे पुंवद्भावः। सुजघना अत्र स्वाङ्गवाची जघनशब्दो बह्वचकः। ८—सहेत्यादि त्रिकपूर्वान्न ङीष् इत्यर्थ। सह केशा यस्याः इति विग्रहः। "वोपसर्जनस्य" इति सह-शब्दस्य स-भावः। ९—स्वाङ्गाच्चेति प्राप्तस्य निषेधोऽयम्। १०—शूर्पाणीव नखानि यस्याः सा राक्षसी = रावणभगिनी = शूर्पणखा। 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इति णत्वम्। ११—इदमपि कस्याश्चिन्नाम। १२—ताम्रं = रक्तं मुखं यस्याः सा = ताम्रमुखी, यौगिकमिदं नाम स्वाङ्गाच्चेति ङीष्।

है। (पुच्छान्त प्रातिपदिक से भी ङीष् विकल्प करके होता है)। (कबरादि पुच्छ शब्द से नित्य ङीष् होता है)। (उपमान वाचक से परे जो पक्ष और पुच्छ शब्द तदन्त से भी ङीष् होता है)।

२२५५—स्वांग वाचक जो क्रोडादिगण पठित शब्द और बह्वच् शब्द तदन्त प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय नहीं होता।

२२५६—सह नञ् और विद्यमान शब्द पूर्वक स्वाङ्गवाची शब्द से ङीष् नहीं होता।

२२५७—संज्ञा द्योत्य रहते नखान्त और मुखान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में

२२५८ वाहः ४ । १ । ६१ ॥

वाहन्ताद् ङीष् । दित्यौही[1] ।

२२५९ सख्यशिश्वीति[2] भाषायाम् ४ । १ । ६२ ॥

सखी[3] । अशिश्वी ।

२२६० जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४ । १ । ६३ ॥

जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं[4] ततो ङीष् ।

आकृतिग्रहणा[5] जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।

सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

१—दित्यं—वेदप्रसिद्धं गवां वयोविशेषं वहति, इति विग्रहे, वहश्चेति ण्विः, उपधावृद्धिः, उपपदसमासः, दित्यवह्-शब्दात् ङीष्, 'वाह ऊठ्' इत्यूठ्, 'एत्येधत्यूठ्सु दित्यौही । २—सखिशब्दात् अशिशु-शब्दाच्च स्त्रियां ङीष् निपात्यते भाषायाम्, लौकिकप्रयोगो भाषा । अत्र सूत्रे 'इति शब्दः प्रकारे, प्रकारः = सजातीयता, ततो भाषायां वेदे चेति फलितम्, भाषायाम् इति वचनं तु भाषायां सर्वत्र भवति, वेदे तु क्वचिदिति बोधनार्थम् । ३—सखिशब्दात् ङीषि, 'यस्येति च' इतीकारलोपे सखी । न विद्यते शिशुर्यस्याः सा = अशिश्वी, ङीषि-उकारस्य यण् । ४—यः = यकार उपधायां यस्य तद् योपधं, न योपधम् = अयोपधम् । ५—भाष्याभिमतां त्रिविधां जातिं प्रकृतोपयोगिनीं लक्षयति—आकृतिग्रहणा जातिरिति, आकृतिः = अवयव-सन्निवेश-विशेषः, ग्रहणं = व्यञ्जकं यस्याः सा जातिरिति प्रथमं जातिलक्षणम्, उदाहरणं यथा—घटी । द्वितीयं जातिलक्षण-

---

ङीष् नहीं होता ।

२२५८—वाह् शब्दान्त प्रातिपदिक से ङीष् होता है स्त्रीलिंग में ।

२२५९—सखि शब्द से और अशिशु शब्द से स्त्रीलिंग में ङीष् निपातन से सिद्ध है भाषा में ।

२२६०—जो नित्य स्त्रीलिंग नहीं है और यकारोपध नहीं है ऐसे जातिवाचक शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीष् प्रत्यय होता है ।

आकृति ग्रहणेति, (१) आकृति अर्थात् अवयव संस्थान विशेष से जिसका ज्ञान होता है वह जाति है (यथा—घटी) ।

(२) जिसे सब लिङ्ग न हों और एकत्र एकबार ग्रहण हो जाने पर अन्यत्र अर्थात् तत्पुत्र आदि में बिना कहे जिसका ज्ञान हो जाता हो वह भी

घटी। वृषली। औपगवी। कठी। जातेः किम्-मुण्डा। अस्त्रीविषयात्किम्-बलाका। अयोपधात्किम्-क्षत्रिया। (योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानामप्रतिषेधः) हयी। गवयी। मुकयी। मनुषी। मत्सी।

२२६१ पाक-कर्ण-पर्ण-पुष्प-फल-मूल-वालोत्तरपदाच्च ४।१।६४।

माह-लिङ्गानां च न सर्वभाक्=या सर्वाणि लिङ्गानि न भजते इत्यर्थः। सकृदित्यतः पूर्वम् एकस्यां व्यक्तौ इति शेषः, आख्यातः=उपदेशः, निर्ग्राह्या=सुग्रहा, असर्वलिङ्गत्वे सति एकस्यां व्यक्तौ कथनाद् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सुग्रहा जातिरित्यर्थः, यथा-वृषली शूद्री, वृषलत्वं हि-असर्वलिङ्गं नपुंसकत्वाऽभावात्, एकस्यां व्यक्तौ वृषलत्वे उपदिष्टे व्यक्त्यन्तरे-तदपत्यादौ तदुपदेशं विनापि तस्य सुग्रहत्वाद् जातिः। तृतीयां जातिमाह- गोत्रं चेति, जात्यतिदेशोऽयम्-गोत्रम्=अपत्यप्रत्ययान्तः, चरणैः=शाखाध्येतृवाचिभिः सह जातिः=जातिकार्यं लभते इत्यर्थः। गोत्रं यथा-औपगवी, उपगोरपत्यं स्त्रीति विग्रहेऽपत्यार्थेऽणि 'टिड्ढेति' ङीपं बाधित्वा ङीष्। ङीष् ङीपोः स्वरे विशेषः। चरणं यथा-कठी, कठेन प्रोक्तमधीते वेद वा, अण्, ततो जातिलक्षणो ङीष् प्रत्ययः।

१—मुण्डा=मुण्डिता, नायं जातिशब्दः, किन्तु मुण्डत्वगुणयोगात् गुणशब्दः। तेन न ङीष्। २—पक्षिविशेषस्य संज्ञेयम्, जातित्वेऽपि नित्यस्त्रीलिङ्गत्वान्न ङीषिति भावः। ३—जातित्वेऽपि योपधत्वान्न ङीषित्यर्थः। ४—हयादीनां योपधत्वेऽपि ङीष् वाच्य इत्यर्थः। ५—हयी=वडवा, गवयी=गवयजातीया, मुकयी=चतुष्पाज्जातिविशेषः। मनुष्यशब्दात् ङीषि 'मनुष्य=ई' इति स्थिते। 'हलस्तद्धितस्ये' ति यलोपे यस्येति च इत्यलोपे मनुषी इति रूपम्। मत्सी 'मत्स्यस्य ङ्याम्' इति यलोपे साधु।

जाति है (यथा-वृषली)।

(३) गोत्र प्रत्ययान्त शब्द और शाखाध्येतृवाची शब्द भी जाति कार्य को प्राप्त करते हैं, यथा-औपगवी, कठी। (यह तीसरा जाति लक्षण नहीं है अपितु जात्यतिदेश है)। (योपध के प्रतिषेध में हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य शब्द का अप्रतिषेध वक्तव्य है अर्थात् इनसे जातिलक्षण ङीष् हो जाता है)।

२२६१—पाक कर्ण आदि उत्तर पद हो तो जातिवाची नित्य स्त्री लिङ्ग शब्द से भी ङीष् हो जाता है।

पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः स्त्रीविषयादपि[1] ङीष्। ओदनपाकी। शङ्कुकर्णी। शालपर्णी। शङ्खपुष्पी। दासीफली। दर्भमूली। ओषधिविशेषे रूढाः।

२२६२ इतो मनुष्यजातेः ४। १। ६५॥

ङीष्। दाक्षी॥

२२६३ ऊङुतः ४। १। ६६॥

उकारान्ताद्योपधान्मनुष्यजातिवाचिन ऊङ्। कुरूः।

२२६४ पङ्गोश्च ४। १। ६८॥

पङ्गूः। (श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च) चादूङ्। पुंयोगलक्षणङीषोऽपवादः। श्वश्रूः।

२२६५ ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४। १। ६९॥

१—नियतस्त्रीलिङ्गत्वाद् 'जातेरस्त्रीविषयाद्' इत्यप्राप्तौ वचनमिति भावः। २—न सन्त्येषाम् अवयवव्युत्पत्तयः, इत्यर्थः। ३—इदन्ताद् मनुष्यजातिवाचिनो ङीष् इत्यर्थः। ४—दक्षस्याऽपत्यम् इत्यर्थे 'अत इञ्' इति 'इञ्' आदिवृद्धौ, स्त्रियां दाक्षिशब्दात् ङीषि, 'यस्येति च' इतीकारलोपे दाक्षी। ५—अयोपधा-दिति, 'मनुष्यजातेः' इति चानुवर्तते, उत इति तद्विशेषणम्, तदन्तविधिः। तदाह-वृत्तौ उकारान्तादित्यादि। ६—कुरुक्षेत्रस्य राजा कुरुः, तस्याऽपत्यं स्त्रीति विग्रहेऽणं बाधित्वा 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' इति ण्यप्रत्ययः, तस्य च 'स्त्रियाम-वन्ति' इत्यादिना लुक्, अपत्यप्रत्ययान्तत्वेन जातित्वम्। 'ऊङ्' प्रत्यये—कुरूः। ७—भग्नपादत्वं—पङ्गुत्वं न जातिरिति 'ऊङुत' इत्यप्राप्तौ वचनम्। ८—श्वशु-रस्य स्त्रीति विग्रहे पुंयोगलक्षणे ङीषि प्राप्ते तदपवाद ऊङ् तत्सन्नियोगेन रेफात्पर-स्याऽकारस्य, शकारात्परस्य 'उ' कारस्य लोपश्चेत्यर्थः। ९—ऊरूत्तरपदात् ..'प्रातिपदि-

---

२२६२—इदन्त मनुष्य जाति वाचक शब्द से ङीष् होता है।

२२६३—उकारान्त मनुष्य जातिवाची से स्त्री लिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है, यदि वह योपध न हो।

२२६४—पङ्गु शब्द से स्त्री लिङ्ग में ऊङ् होता है। (श्वशुर शब्द के उकार और अकार का लोप होता है, तथा ङीष् प्रत्यय होता है स्त्री लिङ्ग में)

२२६५—उपमानवाची पूर्व पद हो और ऊरु जिसके उत्तर पद में हो ऐसे प्रातिपदिक से ऊङ् प्रत्यय होता है।

उपमानवाचि-पूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्तस्मादूङ्। करभोरूः[1]।

२२६६ संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च[2] ४।१।७०॥

संहितोरूः। (सहित-सहाभ्यां च[3]) सहितोरूः। सहोरूः।

२२६७ शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३॥

शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात्। शार्ङ्गरवी[4]। बैदी। (नृनरयोर्वृद्धिश्च[5])। नारी।

२२६८ यङश्चाप् ४।१।७४॥

यङन्ताच्चाप्। आम्बष्ठ्या[6]। कारीषगन्ध्या[7]। (षाद्यञश्चाप्वाच्यः[8])।

कग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति स्वादयो भवन्ति।

१—करभौ-इव ऊरू यस्या इति विग्रहः। 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' त्यमरः। २—अनौपम्यार्थं वचनम्। संहितौ=संश्लिष्टौ ऊरू यस्याः सा संहितोरूः। एवं शफोरूः, लक्षणोरूः, वामोरूः। ३—एताभ्यामुत्तरस्माद् ऊरुशब्दात् 'ऊङ्'-इत्यर्थः। हितेन सह, सहितौ ऊरू यस्याः सा सहितोरूः। सहेते इति सहौ, तौ-ऊरू यस्याः सा सहोरूः। ४—शृङ्गरु-शब्दाद् अपत्यार्थेऽणि, आदिवृद्धौ, 'ओर्गुणः' इति गुणे, शार्ङ्गरव-शब्दात् स्त्रियां ङीन्—शार्ङ्गरवी, नित्त्वादाद्युदात्तम्। बैदी—बिदाद्यञन्तात् ङीन्, आदिवृद्धिः। ५—गणसूत्रमिदम्। नृ-शब्दस्य नर-शब्दस्य च ङीन्, वृद्धिश्चेत्यर्थः, द्वयोरपि नारी इति रूपम्। ६—अम्बष्ठस्याऽपत्यं स्त्रीति, 'वृद्धेत्कोसल' इति ञ्यङ् आदिवृद्धौ आम्बष्ठ्य-शब्दात् चाप्—आम्बष्ठ्या। ७—करीषः=गवादिपशु-पुरीषम्, तस्येव गन्धो यस्य स करीषगन्धिः, उपमानाच्चेति गन्धस्य-इत्, तस्मादपत्यार्थेऽणि, 'अणिञोरनार्षयोः' इति-अणः ष्यङादेशः कारीषगन्ध्यशब्दात् चाप्, कारीषगन्ध्या। ८—षकारात् परो यो यञ् तदन्तादपि चाप् इत्यर्थः। पूतिमाषस्याऽपत्यमित्यर्थे 'गर्गादिभ्यो यञ्'

२२६६—संहित शफ लक्षण और वाम शब्द पूर्वपद हों तो ऊरु शब्द से स्त्रीलिङ्ग होता है। (सहित और सह शब्द पूर्व रहते भी ऊरु शब्द से ऊङ् होता है)।

२२६७—शार्ङ्गरवादि गण पठित शब्दों से तथा अञ् प्रत्यय का अकार जिनके अन्त में है उन जातिवाची शब्दों से स्त्रीलिंग में ङीन् प्रत्यय होता है।

(नृ शब्द और नर शब्द की वृद्धि होती है तथा ङीन् प्रत्यय होता है)।

२२६८—यङन्त से स्त्रीलिंग में चाप् प्रत्यय होता है। (षकार से परे जो

पौतिमाष्या।

२२६६ आवट्याच्च ४।१।७५॥

अस्माच्चाप्। यञश्चेति ङीपोऽपवादः। अवटशब्दो गर्गादिः। आवट्या।

२२७० यूनस्तिः ४।१।७७॥

युवन्शब्दात्तिप्रत्ययः। युवतिः। अनुपसर्जनादित्येव—बहवो युवानो यस्यां बहुयुवा। युवतीति तु यौतेः शत्रन्तान् ङीपि बोध्यम्। इति स्त्रीप्रत्ययाः।

अथ वैदिकप्रक्रिया।

२२७१ षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ४।१।९॥

पतिशब्दो घिसंज्ञः। क्षेत्रस्य पतिना वयम्। इह वेति योगं विभज्य छन्द-

---

इति यञन्तात् पौतिमाष्य-शब्दात् स्त्रियां चाप्, पौतिमाष्या।

१—अवटस्याऽपत्यं स्त्री-आवट्या, गर्गादित्वाद् यञि, चाप्, आवट्या। २—युवन्-शब्दात् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्', इति ङीपोऽपवादः, तिप्रत्ययः, स्वादिष्वसर्वनामस्थाने इति पदत्वान्नकारलोपः, युवतिः। ३—अत्र हि युवन् शब्दः उपसर्जनम्। बहुयुवा, नान्तलक्षणस्य ङीपो"ऽनो बहुव्रीहे"रिति निषेधे डाबुभाभ्याम् इति डापि-रूपमिदम्। ४—दीर्घान्तस्तु इत्यर्थः। यु-मिश्रणे इत्यस्मात् लटः 'शतृ'-आदेशेऽदादित्वेन शपो लुकि, उवङि युवत्-शब्दात्-उगितश्चेति ङीप्प्रत्यये 'युवती' शब्दो व्युत्पन्नो बोध्यः, इत्यर्थः।

इति श्रीप्रभाकरीविवृतौ म० कौ० टीकायां स्त्रीप्रत्ययाः सम्पूर्णाः

अथ वैदिकप्रक्रिया।

५—षष्ठ्यन्तेन युक्तः पतिशब्दश्छन्दसि घिसञ्ज्ञो वा स्यादित्यर्थः, 'पतिः समास एव' इति नियमात् समासाऽभावेऽप्राप्तौ विकल्पोऽयं छन्दसि। तेन 'क्षेत्रस्य पतिना, घिसंज्ञत्वेन 'आङो नाऽस्त्रियाम्, 'ना' भावः। ६—इह 'षष्ठीयुक्त' इति सूत्रे 'वा' इति पृथक् सूत्रं विभज्य छन्दसीत्यनुवर्त्य 'यावदिह शास्त्रे

यञ् तदन्त से भी स्त्रीलिंग में चाप् होता है)।

२२६९—यञन्त आवट्य शब्द से भी चाप् होता है।

२२७०—युवन् शब्द से स्त्रीलिंग में 'ति' प्रत्यय होता है। (यह 'ति' प्रत्यय अनुपसर्जन युवन् शब्द से ही होता है)।

अथ वैदिकप्रकरणम्।

२२७१—षष्ठ्यन्त से युक्त पति शब्द विकल्प से 'घि'संज्ञक होता है छन्द में।

षीत्यनुवर्तते। तेन सर्वे विषयश्छन्दसि वैकल्पिकाः। बहुलं छन्दसीत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः।

२२७२ अयस्मयादीनि छन्दसि १। ४। २०॥

साधूनि। भ—पदसंज्ञाधिकारायथायोगं संज्ञाद्वयं बोध्यम्। तथा च वार्तिकम्। (उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यमिति)। ससुष्टुभा स ऋक्वता गणेन। पदत्वात्कुत्वम्। भत्वाज्जश्त्वाभावः। नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अत्र पदत्वाज्जश्त्वं भत्वात्कुत्वाभावः। 'ते प्राग्धातोः'।

२२७३ छन्दसि परेऽपि १। ४। ८१॥

२२७४ व्यवहिताश्च १। ४। ८२॥

हरिभ्यां याह्योक आ। आमन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि।

२२७५ तृतीया च होश्छन्दसि २। ३। ३॥

जुहोतेः कर्मणि तृतीया स्यात् द्वितीया च। यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति।

कार्यं तत्सर्वं छन्दसि वा भवति, इत्यर्थो लभ्यते तदेवाह—तेन सर्वे इत्यादि। तथा च स्थाने स्थाने बहुलं छन्दसीति सूत्रमेतस्यैव वैकल्पिकत्वस्य प्रपञ्चमात्रम्।

१—लोके 'आकडारादेका संज्ञा' इति नियमाद्भ-पदसंज्ञयोर्मध्यत एकैव संज्ञा भवति छन्दस्युभयसिद्धये निपातनमिदम्। २—ऋच्+वता, इत्यत्र पदसंज्ञात्वेन चस्य, कुत्वम्, भसंज्ञात्वेन च पदत्वबाधात् न जश्त्वम्, ऋक्वता। ३—वाच्+इनेषु, इति छेदः, पदत्वेन 'झलां जश्' इति चस्य जत्वम्, जस्य चोः कुरिति कुत्वं तु न, भसंज्ञया पदसंज्ञाया बाधात्, वाचाम्+इनाः= वाजिनः, तेषु वाजिनेषु=वाग्मिषु। ४—लोके गतिसंज्ञका उपसर्गाश्च 'ते प्राग्धातोः' इति धातोः प्रागेव प्रयुज्यन्ते, छन्दसि तदपवादमाह—छन्दसि परेऽपीति, व्यवहिताश्चेति। ५—आयाहीति प्राप्ते, याहि ओक आ, इति परप्रयोगः, आ मन्द्रैरित्यत्र व्यवहितः पूर्वप्रयोगः। ६—कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां छन्दसि तृतीयाविधानार्थमिदम्। चकाराद् द्वितीयाऽपि। ७—अग्निहोत्रशब्दोऽत्र हविषु

२२७२—अयस्मयादि शब्द छन्द में निपातन से सिद्ध हैं (छन्द में 'भ' और 'पद' दोनों संज्ञाएँ एक साथ होती हैं)।

२२७३-२२७४—छन्द में उपसर्ग और गति संज्ञक प्रादियों का धातु से पर प्रयोग भी होता है। और व्यवहित प्रयोग भी होता है।

२२७५—वेद में जुहोति के कर्म में तृतीया होती है, द्वितीया भी होती है।

२२७६ मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् ३ । २ । ७१ ॥

(श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यम्) । यत्र पदत्वं भावि तत्र ण्विनोऽपवादो डस्वक्तव्य इत्यर्थः । श्वेतवाः । श्वेतवाहौ । श्वेतवाहः । उक्थानि उक्थैर्वा शंसति उक्थशाः = यजमानः । उक्थशासौ पुरो दाश्यते=दीयते पुरोडाः ।

२२७७ अवे यजः ३ । २ । ७२ ॥

अवयाः । अवयाजौ । अवयाजः ।

२२७८ अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च ८ । २ । ६७ ॥

वर्तते, अग्नौ हूयत इति व्युत्पत्तेः । 'यवाग्वाख्यं हविर्देवतोद्देश्येन प्रक्षिपति' इत्यर्थः ।

१—श्वेतादिपूर्वेभ्यो वहादिभ्यो ण्विन् स्यादिति सूत्रार्थः । श्वेतशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे वहः कर्मणि कारके ण्विन् प्रत्ययः । उक्थस्-शब्दे कर्मवाचिनि करणवाचिनि चोपपदे शस्-धातोः ण्विन् नलोपश्च, पुरःशब्दपूर्वकात् दाश्-दाने इत्यस्मात् ण्विन् प्रत्ययः, धातोर्दकारस्य डत्वं चेति विवेकः । डस्पदस्येति प्रत्येकमभिसम्बध्यते । २—यत्र डसन्तस्य पदत्वम् = पदसञ्ज्ञा भावि = भविष्यत्—तत्रेत्यर्थः । ३—श्वेता एव यं वहन्ति स-श्वेतवाः = इन्द्रः, 'श्वेत-वह्' इत्यस्मात् भाविपदत्वेन ण्विनोऽपवादे डसि प्रत्यये, डित्वाट्टिलोपे 'श्वेतवस्' शब्दः, अत्वसन्तस्येति दीर्घः । पदत्वाभावे ण्विन्प्रत्ययस्य सर्वापहारे श्वेतवाह्शब्दः तथा च श्वेतवाः, श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः, इत्यादिरूपाणि, हलादौ-पदत्वेन डसन्तत्वेन श्वेतवोभ्याम् इत्यादि, वेधोवत् । एवम्-उक्थशाः । उक्थशासौ । उक्थशोभ्याम् । पुरोडाः, पुरोडासौ । पुरोडोभ्याम् इत्यादि । ४—अव-पूर्वकाद् यजेः ण्विन्, पदत्वे भाविनि तदपवादो डस् इत्यर्थः । ५—सौ ण्विनोऽपवादे डसि, टिलोपे अवयस् शब्दः, अत्वसन्तस्येति दीर्घे अवयाः अन्यत्र ण्विनि—उपधादीर्घे अवयाजौ अवयाजः, भ्यामादौ अवयोभ्याम्, इत्यादि । ६—सम्बुद्धौ-'अत्वसन्तस्य' इत्यप्रासौ दीर्घो निपात्यते ।

२२७६—मंत्र में श्वेतवहादि से ण्विन् प्रत्यय होता है । (किन्तु जहाँ पदत्व भावी हो वहाँ ण्विन् का अपवाद डस् होता है) ।

२२७७—अव पूर्वक यज् से ण्विन् होता है जहाँ पदत्व भावी हो वहाँ ण्विन् का अपवाद डस् होता है ।

२२७८—'अवयाः श्वेतवाः और पुरोडाः' ये तीनों सम्बुद्धि में कृतदीर्घ निपातित हैं ।

एते सम्बुद्धौ कृतदीर्घा निपात्यन्ते । चाकृषयश्चः ।

२२७९ लिङर्थे लेट् ३ । ४ । ७ ॥[1]

२२८० सिब्बहुलं लेटि ३ । १ । ३४ ॥[2]

२२८१ इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ३ । ४ । ९७ ॥[3]

लेटस्तिङां वा ।

२२८२ लेटोऽडाटौ ३ । ४ । ९४ ॥[4]

स्तो वा । तौ च पितौ । (सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः) । वृद्धिः । प्र ण आयूंषि तारिषत्[5] । सुपेशस्करति जोषिषद्धि[6] । आसाविषदर्शसानाय[7] । सिप इलोपस्य चाभावे-पताति विद्युत् । प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति ।

२२८३ स उत्तमस्य ३ । ४ । ९८ ॥

१—विध्यादौ हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्याच्छन्दसि, इत्यर्थः । 'लः कर्मणि, इति सूत्रे पञ्चमो लकारः (लेट्) छन्दोमात्रगोचर इत्युक्तं तदिदानीं प्रदर्श्यते । २—लेटि बहुलं सिप स्यादित्यर्थः । ३—लेट्स्थानिकानां तिङाम् इतो लोपः परस्मैपदेष्वित्यर्थः । ४—लेटः 'अट्' 'आट्' एतावागमौ स्तः, तौ च पितौ स्यातामित्यर्थः । ५—तृधातोर्लेटि, तिबादेशे इकारलोपे, सिपि, वलादिलक्षणे इटि सिपो णित्त्वाद् वृद्धौ, रपरत्वे, षत्वे, अटि रूपम्—तारिषत् । ६—जुषी-प्रीतिसेवनयोः, व्यत्ययेन परस्मैपदम्, लेटि, तिपि, इकारलोपे, सिपि, इति, षत्वे, उपधागुणे, अटि—रूपम् जोषिषत् । ७—आङ्पूर्वात् षु-प्रसवैश्वर्ययोः इत्यस्य लेटि रूपम् । सिद्धिः पूर्ववत्, आसाविषत् । ८—पत्-धातोर्लेटि तिपि, इकारलोपाऽभावे सिपोऽभावे च आडागमे, पताति = पतेदित्यर्थः । ९—भूधातोः लेट्, तिप्, इलोपाभावः, सिपोऽभावश्च, आट् गुणोऽवादेशः, भवाति ।

२२७९—लेट् लकार लिङ् के अर्थों में होता है ।

२२८०—लेट में सिप् होता है बहुलता करके ।

२२८१—लेट् स्थानिक तिङों के इकार का लोप होता है परस्मैपद में विकल्प करके ।

२२८२—लेट् को विकल्प करके अट् आट् आगम होते हैं और वे पित् माने जाते हैं । (सिप् को णिद्वद्भाव होता है बहुलता करके) ।

२२८३—लेट् के उत्तम पुरुष के सकार का लोप होता है ।

लेट उत्तमस्य वा लोपः । करवावः, करवाव । टेरेत्वम् ।[3]

२२८४ आत ऐ ३ । ४ । ९५ ॥

लेट ऐ स्यात् । सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते ।

२२८५ वैतोऽन्यत्र ३ । ४ । ९६ ॥

लेट एकारस्य ऐ स्याद्वा, आत ऐ इत्यस्य विषयं विना । पशूनामीशै । ग्रहा गृभ्णान्तै । अन्यत्र किम्–सुप्रयसा मादयैते ।

२२८६ उपसंवादाशङ्कयोश्च ३ । ४ । ८ ॥

पणबन्धे आशङ्कायां च लेट् । अहमेव पशूनामीशै । नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम ।

१—लेट्स्थानिकयोर्वस्-मसोः सस्य, इत्यर्थः । २—कृञो लेटो वस्, 'तनादिकृञ्भ्यः' इति उः, गुणः, रपरत्वम्, 'लेटोऽडाटौ' इत्याट्, तस्य पित्त्वेनाऽङित्त्वात्–विकरणस्य गुणः, 'अत उदिति' उत्वाऽभावश्च–करवावः, पक्षे सलोपे–करवाव । ३—मदी-हर्षे इत्यस्माद् णिजन्ताद् 'मादि' इत्यस्माद् लेट्, आत्मनेपदे प्रथमपुरुषद्विवचने 'आताम्' इत्यादेशे कृते 'मादि+आताम्' इति स्थितौ आह–टेरेत्वम् इति, 'टित आत्मनेपदानाम्' इत्यनेन आताम् इत्यस्य टेः='आम्'–इत्यस्य एकार इत्यर्थः । प्रथमस्य च आकारस्य 'आत ऐ' इत्यनेन ऐकारादेशः 'मादि+ऐते' इत्यवस्थायां गुणाऽयादेशयोः सतोः, मादयैते इति । ४—ईशै, ईश्–ऐश्वर्ये, आत्मनेपदे उत्तमपुरुषैकवचनम्, इट्, इट इकारस्य 'इतश्च लोप' इति लोपस्तु न परस्मैपदेष्वित्युक्तेः । टेरेत्वे ईश्+ए, इति स्थिते एकारस्य ऐकारः । ५—ग्रह् धातोः कर्मणि लेटो झि अन्तादेशः, यकि, ग्रहिज्येति सम्प्रसारणे, आडागमे, टेरेत्वे 'गृह्णान्ते' इति एकारस्य ऐकारे, गृह्णान्तै । पक्षे गृह्णान्ते । ६—अयं हि 'आत ऐ' इत्यस्य विषयः, अतो न विकल्पः । ७—ईशै–अत्र पणबन्धे लेट्, सिद्धिः पूर्ववत् । पणबन्धः=समयकरणम् । ८—आशङ्कोदाहरणमिदम् । पत्धातोर्लेटि उत्तमपुरुषबहुवचने आडागमे, स लोपे–पताम इति ।

२२८४—लेट् के आत् को ऐ होता है ।

२२८५—'आत ऐ' के विषय को छोड़कर लेट् के एकार को ऐ विकल्प करके होता है ।

२२८६—पणबन्ध और आशङ्का अर्थ में भी लेट् होता है ।

२२८७ व्यत्ययो बहुलम् ३ । १ । ८५ ॥

विकरणानां[1] छन्दसि । आण्डा शुष्मस्य भेदति[2] । भिनत्तीति प्राप्ते । जरसा मरते[3] पतिः । म्रियत इति प्राप्ते । इन्द्रो वस्तेन नेषतु[4] । नयतेर्लोट् । शप्सिपौ द्वौ विकरणौ । इन्द्रेण युजा तरुषेम[5] वृत्रम् । तरेमेत्यर्थः । तरतेर्विध्यादौ लिङ् । उः सिप् शप् चेति त्रयो विकरणाः ।

सुप्तिङुपग्रह–लिङ्ग–नराणां काल–हलच्–स्वर–कर्तृ–यङां च[6] ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

१—विकरणानां = शबादीनां बहुलं व्यत्ययः स्याच्छन्दसि, इत्यर्थः । २—रुधादित्वात् श्नमि प्राप्ते व्यत्ययेन शप्, उपधागुणः, भेदति । ३—मृङ्–धातोस्तुदादित्वाद्-शे प्राप्ते व्यत्ययेन शप्, गुणे रपरे–मरते इति । ४—'नयतु' इति प्राप्ते नेषतु, णीञ्–प्रापणे इत्यस्माल्लोटि व्यत्ययेन शप्-सिपौ द्वौ विकरणौ गुणे रूपसिद्धिः । ५—तॄधातोः लिङि उत्तमपुरुषबहुवचने व्यत्ययेन उः-सिप्-शप् चेति त्रयो विकरणाः, गुणे षत्वे 'तरुष + मस्, इति जाते यासुट्, उयावितौ 'लिङः सलोप' इति यासः सलोपे, 'नित्यं ङितः' इति मसः सकारलोपे च 'अतो येयः' इति 'या' इत्यस्य 'इय्' 'लोपो व्योरि' ति यलोपे 'आद्गुणः' इति गुणे–तरुषेम । ६—सुप्तिङिति, शास्त्रकृत् = पाणिनिराचार्यः, एषां = सुप्तिङ्प्रभृतीनां व्यत्ययं = विपर्यासम् इच्छति । सोऽपि = व्यत्ययो बाहुलकेन = बहुलतया सिद्धयति । चशब्दो हेतौ । तथा चायमर्थः, यस्मादेवंविधो व्यत्ययो बहुलग्रहणेन सिद्धयति, तस्माद् बहुलग्रहणं कृतम् आचार्येणेति, तत्र क्रमेणोदाहरणानि–सुब्व्यत्ययो यथा–'धुरि' दक्षिणायाः निस्थाने व्यत्ययेन ङस्, तदुक्तं-दक्षिणस्याम् इति प्राप्ते । तिङ्व्यत्ययः–'चषाल...तक्षति' झिस्थाने व्यत्ययेन तिप्, तदाह-तक्षन्ति, इति प्राप्ते । उपग्रहः = परस्मैपदात्मनेपदे तदुदाहरणम् यथा–ब्रह्मचारिणमिच्छते, परस्मैपदस्थाने व्यत्ययेनात्मनेपदम्, तदाह–इच्छतीतिप्राप्ते । तथा च प्रतीप...युध्यति, युध्यति इत्यत्र व्यत्ययेन परस्मै-

---

२२८७—छन्द में विकरणों का बहुलता करके व्यत्यय होता है ।

सुप्तिङुपग्रहेति शास्त्रकृत् आचार्य पाणिनि, सुप्, तिङ्, उपग्रह अर्थात् परस्मैपद आत्मनेपद, लिङ्ग, नर = पुरुष, काल, हल्, अच् उदात्तादिस्वर, कर्तृ अर्थात् सभी कारक तथा तद्वाचक कृत्तद्धित, और यङ् इन सबका वेद में व्यत्यय चाहते हैं, किन्तु यह सब बहुल ग्रहणसे सिद्ध हैं ।

धुरि दक्षिणायाः, दक्षिणस्यामिति प्राप्ते। चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति, तक्षन्तीति प्राप्ते। उपग्रहः = परस्मैपदात्मनेपदे, ब्रह्मचारिणमिच्छते, इच्छतीति प्राप्ते। प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति, युध्यत इति प्राप्ते। मधोस्तृप्ता इवासते, मधुन इति प्राप्ते। नरः = पुरुषः, अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः, वियूयादिति प्राप्ते। कालः = कालवाची प्रत्ययः, श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, लुटो विषये लृट्। तमसो गा अदुक्षत्, अधुक्षदिति प्राप्ते। मित्र वयं च सूरयः, मित्रावयमिति प्राप्ते। स्वरव्यत्ययस्तु। वक्ष्यते। कर्तृशब्दः कारकमात्रपरः तथा च तद्वाचिनां कृत्तद्धितानां व्यत्ययस्तु-अन्नादाय, अणिविषये अच्। यङो यशब्दादारभ्य लिङ्याशिष्यङिति ङकारेण प्रत्याहारः। तेषां व्यत्ययो भेदतीत्यादिरुक्त एव।

२२८८ छन्दस्युभयथा ३। ४। ११७॥

धात्वधिकारोक्तः प्रत्ययः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञः स्यात्। वर्धन्तु[1]

पदम्। लिङ्गव्यत्ययो यथा–मधोस्तृप्ता इवासते, मधोरिति नपुंसकस्थाने पुल्लिंगम्, तदाह–मधुन इति प्राप्ते। नरः = पुरुषः, तद्व्यत्ययो यथा–अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः, विपूर्वको यु–धातुः आशिषि लिङः—प्रथमपुरुषस्य व्यत्ययेन मध्यमपुरुषः, तदाह–'वियूयात्' इति प्राप्ते। कालः = कालवाची प्रत्ययः, तद्व्यत्ययो यथा श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, अत्र व्यत्ययेन लुटो विषये लृट्, तस्य शानचि रूपम्। हल्व्यत्ययो यथा—तमसो गा अदुक्षत्, व्यत्ययेन धकारस्य दकारः। तदुक्तम् "अधुक्षत्" इति प्राप्ते। अच्–व्यत्ययो यथा—मित्र वयं च सूरयः, अत्र दीर्घस्य ह्रस्वव्यत्ययः, तदाह मित्रा वयमिति प्राप्ते। स्वरः = उदात्तादिस्तद्व्यत्ययस्तु स्वरप्रक्रियायां स्पष्टः। कर्तृशब्दः कारकमात्रपरस्तथा च कारकवाचिनां कृतां तद्धितानां च व्यत्ययः = कर्तृव्यत्ययः, तद् यथा–अन्नादाय, इत्यत्राणविषयेऽच्प्रत्ययः। यद्यपि रूपसिद्धौ अणि, अचि न कश्चिद् विशेषः, तथाप्यवग्रहेऽस्ति विशेषः, अणि कृते 'अन्न आदायेति'–अवग्रहः। अचि तु 'अन्न अदाय' इति। यङ् प्रत्याहारः, तेन तदन्तर्वर्तिप्रत्ययाः गृह्यन्ते, तेषां व्यत्ययश्च भेदतीत्यादावुदाहृत एव इति।

१—णिजन्ताद् वृधु–धातोर्लोटि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम्, आर्धधातुकत्वेन 'णेरनिटि' णिलोपे = वर्धन्तु।

२२८८—छन्द में धात्वधिकारोक्त प्रत्यय की सार्वधातुक और आर्धधातुक ये दोनों सञ्ज्ञाएँ होती हैं।

त्वा वृधुतयः, वर्धयन्त्वित्यर्थः आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः। विश्वसिवरे। सार्वधातुकत्वात् श्नुः श्नुभावश्च। हुश्नुवोरिति यण्।

२२८९ तुमर्थे से[1]-सेनसे-असेन्-क्से-कसेनध्यै-अध्यैन्-कध्यै-कध्यैन्-शध्यै-शध्यैन्-तवै-तवेङ्-तवेनः ३।४।९॥

से-वक्षे[2] रायः। सेन्-ता वामेषे[3]। असे-शरदो जीवसे[4] धाः। असेन् नित्वादाद्युदात्तः। क्से-प्रेषे[5]। कसेन्-गवामिव श्रियसे[6]। अध्यै, अध्यैन्—जठरं पृणध्यै[7], पक्षे-आद्युदात्तम्। कध्यै, कध्यैन्-आहुवध्यै[8]। शध्यै-राधसः सह मादयध्यै[9], शध्यैन्-वायवे पिबध्यै[10]। तवै-दातवा[11] उ। तवेङ्-सूतवे[12]। तवेन्-कर्तवे[13]।

२२९० प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै[14] ३।४।१०॥

१—धातोरेते पञ्चदश प्रत्ययास्तुमर्थे भवन्तीत्यर्थः। २—वच् धातोः सेप्रत्यये, चोः कुरिति, कुत्वम्, सस्य षत्वम्, कषसंयोगे क्षः, वक्षे=वक्तुम् इत्यर्थः। ३—इण्-धातोः सेन्प्रत्यये, इणो गुणः, षत्वम्, एषे। ४—जीव् धातोः असे-प्रत्ययः, जीवसे=जीवितुमित्यर्थः। ५—प्रपूर्वकात् इण्-धातोः क्से प्रत्यये कित्वाद् गुणाभावे, षत्वे इषे, 'प्र+इषे' आद्गुणः, प्रेषे। ६—श्रिञ् सेवायाम्, इत्यस्मात् कसेन् प्रत्ययः, 'असे' इति शिष्यते कित्वाद् गुणाभावे, इयङ्, श्रियसे=श्रयितुम्, इत्यर्थः। ७—क्र्यादेः पॄ-धातोः-अध्यै-अध्यैन्प्रत्ययौ, श्नाविकरणः, प्वादीनां ह्रस्वः, इति ह्रस्वे, आलोपे णत्वे-पृणध्यै, नित्वात् स्वरे भेदः। ८—आङ् पूर्वकाद् हुधातोः कध्यैप्रत्ययः कित्वाद् गुणाभावे, उवङ् आहुवध्यै। ९—णयन्ताद् मद्धातोः शध्यैप्रत्ययः, शपि, गुणोऽयादेशे, मादयध्यै। १०—पा-पाने इत्यस्मात् शध्यैन्प्रत्ययः, शित्वात्सार्वधातुकत्वेन शप्, पिबादेशः-पिबध्यै। ११—दाधातोः तवैप्रत्ययः, दातवै+उ, इति संहितायाम् एकारस्य 'आय्' आदेशः लोपः शाकल्यस्येति यलोपे, दातवाउ। १२—सूधातोः तवेङ्-प्रत्ययः, ङित्वाद् गुणाभावः, सूतवे। १३—कृञ्-धातोः तवेन्प्रत्ययः सार्वधातुकार्धधातुकेति गुणो रपरः कर्तवे। १४—एते तुमर्थे निपात्यन्ते इत्यर्थः। प्रपूर्वात् या-धातोः कैप्रत्यये,

---

२२८९—तुमुन् के अर्थ में—से सेन इत्यादि १५ प्रत्यय प्रत्येक धातु से होते हैं वेद में।

२२९०—प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै ये तीनों तुमर्थ में निपातनसे सिद्ध होते हैं।

एते निपात्यन्ते। प्रवातुं रोढुम् अव्यथितुमित्यर्थः।

२२९१ दृशे[1] विख्ये च ३।४।११॥

निपातौ। द्रष्टुं विख्यातुमित्यर्थः।

२२९२ कृत्यार्थे[2] तवै-केन्-केन्य-त्वनः ३।४।१४॥

धातोरेते स्युः। तवै—अन्वेतवै[3]। केन्—अवगाहे[4]। केन्य—दिदृक्षेण्यः[5] त्वन्—कर्त्वम्[6]।

२२९३ सृपितृदोः कसुन् ३।४।१७॥

तुमर्थे। पुरा क्रूरस्य विसृपो[7] विरप्शिन्। पुरा जत्रुभ्य आतृदः[8]।

२२९४ प्रकृत्यान्तः[9] पादमव्यपरे ६।१।११५॥

ऋक्पादमध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यान्न तु वकारयकारपरे अति[10]। उपप्रयन्तो

आलोपे, प्रये। रुह्—धातोः 'इध्ये-प्रत्यये, उपधागुणे रोहिष्यै। नञ्पूर्वाद् व्यथ्-धातोः 'इध्यै' प्रत्यये, अव्यथिष्यै।

१—दृश्-धातोः, विपूर्वात् ख्याधातोश्च के-प्रत्ययान्तौ निपातावित्यर्थः। कित्त्वाद् दृशेर्नोपधागुणः, दृशे = द्रष्टुम्। कित्त्वाद् आलोपः, विख्ये = विख्यातुम्। २—कृत्यानां = तव्यदादीनाम् अर्थे (भावकर्मणोः) इत्यर्थः। ३—अनुपूर्वादिण्-धातोस्तवै-प्रत्ययः, गुणः, अन्वेतवै = अन्वेतव्यम्। ४—गाहू विलोडने इत्यस्मात् केन्-प्रत्यये रूपम्, अवगाहे = अवगाह्यम्। ५—दृशेः सन्नन्ताद् 'दिदृक्ष' इत्यस्मात् केन्यप्रत्ययः, 'अतो लोपः' इत्यलोपे, णत्वम् दिदृक्षेण्यः = द्रष्टव्यः। ६—कृञ्-धातोः त्वन्-प्रत्यये गुणो रपरः, कर्त्वम् = कार्यम्। ७—विपूर्वकात्सृप्-धातोः कसुन्-प्रत्ययः, 'अस्' इत्यवशिष्यते, कित्वान्नोपधागुणः, विसृपः। ८—आङ्-तृद्-धातोः कसुन, गुणाभावे, आतृदः ९—सन्धिरूपं विकारं न लभते इत्यर्थः। १०—'एङः पदान्ता' दिति प्राप्तं पूर्वरूपं न भवति।

२२९१—दृशे, विख्ये ये दोनों तुमर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं (के प्रत्यय होकर)।

२२९२—कृत्य प्रत्यय तव्यादि के अर्थ में धातु से तवै, केन्, केन्य, और त्वन् प्रत्यय होते हैं, वेद में।

२२९३—सृप् और तृद् धातु से तुमर्थ में कसुन् प्रत्यय होता है।

२२९४—ऋक् पाद मध्यस्थ एङ् को प्रकृतिभाव होता है, किन्तु वकार यकार परक अत् परे रहते नहीं होता।

अध्वरम्। सुजाते अश्वसूनृते। अन्तःपादं किम्-एतास एतेऽर्चन्ति। अव्यपरे किम्-तेऽवदन्।

२२९५ अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु[1] च ६।१।११६।

एषु व्यपरेऽप्यति एङ् प्रकृत्या। वसुभिर्नो अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात्। मा शिवासो अवक्रमुः। ते नो अव्रत। शतधारो अयं मणिः। ते नो अवन्तु। कुशिकासो अवस्यवः।

२२९६ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः[2] ७।१।३९॥

ऋजवः सन्तु पन्थाः[3], पन्थान इति प्राप्ते। परमे व्योमन्[4], व्योमनीति प्राप्ते। धीती[5], मती, सुष्टुती, धीत्या, मत्या, सुष्टुत्येति प्राप्ते पूर्वसवर्णः। या सुरथा[6] रथीतमा, यौ सुरथाविति प्राप्ते आ। नतांद् ब्राह्मणम्[7], नतमिति प्राप्ते आत्। यां[8] देव विश्व ता त्वा, यमिति प्राप्ते। न युष्मे वाजबन्धवः, अस्मे इन्द्रा बृहस्पती, युष्मासु अस्मभ्यमिति प्राप्ते शे[9]। [10]उरुया, धृष्णुया, उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते या। नाभा[11] पृथिव्याः, नाभाविति प्राप्ते डा। ता अनुष्ठयोच्यावयतात्[12], आङो

एवमग्रेऽपि।

१—अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्युः, इत्येतेषु परत एङः प्रकृतिभावः स्यादित्यर्थः। एषु-व्यपरेऽति-अप्राप्तः प्रकृतिभावो निपात्यते। स्पष्टान्युदाहरणानि। २—सुपां स्थाने सु-लुक्-पूर्वसवर्ण-आ-आत्-शे-या-डा-ड्या-याच्-आल् इत्येते आदेशाः स्युश्छन्दसि-इत्यर्थः। ३—जसः सुरादेशः। ४—ङेः लुक्। ५—धीति-मति-सुष्टुति-शब्देभ्यः टापि, यणि-प्राप्ते पूर्वसवर्णदीर्घः। ६—'औ' इत्यस्य 'आ'। ७—अमः-आत्। ८—अमः-आत्। एवं 'ता' इत्यत्रापि। ९—युष्मे-अस्मे, इति पूर्वत्र सुपः शे, उत्तरत्र भ्यमः शे। १०—उभयत्र टापः स्थाने 'या' आदेशः। ११—ङेर्डादेशः। १२—अनुष्ठानम् = अनुष्ठा, तया-अनुष्ठया, आङोडया।

२२९५—अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमु, अव्रत, अयम्, अवन्तु, और अवस्यु शब्द परे रहते एङ् को प्रकृतिभाव होता है। (इनमें वकार यकार परक अत् परे होने से प्रकृति भाव प्राप्त नहीं था इस सूत्र से निपातित किया है)।

२२९६—वेद में सुपों के स्थान में सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, डा, ड्या, याच्, आल् ये आदेश होते हैं बहुलता करके।

क्या । साधुया[1], साध्विति प्राप्ते याच् । वसन्ता[2] यजेत, वसन्त इति प्राप्ते आल् (इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्) । उर्विया, उरुणेति प्राप्ते इया[3] । सुक्षेत्रिया,[4] सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच् । 'दृतिं न शुष्कं सरसी[5] शयानम्', सरस्यामिति प्राप्ते ई ।

२२१७ आज्जसेरसुक्[6] ७ । १ । ५० ॥

ब्राह्मणासः[8] । (तन्वादीनां वेयङुवङौ[9] ।) [10]तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम । विष्वं पश्य, विषुवं पश्य । स्वर्गो लोकः, सुवर्गो लोकः । त्र्यम्बकम्, त्रियम्बकम् । वरेण्यम्, वरेणियम् । 'अतो भिस ऐस्'—

२२१८ बहुलं छन्दसि[11] ७ । १ । १० ॥

अग्निर्देवेभिः ।

२२१९ मंत्रेष्वाङ्यादेरात्मनः ६ । ४ । १४१ ॥

१—सोर्याच् । २—ङेः–आल् । ३—सुपां स्थाने, इया–डियाच्–ई, इत्येतेऽपि भवन्तीति वक्तव्यमित्यर्थः । ४—टापः–'इया' आदेशः । ५—आनो–डियाच्, डित्त्वाट्टिलोपः । ६—'ङि' इत्यस्य 'ई' इत्यादेशः । ७—अवर्णान्तादङ्गात्परस्य जसोऽसुक् स्यादित्यर्थः । ८—ब्राह्मण–शब्दाज्जसोऽसुक्–आगमः, कित्त्वादन्ते, (ब्राह्मण + जस्–असुक्) ब्राह्मण = अस्–अस्, पूर्वसवर्णदीर्घे अन्त्यस्य सस्य विसर्गः ब्राह्मणासः । ९—'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्' इति वार्तिकं संक्षिप्य पठितम् । तन्वादिगणस्थानां शब्दानाम् इयङ्–उवङौ वा स्यातां छन्दसि । पक्षे–यण् इत्यर्थः । १०–तनु + अम्, इति छेदः, उवङ्, पक्षे–यण्, तनुवम्, तन्वम् । एवम्, विषु + अम्, सु + अर्गः, त्रि + अम्बक (म्), इत्यादि छेदाः । ११—छन्दसि बहुलं भिस ऐस्, क्वचित् प्राप्तावपि न भवतीत्यर्थः । यथा—देवेभिः ऐसादेशाभावे "बहुवचने झल्येत्" इत्येत्वम् ।

२२१७—वेद में अवर्णान्त अङ्ग से परे विद्यमान जस् को असुक् आगम होता है बहुलता करके । (तन्वादि शब्दों में इयङ् उवङ् विकल्प से होते हैं) ।

२२१८—वेद में भिस् को ऐस् बहुलता करके होता है ।

२२१९—मंत्रों में 'ट' विभक्ति परे रहते आत्मन् शब्द के आदि का लोप होता है ।

आत्मन्शब्दस्यादेर्लोपः [1] आकि । त्मना देवेषु । 'अपो मि' । (मासश्छन्दसीति [2] वक्तव्यम्) । माद्भिः [3] । शरद्भिः ।

२३०० प्र-समुपोदः पादपूरणे ८ । १ । ६ ॥

एषां द्वे स्तः । प्रप्रायमग्निः । संसमिद्युवसे । उपोप मे परामृश । किन्नो दुदुद्धर्षसे ।

२३०१ षष्ठ्याः पति-पुत्र-पृष्ठ-पार-पद-पयस्पोषेषु [4] ८ । ३ । ५३ ॥

विसर्गस्य सः स्यात् । वाचस्पतिं विश्वकर्माणम् । दिवस्पुत्राय सूर्याय दिवस्पृष्ठं मन्दमानः । तमसस्पारमस्य । परिवीत इळस्पदे । दिवस्पयो दिधिषाणाः । रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम् । ॥ इति वैदिकप्रक्रिया ॥

अथ स्वरप्रक्रिया

२३०२ धातोः ६ । १ । १६२ ॥

अन्त उदात्तः स्यात् ।

२३०३ अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ६ । १ । १५८ ॥

परिभाषेयं स्वरविषया । यस्मिन्पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं

१—'टा' विभक्तौ इत्यर्थः, 'आङिति टा-संज्ञा' इत्युक्तेः । त्मना देवेषु 'आत्मना' इति प्राप्ते । २—छन्दसि मास्-शब्दावयवस्य सकारस्य तकारादेशो (भादिविभक्तौ) वक्तव्य इत्यर्थः । ३—मास-शब्दस्य 'पद्दन्नोमास् हृदि'ति सूत्रेण सकारान्तो 'मास्' इत्यादेशे, सस्य तकारे, जश्त्वम्-माद्भिः । ४—उपध्मानीये विसर्गे च (विकल्पेन) प्राप्ते वचनम् । षष्ठ्यन्तविसर्गस्य पतिपुत्रादिषु परतः सकारादेशः स्याच्छन्दसीत्यर्थः । उदाहरणानि स्पष्टानि ।

इति श्रीप्रभाकरीविवृतौ मध्यकौमुदीटीकाया वैदिकीप्रक्रिया सम्पूर्णा ।

(छन्द में मास् शब्द के सकार को तकार आदेश होता है) ।

२३००—वेद में प्र, सम्, उप और उद् को द्वित्व होता है यदि पाद पूर्ति होती हो ।

२३०१—पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोष शब्द परे रहते षष्ठी के विसर्ग को सकार होता है ।

अथ स्वरप्रक्रिया ।

२३०२—धातु का अन्त उदात्त होता है ।

२३०३—जिस पद में जिस अच् को उदात्त अथवा स्वरित विधान किया हो उस एक अच् को छोड़कर उस पद के शेष सभी अच् अनुदात्त होते हैं ।

वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्तत्वं स्यात् । गोपायतं नः । अत्र 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे धातुस्वरेण यकाराकार उदात्तः, शिष्टमनुदात्तम् ।

२३०४ उदात्तादनुदात्तस्य¹ स्वरितः ८ । ४ । ६६ ॥
इति तकाराकारः² स्वरितः ।

२३०५ स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् १ । २ । ३९ ॥
एकश्रुतिः स्यात् । इति नकाराकारः प्रचयः ।

२३०६ अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ६ । १ । १६१ ॥
यस्मिन्ननुदात्ते उदात्तो लुप्यते तस्योदात्तः । देवीं वाचम्, अत्र ङीबुदात्तः ।

२३०७ आद्युदात्तश्च ३ । १ । ३ ॥
प्रत्ययस्याद्युदात्तः स्यात् । कर्तव्यम् ।

२३०८ अनुदात्तौ सुप्पितौ ३ । १ । ४ ॥
पूर्वस्यापवादः । यज्ञस्य । न यो युच्छति । शप्तिपोरनुदात्तत्वे स्वरितप्रचयौ ।

२३०९ चितः ६ । १ । १६३ ॥
अन्त उदात्तः स्यात् । (चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्) । चिति प्रत्यये सति

अथ स्वरप्रक्रिया

१—उदात्तात्परस्याऽनुदात्तस्य स्वरितः स्यादित्यर्थः । २—'गोपायतं' इत्यत्र तकारः, इत्यर्थः । ३—स्वरितात्परेषामनुदात्तानां संहितायाम् एकश्रुतिः स्यादित्यर्थः । ४—'गोपायतं नः' इत्यत्रेत्यर्थः । प्रचयः = एकश्रुतिः । ५—अत्र देव–शब्दोऽच्प्रत्ययान्तत्वात् 'चितः' इत्यन्तोदात्तः, पचादिषु 'देवट्' इति पाठात् टिड्ढेति ङीप्, तस्य अनुदात्तौ सुप्पितौ, इति–अनुदात्तत्वे, तस्मिन् परे 'यस्येति च' इति उदात्तस्याकारस्य लोपे 'ई'कार उदात्तः । ६—सुपः पितश्च प्रत्यया अाद्यनुदात्ता इत्यर्थः । ७—सुबुदाहरणमिदम् । ८—अत्र तिप्, पित् (पिदुदाहरणमिदमिति) ।

२३०४—उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित होता है ।

२३०५—स्वरित से परे अनुदात्तों को संहिता में एक श्रुति स्वर होता है ।

२३०६—जिस अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप हो जाय तो वह अनुदात्त उदात्त हो जाता है ।

२३०७—प्रत्यय का आदि उदात्त होता है ।

२३०८—सुप तथा पित् प्रत्यय का आदि अनुदात्त होता है ।

२३०९—चित् प्रत्यय का अन्त उदात्त होता है (चित् प्रत्यय के रहते

प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यान्त उदात्तो वाच्य इत्यर्थः। नमन्तामन्यके[1] समे। यके सरस्वतीम्। तकत्सुते।

२३१० तद्धितस्य ६।१।१६४॥

चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तः। पूर्वेण सिद्धे ञित्स्वरबाधनार्थम्। कौञ्जायनः[2]।

२३११ कितः ६।१।१६५॥

कितस्तद्धितस्यान्त उदात्तः। यदाग्नेयः[3]।

२३१२ तित्स्वरितम् ६।१।१८५॥

क्व[4] नूनम्।

२३१३ उपोत्तमं रिति ६।१।२१७॥

रित्प्रत्ययान्तस्योपोत्तममनुदात्तं स्यात्। यदाहवनीये[5]।

२३१४ ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६।१।१९७॥

ञिदन्तस्य निदन्तस्य चादिरुदात्तः। यस्मिन्विश्वानि पौंस्या। पुंसः कर्मणि ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्। सुतेदधिष्व नश्चनः। चायतेरसुन्। चायतेरन्ने ह्रस्व श्चेति चकारादसुनो नुडागमः।

२३१५ छिति ६।१।१९३॥

१—अत्र 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' इत्यकच्, एकार उदात्तः, एवं यके-तके, इत्यत्रापि यत्तच्छब्दभ्यामकच्, एकार उदात्तः। २—अत्र फक्-प्रत्ययः, कुञ्जस्याऽपत्यमिति विग्रहः। ३—अग्नेर्ढक्, ढस्य 'एय्'। ४—'किमोऽत्' इत्यत्-प्रत्ययः 'क्वाति' इति क्वादेशः। ५—आङ्पूर्वकाद् हुधातोरनीयर्। उपोत्तमम्=उपान्त्यम्, इत्यर्थः। ततो गतिसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः।

प्रकृति प्रत्यय समुदाय का अन्त उदात्त होता है ऐसा कहना चाहिये)।

२३१०—चित् तद्धित प्रत्यय का अन्त उदात्त होता है।

२३११—कित् तद्धित का अन्त उदात्त होता है।

२३१२—तित् प्रत्यय का अन्त स्वरित होता है।

२३१३—रित् प्रत्ययान्त का उपोत्तम (अन्त से पूर्व अच्) अनुदात्त होता है)।

२३१४—ञिदन्त और निदन्त का आदि उदात्त होता है।

२३१५—छित् प्रत्यय परे रहते पूर्व उदात्त होता है।

प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं स्यात् । चिकीर्षकः[1], अत्र ईकारस्योदात्तता । इत्यादिप्रयोग-मनुसृत्यान्वाख्यातव्यम् । ॥ इति स्वरप्रक्रिया ॥

एषा वरदराजेन बालानामुपकारिका ॥
अकारि पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदी ॥ १ ॥
कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी ॥
तस्याः संख्या तु विज्ञेया ख-बाण-कर-वह्निभिः । (३२५०) ॥२॥

॥ अथ लिङ्गानुशासनम् ॥

१ लिङ्गम्[2] ।

अथ स्त्रीलिङ्गाधिकारः ।

२ स्त्री[3] ।

अधिकारसूत्रे एते ।

३ ऋकारान्ता मातृ-दुहितृ-स्वसृ-यातृ-ननान्दरः । १ ।

एते[4] पञ्चैव स्त्रीलिङ्गाः ।

४ अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः । २ ।

१—सन्नन्ताद् ण्वुलि रूपम् ।

इति श्रीप्रभाकरीविवृतौ मध्यकौमुदीटीकायां स्वरप्रक्रिया सम्पूर्णा ।

२—लिङ्गानुशासनसमाप्तिपर्यन्तमधिकारोऽयम् । ३—'तारा धारा' इत्यादि सूत्रपर्यन्तमधिकारः । ४—ऋकारान्तेषु एते पञ्चैव स्त्रीलिङ्गाः, तेन एतदन्ये ऋका-

---

एषा वरदराजेनेति पाणिनि प्रणीत व्याकरण पढ़ने वाले बालकों के लिये परम उपकारिका यह मध्य सिद्धान्त कौमुदी वरदराज ने बनाई है ॥ कृति रित्यादि वरदराज की कृति है, इसकी संख्या अनुष्टुप् छन्द के प्रमाण से ३२५० है । (यद्यपि इसमें सूत्र संख्या २३१५ है) ।

अथ लिङ्गानुशासनम्

१—"लिङ्गम्" यह अधिकार सूत्र है ।

२—"स्त्री" यह भी अधिकार सूत्र है ।

३—ऋकारान्तों में ये पांच शब्द स्त्री लिङ्ग है—मातृ, दुहितृ, स्वसृ, यातृ और ननान्दृ ।

४—अनि प्रत्ययान्त ऊप्रत्ययान्त धातु स्त्री लिङ्ग में होता है ।

अनिप्रत्ययान्त ऊप्रत्ययान्तश्च धातुः स्त्रियां स्यात् । [1]अवनिः । चमूः[2] ।

५ मिन्यन्तः । ३ ।

मि-निप्रत्ययान्तः स्त्रियाम् । भूमिः[3], ग्लानिः[4] ।

६ क्तिन्नन्तः । ४ ।

कृतिरित्यादि[5] ।

७ ईप्रत्ययान्तश्च । ५ ।

[6]लक्ष्मीः ।

८ ऊङाबन्तश्च[7] । ६ ।

कुरूः । अजा ।

९ य्वन्तमेकाक्षरम् । ७ ।

स्त्रीः[9] । [10]भ्रूः ।

१० विंशत्यादिरानवतेः[11] । ८ ।

रान्ताः सर्वेऽपि पुंसि नपुंसके वा ।

१—अव्-धातोः 'अर्तिसृधृ' इत्यादिनोणादिसूत्रेण 'अनि' प्रत्ययः । अवनिः = पृथिवी । २—चम्-धातोः, 'कृषिचमि' इत्यादिना ऊप्रत्ययः औणादिकः, चमूः = सेना । ३—भू-धातोः, मीत्यनुवर्तमाने 'भुवः कित्' इति मिप्रत्ययः, भूमिः = पृथिवी । ४—'वहिश्रिश्रु' इत्यादिना 'नि' प्रत्यये, ग्लानिः । ५—कृ-धातोः क्तिन्-प्रत्यये कृतिः । ६—'लक्षेर्मुट् च' इति-'ई' प्रत्यये मुडागमे च, लक्ष्मीः । ७—ऊङन्त आबन्तश्च स्त्रियां स्यादित्यर्थः । कुरूः, 'ऊङुतः' इत्यनेन ऊङ्प्रत्ययः । आब् ग्रहणेन टाप्-डाप्-चापां त्रयाणामपि ग्रहणम्-अजा टाबन्तोऽयम् । ८—ईकारोकार-रूपप्रत्ययान्तम् एकाक्षरं स्त्रियां स्यादित्यर्थः । ९—स्त्यायतोऽस्यां शुक्रशोणिते-इति स्त्री, 'स्त्यायतेड्रट्' 'लोपो व्योरि'ति यलोपः, टित्वात् ङीप् । १०—भ्रमतीति-भ्रूः 'भ्रमेश्च' इति भ्रम्धातोर्डूप्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः । ११—विंशत्यादयः =

५—मि और नि प्रत्ययान्त शब्द स्त्री लिङ्ग में होते हैं ।

६—क्तिन् प्रत्ययान्त शब्द स्त्री लिङ्ग में होता है ।

७—ई प्रत्ययान्त शब्द स्त्री लिंग में होता है ।

८—ऊङन्त और आबन्त शब्द स्त्रीलिंग में होते हैं ।

९—ईकारान्त और ऊकारान्त एकाक्षर शब्द स्त्रीलिंग में होते हैं ।

१०—विंशति से नवति तक सूत्र निर्दिष्ट शब्द स्त्रीलिंग में होते हैं ।

इयं विंशतिः।

११ तलन्तः। ९।

शुक्लता।

१२ मास्‌-स्रुच्-स्रग्-दिग्-उष्णिग्-उपानहः। १०।

इयं माः।

१३ स्थूणोर्णे नपुंसके च। ११॥

स्थूणा, स्थूणम्।

१४ शष्कुलि-राजि-कुट्यशनि-वर्ति-भ्रुकुटि-त्रुटि-वलि-पङ्क्तयः १२।

एते स्त्रियां स्युः। इयं शष्कुलिः।

१५ अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च। १३।

अबादीनां पञ्चानां स्त्रीत्वं स्याद्बहुत्वं च। आप इमाः।

१६ तारा-धारा-ज्योत्स्नादयश्च। १४।

इयं तारा ॥ इति स्त्र्यधिकारः॥

अथ पुंलिङ्गाधिकारः।

१७ पुमान्।

'पंक्तिविंशति' इत्यादिसूत्रनिर्दिष्टाः, नवतिपर्यन्ताः स्त्रियामित्यर्थः।

१—तल् प्रत्ययान्तः, स्त्रियाम्, इत्यर्थः। २—एते स्त्रियाम् इत्यर्थः। ३—स्थूणा-ऊर्णाशब्दौ स्त्रियां नपुंसके चेत्यर्थः। ४—बहुवचनान्तत्वम् इति भावः इति स्त्र्यधिकारः।

११—तल् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग में है।

१२—मास, स्रुच्, स्रज्, दिश्, उष्णिह् और उपानह् ये शब्द स्त्री लिङ्ग में हैं।

१३—स्थूणा और ऊर्णा शब्द स्त्री तथा नपुंसक में हैं।

१४—शष्कुलि आदि शब्द स्त्रीलिंग में हैं।

१५—अप्, सुमनस्, समा, सिकता और वर्षा ये शब्द स्त्री लिंग में हैं और नित्य बहुवचनान्त हैं।

१६—तारा धारा और ज्योत्स्नादि शब्द स्त्रीलिङ्ग में हैं।

अथ पुंलिङ्गाधिकारः।

१७—"पुमान्" (पुंलिङ्ग) यह अधिकार सूत्र है।

अयमधिकारः।

१८ घञबन्तः। १।

पाकः। करः। भावार्थ एवेदम्।

१९ घाजन्तश्च। २।

विस्तरः। चयः।

२० भय-लिङ्ग-भग-पदानि नपुंसके। ३।

भयमित्यादि।

२१ नङन्तः। ४।

पुंसि स्यात्। यज्ञ इत्यादि।

२२ याच्ञा स्त्रियाम्। ५।

पूर्वस्यापवादः।

२३ क्यन्तो घुः। ६।

आधिः। प्रधिः।

२४ इषुधिः स्त्री च। ७।

चात्पुंसि। इयमयं वा इषुधिः।

अथ पुंलिङ्गाधिकारः।

१—भावे घञ्-प्रत्ययान्तः, अप्-प्रत्ययान्तश्च पुंसि स्यादित्यर्थः। पाकः, भावे घञ्। करः-'ऋदोरप्' इत्यप्। २—घ-प्रत्ययान्तः, अच्-प्रत्ययान्तश्च पुमानित्यर्थः। विस्तरः, घप्रत्ययः। चयः 'एरच्'। ३—पूर्वसूत्रापवादोऽयम्। ४—यज्धातोः 'यज-याच-विच्छे'ति नङ् प्रत्ययः, यज्ञः। ५—नङन्तोऽयम्। ६—किप्रत्ययान्तो घुसंज्ञः पुंसि स्यादित्यर्थः। आधिः, प्रधिः 'उपसर्गे घोः किः,' इति कि-प्रत्ययः। ७—पूर्वसूत्रस्यापवादोऽयम्।

१८—घञ् प्रत्ययान्त और अप् प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में होते हैं।

१९—घ प्रत्ययान्त और अच् प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं।

२०—किन्तु भय, लिङ्ग, भग, और पद शब्द नपुंसक में हैं।

२१—नङ् प्रत्ययान्त पुंलिङ्ग में होते हैं।

२२—याच्ञा शब्द नङ् प्रत्ययान्त होता हुआ भी स्त्रीलिङ्ग में है।

२३—कि प्रत्ययान्त घुसंज्ञक पुंलिङ्ग में होता है।

२४—किन्तु इषुधि शब्द पुंलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग दोनों में है।

२५ द्यौः[1] स्त्रियाम् । ८ ।

२६ क्रतु-पुरुष-कपोल-गुल्फ-मेघाभिधानानि । ९ ।

क्रतुरध्वरः ।

२७ अभ्रं नपुंसकम् । १० ।

पूर्वस्यापवादः ।

२८ उदन्तः । ११ ।

अयं पुंसि स्यात् । प्रभुः, विभुः ।

२९ धेनु-रज्जु-कुहू-सरयु-तनु-रेणु-प्रियङ्गवः स्त्रियाम् । १२ ।

इयं धेनुः ।

३० रुत्वन्तः[3] । १३ ।

मेरुः । सेतुः ।

३१ दारु-कसेरु-जतु-वस्तु-मस्तूनि नपुंसके च । १४ ।

इदं दारु । अयं दारुः ।

३२ सक्तुर्नपुंसके च । १५ ।

सक्तु । सक्तुः । अदन्त इत्यधिकृत्य—

१—अस्य स्वर्गनामत्वात् 'देवासुरात्मस्वर्गे'त्यादि, सूत्रेण पुंल्लिङ्गे प्राप्तेऽयम् आरम्भः । २—पुंसीति शेषः । ३—रु-प्रत्ययान्तः, तुप्रत्ययान्तश्च पुंसीत्यर्थः ।

२५—'द्यौः' शब्द स्त्रीलिङ्ग में है (स्वर्गवाचक होता हुआ भी) ।

२६—क्रतु, पुरुष, कपोल, गुल्फ और मेघ के वाचक सभी शब्द पुंलिङ्ग में होते हैं ।

२७—किन्तु अभ्रशब्द (मेघ वाचक होता हुआ भी नपुंसक है) ।

२८—उदन्त शब्द पुंलिङ्ग में होते हैं ।

२९—किन्तु-धेनु, रज्जु, कुहू, सरयु, तनु, रेणु, और प्रियङ्गु शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं (उदन्त होते हुए भी) ।

३०—'रु' अथवा 'तु' जिनके अन्त में हों वे पुंलिङ्ग में होते हैं ।

३१—किन्तु-दारु, कसेरु, जतु, वस्तु, और मस्तु शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों में होते हैं ।

३२—प्रथम-सक्तु शब्द भी दोनों लिङ्गों में है ।

३३ कोपधः । १६ ।

कोपधोऽकारान्तः पुंसि स्यात् । स्तबकः । कल्कः ।

३४ चिबुकादीनि नपुंसके । १७ ।

चिबुकम् ।

३५ टोपधः । १८ ।

अदन्तः पुंसि । घटः । पटः ।

३६ किरीटादीनि नपुंसके च । १९ ।

किरीटम् । किरीटः ।

३७ णोपधः । २० ।

अदन्तः पुंसि । गणः । पाषाणः ।

३८ ऋणादीनि[2] नपुंसके । २१ ।

ऋणम् ।

३९ कार्षापणादीनि नपुंसके च । २२ ।

स्यात्पुंसि ।

४० थोपधः । २३ ।

अदन्तः पुंसि । रथः । यूथः ।

४१ नोपधः । २४ ।

अदन्तः पुंसि । इनः । फेनः ।

१—पूर्वाऽपवादोऽयम् । २—पूर्वसूत्रापवादोऽयम् ।

३३—कोपध अकारान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं।

३४—किन्तु-चिबुकादि शब्द नपुंसक लिङ्ग में हैं।

३५—टकारोपध अकारान्त शब्द पुंलिङ्ग में होते हैं।

३६—किन्तु-किरीटादि शब्द पुंनपुंसक दोनों में होते हैं।

३७—णकारोपध अकारान्त शब्द से पुंलिङ्ग होते हैं।

३८—किन्तु-ऋणादि शब्द नपुंसक में हैं।

३९—और कार्षापणादि शब्द पुंलिङ्ग नपुंसक दोनों में हैं।

४०—थकारोपध अकारान्त शब्द पुंलिङ्ग हैं।

४१—नकारोपध अकारान्त शब्द पुंलिङ्ग हैं।

४२ अयनोद्धीनि नपुंसके । २५ ।

अयनम् ।

४३ पोपधः । २६ ।

अदन्तः पुंसि । दीपः । पर्पः । सर्पः ।

४४ पापादीनि नपुंसके । २७ ।

पापम् ।

४५ शूर्प-कुतप-कुणप-द्वीप-विटपानि नपुंसके च । २८ ।

चात्पुंसि ।

४६ भोपधः । २९ ।

कुम्भः । सरभः ।

४७ तलभं नपुंसकम् । ३० ।

४८ जृम्भं नपुंसके च । ३१ ।

४९ मोपधः । ३२ ।

होमः । धर्मः ।

५० रुक्मादीनि नपुंसके । ३३ ।

१—'नोपधः' इत्यस्याऽपवादोऽयम् । २—'पोपधः' इत्यस्याऽपवादोऽयम् । ३—भकारोपधोऽदन्तः पुंसि । ४—पूर्वसूत्रापवादः । ५—चात् पुंस्यपि । जृम्भः । ६—मकारोपधोऽदन्तः पुंसीत्यर्थः । ७—पूर्वसूत्रापवादः ।

४२—किन्तु—अयनादि शब्द नपुंसक में हैं ।

४३—पकारोपध अकारान्त पुंलिङ्ग होते हैं ।

४४—किन्तु पाप आदि शब्द नपुंसक में हैं ।

४५—और शूर्प, कुतप, कुणप, द्वीप, विटप, ये शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों में हैं ।

४६—भकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग में होते हैं ।

४७—किन्तु—तलभ शब्द नपुंसक है ।

४८—और जृम्भ शब्द पुंनपुंसक दोनों में है ।

४९—मकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं ।

५०—किन्तु—रुक्म आदि शब्द नपुंसक में हैं ।

इदं रुक्ममित्यादि ।

५१ संग्रामादीनि नपुंसके च । ३४ ।

चात्पुंसि । संग्रामः । संग्रामम् ।

५२ योपधः । ३५ ।

हयः । समयः ।

५३ किसलयादीनि नपुंसके । ३६ ।

५४ गोमयादीनि नपुंसके च । ३७ ।

५५ रोपधः । ३८ ।

क्षुरः । खुरः । अङ्कुरः ।

५६ द्वारादीनि नपुंसके च । ३९ ।

इदं द्वारम् ।

५७ शुक्रमदेवतायाम् । ४० ।

देवतायां तु शुक्रः ।

५८ षोपधः । ४१ ।

वृषः । वृक्षः ।

५९ शिरीषादीनि नपुंसके । ४२ ।

इदं शिरीषम् ।

१—चात् पुंस्यपि । २—पूर्वस्यापवादः । ३—शुक्रम् = वीर्यम् । शुक्रो = भार्गवः । ४—पूर्वापवादः ।

५१—संग्राम आदि शब्द पुंनपुंसक दोनों में हैं ।

५२—यकारोपध शब्द पुंलिङ्ग होते हैं ।

५३—किन्तु—किसलय आदि शब्द नपुंसक में हैं ।

५४—और गोमय आदि शब्द पुंनपुंसक दोनों में हैं ।

५५—रेफोपध अदन्त शब्द पुंलिंग हैं ।

५६—किन्तु द्वार आदि शब्द पुंनपुंसक दोनों में है ।

५७—अदेवतार्थक शुक्र शब्द नपुंसक होता है ।

५८—षकारोपध अदन्त शब्द पुंलिंग होते हैं ।

५९—किन्तु शिरीषादि शब्द नपुंसक में हैं ।

६० सोपधः । ४३ ।

वायसः । महानसः ।

६१ पनस-बिस-बुस-साहसानि[1] नपुंसके । ४४ ।

६२ चमसादीनि नपुंसके च । ४५ ।

चात्पुंसि ।

६३ कंसं[2] चाप्राणिनि । ४६ ।

कंसम् । प्राणिनि तु कंस औग्रसेनिः[3] ।

६४ रश्मि-दिवाभिधानानि । ४८ ।

अत इति निवृत्तम् ।

६५ दीधितिः[5] स्त्रियाम् । ४९ ।

६६ दिनाहनी नपुंसके । ५० ।

दिनम् । अहः ।

६७ मानाभिधानानि[7] । ५१ ।

कुडवः ।

६८ द्रोणाढकौ नपुंसके च । ५२ ।

चात्पुंसि ।

१—पूर्वापवादः । २—कंसोऽस्त्री पानभाजनम् । ३—उग्रसेनपुत्रः श्रीकृष्ण-मातुलः । ४—रश्मिनामानि, दिवानामानि च पुंसि । ५—पूर्वापवादोऽयम् । रश्मिनामेदम् । ६—अयमपि पूर्वापवादः । ७—परिमाणनामानि पुंसीत्यर्थः ।

६०—सकारोपध अदन्त शब्द पुंलिंग होते हैं ।

६१—किन्तु—पनस, बिस, बुस, और साहस ये शब्द नपुंसक लिंग में हैं ।

६२—और चमस आदि शब्द पुंनपुंसक दोनों में हैं ।

६३—अप्राणि वाचक कंस शब्द नपुंसक में है ।

६४—रश्मि और दिन के नाम पुंलिंग में होते हैं ।

६५—किन्तु दीधिति शब्द स्त्रीलिंग में है ।

६६—और दिन तथा अहन् शब्द नपुंसक में हैं ।

६७—परिमाण वाचक शब्द पुंलिंग होते हैं ।

६८—किन्तु द्रोण और आढक नपुंसक में भी है ।

६९ खारी-मानिके स्त्रियाम् । ५३ ।

इयं खारी ।

७० दाराक्षत-लाजासूनां बहुत्वं च । ५४ ।

इमे दाराः ।

७१ मरुद्गरुत्तरदृत्विजः[2] । ५५ ।

अयं मरुत् ।

७२ ध्वज-गज-मुञ्ज-पुञ्जाः । ५६ ।

एते पुंसि ।

७३ वंशांशपुरोडाशाः । ५७ ।

अयं वंशः ।

७४ ह्रद-कन्द-कुन्द-बुद्बुद-शब्दाः । ५८ ।

अयं ह्रदः ।

७५ अर्घ-पथि-मथ्यृभुक्षि-स्तम्ब-नितम्ब-पूगाः । ५९ ।

अयमर्घः ।

७६ सारथ्यतिथि[3]-कुक्षि-बस्ति-पाण्यञ्जलयः । ६० ।

७७ पल्लव-पल्वल-कफ-रेफ कटाह-निर्व्यूह-मठ-मणि-तरङ्ग-तुरङ्ग-गन्ध-

---

१-दार-अक्षत-लाज-असु-इत्येतेषां पुंस्त्वं नित्यबहुवचनान्तत्वं च बोध्यम् । २—मरुत्-गरुत्-ऋत्विक्, इत्येते पुंसीत्यर्थः । ३—एते पुंसीत्यर्थः ।

६९—और खारी तथा मानिका स्त्रीलिंग में हैं ।

७०—दार, अक्षत, लाज और असु शब्द पुंलिंग में नित्य बहुवचनान्त हैं ।

७१—मरुत्, गरुत्, ऋत्विज् ये शब्द पुंलिंग हैं ।

७२—ध्वज, गज, मुञ्ज और पुञ्ज पुंलिंग हैं ।

७३—वंश, अंश और पुरोडाश पुंलिंग में हैं ।

७४—ह्रद, कन्द, कुन्द, बुद्बुद, और शब्द ये पुंलिंग में हैं ।

७५—अर्घ, पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन्, स्तम्ब, नितम्ब और पूग ये शब्द पुंलिंग में हैं ।

७६—सारथि, अतिथि, कुक्षि, बस्ति, पाणि, और अञ्जलि ये शब्द पुंलिंग में हैं ।

७७—श्लोक पल्लवादि शब्द पुंलिंग हैं ।

स्कन्ध-मृदङ्ग-सङ्ग-समुद्ग-पुङ्खाः ।६१।

अयं पल्लव इत्यादि ।

७८ ऋषि-राशि-दृति-ग्रन्थि-क्रिमि-ध्वनि-बलि-कौलि-मौलि-रवि-कवि-कपि-मुनयः ।६२।

एते पुंसि स्युः । अयमृषिः ।

७९ हस्त-कुन्तान्त-व्रात-वात-दूत-धूर्त-सूत-चूत-मुहूर्ताः ।६३।

एते पुंसि । अयं हस्त इत्यादि । इति पुंलिङ्गाधिकारः ।

अथ नपुंसकाधिकारः ।

८० नपुंसकम् ।

अयमधिकारः ।

८१ भावे [2]ल्युडन्तः ।१।

ज्ञानम् । हसनम् । भावे किम्—पचनः[3] ।

८२ निष्ठा च ।२।

भावे या निष्ठा तदन्तं क्लीबं स्यात् । गीतम् ।

८३ त्व-ष्यञौ तद्धितौ ।३।

शुक्लत्वम्, शौक्ल्यम् । षित्त्वसामर्थ्यात्पक्षे स्त्रीत्वे ङीष् । चातुर्यम्, चातुरी ।

१—इमे पुंसीत्यर्थः । इति पुंलिङ्गाधिकारः ।

अथ नपुंसकाधिकारः ।

२—नपुंसक इति शेषः । ३—अत्र कर्तरि ल्युट्, बाहुलकात् । ४—ष्यञः षित्करणसामर्थ्यात्, षिद्गौरादिभ्यश्च, इति ङीष्, 'हलस्तद्धितस्येति यलोपः' चातुरी ।

७८—सूत्रोक्त ऋषि आदि शब्द पुंलिंग हैं ।

७९—सूत्रोक्त हस्त आदि शब्द पुंलिंग हैं ।

अथ नपुंसकाधिकार ।

८०—यह अधिकार है ।

८१—भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्ययान्त नपुंसक होता है ।

८२—भाव अर्थ में निष्ठान्त (क्त प्रत्ययान्त) नपुंसक होता है ।

८३—भाव अर्थ में त्व और ष्यञ् तद्धित प्रत्ययान्त नपुंसक होता है ।

८४ कर्मणि च ब्राह्मणादिगुणवचनेभ्यः । ४ ।

ब्राह्मण्यम् ।

८५ यद्यढग्यगञ्ण्वुञ्छाश्च भावकर्मणि । ५ ।

एतानि क्लीबानि । स्तेयम्[3] । सख्यम्[4] । कापेयम्[5] । सैनापत्यम्[6] । औष्ट्रम्[7] । द्वैहायनम्[8] । पितापुत्रकम्[9] । अच्छावाकीयम्[10] ।

८६ अव्ययीभावः[11] । ६ ।

अधिहरि ।

८७ द्वन्द्वैकत्वम्[12] । ७ ।

पाणिपादम् ।

८८ अनल्पे छाया । ८ ।

शरच्छायम् ।

८९ इसुसन्तः । ९ ।

१—ब्राह्मणादिभ्यः गुणवाचिभ्यश्च कर्मण्यर्थे त्वष्यञौ नपुंसके, इत्यर्थः । चाद्भावे । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा = ब्राह्मण्यम् । २—भावकर्मणि यत्–यत्–य–ढक्–अञ्–यक्–अण्–वुञ्–छ–प्रत्ययान्ताः क्लीबे स्युरित्यर्थः । ३—'स्तेनाद्यन्नलोपश्चे'ति यत्प्रत्यये नलोपे-स्तेयम् । ४—'सख्युर्यः' इति भावे यप्रत्यये–सख्यम् । ५—'कपिज्ञात्योर्ढक्' इति ढक्प्रत्यये, एयादेशे, आदिवृद्धौ–कापेयम् । ६—'पत्यन्तपुरोहितेभ्यो यक्' इति यक्प्रत्यये, आदिवृद्धौ-सैनापत्यम् । ७—'प्राणभृज्जाती' त्यादिनाऽञ्–औष्ट्रम् । ८—'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्', इत्यण्–द्वैहायनम् । ९—'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यो वुञ्' इति वुञ्, अकादेशः-पितापुत्रकम् । १०—'होत्रादिभ्यश्छः' इति छः, तस्य 'ईय्' अच्छावाकीयम् । ११—नपुंसके इत्यर्थः । १२—'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनांगानाम्' इति येषां द्वन्द्वानाम् एकवद्भावो भवति ते द्वन्द्वा नपुंसकत्वाऽभिधायका इत्यर्थः ।

८४—ब्राह्मणादि और गुणवाची शब्द कर्म अर्थ में भी नपुंसक होते हैं ।

८५—भाव कर्म में सूत्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द नपुंसक होते हैं ।

८६—अव्ययीभाव नपुंसक होता है ।

८७—एकवद्भाव को प्राप्त द्वन्द्व नपुंसक होता है ।

८८—अनल्प विषय में छाया शब्द नपुंसक होता है ।

८९—इस् और उस् जिसके अन्त में हो वह नपुंसक होता है ।

हविः । सर्पिः । धनुः ।

६० ¹अर्चिः स्त्रियां च । १० ।

इदमियं वार्चिः ।

६१ छदिः स्त्रियामेव । ११ ।

इयं छदिः ।

६२ मुख-नयन-लोह-वन-मांस-रुधिर-कार्मुक-विवर-जल-हल-धनान्नाभिधानानि । १२ ।

एषामभिधायकानि क्लीबे स्युः । मुखमाननं वक्त्रम् इत्यादि ।

६३ सीरार्थौदनाः पुंसि । १३ ।

६४ वक्त्र-नेत्रारण्य-गाण्डीवानि पुंसि च । १४ ।

चात् क्लीबे ।

६५ अटवी स्त्रियाम् । १५ ।

पूर्वस्येयं त्रिसूत्री बाधिका ।

६६ लोपधः । १६ ।

कुशलम् ।

६७ शीलादीनि पुंसि च । १७ ।

चात् क्लीबे—शीलम् ।

६८ शतादि संख्या । १८ ।

१—षकारान्तोऽयं शब्दः । २—पूर्वापवादोऽयम् । ३—वनवाचकोऽयम् ।

६०—किन्तु—अर्चिष् शब्द स्त्रीलिंग भी है ।

६१—छदिष् स्त्रीलिंग में ही है ।

६२—सूत्रोक्त मुखादि के वाचक शब्द नपुंसक में होते हैं ।

६३—किन्तु—सीर, अर्थ और ओदन शब्द पुंलिंग में हैं ।

६४—वक्त्रादि शब्द (सूत्रोक्त) पुंनपुंसक हैं ।

६५—वनार्थक होते हुए भी अटवी शब्द स्त्रीलिंग है ।

६६—लकारोपध अदन्त नपुंसक होता है ।

६७—शीलादि शब्द पुंलिंग में भी होते हैं ।

६८—शतादि संख्या नपुंसक है ।

शतम् । सहस्रम् ।

९९ शतायुत-प्रयुताः पुंसि च[1] १९ ।

१०० लक्षा कोटिः स्त्रियाम् २० ।

इयं लक्षा । 'वा लक्षा' इत्यमरात् क्लीबेऽपि, लक्षम् ।

१०१ सहस्रः पुंसि । २१ ।

१०२ मन् द्व्यच्कोऽकर्तरि । २२ ।

मन् प्रत्ययान्तो द्व्यच्कः पुंसि स्यात् चात् क्लीबे नतु कर्तरि । वर्मा । वर्म । अकर्तरि किम्—ददातीति दामा ।

१०३ ब्रह्मन्पुंसि च । २३ ।

अयं ब्रह्मा । इदं ब्रह्म ।

१०४ नाम-रोमणी क्लीबे । २४ ।

पूर्वस्यापवादः ।

१०५ असन्तो द्व्यच्कः[2] २५ ।

यशः । मनः । तपः ।

१०६ अप्सराः स्त्रियाम् । २६ ।

एता अप्सरसः[3] ।

१०७ त्रान्तः २७ ।

पत्रम् । छत्रम् ।

१—चात् क्लीबे । २—क्लीबे इति शेषः । ३—प्रायेणायं बहुवचनान्तः ।

९९—किन्तु—शत, अयुत और प्रयुत पुंलिङ्ग भी हैं ।

१००—लक्षा और कोटि शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं (लक्ष नपुंसक भी है) ।

१०१—सहस्र शब्द पुंलिङ्ग है ।

१०२—मन् प्रत्ययान्त द्व्यच्क शब्द पुंनपुंसक होता है (कर्ता में नहीं) ।

१०३—ब्रह्मन् शब्द पुंनपुंसक है ।

१०४—नामन् और रोमन् नपुंसक हैं ।

१०५—अस् जिसके अन्त में है ऐसा द्व्यच्क शब्द नपुंसक होता है ।

१०६—किन्तु अप्सरस् शब्द स्त्रीलिङ्ग में है । (यह प्रायः बहुवचनान्त है) ।

१०७—त्र प्रत्ययान्त नपुंसक होता है ।

१०८ यात्रा-मात्रा-भस्त्रा-दंष्ट्रा-वरत्राः स्त्रियामेव । ४८ ।

इति नपुंसकाधिकारः ।

अथ स्त्रीपुंसाधिकारः ।

१०९ स्त्रीपुंसयोः ।

अयमधिकारः ।

११० गो-मणि-यष्टि-मुष्टि-पाटलि-वस्ति-शाल्मलि-त्रुटि-मसि-मरीचयः २ ।

इयमयं वा गौः ।

१११ अपत्यार्थतद्धिते । ३ ।

औपगवः । औपगवी । इति स्त्रीपुंसाधिकारः ।

अथ पुंनपुंसकाधिकारः ।

११२ पुंनपुंसकयोः ।

अधिकारोऽयम् ।

११३ घृत-भूत-मुस्त-क्ष्वेलितैरावत-पुस्तक-बुस्त-लोहिताः । ४ ।

अयं घृतः, इदं घृतम् ।

११४ कबन्धौषधायुधान्ताः । ५ ।

स्पष्टम् ।

१—पूर्वापवादोऽयम् । इति नपुंसकाधिकारः ।

२—एते स्त्रियां पुंसि च स्युरित्यर्थः । ३—स्त्रियां पुंसि चेति शेषः ।

४—इमे पुंसि नपुंसके चेत्यर्थः । ५—एते पुंसि नपुंसके चेत्यर्थः ।

१०८—किन्तु—यात्रा, मात्रा आदि सूत्रोक्त शब्द स्त्रीलिङ्ग ही हैं ।

१०९—यह अधिकार सूत्र है ।

११०—सूत्रोक्त गो-मणि आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग दोनों हैं ।

१११—अपत्यार्थ तद्धितान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग होते हैं ।

११२—यह अधिकार सूत्र है ।

११३—सूत्रोक्त घृतादि शब्द पुंनपुंसक हैं ।

११४—सूत्रोक्त कबन्धादि शब्द पुंनपुंसक हैं ।

११५ दण्ड-मण्ड-खण्ड-शव-सैन्धव-पार्श्व-काश-कुश-कुलिशाः ।१।

दण्डः, दण्डम् । इति पुंनपुंसकाधिकारः ।

अथाऽविशिष्टलिंगाधिकारः ।

११६ अविशिष्टलिङ्गम् । १ ।

११७ अव्ययं कतियुष्मदस्मदः । २ ।

११८ ष्णान्ता संख्या ।

११९ शिष्टा परवत् । ३ ।

एकः पुरुषः । एका स्त्री । एकं कुलम् ।

१२० गुणवचनम् । ४ ।

शुक्लः पटः । शुक्ला पटी । शुक्लं वस्त्रम् ।

१२१ कृत्याश्च । ५ ।

१—इमेऽपि पुंसि नपुंसके च स्युरित्यर्थः ।

२—तत्तल्लिङ्गवाचकताप्रयुक्तकार्यविशेषशून्यम् = अविशिष्टलिङ्गम् । ३—अव्ययानि कति-युष्मद्-अस्मद्-शब्दाश्च-अविशिष्टलिङ्गा इत्यर्थः । ४—षान्ता नान्ताश्च सङ्ख्यावाचकाः शब्दा अवशिष्टलिङ्गा इत्यर्थः । यथा—षट् पुमांसः, षट् स्त्रियः, षट् कुलानि । एवं-पञ्च । ५—षान्तनान्तभिन्ना सङ्ख्या परवल्लिङ्गा, इत्यर्थः । ६—परवल्लिङ्गमिति शेषः । ७—परवल्लिंगाः, इति शेषः । यथा धार्यः पटः, धार्या शाटी, धार्यं वस्त्रम् ।

११५—सूत्रोक्त दण्ड मण्डादि शब्द पुंनपुंसक हैं ।

११६—यह अधिकारसूत्र है (लिङ्ग विशेष कार्य से शून्य अविशिष्ट लिङ्ग कहलाता है) ।

११७—अव्यय, कति, युष्मद् और अस्मद् विशिष्ट लिङ्ग हैं ।

११८—षान्त और नान्त संख्यावाचक शब्द अविशिष्ट लिङ्ग हैं ।

११९—षान्त नान्त भिन्न संख्यावाचक परवल्लिङ्ग होते हैं ।

१२०—गुणवाचक शब्द परवल्लिङ्ग होते हैं ।

१२१—कृत्य प्रत्ययान्त शब्द भी परवल्लिङ्ग होते हैं ।

१२२ करणाधिकरणयोर्ल्युट्[1] च । ६ ।

१२३ सर्वादीनि सर्वनामानि[2] । ७ ।

स्पष्टार्थेयं नियुक्ती ।

इति श्रीवरदराजदीक्षितविरचितपाणिनीयलिंगानुशासन-
सारभूता लिंगानुशासनसूत्रवृत्तिः समाप्ता ॥

॥ इति श्रीमध्यसिद्धान्तकौमुदी समाप्ता ॥

टीकाकर्तुः परिचयः ।

पञ्चाम्बुदेश इह सुन्दरवीरभूमौ होश्यार[4]-पूर्वपुर-मण्डलमध्यगेयम् ।
द्वीपोत्तमांगमणिमध्यविराजमाना[5] "जेजां"-पुरी परमसुन्दरतानिधाना ॥१॥
यासीदियं बृटिशशासनतः पुरस्तात् श्रीसिक्खशासनमये समये विशाला ।
जस्वालवंशनृपतेः[6] किल राजधानी सेव्या गुणैरतिवरैः परमा प्रशस्ता ॥२॥
अत्रास्ति पण्डितकुलं परमं प्रसिद्धमाचारशुद्धमतिभक्तिपरायणं च ।
तत्पूर्वजः समभवत् प्रवरो महात्मा श्रीकेशवो[7] विबुधमण्डलमण्डनोऽसौ ॥३॥

१—करणेऽधिकरणे चार्थे विहितो यो ल्युट् तदन्तः परवल्लिंगः, इत्यर्थः । २—सर्वनामसंज्ञकानि सर्वादीनि परवल्लिगानि बोध्यानीत्यर्थः । ३—स्पष्टार्थेति, लोकव्युत्पत्त्यैव तत्तल्लिंगाभिधानस्य सिद्धत्वात् । अत एव लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्लिंगस्य, इत्युक्तं भगवता भाष्यकृता । तेन यौगिकेषु शब्देषु लोकव्युत्पत्तिरेव लिंगाभिधाने प्रमाणमिति सिद्धम् ।

इति श्रीप्रभाकरीवृत्तौ मध्यकौमुदीटीकायां लिंगानुशासनम् ।

४—होश्यारपुर-मण्डलमध्यगता । ५—द्वाआमान्तशिरोमणिमध्यविराजमाना। ६—जस्वालजातीयानां राजपूतराजानां राजधानी, अत्र तेषामन्तिमो राजा श्रीरणसिंहाभिधान आसीत्, स च बृटिशशासनेन विग्रहमाचरन्निगृहीतः, साम्प्रतं चैतद्वंश्या "अम्ब" नगरे वसन्ति । ७—विद्यासागरो भगवद्भक्त आदर्शमहात्मा श्रद्धेयचरणः पण्डितश्रीकेशवरामशर्मा प्रभाकरः (अस्य जन्मसंवत् १८०० वैक्रमः, विलयकालश्च १८६० वैक्रमः) ।

१२२—करण और अधिकरण अर्थ में ल्युट् हो तो तदन्त शब्द भी परवल्लिंग होते हैं ।

१२२—सर्वनाम संज्ञक सर्वादि शब्द परवल्लिंग हैं ।

काश्यां स्वधीत्य सुचिरं भवदेवमिश्राद्[1] ग्रामे 'मदूद'[2] वरनाम्नि विधाय शालाम् ।
प्राचारयत्स खलु पाणिनिशासनं[3] यत् प्रायो विलुप्तमिह पञ्चनदे प्रदेशे ॥४॥
तस्यात्मजोऽथ रघुनाथ उदारचेता जातस्ततोऽपि हरिभक्त-मुकुन्दलालः[4] ।
श्रीरामचन्द्रबुध-धूर्जटि-शर्म-रामनारायणाः सममवँस्तनयास्ततोऽपि[5] ॥५॥

रामाच्छ्रीनीलकण्ठे उपेन्द्रनाथ[10]स्तथा विश्वमित्र[11]: ।
तुर्य्योऽस्मि विश्वनाथो दामोदरीगर्भजातश्च ॥ ६ ॥
रचिता विवृतिस्तेन मया छात्रोपकारिणी ।
प्रभाकरीयं सरला भूयात् केशवतोषिणी ॥ ७ ॥

इति श्रीपञ्चाम्बु-प्रान्तोत्तरदिग्विभागस्थ-होशियारपुरमण्डलान्तर्गत-'जेजों'
नगरनिवासि-सुप्रसिद्धपण्डितकुलप्रसूत-पण्डितश्रीरामनारा-
यणात्मज-'खन्ना'-नगरस्थश्रीसरस्वतीसंस्कृतमहाविद्या-
लयाचार्य-पण्डित-श्रीविश्वनाथशास्त्रिप्रभाकरेण
स्वान्तेवासि-कविकान्तनिगमानन्दशास्त्रि-
सहयोगेन सङ्कलिता प्रभाकरी नाम
मध्यसिद्धान्तकौमुदीविवृतिः
हिन्दीभावार्थसहिता
सम्पूर्णा ।
॥ ॐ तत्सत् ॥

१—वाराणस्यां तत्काले प्रथितमहिम्नो भैरव्यादिटीकाकृद्भैरवमिश्रपितुः श्री-पूज्यपादपण्डित-भवदेवमिश्रात् । २—'जेजों' नगरनिकटवर्तिनि 'मदूद' ग्रामे-इत्यर्थः । ३—पाणिनीयं व्याकरणम् । ४—पूज्यपादो भक्त्येकनिष्ठः श्रीपण्डित-मुकुन्दलालजीमहाराजः । ५—पं० रामचन्द्रशर्मणः पं० श्रीपरमानन्दशर्मा कर्म-काण्डप्रकाण्डः । ६—पं० धूर्जटिशर्मणश्च पं० रामप्रपन्नशास्त्री काव्य-व्याकरण-दर्शनतीर्थः (मम विद्यागुरुः), पं० युगलकिशोरशास्त्री व्याकरणाचार्यः, पं० जयगोपालशर्मा वैद्यपञ्चाननः, इति त्रयः (पं० अमरनाथपरशुरामौ च) । ७—श्रीमुकुन्दलालात् । ८—रामात् = पं० रामनारायणात् । ९—वेदान्तसार्वभौमस्ता-र्किकचक्रचूडामणिर्भगवद्भक्तो महात्मा पं० नीलकण्ठशास्त्री । १०—वैयाकरण-भूषणो दर्शनालङ्कारः श्री पं० उपेन्द्रनाथशास्त्री । ११—श्री पं० विश्वमित्रशर्मा ज्योतिर्विद्यालङ्कारः ।

—:०:—

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यांनमः ॥

अथ मध्यकौमुदीपरिशिष्टम् ।

अधरमधुरिमाणं वार्धिजाया विहाय
निरवधि विधिवन्द्यं माधवः पादपद्मम् ॥
वदनकमलवरेणाऽऽस्वादयत्यस्ति यत्स्वम्
अनुभवतु भृशं तन्मानसं षट्पदो मे ॥ १ ॥

वन्दे स्वयम्प्रकाशानन्द-श्रीसमुनि-पादपद्मं तत् ।
यद् भवसागरतरणे परमालम्बनमलम्बानाम् ॥ २ ॥

विरम्यते यत्कृपयाऽत्र काकु-
स्वकर्मवृत्याः पुरुषेण, भावि ।
नाभासते कष्टशतं, न शंका
श्रमक्षमास्तौमि गुरुं समन्तः ॥ ३ ॥

एषोऽहं कविकान्तो निगमानन्दः परमहंसः ।
विदधे बालबोधाय 'परिशिष्टं' कौतुकादेव ॥ ४ ॥

अथ किमिदं व्याकरणम् ?

व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते (संसाध्यन्ते) शब्दा अनेनेति व्याकरणम् = सूत्र-वार्तिकभाष्यव्याख्यानादिस्वरूपं शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम् ।

तत्र सूत्रम्—

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

तद्भेदाश्च—

सञ्ज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते ॥

तत्र १—सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धबोधकं सूत्रम् = सञ्ज्ञासूत्रम् । यथा—"वृद्धि-रादैच्" "अदेङ्गुणः" "शेषो घ्यसखि" ।

२—अव्यवस्थायां व्यवस्थाऽऽपादकं सूत्रम् = परिभाषासूत्रम् । यथा—"तस्मादित्युत्तरस्य" "मिदचोऽन्त्यात्परः" ।

३—आदेशादिविधायकं सूत्रम् = विधिसूत्रम् ।
यथा—"इको यणचि" "ह्रस्वनद्यापो नुट्" "एरच्" ।

४—प्राप्तस्य विधेर्नियामकं सूत्रम् = नियमसूत्रम् । यथा—"रात्सस्य" ।

५—अतस्मिन् तद्धर्माऽऽपादकं सूत्रम् = अतिदेशसूत्रम् । यथा—"सख्युरसम्बुद्धौ" "गोतो णित्" "लोटो लङ्वत्" ।

६—उत्तरोत्तरस्वार्थसमर्पकं सूत्रम् = अधिकारसूत्रम् । यथा—
"ङ्याप्प्रातिपदिकात्" "आर्धधातुके" "पूर्वत्रासिद्धम्"

वार्तिकलक्षणम्—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा विचक्षणाः ॥

यथा—'ओतो णिदिति वाच्यम्' 'छत्वममीति वाच्यम्' 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' ।

भाष्यलक्षणम्—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वर्णैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।

तच्च प्रकृते महामुनि-पतञ्जलि-विरचितं व्याकरणमहाभाष्यं सर्वप्रसिद्धमेव ।

व्याख्यानलक्षणम्—

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम् ॥

तच्च पूर्वाचार्यविरचितं काशिकाप्रक्रियाकौमुदीसिद्धान्तकौमुद्यादिरूपं प्रथितमेव ।

तदेवं सूत्रवार्तिकभाष्यव्याख्यानादिविधया सर्वविध-लौकिक-वैदिकशब्दसाधुत्वप्रतिपादनपरं पाणिनीयं व्याकरणं सर्वेष्वपि व्याकरणेषु प्रातिशाख्येषु च मूर्धन्यतममिति नाविदितं विदुषाम् । तस्येयं मध्यमशिखास्थानीया मध्यसिद्धान्तकौमुदी ।

व्याकरणस्याऽनुबन्धचतुष्टयम्—

सकलपुरुषार्थसाधनं वेदः, स च मन्त्रब्राह्मणात्मकशब्दराशिरूपः, तदनु सर्वाण्यपि शास्त्राणि शब्दराशिरूपाण्येवेति वेदशास्त्रादिज्ञानाय प्रवृत्तमिदं शब्दशास्त्रम् = व्याकरणं सर्वेषामध्येयतामापद्यत इति सिद्धमस्यानुबन्धचतुष्टयम्—

१—शब्दज्ञानं प्रयोजनम् ।

२—शब्दसाधनं विषयः ।

३—शब्दज्ञानार्थी—अधिकारी ।

४—प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावादिः-सम्बन्धः ।

पञ्च सन्धयः—

सन्धयः पञ्च, पञ्चसन्धिप्रकरणमिति च परम्पराप्रवादः । तत्र जाजायते जिज्ञासा के ते पञ्च सन्धयः ? यानाश्रित्य प्रवृत्तोऽयम्प्रवादः । लघुकौमुद्याम्—अच्सन्धिः, हल्सन्धिः, विसर्गसन्धिः, इति सन्धित्रयमेव समुपलभ्यते, मध्यकौमुदीसिद्धान्तकौमुद्युक्तस्वादिसन्धिसम्मेलनेऽपि चत्वार एव सम्पद्यन्ते । अत्र केचित्—प्रकृतिभावं चतुर्थं पञ्चमं सन्धिमाचक्षते । वर्णसन्धानं सन्धिरिति व्याकुर्वाणा अन्ये प्रकृतिभावस्य सन्धित्वे च सन्तुष्यन्ति तत्र वर्णसन्धानाभावात् । ते हि सिद्धान्तकौमुद्युक्तचतुः सन्धिषु पञ्चमम्—अनुस्वारसन्धिं परसवर्णरूपं ब्रुवते ।

अपरे[1] पुनः सञ्ज्ञाप्रकरणं प्रकृतिभावप्रकरणञ्चापि लघुकौमुद्युक्तसन्धित्रये सम्मेल्य प्रकरणपञ्चकमिदं पञ्चसन्धिप्रकरणमुच्यत इति समादधति । सञ्ज्ञाप्रकरणस्य सन्धित्वाभावेऽपि तदुपोद्घातत्वेन तदन्तःपातः । प्रकृतिभावस्य चाऽच्सन्ध्यपवादत्वेन तत्समानदेशत्वमुत्सर्गापवादयोरिति समानदेशत्वनियमाद् विधिपूर्वको निषेध इति नियमाच्च । सन्धिसम्बन्धित्वेन सन्धित्वमेवेति छत्रिणो यान्तीतिवत् पञ्चसन्धिव्यवहारो भाक्त इति तदाशयः ।

यद्वा पञ्चानां परस्परसापेक्षाणां सञ्ज्ञाद्यवयवानां सन्धिः = समुच्चयो यस्मिन्नवयविनि (प्रकरणे) तत्पञ्चसन्धिप्रकरणमित्युच्यते परम्परया ।

पाणिनीयव्याकरणाचार्यकालविचारः ।

पाणिनिः

एतद्व्याकरणमूलभूतसूत्राणां कर्ता 'परशुपुर' [पेशावर] प्रान्तान्तर्वर्ति 'शलातुर' [लाहुर] ग्रामाभिजनो दाक्षिपुत्रो भगवान् पाणिनिः कलेरष्टम्यां शताब्द्यां समभूदिति पूर्वविद्वत्समाजसिद्धान्तः ।

कात्यायनः

पाणिनीयव्याकरणे वार्तिककर्ता वररुच्यपरनामाऽयं कात्यायनो

१—अपरे = कर्मकाण्डप्रभाकराः पं० रविदत्तशर्माणः 'लक्सा' स्थाः ।

मुनिः कलेर्विंशशताब्द्यां प्रादुरभवदिति पं० श्रीरामप्रपन्नशास्त्रिकृतनिरुक्त-भूमिकातोऽवगम्यते। केचित्तु पाणिनिसमकालत्वमेवास्य प्रतिपादयन्ति।

पतञ्जलिः

गोनर्ददेशीयः [अयञ्च गोनर्ददेशः कश्मीरेष्वति प्राञ्चः, अयोध्या-प्रान्ते इति पौरस्त्याः] महाभाष्यकारः शेषावतारत्वेन विख्यातो भगवान् पतञ्जलिः कलेः सप्तविंशशताब्द्यां ख्रीष्टजन्मतश्च ४५० वर्षाणि पूर्वं सम-जायतेति निरुक्तभूमिकायां पं० श्रीरामप्रपन्नशास्त्रिणः। कलेश्चतुर्विंशशता-ब्द्यामभूदिति श्रीदाधिमथाः।

भट्टोजिदीक्षित-वरदराजौ

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीकर्त्ता श्रीभट्टोजिदीक्षितः श्रीलक्ष्मी-धरभट्टसूनुः कान्यकुब्जेश्वरस्य गोविन्दचन्द्रदेवस्य समानकालिकस्तेन ख्रीष्टीयद्वादशताब्दशेषभागे त्रयोदशे शतके समभूदिति महता-प्रयासेन साधितं श्रीपण्डितज्वालाप्रसादमिश्रेण भाषाटीकासहितसिद्धान्तकौमुदी-भूमिकायाम्।

प्रो० वेबर-डाक्टरजलिमतानुसारञ्च ख्रीष्टीयसप्तदशशताब्दी श्री भट्टोजिदीक्षितस्य समयः। मध्यसिद्धान्तकौमुदीकर्त्ता श्रीवरदराजश्च भट्टोजिदीक्षितस्य शिष्य इति तस्य सामानकालिक एवाऽतस्तस्य काल-निर्णयो न पृथक् क्रियते।

बालानां लेखोपयोगिनो नियमाः प्रदर्श्यन्ते

१—अक्षराणि सुवाच्यानि सुन्दराणि सन्देहरहितानि च स्युः।

२—पदं पदं पृथक्कृत्य (समुचितव्यवधानं कृत्वा) लेखो लिखितः स्यात्।

३—लेखे विरामादिचिह्ननियमाः सर्वथा पालिता भवेयुः।

४—लेखे प्रसंगसमाप्तौ प्रघट्टकः परिवर्त्तनीयोऽवश्यमेव।

५—प्रघट्टकस्य प्रथमा पङ्क्तिर्द्व्यङ्गुलं स्थानं रिक्तं परित्यज्य लेखनीया शिष्टाश्च पङ्क्तयः समानरेखायां सरलाः = ऋजवो विरलाश्च लेखनीयाः।

लेखोपयोगिचिह्नानि।

अवान्तरविरामचिह्नम्	...	...	...	,
अर्धविरामचिह्नम्	...	...	...	;

पूर्णविरामचिह्नम्	।
प्रसङ्गसमाप्तिचिह्नम्	॥
प्रश्नचिह्नं काकुचिह्नञ्च	?
सम्बोधनखेदाऽऽश्चर्यचिह्नम्	!
उद्धरणचिह्नम्	"..."
पर्यायचिह्नं संयोगचिह्नञ्च	=
सन्धिच्छेदचिह्नम्	+
निर्देशचिह्नम्	:—
पाठान्तरचिह्नम्, मध्ये भावादिप्रदर्शकचिह्नञ्च	( )
त्रुटिपूर्तिचिह्नम्	^
अपूर्णपाठचिह्नम्	...
समासे पदविभागसौकर्यचिह्नम्	-

॥ बालोपयोगि अशुद्धिप्रदर्शनम् ॥

परीक्षायामब्धौ तरुणतरणिर्या ननु भुवि
जडानां जाड्येन प्रखरकिरणो या युवरविः ।
अशुद्ध्यद्रीणां या सततदलने दारुणपविः
भृशं सद्यः सेयं विशतु शिशुकर्णे कविगवी ॥

(बालानां संस्कृतानुवादे प्रायो जायमाना अशुद्धयः)

से[1] भ्राता[2]ऽनेन कर्मेणा[3]ऽभिलाषा[4] जायते मम ।
एकां[5]मुपाधिमद्य त्वां[6] वृथा किन्तु पतेर्भयं[7][8] ॥ १ ॥

अशुद्धिसंशोधनम् ।

१—तव, पादादौ स्थितत्वान्न 'ते' आदेशः ।

२—भ्रात्रनेन, रोरेत्वविधानादुत्वं न ।

३—कर्मणा, नान्तत्वेनादन्तत्वाभावादिनादेशो न ।

४—अभिलाषः... "घञबन्तः" इति पुंस्त्वम् ।

५—एकम्, "क्यन्तो घुः" इति सूत्रेण, उपाधिशब्दस्य पुंस्त्वम्, तद्विशेषणत्वाद् एकशब्दस्यापि ।

६—तुभ्यम्, सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।

७—पत्युः, पतिशब्दस्य समास एव घिसंज्ञाविधानान्न गुणादिकम् ।

८—भयम्, हस्यरत्वाभावादनुस्वारो न ।

पश्यत्वा[1] युवतीभार्या[2] भवानय[3] गृहाद्गतः ।
तस्या भर्त्तु[4] र्बहिर्याते किं विहित्वा[5] त्वमागतः ॥ २ ॥
कुतस्त्वं शंकसे[6] भ्रातो[7] ! नेत्रकाणोऽस्ति तत्सुतः ।
तस्य[9] साधं[10] मदीयाऽस्ति सन्धिर्वै दीर्घकालतः ॥ ३ ॥
कोपं[11] मा कुरु तात ! त्व धर्मं[12] तव ब्रवीम्यहम् ।
इमे[13]ऽतिमधुरे नीय[14] फल[15] आस्वादय प्रिय ! ॥ ४ ॥
यश्च लग्नो[16] महत्प्रेम्णा दयालोः[17] कृष्णपादयोः ।
सो[18] जगतस्य[19] सर्वस्य सेव्यस्तस्य[20] नमस्ततः ॥ ५ ॥

१—दृष्ट्वा, इत्संज्ञकशकारादिप्रत्यये परे पिबादीनां विधानात्पश्याऽऽदेशो न
२—युवभार्याम्, "पुंवत्कर्मधारय" इत्यादिना पुंवद्भावः ।
३—भवानद्य, ह्रस्वाभावात् ङमुण्न ।
४—भर्त्तरि, "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इत्यनेन 'भर्त्तरि' इति कर्त्तरि सप्तमी कर्तृपदसम्बन्धेन क्रियापदेऽपि सप्तमी तद्विशेषणत्वात् ।
५—विधाय, "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इति ल्यप् ।
६—शङ्कसे, "अनुस्वारस्य" इति नित्यपरसवर्णः ।
७ } —भ्रातर्नेत्रेण काणः, रोरेवोत्वविधानान्नोत्वम् ।
८ } तत्कृतगुणवचनाभावान्न समासः ।
९...तेन, सहादियोगे तृतीया ।
१०—मदीयः, 'क्यन्तो घुः' इति सन्धिशब्दस्य पुंस्त्वम्, तद्विशेषणत्वाद् मदीय इत्यस्यापि ।
११—माकार्षीः, "माङि लुङ्" इति लुङ् । निषेधार्थक-माशब्दयोगे तु तदपि साधु ।
१२—त्वाम्, द्विकर्मकत्वात् कर्मणि द्वितीया ।
१३—इमे अति "ईदूदे" इति प्रगृह्यत्वात्प्रकृतिभावः ।
१४—नीत्वा, असमस्तत्वान्न ल्यप् ।
१५—फले आस्वादय, अत्रापि "ईदूदे" इति प्रकृतिभावः ।
१६—महाप्रेम्णा, "आन्महत" इत्यात्वम् ।
१७—कृष्णस्य, सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य च न विशेषणम् ।
१८—स, 'एतत्तदोः' इति सुलोपः ।
१९—जगतः, हलन्तत्वान्न 'स्यः' ।
२०—तस्मै, "नमः स्वस्ति" इति चतुर्थी ।

अस्माकं मोक्षनं [1]पचं गृहं गच्छे[2] यथागतिः[3] ।
अहोरात्रं[4] विनों[5] क्रीडे[6] छत्रोपानहिरातुरः[7] ॥ ६ ॥
विश्वे[8] विश्वे मनुष्या ये कर्मं[9] [10]जहन्ति नो निजम् ।
नीचापि[11] ते न बिभ्यन्ति[12] शमनात्तस्य सेवया ॥ ७ ॥
हे कृष्ण ! वनखेलाया अभिलाषोऽद्य जायते ।
तत्राऽमृतसरो[13] दीर्घं सुन्दरञ्चास्ति तन्महत् ॥ ८ ॥
वङ्गे[14] कलिङ्गे[15] विख्यातं वृक्षादीनां तमोद्रुतम्[16] ।

१—पक्वम् "पचो वः" इति कस्य वकारः ।

२—गच्छामि, गमेः परस्मैपदत्वात् ।

३—यथागति 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वाद् "अव्ययादाप्सुपः" इति सुपो लुक् ।

४—अहोरात्रः "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति पुंस्त्वम् । यद्वा क्रियाविशेषणत्वात्साधु ।

५—विना ।

६—क्रीडामि, परस्मैपदत्वात् ।

७—छत्रोपानहेन, "द्वन्द्वाच्चुदषहान्ताद्" इति टच्, समाहारत्वादेकवचनम् ।

८—विश्वस्मिन्, सर्वनामत्वात्स्मिन्नादेशः ।

९—कर्म, "स्वमोर्नपुंसकात्"इत्यमो लुक् ।

१०—जहति, "अदभ्यस्तात्" इत्यत् ।

११—नीचा अपि, यलोपस्याऽसिद्धत्वान्न दीर्घः ।

१२—बिभ्यति, अभ्यस्तत्वादत् ।

१३—अमृतसरसम्—'अनोश्मायः सरसां जातिसंज्ञयोः'। इति टच्, एवं 'महानसम्' 'कालायसम्' 'पिण्डाश्मः' इत्यपि बोध्यम् ।

१४—, १५— } वङ्गेषु, कलिङ्गेषु, वङ्गानां कलिङ्गानां वा निवासो जनपद इत्यर्थेऽण् प्रत्ययः, तस्य च 'जनपदे लुप्, इति लुप्, तथा च "लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने" इति सूत्रेण बहुवचनमेव साधु ।

१६—तमसा द्रुतम्, 'ओजः सहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः' इति तृतीयाया अलुक् ।

कोशप्रयन्तविस्तीर्णं विधातं ब्रह्मणा पुरा ॥ ९ ॥
साधूनाञ्च गृहस्थानां द्वयेषां शान्तिदायकम् ।
जागृतिस्तत्र भावानां प्रणष्टानाम्प्रजायते ॥ १० ॥
अवश्यं पादपद्मेन सनाथं तद्विधीयताम् ।
अहञ्चानुगृहीतव्यो मद्रुवीं पालयता त्वया ॥ ११ ॥
अलङ्कर्ता स वाचां स्यात् पथभ्रष्टोऽपि जागृतः ।
पुनीतं खलु सप्रेम्णा स्थानं सेवति यः सदा ॥ १२ ॥

षष्ठीसमासाश्रयणे तु यथाकथञ्चित् समाधेयम् ।

१—पर्यन्त, परि + अन्त, यणि रेफस्योर्ध्वगमनम् ।

२—विहितम्, तादिकित्त्वाद् "दधातेर्हिः" इति हिरादेशः ।

३—द्वयानाम्, द्वयशब्दस्य सर्वनामसञ्ज्ञाभावान्न सुट् ।

४—जागर्तिः, "जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु" इति गुणः । केचित्तु 'ओर्गुणः' इत्यत्र गुणस्याऽनित्यतामाश्रित्य 'जागृति'रित्येव साधु मन्यन्ते । वस्तुतस्तु उभयमपि न विचारसहम् । 'जागर्तेरकारो वा' इति किन्-बाधकेऽकारप्रत्यये 'जागरा' पक्षे शः 'जागर्या' इति रूपद्वयं सिद्ध्यति ।

५—प्रनष्टानाम्, "नशेः षान्तस्य" इति णत्वनिषेधः ।

६—अनुग्रहीतव्यः, कित्त्वाभावान्न सम्प्रसारणम् ।

७—मद्रुवीम्, "गोरतद्धितलुकि" इति टच्, टित्त्वाद् ङीप् ।

८—अलङ्करिष्णुः, 'अलंकृञ् निराकृञ्...' इत्यादिना इष्णुच् प्रत्ययः । अताच्छील्यार्थे तु यथाकथञ्चित्समाधेयम् । लुटि तु-'अलङ्कर्ता' इति स्यादेव ।

९—पथिभ्रष्टः, पथिन् शब्दस्य समासादौ स्थितत्वाद् 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इति समासान्तो नाऽच् ।

१०—जागरितः, जागर्तेः सेट्कत्वादिड्गुणौ ।

११—पूतम्, पूञ्धातोः क्तप्रत्यये, तस्याऽसार्वधातुकत्वात् "क्र्यादिभ्यः श्ना" इति न भवति । लोटि मध्यमपुरुषद्विवचने तु सिद्ध्यति ।

१२—सप्रेम, प्रेम्णा सह वर्तते यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयैकवचनान्तत्वमेव साधु ।

१३—सेवते, अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदम् ।

तथोपरितने[1] भागे अप्सरा[2] नृत्यति मुदा ।
सखीकास्तत्र सिद्धाश्च सन्ति विंशतयो[3] जनाः ॥ १३ ॥

कृपालो[4] ! ते[5] दुग्धमूषि[6] वपूंषि[7] स्पृष्टुमिच्छति[8] ।
नास्मि शक्नोम्यहं पोढुं[9] किन्तु चेक्रियते[10] मया ॥ १४ ॥
एकत्रितं[11] मया भद्रं कतमच्चास्ति[12] कर्म मे ।

१—उपरितनमिति तु न कथमपि सिद्ध्यति 'सायंचिरं...' इत्यादिना सूत्रेण तु कालवाचिभ्य एव ट्युट्युलौ विधीयेते तयोस्तुट च । तेन—इदानीन्तनमिति निष्पन्नम् ।

२—अप्सरसः, अप्सरःशब्दस्य बहुवचनत्वात् । एवमेव "दाराः" 'गृहाः' 'वर्षाः' इत्यादयोऽपि बोद्धव्याः ।

३—विंशतिः, 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे' इति नियमेनैकवचनमेव साधु ।

४—'स्पृहिगृहि...' इति सूत्रे कृपालुशब्दस्याऽन्तःपाताभावान्नाऽऽलुच् प्रत्ययः सिद्ध्यति । अथवा—कृपां लाति-इति विग्रह्य मृगय्वादित्वात्कुप्रत्यये साधु । एवं-स्पर्धालुरपि सिद्ध्यति ।

५—तव, 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' इत्यविद्यमानवद्भावेन पादादौ स्थितत्वान्न 'ते' आदेशः ।

६—दुग्धमुंषि, सान्तसंयोगाभावान्न दीर्घः । अत्र हि प्रकृतिस्थः षकारो न तु सकारः ।

७—वपूंषि, षत्वस्याऽसिद्धत्वात् "सान्तमहत..." इति दीर्घः ।

८—स्प्रष्टुम्, (स्पर्ष्टुम्) "अनुदात्तस्य चर्दुपधस्याऽन्यतरस्याम्" इति अमागमविकल्पेन रूपद्वयम् ।

९—अपोढुम्, अवाप्योरेवोपसर्गयोरल्लोपविधानात् । अपोपसर्गस्य नाऽकारलोपः ।

१०—चेक्रीयते यङन्तात्कर्मणि यकि "रीङ् ऋतः" इति रीङ् ।

११—'इतच्' प्रत्ययो हि प्रथमान्ताद् अस्य सञ्जातमित्यर्थे विधीयते, 'एकत्र' इति तु-अविकरणशक्तिप्रधानमव्ययम् ।

१२—कतमत्, "अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" इत्यद्डादेशः ।

मृण्मयञ्च[1] शरीरं मे राधिकाजाये[2] ! पश्यताम्[3] ॥ १५ ॥
पश्चिमस्यां[4] न मे वाचि कदाऽप्रकटयद्[5] मृषा ॥
पृच्छकेन[6] खला नाथ ! प्रोक्तुंकामेन[7] सर्वथा ॥ १६ ॥
प्रष्टव्येयं कथा कृष्ण ! मया त्वत्तो[8] निरोगिणा[9] ॥
कर्णाभ्यामथ नेत्राभ्यां श्रोतुं द्रष्टुं न शक्यते ॥ १७ ॥
जायते हा ! गवां हत्या[10] ग्रामस्य[11] परितो विभो ! ॥
कश्चिन्नानुगृहीवारं[12] पश्यामि जगतीतले ॥ १८ ॥
कुर्वन्ती[13] न कथं पीडा कथेयं हृदयन्तुदा ॥

१—मृन्मयम्, पदान्तस्य नस्य णत्वन्न भवति ।

२—राधिकाजाने ! "जायाया निङ्" इति निङ् ।

३—दृश्यताम्, यगादौ शित्त्वाभावान्न पश्यादेशः ।

४—पश्चिमायाम्, सर्वनामसंज्ञाऽभावान्न पश्यादेशः ।

५—प्राकटयत्, धातोरेव पूर्वमडागमो (आडागमो) भवति ।

६—प्रच्छकेन, कित्त्वाभावान्न सम्प्रसारणावसरः ।

७—प्रवक्तुकामेन, तुमुन्प्रत्ययस्याऽकित्त्वान्न सम्प्रसारणम्, कामपरत्वाद् मकारलोपः ।

लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुंकाममनसोरपि ।
समो वा हिततत्योर्मांसस्य पचि युड्घञोः ॥ [इत्यभियुक्तोक्तेः] ।

८—त्वम्, "गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम्" इति नियमेन गौणे कर्मणि प्रत्ययविधानात् । पञ्चमी तु भवत्येव न । कर्मणश्चोक्तत्वात् न द्वितीया, किन्तु प्रथमा । तस्मात्समस्तमेव पदमनया दिशा परिवर्त्तनीयम् [त्वं कथां प्रष्टव्यः] इति । एवं—'स प्रणामं वाच्यः' न तु (तस्मै प्रणामो वाच्यः) । इयं कारिका बहूपयोगिनी विद्यते । तस्माद्विद्यार्थिभिर्गुरुमुखादेव मनसिकृत्याग्रे गम्यताम् ।

९—नीरोगेण, न विद्यते रोगो यस्येति निर्+रोगः इत्यत्र "रोरी"ति रेफलोपे "ढ्लोपे" इति दीर्घः, नीरोगः । नात्र मत्वर्थिक इन् भवितुमर्हति 'न कर्मधारयाद् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तत्प्रतिपत्तिकरः' इति नियमात् ।

१०—गोहत्या, असमासे सुप उपपदाभावान्न क्यप् तकारान्तादेशश्च ।

११—ग्रामम्, "अभितः परितः..." इति द्वितीया ।

१२—अनुग्रहीतारम्, कित्त्वाभावान्न सम्प्रसारणम् ।

१३—कुर्वती, अवर्णान्ताङ्गाभावाद् 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति सूत्रेण ङीपि नुम्

उक्तोऽपि न समायातः शतेन पुरुषायुषा[1] ॥ १९ ॥
सर्वे विनष्टुमर्हन्ति[2] जगत्यां मन्दमेधसः[3] ॥
कुर्वन्ति ये प्रजानाशं वृथा विषमयेन[4] तु ॥ २० ॥
कथं रक्ष्या इमे चेति सद्यः स्यादुत्तरेलिमम्[5] ॥
इयमेव कथा ज्ञेया सर्वेषामार्यधर्मिणाम्[6] ॥ २१ ॥
[रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे-
विक्रीणीते यो नरः तस्य धिक् धिक् ।
अस्मिन् पक्षे योऽपशब्दान्न वेत्ति
व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तस्य धिक् धिक् ॥]

(:कस्यचित्)

अपशब्दांश्च सङ्गृह्य व्यलेखि यत्र कुत्रतः[8] ॥
कण्ठीकुर्वन्ति बालाश्चेत् सिद्ध्येन्मे मनोकामना[9] ॥ २२ ॥

न भवति ।

१—शतं पुरुषायुषम्, फलप्राप्त्यभावाद् "अपवर्गे तृतीया" इति न तृतीया । "अचतुरविचतुर...." इति सूत्रेण 'पुरुषायुषम्' इति निपात्यते ।

२—विनंष्टुम्, "मस्जिनशोर्झलि" इति नुम् ।

३—मन्दमेधाः, नञ्-दुः-सुभ्य एव "नित्यमसिच् प्रजामेधयोः" इति असिच् विधीयते तेनात्र न ।

४—विषमयेण, "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" इति णत्वम् ।

५—उत्तरेळिमम्, "क्त इढातो" रिति इद् ।

६—आर्यधर्मणाम्, "धर्मादनिच् केवलात्" इति अनिच् । एवमेव 'सनातनधर्मी' इत्यप्यशुद्धम् । 'सनातनधर्मा' इति साधु ।

७—अत्र सर्वत्र "इवे प्रतिकृतौ" इति विहितस्य कनः "जीविकार्थे चापण्ये" इति लुपोऽभावात् 'हस्तिकान् विक्रीणीते' इतिवत् रामकं-सीतिकां लक्ष्मणकमित्येव प्रयोगाः साधवः ।

८—कुतः, कुत्रेति सप्तम्यन्तात्त्रल् ततः पञ्चम्यन्तत्वाभावान्न तसिल् भवितुमर्हति ।

९—मनः कामना, हश्परत्वाभावाद् रोत्वं न भवति ।

पाण्डित्य-विडम्बनम्[1]

रे क्रोष्टः ! परुषं विरौषि बहुधा बालोऽयमस्या वधोः,
सोऽयं सप्तदिनान्तरं निजगृहं यास्यत्यहो ! सुन्दरः, ।
पूर्वं सोऽत्र परिश्चकार सदनं, श्लोको विरच्याऽप्यत्वे,
तूष्णीभूत उदेति भानुरनिशं, माञ्जिष्ठवर्णोहितः, ॥१॥

शिष्यो बोधयितव्य एव गुरुणा पृच्छन् विनीतः सुधीः,
रात्रौ नाशयतस्ततान्धतमसं दीप्ताऽग्निसोमौ सदा, ।
श्रूयन्ते च पुरातनाः खलु चतुर्मूर्ध्नां त्रिमूर्ध्नां वधाः,
तत्त्वं नैव विदन्ति केचन चतुःकृत्वोऽष्टकृत्वोऽथवा, ॥२॥

आस्यं तस्य करश्च शोभनतरौ, भूमिस्थ एवास्म्यहम्,
वायुः कम्पयते तरूनतिलसद्भ्यां प्रेक्षि दृग्भ्यां तया ।
मामाराध्य भविष्यति प्रकटितो विद्योदयस्ते महान्,
दूये हन्त ! मृगीपदेन दलितः सिंहीपदेनाऽपि नो, ॥३॥

अद्भिर्नव समुच्छलद्भिरपियः खिन्नोऽन्वहासीत्पुनः,
सोऽयश्चाथ रुरोदिषत्यतितरां, बाहू महालम्बिते ।
चित्रा ते महिमा, न वा कळयसि ? प्रीतिः स्थिरा ते च मे,
लग्नं चक्षुरिदञ्च सम्प्रति भुजायां, वा ध्वजायामथ, ॥४॥

प्रतिवाक्यमिहैकैकाऽशुद्धिर्निष्टङ्किता मया ॥
पण्डितानां विडम्बाय महाकौतुकिनां कृते ॥५॥

१—अत्रत्या अशुद्धयो निजनिजाऽध्यापकानां सकाशादेव परिशोधनीयाः ।

अनुवादोपयोगाय-उपसर्गयोगेन केषांचिद् धातूनामर्थ-विपरिणामः प्रदर्श्यते ।

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥ १ ॥

(दिङ्मात्रमुदाह्रियते)

धातुरूपम्	भावार्थः
भू-सत्तायाम्	
भवति = होता है ।	
प्रभवति = समर्थ होता है, या उत्पन्न होता है ।	
अनुभवति = अनुभव करता है ।	
आविर्भवति = प्रकट होता है	
उद्भवति = उत्पन्न होता है ।	
प्रादुर्भवति = ,,	
परिभवति = तिरस्कार करता है ।	
पराभवति = ,,	
अभिभवति= ,,	
सम्भवति = पैदा होता है, या सम्भव है ।	
क्रमु- पादविक्षेपे	
क्रामति = चलता है ।	
उपक्रमते=आरम्भ करता है ।	
प्रक्रमते = ,, ,,	
संक्रामति = संक्रान्त होता है ।	
विक्रमते = विक्रम दिखाता है ।	
आक्रमते=आक्रमण करता है ।	
निष्क्रामति=निकलता है ।	
अतिक्रामति = अतिक्रमण (उल्लङ्घन) करता है ।	
परिक्रामति = परिक्रमा करता है ।	
पराक्रमते = पराक्रम दिखाता है ।	
अपक्रामति = हटता है ।	
गम्लृ-गतौ ।	
गच्छति = जाता है ।	
प्रतिगच्छति = लौटता है ।	
अवगच्छति = जानता है ।	
अनुगच्छति = पीछे जाता है ।	
निर्गच्छति = बाहर जाता है ।	
अधिगच्छति = प्राप्त करता है ।	
आगच्छति = आता है ।	
संगच्छते = मिलता है ।	
उद्गच्छति = ऊपर जाता है ।	
अय-गतौ	

१—दीधी-वेवी-दरिद्राणामूर्णुञो जागरेस्तथा ।
एकाचामपि धातूनां नाऽनुबन्धोऽञ् विलुप्यते ॥
तेन अकारानुबन्धलोपो न ।

धातुरूपम् भाषार्थः

अयते = जाता है।
पलायते = दौड़ता है।
वृतु—वर्तने
वर्तते = है।
प्रवर्तते = (कार्य में) लगता है।
निवर्तते = लौटता है।
अनुवर्तते = अनुसरण करता है।
परिवर्तते = घूमता है।
हृञ्—हरणे
हरति = चुराता है।
उपहरति = भेंट देता है।
प्रहरति = प्रहार करता है।
विहरति = विहार करता है।
संहरति = संहार करता है।
परिहरति = दूर करता है।
उद्धरति = उद्धार करता है। निकालता है।
उदाहरति = उदाहरण देता है।
उपसंहरति = उपसंहार—(संकोच) करता है।
प्रत्युदाहरति = प्रत्युदाहरण देता है।
व्यवहरति = व्यवहार करता है।
आहरति = लाता है।
अभ्यवहरति = खाता है।
अपहरति = खोसता है। छीनता है।
वह—प्रापणे
वहति = लेजाता है। (ढोता है)
उद्वहति = विवाहता है।

धातुरूपम् भाषार्थः

आवहति = देता है।
णीञ् प्रापणे
नयति = ले जाता है।
प्रणयति = बनाता है।
अपनयति = हटाता है।
आनयति = लाता है।
परिणयति = विवाहता है।
निर्णयति = निर्णय करता है।
अनुनयति = मनाता है।
उपनयति = उपनयन करता है।
ईक्ष = दर्शने
प्रतीक्षते = उडीकता है।
अपेक्षते = चाहता है।
परीक्षते = परीक्षा लेता है।
उपेक्षते = उपेक्षा (लापरवाही) करता है।
अन्वीक्षते = जाँच करता है।
रुह—बीजजन्मनि
रोहति = जमता है।
प्ररोहति = ,, ,,
अधिरोहति = चढ़ता है।
संरोहति = मिलता है।
तिरोहति = छिपता है।
आरोहति—चढ़ता है।
अवरोहति = उतरता है।
लप—लपने
लपति = बोलता है।
आलपति = ,,
विलपति = रोता है।

धातुरूपम्	भाषार्थः
संलपति = वार्तालाप करता है।	
प्रलपति = बकवास करता है।	
अपलपति = छिपाता है।	
वद्–व्यक्तायां वाचि	
वदति = कहता है।	
अनुवदति = अनुवाद करता है।	
विवदते = झगड़ता है।	
प्रतिवदति = जवाब देता है।	
वस–निवासे	
वसति = निवास करता है।	
प्रवसति = विदेश जाता है।	
उपवसति = उपवास (व्रत) करता है	
षद्लृ–विशरणगत्यवसादनेषु	
सीदति = ठहरता है।	
प्रसीदति = प्रसन्न होता है।	
पर्यवसीदति = समाप्त होता है।	
विषीदति = दुःखी होता है।	
निषीदति = बैठता है।	
अवसीदति = थकता है।	
ष्ठा–गतिनिवृत्तौ	
तिष्ठति = ठहरता है।	
प्रतिष्ठते = जाता है।	
अनुतिष्ठति = करता है।	
संतिष्ठते = मरता है।	
उत्तिष्ठति = उठता है।	
उपतिष्ठते = उपस्थित होता है।	
सृ गतौ	
सरति = जाता है।	
प्रसरति = फैलता है।	

धातुरूपम्	भाषार्थः
अनुसरति = पीछा करता है।	
निःसरति = निकलता है।	
अभिसरति = ,,	
अपसरति = हटता है।	
परिसरति = घूमता है	
चर–गतौ	
चरति = घूमता है।	
दुराचरति = दुराचरण करता है।	
आचरति = व्यवहार करता है।	
उपचरति = सेवा करता है।	
अनुचरति = पीछा करता है।	
परिचरति = सेवा करता है।	
संचरति = घूमता है।	
तॄ–प्लवनतरणयोः	
तरति = तरता है।	
अवतरति = उतरता है।	
वितरति = देता है। बाँटता है।	
द्रु–गतौ	
द्रवति = पिघलता है	
उपद्रवति = उपद्रव करता है।	
विद्रवति = भागता है।	
पत्लृ–गतौ	
पतति = गिरता है।	
प्रणिपतति = प्रणाम करता है।	
आपतति = आपड़ता है।	
उत्पतति = उड़ता है।	
रमु–क्रीडायाम्	
रमते = खेलता है।	
विरमति = हटता है। आराम लेता है।	

धातुरूपम्	भावार्थ
उपरमति = उपरत होता है।	
असु–क्षेपणे	
अस्यति = फेंकता है।	
अभ्यस्यति = अभ्यास (याद) करता है।	
निरस्यति = निकालता है।	
आस–उपवेशने	
आस्ते = बैठता है।	
अध्यास्ते = अधिकार करता है।	
उपास्ते = पूजा करता है।	
इण्-गतौ	
एति=जाता है।	
अपैति = दूर होता है।	
अवैति = समझता है।	
प्रत्येति = विश्वास करता है।	
व्येति = खर्च करता है।	
उदेति = उगता है।	
उपैति = प्राप्त करता है।	
अभ्येति = आगे आता है।	
अन्वेति = पीछे आता है या सम्बद्ध होता है।	
डुधाञ्–धारणपोषणयोः	
दधाति=धारण करता है।	
संदधाति = मेल करता है।	
विदधाति = करता है।	
परिधत्ते = पहनता है।	

धातुरूपम्	भावार्थः
(अ) पिदधाति = ढकता है।	
निदधाति = रखता है।	
अवधत्ते=ध्यान देता है।	
अभिदधाति = बोलता है[1]	
पद्–गतौ	
पद्यते = जाता है।	
प्रपद्यते = प्राप्त करता है या भजता है।	
उत्पद्यते = पैदा होता है।	
विपद्यते = दुःखी होता है।	
उपपद्यते = योग्य होता है।	
मन–ज्ञाने	
मन्यते = मानता है।	
अवमन्यते = अनादर करता है।	
अनुमन्यते = सलाह देता है।	
संमन्यते = सम्मान करता है।	
चिञ्–चयने	
चिनोति = चुनता है।	
उपचिनोति = बढ़ाता है।	
सञ्चिनोति = इकट्ठा करता है।	
अपचिनोति = घटाता है।	
आप्लृ—व्याप्तौ—	
आप्नोति = प्राप्त करता है।	
व्याप्नोति = फैलाता है।	
समाप्नोति = समाप्त करता है।	
क्षिप–प्रेरणे—	
क्षिपति = फेंकता है।	

१—विपूर्वो धा करोत्यर्थे ह्यभिपूर्वस्तु भाषणे।
मेलने चापि सम्पूर्वो निपूर्वः स्थापने मतः॥

धातुरूपम् भाषार्थः
संक्षिपति = छोटा करता है।
उत्क्षिपति = ऊँचा फेंकता है।
आक्षिपति = दोष देता है।
अवक्षिपति = नीचे फेंकता है।
दिश-अतिसर्जने—
दिशति = देता है।
उपदिशति = उपदेश देता है।
संदिशति = संदेश कहता है।
रुधिर्-आवरणे—
रुणद्धि = रोकता है।
अनुरुणद्धि = अनुरोध (सिफारिश) करता है।
विरुणद्धि = विरोध करता है।
डुकृञ्-करणे—
करोति = करता है।
आविष्करोति = प्रकट करता है।
अनुकरोति = नकल करता है।
अलंकरोति=भूषण पहनता है। सजाता है।
प्रतिकरोति = प्रतीकार करता है।
अधिकरोति = अधिकार करता है।
उपकरोति = उपकार करता है।
निराकरोति = हटाता है।
अपकरोति = अपकार (बुराई) करता है।

धातुरूपम् भाषार्थः
परिष्करोति = शोधता है।
ग्रह-उपादाने—
गृह्णाति = लेता है।
अनुगृह्णाति = कृपा करता है।
प्रतिगृह्णाति = दान लेता है।
विगृह्णाति = लड़ता है।
निगृह्णाति = दण्ड देता है।
बन्ध-बन्धने—
बध्नाति = बाँधता है।
संबध्नाति = ,,
उद्बध्नाति = फाँसी देता है।
निर्बध्नाति = आग्रह करता है।
मन्त्रि-गुप्तभाषणे—
मन्त्रयते = सलाह करता है।
निमन्त्रयते = न्यौता देता है।
आमन्त्रयते=मिलता है।
अभिमन्त्रयते = संस्कार करता है।
अर्थ उपयाच्ञायाम्—
अर्थयते = माँगता है।
अभ्यर्थयते=प्रार्थना करता है।
प्रार्थयते = ,, ,,
श्वस-प्राणने—
श्वसिति = श्वास लेता है।
विश्वसिति = विश्वास करता है।

अथ अव्ययसंग्रहो भाषार्थसहितः ।

अव्ययानि भाषार्थाः	अव्ययानि भाषार्थाः
पृष्ठम् १०१	निकषा = ,,
स्वर् = स्वर्ग ।	स्वयम् = अपने आप ।
अन्तर् = बीच में ।	वृथा = व्यर्थ ।
प्रातर् = प्रातः काल ।	नक्तम् = रात ।
पुनर् = फिर ।	न = नहीं ।
सनुतर् = अन्तर्धान ।	नञ् = ,,
उच्चैस् = ऊँचा ।	हेतौ = निमित्त ।
शनैस् = धीरे ।	इद्धा = प्रकाश (जाहिर) ।
ऋधक् = सचमुच ।	अद्धा = स्फुट या निश्चय ।
ऋते = विना ।	सामि = आधा ।
युगपत् = एक दम ।	वत् = समान ।
आरात् = दूर या समीप ।	ब्राह्मणवत् = ब्राह्मण के समान ।
पृथक् = भिन्न (अलहदा) ।	क्षत्रियवत् = क्षत्रिय के समान ।
ह्यस् = बीता हुआ दिन (कल) ।	सना = नित्य (सदा रहने वाला) ।
श्वस् = आगामिदिन ।	सनत् = ,, ,, ,, ,,
दिवा—दिन ।	सनात् = ,, ,, ,, ,,
रात्रौ = रात ।	उपधा = भेद वा रिशवत ।
सायम् = सायंकाल ।	तिरस् = टेढा या तिरस्कार ।
चिरम् = देर ।	अन्तरा = मध्य या बिना ।
मनाक् = किञ्चित् ।	अन्तरेण = विना ।
ईषत् = ,,	ज्योक् = शीघ्र ।
जोषम् = चुप होना ।	कम् = जल, सिर, सुख ।
तूष्णीम् = ,,	शम् = कल्याण ।
बहिस् = बाहर ।	सहसा = एक दम (अकस्मात्) ।
अवस् = ,,	विना = विना ।
अधस् = नीचे ।	नाना = अनेक ।
समया = समीप ।	स्वस्ति = कल्याण ।

अव्ययानि	भाषार्थाः
स्वधा	पितृहविर्दान ।
अलम्	बस ।
वषट्	देवदान ।
श्रौषट्	,,
वौषट्	,,
अन्यत्	और ।
अस्ति	है ।
उपांशु	अप्रकाश ।
क्षमा	क्षमा (माफ) ।
विहायसा	आकाश ।
दोषा	रात्रि ।
मृषा	झूठ ।
मिथ्या	" ।
मुधा	व्यर्थ ।
पुरा	पहिले समय में ।
मिथो	एकान्त में, आपस में ।
मिथस्	,, ,,
प्रायस्	प्रायः (अक्सर) ।
मुहुस्	वार वार ।
प्रवाहुकम्	समानकाल ।
(प्रवाहिका)	,, ,,
आर्य्यहलम्	बलात्कार (जबरदस्ती)
अभीक्ष्णम्	वार वार ।
साकम्	साथ ।
सार्धम्	,, ।
नमस्	नमस्कार ।
हिरुक्	विना ।
धिक्	निन्दा, (झिड़कना) ।
अथ	अनन्तर ।

अव्ययानि	भाषार्थाः
अम्	शीघ्र ।
आम्	स्वीकार ।
प्रताम्	ग्लानि ।
प्रशान्	समान ।
मा	नहीं ।
माङ्	,, ।
च	और ।
वा	विकल्प ।
ह	प्रसिद्धि ।
अह	स्पष्ट ।
एव	निश्चय (ही) ।
एवम्	ऐसे ।
नूनम्	निश्चय ।
शश्वत्	सदा ।
युगपत्	सहसा ।
भूयस्	फिर और बहुत ।
कूपत्	प्रश्न, प्रशंसा ।
सूपत्	,, ,,
कुवित्	बहुत ।
नेत्	शंका ।
चेत्	यदि ।
चण्	,, ।
यत्र	जिसमें ।
कच्चित्	अनुकूल प्रश्न ।
नह	प्रत्यारम्भ ।
हन्त	हर्ष, विषाद ।
माकिः	वर्जन ।
माकिम्	,, ।
नकिः	,, ।

अव्ययानि	भावार्थाः
नकिम् = वर्जन ।	
नञ् = नहीं ।	
यावत् = जितना ।	
तावत् = उतना ।	
त्वै = वितर्क ।	
(न्वै) = ,, ।	
ह्वै = वितर्क ।	
रै = दान ।	
स्वाहा = देवहविर्दान ।	
स्वधा = पितृहविर्दान ।	
वषट् = देवहविर्दान ।	
तुम् = तू ।	
तथाहि—जैसे कि— ।	
खलु = निश्चय ।	
किल = ऐतिह्य ।	
अथो—अनन्तर ।	
अथ = ,, ।	
सुष्ठु = शोभन ।	
स्म = अतीत काल ।	
आदह = निन्दा ।	
अवदत्तम् = दत्त = दिया ।	
अहंयुः = अहंकारी ।	
अस्तिक्षीरा = विद्यमानदुग्धा ।	
अ = सम्बोधन ।	
आ = स्मरण ।	
इ = सम्बोधन ।	
ई = ,,	
उ = ,,	
ऊ = ,,	

अव्ययानि	भावार्थाः
ए = सम्बोधन	
ऐ = ,,	
ओ = ,,	
औ = ,,	
पशु = सम्यक् ।	
शुकम् = शीघ्र ।	
यथाकथाच = अनादर ।	
पाट् = सम्बोधन ।	
प्याट् = ,,	
अङ्ग = ,,	
हे = सम्बोधन ।	
है = ,,	
भोः = ,,	
अये = ,,	
द्य = हिंसा ।	
विषु = नाना (अनेक) ।	
एकपदे = अकस्मात् ।	
युत् = निन्दा ।	
आतः = इससे भी ।	
अतः = इस कारण ।	
स्मारं स्मारम् = वार २ स्मरण करके ।	
जीवसे = जीने के लिये ।	
पिबध्यै = पीने के लिये ।	
कृत्वा = करके ।	
उदेतोः = उदय होकर ।	
विसृपः = जाकर ।	
अधिहरि = हरि में ।	
वाचा = वाणी ।	
निशा = रात्री ।	

अव्ययानि	भाषार्थाः	अव्ययानि	भाषार्थाः
दिशा = दिशा ।		पिधानम् = ढकना ।	
वगाह = स्नान ।		इति अव्ययसंग्रहः ॥	

अथ पाणिनीयशिक्षा ॥ १ ॥

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा ।
शास्त्रानुपूर्वं तद्विद्याद्यथोक्तं लोकवेदयोः ॥ १ ॥
प्रसिद्धमपि शब्दार्थमविज्ञातमबुद्धिभिः ।
पुनर्व्यक्तीकरिष्यामि वाच उच्चारणे विधिम् ॥ २ ॥
त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा ॥ ३ ॥
स्वरा विंशतिरेकश्च[1] स्पर्शानां पञ्चविंशतिः[2] ।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ[3] चत्वारश्च यमाः स्मृताः[4] ॥ ४ ॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ≍क≍पौ[5] चापि पराश्रितौ ।
दुःस्पृष्टश्चेति[6] विज्ञेयो[7] लृकारः प्लुत एव च ॥ ५ ॥
आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६ ॥

टि. (१) एकविंशतिस्वराश्च—'अ इ उ ऋ' इत्येते ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदाद् द्वादश, 'ए ओ ऐ औ' इत्येते दीर्घ-प्लुतभेदाद् अष्टौ, लृकारो ह्रस्व इत्येव, तदेवं संकलनया बोध्याः ।

(२) कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः ।

(३) य र ल व श ष स ह। अष्टौ यादयः ।

(४) 'पलिक्क्नी' इत्यादौ पञ्चमे परे पूर्व सदृशाः क ख ग घाः चत्वारो यमाः ।

(५) जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ ।

(६) द्वयोः स्वरयोर्मध्ये वर्तमानो लकारो दुःस्पृष्ट इत्युच्यते (स च अधो विन्दुदानेन लिख्यते 'ऌ' इति । सम्प्रति पञ्चनदभाषायाम् उच्चार्यते (आऌा) (रऌाराम) इत्यादौ । वैदिकभाषायां च—'अग्निमीळे' इत्यादौ)

(७) प्लुत लृकारोऽपि पृथग् वर्ण इति मते चतुःषष्टिः ।

मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥ ७ ॥
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥ ८ ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥ ९ ॥
स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः ।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत ॥ १० ॥
उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः ।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ॥ ११ ॥
उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥ १२ ॥
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ १३ ॥
ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥ १४ ॥
यद्योभावप्रसंधानमुकारादिपरं पदम्
स्वरान्तं तादृशं विद्याद्यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः ॥ १५ ॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् ।
औरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥ १६ ॥
कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ॥ १७ ॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः ।
एऐ तु कण्ठतालव्या ओऔ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥ १८ ॥
अर्धमात्रा तु कण्ठ्या स्यादेकारैकारयोर्भवेत् ।
ओकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम् ॥ १९ ॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम् ।
घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः ॥ २० ॥
स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥ २१ ॥

अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमुच्यते ।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ॥ २२ ॥
अलाबुवीणानिर्घोषो दन्त्यमूल्यः स्वरानुगः ।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रोः[1] शषसेषु च ॥ २३ ॥
अनुस्वारे विवृत्यां तु विरामे चाक्षरद्वये ।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयाद्यत्रोकारवकारयोः ॥ २४ ॥
व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥
यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गाः[2] प्रयोक्तव्याः 'ख अराँ इव खेदया' ॥ २६ ॥
रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन्नो ग्रसेत्पूर्वमक्षरम् ।
दीर्घस्वरं प्रयुञ्जीयात्पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥ २७ ॥
हृदये चैकमात्रस्तु अर्धमात्रस्तु मूर्धनि ।
नासिकायां तथार्धं च रङ्गस्यैवं द्विमात्रता ॥ २८ ॥
हृदयादुत्करे तिष्ठन्कांस्येन समनुस्वरन् ।
मार्दवं च द्विमात्रं च जघन्वाँ इति निदर्शनम् ॥ २९ ॥
मध्ये तु कम्पयेत्कम्पमुभौ पार्श्वौ समौ भवेत् ।
सरङ्गं कम्पयेत्कम्पं रथीवेति निदर्शनम् ॥ ३० ॥
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः ।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३१ ॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥ ३२ ॥
माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥ ३३ ॥
शङ्कितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसि गतं तथा स्थानविवर्जितम् ॥ ३४ ॥

---

(१) ह्रोः = हकाररेफयोः, उदाहरणं यथा बृंहणम् , कुण्डं रथेन ।

(२) दत्वेजाते योऽनुनासिको विधीयते स रङ्गः । तत्रोदाहरणम्—"खे अराँ इव खेदया" इति वेदवाक्यम् ।

उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ॥ ३५ ॥
प्रातः पठेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।
मध्यं दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन ॥ ३६ ॥
तारं तु विद्यात्सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरः स्थितेन ॥ ३७ ॥
अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमिस्पृष्टाः शलः स्मृताः ।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ॥ ३८ ॥
अमोऽनुनासिकानह्रौ[१] नादिनो हझषः स्मृताः ।
ईषन्नादा यणो जश्च श्वासिनस्तु खफादयः ॥ ३९ ॥
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्याद्गोर्धामैतत्प्रचक्षते ।
दाक्षीपुत्रपाणिनिना येनेदं व्यापितं[२] भुवि ॥ ४० ॥
छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ ४१ ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४२ ॥
उदात्तमाख्याति वृषो[३]ऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा ।
उपान्त्यमध्ये स्वरितं धृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥ ४३ ॥
उदात्तं प्रदेशिनीं विद्यात्प्रचयं मध्यतोऽङ्गुलिम् ।
निहतं तु कनिष्ठिक्यां स्वरितोपकनिष्ठिकाम् ॥ ४४ ॥
अन्तोदात्तमाद्युदात्तमुदात्तमनुदात्तं नीचस्वरितम् ।
मध्योदात्तं स्वरितं द्व्युदात्तं त्र्युदात्तमिति नवपदशय्या[४] ॥ ४५ ॥
अग्निः सोमः प्रवो वीर्यं हविषां स्वर्बृहस्पतिरिन्द्राबृहस्पती ।
अग्निरित्यन्तोदात्तं सोम इत्याद्युदात्तं प्रेत्युदात्तं व इत्यनुदात्तं वीर्यं
नीचस्वरितम् ॥ ४६ ॥

---

(१) न ह्रौ = रेफ-हकारौ नानुनासिकौ इत्यर्थः ।
(२) व्यापितम् = विशेषेण प्रदर्शितमित्यर्थः (इति प्र० व्या०)
(३) अङ्गुलीनां वृषः = श्रेष्ठोऽङ्गुष्ठ इत्यर्थः ।
(४) नवपदशय्या = नवसु पदेषु स्थितिर्भवतीत्यर्थः ।

हविषां मध्योदात्तं वरिति स्वरितम् ।
बृहस्पतिरिति द्व्युदात्तमिन्द्राबृहस्पती इति त्र्युदात्तम् ॥ ४७ ॥
अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः ।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥ ४८ ॥
चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥ ४९ ॥
कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम् ।
न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्बिषात् ॥ ५० ॥
सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नाय्यं सुव्यवस्थितम् ।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते ॥ ५१ ॥
मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ ५२ ॥
अनक्षरमनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम् ।
अक्षता शस्त्ररूपेण वज्रं पतति मस्तके ॥ ५३ ॥
हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥ ५४ ॥
हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम् ।
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ५५ ॥
शंकरः शांकरीं प्रादाद्दाक्षीपुत्राय धीमते ।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः ॥ ५६ ॥
येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५७ ॥
येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५८ ॥
अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५९ ॥
त्रिनयनमभिमुखनिःसृतामिमां य इह पठेत्पयतश्च सदा द्विजः ।
स भवति धनधान्यपशुपुत्रकीर्तिमानतुलं च सुखं समश्नुते दिवीति दिवीति ॥ ६० ॥

---

(१) कुतीर्थं आचारहीनो गुरुः

अथ शिक्षामात्मोदात्तश्च हकारं स्वराणां यथागीत्यचोस्पृष्टोदात्तं चापरस्तु शंकर एकादश ॥ ६१ ॥[1]

इति पाणिनीयशिक्षा समाप्ता ।

अथ मध्यसिद्धान्तकौमुद्युपयोगिगणपाठः ॥ २ ॥[2]

१३९८ तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च २ । १ । १७ ॥ तिष्ठद्गु, आयतीगवम्, खलेयवम्, खलेबुसम्, लूनयवम्, लूयमानयवम्, पूतयवम्, पूयमानयवम्, संहृतयवम्, संह्रियमाणयवम्, संहृतबुसम्, संह्रियमाणबुसम्, समभूमि, समपदाति, सुषमम्, विषमम्, दुःषमम्, निःषमम्, अपसमम्, आयतीसमम्, पापसमम, पुण्यसमम्, प्राह्णम्, प्ररथम्, प्रमृगम्, प्रदक्षिणम्, संप्रति, असंप्रति, इच्प्रत्ययः, समासान्तः । इति तिष्ठद्ग्वादिः ।

१४५२ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २ । १ । ५६ ॥ व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, ऋषभ, चन्दन, वृक, वृष, वराह, हस्तिन्, तरु, कुञ्जर, रुरु, पृषत्, पुण्डरीक, पलाश, कितव, इति व्याघ्रादिराकृतिगणः ।

१४५४ मयूरव्यंसकादयश्च २ । १ । ७२ ॥ मयूरव्यंसक, छात्रव्यंसक, कम्बोजमुण्ड, यवनमुण्ड । छन्दसि । हस्तेगृह्य, पादेगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य, पुनर्दाय, (एहीडादयोऽन्यपदार्थे) एहीडम्, एहिपचम्, एहिवाणिजा क्रिया, अपेहिवाणिजा, प्रेहिवाणिजा, एहिस्वागता, अपेहिस्वागता एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया, प्रेहिद्वितीया, एहिकटा, अपेहिकटा, प्रेहिकटा, अपहरकण्टा, प्रोहिकण्टा, प्रोहकर्दमा, प्रेहिकर्दमा, विधमचूडा, उद्धमचूडा, आहरचेला, आहरवनिता, आहरवसना, कृन्तविचक्षणा, उद्धरोत्सृजा, उद्धरावसृजा, उद्धमविधमा, उत्पतनिपचा, उत्पतनिपता, उच्चावचम्, उच्चनीचम्, आचोपचम्, आचपराचम्, निश्चप्रचम्, अकिंचनः, स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः, भुक्त्वासुहितः, प्रोष्यपापीयान्, उत्पत्यपाकला, निपत्यरोहिणी, निषण्णश्यामा, अपेहिप्रघसा, एहिविघसा, इहपञ्चमी, इहद्वितीया, (जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति) जहिजोडः, जहिस्तम्बः,

---

१—इयं शिक्षा एकादश खण्डात्मिका यथा—अथशिक्षाम् १ । आत्मा २ । उदात्तश्च ३ । हकारं ४ । स्वराणां ५ । यथा ६ । गीती ७ । अचोऽस्पृष्टा ८ । उदात्तम् ९ । चापरस्तु १० । शङ्करः ११ । इत्येकादश ।

२—मूलानुक्तानामेव गणानां सङ्ग्रहोऽत्र गणपाठे ।

(आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये) अश्नीतपिबता, पचतभृज्जता, खादतमोदता, खादतवमता, आहरनिवपा, आहरविष्करा, भिन्धिलवणा, कृन्धिविचक्षणा, पचलवणा, पचप्रकूटा। आकृतिगणोऽयम्। तेन अकुतोभय, कान्दिशीक, आहोपुरुषिका, अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरेयाहिरा, उन्मृजविमृजा, द्रव्यान्तरम्, अवश्यकार्यम्, इत्यादि सिद्धम्।

१४५६ ऊर्यादिच्विडाचश्च १। ४। ६१। ऊरी, उररी, तन्थी, ताली, आताली, वताली, धूली, धूसी, शकला, शंसकला, ध्वंसकला, भ्रंसकला, गुलुगुधा, सजूः, फल, फली, विक्ली, आक्ली, आलोष्टी, केवाली, केवासी, सेवाली, पर्याली, शेवाली, वर्षाली, अत्यूमशा, वश्मशा, मस्मसा, मसमसा, वौषट्, वषट्, श्रौषट्, स्वाहा, स्वधा, पाम्पी, प्रादुस्, श्रत्, आविस्, इत्यूर्यादिः।

१४७३ साक्षात्प्रभृतीनि च १। ४। ७४। साक्षात्, मिथ्या, चिन्ता, भद्रा, रोचना, आस्था, अमा, श्रद्धा, प्राजर्या, प्राजरुहा, बीजर्या, बीजरुहा, संचर्या, अर्थे लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आर्द्रम्, अग्नौ, वशे, विकसने, विहसने, प्रतपने, प्रादुस्, नमस्, आकृतिगणोऽयम्।

१५१७ अर्धर्चाः पुंसि च २। ४। ३१। अर्धर्च, गोमय, कषाय, कार्षापण, कुतप, कुसप, कुणप, कपाट, शङ्ख, गूथ, यूथ, ध्वज, कबन्ध, पद्म, गृह, सरक, कंस, दिवस, यूष, अन्धकार, दण्ड, कमण्डलु, मण्ड, भूत, द्वीप, द्यूत, चक्र, धर्म, कर्म, मोदक, शतमान, यान, नख, नखर, चरण, पुच्छ, दाडिम, हिम, रजत, सक्तु, पिधान, सार, पात्र, घृत, सैन्धव, औषध, आढक, चषक, द्रोण, खलीन, पात्रीव, षष्टिक, वारबाण, प्रोथ, कपित्थ, शुष्क, शाल, शील, शुक्ल (शुल्क) शीधु, कवच, रेणु, ऋण, कपट, शीकर, मुसल, सुवर्ण, वर्ण, पूव, चमस, क्षीर, कर्ष, आकाश, अष्टापद, मङ्गल, निधन, निर्यास, जृम्भ, वृत्त, पुस्त, बुस्त, क्ष्वेडित, शृङ्ग, निगड, खल, मधु, मूल, स्थूल, शराव, नाल, वप्र, विमान, मुख, प्रग्रीव, शूल, वज्र, कटक, कण्टक, कर्पट, शिखर, कल्क, वल्कल, नटमस्तक, नाटमस्तक, वलय, कुसुम, तृण, पङ्क, कुण्डल, किरीट, (कुमुद), अर्बुद, अंकुश, तिमिर, आश्रय, भूषण, इष्वास, इस्वास, मुकुल, वसन्त, तडाग, पिटक, विटङ्क, पिण्याक, माष, कोश, फलक, दिन, दैवत, पिनाक, समर, स्थाणु, अनीक, उपवास, शाक, कर्पास, विशाल, चषाल, खण्ड, दर, विटप, रण, बल, मृणाल, हस्त, आर्द्र, हल, सूत्र, ताण्डव, गाण्डीव,

मण्डप, पटह, सौध, बोध, पार्श्व, शरीर, देह, फल, छल, पुर, राष्ट्र, बिम्ब, अम्बर, कुट्टिम, मण्डल, कुक्कुट, कुडप, ककुद, खण्डल, तोमर, तोरण, मञ्चक, पञ्चक, पुङ्ख, बाल, छाल, वल्मीक, वर्ष, वस्त्र, वसु, देह, उद्यान, उद्योग, स्नेह, स्तेन, संगम, निष्क, क्षेम, शूक, छत्र, सूत्र, पवित्र, यौवन, कलह, पालक, वल्कल, कुञ्ज, विहार, लोहित, विषाण, भवन, अरण्य, पुलिन, हल, दृढ़, आसन, ऐरावत, शूर्प, तीर्थ, लोमश, तमाल, लोह, दण्डक, शपथ, प्रतिसर, दारु, धनुस्, मान, वर्चस्क, कूर्च, तण्डक, मठ, सहस्र, ओदन, प्रवाल, शकट, अपराह्न, नीड, शकल, तण्डुल, मुस्तक, इत्यर्धर्चादिः।

१५२० कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु। (वा) कुक्कुटी, मृगी, काकी,। अण्ड, पद, शाव, भ्रकुंस, भृकुटी, इति कुक्कुट्यादिरण्डादिश्च।

१५४७ पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५। ४। १३८। हस्तिन्, कुद्दाल, अश्व, कशिक, करुत, कटोलक, गण्डोल, कण्डोल, कण्डोलक, अज, कपोत, जाल, गण्ड, महेला, दासी, गणिका, कुसूल, इति हस्त्यादिः।

१५६९ उरःप्रभृतिभ्यः कप् ५। ४। १५१। उरस्, सर्पिस्, उपानह्, पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः, दधि, मधु, शाली, शालि, अर्थान्नञः। इत्युरःप्रभृतयः।

१५७७ वाहिताग्न्यादिषु २। २। ३७। आहिताग्निः, जातपुत्रः, जातदन्तः, जातश्मश्रुः, तैलपीतः घृतपीतः, ऊढभार्यः, गतार्थः, आकृतिगणोऽयम्। तेन गडुकण्ठ, अस्युद्यत, दण्डपाणि, इत्यादि ज्ञेयम्। इत्याहिताग्न्यादयः।

१५७९ राजदन्तादिषु परम् २। २। ३१। राजदन्तः, अग्रेवणम्, लिप्तवासितम्, नग्नमुषितम्, सिक्तसंमृष्टम्, मृष्टलुञ्चितम्, अवक्लिन्नपक्वम्, अर्पितोप्तम्, उत्सगाढम्, उलूखलमुसलम्, तण्डुलकिण्वम्, दृषदुपलम्, आरग्वायानि (नी), आरग्वायनबन्धकी, चित्ररथवाह्लीकम्, अवन्त्यश्मकम्, शूद्रार्यम्, स्नातकराजानौ, विष्वक्सेनार्जुनौ, अक्षिभ्रुवम्, दारगवम्। (धर्मादिषूभयम्)। अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ, अर्थशब्दौ, शब्दार्थौ, अर्थकामौ, कामार्थौ, वैकारिमतम्, गाजवाजम्, गोजवाजम्, गोपालधानीपुलासम्, पुलासककरण्डम्, स्थूलपुलासम्, उशीरबीजम्, सिञ्जास्थम्, चित्रास्वाती, भार्यापती, दम्पती, जम्पती, जायापती, पुत्रपती, पुत्रपशु, केशश्मश्रु, शिरोबीजम्, शिरोजानु, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, आद्यन्तौ, अन्तादी, गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ। आकृतिगणोऽयं, राजदन्तादिः।

१५६० गवाश्वप्रभृतीनि च २।४।११। गवाश्वम्, गवाविकम्, गवैडकम्, अजाविकम्, अजैडकम्, कुब्जावामनम्, कुब्जकिरातम्, पुत्रपौत्रम्, श्वचण्डालम्, स्त्रीकुमारम्, दासीमाणवकम्, शाटीपटीकम्, शाटीप्रच्छदम्, शाटीपट्टिकम्, उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशम्, मूत्रशकृत्, मूत्रपुरीषम्, यकृन्मेदः, मांसशोणितम्, दर्भशरम्, दर्भपूतीकम्, अर्जुनशिरीषम्, अर्जुनपुरुषम्, तृणोपलम्, दासीदासम्, कुटीकुटम्, भागवतीभागवतम्, एते गवाश्वप्रभृतयः।

१५६२ न दधिपयआदीनि २।४।१४। दधिपयसी, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ, परिव्राजककौशिकौ, प्रवर्ग्योपसदौ, शुक्लकृष्णौ, इध्माबर्हिषी, दीक्षातपसी, अध्ययनतपसी, उलूखलमुसले, आद्यवसाने, श्रद्धामेधे, ऋक्सामे, वाङ्मनसे, इति दधिपयआदयः।

१९६ पृषोदरादीनि यथापदिष्टम् ६।३।१०९। पृषोदर, पृषोत्थान, बलाहक, जीमूत, उलूखल, पिशाच, बृसी, मयूर, इति पृषोदरादिः।

१५७० मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ६।३।११९। अजिर, खदिर, पुलिन, हंस, कारण्डव, चक्रवाक, इत्यजिरादिः।

१६७१ शरादीनां च ६।३।१२०। शर, वंश, धूम, अहि, कपि, मणि, मुनि, शुचि, हनु, इति शरादिः।

१६८६ अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४। अश्वपति, स्थानपति, ज्ञानपति, यज्ञपति, बन्धुपति, शतपति, धनपति, गणपति, राष्ट्रपति, कुलपति, गृहपति, पशुपति, धान्यपति, धर्मपति, धन्वपति, सभापति, प्राणपति, क्षेत्रपति, इत्यश्वपत्यादिः।

१६ ० उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६। उत्स, उदपान, विकिर, विनद, महानद, महानस, महाप्राण, तरुण, तलुन, बष्क, यास, धेनु, पृथ्वी, पङ्क्ति, जगती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जनपद, भरत, उशीनर, ग्रीष्म, पीलु, कुण, उदस्थान, देशे, पृषदंश, भल्लकीय, रथन्तर, मध्यन्दिन, बृहत्, महत्, सत्वत्, कुरु, पञ्चाल, इन्द्रावसान, उष्णिह्, ककुभ्, सुवर्ण, देव, ग्रीष्मादच्छन्दसि, इत्युत्सादिः।

१६९६ गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५। गर्ग, वत्स, वाजासे, संस्कृति, अज, व्याघ्रपात्, विदभृत्, प्राचीनयोग, अगस्ति, पुलस्ति, चमस, रेभ, अग्निवेश, शङ्ख, शट, शक, एक, धूम, अवट्, मनस्, धनंजय, वृक्ष, विश्वावसु, जरमाण,

लोहित, शंसित, बभ्रु, वल्गु, मण्डु, गण्डु, शंकु, लिगु, गुहलु, मन्तु, मङ्क्षु, आलिगु, जिगीषु, मनु, तन्तु, मनायी, सूनु, कथक, कन्थक, ऋच, वृक्ष, (वृक्ष) तनु, तरुक्ष, तलुक्ष, तण्ड, वतण्ड, कपि, कत, कुरुकत, अनडुह्, कण्व, शकल, गोकक्ष, अगस्त्य, कण्डिनी, यज्ञवल्क, पर्णवल्क, अभयजात, विरोहित, वृषगण, रहूगण, शण्डिल, (चणक) वर्णक, चुलुक, मुद्गल, मुसल, जमदग्नि, पराशर, जातुकर्ण, महित, मन्त्रित, अश्मरथ, शर्कराक्ष, पूतिमाष, स्थूरा, अदरक (अररक) एलाक, पिङ्गल, कृष्ण, गोलन्द, उलूक, तितिक्ष, भिषज्, भिष्णज्, भडित, भण्डित, दल्भ, चेकित, चिकित्सित, देवहू, इन्द्रहू, एकलू, पिप्पलू, बृहदग्नि, सुलोहिन्, उक्थ, कुटीगु, इति गर्गादिः ।

१७०५ बाह्वादिभ्यश्च ४ । १ । ९६ । बाहु, उपबाहु, उपवाकु, निवाकु, शिवाकु, वटाकु, उपनिन्दु, वृषली, वृकला, चूडा, बलाका, मूषिका, कुशला, भगला, (छगला) ध्रुवका, ध्रुवका, सुमित्रा, दुर्मित्रा, पुष्करसद्, अनुहरद्, देवशर्मन्, अग्निशर्मन्, भद्रशर्मन्, सुशर्मन्, कुनामन्, सुनामन्, पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन् । अमितौजसः सलोपश्च । सुधावत्, उदञ्चु, माष, शिरस्, शराविन्, मरीचिन्, क्षेमवृद्धिन्, शृंखलतोदिन्, खरनादिन्, नगरमर्दिन्, प्राकारमर्दिन्, लोमन्, अजीगर्त, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, साम्ब, गद, प्रद्युम्न, राम, उदङ्क । उदकः संज्ञायाम् । संभूयोऽम्भसः सलोपश्च । आकृतिगणोऽयम् । तेन सात्यकिः, जाङ्घिः, ऐन्द्रशर्मिः, आजधेनविः, इति बाह्वादिः ।

१७०६ अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४ । १ । १०४ । बिद, उर्व, कश्यप, कुशिक, भरद्वाज, उपमन्यु, किलात, किंदर्भ, विश्वानर, (ऋष्टिषेण) ऋषिषेण, ऋतभाग, हर्यश्व, प्रियक, आपस्तम्ब, कूचवार, शरद्वत्, शुनक, धेनु, गोपवन, शिग्रु, बिंदु, (भोगक), भाजन (शमिक) अश्वावतान, श्यामक, श्यामाक, श्यावलि, श्यापर्ण, हरित, किंदास, वह्यस्क, अर्कजूष, वध्योग, विष्णुवृद्ध, प्रतिबोध, (रथीतर) रथित, रथन्तर, गविष्ठिर, निषाद, शबर, अलस, मठर, (मृडाकु) सूपाकु, मृदु, पुनर्भू, पुत्र, दुहितृ, ननान्दृ, परस्त्री, परशुं च । इति बिदादिः ।

१७०७ शिवादिभ्योऽण् ४ । १ । ११२ । शिव, प्रोष्ठ, प्रोष्ठिक, चण्ड, जम्भ, भूरि, दण्ड, कुठार, ककुभ, अनभिम्लान, कोहित, सुख, सन्धि, मुनि, ककुत्स्थ, कहोड, कोहड, कहूय, कहय, रोध, कपिञ्जल, खञ्जन, वतण्ड, तृणकर्ण,

क्षीरह्रद, जलह्रद, परिल, (पथक) पिष्ठ, हैहय, गोपिका, कपालिका, जटिलिका, बधिरिका, मञ्जिष्ठा, वृष्णिक, खञ्जार, खञ्जा, रेख, लेख, रिख, आलेखन, विश्रवण, रवण, वर्तनाक्ष, ग्रीवाक्ष, पिटाक, ऋक्षाक, नभाक, ऊर्णनाभ, जरत्कारु, पुरोहितिका, सुरोहितिका, आर्यश्वेत, सुपिष्ट, मसुरकर्ण, मयूरकर्ण, खजुरक, तक्षन्, ऋष्टिषेण, गङ्गा, विपाश, यस्क, लह्य, द्रुघ, अयस्थूण, तृणकर्ण, पर्ण, भलन्दन, विरूपाक्ष, भूमि, इला, सपत्नी । द्व्यचो नद्याः । त्रिवेणी, त्रिवणं च । इति शिवादिः ।

१७१६ रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४ । १ । १४६ । रेवती, अश्वपाली, मणिपाली, द्वारपाली, वृकवञ्चिन्, वृकबन्धु, वृकग्राह, कर्णग्राह, दण्डग्राह, ककुदाक्ष, चामरग्राह, कुक्कुटाक्ष, इति रेवत्यादिः ।

१७१८ गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४ । १ । ९८ । कुञ्ज, ब्रध्न, शङ्ख, भस्मक, गण, लोमन्, शठ, शाक, शुण्डा, शुभ, विपाश, स्कन्द, स्कम्भ, इति कुञ्जादिः ।

१७२० नडादिभ्यः फक् ४ । १ । ९९ ॥ नड, चर, बक, मुञ्ज, इतिक, इतिश, उपक, एक, लमक, शलङ्कु, कलङ्कं च, सप्तल, वाजप्य, तिक, अग्निशर्मन्, वृषगणे, प्राण, नर, सायक, दास, मित्र, द्वीप, पिङ्गर, पिङ्गल, किङ्कर, किङ्कल, काश्यप, कातर, गातल, काश्य, काव्य, अज, अमुष्य, कृष्णरणौ, ब्राह्मणवासिष्ठे, अमित्र, लिगु, चित्र, कुमार, क्रोष्टु, क्रोष्टं च, लोह, दुर्ग, स्तम्भ, शिंशपा, अग्रतृण, शकट, सुमनस्, सुमत, निमत, ऋच, जलंधर, अध्वर, युगंधर, हंसक, दण्डिन्, हस्तिन्, पिण्ड, पञ्चाल, चमसिन्, सुकृत्य, स्थिरक, ब्राह्मण, चटक, बदर, अश्वल, खरप, लङ्क, इन्ध, अस्त्र, कामुक, ब्रह्मदत्त, उदुम्बर, शोण, अलोह, दण्डप, इति नडादिः ।

१७२१ अश्वादिभ्यः फञ् ४ । १ । ११० । अश्व, अश्मन्, शंख, शूद्रक, विद, पट, रोहिण, खर्जूर, पिञ्जूल, भडिल, भण्डिल, भडित, भण्डित, प्रकृत, रामोद, क्षान्त, काश, काश, गोलाङ्क, अर्क, स्वर, वन, पाद, चक्र, कुल, पूल, भविष्ठ, वीक्ष, पविन्द, पवित्र, गोमिन्, श्याम, धूम, धूम्र, वाग्मिन्, विश्वानर, कुट, शपात्रये, जन, जड, खड, ग्रीष्म, अर्ह, केत, विशप, विशाल, गिरि, चपल, चुप, दास, वैल्य, प्राच्य, आनडुह्य, पुंसि, जाते । अर्जुन, सुमनस्,

दुर्मनस्, नम, प्रान्त, ध्वान, आत्रेयभारद्वाजे, भारद्वाजात्रेये, उत्स, आतव, कितव, शिव, खदिर, इत्यश्वादिः ।

१७२४ शुभ्रादिभ्यश्च ४ । १ । १२३ । शुभ्र, विष्ट, पुर, ब्रह्मकृत, शतद्वार, शलाथल, शलाकाभ्रू, लेखाभ्रू, विकास, रोहिणी, रुक्मिणी, धर्मिणी, दिश, शालूक, अजबस्ति, शकन्धि, विमातृ, विधवा, शुक, विश, देवतर, शकुनि, शुक्र, उग्र, शतल, बन्धकी, सुकण्डु, विश्व, अतिथि, गोदन्त, कुशाम्बु, मकष्टु, शान्ता, हर, पवष्टुरिक, सुनामन्, लक्षणश्यामयोर्वासिष्ठे, गोधा, कृकलास, अणीव, प्रवाहण, भरत, भरम, मृकण्डु, कर्पूर, इतर, अन्यतर, आलीढ, सुदत्त, सुदक्ष, सुवक्षस्, सुदामन्, कद्रु, तुद्, अकशाय, कुमारिका, कुठारिका, किशोरिका, अम्बिका, जिह्वाशिन्, परिधि, वायुदत्त, शकल, शलाका, खड्डर, कुबेरिका, अशोका, गन्धपिङ्गला, खण्डोन्मत्ता, अनुदृष्टिन्, जरतिन्, बलीवर्दिन्, विग्र, बीज, जीव, श्वन्, अश्मन्, अश्व, अजिर, इति शुभ्रादिराकृतिगणः ।

१७२५ कल्याण्यादीनामिनङ् ४ । १ । १२६ । कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, बन्धकी, अनुदृष्टि, अनुसृति, जरती, बलीवर्दी, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा, परस्त्री, इति कल्याण्यादिः ।

१७४१ तिकादिभ्यः फिञ् ४ । १ । १५४ । तिक, कितव, संज्ञा, बाला, शिखा, उरस्, शाठ्य, सैन्धव, यमुन्द, रूप्य, ग्राम्य, नील, अमित्र, गोकक्ष, कुरु, देवरथ, तैतिल, औरस, कौरव्य, भौरिकी, भौलिकी, मौलीकी, चौपयत, चैटयत, शकियत, क्षैतयत, वाजवत्, चन्द्रमस्, शुभ, गङ्गा, वरेण्य, सुपायन्, आरब्ध, बाह्यक, स्वल्प, वृष, लोमक, उदन्य, यश, इति तिकादिः ।

१७५१ कम्बोजाल्लुक् ४ । १ । १७५ । कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । कम्बोज, चोल, केरल, शक, यवन । इति कम्बोजादिः ।

१७७६ भिक्षादिभ्योऽण् ४ । २ । ३८ । भिक्षा, गर्भिणी, क्षेत्र, करीष, अङ्गार, चर्मिन्, धर्मिन्, सहस्र, युवति, पदाति, पद्धति, अथर्वन्, दक्षिणा, भरत, विषय, श्रोत्र, इति भिक्षादिः ।

१७८८ पाशादिभ्यो यः ४ । २ । ४९ । पाश, तृण, धूप, वात, अङ्गार, पाटल, पोत, गल, पिटक, पिटाक, शकट, हल, नट, वन, इति पाशादिः ।

१७६० खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः (वा) खल, डाक, कुटुम्ब, शाक, कुंडलिनी, इति खलादिराकृतिगणः ।

१७९७ क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४। २। ६०। उक्थ, लोकायत, न्याय, न्यास, पुनरुक्त, निरुक्त, निमित्त, द्विपद, ज्योतिष, अनुपद, अनुकल्प, यज्ञ, धर्म, चर्चा, क्रमेतर, श्लक्ष्ण, संहिता, पदक्रम, संघट्ट, परिषद्, वृत्ति, संग्रह, गण, गुण, आयुर्वेद, । इत्युक्थादिः ।

१८०२वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसंकाशबलपक्षकर्णसुतंगमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः ४। २। ८०। अरीहण, द्रुघण, द्रुहण, भगल, उलन्द, किरण, सांपरायण, क्रौष्ट्रायण, औष्ट्रायण, त्रैगर्तायन, मैत्रायण, भास्त्रायण, वैमतायन, गौमतायन, सौमतायन, सौसायन, धौमतायन, ऐन्द्रायण, कौन्द्रायण, खाडायन, शाण्डिल्यायन, रायस्पोष, विपथ, विपाश, उद्दण्ड, उदञ्चन, खाण्डवीरण, काशकृत्स्न, जाम्बवत्, शिंशपा, रैवत, बिल्व, सुयज्ञ, शिरीष, बधिर, जम्बु, खदिर, सुशर्मन्, भलतृ, भलन्दन, खण्डु, कलन, यज्ञदत्त, इत्यरीहणादिः ।

२ कृशाश्व, अरिष्ट, करिश्म, विशाल, लोमश, रोमश, रोमक, शबल, कूटवर्चल, वर्चल, सुकर, सूकर, प्रतर, अदृश, पुराग, पुरग, सुख, धूम, अजिन, विनत, अवनत, विकुटयास, पराशर, अरुस्, मौद्गल्य सुकर, इति कृशाश्वादिः ।

३ ऋश्य, न्यग्रोध, शर, निलीन, निवास, निवात, विधान, निबद्ध, विबद्ध, परिगूढ, उपगूढ, असनि, सित, मत, वेश्मन्, उत्तराश्मन्, अश्मन्, स्थूल, बाहु, खदिर शर्करा, अनडुह, अरडु, परिवंश, वेणु, वीरण, खण्ड, दण्ड, परीवृत्त, कर्दम, अंश, इत्यृश्यादिः ।

४ कुमुद, शर्करा, न्यग्रोध, इक्कट, कंकट, सङ्कट, गर्त, बीज, परिवाप, निर्यास, शकट, कच, मधु, शिरीष, अश्व, अश्वत्थ, बल्वज, यवास, कूप, विकङ्कट, दशग्राम, इति कुमुदादिः ।

५ काश, पाश, अश्वत्थ, पलाश, पीयूक्षा, चरण, वास, नड, वन, कर्दम, कच्छूल, कङ्कट, गुहा, बिसतृण, कर्पूर, बर्बर, मधुर, ग्रह, कपित्थ, जतु, सीपाल, इति काशादिः ।

६ तृण, नड, मूल, वन, पर्ण, वराण, बिल, पुल, फल, अर्जुन, अर्ण, सुवर्ण, बल, चरण, बुस, इति तृणादिः ।

७ प्रेक्षा, हलका, बन्धुका, ध्रुवका, क्षिपका, न्यग्रोध, इक्कट, कङ्कट, सङ्कट, कट, कूप, बुक, पुट, मह, परिवाप, यवाषि, ध्रुवका, गर्त, कूपक, हिरण्य, इति प्रेक्षादिः ।

८ अश्मन्, यूथ, ऊष, मीन, नद, दर्भ, वृन्द, गुद, खण्ड, नग, शिखा, कोट, पाम, कन्द, कान्द, कुल, गह्, गुण, कुण्डल, पीन, गुह, इत्यश्मादिः ।

९ सखि, अग्निदत्त, वायुदत्त, सखिदत्त, गोपिल, मल्ल, पाल, चक्र, चक्रवाक, छगल, अशोक, करवीर, वासव, वीर, पूर, वज्र, कुसीरक, सीहर, सरक, सरस, समर, समल, सुरस, रोह, तमाल, कदल, सप्तल, इति सख्यादिः ।

१० संकाश, कपिल, काश्मीर, समीर, शूरसेन, सरक, शूर, सुपन्थिन्, पन्थ च, यूथ, अंश, अङ्ग, नासा, पलित, अनुनाश, अश्मन्, कूट, मलिन, दश, कुम्भ, शीर्ष, वितर, समल, सीर, पञ्जर, मन्थ, नल, रोमन्, पुलिन, सुपरि, कटिप, सकर्णक, वृष्टि, तीर्थ, अगस्ति, विकर, नासिका, इति संकाशादिः ।

११ बल, चुल, नल, दल, वट, लकुल, उरल, पुस, मूल, उल, डुल, वन, कुल, इति बलादिः ।

१२ पक्ष, तुक्ष, तुष, कुण्ड, अण्ड, कम्बलिका, बलिक, चित्र, अस्ति सुपथिन्पन्थ च, कुम्भ, सीरक, सरक, सकल, सरस, समल, अतिश्वन्, रोमन्, लोमन्, हस्तिन्, मकर, लोमक, शीर्ष, निवात, पाक, सिंहक, अंकुश, सुवर्णक, हंसक, हिंसक, कुत्स, बिल, खिल, यमल, हस्तकला, सकर्णक, इति पक्षादिः ।

१३ कर्ण, वसिष्ठ, अर्क, अर्कलूष, द्रुपद, आनडुह्य, पाञ्चजन्य, स्फिच्, कुम्भी, कुन्ती, जित्वन्, जीवन्त, कुलिश, आण्डीवत्, जव, जैत्र, आनक इति कर्णादिः ।

१४ सुतङ्गम, मुनिचित्त, विप्रचित्त, महाचित्त, महापुत्र, स्वन, श्वेत, खडिक, शुक, विप्र, बीजवापिन्, अर्जुन, श्वन्, अजिर, जीव, खण्डिन्, कर्ण, विग्रह, इति सुतङ्गमादिः ।

१५ प्रगदिन्, मगदिन्, मददिन्, कविल, खण्डित, गदित, चूडार, मन्दार, मडार, कोविदार, इति प्रगद्यादिः ।

१६ वराह, पलाश, शिरीष, पिनद्ध, निबद्ध, बलाह, स्थूल, विदग्ध, विजग्ध, विभग्न, निमग्न, बाहु, खदिर, शर्करा, इति वराहादिः ।

१७ कुमुद, गोमथ, रथकार, दशग्राम, अश्वत्थ, शाल्मलि, शिरीष, मुनिस्थल, कुण्डल, कूट, मधुकर्ण, घास, कुन्द, शुचि, कर्ण इति कुमुदादिः ।

१८०५ वरणादिभ्यश्च ४ । २ । ८२ । वरणा, शृङ्गी, शाल्मलि, शुण्डी, शयाण्डी, पर्णी, ताम्रपर्णी, गोद, आलिङ्ग्यायन, जानपदी, जम्बू, पुष्कर, चम्पा, पम्पा, वल्गु, उज्जयिनी, गया, मथुरा, तक्षशिला, उरसा, गोमती, वलभी, इति वरणादिः ।

१८११ मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८ । २ । ९ । यव, दल्मि, ऊर्मि, भूमि, कृमि, क्रुञ्चा, वशा, द्राक्षा, ध्राक्षा, ध्रजि, ध्वजि, निजि, सञ्जि, हरित्, ककुद्, मरुत्, गरुत्, इक्षु, द्रु, मधु, आकृतिगणोऽयम् ।

१८१६ नद्यादिभ्यो ढक् ४ । २ । ९७ । नदी, मही, वाराणसी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वनकौशाम्बी, काशपरी, काशफरी, खादिरी, पूर्वनगरी, पाठा, माया, शाल्वा, दार्वा, सेतकी, वडवाया, वृषे, इति नद्यादिः ।

१८२४ उत्करादिभ्यश्छः ४ । २ । ९० । उत्कर, संफल, शफर, पिप्पल, पिप्पलीमूल, अश्मन्, सुवर्ण, खलाजिन, तिक, कितव, अणक, त्रैवण, पिचुक, अश्वत्थ, काश, क्षुद्र, भस्त्रा, शाल, जन्या, अजिर, चर्मन्, उत्क्रोश, क्षान्त, खदिर, शूर्पणाय, श्यावनाय, नैवाकव, तृण, वृक्ष, शाक, पलाश, विजिगीषा, अनेक, आतप, फल, संपर, अर्क, गर्त, अग्नि, वैराणक, इडा, अरण्य, निशान्त, पर्ण, नीचायक, शङ्कर, अवरोहित, क्षार, विशाल, वेत्र, अरीहण, खण्ड, वातागर, मन्त्रणार्ह, इन्द्रवृक्ष, नितान्तवृक्ष, आर्द्रवृक्ष, इत्युत्करादिः ।

१८२८ काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४ । २ । ११६ । काशि, वेदि, चेदि, सांयाति, संवाह, अच्युत, मोदमान, शकुलाद, हस्तिकर्षु, कुनाम, हिरण्य, करण, गोवासन, भारङ्गी, अरिन्दम, अरित्र, देवदत्त, दशग्राम, शौवावतान, युवराज, उपराज, देवराज, मोदन, सिन्धुमित्र, दासमित्र, सुधामित्र, सोममित्र छागमित्र, साधमित्र, सधमित्र, आपदादिपूर्वपदात् कालान्तात् । आपद् ऊर्ध्व तत् । इति काश्यादिः ।

१८३३ गहादिभ्यश्च ४ । २ । १३८ । गह, अन्तस्थ, सम, विषम, मध्य, मध्यंदिन, चरण, उत्तम, अङ्ग, वङ्ग, मगध, पूर्वपक्ष, अपरपक्ष, अधमशाख, उत्तमशाख, एकशाख, समानशाख, एकग्राम, समानग्राम, एकवृक्ष, एकपलाश, इष्वग्र, इष्वनीक, अवस्यन्दन, कामप्रस्थ, खाडायन, काठेरणि, लावेरणि, सौमित्रि, शैशिरि, आसुत, दैवशर्मि, श्रौती, आहिंसि, आमित्रि, व्याडि, बैजि, आध्यश्वि, आनृशंसि, शौङ्गि, आग्निशर्मि, भौजि, वाराटकि, वाल्मीकि, क्षैमवृद्धि, आश्वत्थि, औद्गाहमानि, एकबिन्दवि, दन्ताग्र, हंस, तन्त्वग्र, उत्तर, अनन्तर, मुखपार्श्वतसोर्लोपः । जनपरयोः कुक् च देवस्य च । इति गहादिराकृतिगणः ।

१८४६ द्वारादीनां च ७ । ३ । ४ । द्वार, स्वर, स्वग्राम, स्वाध्याय, व्यल्कश, स्वस्ति, स्वर, स्फ्यकृत्, स्वादुमृदु, श्वस्, श्वन्, स्व । इति द्वारादिः ।

१८४७ सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् ४ । ३ । १६ । सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी, प्रतिपत्, इति सन्धिवेलादिः ।

१८५६ दिगादिभ्यो यत् ४ । ३ । ५४ । दिश्, वर्ग, पूग, गण, पक्ष, धाय्य, मित्र, मेधा, अन्तर, पथिन्, रहस्, अलीक, उखा, साक्षिन्, देश, आदि, अन्त, मुख, जघन, मेष, यूथ, उदकात्संज्ञायाम्, न्याय, वंश, वेश, काल, आकाश, इति दिगादिः ।

१८६४ परिमुखादिभ्यश्च ४ । ३ । ५९ । परिमुख, परिहनु, पर्योष्ठ, पर्युलूखल, परिसीर, उपसीर, उपस्थूण, उपकलाप, अनुपथ, अनुपद, अनुगङ्ग, अनुतिल, अनुसीत, अनुसाय, अनुसीर, अनुमाष, अनुयव, अनुयूप, अनुवंश प्रतिशाख । इति परिमुखादिः ।

१८६५ अध्यात्मादेष्ठञिष्यते ४ । ३ । ६० । अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत, इहलोक, इत्यध्यात्मादिराकृतिगणः ।

१८६६ अनुशतिकादीनां च ७ । ३ । २० । अनुशतिक, अनुहोड, अनुसंवरण, अनुसंवत्सर, अङ्गारवेणु, असिहत्य, अस्यहेति, वध्योग, पुष्करसद्, अनुहरत्, कुरुकत, कुरुपञ्चाल, उदकशुद्ध, इहलोक, परलोक, सर्वलोक, सर्वपुरुष, सर्वभूमि, प्रयोग, परस्त्री, राजपुरुषात्, ष्यञि, सूत्रनड, आकृतिगणोऽयम् । तेन अधिगम, अधिभूत, अधिदेव, चतुर्विद्या, इत्यादि, इत्यनुशतिकादिः ।

१८९८ पलाशादिभ्यो वा ४ । ३ । १४१ । पलाश, खदिर, शिंशपा, स्यन्दन, पुलाक, करीर, शिरीष, यवास, विकङ्कत, इति पलाशादिः ।

१९०१ नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४ । ३ । १४४ । शर, दर्भ, मृग, कुटी, तृण, सोम, बल्वज, इति शरादिः ।

१९०७ प्लक्षादिभ्योऽण ४ । ३ । १६४ । प्लक्ष, न्यग्रोध, इङ्गुदी, अश्वत्थ, शिग्रु, रुरु, कक्षतु, बृहती, इति प्लक्षादिः ।

१९११ हरीतक्यादिभ्यश्च ४ । ३ । १६७ ॥ हरीतकी, कोशातकी, नखरजनी, शष्कण्डी, दाडी, दोडी, श्वेतपाकी, अर्जुनपाकी, द्राक्षा, काला, ध्वाङ्क्षा, गर्भीका, कण्टकारिका, पिप्पली, चिञ्चा, शेफालिका, इति हरीतक्यादिः ।

माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम् । माशब्द, नित्यशब्द, कार्यशब्द, इति माशब्दादिः ।

आहौ प्रभूतादिभ्यः । प्रभूत, पर्याप्त । इति प्रभूतादिः ।

पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः । सुस्नात, सुखरात्रि, सुखशयन, इति सुस्नातादिः ।

गच्छती परदारादिभ्यः । परदार, गुरुतल्प । इति परदारादिः ।

१९१६ पर्पादिभ्यष्ठन् ४ । ४ । १० । पर्प, अश्व, अश्वत्थ, रथ, जाल, व्याल, न्यास । पादः पच्च । इति पर्पादिः ।

१९२२ वेतनादिभ्यो जीवति ४ । ४ । १२ । वेतन, वाहन, अर्धवाहन, धनुर्दण्ड, जाल, वेश, उपवेश, प्रेषण, उपवस्ति, सुख, शय्या, शक्ति, उपनिषत्, उपदेश, स्फिच्, पाद, उपस्थ, उपस्थान, उपहस्त । इति वेतनादिः ।

१९२४ भस्त्रादिभ्यष्ठन् ४ । ४ । १६ । भस्त्रा, भरट, भरण, शीर्षभार, शीर्षेभार, अंसभार, अंसेभार । इति भस्त्रादिः ।

१९२९ निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः ४ । ४ । १९ । अक्षद्यूत, जानुप्रहृत, जङ्घाप्रहृत, जङ्घाप्रहृत, पादस्वेदन, कण्टकमर्दन, गतानुगत, गतागत, यातोपयात, अनुगत, इत्यक्षद्यूतादिः ।

१९४२ छत्रादिभ्यो णः ४ । ४ । ६२ । छत्र, शिक्षा, प्ररोहस्था, बुभुक्षा, चुरा, तितिक्षा, उपस्थान, कृषिकर्मन्, विश्वधा, तपस्, सत्य, अनृत, विशिखा, विशिका, भक्षा, उदस्थान, पुरोडा, विक्षा, चुक्षा, मन्द्र, इति छत्रादिः ।

१९५४ उगवादिभ्यो यत् ५ । १ । २ । गो, हविस्, अक्षर, विष, बर्हिस्, अष्टका, स्वदा, युग, मेधा, स्रुच्, । नाभि नभं च । शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वं, तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम् । ऊधसोऽनङ् । कूप, खद, दर, खर, असुर, अध्वन्, क्षर, वेद, बीज, दीप्त, इति गवादिः ।

१९५६ विभाषा हविरपूपादिभ्यः ५ । १ । ४ । अपूप, तण्डुल, अभ्यूष, अभ्योष, अवोष, अभ्येष, पृथुक, ओदन, सूप, पूप, किण्व, प्रदीप, मुसल, कटक, कर्णवेष्टक, इर्गल, अर्गल । अन्नविकारेभ्यश्च । यूप, स्थूणा, दीप, अश्व, पत्र, इत्यपूपादिः ।

१९६४ असमासे निष्कादिभ्यः ५ । १ । २० । निष्क, पण, पाद, माष, वाह, द्रोण, षष्टि, इति निष्कादिः ।

१९७६ दण्डादिभ्यो यत् ५ । १ । ६६ । दण्ड, मुसल, मधुपर्क, कशा, मेघ, अर्घ, मेधा, सुवर्ण, उदक, वध, युग, गुहा, भाग, इभ, भङ्ग, इति दण्डादिः ।

१९८२ पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५ ।१।१२२। पृथु, मृदु, महत्, पटु, तनु, लघु, बहु, साधु, आशु, उरु, गुरु, बहुल, खण्ड, दण्ड, चण्ड, अकिंचन, बाल, वत्स, होड, पाक, मन्द, स्वादु, ह्रस्व, दीर्घ, प्रिय, वृष, ऋजु, क्षिप्र, क्षुद्र, अणु । इति पृथ्वादिः ।

१९८५ वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ५ । १ । १२३ । दृढ, वृढ, परिवृढ, भृश, कृश, वक्र, शुक्र, चुक्र, आम्र, कृष्ट, लवण, ताम्र, शीत, उष्ण, जड, बधिर, पण्डित, मधुर, मूर्ख, मूक, स्थिर । वेर्यातलाभमतिमनःशारदानाम् । समो मतिमनसोः । जवन । इति दृढादिः ।

१९८६ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५ । १ । १२४ । ब्राह्मण, वाडव, माणव । अर्हतो नुम् च । चोर, धूर्त, आराधय, विराधय, अपराधय, उपराधय, एकभाव, द्विभाव, त्रिभाव, अन्यभाव, अक्षत्रज्ञ, संवादिन्, संवेशिन्, संभाषिन्, बहुभाषिन्, शीर्षघातिन्, विघातिन्, समस्थ, विषमस्थ, परमस्थ, मध्यमस्थ, अनीश्वर, कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ, विश्व, बालिश, अलस, दुःपुरुष, कापुरुष, राजन्, गणपति, अधिपति, गडुल, दायाद, विशस्ति, विषम, विपात, निपात । सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे । चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च । शौटीर । ब्राह्मणादिराकृतिगणः ।

१९८६ चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम् (वा) । चतुर्वर्ण, चतुराश्रम, सर्वविद्य, त्रिलोक, त्रिस्वर, षड्गुण, सेना, अनन्तर, सन्निधि, समीप, उपमा, सुख, तदर्थ, इतिह, मणिक । इति चतुर्वर्णादिः ।

१९९० पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५ । १ । १२८ । पुरोहित, राजासे, ग्रामिक, पिण्डित, सुहित, बाल, मन्द, खण्डिक, दण्डिक, वर्मिक, कर्मिक, धर्मिक, शिलिक, सूतिक, मूलिक, तिलक, अञ्जलिक, अञ्जनिक, रूपिक, ऋषिक, पुत्रिक, अविक, छत्रिक, पर्षिक, पथिक, चर्मिक, प्रतिक, सारथि, आस्तिक, सूचिक, संरक्षक, सूचक, नास्तिक, अजानिक, शाकर, शाकर, नागर, चूडिक, इति पुरोहितादिः ।

१९९१ प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ५ । १ । १२९ । उद्गातृ, उन्नेतृ, प्रतिहर्तृ, प्रशास्तृ, होतृ, पोतृ, हर्तृ, रथगणक, पक्षिगणक, सुष्ठु, दुष्ठु, अध्वर्यु, वधू, सुभग, मन्त्रे । इत्युद्गात्रादिः ।

१९९२ हायनान्तयुवादिभ्योऽण ५ । १ । १३० । युवन्, स्थविर, होतृ, यजमान, पुरुषासे, भ्रातृ, कुतुक, श्रमण (श्रवण), कटुक, कमण्डलु, कुस्त्री, सुस्त्री, दुःस्त्री, सुहृदय, दुर्हृदय, सुहृद्, दुर्हृद्, सुभ्रातृ, दुर्भ्रातृ, वृषल, परिव्राजक, सब्रह्मचारिन्, अनृशंस, हृदयासे, कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ । श्रोत्रियस्य यलोपश्च । इति युवादिः ।

१९९५ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ५ । १ । १३३ । मनोज्ञ, प्रियरूप, अभिरूप, कल्याण, मेधाविन्, आढ्य, कुलपुत्र, छान्दस, छात्र, श्रोत्रिय, चोर, धूर्त, विश्व-

देव, युवन्, कुपुत्र, ग्रामपुत्र, ग्रामकुलाल, ग्रामण, ग्रामषण्ड, ग्रामकुमार, सुकुमार, बहुल, अवश्यपुत्र, अमुष्यपुत्र, अमुष्यकुल, सारपत्र, शतपत्र, इति मनोज्ञादिः ।

२००२ तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ । ५ । २ । २४ । पीलु, कर्कन्धू, कर्कन्धु, शमी, करीर, बल, कुवल, बदर, अश्वत्थ, खदिर । इति पील्वादिः । कर्ण, अक्षि, नख, मुख, केश, पाद, गुल्फ, भ्रू, शृङ्ग, दन्त, ओष्ठ, पृष्ठ । इति कर्णादिः ।

२०११ तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच ५ । २ । ३६ । तारका, पुष्प, कर्णक, मञ्जरी, ऋजीष, क्षण, सूत्र, मूत्र, निष्क्रमण, पुरीष, उच्चार, प्रचार, विचार, कुड्मल, कण्टक, मुसल, मुकुल, कुसुम, कुतूहल, स्तबक, (स्तवक) किसलय, पल्लव, खण्ड, वेग, निद्रा, मुद्रा, बुभुक्षा, धेनुष्या, पिपासा, श्रद्धा, अभ्र, पुलक, अङ्गारक, वर्णक, द्रोह, दोह, सुख, दुःख, उत्कण्ठा, भर, व्याधि, वर्मन्, व्रण, गौरव, शास्त्र, तरङ्ग, तिलक, चन्द्रक, अन्धकार, गर्व, कुमुर, मुकुर, हर्ष, उत्कर्ष, रण, कुवलय, गर्ध, क्षुध्, सीमन्त, ज्वर, गर, रोग, रोमाञ्च, पण्डा, कज्जल, तृष, कोरक, कल्लोल, स्थपुट, फल, कञ्चुक, शृङ्गार, अङ्कुर, शैवल, बकुल, श्वभ्र, आराल, कलङ्क, कर्दम, कन्दल, मूर्च्छा, अङ्गार, हस्तक, प्रतिबिम्ब, विघ्नतन्त्र, प्रत्यय, दीक्षा, गर्ज । गर्भादप्राणिनि । इति तारकादिः । आकृतिगणः ।

२०३८ इष्टादिभ्यश्च ५ । २ । ८८ । इष्ट, पूर्त, उपासादित, निगदित, परिगदित, परिवादित, निकथित, निषादित, निपठित, संकलित, परिकलित, संरक्षित, परिरक्षित, अर्चित, गणित, अवकीर्ण, आयुक्त, गृहीत, आम्नात, श्रुत, अधीत, अवधान, आसेवित, अवधारित, अवकल्पित, निराकृत, उपकृत, उपाकृत, अनुयुक्त, अनुगणित, अनुपठित, व्याकुलित । इतीष्टादिः ।

२०४४ सिध्मादिभ्यश्च ५ । २ । ९७ । सिध्म, गडु, मणि, नाभि, बीज, वीणा, कृष्ण, निष्पाव, पांसु, पार्श्व, पर्शु, हनु, सक्तु, मास, मांस । पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घश्च । वातदन्तबलललाटानामूङ् च । जटा, घटा, कटा । कालाः क्षेपे । पर्ण, उदक, प्रज्ञा, सक्थि, कर्ण, स्नेह, शीत, श्याम, पिङ्ग, पित्त, पुष्क, पृथु, मृदु, मण्ड, पत्र, चटु, कपि, गण्डु, ग्रन्थि, श्री, कुश, धारा, वर्ष्मन्, श्लेष्मन्, पक्ष्मन्, पेश, निष्पाद्, कुण्ड । क्षुद्रजन्तूपतापयोश्च । इति सिध्मादिः ।

२०४७ लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५ । २ । १०० ।

१ लोमन्, रोमन्, बभ्रु, अरि, गिरि, कर्क, कपि, मुनि, तरु। इति लोमादिः।

२ पामन्, वामन्, वेमन्, हेमन्, श्लेष्मन्, कद्रु, कच्छू, वलि, सामन्, ऊष्मन्, कृमि। अङ्गात्कल्याणे। शाकीपलालीदद्रूणां ह्रस्वत्वं च। विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः। लक्ष्म्या अच्च। इति पामादिः।

३ पिच्छा, उरस् ध्रुवक, धुवक। जटाघटाकालाः क्षेपे। पर्ण, उदक, पङ्क, प्रज्ञा। इति पिच्छादिः।

२०५० ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् (ग)। ५। २। १०३। ज्योत्स्ना, तमिस्रा, कुण्डल, कुतप, विसर्प, विपादिका। इति ज्योत्स्नादिः।

२०६२ व्रीह्यादिभ्यश्च ५। २। ११६। व्रीहि, माया, शाला, शिखा, माला, मेखला, केका, अष्टका, पताका, चर्मन्, कर्मन्, वर्मन्, दंष्ट्रा, संज्ञा, वडवा, कुमारी, नौ, वीणा, बलाका, यव, खद। शीर्षान्नञः। इति व्रीह्यादिः।

२०७० अर्शआदिभ्योऽच् ५। २। १२७। अर्शस्, उरस्, तुन्द, चतुर, पलित, जटा, घटा, घाटा, अघ, कर्दम, अम्ल, लवण। स्वाङ्गाद्धीनात्। वर्णात्, अर्शआदिराकृतिगणः।

२१५८ शाखादिभ्यो यः ५। ३। १०३। शाखा, मुख, शृङ्ग, जघन, मेघ, अभ्र, चरण, स्कन्ध, स्कद, स्कन्द, उरस्, शिरस्, अग्र, शरण। इति शाखादिः।

२१६९ यावादिभ्यः कन् ५। २। २६। याव, मणि, अस्थि, तालु, जानु, सान्द्र, पीत, स्तम्ब। ऋता उष्णशीते। पशौ लूनविपाते। अणु निपुणे। पुत्र कृत्रिमे। स्नात वेदसमाप्तौ। शून्य रिक्ते। दान कुत्सिते। तनु सूत्रे। ईयसश्च। ज्ञात। अज्ञात। कुमारीक्रीडनकानि च। इति यावादिः।

२१७२ प्रज्ञादिभ्यश्च ५। ४। ३८। प्रज्ञ, वणिज्, उशिज्, उष्णिज्, प्रत्यक्ष, विद्वस्, वेदन्, षोडन्, विद्या, मनस्, श्रोत्र शरीरे, जुह्वत्, कृष्ण मृगे, चिकीर्षत्, चोर, शत्रु, योध, चक्षुस्, वसु, एनस्, मरुत्, कुञ्च, सत्वत्, दशार्ह, वयस्, व्याकृत, असुर, रक्षस्, पिशाच, अशनि, कार्षापण, देवता, बन्धु। इति प्रज्ञादिः।

मध्यकौमुदी-सूत्राणामकारादिवर्णक्रमेण सूचिः ।

अइउण् १ ऋलृक् २ एओङ् ३ ऐऔच् ४ हयवरट् ५ लण् ६ ञमङणनम् ७ झभञ् ८ घढधष् ९ जबगडदश् १० खफछठथचटतव् ११ कपय् १२ शषसर् १३ हल् १४ । इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि । (प्रथमपृष्ठे)

अथोणादिसूत्रसूचिः ।

अथ मध्यकौमुदीस्थवार्त्तिकादिसूचिः ।

मध्यकौमुदीस्थानां श्लोकानां कारिकाणां वा सूचिः ।

अकारादिक्रमेण मध्यकौमुदीस्थ-धातुसूचिः ।

मध्यकौमुदी-प्रश्नोत्तरावली

अर्थात्

[सन् १९२९ तः ३८ पर्यन्तं पञ्चाम्बु-विश्व-
विद्यालयीय-प्राज्ञ-परीक्षायां समागताः
प्रश्ना वर्षत्रितयस्योत्तराणि च]

परीक्षा-शिक्षा-सूत्राणि

शृण्वन्तु प्रियशिष्याः ! श्रुत्वा चैवोपधार्यतां हृदये ।
कथनैरलं गुणानां 'स्तुतिवाक् न रोचते सद्भ्यः" ॥१॥
श्रीगुरुमुखतो ग्रन्थाः साद्योपान्तं पुरैव पठनीयाः ।
नो जाने किं पृच्छेद् "भिन्ना रुचिर्हि मनुष्याणाम्" ॥२॥
अपरिचितदेशकालः सुविदितशास्त्रोऽपि पण्डितो लोके ।
पूर्णं फलं न लभते "चेष्टिताऽतो यथाकालम्" ॥३॥
नेयाऽथोलेखनिका परिचितपूर्वा परीक्षिता सम्यक् ।
सा चैव भवति साधुः "सुपरिचितो नैव वञ्चयते" ॥४॥
आदाय प्रश्नदलं भूयो भूयोऽभिदृश्यतां सयम् ।
सञ्चिन्तितं हि सुचिरं 'स्मृतिमधिरोहति पुराऽदृष्टम्" ॥५॥

परीक्षा-शिक्षासूत्र-तात्पर्यव्याख्या (हिन्दी में) ।

१–प्रिय छात्रवर्ग ! ध्यान से सुनो और सुनकर हृदय में निश्चय कर लो । हम अपने मुँह से शिक्षा सूत्रों के गुणों की क्या प्रशंसा करें । सज्जनों को आत्म-श्लाघा रुचिकर नहीं हुआ करती । २—परीक्षार्थी के लिये आवश्यक है कि परीक्षा-समय से पहिले समस्त पाठ्य-ग्रन्थों को श्रीगुरुमुख से आदि से अन्त तक पढ़ ले । कोई प्रकरण पढ़ लिया कोई छोड़ दिया यह उचित नहीं । न जाने परीक्षक कहाँ से पूछ दे । सब की रुचि भिन्न भिन्न होनी स्वाभाविक है । ३—परीक्षार्थी को देश-काल का पूरा ध्यान रखना चाहिये, देशकाल से अपरिचित शास्त्रज्ञ विद्वान् भी पूरा फल नहीं प्राप्त कर सकता । ४—परीक्षाभवन में लेखनी अपनी तो ले जानी ही होती है किन्तु लेखनी = (कलम या होल्डर) वही साथ रहनी चाहिये जिससे आप पहिले प्रायः लिखा करते हैं और जिसके ठीक चलने में कोई सन्देह नहीं है, पूर्व परिचित से प्रायः वञ्चना का भय नहीं हुआ करता । ५—प्रश्नपत्र मिल जाने पर उसे ध्यान-पूर्वक आदि से अन्त तक पढ़ो, फिर पढ़ो, कुछ देर तक सब का पर्यालोचन कर डालो, ऐसा करने से समस्त पढ़ा हुआ विषय स्मरण आजाया करता है ।

आद्यं चान्त्यं वा यत् सुगमं संविदितमुत्तरं पूर्वम् ।
सम्यग् लेख्यं तद् यत् "मुखमेव निरीक्ष्यते प्रथमम्" ॥६॥
अङ्कान् पूर्वं पश्येत् सचतुरं स्वर्णकारवत् पश्चात् ।
सन्तोल्यैव च लेख्यं "यत् मान-वधारिणी बुद्धिः" ॥७॥
जातु न समयात्पूर्वं पत्रं संलिख्य चान्यथाप्येवम् ।
बहिरागच्छेत् केन्द्रात् "कालोपेक्षी विपन्नः स्यात्" ॥८॥
संलेख्यापि समस्तं पौनःपुन्येन द्रष्टव्यं सम्यक् ।
आत्मस्खलनं शोध्यं "स्खलनं प्रकृतिर्हि लोकानाम्" ॥९॥
उपदिष्टो यः पूर्वं सुलेखनियमो विरामादिः ।
सोऽप्यत्र पालनीयः "सौन्दर्य्यमवयवसंस्थानम्" ॥१०॥
असुपठवर्णो लेखः स्फुटपाण्डित्योऽपि सारगर्भोऽपि ।
सन्देहास्पदमखिलो "न वर्णमक्षरविधिं कुर्य्यात्" ॥११॥

६—सारे प्रश्न पत्र में जो भी प्रश्न पहिला अन्तिम या और ही कोई ठीक ठीक बढ़िया आता हो, उसी को सब से पहिले अच्छी तरह से लिखो, सब की दृष्टि पहिले मुख पर ही पड़ती है। ७—किसी भी प्रश्न का उत्तर लिखने से पहिले उसके नम्बर देख लो, तब उसका उत्तर नम्बरों के अनुसार सुनार के समान पूरा पूरा तोलकर संक्षिप्त या विस्तृत लिखो, बुद्धि का यही फल है कि यथोचित परिमाण की जाँच करले ('मान—वधारणी' यहाँ 'अव' के अकार का लोप हुआ है)। ८—सभी प्रश्नों का उत्तर लिख चुकने पर भी समय पूरा होने से पहिले परीक्षा-भवन से बाहर मत आओ, कीमती समय की उपेक्षा करने वाले पुरुष को विपत्ति का सामना करना पड़ता है। ९—सभी प्रश्नों का उत्तर लिख चुकने पर भी समय बाकी हो तो लिखे हुए उत्तरों को बार बार ध्यान-पूर्वक देखना आरम्भ कर दो, जहाँ भी कोई अशुद्धि रह गई हो उसे ठीक कर लो। अशुद्धि हो जाना मनुष्य के लिये स्वभाव सुलभ है। १०—परिशिष्ट के ६६० पृष्ठ में लेख-नियम बताये गये हैं, उनका अपने लेख में अभ्यास कर लो, परीक्षा के समय भी उन नियमों का पूर्ण पालन करो। उचित अवयव-विन्यास ही सौन्दर्य का कारण हुआ करता है। ११—लेख में वर्ण=अक्षर ऐसे मत लिखो जो ठीक ठीक पढ़े न जा सकें, या सन्देह पैदा कर देने वाले हों। पाण्डित्यपूर्ण सारगर्भित लेख भी इस दोष के कारण सन्देहास्पद हो जाता है। अतः वर्ण-

अयमपि समयादि जनः प्रथमः पञ्जाबीयपरीक्षासु ।
अमुनैव पथा नूनं "मार्गो हि सतां समालम्ब्यः" ॥१२॥
न मया लिखितं दृप्त्यै शिक्षायै किन्तु बालकानाम् ।
विदुषाञ्च विनोदार्थं "सकलजनहितैषिणः सन्तः" ॥१३॥
रत्नाकरेऽप्यलभ्यं रत्नं चेन्नाम बाध्यतां यामः ।
बहुपुण्यैस्तल्लभ्यं "चिन्त्या पुण्याल्पताऽस्मीया" ॥१४॥
सत्स्वप्यत्र गुणरत्नेषु दृष्टचरः स्यान्न कस्यचिज्जन्तोः ।
नाहमुपालम्भपदं "स्व-दृष्टि-दोषोऽपहर्तव्यः" ॥१५॥
व्याकरणरूपसिद्धौ यद्यपि शक्तोऽस्मि भूरि निर्वक्तुम् ।
लिखितं तथापि किञ्चित् "भजेत कालोचितां वृत्तिम्" ॥१६॥
मम यदि स्खलनं किञ्चित् सम्भाव्येत विबुधैस्तदा कृपया ।
संसूच्योऽहं 'निगमः' "सर्वः सर्वं न जानीते" ॥१७॥

सङ्कर दोष से सदा बचो ।

१२—लेखक को भी इन्हीं नियमों के पालन करने से पञ्जाब विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं की प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उचित मार्ग सभी के लिए आश्रयणीय होता है। १३—मैंने यह किसी अभिमान वश नहीं लिखा है, किन्तु बालकों की शिक्षा के लिए लिखा है, और इससे विद्वानों का विनोद भी हो सकेगा। सज्जन का काम सभी का हित करना है। १४—रत्नाकर में पहुँच कर भी यदि कोई रत्न प्राप्ति से वञ्चित रह जाय तो इसमें किसी का क्या दोष है, रत्नप्राप्ति भारी पुण्यों का फल है। इससे तो यही कहना होगा कि अपने ही पुण्यों की कमी है। १५—यदि कोई यहाँ रहते हुए गुणों से भी वञ्चित रह जाय तो इससे मुझे क्या उपालम्भ है। अपनी दृष्टि के दोष को दूर करना उचित होगा। १६—विशेषतः—व्याकरण की रूपसिद्धि के विषय में बहुत विस्तार से भी लिखा जा सकता है। परन्तु परीक्षा समय के औचित्य को ध्यान में रखते हुए परिमित लिखना उचित समझा गया है। १७—सबको सर्वज्ञ होना सम्भव नहीं है, इसलिए यदि हमसे कोई अशुद्धि हो गई हो तो विद्वान् लोग हमें सूचित कर देने की कृपा करेंगे।

विशेष सूचना—शिक्षा-मात्र के लिये तीन वर्ष के ही प्रश्नों के उत्तर लिख गये हैं, इसी रीति से शेष प्रश्नों के उत्तर लिखने का अभ्यास करना चाहिए।

॥ ॐ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ मध्यकौमुदी-प्रश्नोत्तरावलिः ।

सन् १९२६

पञ्जाब-यूनिवर्सिटी-शास्त्रिश्रेणि-मध्यकौमुदी-व्याकरणे प्रश्नाः ।

समयः ३ घण्टाः | पूर्णाङ्काः १००

१—अक्षौहिणी, शिवेहि, आच्छंत्, उत्तम्भनम् , भर्त्राज्ञा, राजाश्वः एषु सन्धिविश्लेषः कार्यः । ८

२—सन् शम्भुः, सुख ऋतः, चक्रिन् अव, षट् सन्तः, सम् राट्, देवास् एते—एतान् ससूत्रनिर्देशं सन्धेहि । १०

अथ उत्तरनिर्देशाः ।

१—अक्षौहिणी—अक्ष + ऊहिनी । शिवेहि—शिव + आ + इहि ।आच्छंत्-आ + ऋच्छत् । उत्तम्भनम्—उद् + स्तम्भनम् । भर्त्राज्ञा—भर्तृ + आज्ञा । राजाश्वः—राज + अश्वः । इत्येवं सन्धिविश्लेषः ।

२—सन् + शम्भु.—अत्र 'शि तुक्' इति नकारस्य वैकल्पिके तुगागमे, तुकः कस्य उकारस्य च इत्संज्ञालोपयोः सतोः, 'सन्त् शम्भुः' इत्यत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन तकारस्य चकारे नकारस्य ञकारे च 'सञ च् शम्भुः' इति जाते 'शश्छोऽटि' इति शकारस्य विकल्पेन छकारः, 'झरो झरी'ति चकारस्य वैकल्पिके लोपे 'सञ्छम्भुः' इति सिद्ध्यति । तुक्-छत्व-च -लोपानां विकल्पैरन्यत्र 'सञ्च्छम्भुः' 'सञ्च्शम्भुः' 'सञ् शम्भुः' इति तेन योजने चत्वारि रूपाणि भवन्ति । यथा चोक्तम्— अच्छौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक्-छत्व-च—लोपानां विकल्पनात् ॥

सुख + ऋतः—इत्यत्र सुखेन ऋतः इति विग्रहः, तृतीयासमासः । 'ऋते च तृतीयासमासे' इति वृद्धिः 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे (आर्) 'सुखार्तः' इति सिद्धम् ।

चक्रिन् + अव—अत्र ङम्-प्रत्याहारान्तर्गतात् नकारात्परस्य अचः = अकारस्य 'ङमो ह्रस्वादचि' इति नुडागमे, उकारटकारयोरित्त्वे लोपे च परसंयोगे 'चक्रिन्नव' इति सिद्धम् ।

१— सभानाम्, विश्वपः, सख्या, अतिलक्ष्म्याम्, सख्युः, गोः, राज्ञाम्, श्रीम्, हे मघो, सुधिना—एते साधनीयाः । १२

षष् + सन्तः—अत्र पदान्तस्य झलः षकारस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति डकारे जशि कृते 'षड् + सन्तः' इति । अथ 'डः सि धुट्' इति सकारस्य विकल्पेन धुडागमे 'षड् ध् सन्तः' इति, तत खरि चेति धकारस्य डकारस्य च चर्त्वे—तकारे टकारे च कृते (नात्र ष्टुना ष्टुरिति तकारस्य टकारः स्यादिति शङ्क्यम्, 'न पदान्ताट्टोरनाम्, इति तन्निषेधात्) 'षटत्सन्तः' पक्षे—'षट् सन्तः' इति ।

सम् + राट्—इत्यत्र 'मो राजि समः क्वौ' इति मकारस्य मकारे एव कृते—'सम्राट्'' इति रूपसिद्धिः । मकारस्य मकारविधानप्रयोजनं तु "मोऽनुस्वारः" इत्यनुस्वारो माभूदिति । अन्यथा—'संराट्' इति स्यात् ।

देवास् + एते-अत्र सकारस्य 'ससजुषोरु'रिति रुत्वे 'भोभगोअघो' इति रोर्यत्वे, 'लोपः शाकल्यस्ये' ति वैकल्पिके यलोपे सति 'देवा एते', पक्षे—'देवायेते' इति ।

१—सभानाम्-सभाशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन स्वाद्युत्पत्तौ सम्बन्धे षष्ठीबहुत्वे बहुवचनम्, 'सभा + आम्, इत्यत्र-'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति—आमो नुडागमे (उटावितौ लुप्तौ) अच्हीनत्वेन परसंयोगे 'सभानाम्' इति सिद्ध्यति ।

विश्वपः विश्वं पातीति विश्वपाः क्विबन्तः, तस्मात् शसि ङसिङसोर्वा (अनुबन्धलोपे) विश्वपा + अस् इत्यवस्थायां 'यचि भम्' इति भसंज्ञा ततश्च 'क्विबन्ता विड्न्ता विजन्ताः क्विबन्ताश्च धातुत्वं न जहतीति' सिद्धान्तानुसारं क्विबन्तस्य धातुत्वेन 'आतो धातोः' इति आकारस्य लोपे परसंयोगे 'विश्वपस्' इति, ततश्च सस्य रुत्वे "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" इति विसर्गः । "विश्वपः" इति सिद्धम् ।

सख्या—सखि-शब्दात् तृतीयैकवचने टा विभक्तौ (अनुबन्धलोपे), घिसंज्ञायाम्—'असखि' इति पर्युदासान्नादेशाऽभावे, 'इको यणचि' इति—इकारस्य यणि—यकारे 'सख्या' इति रूपम् ।

अतिलक्ष्म्याम्—लक्ष्मीमतिक्रान्त इत्यतिलक्ष्मीः, तस्मान्ङौ "प्रथमलिङ्गग्रहणं च" इति सम्मति पुंलिङ्गत्वेऽपि नदीसंज्ञायां 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेराम्, आटि वृद्धौ च 'इको यणचि' इति यणि कृते—'अतिलक्ष्म्याम्' इति सिद्धम् ।

सख्युः—सखिशब्दात्-ङसि-ङसोः (अनुबन्धलोपे), सखि + अस्, इति

४—नदीसंज्ञा-घिसंज्ञाविधिसूत्रे तदपवादनियमसूत्रे च समुल्लिख्य व्याख्येये । ८

जाते, असखीतिपर्युदासाद् घिसंज्ञाऽभावेन गुणाभावे 'इको यणची'ति यणि, सख्यस् इत्यत्र 'ख्यत्यात्परस्य' इति ङसि-ङसोरकारस्य-उत्वे 'सख्युस्' रुत्वे विसर्गे च 'सख्युः' इति ।

गोः—गो-शब्दात् ङसि-ङसोः कृतयोः (अनुबन्धलोपे), 'गो + अस्' इति जाते 'ङसिङसोश्च' इति-अकारस्य पूर्वरूपे सस्य रुत्वविसर्गौ 'गोः' इति ।

राभ्याम्—ऐकारान्ताद् रै-शब्दात् भ्याम्-विभक्तौ 'रै + भ्याम्' इत्यवस्थायाम्-"रायो हलि" इति ऐकारस्य-आत्वे 'राभ्याम्' इति सिद्ध्यति ।

स्त्रीम्—स्त्री-शब्दात् ङीबन्ताद् अम्-विभक्तौ स्त्री + अम्, 'स्त्रियाः' इति नित्यं प्राप्तस्य-इयङः 'वाम्शसोरि'ति विकल्पात् इयङ्, तदभावपक्षे-अमि पूर्वः, इति पूर्वरूपे स्त्रीम्, अन्यत्र स्त्रियम् इति ।

सुधिना—शोभना धीर्यस्य सुधि कुलम् 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वः, तस्मात् टाविभक्तौ (अनुबन्धलोपे) शोभनधीविशिष्टत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तैक्याद् भाषितपुंस्कत्वेन तृतीयादिषु वैकल्पिके पुंवद्भावे, पुंसि यथा 'सुधिया' इति रूपम् तथाऽपि सुधिया-इति इयङ्घटितं रूपम् । पक्षे-असति पुंवद्भावे, आङो नाऽस्त्रियामिति नाऽऽदेशे सुधिना इति रूपम् भवति ।

हे मधो ! मधुशब्दात् सम्बुद्धौ 'मधु + सु' (अनुबन्धलोपे) एङ्ह्रस्वादिति सम्बुद्धिसलोपे हे मधु, इति भवति । अत्र प्रत्ययलक्षणेन ह्रस्वस्य गुणः प्राप्नोति स च 'न लुमताऽङ्गस्ये'ति निषेधेन बाध्यते । परं 'न लुमताङ्गस्ये'ति निषेधस्याऽनित्यत्वेन पक्षे भवति गुणस्तेन 'हे मधो !' इति सिद्ध्यति, यथा हे वारे ! हे वारि ! ।

४—'यू स्त्र्याख्यौ नदी, इति सूत्रम्, ङिति ह्रस्वश्च, इति सूत्रं च नदीसंज्ञाविधायकम् । 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' 'वामि' इति च तदपवादौ ।

एवं घिसंज्ञाविधायकं 'शेषो घ्यसखि' इति सूत्रम्, तत्र नियमसूत्रं च 'पतिः समास एव' इति । अथैतेषां व्याख्या—

यू स्त्र्याख्यौ नदी—यू, स्त्र्याख्यौ, नदी, इति त्रिपदं संज्ञासूत्रमिदम् ईश्च ऊश्चेति यू नियमाचक्षाते—स्त्र्याख्यौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ—इति तात्पर्यम् । तथा चार्थो वृत्तौ स्पष्टः, नित्यस्त्रीलिङ्गौ यावीदूतौ तदन्तयोस्तयोर्वा नदीसंज्ञा भवतीति । यथा—गौरी, वधूः (हे गौरि ! हे वधु !) ।

५—सोऽव्याद्वो नः, शिवं वो नो दद्यात्, सेव्योऽत्र वः नः अत्र प्रश्लिष्टानां सार्थनिर्देशं सविभक्तिप्रदर्शनं स्वान्यादेशौ निरूप्य पथिन्, उदञ्च्, तिर्यञ्च्, सुपथिन्, सुपुंस्-शब्दानां षष्ठीबहुवचने रूपाणि साधुहि। १२

ङिति ह्रस्वश्च—संज्ञासूत्रमिदम्, अत्र 'वामि' इति सूत्रात्—'वा, इत्यनुवर्तते, अप्राप्तविभाषेयम् ह्रस्वयोरप्राप्तौ-इतरयोः 'नेयङुवङ्स्थानावि'ति निषेधप्राप्तावस्यारम्भात्। इयङुवङ्स्थानावस्त्रीति चानुवर्तते, 'यू' इति चापि। स्त्र्याख्याविति च। इयङुवङ्स्थानौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ स्त्री-शब्दाभिन्नौ च-इति दीर्घयोरेव विशेषणानि। ह्रस्वयोस्तु स्त्रियामित्येव विशेषणम्। तथा चायमर्थः—इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ ईदूतौ ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदी संज्ञौ स्तो ङिति परे।

नेयङुवङ्स्थानावस्त्री—स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा इयङुवङ्स्थानौ ईकारोकारान्तौ नदीसंज्ञौ न भवतः (स्त्रीशब्दस्तु भवत्येव)। तेन यत्र—इयङ् उवङ् च न भवति तयोरेव ईदूदन्तयोर्गौरीवध्वादिशब्दयोर्भवेन्नदीसंज्ञा, न श्री—भ्रू-इत्यादीनाम्। तथाच नैषां नदी संज्ञाकार्याणि—हे श्रीः! हे भ्रूः! (नाम्न सम्बुद्धौ ह्रस्वः)।

वामि—पूर्वसूत्रं सम्पूर्णमनुवर्तते, 'आमि वा नदीसंज्ञानिषेधः' इत्यर्थे विशेषता। यथा-श्रियाम्, श्रीणाम्। भ्रुवाम्, भ्रूणाम्।

शेषो घ्यसखि—शेषः घि असखि इति पदच्छेदः। सूत्रमिदं संज्ञाविधायकम्। उक्तादन्यः शेषः, उक्ताऽत्र नदीसंज्ञा तदितरत् अस्याः = घिसंज्ञाया विषयः। असखि = सखिशब्दं वर्जयित्वा। घिसंज्ञाप्रदेशश्च—घेर्ङिति, अत्र घेः-उदाहरणम्- हरेः, हरौ।

पतिः समास एव—पूर्वसूत्रेण प्राप्ता नदीसंज्ञाऽनेन नियम्यते-पतिशब्दस्य यदि घिसंज्ञा स्यात् तर्हि समास एवेति। तेन 'पत्ये' इत्यादौ न घिसंज्ञाकार्याणि, समासे तु 'भूपतये' इति स्यादेव।

५—सः = हरिः, वः = युष्मान्, नः = अस्मान्, अव्यात् = रक्ष्यात्। वः = युष्मभ्यम्, नः = अस्मभ्यम्, शिवम् = कल्याणं दद्यात्। अत्र = संसारे, वः = युष्माकम्, नः = अस्माकम् सेव्यः = सेवनीयः, इत्यर्थः। प्रथमवाक्ये द्वितीयाबहुवचनान्तयोः युष्मान्, अस्मान्, इत्यनयोः 'बहुवचनस्य, वस्,नस्' इत्यादेशयोः वः—नः, इति सिध्यतः। द्वितीयवाक्ये च—'युष्मभ्यम्' 'अस्मभ्यम्' इत्यनयोरप-

६—भूयासम्, नन्द्यात्, अक्रमीत्, तेपतुः, ईडे, आवृत्, बिभराञ्चकार, अह्नाहि, अविभक्तः, अनास्तीत्, व्यापरिष्यते, पुपोष, अपुनक्, उपस्कृतं भुङ्क्ते, अज्ञान, अजीगणत्, एषां मध्येऽन्यतमानि दश रूपाणि साधय। १६

तुर्थी बहुवचनान्तयोः स्थाने वस्-नसादेशयोः सतोः 'वः, नः' इति भवति, तृतीय-वाक्ये तु-युष्माकम्, इति षष्ठीबहुवचनान्तयोः क्रमेण वस्-नसादेशयोः 'वः' 'नः' इति भवति।

पञ्चन्—शब्दस्य षष्ठीबहुवचने पञ्चन्-शब्दादामि 'ष्णान्ताः षट्' इति षट्संज्ञायां 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि 'नोपधायाः' इति उपधादीर्घे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपः '-ञ्चानाम्' इति।

उदक्—शब्दस्य षष्ठीबहुवचने-उदञ्च्+आम्, अनिदितामिति नलोपे (अलोपे) 'अचः, इत्यकारलोपे प्राप्ते 'उद ईत्' इति तस्य ईदादेशे उदीचाम्, इति रूपम्।

तिर्यक्—शब्दस्य षष्ठीबहुवचने तिरस् अञ्च्+आम्, नलोपे, 'अचः' इति अकारलोपे 'स्तोः श्चुना श्चुरि'ति सस्य शकारे 'तिरश्चाम्' इति रूपम्। अत्र तिर्यादेशस्तु न तद्विधौ अलुप्ताकारे इत्युक्तत्वात्।

सुपथिन्—शब्दस्य ष० ब०-सुपथिन्+आम् 'भस्य टेर्लोपः' इति भसं-ज्ञकस्य टेः=इन् इत्यस्य लोपे अज्झीनस्य परसंयोगे 'सुपथाम्' इति रूपम्।

सुपुम्स्—शब्दस्य ष० ब०-सुपुम्स्+आम्, मस्यानुस्वारे सुपुंस्+आम्, अज्झीनस्य परसंयोगे 'सुपुंसाम्' इति रूपम्।

६—भूयासम्—भू-धातोः आशीर्लिङि मिपि "तस्थस्थमिपां" इति मिपो-ऽमि 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुडागमे (अनुबन्धलोपे) भूयास्+अम्, परसंयोगे 'भूयासम्'।

नन्द्यात्—टुनदि समृद्धौ, इति धातुः, तत्रानुबन्धलोपे नद्-इत्यवशिष्यते इदित्वात् 'इदितो नुम् धातोः' इति नुम् भवति। आशीर्लिङि तिपि यासुटि च 'नन्द् यास्+त्' इत्यत्र 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' स-लोपे 'नन्द्यात्' इति रूपम्।

अक्रमीत्—क्रमुधातोः लुङि तिपि अडागमे (अनुबन्धलोपे) शबपवादे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिच् अक्रम्स्+त्, 'स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते'

२—प्रश्नानुसारं दशैव साधिता अवशिष्टाश्च तत्र २ मूले टीकायां चावलोकनीयाः।

इति इडागमे 'अस्तिसिचः' इति-ईडागमे च सलोपे सवर्णदीर्घे, 'अशमीत्' इति रूपं सिध्यति, नचात्र वदव्रजेति वृद्धिः स्यादिति वाच्यम्, 'ह्म्यन्तक्षणश्वसेदिता' तन्निषेधात्।

तेपतुः—तप्धातोर्लिटि प्रथमपुरुषद्विवचने तसि 'परस्मैपदानां णलतुसु'-स्यादिनाऽतुसि 'लिटि धातोरि'ति द्वित्वे 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इति एत्वेऽभ्यासलोपे च कृते सस्य रुत्व विसर्गयोः सतोः 'तेपतुः' इति रूपम्।

ईजे—यजधातोरात्मनेपदे लिटि प्रथमपुरुषैकवचने ते 'यज्+त' इत्यत्र लिट-स्तझयोरिति तकारस्य सर्वादेशे एशि 'यज्+ए' इति। तत्र लिटः 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति एशः कित्त्वेन 'वचिस्वपियजादीनामि'ति यजो यकारस्य सम्प्रसारणे—इकारे द्वित्वे हलादिशेषे सवर्णदीर्घे 'ईजे' इति रूपं भवति।

आदत्—अद्धातोर्लङि तिपि आडागमे इतश्चेति तिप इकारस्य लोपे आट-श्चेति वृद्धौ, शपो लुकि, 'अदः सर्वेषाम्' इति अडागमे 'आदत्' इति रूपं निष्पद्यते।

विदाञ्चकार—विद्धातोर्लिटि तिपि, 'उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' इति आम्, 'आमः' इति लिटो लुक्, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृञोऽनुप्रयोगः, तकारस्य णल्, 'विदाम्+कृ+अ' इत्यवस्थायां कृञो द्वित्वेऽभ्यासे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासककारस्य चकारे, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरायाम्, आमो मस्य 'नश्चे'ति अनुस्वारे परसवर्णे च कृते विदाञ्चकार, इति रूपम्।

जहाहि—ओहाक्-धातोः, ओ-लोपे लोटि, सिपि, शपः श्लुः। 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासहकारस्य झकारः तस्य जकारः सेर्हि, 'जहाहि' इति रूपम्, 'ई हल्यघोः' इतीत्वस्य 'आ च हौ' इति बाधेन आकार एव। पक्षे-ईत्वे जहीहि, 'जहातेश्च' इति-इत्वे 'जहिहि' इत्यपि।

अबिभरुः—भृञ्धातोः लङि अडागमे झौ, जुहोत्यादित्वाद् शपः श्लौ, द्वित्वे 'भृञामित्' इति अभ्यासस्य-इत्वे, आदिहलि शिष्टे भस्य चर्त्वे (बत्वे) 'सिजभ्यस्ते'ति जेर्जुसि, 'जुसि च' इति गुणे 'अबिभरुः' इति रूपम्।

अनात्सीत्—णद्धातोः 'णो नः' इति नत्वे भूते लुङि, तिपि, अटि, च्लौ तस्य सिचि 'अनद्+स्+त्' इत्यवस्थायाम्, 'वदव्रजे'ति वृद्धौ—'अस्तिसिचो' इति ईडागमे दस्य 'खरि च' इति चर्त्वे तत्वम्, 'अनात्सीत्' इति सिद्धम्।

७—वरीवृत्यते, घटयति, चिकीर्षति, पुत्रीयति, पथीनति, स्मर्यते, एतानि सविग्रहप्रदर्शनं साधय। १०

७—वरीवृत्यते—पुनः पुनरतिशयेन वा वर्तते इति 'वरीवृत्यते' इति विग्रहः। 'धातोरेकाचो हलादे'रित्यादिना वृत्-धातोर्यङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋकारस्यात्वे, रपरे, हलादिशेषे 'ववृत् य' इत्यत्र 'रीगृदुपधस्ये'ति अभ्यासस्य रीगागमे सति 'वरीवृत्य' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लटि आत्मनेपदे त-प्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे 'वरीवृत्यते' इति रूपम्।

घटयति—घटं करोति आचष्टे वा इति विग्रहे घट-शब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे, इत्यनेन णिचि 'अतो लोपः' इति-अ-लोपः। (तस्य स्थानिवद्भावादत उपधाया इति न वृद्धिः) धातुत्वे लट्, तिप, शप्, 'घटि अ ति' इति। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशः, 'घटयति' इति सिद्धम्।

चिकीर्षति—कर्तुमिच्छति-इति विग्रहः। कृधातोः 'धातोः कर्मणः' इत्यादिना-इच्छायां, सनि कृ + सन्, इति, 'अज्झनगमां सनि' इति ऋकारस्य दीर्घे 'ऋत इद्धातोः' इति इकारे, रपरे किर् इत्यस्य 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्येषु 'हलि च' इति दीर्घे सस्य षेफरूपे णः परत्वात्षत्वे 'चिकीर्ष' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लटि, तिपि, शपि, पररूपे च सति 'चिकीर्षति' इति रूपम्।

पुत्रीयति—पुत्रमात्मन इच्छति-इति विग्रहः। द्वितीयान्तात् पुत्रशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्प्रत्यये, पुत्र-अम् + (क्य) य, धातुत्वे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपः = अमो लुक्, पुत्रशब्दावयवस्याऽकारस्य च क्यचि च, इति-ईत्वे 'पुत्रीय' इत्यस्मात् कर्तरि लट्, तिप्, शप्, पररूपम् पुत्रीयति, इति।

पथीनति—पन्था इवाचरति-विग्रहः। पथिन्-प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्' इति क्विप् तस्य सर्वापहारी लोपः, 'अनुनासिकस्य क्विझलोः' इति उपधादीर्घे 'पथीन्' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लटि तिपि शपि 'पथीनति' इति सिद्धम्। (अत्रत्यो विशेष एतट्टीकायां २५४ पृष्ठेऽवलोकनीयः)।

स्मर्यते—स्मृधातोः कर्मणि लटि लकारे 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदम्, तङ्, त-प्रत्यये 'सार्वधातुके यक्' इति यकि 'स्मृ यते' इत्यत्र संयोगादित्वेन 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणः, तप्रत्ययस्य टेरेत्वे 'स्मर्यते' इति रूपम्।

८—पचन्ती, यादृशी, कुमारी, क्षत्रियाणी, वामोरूः, एते साधनीयाः। ७

९—समासप्रकरणार्थं विरूप्य तद्भेदान् सोदाहरणान् ससूत्रनिर्देशं निर्दिश। ७

१०—त्वदीयः, श्रेयान्, माहात्म्यम्, गङ्गीभवति—एषु तद्धितप्रत्ययप्रकारान् प्रदर्श्य, उपपदचतुर्थी कारकचतुर्थीविधायकसूत्रे सोदाहरणे वक्तव्ये। १०

८—पचन्ती—पच्-धातोः शतृप्रत्यये 'पचत्' इति स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'उगितश्च' इति ङीप् (ङपावितौ लुप्तौ च) 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुम् 'पचन्ती'। सौ 'हल्ङ्याब्भ्य' इति सुलोपः।

यादृशी—'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' इति कञ्प्रत्यये 'यादृश' इति स्त्रीत्वे 'टिड्ढाणञि' त्यादिना ङीप्, 'यस्येति च' इत्यनेन भस्याऽकारस्य लोपे 'यादृशी' इति (सुलोपादिकं पूर्ववत्)।

कुमारी—बाल्यवाचकात् कुमारशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'वयसि प्रथमे' इति ङीप्, 'कुमारी' इति ('ङ्याप्प्रातिपदिके'ति स्वाद्युत्पत्तिः, सौ हल्ङ्याब्भ्य इति तस्य लोपः)।

क्षत्रियाणी—क्षत्रियशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे' इति ङीष् वैकल्पिकः, आनुगागमश्च, (अनुबन्धलोपे) नस्य णत्वं 'क्षत्रियाणी' (स्वादिकार्यं पूर्ववत्)।

वामोरूः—वामौ ऊरू यस्याः, इति विग्रहे वामोरुशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' इति ऊङ्प्रत्यये सवर्णदीर्घः 'वामोरूः' इति रूपम्। (अत्र प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्, इति स्वाद्युत्पत्तिर्बोध्या)।

९—(अस्य प्रश्नस्योत्तरम् ४०० पृष्ठे मूले टीकायां च स्पष्टम्, तत्रैवावलोकनीयम्, तत्र समासोदाहरणे सूत्रनिर्देशश्च प्रकरणे स्फुट एवेति)।

१०—त्वदीयः—त्वाऽयं 'त्वदीयः' अत्र युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां 'खञ् च' इति [illegible] छस्य ईयादेशः, 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य [illegible] 'त्व' इत्यादेशः, 'अतो गुणे' इति [illegible] 'त्वदीयः' इति रूपम् (स्वादिकार्यं पूर्ववत्)।

श्रेयान्—[illegible]

मध्यकौमुदी-प्रश्नोत्तरावलिः ।

सन् १९३०

समयः ३ घण्टाः पूर्णाङ्काः १००

सूचना—तत्तद्रूप-साधकसूत्र-विशेषाणां साकल्येन प्रदर्शने एवाङ्कलाभो भविता ।

१—मनीषा, गवेन्द्रः, विष्णो इति, बिम्बोष्ठः, मणीव, पुना रमते, एषु सन्धीन् विश्लेषय । ८

ईयसुन्-प्रत्ययः (अनुबन्धलोपे) ईयस् इति शिष्यते 'प्रशस्यस्य श्रः' इति प्रकृतेः श्रादेशे 'यस्येति च' इति अकारलोपे प्राप्ते 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावे 'आद्गुणः' इति गुणे च 'श्रेयस्' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वाद् भवन्ति स्वादयः, प्रथमैकवचने सौ नुम्, दीर्घः 'श्रेयान्' इति सिध्यति ।

ब्राह्मण्यम्—ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यम्, ब्राह्मणशब्दात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति सूत्रेण ष्यञ्प्रत्यये (अनुबन्धलोपे) 'यस्येति चे'ति अलोपे 'ब्राह्मण्यम्' इति रूपम् (स्वाद्युत्पत्तिः स्फुटा) ।

गङ्गीभवति—अगङ्गा गङ्गा सम्पद्यते इति गङ्गीभवति । अभूततद्भावे 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यमाने कर्तरि च्विः' इति सूत्रेण च्विप्रत्ययः, तस्य सर्वापहारिलोपे, 'अस्य च्वौ' इति सूत्रेणाऽऽकारस्य ईत्वे 'गङ्गीभवति' इति रूपम् ।

उपपदचतुर्थीविधायकं— सूत्रम्—'नमः - स्वस्ति—स्वाहा—स्वधाऽलं—वषड्—योगाच्चे'ति । इदं च सूत्रं नम आदिपदानां योगे चतुर्थीं विदधाति, यथा—हरये नमः, स्वस्ति गुरुभ्यः, इन्द्राय स्वाहा, इत्यादि ।

कारक-चतुर्थी-विधायकं-सूत्रम्—'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति । अत्र कारके इत्यधिकारादियं कारकचतुर्थी, उदाहरणं यथा—विप्राय गां ददाति इति ।

१—मनस् + ईषा = मनीषा, (अत्र टेः पररूपम्, शकन्ध्वादिषु इति) गो + इन्द्रः = गवेन्द्रः, (अत्र 'इन्द्रे च' इत्यवङि गुणः) विष्णो + इति = विष्णो इति, (अत्र 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' इति पाक्षिकप्रकृतिभावाऽभावपक्षेऽव्, वलोपश्च) । बिम्ब + ओष्ठः = बिम्बोष्ठः, (अत्र 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति विकल्पेन पररूपे रूपम्) मणी + व = मणीव,—(नात्र इवशब्दो येन प्रगृह्यत्वे प्रकृतिभावप्राप्तिः स्यात् किन्तु इवार्थे व—शब्दः वा—शब्दो वा ज्ञेयः) । पुनर् + रमते = पुना रमते (अत्र 'रोरि' इति रेफलोपे, 'ढ्रलोपे०' इति पूर्वस्याकारस्य दीर्घः) ।

२—घन + ऋद्धिः, उप + एति, अमी + ईशाः, सर्पिस् + कल्पम्, शिव + छाया, श्वस् + आगन्ता, एषु साधकसूत्रैः सन्धयः प्रदर्शनीयाः । ८

३—पूर्वेषाम्, द्वितीयस्मै, कति, गाम्, त्रिसृणाम्, कलाविदे, मरुद्भ्याम्, युष्मभ्याम्, एतान् प्रसाध्य 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषार्थो वक्तव्यः । १८

२—घन + ऋद्धिः = घनर्द्धिः—अत्र 'आद्गुणः' इत्यनेनाऽकारे गुणे, 'उरण् रपरः' इति रपरे सति 'घनर्द्धिः' इति रूपं भवति ।

उप + एति = उपैति—अत्र 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिं बाधित्वा 'एङि पररूपम्' इति पररूपं प्राप्तम्, तच्चापि बाधित्वा 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः । 'उपैति' इति रूपम् ।

अमी + ईशाः = अमी ईशाः—अत्र सवर्णदीर्घः प्राप्तः, परम् 'अदसो मात्' इति प्रगृह्यत्वेन 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावो भवति, तथा च 'अमी ईशाः' इत्येवावतिष्ठते ।

सर्पिस् + कल्पम् = सर्पिष्कल्पम्—अत्र सस्य रुत्वे (अनुबन्धलोपे) रेफस्य 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे 'इणः षः' इति सूत्रेण षत्वम् ।

शिव + छाया = शिवच्छाया 'छे च' इत्यनेन तुक् (उकावितौ) 'शिवत् + छाया' इत्यत्र 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन तकारस्य दकारे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति दकारस्य जकारे 'खरि चे'ति जकारस्य चकारे परसंयोगे 'शिवच्छाया' ।

श्वस् + आगन्ता = श्व आगन्ता—सस्य रुत्वे 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इति रोर्यत्वे 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपे रूपं 'श्व आगन्ता' इति ।

३—पूर्वेषाम्—पूर्वशब्दः सर्वनामसंज्ञः, तस्मादामि 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सूत्रेण आमः सुडागमः (उटावितौ) 'सर्व + स् आम्' इत्यत्र 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे सस्य षत्वे 'पूर्वेषाम्' इति रूपम् ।

द्वितीयस्मै—द्वेस्तीयप्रत्यये द्वितीयशब्दः, तस्मात् ङेविभक्तौ 'तीयस्य ङित्सु वा' इति विकल्पेन सर्वनामत्वे 'सर्वनाम्नः स्मै' इति ङे-विभक्तेः 'स्मै' इत्यादेशे 'द्वितीयस्मै' पक्षे 'द्वितीयाय' रूपम् ।

कति—किमो डतिप्रत्यये कतिशब्दः, स च बहुविषयकप्रश्नवाचक इति

४—अनडुह् , पूषन् , अर्वन् , अस्मद् , महत् , विद्वस् , मद्गु ,
सुपथिन् , एषां प्रथमाद्विवचनं रूपाणि साधय। १४

नित्यं बहुवचनान्तः। जसि प्रत्यये शसि वा 'डति च' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जस्-शसोर्लुकि 'कति' इति रूपं भवति।

गाम्—गोशब्दात् द्वितीयैकवचनेऽमि 'गो + अम्' इत्यवस्थायां 'औतोऽम्शसोः' इति पूर्वपरयोराकारैकादेशे 'गाम्' इति रूपम्।

तिसृणाम्—त्रित्वविशिष्टवाचकस्य त्रिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गविवक्षायां 'तिसृ' इत्यादेशे ऋकारान्तत्वाद् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि प्राप्ते 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इति तन्निषेधः। अथ षष्ठीबहुवचने' तिसृ + आम्' इत्यत्र 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति आमो नुटि (अनुबन्धलोपे) 'नामी'ति दीर्घः प्राप्तः, तस्य च 'न तिसृचतसृ' इति निषेधः। 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'तिसृणाम्'।

अनादिने—न विद्यते आदिर्यस्य तत् (ब्रह्म) अनादि, तस्मात् ङे-विभक्तौ 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि 'अनादिने' इति रूपम् , पुंवद्भावपक्षे च 'अनाद्ये' इति।

प्ररिभ्याम्—प्रकृष्टो राः = धनं यस्य तत्कुलं 'प्ररि' 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति सूत्रेण 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति ऐस्थाने सूत्रं सहकृत्य इकारो ह्रस्वः। ततो 'भ्याम्' विभक्तौ, 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति न्यायेन 'रायो हलि' इत्यात्वे 'प्रराभ्याम्' इति रूपं भवति।

धुग्भ्याम्—'दुह् + भ्याम्' 'दादेर्धातोर्घः' इति हकारस्य घकारे 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति व्यपदेशिवद्भावाद् दकारस्य धकारे, घस्य च जश्त्वेन गत्वे 'धुग्भ्याम्' इति रूपं सिध्यति।

व्यपदेशिवदेकस्मिन्—एकस्मिन् = केवलेऽपि व्यपदेशिवत् = मुख्यवदिति-अक्षरार्थः। तात्पर्यं च 'देवदत्तस्य-एकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः' इति लौकिकाभाणके स्पष्टम्।

एकदेशविकृतमनन्यवत्—एकदेशविकारेऽपि पदार्थस्य नान्यत्वमिति स्थूलोऽर्थः। तथा चाभणन्ति लोकाः 'नहि छिन्नपुच्छः श्वा-अश्वो गर्दभो वा भवति' इति।

४—अनडुह्—शब्दस्य प्रथमाद्विवचने रूपम्-'अनड्वाहौ' इति-अनडुह् + औ, इत्यत्र 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि यणादेशे उकारस्य वत्वे सति 'अनड्वाहौ'।

४—अभुवन् , अभूवन् , अपश्यन् , अगमन् , बेरतुः, सखीनं,
बोढा, जघान, प्रबीत, बिभयाञ्चकार, शेमतुः, दुग्धोंति,
कीर्यात् , हिनस्ति, अस्तनीत , मन्त्रयते, स्तुत्वा, अभिक्षुष्य,

---

पूषन्—शब्दस्य प्र० द्वि० 'पूषणौ' इति 'पूषन् + औ' इत्यत्र 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति उपधादीर्घः प्राप्नोति, स च 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' इति नियमेन न भवति, नस्य णत्वे कृते परसंयोगे 'पूषणौ' इति ।

अर्वन्—शब्दस्य प्र० द्वि० 'अर्वन्तौ'—'अर्वन् + औ' इत्यत्र 'अर्वणस्त्रसावनञः' इति त्रन्तादेशो (अनुबन्धलोपे) 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि (अनुबन्धलोपे) नस्यानुस्वारपरसवर्णौ परसंयोगे 'अर्वन्तौ' इति रूपम् ।

अस्मद्—शब्दस्य प्र० द्वि० 'आवाम्' इति-'अस्मद् + औ' इत्यत्र औकारस्य 'ङेप्रथमयोरम्' इति अमादेशे, अस्मदश्च मपर्यन्तभागस्य 'युवावौ द्विवचने' इति आवादेशे-आवाद् + अम् , इत्यवस्थायाम्-'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' दकारस्याऽकारादेशे सवर्णदीर्घे च 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे, 'आवाम्' इति भवति ।

महत्—शब्दस्य प्र० द्वि० 'महान्तौ' इति-'महत् + औ' इत्यत्र-उगित्वान्नुम् , (अनुबन्धलोपः) महन् त् + औ, इति, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्यकारस्य दीर्घः, परसंयोगः 'महान्तौ' इति ।

विद्वस्—शब्दस्य प्र० द्वि० 'विद्वांसौ' इति-विद्वस् + औ, इत्यत्र उगित्वान्नुम् , 'विद्वन् स् + औ' सान्तसंयोगत्वाद् दीर्घः, नकारस्य च 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारः 'विद्वांसौ' इति ।

अदस्—शब्दस्य प्र० द्वि० 'अमू' इति- 'अदस् + औ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे पररूपे (अद + औ) 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अदौ' इति जाते 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इति औकारस्य ऊत्वे दस्य च मत्वे 'अमू' इति रूपम् ।

सुपथिन्—शब्दस्य प्र० द्वि० 'सुपथी' इति—शोभनः पन्था यस्य तत्सुपथि, 'सुपथिन् + औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इति औकारस्य 'शी' भ-संज्ञायां 'भस्य टेर्लोपः' इति टेः = 'इन्' इत्यस्य लोपे परसंयोगे 'सुपथी' इति रूपम् ।

५—अभूवन्—भूधातोर्लुङ्, अडागमे भौ परतः, 'झोऽन्तः', इत्यन्तादेशे, इकारलोपे तकारलोपे च 'अभू + अन्' इति स्थितौ 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति सिद्धमेतत्

गन्तुम्, घातुकः, एवं यथाभिप्रेतं दश रूपाणि साधय। १६

सिचि, सिचश्च 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु'ति लोपे 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति वुगागमे (उकावितौ) 'अभूवन्' इति रूपम्।

अपश्यन्—दृश् धातोर्लुङि, अटि झिप्रत्यये अन्त्यादेशे संयोगान्तत्वेन सकारस्य लोपे शपि च सति 'अदृश् अ अन्' इति स्थितौ 'पाघ्राध्मा' इत्यादिसूत्रेण धातोः पश्यादेशे पररूपे 'अपश्यन्' इति रूपम्।

अगमन्—गम्धातोर्लुङि झिप्रत्यये धातोरडागमे झेरन्तादेशे 'इतश्च' इति इकारलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे (अगम् + अन्) इति स्थितौ च्लौ तस्य सिचि प्राप्ते 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' इति तद्बाधके अङादेशे पररूपे 'अगमन्' इति सिद्धम्।

तेरतुः—तॄधातोर्लिटि प्रथमपुरुषद्विवचने तसोऽतुसादेशे "लिटि धातोरनभ्यासस्य" इति द्वित्वे पूर्वस्य अभ्याससंज्ञायाम्, अभ्यासोत्तरस्य 'ऋच्छत्यॄताम्' इति गुणे 'तॄफलभजत्रपश्च' इति अभ्यासलोपे अकारस्य एकारे च सस्य रुत्वविसर्गयोः "तेरतुः' इति रूपम्।

जघान—हन्धातोर्लिटि तिपो णलादेशे द्वित्वे 'हलादिः शेषे' च 'हहन् + अ' इति स्थितौ 'कुहोश्चुः' इत्यनेन अभ्यास-हकारस्य झकारे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन जकारे 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इति हस्य घकारे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'जघान' इति रूपम्।

शेमतुः—शम्धातोर्दिवादिगणपठितात् लिटि प्रथमपुरुषद्विवचने अतुसि द्वित्वे 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इति अभ्यासलोपे अकारस्य एत्वे च सति सस्य रुत्वविसर्गयोः 'शेमतुः' इति रूपम्।

दुनोति—उपतापार्थकात् स्वादिगणपठितात् दुधातोर्लटि शबपवादे श्नुप्रत्यये शस्येत्वलोपयोः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'दुनोति' इति रूपम्।

स्तुत्वा—स्तुधातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा' क्त्वः कित्वात् क्ङिति च, इति गुणनिषेधे 'स्तुत्वा' इति रूपम्। इह 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इण्निषेधः।

१ (प्रश्नानुसारं दशैव प्रयोगाः साधिताः शिष्टाश्च तत्र तत्र मूले टीकायां व्याख्यातव्याः)।

६—'सनाद्यन्ता धातवः' इति सूत्रे सनादयः के ? कैः सूत्रैस्ते विधीयन्ते ? कानि तेषामुदाहरणानि ? इति विशदय । १२

७—सर्विका, इत्वरी, भ्रकुः, त्वकी, इन्द्राणी, एषु स्त्रीप्रत्ययान्

मन्तुम्—इह 'तुमुन्-ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति सूत्रेण मन्धातोः तुमुन् प्रत्यये (अनुबन्धलोपे मस्यानुस्वारे तस्य च परसवर्णे) 'मन्तुम्' इति रूपम् । इदं च 'कृन्मेजन्तः' इति सूत्रेण मान्तत्वात् अव्ययम् ।

घातुकः—अत्र 'लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्' इति सूत्रेण हन्-धातोरुकञ्प्रत्यये उपधावृद्धौ 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति नस्य तकारादेशे हस्य च 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इत्यनेन घकारे स्वाद्युत्पत्तौ रुत्वविसर्गयोः 'घातुकः' इति रूपम् ।

६—'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इत्यारभ्य 'कर्मणो णिङ्' इति सूत्रपर्यन्ता द्वादश सनादयः, तेषां चायं संग्रहश्लोकः—

'सन्-क्यच् काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाचारक्विप्-णिचौ तथा ।
यगाय-ईयङ्-णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः ॥

अथैतद्विधायकानि सूत्राणि उदाहरणानि च प्रदर्श्यन्ते—

सनादि—	विधायकसूत्राणि	उदाहरणानि ।
सन्—	"धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" ।	पिपठिषति ।
क्यच्—	"सुप आत्मनः क्यच् " इत्यादीनि ।	पुत्रीयति ।
काम्यच्—	"काम्यच्" इति सूत्रम् ।	पुत्रकाम्यति ।
क्यङ्—	"कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" ।	कृष्णायते ।
क्यष्—	"लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" ।	लोहितायति, लोहितायते ।
क्विप्—	"सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः" इति वार्तिकम् ।	कृष्णति ।
णिच्—	"सत्यापपाशरूपवीणा" इत्यादि सूत्रम् ।	पाशयति, चोरयति ।
यङ्—	"धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्"	बोभूयते ।
यक्—	"कण्ड्वादिभ्यो यक्" ।	कण्डूयते-ति ।
आय—	"गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः" ।	गोपायति ।
ईयङ्—	"ऋतेरीयङ्"	ऋतीयते ।
णिङ्—	"कमेर्णिङ् " ।	कामयते ।

७—सर्विका—सर्वनाम्नः सर्वशब्दात् अकच्प्रत्यये 'सर्वक' इत्यस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' इति

प्रत्यर्थं, उपकुम्भम्, राजपुरुषः, पीताम्बरः, हरिहरौ, पञ्चगवम् एषु समाससूत्राणि निर्दिश। १४

८—सुधां क्षीरनिधिं मन्थति, शत्रून् स्वर्गं गमयति, अक्षान् दीव्यति,

---

सूत्रेण वकाराकारस्य इत्वे आबन्तत्वात् स्वाद्युत्पत्तौ सुलोपे 'सर्विका' इति रूपम्।

इत्वरी—इण्-धातोः 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' इति क्वरबन्तात् इत्वर-शब्दात् स्त्रीलिङ्गविवक्षायां 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इति ङीप्प्रत्यये (अनुबन्धलोपे) 'यस्येति च' इति अकारलोपे च सौ तल्लोपे च 'इत्वरी' इति रूपम्।

श्वश्रूः—'श्वशुरस्य स्त्री' इति स्त्रीत्वविवक्षायां श्वशुर-शब्दात् 'श्वशुरस्य उकाराकारलोपश्च' इति ऊङ्प्रत्यये उकाराकारलोपयोश्च कृतयोः लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्वाद्युत्पत्तौ रुत्वे विसर्गे च 'श्वश्रूः' इति रूपम्।

स्थली—अकृत्रिमार्थात् स्थलशब्दात् 'जानपदकुण्डगोणस्थल' इत्यादिना सूत्रेण ङीष्प्रत्यये (अनुबन्धलोपे) 'यस्येति च' इति भस्याकारस्य लोपे 'स्थली' इति रूपम्।

इन्द्राणी—'इन्द्रस्य स्त्री' इति पुंयोगे स्त्रीत्वविवक्षायाम् इन्द्रशब्दात् 'इन्द्र-वरुणभवशर्वरुद्रमृड' इत्यादिसूत्रेण ङीष्प्रत्यये आनुगागमे (अनुबन्धलोपे) नस्य णत्वे 'इन्द्राणी' इति।

उपकुम्भम्—अत्र कुम्भस्य समीपे इति सामीप्यार्थे 'अव्ययं विभक्तिसमीप' इत्यनेन सामीप्यार्थे अव्ययीभावः समासः।

राजपुरुषः—अत्र 'राज्ञः पुरुषः' इति विग्रहे 'षष्ठी' इति सूत्रेण तत्पुरुषसमासः।

पीताम्बरः—अत्र 'पीतानि अम्बराणि यस्ये'ति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासः।

हरिहरौ—अत्र हरिश्च हरश्च इति विग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इति सूत्रेण समासः

पञ्चगवम्—'पञ्चानां गवां समाहारः' इति विग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' च इति सूत्रेण समासः।

८—सुधां क्षीरनिधिं मन्थति—इह अपादानत्वाविवक्षायां 'अकथितं च' इत्यनेन क्षीरनिधेः कर्मत्वे 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया। सुधायाः मुख्यं कर्मत्वमेव इति तत्रापि द्वितीया। (अस्यायाः १७८ पृष्ठे टीकायां द्रष्टव्यः)

वृक्षमनु, वृक्षात्पतति, ग्रामात् प्राक्, एषु सप्तमार्थं कारक-
विभक्तिमुपपदविभक्तिं च विवेचयत। १०

मध्यकौमुदी-प्रश्नोत्तरावलिः।

सन् १६३१

समयः ३ घण्टाः पूर्णाङ्काः १००

१—(क) प्रत्याहारसूत्रेषु हकारस्य द्विरुपादानं किमर्थम्? २

(ख) सवर्ण, पद, उपधा, अवसान, संज्ञाविधायकसूत्राणि उदाहरणानि च प्रतिपादयत। ५

शत्रून् स्वर्गं गमयति—शत्रवः स्वर्गं गच्छन्ति, तांश्च कश्चित् प्रेरयति इति शत्रून् स्वर्गं गमयति, अत्र 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इत्यनेन अण्यन्तावस्थाया कर्तारः शत्रवः ण्यन्तावस्थायां कर्मत्वं भजन्ते। 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया। स्वर्गन्तु मुख्यमेव कर्म इति तत्रापि द्वितीया।

अक्षान् दीव्यति—अत्र 'दिवः कर्म च' इति सूत्रेण अक्षाणां कर्मत्वे करणत्वे च 'द्वितीया तृतीया' च भवति।

वृक्षमनु—अत्र 'अनोर्लक्षणे' इति अनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इत्यनेन द्वितीया। (इयमुपपदविभक्तिः, पूर्वास्तु सर्वाः कारकविभक्तयः)।

वृक्षात्पतति—अत्र "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इति वृक्षस्य अपादानसंज्ञा, 'अपादाने पञ्चमी' इत्यनेन पञ्चमीविभक्तिः। (इयं कारकविभक्तिः)।

ग्रामात्प्राक्—अत्र 'अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इत्यनेन प्राक्-शब्दयोगे पंचमी। (इयमुपपदविभक्तिः)।

१—(क) अर्हेण इत्यत्र णत्वार्थं प्रथमहकारग्रहणम्, अधुक्षत् इत्यत्र क्स-विधानार्थञ्च द्वितीयग्रहणम्। तथा चोक्तम्—

> 'हकारो द्विरुपात्तोऽयमटि शल्यपि वाञ्छता।
> अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति॥'

(अमत्यो विशेषः ३ पृष्ठे टीकायां द्रष्टव्यः।)

(ख) संज्ञा	सूत्रम्	उदाहरणम्।
सवर्णः,	तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्,	दैत्यारिः।
पदम्,	सुप्तिङन्तं पदम्,	रामः, भवति।

२—(क) गो + अक्षः, मनस् + ईषा, कस्मिन् + चित्, निर् + रोगः, कुर्वन् + अपि । एषु ससूत्रं संहिता कार्या । ५

(ख) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्, विप्रतिषेधे परं कार्यम्, पूर्वत्रासिद्धम्, येनाह्रविकारः, स्वतन्त्रः कर्ता । इयं पञ्चसूत्री सुव्यक्तं सोदाहरणं व्याख्यायताम् ५

उपधा , अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा, सखा ।

अवसानम् , विरामोऽवसानम् , रामः ।

२—गो + अक्षः—इत्यत्र 'अवङ् स्फोटायन' इति ओकारस्य अवङि ङकारस्य इत्संज्ञालोपयोः सवर्णदीर्घे 'गवाक्षः' इति सिध्यति ।

मनस् + ईषा—इत्यत्र टिसंज्ञकस्य 'अस्' इत्यस्य 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे 'मनीषा' इति सिध्यति ।

कस्मिन् + चित् – 'नश्छव्यप्रशान्' इति नस्य रुत्वे ततः पूर्वं विकल्पे अनुनासिके पक्षे अनुस्वारे (अनुबन्धलोपे) रेफस्य 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे तस्य 'विसर्जनीयस्य सः' इति सत्वे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति सस्य शकारे 'कस्मिँश्चित् , कस्मिंश्चित्' इति सिद्धम् ।

निर् + रोगः—'रो रि' इति रेफलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घे 'नीरोगः' इति सिद्धम् ।

कुर्वन् + अपि—'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' इति नुटि (अनुबन्धलोपे) 'कुर्वन्नपि' इति सिद्धम् ।

(ख) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्—संज्ञासूत्रमिदम्, अर्थवत्, अधातुः, अप्रत्ययः, प्रातिपदिकम् इति परिच्छेदः, प्रातिपदिकम् , इति संज्ञा, अवशिष्टं संज्ञि, न धातुः अधातुः, न प्रत्ययः, अप्रत्ययः प्रत्ययशब्देन च प्रत्ययप्रत्ययान्तौ च गृह्येते, तथा चायमर्थः (धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् । यथा अव्युत्पन्नप्रातिपदिकानि डित्थादीनि) ।

विप्रतिषेधे परं कार्यम् – परिभाषासूत्रमिदं, विप्रतिषेधः = तुल्यबलविरोधः (अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशयोरेकत्र समावेशः तुल्यबलविरोधः) तत्र तुल्यबलविरोधे परं = परशास्त्रविहितं कार्यं स्यादित्यर्थः । यथा—मनोरथ इत्यत्र ।

पूर्वत्रासिद्धम्—अधिकारोऽयम् , अष्टमाध्यायस्य द्वितीयपादस्यादिमं सूत्रमिदम् , तत्र पूर्वत्र असिद्धमित्याह, तथा चेदं तात्पर्यं, सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद-

३—अधस्तनवाक्यानि संशोधनीयानि, प्रमाणानि च देयानि।
(क) हरिः स्वर्गमासते। (ख) विष्णुः शेषं शेरते।
(ग) भवान् कुत्र गच्छसि। (घ) धिक् मूर्खेभ्यः ६
४—(क) पति, मति, विद्वस्, भवत्, (पुं०) शब्दानां सप्तसु विभक्तिषु रूपाणि संलिखत। १२

सिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परशास्त्रमसिद्धं भवति। यथा—'प्रशान्' इत्यत्र।

येनाङ्गविकारः—विधिसूत्रमिदम्; अङ्गशब्देन अङ्गी लक्ष्यते, अयमस्यार्थः, येनाङ्गेन विकृतेन अङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्, यथा अक्ष्णा काणः।

स्वतन्त्रः कर्ता—संज्ञासूत्रमिदम्, कर्ता इति संज्ञा, स्वतन्त्रः इति संज्ञी, अर्थश्चायम्, क्रियाया स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यादिति। स गच्छति।

३—(क) हरिः स्वर्गमासते—अत्र हरिः कर्ता एकवचनान्तः, तथा च 'आस्ते' इत्यत्र क्रियायामपि एकवचनमेव स्यात्, किञ्च अधिपूर्वकस्यैव आसधातोराधारस्य "अधिशीङ्स्थासां कर्म" इति सूत्रेण कर्मसंज्ञा नान्यत्र, तथा च आधारे सप्तम्येव स्यात्। 'हरिः स्वर्गे आस्ते' इति शुद्धम्।

(ख) विष्णुः शेषं शेरते—अत्र विष्णु कर्ता एकवचनान्तः, क्रियायामपि एकवचनेनैव भाव्यम्, अधिपूर्वकत्वाभावात् पूर्ववत्रापि कर्मत्वं युज्यते तथा च 'विष्णुः शेषे शेते' इति शुद्धम्।

(ग) भवान् कुत्र गच्छसि—अत्र भवान् इति कर्ता प्रथमपुरुषः, तथा च क्रियायामपि प्रथमपुरुषेणैव भाव्यम्, 'भवान् कुत्र गच्छति' इति शुद्धम्।

(घ) धिक् मूर्खेभ्यः—अत्र धिक्-शब्दयोगे 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु' इत्यनेन द्वितीयाविधानात् 'धिङ् मूर्खान्' इति शुद्धम्, ककारस्य ङकारश्च।

४—(क) पति-शब्दस्य रूपाणि—

प्र०	पतिः,	पती,	पतयः।	पं०	पत्युः,	पतिभ्याम्,	पतिभ्यः।
द्वि०	पतिम्,	,,	पतीन्।	ष०	,,	पत्योः	पतीनाम्।
तृ०	पत्या,	पतिभ्याम्,	पतिभिः।	स०	पत्यौ,	,,	पतिषु।
च०	पत्ये,	,,	पतिभ्यः।	सं०	हे पते!,	हे पती!,	हे पतयः!।

मति—शब्दस्य रूपाणि—(६६ पृष्ठे टीकायाम् अवलोकनीयानि)।

(ख) ब्रू, कृ, दृश, ग्रह, सेव, धातूनां लङि लुङि च प्रथमपुरुषरूपाणि यथाशास्त्रं साधयत । एतेषामेव धातूनां लटि रूपाणि लिखत । २०

विद्वस्-शब्दस्य रूपाणि—

प्र० विद्वान्,	विद्वांसौ,	विद्वांसः ।	
द्वि० विद्वांसम्,	,,	विदुषः ।	
तृ० विदुषा,	विद्वद्भ्याम्,	विद्वद्भिः ।	
च० विदुषे,	,,	विद्वद्भ्यः ।	
पं० विदुषः,	विद्वद्भ्याम्,	विद्वद्भ्यः ।	
ष० ,,	विदुषोः,	विदुषाम् ।	
स० विदुषि,	विदुषोः,	विद्वत्सु ।	
सं० हे विद्वन् ! शेषं प्रथमावत् ।			

अदस्-शब्दस्य रूपाणि (पुंसि)—

प्र० असौ,	अमू	अमी ।
द्वि० अमुम्,	,,	अमून् ।
तृ० अमुना,	अमूभ्याम्,	अमीभिः ।
च० अमुष्मै,	,,	अमीभ्यः ।
पं० अमुष्मात्,	अमूभ्याम्,	अमीभ्यः ।
ष० अमुष्य,	अमुयोः,	अमीषाम् ।
सं० अमुष्मिन्,	,,	अमीषु ।

त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ।

(ख) ब्रू-कृ-दृश्-ग्रह-सेव-धातूनां लङि लुङि च रूपसिद्धिस्तु तत्र तत्र मूले टीकायां च द्रष्टव्या । लटि सर्वेषां रूपाणि तु लिख्यन्ते—

ब्रू-धातोर्लटि रूपाणि—

(परस्मैपदे)			(आत्मनेपदे)		
आह, / ब्रवीति,	आहतुः, / ब्रूतः,	आहुः । / ब्रुवन्ति ।	ब्रूते	ब्रुवाते,	ब्रुवते ।
आत्थ, / ब्रवीषि,	आहथुः, / ब्रूथः,	ब्रूथ ।	ब्रूषे,	ब्रुवाथे,	ब्रूध्वे ।
ब्रवीमि,	ब्रूवः,	ब्रूमः ।	ब्रुवे,	ब्रूवहे,	ब्रूमहे ।

कृ-धातोर्लटि रूपाणि—

(परस्मैपदे)			(आत्मनेपदे)		
करोति,	कुरुतः,	कुर्वन्ति ।	कुरुते,	कुर्वाते,	कुर्वते ।
करोषि,	कुरुथः,	कुरुथ ।	कुरुषे,	कुर्वाथे,	कुरुध्वे ।
करोमि,	कुर्वः,	कुर्मः ।	कुर्वे,	कुर्वहे,	कुर्महे ।

दृश्-धातोर्लटि रूपाणि—

पश्यति पश्यतः पश्यन्ति । पश्यसि पश्यथः पश्यथ । पश्यामि पश्यावः पश्यामः ।

५—(क) कारकस्य किं स्वरूपम्? कतिविधं च तत्? कानि च तेषां नामानि? सम्बन्धस्य कथं न कारकत्वम्? निर्धारणशब्दस्य कोऽर्थः? इति सर्वं स्फुटं लिखत। ५

(ख) ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, तिलेषु तैलम्, गां दोग्धि पयः, मुक्तये हरिं भजति, एषु कस्मिन्नर्थे का का विभक्तिः प्रयुज्यते? ५

६—(क) गम्, पा, स्था, धा, भू, धातूनां क्तान्त-तुमुन्नन्तप्रयोगान् वाक्येषु व्यवहृत्य दर्शयत।

ग्रह्-धातोर्लटि रूपाणि—

(परस्मैपदे)			(आत्मनेपदे)		
गृह्णाति	गृह्णीतः	गृह्णन्ति।	गृह्णीते	गृह्णाते	गृह्णते।
गृह्णासि	गृह्णीथः	गृह्णीथ।	गृह्णीषे	गृह्णाथे	गृह्णीध्वे।
गृह्णामि	गृह्णीवः	गृह्णीमः।	गृह्णे	गृह्णीवहे	गृह्णीमहे।

सेव-धातोर्लटि रूपाणि—

सेवते सेवेते सेवन्ते। सेवसे सेवेथे सेवध्वे। सेवे सेवावहे सेवामहे।

५—(क) क्रियाजनकत्वं कारकत्वमिति कारकस्य स्वरूपम्। षड्विधं च तत्, यथा—

"कर्ता कर्म च करणं च संप्रदानं तथैव च।
अपादानाऽधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट्॥"

क्रियाजनकत्वाभावात् सम्बन्धस्य न कारकत्वम्। निर्धारणं च समुदायादेक-देशस्य पृथक्करणम्।

(ख) ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—अत्र ऋतेशब्दयोगे "अन्यारादितरर्ते दिक्-शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इति सूत्रेण 'ज्ञानात्' इति पञ्चमी।

तिलेषु तैलम्—अत्राऽभिव्यापकाधारे 'तिलेषु' इति 'सप्तम्यधिकरणे च' इत्य-नेन सूत्रेण सप्तमीविभक्तिः।

गां दोग्धि पयः—इह गोरपादानत्वाऽविवक्षायाम् 'अकथितं च' इत्यनेन कर्मत्वे 'कर्मणि द्वितीया' इत्यनेन द्वितीयाविभक्तिः।

मुक्तये हरिं भजति—'मुक्तये' इति तादर्थ्येऽर्थे 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' इत्यनेन चतुर्थी, मुक्त्यर्थमित्यर्थः।

६—(क)—

गम् + क्त = गतः, तुमुन् = गन्तुम्। कृष्णो वनं गतः। रामो गन्तुम् इच्छति।

(ख) जीर्णः, क्षीणः, जग्धम्, चिकीर्षुः, शान्तः, प्रयोगानेतान् साधयत ।

७—(क) वैयाकरणः । नाविकः । पितामहः । कुलीनः । एतेषु विग्रहवाक्यं निर्दिश्य सप्रमाणं प्रत्ययान् दर्शय । ७

पा = क्त = पीतम्, तुमुन् = पातुम् । तेन दुग्धं पीतम् । मोहनो जलं पातुं गच्छति । दा + क्त = दत्तम्, तुमुन् = दातुम् । तेन पुस्तकं दत्तम् । हरिः किं दातुम् ईहते । धा + क्त = हितम्, तुमुन् = धातुम् । पात्रं निहितम् । पुस्तकं निधातुम् गतः । ब्रू + क्त = उक्तम्, तुमुन् = वक्तुम् । तेन किम् उक्तम् । किं वक्तुम् ईहसे ।

(ख) जीर्णः—जॄ (वयोहानौ) इत्यस्माद् धातोः क्तप्रत्यये ककारस्य इत्संज्ञालोपयोः, जॄ = त (:) 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे दीर्घे च 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति सूत्रेण नत्वे तस्य णत्वे च 'जीर्णः' इति रूपम् । (स्वादिकार्यं च स्फुटमेव) ।

क्षीणः—क्षिधातोः 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति क्तप्रत्ययः । निष्ठायामण्यदर्थे' इति दीर्घः, क्षियो दीर्घात्, इति नत्वे णत्वम् । 'क्षीणः' इति रूपम् । (स्वादिकार्यं पूर्ववत्) ।

जग्धम्—अद्—भक्षणे धातोः 'निष्ठा' इति सूत्रेण कर्मणि क्तप्रत्यये 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' इति जग्धादेशे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वे, 'जग्ध् = ध' इत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे' इति पूर्वधकारलोपे (नपुंसके सौ स्वमोरमि) 'जग्धम्' इति रूपम् ।

चिकीर्षुः—सन्नन्तात्कृधातोः 'चिकीर्ष' इत्यस्मात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्यये अतो लोपे चिकीर्षुः, इति रूपम् । (स्वादिकार्यं स्पष्टम्) ।

शान्तः—उपशमार्थकात् 'शम्' धातोः क्तप्रत्यये 'वा दान्त-शान्त पूर्ण-दस्त-स्पष्टच्छन्न-ज्ञप्ताः, इति निपातनादिटोऽभावे 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति दीर्घः मस्यानुस्वारे परसवर्णे च (स्वादिकार्येऽपि च) 'शान्तः' इति ।

७—(क) वैयाकरणः—अत्र 'व्याकरणम् अधीते वेद वा' इति विग्रहवाक्यम्, 'तदधीते तद्वेद' इत्यण्प्रत्ययः । (वृद्ध्यपवाद ऐजागमः) ।

नाविकः—इह 'नावा तरति' इति विग्रहवाक्यम्, 'नौ द्व्यचष्ठन्' इति ठन्प्रत्ययः, ठस्येकः ।

(ख) अनश्वः, दम्पती, सर्पनकुलम्, परमराजः, पुरुषव्याघ्रः—एते समासविधायकसूत्राणि विग्रहवाक्यानि च प्रदर्श्य साधनीयाः। ५

८—युवतिः, मत्सी, राज्ञी, गोपालिका—एतेषु स्त्रीप्रत्ययान् सप्रमाणं प्रतिपादयत। ५

पितामहः—अत्र पितुः पिता इति विग्रहः। 'पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः' इति सूत्रेण पितृशब्दात् 'डामहच्' निपात्यते।

कुलीनः—इह 'कुले भवः' इति विग्रहः, 'कुलात्खः' इति खप्रत्ययः। खस्य-ईनादेशः।

(ख) अनश्वः—अत्र 'न अश्वः' इति विग्रहः। 'नञ्' इति सूत्रेण समासः। 'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमे 'अनश्वः'।

दम्पती—अत्र 'जाया च पतिश्च' इति विग्रहः, 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेन समासे जायाशब्दस्य दम्भावनिपातने प्रथमाद्विवचने रूपमिदम्।

सर्पनकुलम्—सर्पाश्च नकुलाश्चेति विग्रहे समाहारद्वन्द्वः, 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति एकवद्भावः। (नपुंसके सोरमि) 'सर्पनकुलम्' इति रूपम्।

परमराजः—अत्र परमश्चासौ राजेति विग्रहः 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इति समासः, समासान्तेऽचि प्रत्यये, टिलोपे 'परमराजः' (स्वादिकार्यं स्पष्टम्)।

पुरुषव्याघ्रः—अत्र पुरुषो व्याघ्र इवेति विग्रहः, 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः।

८—युवतिः—अत्र युवन्शब्दात् 'यूनस्तिः' इत्यनेन तिप्रत्ययः, नलोपः, ततः स्वादिकार्यम्।

मत्सी—इह मत्स्यशब्दात् 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीषि, अलोपे 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः' इति 'मत्स्यस्य ङ्याम्' इति च यलोपे (स्वादिकार्ये च) 'मत्सी' इति।

राज्ञी—अत्र राजन्शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि, 'अल्लोपोऽनः' इति अलोपे 'राज्ञी' इति रूपम्।

गोपालिका—गोपालकस्य स्त्रीति विग्रहे 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति सूत्रेण प्राप्तस्य ङीष्प्रत्ययस्य 'पालकान्तान्न' इति निषेधात्, टापि इत्वे 'गोपालिका' इति।

९—(क) संहिता कुत्र नित्या कुत्र चानित्या, कथम् ? २

(ख) गन्तुमिच्छति, पठितुमिच्छति, एवंविधे विग्रहे किं किं स्वरूपं निष्पद्यते ? २

(ग) हन् , इण् , दा, भुज्–एतेषां धातूनां णिचि लटि प्रथम-पुरुषैकवचने रूपाणि लिखत । ४

मध्यकौमुदी-प्रश्नावलिः ।

सन् १९३२

समयः ३ घण्टाः पूर्णाङ्काः १००

१—अच्-हल्-प्रत्याहारयोः नामानि निर्दिश्य बाह्य-प्रयत्नभेदांश्च वर्णय । ६

२—लोप-सवर्ण-अव्यय-उपसर्ग-संज्ञाविधायकशास्त्राणि प्रतिपाद्य, का च संहिता, कतिविधा सा, किञ्च सम्प्रसारणम् ? इत्यपि सर्वं लिख । ७

३—गवाक्षः, चिन्मयम् , शिवो वन्द्यः, नीरसः,शिवच्छाया, राजर्षिति, मनोरथः, रुचिरम् , बृहस्पतिः, एषु संहिताकार्यं विधेहि, प्रकृतिभावशब्दार्थं सोदाहरणं दर्शय । ६

४—अधस्तन-वाक्यानि सप्रमाणं संशोधनीयानि—

(क) राजा शासति प्रजाम् ।

(ख) धार्मिका ब्राह्मणं भोजनं ददाति ।

९—(क)–'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥'
इत्युक्त्यनुसारं वाक्यातिरिक्तस्थले सर्वत्र संहिता नित्यैव भवति ।

(ख) गन्तुमिच्छति = जिगमिषति ।
पठितुमिच्छति = पिपठिषति ।

(ग) हन्–धातोर्लटि प्र० पु० एकवचने–घातयति ।
इण् " " " " " " गमयति, बोधने तु प्रत्याययति ।
दा " " " " " " दापयति ।
भुज् " " " " " " भोजयति ।

(ग) बालकानां पठनं रोचते ।

(घ) नेत्रस्य काणः ।

(ङ) छात्रा गुरवे नमन्ति । ५

५—पितृ-गो-गच्छत्-सखि-सुधी-इदम् (पुं०) शब्दानां सर्वासु विभक्तिषु रूपाणि लिखत । १२

६—भू-स्था-वर्ध-प्रच्छ-शक्-धातूनां लङि लोटि च प्रथमपुरुषरूपाणि सप्रमाणं साधयत, एतेषामेव लटि लृटि च सर्वाणि रूपाणि लिखत । २०

७—कश्च समासः, कतिविधः सः, इति सर्वं नामनिर्देशपूर्वकं विविच्य, अधस्तनपदानि विगृह्य सप्रमाणं समासनामानि निर्दिशत — भूतपूर्वः, प्रत्यक्षम्, भूतबलिः, देवराजः, पीताम्बरः, केशाकेशि, पितरौ । १०

८—पाणिनीयम्, सनातनः, सभ्यः, पण्डितः, सामाजिकः, तीर्णः, वाक्, चक्राणः, आसीनः, अवतारः—एषु यथाभिप्रेतं यथाज्ञातं केवलं सप्त रूपाणि प्रकृतिप्रत्ययौ विभज्य साधय । ७

९—(क) स्थानेऽन्तरतमः । (ख) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् । (ग) साधकतमं करणम् । सूत्रत्रयी सुस्पष्टं व्याख्यायताम् । ६

१०—(क) कृ-भू-भुज-हन्-सह-धातूनां क्तान्त-तुमुन्नन्तप्रयोगान् वाक्येषु व्यवहरत । १०

(ख) कर्तुमिच्छति, पण्डित इव आचरति, पुनः पुनः गच्छति । एवंविधे विग्रहे किं किं स्वरूपं जायते ? ३

(ग) कृ-पठ-जन-भू-धातूनां णिचि लटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपाणि लिखत । ४

(घ) वाच्यपरिवर्तनं विधेहि—

(i) छात्राः ग्रन्थान् पठन्ति ।

(ii) मया जलं पीयते ।

(iii) तेन गृहं प्रविष्टम् ।

मध्यकौमुदी-प्रश्नावलिः ।

सन् १९३२

समयः ३ घण्टाः पूर्णाङ्काः १००

१—कण्ठ्य-दन्त्य-नासिकावर्णाः के कति च ते ? तान् क्रमशो लिख । ६

२—सवर्ण-संयोगोपधोपसर्ग-प्रगृह्य-प्रातिपदिक-संज्ञाः कैः कैः सूत्रैः विधीयन्ते । ६

३—(क) तन्मात्रम् , नायकः, राजर्षिः कुर्वन्निह, गवेन्द्रः, एषु ससूत्रं सन्धिविच्छेदं कुरु । ६

(ख) सम् + करणम् , निर् + रसः, सत् + चित् , शिव + छाया, अमी + ईशाः, कः + ते, एषु कैः कैः सूत्रैः सन्धयो भवन्ति? कीदृशानि रूपाणि सिध्यन्ति च ? ६

४—गां दोग्धि पयः, धिक् मूर्खान् , अक्ष्णा काणः, ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, एतेषु कस्मिन्नर्थे का का विभक्तिः, इति सप्रमाणं वर्णय । ६

५—(क) पति-मति मातृ-राजन्-शब्दानां सर्वासु विभक्तिषु सिद्धानि रूपाणि लिखत । १२

(ख) गोः, सखा, हरौ, नद्याम् , एतानि सप्रमाणं साधयत । ६

६—पा-वस्-भ्रम्-कथ-धातूनां लटि लङि च प्रथमपुरुषरूपाणि ससूत्रं साधयत, एतेषामेव धातूनां लृटि लोटि च सिद्धानि रूपाणि लिखत । १६

७—(क) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः । पूर्वत्रासिद्धम् । स्वतन्त्रः कर्ता । सूत्रत्रयी सोदाहरणं व्याख्यायताम् । ६

(ख) यथाशक्ति, राजपुत्रः, पितृसमः, पञ्चगवम् , सपुत्रः, काकोलूकम् एषु पदेषु विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं समासा लेख्याः । ६

८—देयम् , गतिः, वक्तुम् , कुर्वन् , भुक्तम् , शैवः, वैयाकरणः, कुलीनः, पौत्रः, मातुलः, पत्नी, विदुषी—एषु सप्रमाणं प्रकृतिप्रत्ययौ विभज्य प्रदर्शय । १२

९—सप्रमाणं शोधय—बालकः कुत्र शेरते । शिशुः किमर्थं बिभ्यति ।

ये छात्राः पाठशालां आगत्य गुरुं नत्वा पुस्तकानि अधीतुम् प्रारभन्ते, गुरुणा ते कदापि न ताड्यन्ते । ६

१०—(क) पाठयति, पुत्रीयति, जिगमिषति, पराजयते, एतानि साधनसूत्रैः साधय । ४

(ख) वाच्यपरिवर्तनं विधेहि—

सर्वैः विद्वान् पूज्यते । रामः रावणं हन्ति । २

—:※:०:※:—

मध्यकौमुदी-प्रश्नाः ।

सन् १९३४

समय ३ घण्टाः पूर्णाङ्काः १००

१—धात्रंशः, गव्यम्, प्रौढिः, शिवेहि, गङ्गे अमू, उत्थानम्, पुंस्कोकिलः, स शम्भुः, अहर्पतिः, एषु सन्धीन् सप्रमाणं साधय । १२

२—देवाः आगताः, सुरभिः ऋतुः, सः अस्ति, अहो अमराः, इमान् सन्धेहि । ४

३—रामस्य, विश्वेषाम्, निर्जरसि, हरौ, बहुश्रेयस्यां, क्रोष्टरि, राज्ञां, मातृः, सुधिना, एषां सिद्धिः प्रदर्शनीया । १४

४—लिह्, राजन्, अनडुह्, अस्मत्, अदस् (पुंसि), एषां सप्तमी बहुवचने रूपाणि साधय । १०

५—अब्रुवन्, एधांचक्रे, अतिष्ठम्, स्वपिति, होष्यामि, तुष्यत, आसासि, कीर्यात्, अरौत्सीत्, गृह्णीयात्, एषु के लकाराः के पुरुषाः ? कति वचनानि ? कथं चैषां सिद्धिः ? २०

६—जिगमिषति, बोभूयते, क्रियते, कारकः, कुम्भकारः, भुक्त्वा एषां सिद्धिं सम्यक् प्रदर्शय । १०

७—धनं करेण विभाज पात्रात् जास्यां ददात्यसौ ।
अत्र प्रतिपदं कारकविभक्तिसाधकसूत्राणि निर्दिश । ८

८—उपकुम्भम्, नरपतिः, चित्रगुः, द्विजाः पचकादिरो, एषु के समासाः ? कथं चैषां सिद्धिः ? ६

९—गार्ग्यः, धनवान्; मानिनी, सुद्धी, चन्द्रमुखी, एषु तद्धितप्रत्यय-स्त्रीप्रत्ययसाधकसूत्राणि दर्शय। ५

१०—(क) उपसर्गाः क्रियायोगे, लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः, तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्, सूत्रार्थौ सोदाहरणं व्याचक्ष्व। ६

(ख) निम्नलिखितपद्यार्धेऽशुद्धीः संशोधय 'गुरवे नमति बालो शास्त्रान् शिष्या अधीयन्ति'। ३

मध्यकौमुदी-प्रश्नाः

सन् १६३५

समयः ३ घण्टाः पूर्णाङ्काः १००

१—(क) कुत्र सन्धिर्नित्यः क्व च वक्तुरिच्छाधीन इति सोदाहरणं प्रदर्श्य मुख्यानां सन्धिप्रकाराणामेकैकमुदाहरणं दीयताम्। ५

(ख) अथार्द्धरात्रे तद्गृहद्रव्याण्यपहर्तुकश्चिच्चौरः प्रविष्टः। अत्र सन्धिविच्छेदो विधीयतां सप्रमाणम् ७

(ग) सो नरो पृच्छति माम्। गुरुमुपेति शिष्यः। कन्य इमे हू। भगवन् त्रायस्व। कस्तरुः। प्रातोत्थाय छात्रा अपठत्। अत्र सन्धिः शोध्यताम्, तत्तत्कारणञ्च लिख्यताम्। ८

२—सर्वेषाम्, ज्ञानानि, यूनः, अनया, एतानि चत्वारि पदानि सूत्रैः साध्यन्ताम्। ८

३—एक-द्वि-त्रि-चतुः-शब्दानाम्, (अथवा) इदम्-अदस्-शब्दयोः सर्वेषु लिङ्गेषु सर्वविभक्तिवचने रूपाणि यथाक्रमं लिखत। १०

४—युष्मद्, यद्, तादृश्, लिह्, पथिन्-शब्दानां (पुंसि) सप्तमी-बहुवचने कीदृंशि स्वरूपाणि भवन्ति ५

५—भूयासुः, गोपायाञ्चकार, अभ्येष्ट, करवाणि, गृहाण, एषां क्रिया-पदानां साधने विशेषकार्यविधायकसूत्रलेखो च। १०

६—चक्रे, जघान, चौरः, योधः, भुक्तिः, एतेषु पदेषु ये धातवस्तेषां

लटि प्रथमपुरुषबहुवचने किं रूपं किञ्च तत्र कार्यम् ? ६

७—(क) पिपठिषति, वरीवर्ति, आत्मीयति, उच्यते, एवं स्म पिता ब्रवीति । एते प्रयोगाः कस्य कस्य धातोः कस्यां कस्यां प्रक्रियायां भवन्ति कश्चैषामर्थः ? ४

(ख) ओदनं पचति, भिनत्ति काष्ठम्, धनं चोरयति । एषु वाक्येषु कर्मवाच्ये कर्तृ-कर्म-क्रियापदानां कथं परिवर्तनं करणीयम् ? ३

८—नमो महद्भ्यः, हिरण्यको विलम्प्रविष्टः, वर्षति मेघे स गतः, प्रासादात्प्रेक्षते दासी, गां गोष्ठं नयति गोपालः, फलानां तृप्तः । अत्र विभक्त्यर्थाः सप्रमाणं प्रदर्श्यन्ताम् ? ६

९—गमनम्, स्थितः, स्मृतिः, उक्त्वा स्मारं स्मारम्—एषु कृत्प्रत्ययाः; हनूमान्, काकोलूकीयम्, पाण्डित्यम्, साधीयान्, कुतः—एषु तद्धिताः, नदी, नारी, कारिका—एषु च स्त्रीप्रत्ययाः ससूत्र-निर्देशं लिख्यन्ताम् । १३

१०—समासस्य सन्धेश्च परस्परमन्तरं प्रदर्श्य निम्नलिखितेषु रेखाङ्कित-पदेषु समासा नामलेखनसहितं स्फुटीक्रियन्ताम्-(क) पारेगङ्गम्, वीरपुरुषको ग्रामः, महानवमी, पञ्चगवम्, पितरौ ।

(ख) अथ तथानुष्ठिते स मत्तगजः मक्षिकागीतसुखात् निमीलितनेत्रः काष्ठकूटहृतचक्षुः मध्याह्नसमये मण्डूकशब्दानुसारी भ्राम्यन् महागर्तमासाद्य पतितो मृतश्च । ८

—:०:—

मध्यकौमुदी-प्रश्नाः ।

सन् १९३६

समयः ३ घण्टाः पूर्णाङ्काः १००

१—बाह्यप्रयत्नाः के ? केषां वर्णानां के बाह्य-प्रयत्नाः ? ३

२—(क) स्व + ईरिणी, प्र + ऊहः, गो + अग्रम्, षट् + स्थानम्, चक्रिम् + ग्रायस्व, भस् + आगन्ता, अहन् + गणः, एषु यथाशास्त्रं सन्धीन् वर्णयत । ६

(ख) सुखार्तः, वागीशः, पेष्टा, भो देवाः, क्रोढः, चक्रि अत्र, अहोरूपम्, एषु सन्धिविश्लेषो यथासूत्रं वर्णनीयः । ६

३—(क) अतिसर्वाय, विश्वपः, पत्युः, वर्षाभ्वि, द्वितीयस्यै, धीमान्, हे उशनन्, युष्माकम्, एतानि साधयत । ८

(ख) स्त्री, द्यो, एकतर (क्लीबे), अनडुह्, अर्वन्, आप्तत्, पुंस्, अहन्, एषां द्वितीयैकवचने रूपाणि साधयत । ७

४—(क) अभूवन्, अस्थात्, अयष्ट, अनंसीत्, स्वपिहि, धोक्ष्यति, जिह्वयांचकार, सुनु, अरौत्सीत्, अग्रहीष्यत एषां सिद्धिः निरूपणीया । १५

(ख) कृप्, भृष्, शीङ्, भस्, एषां लिटि मध्यमैकवचने; एध, गुप्, स्तृम्, कृ, एषामाशीर्लिङि प्रथमैकवचने रूपाणि साधयत ।

५—जिगमिषति, यंयम्यते, पुत्रीयति छात्रम्, रोमन्थायते, विग्रहप्रदर्शनपूर्वकमेषां सिद्धिं निरूपयत । ४

६—संगच्छते, विरमति, शिष्यः, वशंवदः, स्थितः, स्मारं स्मारम्, एते कथं सिध्यन्ति ? ६

७—शत्रून् स्वर्गमगमयत्, रामेण बाणेन बाली हतः, पुष्पेभ्यः स्पृहयति, ओदनस्य पाकः, आराद्वनात्, अधीती व्याकरणे, अनु हरिं सुराः, अधोरेखाङ्कितेषु तत्तद्विभक्तयः साध्याः ।

८—मध्येगङ्गम्, राजान्तरम्, पाण्यादृतः, द्विमा, बहिरङ्गणम्

[illegible], गार्ग्यः, धार्मिकः, पौरोहित्यम्, मेधावी, पुरस्तात्, मूले मूले स्थूलः, एषु समासान् तद्धितप्रत्ययांश्च सार्थान् यथा-स्थानं निर्दिशत। १५

६—वर्तिका, त्रिलोकी, अजावी, मत्सी, करभोरूः, एषु स्त्रीप्रत्ययान् साधु साधयत। ५

मध्यकौमुदी-प्रश्नाः।

सन् १९३७

समयो घण्टात्रयम् पूर्णाङ्काः १००

१—(क) प्र + एजते, मनस् + ईषा, गो + अक्षः, + नगर्यः, सम् + राट्, शिव + छाया, सर्पिः + काम्यति, हरिः + रम्य,-एतानि ससूत्रोपन्यासं सन्धेहि। ८

(ख) धात्रंशः, सुध्यम्, ब्रह्मर्षिः तच्छ्लोकेन, शिवोबन्धः, किन्नुरूपम्, पुंस्कोकिलः, वाग्घरिः—एषु यथासूत्रं सन्धीन् विश्लेषय। ८

२—(क) हरेः, सख्यौ, बहुश्रेयस्याम्, तिसृणाम्, दधीनि, धुक्षु, राज्ञः, युष्मत्—एतानि सम्यक् साधयत। ५

(ख) धी, पयस्, पथिन्, गो-एषां द्वितीयाबहुवचने; क्रोष्टु, नदी, वारि, अस्मत्-एषां षष्ठ्येकवचने रूपाणि साधयत। ७

३—(क) मास्म भूत्, अगोप्सीत्, पेयात्, अगमत्, इज्यात्, अवधीत्, अजुहवुः, असावीत्, कुर्यात्, गृहाण-एषां सिद्धिः निरूपणीया। १५

(ख) वद्, यज, वस्, दुह्, डुकृञ्-एषां लिटि प्रथमैकवचने; वद्, शीङ्, श्री, धुत, ग्रुच्-एषां लुङि प्रथमैकवचने रूपाणि साधयत। १५

४—चिकीर्षति, परीक्ष्यते, कृष्णायते, सत्यापयति-सविग्रहमेषां

सिद्धिं निरूप्य, उपतिष्ठते, अध्यापयति, लभ्यम्, स्वस्त्रेयः, अलंकरिष्णुः, स्थित्वा—एषां सविशेषं साधनप्रक्रिया प्रदर्श्यताम् १२

५—मासमास्ते, हरिमन्तरेण, अह्नाऽनुवाकोऽधीतः, शताय परिक्रीतः, अमुक्तेः संसारः, ग्रामस्य दक्षिणतः, मोक्षे इच्छा—एषां लक्ष्यरेखु शब्देषु सप्रमाणं कारकादिविभक्तयः साध्याः। ७

६—उपगिरम्, पूर्वकायः, कृष्णासक्तः, केशाकेशि, वाक्त्वचे, अन्धतमसम्, गार्ग्यायणः पाणिनीयम्, औपम्यम, द्वितीयः, तपस्वी, अन्योऽन्यम्—एषु समासान् तद्धितप्रत्ययांश्च सार्थान् सप्रमाणं निर्दिशत। १२

७—दण्डिनी, कुमारी, ज्ञानवती, सुकेशी, युवतिः—एषु स्त्रीप्रत्ययान् यथाशास्त्रं निरूप्य 'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव' इत्यादिकारिका सप्रसङ्गसंगति व्याख्येया। ७

मध्यकौमुदी प्रश्नाः।

सन् १९३८

समयो घण्टात्रयम् पूर्णाङ्काः १००

१—(क) उपसर्गाऽङ्गाऽभ्यासकृदुपसर्जनसंज्ञाविधायकसूत्राणि लिख्यन्ताम्। ५

(ख) तपरस्तत्कालस्य, पूर्वत्राऽसिद्धम्, धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः, एषां यथेच्छं सूत्रद्वयं सोदाहरणं सम्यग् व्याख्यायताम्। ८

(ग) चिरपृष्ठम् चतुर्मुखः, गीः, काम्यति, शीतं जलम्, रन्धनाय स्थाली—एतानि कुत्र किमर्थमुदाहृतानि? ५

२—(क) शिवेहि, उत्थितः, संस्कर्ता, वाम्, चतसृणाम्, सुपन्थानि।
(ख) ब्रह्मर्षिः, हरिस्फुरति, दाशरथी रामः, क्रोष्टुः, प्रघ्नन्ति, आभ्याम्—एतयोर्यथेच्छं (क) भागे निर्दिष्टानि (ख) भागे निर्दिष्टानि वा रूपाणि सम्यक् साध्यन्ताम्। १२

३—(क) रुह, कृत मुह, मन्थ्, कृञ्—एषां धातूनां क्रमेण लट्, लिट्, लुङ्, लृट्, लोट्—एषु लकारेषु प्रथमपुरुषैकवचने

कानि रूपाणि कथं च सिध्यन्ति ? एधिष्यत्, धीप्सति, सनी-स्रस्यते, आहृते, राजानति, एतानि सम्यक् साध्यन्ताम् ।
(ख) चकासृ, ऋ, गुपू, मृजू, कृती—एषां धातूनां क्रमेण लङ्, लिङ्, आशीर्लिङ्, लुङ्, लृङ्—एषु लकारेषु प्रथम-पुरुषैकवचने कानि रूपाणि कथं च सिध्यन्ति ? चरीकरीति, तायते, अजृम्भि, समुह्यात्, वितूस्तयति—एतानि सम्यक् साध्यन्ताम् ।

एतयोः (क) (ख) भागयोर्यथेच्छमेकस्य भागस्योत्तरं लेख्यम् । २०

४—अचीकमत, अहि, जहीहि, गलोला, उपचस्कार, ऊवुः, व्यष्टभत् एषां यथेच्छं षड् रूपाणि सम्यक् साध्यन्ताम् । १२

५—अधोलिखितयोः (क) (ख) भागयोर्यथेच्छमेकस्योत्तरं लेख्यम् ।
(क) अक्षोभ्यम्, जीवकः, द्विषन्तपः, पितृव्यघाती, निषेदिवान्, भिदा, षाण्मातुरः, कौलटिनेयः, दुष्कुलीनः, मायावी, गार्ग्यायणी, करभोरूः—एतानि सार्थनिर्देशं सम्यक् साध्यन्ताम् । २४
(ख) पश्यः, द्विपः, अघावा, राजयुध्वा, स्पृहयालुः, शान्त्वा, वैयाकरणः, दाक्षिणात्यः, जिह्वामूलीयम्, दवीयान्, रोहिणी, पत्नी—एतानि सार्थनिर्देशं सम्यक् साध्यन्ताम् । २४

६—अध्यात्मम्, कृष्णचतुर्दशी, स्त्रीसभम्, विप्रः, गोमहिषम्, पितरौ, पश्यतोहरः, क्षीरपाणाः—एषां षड् रूपाणि विग्रहं समासनाम च निर्दिश्य सम्यक् साध्यन्ताम् । १२

७—अनु हरिं सुराः । गोत्रेण गार्ग्यः । अन्यः कृष्णात् । चर्मणि द्वीपिनं हन्ति । राज्ञा पूजितः । गोषु स्वामी । एषां स्थूलाक्षरेषु शब्देषु द्वितीयादिविभक्तिसाधकानि सूत्राणि लिख्यन्ताम् । ६